यः सांख्यपूरुष इव प्रकृतीरजाः स्वाः
स्वीपासनेन कुरुते वहुवा कृतार्थाः,
शान्तः स्वयं स्वरतिरेव पुनस्तटस्थ-
स्तस्मै नमोऽस्तु मुनये किल मोहनाय।

—नारायणशास्त्री खिस्ते

●

श्रुत्वा त्वन्नवशान्तिमन्त्रमपरं निस्तव्धभूतं जगद्
हिंसास्त्राणि वृथेति सत्यमवनौ ज्ञातं च सर्वैर्जनैः;
त्वं देवोऽसि समस्तमानवकुले त्वं सेवको वै परः
शव्दे या तव शक्तिरस्ति महती स्वातंत्र्यदात्र्यस्तु सा।

—वादरायण

●

जड़वाद जर्जरित जग में तुम अवतरित हुए आत्मा महान!
यंत्राभिभूत युग में करने मानव-जीवन का परित्राण।
वहु छाया-विम्वों में खोया पाने व्यक्तित्व प्रकाशमान;
फिर रक्तमांस प्रतिमाओं में फूँकने सत्य से अमर प्राण।
संसार छोड़कर ग्रहण किया नरजीवन का परमार्थ-सार;
अपवाद वने मानवता के, ध्रुव नियमों का करने प्रचार!
हो सार्वजनिकता जयी, अजित! तुमने निजत्व निज दिया हार;
लौकिकता को जीवित रखने तुम हुए अलौकिक हे, उदार।

—सुमित्रानन्दन पंत

●

गीता माझि तुम्ही, श्रुतिस्मृति तुम्ही, तुम्हीच सत्संस्कृति,
त्यांचा अर्थ मला विशंक शिकवी ती आपुली सत्कृती।

—साने गुरु

●

पेरुंकोलै वषियाम पोर वपि इकण्णाय अदनि तुम तिरन पेरिदुडैत्ताम
अरु कलैवाणर मेयत्तोण्डर तंगल अर वपि एन्रनी अरिन्दाय,
नेरुं किय पयन सेर ओत्तुपैयामै नेरियिनाल इन्दियाविकुं
वरुदगहि कण्डु पहैत्तोपिल मरन्दु वैयहमवाप्ह नल्लरत्ते।

—सुब्रह्मण्य भारती

गांधी-साहित्य-प्रकाशन
३

नीति : धर्म : दर्शन

[गांधी जी]

०

प्रधान सम्पादक
श्रीरामनाथ 'सुमन'

०

उत्तर प्रदेश गांधी-स्मारक-निधि
सेवापुरी : वाराणसी

प्राप्ति-स्थान
गांधी-साहित्य-प्रकाशन
इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

पुस्तक के आरम्भ में :

ग्रन्थ—पाठ भाग :

[नीति]

[धर्म]

नीति : धर्म : दर्शन

संकेतार्थ

महात्मा गांधी	संकलन, गांधी हिन्दी पुस्तक भण्डार कालबादेवी, बम्बई, संस्करण पौष १९७८।
इं० ओ०	इण्डियन ओपीनियन : गांधी जी का अंग्रेज़ी-गुजराती-हिन्दी विचार-पत्र।
यं० इं०	यंग इण्डिया : गांधी जी का अंग्रेज़ी साप्ताहिक विचार-पत्र।
हि० न० जी०	हिन्दी-नवजीवन : गांधी जी का हिन्दी साप्ताहिक विचार-पत्र।
न० जी०	नवजीवन : गांधी जी का गुजराती साप्ताहिक विचार-पत्र।
ह० से०	हरिजन-सेवक : गांधीजी का हिन्दी साप्ताहिक विचार-पत्र।
ह० ज०	हरिजन : गांधी जी का अंग्रेज़ी साप्ताहिक विचार-पत्र।
ह० ब०	हरिजन-बन्धु : गांधीजी का गुजराती साप्ताहिक विचार-पत्र।
सं० गां० वा०	सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय : भारत-सरकार का प्रकाशन।
गां० से० सं०	गांधी-सेवा-संघ : गांधी जी की विचारधारा में सर्वांगीण श्रद्धा रखनेवाले विचारकों एवं कार्यकर्ताओं का संघ।
मं० प्र०	मंगल प्रभात संकलन, नवजीवन प्रकाशन।
म० भा० डा०	महादेव भाई की डायरी। न० जी० प्रकाशन।
हि० स्व०	हिन्द स्वराज्य : गांधी जी के समाज-रचना-सम्बन्धी मौलिक विचारों की, उन्हीं द्वारा लिखित, पुस्तक।
इ० हो० रू०	इण्डियन होमरूल : हिन्द स्वराज्य का अंग्रेजी संस्करण।
बापू की छाया में	संस्मरण, लेखक श्री बलवन्त सिंह (नवजीवन प्रकाशन)।
कुछ पुरानी चिट्ठियां	श्री जवाहरलाल के पत्र, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।
प्रा० प्र०	प्रार्थना-प्रवचन, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।
आ० क०	आत्मकथा। न० जी० प्रकाशन।
हि० आ० क०	हिन्दी आत्मकथा।

अशुद्धि-संशोधन

[बहुत सावधानी रखने पर भी टाइपिंग की भूल के कारण कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। कुछ प्रमुख अशुद्धियाँ नीचे दी जा रही हैं; कृपया उन्हें शुद्ध कर लें। इनके लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं। —सम्पादक।]

पृष्ठ	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
२४	सूक्ति ६२ में आचरण-रहित विकार	आचरण-रहित विचार
२७	सूक्ति ७५ मनुष्य स्वयं०	इसे ७६ क्रम पर होना चाहिए।
२८	,, ७६ क्रोध	इसे ७७ होना चाहिए।
२८	,, ७७ मानव की०	इसे ७८ होना चाहिए
२८	,, ७८ आलस्य	इसे ७५, पृष्ठ २७ पर होना चाहिए
२८	,, ३।३।१९३७	इसकी तिथि ३।३।१९३६ होनी चाहिए

३१८ पहिली सूक्ति के अन्त में जहाँ तिथि दी गई है, उसमें 'अंग्रेजी से' के आगे 'स्टार' शब्द जोड़िए।

३८७–८८ १२ संख्यावाला 'गोरक्षा०' की संख्या १३ होनी चाहिए और ३८८ के १३ की १२ होनी चाहिए।

४१५ ५२ संख्यक 'वर्ण और आश्रम' लेख की संख्या ५३ होगी और यह लेख पृष्ठ ४१७ के लेख नं० ५३ के बाद होना चाहिए। ५२ तिरपन और तिरपन ५२ हो जायगा।

८४४ लेख के अन्त में ३०।७।३५ की जगह ३०।७।१९२५ होना चाहिए।

प्राक्कथन

गांधी-साहित्य-प्रकाशन

भारत में गांधी जी ने एक नये युग का प्रवर्तन किया, ऐसा हम कह सकते हैं। स्वयं गांधी जी ने कभी नहीं कहा कि गांधी-मार्ग कोई नई चीज है। वैसे तो सत्य और अहिंसा का मार्ग ही उन्होंने नये संस्कारों से अधिक तेजस्वी बनाया और उसका अभिनव रूप न केवल भारत के सामने वरं अखिल मानव-जाति के सामने रक्खा। जो समझते हैं कि गांधी जी ने केवल भारत की स्वतन्त्रता का मार्ग बताया और अहिंसा से उसको पूर्ण करने की प्रक्रिया बताई वे गांधी जी को पूर्ण रूप से नहीं समझते। गांधी जी केवल एक राष्ट्राभिमानी आदमी ही नहीं थे; हम कह सकते हैं कि भारतीय और जागतिक जो धर्म और संस्कृतियां हैं उन सबों का पूर्ण मन्थन करके मानवता के विकास के लिए जो मार्गदर्शन करना चाहिए था वह गांधी जी ने किया। इस दृष्टि से देखें तो गांधी जी का उपदेश एक अखिल मानव-कुलव्यापी और विशेषतः इस युग में सब देशों को और लोगों को नई प्रेरणा देने वाली चीज़ है।

वैसे तो हिन्दी में गांधी-साहित्य काफी प्रकाशित हुआ है। दूसरे-दूसरे लेखकों ने और प्रकाशकों ने इस क्षेत्र में अच्छा काम किया है। परन्तु गांधी-स्मारक निधि का विशेष कर्त्तव्य है कि गांधी जी के विचारों का जो विषयानुसार निचोड़ है वह उन्हीं के शब्दों में प्रकाशित करे। यदि कोई ऐसा मनुष्य है कि जो हिन्दी के अतिरिक्त दूसरी भाषा नहीं जानता तो उसके लिए गांधी-स्मारक-निधि का यह प्रकाशन गांधी विचारों का विराट स्वरूप दिखा सकता है।

इस दृष्टि से उत्तरप्रदेश गांधी-स्मारक-निधि ने गांधी साहित्य-प्रकाशन का बहुत महत्व का बोझ उठाया है। इस काम में श्री रामनाथ 'सुमन' जैसे प्रधान सम्पादक मिल गये हैं, यह एक सौभाग्य की बात है।

गांधी जी के विचारों का प्रसार केवल भारत की ही नहीं किन्तु दुनिया की भिन्न-भिन्न भाषाओं में भी हुआ है। आजकल बहुत बड़े-बड़े विद्वान और दुनिया के विचारशील लेखक गांधी जी के विचारों का अध्ययन कर रहे हैं और उनके बारे में अपने विचार प्रकट कर रहे हैं। इसका मुख्य कारण तो यही है कि आजकल के अणु-युग में प्रेम, शान्ति, सहयोग इनका जो सन्देश गांधी जी ने दिया वह बहुत

मूल्यवान है। जैसे बुद्ध भगवान ने मैत्री, करुणा, कल्याण इस त्रिपुटी का स्वयं अनुभव लेकर अपनी सम्बोधि के पश्चात् मानवों को अपना सन्देश दिया उसी तरह गांधी जी ने आजकल की परिस्थिति में नया सन्देश दिया है।

गांधी जी केवल एक विचारशील आदमी ही नहीं थे; वे आचार को प्रधान मानते थे। जिस विचार को आचार में नहीं ला सकते उसे वे बहुत गौण समझते थे। साथ ही साथ वे बड़े भक्त थे अर्थात् परमात्मा के सतत् चिन्तन में वे अपना जीवन बिताते थे। इस दृष्टि से वे न केवल कर्मयोगी थे किन्तु भक्तियोगी और ज्ञानयोगी भी थे।

उन्होंने जो कुछ लिखा है वह उनके अन्तर्बाह्य जीवन पर प्रकाश डालने वाला भाष्य है। हम कह सकते हैं कि गांधी जी, उनकी जीवनी, उनके विचार और उन्होंने भारत और दक्षिण अफ़्रीका में जो प्रयोग किये और उनमें जो कामयाबी मिली, वह सब एक महाभारत है। अक्सर ऐसा होता है कि कार्य करने वाले या ग्रन्थ लिखने वाले और उसका अर्थ लगाने वाले भिन्न-भिन्न होते हैं। परन्तु गांधी जी की विशेषता यह है कि उन्होंने स्वयं विचार किया; उनको ही दर्शन हुआ; उस दर्शन को उन्होंने प्रत्यक्ष कार्य-रूप दिया और उस पर भाष्य भी लिखा। वे मानव-मन, मानव-जीवन, और मानव-समाज इन विषयों की ओर वैज्ञानिक दृष्टि से देखने वाले और प्रयोग करने वाले महापुरुष थे। यह ध्यान में रखकर हमें उनके जीवन और विचारों का अध्ययन करने की आवश्यकता है। उस अध्ययन की दिशा में गांधी स्मारक निधि का यह जो प्रयत्न है वह अवश्य स्वागत करने योग्य है।

मैं इस प्रयत्न को बधाई देता हुआ चाहता हूं कि यह पूर्ण यशस्वी हो और प्रत्येक हिन्दी पाठक इसका पूर्ण लाभ ले।

—रंगनाथ दिवाकर

प्रस्तावना

श्री सुमनजी-जैसे सम्मान्य व्यक्ति के आग्रह पर ये पंक्तियाँ लिखने उद्यत तो हो गया हूँ, लेकिन मन में एक अजीव-सी हिचक, घवराहट और संकोच है। कारण स्पष्ट है। एक तो यह विषय ऐसा है कि जिसके सम्वन्ध में मैं किसी प्रकार का अधिकार नहीं रखता हूँ। जव मेरी वुद्धि आज की अपेक्षा भी अधिक अप्रगल्भ और अपरिपक्व थी तव मैं विना हिचकिचाये, नीति, धर्म और दर्शन के विषय में मत वनाता था, मत रखता था, और मत-प्रतिपादन करता था। अव कम-से-कम इतनी तो समझ आ गई है कि मैं वह सव नासमझी के कारण करता था। इसलिए यहाँ मैं अपनी किसी धारणा, मत या विश्वास का प्रतिपादन करने की चेष्टा से यथासंभव वचूंगा।

दूसरे, मुझसे एक ऐसी विभूति के धार्मिक विश्वासों, मान्यताओं और मन्तव्यों के विषय में लिखने को कहा जा रहा है, जिसका विभूतिमत्व सदैव अनाकलनीय रहा। गांधी का विभूतिमत्व स्थिर और एकविध कभी नहीं रहा। उनका विभूति-मत्त्व निरन्तर प्रगतिपरायण और विकासोन्मुख रहा। उसमें जड़ता की स्थिरता या पूर्णता की परिणतावस्था कभी नहीं आई। पुण्यसलिला गंगाजी की पवित्र धारा की तरह उसमें सतत-सजीवता और नित्यनूतनता रही। गंगाजी की धारा में सातत्य है परन्तु वह सजीव सातत्य है। प्रतिक्षण प्रवाह नूतन होता है। असल में जीवन की इस गतिशीलता में ही उसकी निर्मलता है। गांधी की विभूति इस निर्मलता से ओतप्रोत है। इसी निर्मलता का नाम तटस्थता या नम्रता है। जो तटस्थ और नम्र नहीं है, वह जिज्ञासु कभी नहीं हो सकता; और अखण्ड जिज्ञासा तो धार्मिक व्यक्ति का शील ही है। जहाँ जिज्ञासा नहीं वहाँ अभिमान और आग्रह होता है। अभिमान अपने अनुभव का; आग्रह अपने सिद्धान्तों का। इस प्रकार का आग्रह गांधी की मति को छू तक नहीं गया था। इसीलिए वे सत्य के आग्रह का अंगीकार कर सके। जहाँ दूसरे किसी आग्रह के लिए स्थान है वहाँ सत्य के आग्रह के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह सकता। इसलिए गांधी के जीवन में किसी सिद्धान्त का, किसी विचार-सम्प्रदाय का, या किसी धर्म-पन्थ का आग्रह नहीं पाया जाता। उनकी सत्यनिष्ठा के सम्मुख ग्रन्थ-निष्ठा, विभूति-निष्ठा और

सम्प्रदाय-निष्ठा सभी गौण है। उनके जीवन में गतिशीलता है, निरन्तर और अकुण्ठित प्रयोगशीलता है, लेकिन उस प्रवाह की एक निश्चित दिशा है; जैसे गंगाजी की धारा की एक निश्चित दिशा है। वह दिशा है, सत्य के शोध की। गंगा सागरोन्मुख है; गांधी सत्याभिमुख हैं।

गांधी के परम सुहृद दिवंगत हेनरी पोलक ने एक पुस्तक की भूमिका में गांधी के विषय में लिखा था—"इस आदमी का व्यक्तित्व पकड़ में नहीं आता। वह यहाँ है, वहाँ है, और कहीं है, इस विचार से ज्यों ही आप उसका स्पर्श करने दौड़ते हैं, त्योंही वह वहाँ से खिसक जाता है।" यही उपयुक्त भी है। सत्यनिष्ठा का यही स्वरूप है। जो सत्यनिष्ठ है वह सुसंगति का क़ायल नहीं होता। सुसंगतता को वह सत्यनिष्ठा में प्रत्यवायस्वरूप मानता है। यह कोई जरूरी बात नहीं है, कि जो सत्य है वह हमेशा सुसंगत ही होगा। इसलिए गांधी के जीवन में, उनकी उक्तियों में और लेखों में सुसंगतता का आग्रह कहीं नहीं है। सत्यपरायण व्यक्ति के लिए सुसंगतता एक मिथ्या दैवत है, जो सत्य की खोज में अन्तराय बन जाता है। अतएव उन्होंने कहा था कि मैंने किसी विषय के सम्बन्ध में सबसे आखिर में जो कहा हो उसी को मेरा यथार्थ मन्तव्य मानो। उससे पहिले मैंने जो कहा हो उसे गलत मानो। यही प्रांजलता है। यह बालसुलभ प्रांजलता, जिसे ईसा ने 'इन्नोसेंस' या निरागसता कहा है, ही सहज सत्यनिष्ठा का सत्त्व है। यह निरागसता या नम्रता कोई गुण नहीं है, और न वह कोई व्रत हो सकता है। 'मंगल-प्रभात' में व्रतों का विचार करते हुए गांधी ने इसका स्पष्टीकरण किया है। इसीलिए उनके जीवन में और उनकी भाषा में सत्यनिष्ठा की अनलंकृत स्वाभाविक सुरम्यता है।

जो सत्य के शोध में मग्न हो, उसके लिए जीवन की अन्य महनीय विभूतियां गौण हो जाती हैं। गांधी ने नीति, धर्म और दर्शन के अनेक अंगोपांगों के विषय में समय-समय पर कभी अत्यन्त भिन्न, और कभी परस्पर-विरोधी विचार भी व्यक्त किये हैं। परन्तु उन सब में सत्यनिष्ठा का सूत्र अनुस्यूत है। इस दृष्टि से सनातन धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म, वेद, उपनिषद, गीता, रामायण, महाभारत, कुरान या बाइबिल के विषय में उन्होंने जो कहा है उसे उनका पारमार्थिक विचार नहीं मानना चाहिए। वह उनकी विभूति का 'उपादान' नहीं है। इसलिए अवान्तर दृष्टि से उनका महत्व कितना ही क्यों न हो, गांधी के अध्यात्म में उनका स्थान गौण है। यही कारण है कि उनकी धर्म की कल्पना और व्याख्या में और जन साधारण की धर्म की कल्पना और व्याख्या में अन्तर है। गांधी जब कहते हैं—सभी धर्म सत्य हैं, तो असल में उनका जोर सत्य पर होता है, न कि धर्म पर

गांधी का अभिप्राय यह है कि आखिर ईश्वरनिष्ठा, सत्यनिष्ठा या सदाचार और प्राणिमात्र के लिए आत्मीयता की भावना ही तो सारे धर्मो की सिखावन का निचोड़ है। इसीलिए सारे धर्म समान रूप से अनुष्ठेय और पूजनीय हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। ईश्वर-परायणता, नीति-निष्ठा और बन्धुत्व तो सभी धर्मों के लिए समान हैं, इसलिए विशिष्ट धर्म के अनुयायी उन्हें अपना स्वधर्म नहीं मानते। परिणाम यह है कि जो अपने आपको अपने विशिष्ट धर्म के चुस्त अनुयायी मानते हैं, वे यह कहते पाये जाते हैं कि एक साधारण मुसलमान भी धार्मिक दृष्टि से महात्मा गांधी की अपेक्षा श्रेष्ठ है। उसी तरह प्रत्येक वर्णाश्रमवादी सनातनी ब्राह्मण के लिए दुराचारी ब्राह्मण भी सदाचारी अस्पृश्य की अपेक्षा अधिक पवित्र तथा सामाजिक व्यवहार के लिए अधिक उपादेय है। इस सबका तात्पर्य यह है. कि रूढ़ अर्थ में धर्म उस क्रिया-कलाप और संस्कार-कलाप का नाम है जो ईश्वर, नीति और बन्धुत्व को छोड़ने के बाद शेष रह जाता है। इसके विपरीत इन विशिष्ट क्रिया-कलापों और संस्कारों को बाद देने पर जो सत्त्व बच जाता है उसे गांधी ने धर्म शब्द से अनुलक्षित किया है। इसलिए गांधी की भूमिका में सत्य ही धर्म है। और, अतएव धर्म एक ही हो सकता है।

समन्वय का यह एक अनूठा गुण है। प्राचीन धर्मपरायण व्यक्तियों ने अपने-अपने धर्मग्रन्थों के अनुकूल अन्य सभी धर्मग्रन्थों का और प्रमाणों का अर्थ लगाने में अपनी बुद्धि की कुशलता का विनियोग किया। इसी का नाम उन्होंने समन्वय रखा। गांधी के समन्वय में वही धर्मग्रन्थ, कर्मकाण्ड और व्यवहार प्रशस्त तथा आदरणीय हैं जो सत्यनिष्ठा के अनुकूल हों, और सत्य के आविष्कार के लिए पोषक हों। धर्म के क्षेत्र में परधर्मसहिष्णुता से लेकर सर्व-धर्म-समन्वय और सर्व-धर्म-समादर तक सभी भावनाओं का प्रतिपादन राममोहन राय से लेकर श्री रामकृष्ण परमहंस देव तक पूर्वसूर्यों ने किया। परन्तु समन्वय की इस यथार्थ भूमिका का सम्यक स्वीकार गांधी के जीवन में विशेष रूप से पाया जाता है।

ईश्वरपरायणता ने भी भिन्न-भिन्न धार्मिक समुदायों को एक-दूसरे के निकट लाने में कोई सफलता नहीं पाई है। कहने को तो सभी कहते हैं, कि ईश्वर एक ही है, और वह सब का है, किन्तु हर एक का यह आग्रह है, कि जो एक ही ईश्वर है वह मेरा है और वही सबका होना चाहिए। दूसरे सारे ईश्वर या तो अनीश्वर हैं या शैतान हैं। यह धर्मनिष्ठा धर्म-कलह की जननी है। गांधी-जैसा प्रामाणिक सत्यनिष्ठ पुरुष ईश्वर के इस संस्करण से विमुख हो गया। वह ताड़ गया कि यह ईश्वर वह नहीं है जिसने मनुष्य को बनाया, प्रत्युत वह है जिसे मनुष्य ने बनाया है। जिसकी जैसी भावना, आकांक्षा और अभिलाषा होती है उसके अनुरूप वह

अपने ईश्वर की मूर्ति गढ़ लेता है। ईसाई मानते हैं कि भगवान ने इंसान को अपनी शकल में बनाया; वाल्टेयर कहता है, मनुष्य क्यों पीछे रहता ? उसने भी भगवान का उपकार कृतज्ञतापूर्वक लौटाने के लिए अपनी शकल में भगवान की प्रतिमाओं का निर्माण किया। गांधी ने कहा, मेरे लिए ईश्वर के ये सारे मानव-निर्मित संस्करण ईश्वर के ही स्वरूप हैं, क्योंकि वही घर-घर में विराजमान है। इसका अर्थ यह हुआ कि जितने नाम हैं और जितने रूप हैं, सभी ईश्वर के ही हैं। अर्थात् ईश्वर की या तो सभी संज्ञाएं हैं या कोई संज्ञा नहीं है। वह अनाम है; इसीलिए सर्वनाम है। सर्वनाम ही विश्व रूप है। परन्तु कुछ नाम और कुछ रूप ऐसे भी हैं, जिनमें कुछ मानव समुदाय प्रगाढ़ निष्ठा रखते हैं, फिर भी ये नाम और ये रूप ईश्वर के अनुरूप नहीं हैं। इसलिए गांधी अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सत्य ही ईश्वर है। सत्य की जिज्ञासा ही मुमुक्षा है और सत्य का शोध ही साधना।

एक अन्य दृष्टि से भी उनका यह निष्कर्ष समीचीन प्रतीत होता है। जो एक ही है उसके अनन्त नाम भले ही रखे जायं, फिर भी वस्तुतः वह सर्वनाम ही है। अतः सत्य के लिए तत् शब्द का भी प्रयोग होता है। 'तत्वमसि' और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अद्वैत दर्शन के दो महावाक्य हैं। परमार्थतः दोनों का अभिप्राय एक ही है। 'तू वह है' में तू और वह दोनों केवल संज्ञाएं हैं; वस्तु एक ही है। 'सर्व' और 'ब्रह्म' शब्द दो हैं परन्तु जिस वस्तु के वे बोधक हैं वह 'अर्थ' एक ही है। दार्शनिकों ने इसे 'जहदजहल्लक्षा' या 'भागत्यागलक्षणा' कहा है। उनका मतलब इतना ही है कि 'तू' और 'वह' दोनों वस्तुगत सत्य नहीं हैं, औपाधिक अभिधाएं हैं। जीव ही ब्रह्म है, उससे अलग नहीं है ('जीवो ब्रह्मवनापरः') , उपर्युक्त महावाक्य का अनुवाद है। ईश्वर अगर मैं ही हूँ तो फिर उसे खोजने का प्रयोजन ही क्या है? और यदि उसे खोजने की आवश्यकता है तो फिर मैं ईश्वर कैसे हो सकता हूं ? ईश्वर और मैं अगर एक ही हैं तो फिर मेरा अलगपन कहाँ से आया ? और अगर मेरा प्रथग् अस्तित्व मिथ्या है तो फिर ईश्वर का ईश्वरत्व भी औपाधिक हो जाता है। इस स्वाभाविक जिज्ञासा का उत्तर 'सदसदख्याति' या 'अनिर्वचनीय ख्याति' की युक्ति से देने का प्रयास हुआ। लेकिन उससे जिज्ञासा का समाधान नहीं हुआ। संभवतः इसीलिए गांधी ने 'ईश्वर ही सत्य' की जगह 'सत्य ही ईश्वर है' के सिद्धान्त को अपना ध्रुववाक्य बनाया।

गांधी का सत्य कोई अनाकलनीय, परोक्षतत्त्व नहीं है। भूतमात्र और जीव-मात्र के जीवन का अधिष्ठान ही परम सत्य है। मनुष्य का अन्य मनुष्यों के साथ और मनुष्य का मनुष्येतर प्राणियों के साथ पारस्परिक सम्बन्ध ही इस सत्य के

आविष्कार का धर्मक्षेत्र है। यह धर्मक्षेत्र अनवधान से और प्रमाद या मोहवश कहीं कुरुक्षेत्र में परिवर्तित न हो जाय, इसकी चिन्ता उन्हें निरन्तर रही। यह सावधानता ही उनकी अहिंसा के रूप में परिणत हुई। इस दृष्टि से गांधी न तो ज्ञानयोगी हैं, न भक्तियोगी हैं, न कर्मयोगी; वे सत्यनिष्ठ 'प्रयोगी' हैं। नीति वह है जो मनुष्य और मनुष्य के बीच, तथा मनुष्य और दूसरे जीवधारियों के बीच पारस्परिकता के विकास के लिए उपकारक होती है। अनीति वह है जो इस पारस्परिकता में बाधक होती है। इसीलिए विशिष्ट परंपरागत और भिन्न-भिन्न समाजों में रूढ़ जो आचार और व्यवहार इस पारस्परिकता के अनुकूल प्रतीत हुए उन्हीं को गांधी ने नैतिक माना और इसी भूमिका से वर्णभेद, वर्गभेद, जातिभेद तथा अस्पृश्यता का प्रखर विरोध किया। उन्होंने तो अनीश्वरवादियों की सत्य-निष्ठा को प्रणाम किया। और यहाँ तक कहा कि मेरे लिए तो अनीश्वरवादी की प्रामाणिक निष्ठा भी ईश्वर ही है। अनीश्वरवादी जवाहरलाल को और प्रो० गोरा जैसे निष्ठावान अनीश्वरवादी को भी उन्होंने सत्याग्रह का अधिकारी माना। यह सत्यनिष्ठा इतनी व्यापक होती है कि उसमें व्यावर्तकता के लिए अवकाश ही रह नहीं जाता।

वास्तविक आस्तिकता का आशय भी यही है। जो ईश्वरनिष्ठ है वह ईश्वर-विरोधी तत्त्व के अस्तित्व को ही अस्वीकार करता है, क्योंकि अस्तित्व तो एक ही का है। अगर अच्छाई की पृथक् सत्ता है तो बुराई की भी पृथक् सत्ता अनिवार्य है। इस तरह भी भगवान का प्रतियोगी शैतान उपस्थित हो जाता है। सत्यनिष्ठ गांधी ने दो पृथक् सत्ताओं को नहीं माना। असत्य या असत् को उन्होंने पारमार्थिक नहीं माना। क्योंकि झूठ और बुराई का निराकरण संभव है और वांछनीय है। अतएव बुराई या असत्य मनुष्य की प्रकृति नहीं है। परिणाम यह है, कि गांधी के धर्मकोश में प्रतियोगी और प्रतिपक्षीय तो हैं लेकिन विपक्षीय या शत्रु कोई नहीं है। जो प्रतिवेशी है उसके लिए भी प्रेम है और जो अपने को विपक्षी मानता है उसके लिए भी प्रेम ही है। आखिर विपक्षी भी तो प्रतिवेशी ही है। (गांधी की) स्वदेशी का यह उनका अपना विशिष्ट अर्थ है।

उनकी विशिष्ट नैतिकता का बोध एक और प्रसंग से होता है। १९१९ की अमृतसर कांग्रेस में गीतारहस्यकार, भारतीय लोकाकांक्षा की प्रतिमूर्ति लोकमान्य उपस्थित थे। देश के दिग्गज नेताओं ने प्रस्ताव पेश किया, कि जलियानवाला बाग और अन्य स्थानों के अत्याचारों के लिए यह कांग्रेस ब्रिटिश सरकार का धिक्कार करती है। गांधी ने नम्रतापूर्वक एक संशोधन प्रस्तुत किया: यह कांग्रेस उन अतिरेकों का भी धिक्कार करती है जो जनता के पक्ष-द्वारा किये गये। सारी कांग्रेस

स्तब्ध हो गई। एक प्रक्षोभ-सा छा गया। नैतिकता का यह तकाजा था कि दूसरे की आँख का मूसल देखने के पहिले अपनी आँख का तिनका देखो। आँख का तिनका भी आँख में पीड़ा के साथ-साथ दर्शन में विकृति पैदा करता है। नीति कोई दूकान-दारी नहीं है। वहाँ सुवर्ण तौलने का धर्मकाँटा भी नहीं चलता। उपकार और प्रत्युपकार, दान और प्रतिदान के पलड़े अगर बराबर रहे तो वह ईमानदारी का सौदा होगा लेकिन सदाचरण नहीं। सदाचरण में उपकार का पलड़ा हमेशा नीचे रहता है। पारस्परिकता का आरंभ स्वयम् से होता है। उसमें प्रतिदान, प्रतिप्रेम आदि के लिए अवकाश ही नहीं है। मनुष्यों के व्यवहार में यह जो पारस्परिकता अभिव्यक्त होती है वही ईश्वर का साक्षात्कार है। निर्व्याज और निरपेक्ष प्रेम उसी का नाम है। मानवीय व्यवहार में वही सत्य का आविष्कार है। उसके अनुसरण को ही गांधी ने सत्य के प्रयोग का अभिधान दिया है।

जिसका कोई शत्रु नहीं है, वह विश्वसुहृद है। उसके लिए दूसरों के सुख-दुःख यदि अपने सुख–दुःखों के समान हैं तो दूसरों के दोष, अपराध और प्रमाद भी अपने दोष, अपराध और प्रमादों के समान ही हैं। कुसंस्कार और कुशिक्षण के कारण मनुष्य प्रायः अपने अपराधों के लिए क्षमा और दूसरों के अपराधों के लिए दण्ड चाहता है। यह नैतिकता तो है ही नहीं, न्यायनिष्ठा भी नहीं है। इसलिए, गांधी ने कहा, मैं इस वृत्ति के प्रतिकूल अभ्यास करूँगा; अपने लिए सजा और दूसरों के लिए माफ़ी की आकांक्षा रखूंगा। अनासक्ति योग में 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' श्लोक पर उनकी जो टिप्पणी है वह उनकी इस भूमिका की परिचायक है।

जो सत्यनिष्ठ है उसके लिए जीवन एक, अखण्ड और समग्र है। वह उसको भिन्न-भिन्न खण्डों में या टुकड़ों में नहीं बाँट सकता। गांधी ने इसीलिए केवल धर्मक्षेत्र के अस्तित्व को माना; कुरुक्षेत्र से मुँह मोड़ लिया। १९१९ के सविनय कानून-भंग के बाद जॉर्ज अरुण्डेल ने पत्र लिखकर गांधी से पूछा था, 'आपके समान धार्मिक पुरुष राजनीति के झगड़े में क्यों पड़ता है?' गांधी ने उत्तर दिया था, 'मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति तो धार्मिक ही है। और अगर मैं राजनीति में हिस्सा लेता हूँ तो इसलिए, कि आज राजनीति भारतवर्ष के प्राणों को ही स्पर्श करती है।' गांधी ने राजनीति क्षेत्र में नैतिकता और सभ्यता के बीज बोने के लिए प्रवेश किया। पुरानी राजनीति का व्यवहारवादी सूत्र था—'आज का दोस्त कल का दुश्मन हो सकता है, इसलिए आज से ही सतर्क रहो।' गांधी ने कहा—'इसे पलट दो; आज का दुश्मन कल का दोस्त भी तो हो सकता है। इसलिए आज से ही भरोसा करो।' इस विश्वासपरायणता को उन्होंने मानवीय व्यवहार में वीरता का तत्त्व माना। यही वास्तविक आस्तिकता और वीरता है। इसका विनियोग उन्होंने

अपने राजनैतिक व्यवहार में किया। इस अर्थ में गांधी आत्मबल-सम्पन्न अध्यात्म-वीर थे।

अब रहा दार्शनिक गांधी। गांधी तत्त्वदर्शी के अर्थ में तो दार्शनिक थे, लेकिन तत्त्ववादी के अर्थ में नहीं। उन्होंने अपने किसी विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। किसी तत्त्वज्ञान के प्रवर्त्तन का दावा नहीं किया।' एक कवि ने कहा है कि पुराने सारे धर्म अपनी टिमटिमाती हुई मोमबत्तियाँ लेकर अकड़ दिखाने लगे। उधर से तगड़ा सत्य आया। एक झकोरे में सारी मोमबत्तियां बुझ गयीं। इस मर्म को गांधी ने पकड़ा था। इसलिए उनका धर्म व्यवहारमय था; व्यवहार धर्ममय था और दोनों सत्याभिमुख थे। यही गांधी का दर्शन है अर्थात् उनकी जीवन-निष्ठा।

मैं एक ऐसे विभूतिमत्सत्त्व की मीमांसा करने के लिए उद्यत हुआ जो निरन्तर नवनवोन्मेष प्रकट करता रहा। मेरी अल्पदृष्टि में गांधी के जैसे दर्शन हुए उनका निरूपण मैंने यथामति किया है।

राइट टाउन,
जबलपुर।
२५-११-१९६६

—दादा धर्माधिकारी

०

नीति : धर्म : दर्शन

भूमिका

●

इस जगत् में या जगत् से बाहर जो अनेकानेक जगत् हैं, मतलव सृष्टि में जो कुछ है और जितने भी पदार्थों की कल्पना की जा सकती है, सव का स्रोत एक है।

व्यापक चैतन्य-बोध

जो 'है' उसमें भी वही एक है और जो 'नहीं है' उसमें भी वही है। उसके विना किसी वस्तु की कल्पना ही संभव नहीं है। वह एक ही अनेक हो गया है; अनेक रूपों, नामों, स्थितियों, कालों, में वही प्रकाशित होता है। जड़ भी वही है; चेतन भी वही है। अन्तर इतना ही है कि चेतन में उसकी अभिव्यक्ति अधिक सघन, अधिक बोधगम्य है; वहाँ हमारे लिए उसका ग्रहण सहज है, सुलभ है। जिसे हम जड़ कहते हैं वह भी सुपुप्त चेतन है; वस्तुतः यह सव वर्गीकरण मानव ने अपने से, अपनी समझ के लिए, व्यवहार की सुविधा के लिए कर लिया है, अन्यथा कहीं कुछ भी जड़ नहीं है; सव चैतन्य है। हाँ, चैतन्य की विविध स्थितियाँ हो सकती हैं किन्तु सव को अपने में समेटे जो विराट चैतन्य है, वही सव का स्रोत है। जिसके विना हम नहीं हो सकते; जिसके विना कुछ भी नहीं हो सकता, वही है मूल चैतन्य; वही है परमात्मा; वही है विविध जीवनों का जीवन;—सव कुछ जिससे है, जिसको लेकर है; जिसमें है।

हम उसी से हैं, उसीसे निकले हैं और उसी के अन्दर हैं, इसलिए जाने-अनजाने उसी की ओर प्रधावित हैं। कभी-न-कभी, किसी-न-किसी रूप में उसी विराट

एकत्व का बोध

को पाने, उसको अनुभव करने की प्रेरणा मानव में स्फुरित होती है। मानव ही क्यों समस्त जगत्, जगत् का प्रत्येक अणु उसी मूल चिन्मय शक्ति की धारा में वहता हुआ, उसको पाने के लिए थिरकता, नृत्य करता चल रहा है। सव कुछ उसीमें और उसी की ओर प्रधावित है। मनुष्य में उस चिन्मयता के कुछ अधिक कण होने के कारण, विकास की प्रक्रिया तीव्र होने के कारण, वह प्रयत्न करने पर उसका आभास पा सका है। वह जान सका है कि सव उसी के चिदंश हैं इसलिए

इन चिदंशों में भी एक आकर्षण है। सब में एकत्व है इसलिए उनमें एक दूसरे को अपनाने की सहज प्रेरणा है। यही प्रेरणा कि सब अन्त में एक हैं, कर्मसुलभ होने पर नीति, भावसुलभ होने पर धर्म और ज्ञानसुलभ होने पर दर्शन के रूप में अवतरित होती है।

मानव ने अपने सुख-सुविधा के लिए एक जगह रहना सीखा; छोटे-छोटे वर्ग बनाये; फिर उसका यह क्रम कबीलों में, जनपदों में विकसित हुआ। वही एकत्व की प्रक्रिया अधिक से अधिक को अपने में खींचती रही। मनुष्य ने सीखा मनुष्य के साथ रहना। जटिलताएं आईं; संघर्ष आये। इनके बीच मनुष्य ने सीखा अपनी मूल प्रेम-प्रेरणा को सुरक्षित रखना और उसे आगे बढ़ाना। इसलिए नियम बने; कालान्तर में इन नियमों के अनुभव से नीति का विकास हुआ। मनुष्य को अपने प्रति और समाज में रहते दूसरों के प्रति कैसा व्यवहार करना कि मनुष्य की मनुष्यता सुरक्षित रहे और उनके बीच का जो ऐक्य-बोध है उसकी धारा कुण्ठित न हो, अवरुद्ध न हो, आगे ही बढ़ती जाय, अपने गन्तव्य की ओर, विराट चैतन्य-स्रोत की ओर; यही है नीति का आधार। विविध देशों, कालों, वर्गों, समाजों के लिए बनाये आचरण के ऐसे नियम जो जीवन की मूल प्रेरणा, मूल धारा को आगे बढ़ाने में सहायक होते हैं, नीति हैं।

नीति का आधार

इस प्रकार मनुष्य का अपने साथी मानवों के प्रति, बल्कि समस्त जगत् के प्रति जो आचरण है वह सब नीति के क्षेत्र के अन्तर्गत है। उसमें स्वभावतः देश, काल, स्थिति के अनुसार विविधता पाई जाती है किन्तु इस विविधता के भीतर भी, अन्तिम गन्तव्य एक होने के कारण कुछ नियम, कुछ निष्कर्ष ऐसे हैं जो समस्त नीति के मूलाधार हैं और प्रायः सार्वदेशिक हैं, और जिन्हें सब मान सकते हैं क्योंकि उनको मानने में सबका समान हित है और उन्हें मानकर चलते हुए हमारे लिए अपनी मंजिल पर पहुँचना सरल हो जाता है।

इसलिए श्रेष्ठ नीति का आधार है मानव का मानव के प्रति, बल्कि जीवमात्र के प्रति, भ्रातृत्व-बोध, ऐक्यबोध। यही भ्रातृत्वबोध, ऐक्य-बोध गांधी जी के जीवन-दर्शन का नैतिक आधार है। यही उनके परमेश्वर, जिसे वह 'सत्य' कहना ज्यादा पसन्द करते हैं, का उद्घाटक तत्त्व है। इसी से अहिंसा आई, अपरिग्रह आया, अनासक्ति आई; इसी ने उन्हें पीड़ितों, शोषितों, दुखियों, दीन जनों को प्यार करने की ताक़त दी। क्योंकि जब सब अपने हैं, बन्धु हैं तो उनके प्रति विरोध, रोष और हिंसा का भाव आ ही कैसे सकता है ? जब सब

गांधीजी के जीवन-दर्शन का नैतिक आधार

जगत् उसी एक प्रभु से आच्छन्न है, जो सबका है, जिसमें सबका अस्तित्व है, और सब जिसके अंश हैं, तब विरोध कैसा, हिंसा कैसी ? यहाँ गांधी जी की मनोभूमि प्रायः वही है जो तुलसीदास की है और जो उमा के प्रति शिव के वचन-रूप में कहते हैं :—

उमा, जे राम-चरण-रत, विगत काम, मद, क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत्, केहिसन करहिं विरोध॥

इस अनुभूति, इस गन्तव्य की ओर चलने में मानव के जितने आचरण-नियम सहायक हैं वे सब उदात्त नीति की परिधि में आते हैं। इस दृष्टि से यद्यपि नीति दर्शन या अध्यात्म विद्या से अलग है, क्योंकि वह सामाजिक आचरण का विषय है, और आवश्यक नहीं कि नैतिक मानव आध्यात्मिक भी हो, किन्तु इतना मानना ही पड़ेगा कि उदात्त नीति आध्यात्मिक अनुभव की सीढ़ी है; वह आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए ज़मीन तैयार करती है; वातावरण बनाती है। बिना इसके जीवन में जो ज्ञान आता है वह खोखला होता है। नीति समस्त चारित्र्य का प्रेरक तत्त्व है और जब ज्ञान के पीछे चारित्र्य की ज्योति नहीं होती तो वह अपने को ही काट देता है और पाखण्ड बन जाता है।

नीति का कार्य

इसीलिए गांधी जी नीति को ही, जीवन का आधार मानते हैं। नीति से ही मनुष्य जानता है कि उसे कैसा बनना चाहिए, और वैसा बनने के लिए उससे किस प्रकार के आचरण की आशा की जाती है। मनुष्य जैसा है, जिस स्थान पर खड़ा है, उस अवस्था से, उस स्थान से, जैसा उसे होना चाहिए अर्थात् जहाँ उसे जाना है, वहाँ तक पहुँचने के लिए जो नियम हैं, जो सिद्धान्त हैं, उन्हें ही नीति कहते हैं। हमें क्या बनना है और दुनिया को कैसा बनाना है, ये सब विषय नीति के क्षेत्र हैं।

सच पूछें तो जीवन के जितने भी कार्य हैं, आचरण हैं, सिद्धान्त हैं वे सब नीति के अन्तर्गत ही हैं। इस दृष्टि से धर्म का आधार भी नीति है किन्तु आज अधिकांशतः व्यवहार में धर्म नीति से बिल्कुल पृथक् और विच्छिन्न हो गया है। विशाल जन-समूहों ने नीति को छोड़कर धर्म का अनुगमन किया है; इसीलिए मनुष्य का निजी और सामाजिक जीवन अन्तर्विरोधों और विडम्बनाओं से भर गया है। गांधीदर्शन नीति एवं धर्म की इस विच्छिन्नता पर, पृथकता पर प्रबल आघात करता है। वह कहता है, नीति ही जीवन का, अतः धर्म का भी, मेरुदण्ड है। बिना नीति के धर्म लंगड़ा है; शास्त्र वितण्डा है। सच पूछें तो धर्म के सम्बन्ध

में गांधी जी की जो धारणा है, वह बहुत कुछ नीति में ही आ जाती है। उन्होंने स्वयं ही कहा है—"सच्ची नीति में, बहुत अंशों में, धर्म का समावेश हो जाता है।"

नीति ऐसा शास्त्र है जिसकी सम्पूर्ण प्रेरणा आचरण-प्रधान है। अन्य शास्त्रों या विद्याओं की भाँति इसे आचरण से अलग किया ही नहीं जा सकता। इसे जीवन से भी अलग नहीं किया जा सकता; और अलग करते ही जीवन धूल में लोटने लगता है तथा उसकी तीर्थयात्रा, उदात्त बनने का संकल्प, जीवमात्र के प्रति ऐक्य की अनुभूति का बल सब समाप्त हो जाता है।

नीतिहीन जीवन जीवन ही नहीं है

अपने प्रति ईमानदारी ही नीति-मार्ग में हमें आगे बढ़ाती है। और उसीसे दूसरों के प्रति न्याय और भलाई करने की शक्ति आती है। गांधी जी के ही शब्दों में "न्याय या भलाई करने की शक्ति कहीं बाहर से नहीं आती। वह अपने अन्दर—आत्मा में ही मौजूद है। केवल उसे विकसित करने की आवश्यकता है।" इस प्रकार नीति में आत्मचैतन्य का समाजीकरण होता है; वह 'स्व' से 'पर' को बाँधती और 'पर' का एक सीमातिक 'स्व'करण, स्वीकरण करती है। नीति का मूल भी, धर्म की भाँति ही, आत्मबोध है; उसका मूल अपने अन्दर है, वैयक्तिक है किन्तु रूप एवं विस्तार सामाजिक है। व्यक्ति उसका उद्गम है; समाज उसका क्षेत्र है।

वैयक्तिक पक्ष से नीति में व्यक्ति की, कर्त्ता की भावना ही प्रधान है। यदि भावना शुभ है, उसके पीछे दूसरे के, समाज के मंगल की प्रेरणा है; यदि वह मंगल भावना आचरण में, कार्यरूप में प्रकट होती है तो वह कार्य नीतिमय है, नैतिक है; यदि बाहर से आचरण में भला दीखते हुए भी व्यक्ति का मन निर्मल, सच्चा एवं मंगल भावना से पूर्ण नहीं है तो कार्य नीतिमय वा नैतिक नहीं कहा जा सकता। नीति के लिए भावना की पवित्रता एवं शुभ संकल्प अनिवार्यतः आवश्यक हैं। गांधी जी ने लिखा है—"दो मनुष्य एक ही काम करते हैं; परन्तु उनमें से एक का काम नीतिमय हो सकता है और दूसरे का नीति-रहित। जैसे कि एक मनुष्य अत्यन्त दयार्द्र होकर गरीबों को भोजन देता है और दूसरा मान-बड़ाई या प्रतिष्ठा के लिए या ऐसे ही अन्य स्वार्थपूर्ण विचार से वही कार्य करता है। दोनों काम एक से होने पर भी पहिला नीतियुक्त है और दूसरा नीति-रहित।"

नीति की प्रेरणाएं

यहाँ एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। उक्त उदाहरण में हम देखते हैं कि दोनों

कार्यों का स्थूल परिणाम तो एक ही है। दोनों कार्यों से भूखों का पेट तो भरता ही है। कार्य में समानता है; फल में भी बहुत कुछ समानता है। परन्तु रूप और परिणाम के एक होते हुए भी भावनाओं के, प्रेरणाओं के असादृश्य के कारण वे दो कोटियों में रख दिये गये हैं। इससे यह मालूम होता है कि कार्य एवं परिणाम की एकरूपता भी किसी आचरण के नैतिक होने की कसौटी नहीं है। किसी कार्य के नैतिक होने के लिए आवश्यक है कि वह शुभ एवं पवित्र भावना से, जिसके लिए किया जा रहा हो उसी के हित या मंगल से प्रेरित होकर किया जाय।

नीति में भावना की प्रधानता

कभी-कभी तो यह भी देखा जाता है कि हम शुभ भावना से, ईमानदारी के साथ, कोई काम करते हैं किन्तु उसका अच्छा परिणाम नहीं दिखाई पड़ता। इस से यह निष्कर्ष निकलता है कि नैतिक कार्य की कसौटी उससे होने वाला परिणाम नहीं है। नैतिक कार्य में परिणाम का विचार गौण है; कार्य एवं भाव अवश्य ही शुद्ध होने चाहिए, फल भले अन्यथा हो। कदाचित इसीलिए गीता में फलाशा का त्याग कर कर्म करने का आदेश दिया गया है।

किन्तु नीति के सम्बन्ध में विचार करते हुए गांधी जी इसके भी एक पग आगे जाते हैं। यदि कार्य के पीछे शुभ इच्छा हो किन्तु शुभ इच्छा अपनी ही चेतना, अपनी ही प्रेरणा से, या दूसरों के सत्कर्मो को देखकर स्वतः होनेवाली स्फुरणा के कारण न उत्पन्न हुई हो बल्कि किसी बाहरी शक्ति के दबाव या भय से उत्पन्न हुई हो तो भी कार्य को नीतियुक्त नहीं माना जा सकता। जैसे 'मैं आफिस देर से पहुँचा करूँगा तो मेरी नौकरी चली जायगी' इस भय से कोई प्रातःकाल जल्दी उठता है तो उसके कार्य में कोई नैतिक तत्त्व नहीं है। एक ऐतिहासिक उदाहरण देते हुए गांधी जी कहते हैं:—"एक बार इंग्लैण्ड के द्वितीय रिचर्ड के पास कुछ किसान आये और उन्होंने लाल आँखें करके रिचर्ड से अपने अधिकार माँगे। रिचर्ड ने उस समय कुछ नहीं कहा और अपने हाथ से उनके अधिकारों का 'दस्तावेज' लिखकर किसानों को सौंप दिया। रिचर्ड को किसानों से जो भय था वह जब दूर हो गया, तब उसने जोर-जुल्म करके वह दस्तावेज़ उनसे छीन लिया। इस घटना के विषय में यदि कोई यह कहे कि रिचर्ड का पहिला काम नीतियुक्त था और दूसरा अनीतियुक्त, तो यह कहना भूल से खाली नहीं। रिचर्ड का पहिला काम भय के कारण हुआ था अतः उसमें नीति का जरा भी अंश न था।"

नीति में दबाव नहीं

इसलिए उत्तम नीति या विशुद्ध नीति-धर्म के लिए गांधी जी निम्नांकित शर्तें लगाते हैं:—

१. काम शुभ हो,

२. शुभ भावना से किया गया हो,

३. उसमें अपने लाभ या स्वार्थ की इच्छा न हो,

४. आत्मानुभव में आस्था रखकर किया गया हो,

५. किसी बाहरी भय या दबाव के कारण न किया गया हो।

इस अन्तिम शर्त के कारण गांधीजी की नीति की कल्पना परंपरागत नीति से अलग, अधिक ऊँचे स्तर पर चली गई है। परंपरागत नीति के अधिकांश नियमों के साथ दण्ड की, दबाव की भावना है। वहाँ शासन की उत्पत्ति भी नीति की रक्षा के लिए ही है। चोर चोरी न करे, इसलिए शासन ने भय का वातावरण उत्पन्न किया है; उससे भी काम न चलने पर वही भय दण्ड का रूप धारण करता है। इस प्रकार आजतक की समस्त नीति में दबाव का स्थान सहज रूप से माना जाता रहा है। अपराधी और दण्डदाता, शासित और शासक के बीच भेदबुद्धि का विस्तार ही इसका कारण है; प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से स्वतंत्र इकाई के रूप में मान लिया गया है। यहाँ उस आत्मैक्य का, भ्रातृत्वबोध का विस्मरण, बल्कि निषेध, है, जिसकी मूल प्रेरणा से समाज बना था। वास्तविक नीति-बोध में सब कुछ एक दूसरे से संग्रथित है; सब एक विराट के घटक हैं, अंग हैं इसलिए अपराधी और दण्डदाता के बीच गांधीजी की व्यापक नीति अविच्छेद्य दीवार नहीं खड़ा करती; यदि बुराई है तो मूलतः उसमें सब का ही उत्तरदायित्व है ; इस कर्त्तव्यबोध के साथ बुराई करनेवाले को अपना कर प्रेमपूर्वक उसे उचित मार्ग पर डालना ही सच्ची नीति हो सकती है। बाहरी दबाव एवं दण्डभावना नीति के मूल हेतु पर ही कुठाराघात करती है इसलिए गांधी जी की नीति में उसका कोई स्थान नहीं हो सकता।

जब मैं यह लिख रहा हूँ, तब मैं बहुत से लोगों-द्वारा उठाई गई इस बात को भूला नहीं हूं कि गांधी जी ने अपने जीवन-काल में जो सत्याग्रह-आन्दोलन चलाये, उनके द्वारा स्वयं विदेशी शासकों पर गहरा दबाव पड़ा था। परन्तु यह भ्रम है और सत्याग्रह को ठीक तरह से न समझ सकने के कारण उत्पन्न हुआ है।

क्या सत्याग्रह दबाव नहीं है?

गांधी जी-प्रवर्तित सत्याग्रह की धारणा के विषय में दो बातें याद रखनी चाहिए। पहिली बात यह कि "सत्याग्रही किसी बाहरी बल पर भरोसा नहीं रखता।" और "उसका बल संख्या में नहीं, आत्मा में है—दूसरे शब्दों में ईश्वर में है।. . . .सत्याग्रही का दूसरा कोई नहीं है।. . . .ईश्वर का

विश्वास भीतरी शक्ति है।"[1] दूसरी बात यह है कि "विरोधी को पीड़ा देकर नहीं, बल्कि स्वयं कष्ट उठाकर सत्य की रक्षा"[2] सत्याग्रह का मूलाधार है। सत्याग्रही पर-पक्ष को अपने कष्ट-सहन से मृदुल बनाकर उसे उच्च भूमिका पर प्रतिष्ठित करता है और उसके हृदय का परिवर्तन करके बुराई को दूर करता है। विरोधी में स्वयं अपनी विकृति की अनुभूति एवं उस स्थिति से ऊपर उठने की प्रेरणा जागरित करना ही सत्याग्रह का वास्तविक ध्येय है। मैं यह नहीं कहता कि सदा ऐसा ही हुआ है या प्रेत्यक व्यक्ति इसी दृष्टि-बिन्दु से सोचता है। इतना ही कहना चाहता हूँ कि गांधी जी ने इसी महती आध्यात्मिक प्रेरणा से सत्याग्रह की सृष्टि की है। उनके अनुयायियों में वह दृष्टि पूरी तरह न हो, यह संभव है—बल्कि सच भी है किन्तु यह गांधी जी की सत्याग्रह-कल्पना का दोष नहीं, हमारी अपूर्णता का या हमारी मानसिक क्लान्ति का दोष है।

ऐसी नैतिकता के निर्माण के लिए गांधी जी जीवन को यज्ञमय, व्रतमय बनाने का निर्देश करते हैं। यहाँ भी उनका यज्ञ पारम्परिक यज्ञ से भिन्न और विशद अर्थ रखता है। "इस लोक में या परलोक में कुछ भी बदला लिये या चाहे बिना परार्थ के लिए किये हुए किसी भी कर्म को यज्ञ कहेंगे।....परार्थ के लिए का मतलब केवल मनुष्य वर्ग नहीं बल्कि जीवनमात्र लेना चाहिए।....मनुष्य जाति की सेवा के लिए भी दूसरे जीवों को होमना या उनका नाश करना यज्ञ की गिनती में नहीं आ सकता।....इस व्याख्या के अनुसार विचारने पर हम देख सकते हैं कि जिस कर्म से अधिक-से-अधिक जीवों का, अधिक-से-अधिक क्षेत्र में कल्याण हो और जो कर्म अधिक-से-अधिक मनुष्य अधिकाधिक सरलता से कर सकें, और जिसमें अधिकाधिक सेवा होती हो वह महायज्ञ या अच्छा यज्ञ है। अतः किसी भी सेवा के निमित्त अन्य किसी का अकल्याण चाहना या करना यज्ञ-कार्य नहीं है और यज्ञ के अलावा किया कार्य बन्धनरूप है।"[3]

जीवन में यज्ञ

इस प्रकार उनकी नीति के अनुसार जीवन को यज्ञमय बनाकर बिताना ही इष्ट है। क्योंकि "ऐसे यज्ञ के बिना संसार क्षणभर भी नहीं टिक सकता। इसलिए गीताकार ने....साफ़ शब्दों में कहा है कि हम यज्ञ को जन्म से ही साथ लाये हैं। यहाँ तक कि हमें यह शरीर केवल परमार्थ के लिए मिला है और इस-

---

१. गांधी-सेवा-संघ सम्मेलन, वृन्दावन (बिहार) ३।५।३९ तथा ६।५।३९
२. यंग इण्डिया, २४।१।१९२०
३. मंगलप्रभात २१।१०।१९३०

लिए यज्ञ किये बिना जो खाता है वह चोरी का खाता है।....जो शुद्ध जीवन बिताना चाहता है उसके सब काम यज्ञ-रूप होते हैं।"[1]

यह यज्ञभावना अपने सूक्ष्म अर्थ में ईश्वरार्पण है। जीवन उसी का है और उसी के लिए अर्थात् जीवमात्र के लिए, सम्पूर्ण जगत् के लिए है; अपना कुछ नहीं है। इस आत्मसमर्पण को सहज बनाने और सिद्ध करने के लिए आत्मशुद्धि आवश्यक है। क्योंकि "आत्मशुद्धि के बिना जीवमात्र के साथ ऐक्य सघ ही नहीं सकता।"[2] तब आत्मशुद्धि के लिए गांधी जी कुछ व्रतों की व्यवस्था करते हैं। व्रत का अर्थ है किसी शुभ कार्य में अपने को निरन्तर लगाये रहने का निश्चय। व्रत या प्रतिज्ञा जीवन को गतिमान बनाती है। इसीलिए गांधी जी की राय में "प्रतिज्ञाहीन जीवन बिना नींव का घर, अथवा....कागज का जहाज है।" संकल्प जीवन का बल है। आत्मशुद्धि के लिए अविरोध और अहिंसा के साथ अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह इत्यादि व्रतों की आवश्यकता है, क्योंकि बिना इनके स्वार्थ की वृत्तियाँ बढ़ती हैं और जगत् के प्रति सहज सेवा एवं ऐक्य-बोध संभव नहीं होता।

आत्मार्पण के लिए आत्म-शुद्धि

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि सर्वात्मबोध या जगत् से भ्रातृबोध, ऐक्य-बोध के लिए जो प्रेरणा स्फुरित हुई उसी से नीति की आदि रेखा बनी है। वही रेखा सामाजिक आचरण और उसके नियंत्रण, उदात्तीकरण के नियमों में परिवर्तित हुई; 'पर' को अपनाने की क्रिया के साथ, सेवा की वृत्ति आई। सेवा के लिए, स्वार्थ का निरोध आवश्यक हुआ; स्वार्थ के निरोध के लिए अस्वाद, अपरिग्रह और अस्तेय इत्यादि व्रतों का जन्म हुआ और सब मिलाकर इस विनम्र अनुभव से कि सब कुछ प्रभु का है और उसी के लिए है, उसको सतत साक्षी रखकर जगत् के कल्याण करने की वृत्ति से जो भाव, आचरण, नियम, प्रतिबन्ध आवश्यक समझे गये या समझे जायं वे सब नीति हैं। नीति का उद्देश्य स्व और पर का भेद दूर करने के लिए दोनों के हितों को समन्वित करना, दोनों में ऐक्य का बोध जगाना और मानव में दूसरे के लिए जीने की तत्परता लाना है।

गांधी जी ने नीति को जीवन में इतना उच्च स्थान दिया है कि उसके क्रोड़ में समस्त जीवन-विस्तार ही आ गया है। एक प्रकार से तो उनका धर्म और दर्शन भी उनकी नीति के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। धर्म एवं दर्शन के गूढ़ तत्त्वों, रहस्यों

---

१. मंगलप्रभात २१।१०।१९३०

२. आत्मकथा

में दिग्भ्रमित मानव के सामने उन्होंने कुछ सरल आचरण के नियम रख दिये हैं, और घोषणा की है कि इनके अनुसार जीवन की रचना करने पर धर्म एवं दर्शन सब अपने-आप उसके पास चले आयेंगे। इनके कारण मतों से उत्पन्न कट्टरता और कटुता दूर होगी। इनके कारण धर्म के जटाजूट और भूलभुलैया से आच्छादित एवं भ्रमित मानव का सच्चा रूप—'स्वरूप'—निखर आयेगा।

गांधी जी ने विश्व पर अपना जो व्यापक प्रभाव छोड़ा है उसका बहुत बड़ा कारण उनका नीति का ऐसा उदात्त रूप में प्रस्तुत करना ही है। इसीलिए वह अपने समय में विश्व के नैतिक बैरोमीटर बन गये थे। बुद्ध के पश्चात् कदाचित् ही किसी महापुरुष ने जीवन में नीति को इतनी प्रधानता दी हो, बल्कि कई अंशों में तो बुद्ध की कल्पना से भी वह आगे निकल गये हैं। नीति के ग्रहण से समस्त भगवद्विभूतियाँ, एक-एक करके साधक के पास चली आती हैं, और मिथ्याडम्बर से उसकी रक्षा भी हो जाती है। नीति के हर एक पहलू पर गांधी जी ने प्रकाश डाला है। सार्वभौम नीति की उदात्त भावनाएं तो उनमें हैं ही, विविध अवस्थाओं एवं स्थितियों में बरती जाने वाली आचरण-नीतियों का भी उन्होंने समय-समय पर सम्यक विवेचन किया है। इन सब में उनके अनुभव का प्रकाश है; उनके निजी प्रयोगों को वाणी प्राप्त हुई है। इसलिए जीवन के पथिक और श्रेष्ठ सात्विक जीवन के साधकों के लिए उनका विशेष महत्व है।

◎

धर्म

'धर्म' भारतीय वाङमय का एक चमत्कारिक शब्द है। संसार की किसी भी भाषा में उसका वस्तुतः कोई पर्याय नहीं है। जिस तत्व से किसी भी वस्तु का अस्तित्व संभव होता है वही है धर्म। विष का धर्म है उसका विषत्त्व या मारना; अमृत का धर्म है उसका अमृतत्व या जिलाना। जबतक विष में विषत्त्व है तभी तक उसका धर्म है; जबतक अमृत जिलाता है तभी तक वह अमृत है। इसी प्रकार जबतक मानव का मानवत्त्व है तभी तक मानव मानव है। मतलब धर्म वह है जिससे हम हैं—जिसके बिना हम हो नहीं सकते।

धर्म चमत्कारिक शब्द है

जिस विराट चैतन्य से सब का उद्भव है, उससे अपनी निजी या अंशात्मा को जोड़ना ही धर्म है। क्योंकि उसी विराट् के अंशभूत हमारा अस्तित्व है। इस प्रकार धर्म की मूल प्रेरणा वैयक्तिक है—जब वह सार्वभौम आत्म-तत्त्व की गुह्य साधना में लग जाती है तब दर्शन या अध्यात्म के क्षेत्र में चली जाती है।

धर्म निजी साधना है

अपने ही अन्तर से धर्म का उद्भव होता है, क्योंकि उसमें आत्मानुभव का ही अंश प्रधान है। इसीलिए धर्म श्रद्धा का विषय है; हृदय की चीज़ है। नीति जहाँ मुख्यतः कर्म है तहाँ धर्म मुख्यतः भक्ति या आस्था है; हृदय उसका क्षेत्र है। उद्भूत वह नीति से ही होता है किन्तु साधना उसकी अपनी होती है। वह एक प्रकार की आत्मगत साधना है—साधना वह जिससे हम अपने से, जीवन के आदिस्रोत से, परमेश्वर से, परमसत्य से, राम से (सहस्रों नामों में से उसे चाहे जिससे पुकार लीजिए) जोड़ते हैं।

गांधीजी ने स्वयं ही कहा है—"धर्म वस्तुतः बुद्धिग्राह्य न थी, परन्तु हृदयग्राह्य छे। आपणाथी जुदी एवी ए वस्तु न थी, परन्तु एवी वस्तु छे के जेने आपणे आपणा पोतामाथींज खीलववानी छे। ते सदा आपणा अन्तर माँज छे। केटलाकोने तेनुं भान छे, बीजा केटलाकोने तेनुं जरापण भान न थी, परन्तु ते तत्त्व तेओमां पण छे।...धर्म एक व्यक्तिगत संग्रह छे। तेने माणस पोतेज राखी शके छे, अने पोतेज खुए छे। समुदाय मांज बचावी शकाय ते धर्म न थी, मत छे।" अर्थात् "धर्म वस्तुतः बुद्धिग्राह्य नहीं, हृदयग्राह्य है। वह ऐसी वस्तु नहीं जो अपने से अलग हो, वरं ऐसी वस्तु है जिसे हमें अपने अन्दर से ही विकसित करना है। वह सदा हमारे अन्तर में ही है। कुछ लोगों को उसका भान है; और दूसरे कुछ लोगों को उसका ज़रा भी भान नहीं है। किन्तु वह तत्त्व तो उनमें भी वर्तमान है ही।...धर्म एक व्यक्तिगत संग्रह है। समुदाय में ही जिसकी रक्षा संभव हो वह धर्म नहीं है, मत है।"

संसार में धर्म को लेकर जो गड़बड़ी आज तक हुई है और आज भी हो रही है उसका मुख्य कारण यही है कि सामान्य भाषा में हमने धर्म को मत से मिला दिया है—उसका पर्याय बना दिया है। स्वभावतः इससे दृष्टि धूमिल हुई हैं; विकृतियाँ पैदा हुई हैं; पक्ष-विपक्ष बने हैं और विद्वेष से मानव भर गया है।

धर्म और मत

वस्तुतः धर्म और मत दो भिन्न वस्तुएं हैं; दोनों की प्रेरणा भिन्न है; प्रवृत्ति भिन्न है; पकड़—'एप्रोच'—भिन्न है। धर्म जहाँ आत्मगत साधना है; तहाँ मत अपने विचार को संगठित कर उसे सामाजिक रूप देने, उसके बन्धन में अपने को और

दूसरों को बाँधने का प्रयत्न है। धर्म भावना है; मत कर्मकाण्ड है। धर्म अपने को उपास्य से, ईश्वर से जोड़ता है; मत अपने को संसार से जोड़ता और उस पर अपना आरोपण करता है। क्रिश्चियेनिटी मत है, इस्लाम मत है, हिन्दुइज्म मत है; किन्तु प्रेम धर्म है; शान्ति धर्म है; दया धर्म है; सेवा धर्म है; संयम धर्म है।

जैसे प्रेम शब्द को लोगों ने यौनाकर्षण या वासना का पर्याय बना दिया, वैसे ही 'धर्म' को 'मत' में जाकर मिला दिया है। बात यह है कि मनुष्य का समस्त जीवन विश्वास का आश्रय लेकर चलता है। कोई स्वीकार करे या न करे, और कोई चाहे कैसा ही तार्किक हो, उसके अन्दर कुछ अस्पष्ट विश्वास अवश्य होते हैं। जर्मन विद्वान गेटे ने लिखा है—"संसार एवं मानवेतिहास का एक, और केवल एक ही वास्तविक तथा गहन, वर्ण्य विषय है—और सब वर्ण्य विषय उसके अधीन हैं—विश्वास एवं अविश्वास के बीच का संघर्ष।"

इन विश्वासों से ही संसार में विविध मतों का उद्भव और विकास हुआ है। जल-वायु, इतिहास, भौगोलिक एवं आर्थिक परिस्थितियों की भिन्नता ने प्रत्येक को एक विशेष प्रकार की आचरण-मालिका प्रदान की है।

मतों का जन्म क्यों होता है?

विश्व में जितने भी मत हैं सब ईश्वरीय वाणी या प्रेरणा से अपने को उद्भूत मानते हैं। उनकी यह ईश्वरीय वाणी उनकी किसी प्रधान धर्म-पुस्तक में संचित है। वे उसे ही एक मात्र सत्य मानते हैं—दूसरे मतों को वे ईश्वर-प्रेरित नहीं मानते या कम-से-कम उस अंश में नहीं मानते जिस अंश में अपने को मानते हैं और प्रायः दूसरे मतों की ओर उनकी हीन दृष्टि है।

इसी हीन दृष्टि या अपने विशिष्ट मतवादी अहंकार के कारण प्रत्येक युग में धर्म (मत के अर्थ में) को लेकर खींचतान होती रही है; वे आपस में टकराते रहे हैं। उनको लेकर भयानक रक्तपात हुआ है। परन्तु ये सब दुःखद काण्ड इसी-लिए होते रहे हैं कि मानव-समाज की विभिन्न जातियाँ धर्म के केन्द्रीय सत्य या स्रोत को भूलकर उसके कर्मकाण्ड में, उसके बाह्याडम्बर में उलझ गई हैं; धर्म की आत्मा दृष्टि से ओझल हो गई है, और उसका शरीर या आकार मात्र रह गया है।

एक वर्ग का संगठित अहंकार ही मत है। मत चूँकि निजी धर्म-साधना का ही बाह्य प्रसार है, इसलिए उसमें भी सत्य का आलोक तो होता ही है परन्तु मत बड़ा आग्रही होता है; हमीं सत्य हैं, दूसरे सब झूठे;

मत का गर्व : धर्म की नम्रता

हमारी ही शरण में आने से मुक्ति होगी—यह 'मत' की दर्पभरी वाणी है; तुम में, हम में सब में कुछ सत्य है,—'एकं सत विप्रा बहुधा वदन्ति'—एक ही सत्य

को विद्वज्जन अनेक प्रकार से कहते हैं—;'सर्वे नद्यः स्यन्दमाना समुद्रे—' सब नदियाँ (अपने अपने नाम रूप छोड़ कर) समुद्र में मिल जाती हैं'—यह धर्म बोल रहा है।

गांधी जी ने धर्म को उसके मूल अर्थ में ही ग्रहण किया है। वितण्डा से बचने के लिए, जाल में न फँस जाने के हेतु उन्होंने धर्म को उदात्त नीति-धर्म से संयुक्त कर दिया है। उनके विचार से जो धर्म (मत) नैतिक आदर्शों या तत्त्वों का उल्लंघन करता है वह धर्म ही नहीं है। धर्म का काम मानव में मानवता के विकास की प्रक्रिया को गति देना है, कुण्ठित करना नहीं। इसीलिए जहाँ अहिंसा नहीं है, हिंसक भावना या कर्म है; जहाँ गर्व है; जहाँ स्वार्थ है; जहाँ प्रतिबन्धित दृष्टि है वहाँ उनके विचार से धर्म नहीं, धर्म का निषेध है।

समस्या का एक व्यावहारिक समाधान

ऊपर मैंने कहा है कि मतों में भी सत्यांश हैं। इसलिए मतों की भी मानव-समाज में अपनी एक भूमिका है। उनमें भी लोकानुभव एवं लोकहित के तत्त्व हैं। तब उनका वर्तन किस प्रकार होना चाहिए कि वे अपनी भूमिका में श्रेयस्कर सिद्ध हों? गांधी जी ने इसके लिए दो आचरण-नियमों की व्यवस्था की है—१. स्वधर्म का ग्रहण। २. सर्वधर्म-समभाव। दोनों व्यावहारिक समाधान उपस्थित करते हैं। १. सब अपने-अपने धर्म (मत) में रह कर आत्मबोध पायें; उन्हें अपना मत या मजहब छोड़ने की आवश्यकता नहीं। हर एक के लिए अपना मत ठीक; वह उसी को लेकर चले, उसी में मरे, दूसरे का धर्म न ग्रहण करे (स्वधर्मे निधनं श्रेयः—) परन्तु २. अन्य धर्मों के प्रति समानता का भाव रखे। जैसे हमारा मत हमारे लिए ठीक है, वैसे ही दूसरे का मत दूसरे के लिए भी ठीक होगा। जैसे हमारे मत में हमारे लिए सत्य है और हमें उसका अनुगमन करना चाहिए, वैसे ही दूसरे के लिए दूसरे का मत भी सत्य है और उसे उसी में से तत्त्वसिद्धि करनी चाहिए। जैसे हमारा मत ईश्वर-प्रेरित है हमारे लिए, वैसे ही दूसरे का मत ईश्वर-प्रेरित है उसके लिए। वस्तुतः इस दृष्टि में आत्यन्तिक सत्य तो नहीं है क्योंकि तत्त्ववेत्ता तो अपना-पराया मानता नहीं और न वह अपने मत से इसलिए सन्तोष पा सकता है कि वह अपना है किन्तु इन नियमों की अवतारणा में गांधी जी ने व्यावहारिक लाभ की दृष्टि अपनाई है। इससे मनुष्य के उस सामाजिक अहंकार की भी तुष्टि हो जाती है जो उसे अपने विशेष मत के विषय में है और उन झगड़ों का भी निराकरण हो जाता है जो विविध मतों की खींचातानी के कारण पैदा होते हैं। उनका यह भी खयाल है कि दूसरे मतों की आलोचना से विरत होकर प्रत्येक मतानुयायी यदि

ईमानदारी से अपने मतोपदिष्ट आदर्शों एवं तत्त्वों की उपलब्धि का यत्न करता रहेगा तो अन्त में उसमें वह दृष्टि कभी-न-कभी आ ही जायगी जो सब मतों से ऊपर उठ कर सब मतों में निहित सार्वभौम सत्य को देख लेती है। इसीलिए वह एक ईसाई से हिन्दू बनने को नहीं, 'अच्छा ईसाई' बनने को कहेंगे; एक हिन्दू को 'अच्छा हिन्दू' तथा एक मुसलमान को 'अच्छा मुसलमान' बनने को कहेंगे। एक 'अच्छा मुसलमान' और एक 'अच्छा हिन्दू', यदि ईमानदार हैं तो कालान्तर में एक 'अच्छा मानव' बनकर रहेंगे।

गांधी जी के धर्म-सिद्धान्त के विषय में एक दूसरी बात यह है कि वह किसी भी शास्त्र या धर्म-ग्रन्थ को अन्तिम सत्य नहीं मानते। उनके लिए वेद उसी अर्थ में ईश्वर-वाणी हैं, जिस अर्थ में बाइबिल या कुरान ईश्वर-वाणी हैं; इनमें मात्रा-भेद संभव है पर गुण-भेद नहीं। अमुक ही ग्रन्थ में ईश्वर का अन्तिम आदेश निहित है, इस मान्यता पर उन्होंने तीव्र प्रहार किया है।

कोई धर्मग्रन्थ अन्तिम नहीं है

उनका कहना है कि ईश्वर यदि अनन्त और असीम है तो किसी एक ही ग्रन्थ में सिमट कर, सीमित होकर नहीं रह सकता; वह जो कुछ कह चुका है, उसके आगे नहीं कह सकता, या नहीं कहेगा, यह कैसी विडम्बना-भरी बात है! पहिले उसने कहा अवश्य है पर आगे कहने के अधिकार का त्याग तो नहीं किया है? वह सदा था, सदा है, सदा रहेगा, और जैसे कभी आया था, जैसे कभी ऋषियों ने पैगम्बर-प्रवक्ताओं ने उसे प्रत्यक्ष देखा और सुना, वैसे ही वह फिर आ सकता है; फिर आयेगा और आगे भी प्रवक्ता तथा ऋषि उसका प्रत्यक्ष दर्शन करेंगे; उसकी वाणी सुनेंगे, इसलिए इस प्रकार का दावा कि अमुक ही धर्म-ग्रन्थ अन्तिम है, अविवेकपूर्ण है; बल्कि एक प्रकार की प्रवंचना है। इस प्रकार गांधी जी व्यक्ति के इस अधिकार को, जो उसे परम प्रभु से ही मिला है, छोड़ने को किसी भी रूप में तैयार नहीं हैं कि जितने भी सत्यों का उद्घाटन आज तक हुआ है, उसके आगे भी हो सकता है और वह उसके आगे जा सकता है। वस्तुतः, यदि गांधी जी की बात न मानी जाय तो धर्म का कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता और मानव मुक्ति-पथ पर अग्रसर होने की जगह एक विशिष्ट धर्म-विश्वास के बन्धनों में जकड़ा ही रह जायगा।

गांधी जी यह भी कहते हैं कि वेद या शास्त्र का अर्थ भी तभी प्रकट होता है जब वह जीवन में प्रकट होता है। विद्याभिमानी ने उन्हें कभी आकर्षित नहीं किया। उन्होंने लिखा है—"शब्द मार डालता है. . . यह (शब्द का) भाव है जो

शास्त्र की चमत्कारी परिभाषा

प्रकाश देता है।" उनकी शास्त्र की परिभाषा भी चमत्कारी है—"गीता के सिद्धान्तों पर जीवन में आचरण करने वाले पुरुष का आचरण ही शास्त्र है।"[1] सम्पूर्ण शास्त्र निरर्थक है यदि वह आत्म-तत्त्व की ओर प्रेरित नहीं करता। नरसी मेहता के शब्दों में—

ज्यां लगी आतमातत्त्व चीन्यो नहीं
त्यां लगी साधना सर्व जूठी।

अर्थात् "जबतक आत्मा का तत्त्व नहीं पहिचान पाये तबतक सब साधनाएं झूठी हैं।"

तब साधक क्या करे? शास्त्र उसे विमोहित करता है; मत उसे जगज्जाल में बांधता है; कर्मकाण्ड उसमें प्रतारणाएं उत्पन्न करता है। कैसे हम धर्म को जानें; कहाँ से प्रकाश लें? गांधी जी महर्षि व्यास के दो श्लोकों की ओर इशारा करके हमारा पथ सरल कर देते हैं। धर्म की सारी गुत्थियां यहाँ खुल जाती हैं:—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः नित्यमद्वेष-रागिभिः
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत।

विद्वानों ने जिसका सेवन किया हो, सन्तों ने जिसका सेवन किया हो, रागद्वेष से नित्य-मुक्त वीतराग पुरुषों ने जिसका सेवन किया हो और जिसको अपने हृदय ने स्वीकार किया हो, ऐसे धर्म को तू जान।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वम्, श्रुत्वाचैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

धर्म का रहस्य सुनो और सुन कर हृदय में उतारो। वह यह कि जो अपने लिए प्रतिकूल लगे, उसे दूसरों के प्रति न करो।

इसीलिए उनकी दृष्टि में "धर्म वह है जो आत्मा को शुद्ध करता है; जो फल की आकांक्षा नहीं रखता; जिसे अटूट विश्वास है और जिसमें स्वार्थ का होना असंभव है। जो कार्य इस धर्म के अनुकूल है वह धार्मिक है।...इसका यह अर्थ हुआ कि धर्म बुद्धिगम्य नहीं, हृदयगम्य है। हृदय के जागरण के लिए तप के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। तप त्याग की परिसीमा है।...दुःख सहने का नाम तप है।"[2]

---

१. १६।११।१९३२ महादेवभाई की डायरी भाग २, पृष्ठ २०६
२. हरिजनबन्धु ६।५।१९३३

इस धर्म-साधना में वह प्रार्थना-उपासना को वहुत महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। "प्रार्थना वियोगी का विलाप है।" वह "आत्मा का आहार है।" प्रार्थना का अर्थ है प्रभु के चरणों में सर्वस्वार्पण। जहाँ प्रार्थी के लिए जगत् के सव साधन चुक जाते हैं, कुछ भी नहीं रहता; केवल प्रभु ही एकमात्र अवलम्ब-रूप वच रहते हैं; वह है और उसका प्रियतम प्रभु—ऐसी प्रार्थना के विना, ऐसी शून्य स्थिति के विना ईश्वर नहीं मिलता; धर्मानुभव नहीं होता; आत्मतत्त्व नहीं मिलता। यह प्रार्थना गहरी श्रद्धा से, हृदय की गहराइयों के वीच से उठती है। मत की दृष्टि से गांधी जी सनातनी हिन्दू हैं और हिन्दू पन्थ में उनका अटूट विश्वास है। यह इसीलिए कि हिन्दू पन्थ सव से कम मत है और उसमें सार्वभौम सत्य का प्रकाश अन्य मतों की अपेक्षा कहीं अधिक है। कोई धर्म उसकी भाँति जीवमात्र के कल्याण की भावना से ओतप्रोत नहीं है; उसके समान कोई आशीर्वाद नहीं करता कि—सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु—सव सुखी हों, सव निरामय हों, सव श्रेय को देखें। इसीलिए वह स्वयं कहते हैं—"निष्पक्ष भाव से विचार करते हुए मुझे यह प्रतीति हुई है कि हिन्दू धर्म में जो सूक्ष्म और गूढ़ विचार हैं, आत्मा का निरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्मों में नहीं है. . ."

इतनी विवेचना के वाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं--

१. जो वातें मन को शुद्ध करती हैं अर्थात् सच्चे सदाचरण या नीति से प्रेरित हैं; जो मानव-मानव में विभेद न उत्पन्न कर उसे एक-दूसरे से जोड़ती हैं; ईश्वर की ओर, परम सत्य की ओर उन्मुख करती हैं उनका समवाय ही धर्म है।

२. स्वभावतः यह धर्म-भावना नीति से शासित और प्रेरित है।

३. यह धर्म जव आचरित हो कर जीवन में व्यक्त होता है तभी सच्चा धर्म है।

४. यह धर्म व्यक्तिगत साधना का विषय है और वुद्धि से नहीं, हृदय से ही पकड़ में आता है।

५. स्वधर्म में रहते हुए भी सव धर्मों या मतों के प्रति समानता की दृष्टि रखना आवश्यक है।

६. धर्म किसी प्रवक्ता या शास्त्रग्रन्थ में सीमित नहीं है। शव्द के पीछे जो शव्दातीत भाव है उसी को ग्रहण करने पर वह समझ में आता है। प्रवुद्ध जनों, सन्तों एवं वीतराग पुरुषों के जीवन को देख कर उसका वोध किया जा सकता है।

७. त्याग, तप और प्रार्थना उसका साधन है। भगवान के चरणों में अपने को अर्पित कर देना ही सच्ची प्रार्थना है।

सार्वभौम धर्म के साथ ही गांधी जी ने मतों एवं सम्प्रदायों के रूप में जो धर्म प्रचलित हैं उनके सम्वन्ध में भी वहुत लिखा है; उन्होंने उनके अंग-उपांगों एवं

विविध स्थितियों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। हिन्दू धर्म, हिन्दू धर्म के आचार-विचार और ग्रन्थों, वर्णाश्रम, गोसेवा, अस्पृश्यता-निवारण इत्यादि की एक-एक गुत्थी खोल कर उन्होंने रख दी है; साथ ही ईसाई, इस्लाम, जैन, बौद्ध इत्यादि मतों के गुणावगुणों पर भी उन्होंने कम प्रकाश नहीं डाला है। साधना तथा धर्माध्ययन में साधक के सामने जो समस्याएं आती हैं, जो कठिनाइयां एवं प्रवंचनाएं उपस्थित होती हैं, उनके बारे में भी बहुत लिखा है। सब से बड़ी बात यह कि उनके विचार उनके अनुभव और अनुभव आचरण एवं प्रयोग से प्राप्त हुए हैं।

गांधी जी की धर्म-भावना का एक गुण यह भी है कि उसमें विवेक एवं श्रद्धा दोनों का सम्यक सामञ्जस्य है। यहाँ श्रद्धा का ग्रहण है; बल्कि उस पर बल भी दिया गया है परन्तु बुद्धि का त्याग नहीं है। परन्तु सब मिला कर देखने से उनकी नीति जहाँ कर्म-प्रधान है, तहाँ उनका धर्म भावनाप्रधान है; हृदयगम्य है। आधुनिक युग में नीति-समन्वित और प्रभु के प्रति आत्मार्पण से पूर्ण निष्ठाप्रधान धर्म पर कदाचित् ही दूसरे किसी महापुरुष ने इतना जोर दिया हो। उनका धर्म भौगोलिक बन्धनों से परे है और सब को अपनी ओर खींचता है। खण्डित जीवन से परिपूर्ण जीवन, ईश्वर-वियुक्त जीवन से ईश्वरयुक्त जीवन की ओर ले जाने वाला धर्म ही गांधी-प्रतिपादित धर्म है। यह धर्म पशु मानव को ईश्वरीय मानव में बदल देता है।

o

दर्शन

दर्शन चिन्तन वा साधना की वह प्रक्रिया है जिसमें साधक या मुमुक्षु तत्त्व को प्रत्यक्ष करता है। तत्त्व को देखना ही दर्शन है। यह शब्द के पीछे शब्दातीत को देखने का यत्न है; पदार्थ में उसकी आत्मा को पाने का प्रयास है। प्रेरणा जब शुद्धाचरण में प्रकट होती है तब नीति, जब हृदय में दीप्त होती तब धर्म और जब चिन्तन से मथी जाकर व्यापक चैतन्य से युक्त होती है, रूप लुप्त हो जाता है और उसमें निहित तत्त्व प्रकट होता है तब दर्शन होती है। इस प्रकार नीति-तत्त्व का आधान धर्म और उसकी साधना तथा उसकी सिद्धि दर्शन है।

ईश्वरसिद्धि या आत्मसिद्धि ही दर्शन का ध्येय है। सम्प्रदाय-भेद से इसे ब्रह्मदर्शन, आत्म-साक्षात्कार, मोक्ष, पुरुष-दर्शन, निर्वाण इत्यादि नामों से भी पुकारा गया है। गांधी जी इसे सत्य या सत्येश्वर का साक्षात्कार कहते हैं। यह सत्य या परमेश्वर मन-वाणी से परे है। जगत् में व्याप्त हो कर भी उससे अतीत

है। सब कुछ उसी के कारण है; उसी को लेकर है। गांधी जी के ही शब्दों में "....यदि वह नहीं तो हम भी नहीं हो सकते। इसीलिए हम सब उसे अनेक और अनन्त नाम से पुकारते हैं। वह एक है; अनेक है। अणु से भी छोटा और हिमालय से भी बड़ा है। समुद्र के एक बिन्दु में भी समा जा सकता है और ऐसा भारी है कि सात समुद्र मिल कर भी उसे सहन नहीं कर सकते। उसे जानने के लिए बुद्धिवाद का उपयोग ही क्या हो सकता है? वह तो बुद्धि से अतीत है।"[1]

कल्पना जहाँ तक जा सकती है, सब ईश्वर है। "ईश्वर सत्य और प्रेम है; ईश्वर नीति और सदाचार है; ईश्वर अभय है; ईश्वर प्रकाश और जीवन का स्रोत है, फिर भी इन सब से ऊपर और परे है। ईश्वर विवेक-शक्ति है। वह नास्तिक की नास्तिकता भी है।...वह वाणी और बुद्धि से परे है। ...हम मिथ्या हैं; एक वही सत्य है।"[2] यहाँ 'हम' माया-विद्ध जीव के लिए है अन्यथा 'हम' में भी उसी का दर्शन है क्योंकि 'हम' भी उससे रहित नहीं है।

गांधी-दर्शन, अन्य दर्शनों की भाँति ही, सत्य की सिद्धि या आत्मसाक्षात्कार का दर्शन है। इसमें ईश्वर है; जीव है; कभी-कभी माया भी है। ईश्वर को जानने, देखने, पाने का सतत प्रयत्न है किन्तु जो दर्शन या तत्त्व-ज्ञान इन्द्रियलब्ध समस्त अनुभवों को पार कर जाता है; जो सदाचार से भी अतीत है; जहाँ कर्ममात्र बन्धन है और जो सब इच्छाओं-अपेक्षाओं, बन्धनों से परे है—यहाँ तक कि मुक्ति की इच्छा भी जिसके लिए बन्धन रूप है, ऐसे आत्यन्तिक दर्शन या गुह्य अध्यात्म-तत्त्व की पकड़ उसमें नहीं है।

और इसका कारण है। गांधी जी का जीवन नैतिक आदर्शों के सरल राजपथ से चलने वाला जीवन है; उनकी धर्म-भावना भी उनके नैतिक आदर्शों से संयमित है। उनका जीवन प्रेम, तप, त्याग, निःस्वार्थ सेवा के साधनों को अपनाकर सीधे आगे बढ़ता गया है। उसमें धर्म की जटिल समस्याओं से कतरा कर आगे निकल जाने का प्रयास है। वह उन गहराइयों से बचते हैं जिनसे दिग्भ्रम होना संभव है; वह हठयोग या तंत्र की सिद्धियों की भूलभुलैया में कभी प्रवेश नहीं करते। वह जगत् की सेवा में ही ईश्वर को पाने का प्रयत्न करते हैं; यह जगत् ही उनके लिए ईश्वर की विराट देह है; उसके जीव ही उनके आत्मबोध की प्रयोगशाला हैं इसलिए समस्त कर्मों एवं प्रवृत्तियों का त्याग जहाँ है; जहाँ निवृत्ति मार्ग का सूक्ष्म दर्शन है; पुरुष-प्रकृति या माया, जीव और ब्रह्म के सम्बन्धों का या ईश्वर एवं ब्रह्म के

---

१. नवजीवन २१।१।१९२६

२. यंग इण्डिया ५।३।१९२५

भेद का विवेचन है तहाँ या तो उनकी गति नहीं है या फिर वह अपने ऋजु पथ के लिए इनकी आवश्यकता नहीं मानते।

जीवन के उत्तर काल में एक ऐसी स्थिति का पता उनको चल गया था, जहाँ अकर्म ही कर्म हो जाता है, निवृत्ति ही प्रवृत्ति हो जाती है और शून्यता के अवगाहन में चरम चैतन्य की अनुभूति होती है। अपने देहावसान के लगभग साढ़े तीन मास पूर्व उन्होंने लिखा—"एक स्थिति ऐसी होती है जब व्यक्ति को विचार प्रकट करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसके विचार ही कर्म बन जाते हैं। वह संकल्प से कर्म कर लेता है। जब ऐसी स्थिति आती है, तब व्यक्ति अकर्म में कर्म देखता है यानी अकर्म से कर्म होता है, ऐसा कहा जा सकता है। ...मैं उस स्थिति से दूर हूँ। उस तक पहुँचना चाहता हूँ। मेरा प्रयत्न उसी ओर रहता है।"[1]

यह 'अकर्म में कर्म', जिसकी ओर गांधी जी ने संकेत किया है, जीव की वह उदात्त आध्यात्मिक भूमिका है जिसमें वह पार्थिव बन्धनों से छूट जाता है और मोक्ष के सन्निकट होता है। इसके बाद भी एक स्थिति है जिसमें विचार भी नहीं उठते; सब शून्य और शान्त, स्थिर और निश्चल हो जाता है। क्योंकि जबतक विचार हैं, कर्म भी है। अन्तर इतना ही है कि वे सूक्ष्म स्तर पर और चिन्मय होते हैं। जबतक सूक्ष्म कर्म है तबतक यह जगत् भी है; तबतक उसका लोप नहीं है, क्योंकि कर्म से ही नामरूपात्मक, नित्य-चंचल जगत् की सृष्टि होती है। जहाँ जगत् का तिरोधान है, वहीं सब कर्मों अतः सब बन्धनों से मुक्ति है। इस जटिल आध्यात्मिक स्थिति का उल्लेख उनमें कहीं नहीं मिलता। परन्तु व्यक्तिगत रूप से मैं जानता हूँ कि अन्तिम वर्षों में इस सर्वोच्च आध्यात्मिक स्थिति का कुछ-कुछ भान उनको होने लगा था और वह यह मानने लगे थे कि कर्ममात्र विषय हैं और विषय से, अतः कर्म के बन्धन से छूटे बिना मोक्ष नहीं है।

सब मिला कर देखने पर ज्ञात होता है कि उनमें कर्मयोग और भक्तियोग का प्रकाश ही अधिक है; ज्ञानयोग का कम है; या तो प्रसंगवशात् है या संकेत एवं सन्दर्भ के रूप में है। उनका प्रारम्भिक एवं मध्य जीवन तीव्र कर्म-प्रेरणा से शासित है; उसमें अविरल गति है; उसमें उनके निजत्व से समाज का सुखद सम्पर्क एवं सामञ्जस्य हुआ है; अपनी शक्ति से उन्होंने समाज में व्यापक चैतन्य की उद्भावना की है। वह आत्म-पीड़ा और पर-पीड़ा दूर करने में यत्नवान हैं। इसी के लिए उन्होंने सेवा एवं सेवा के लिए संयम का मार्ग अंगीकार किया। इससे नैतिक नियमों एवं आदर्शों की एक दुनिया ही उनके सामने उद्घाटित होती गई।

---

१. नई दिल्ली, १६।१०।१९४७; ह० से० २६।१०।१९४७

उन्होंने जीवन की एकता के दर्शन किये; विरोधी के प्रति भी उस गहरे प्रेम से उनका जीवन भर उठा जो मानव में ईश्वरत्त्व की विभूति है। अपने कर्मवहुल एवं सक्रिय जीवन में धर्म एवं दर्शन का नियमित, शास्त्रीय अध्ययन करने के लिए उन्हें समय कहाँ मिल सकता था? उन्होंने यह भी देखा कि भगवद्‌विभूतियों की साधना के लिए शास्त्रज्ञान की अपेक्षा निर्मल हृदय, संवेदनशील और दर्दी हृदय की आवश्यकता अधिक है इसलिए अपने कर्म को उन्होंने भगवान के चरणों में उँडेल दिया और धर्मसाधना के लिए संतों का मार्ग अपनाया। फलतः आत्मार्पण एवं आत्मानुभव से उनका जीवन पूर्ण है। उनकी समस्त शिक्षा, उनके समस्त निष्कर्ष प्रयोग-जनित हैं; अपने जीवन में भोगे हुए हैं और अपने ही अनुभव की दीप्ति से प्रकाशित हैं। आचरण ही उनका शास्त्र है; ईश्वर या चिरसत्य के प्रति आत्मार्पण ही उनकी साधना है तथा जीवमात्र के प्रति अभेदभाव ही उनकी सिद्धि है। उनका धर्मज्ञान शास्त्रीय नहीं, हृदयजन्य और आत्मानुभूत है। इसीलिए उसमें दर्शन के अंश अपेक्षाकृत अल्प हैं।

उनकी नीति जीवन के उदात्त संस्कारों से उद्‌भूत हुई है; उनका धर्म हृदय-मन्थन का प्रसाद है; उनका दर्शन ईश्वर के प्रति एक प्रबुद्ध आत्मा की वियोग-व्यथा का प्रकाश है। नीति में उनका कर्म, धर्म में उनकी भक्ति एवं दर्शन में उनके ज्ञान की अभिव्यक्ति है और यह कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों मिल कर गीतोक्त स्थितप्रज्ञ की रचना में लगे हुए दिखाई पड़ते हैं। उनका जीवन बिन्दु से सिन्धु और वामन से विराट होने की निरन्तर साधना का जीवन है।

इस जीवन का विस्तार देखकर दर्शक चकित रह जाता है। उन्होंने नीति और धर्म पर तो इतना लिखा है, इतने पहलुओं से उसे देखा है, परखा है और लिखा है कि अपनी विविधता में उसने कुछ-कुछ विश्वकोश का-सा रूप धारण कर लिया है। छोटी-से छोटी पर आवश्यक बात उनकी दृष्टि से छूट नहीं पाई है और संस्कारवान जीवन के प्रेमियों के लिए, आत्मार्थियों के लिए, साधकों एवं मुमुक्षुओं के लिए बड़ी उपयोगी सामग्री इसमें हमें मिलती है।

उत्तरप्रदेश गांधी स्मारक-निधि भारी व्यय-भार उठाकर गांधी जी के विचारों को विषयानुसार वर्गीकरण करके उन्हें प्रामाणिक रूप में उपस्थित करने के लिए जो ग्रन्थमाला निकाल रही है, यह 'नीति : धर्म : दर्शन' उसका तृतीय ग्रन्थ है। यह काफी बड़ा हो गया है। हमारी चेष्टा रही है कि प्रत्येक विषय पर गांधी जी ने जो कुछ लिखा या कहा हो उसे संकलित कर दिया जाय। यही चेष्टा इस ग्रन्थ में भी दिखाई देगी। इतने पर भी हम यह नहीं कह सकते कि तद्-

विपयक कोई चीज़ छूटने नहीं पाई है; इतना ही कह सकते हैं कि हमारी नम्र चेष्टा यही है।

तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में कहा है कि इसमें जो कुछ शुभ है वह राम के अमित गुणों के कारण है, अन्यथा मेरे जैसे मतिमन्द की वाणी में क्या रखा है। मैं भी उनका अनुगमन करते हुए यही कहूँगा कि इस ग्रन्थ की उपयोगिता इसलिए है कि उसमें एक महामानव के आत्मानुभूत विचारों का संकलन है; उसमें जो दोष हैं वे मेरे हैं, जो गुण हैं वे मेरे हृदयदेव गांधी जी के हैं।

हमारे अनुरोध पर आचार्य दादा धर्माधिकारी ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिख देने की कृपा की है; वह गांधी जी के विशाल परिवार के गुरुजनों में हैं; अपने हैं; उनके प्रति आभार प्रकट करना दिखावा-मात्र होगा।

विशेष व्यस्तता की स्थिति में ग्रन्थ का मुद्रण हुआ है। जब ग्रन्थ अन्तिम रूप में आया और मुद्रण का आरम्भ हुआ तो हमारे एक सहकारी अकस्मात् काम छोड़कर सरकारी सेवा में चले गये। इससे बहुत सावधानी रखने पर भी प्रूफ़ में कहीं-कहीं अशुद्धियाँ रह गई हैं; कुछ मुख्य अशुद्धियों की ओर अन्यत्र संकेत किया गया है। इनके लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं।

—श्री रामनाथ 'सुमन'
१७।१२।६७

साधना-सदन
७७।१५६ लूकरगंज
इलाहाबाद-१

नीति

[पृष्ठ १–१३६]

विषयानुसारिणी अनुक्रमणिका

२. नीति : क्रियापक्ष [३३–९२]

३. नीति : विविध [९३–१२६]

नीति

[पृष्ठ १–१३६]

कालक्रमानुसारिणी निर्देशिका

४९. आत्म-वल	प्र० ति०	२८।९।१९२४	१२
५०. प्रण-पालन : ईश्वर-भक्ति का प्रमाण	प्र० ति०	२८।९।१९२४	४२
५१. प्रेम-तत्त्व	प्र० ति०	२६।१०।१९२४	१२
५२. मेरा धर्म सेवा	प्र० ति०	२६।१०।१९२४	९६
५३. सामान्य सिद्धान्त सव धर्मों में एक है	प्र० ति०	९।११।१९२४	९७
५४. त्याग और दान	प्र० ति०	१६।११।१९२४	४३
५५. श्रद्धा	प्र० ति०	२३।११।१९२४	४३
५६. प्रेम	प्र० ति०	७।१२।१९२४	१२
५७. प्रायश्चित्त	प्र० ति०	७।१२।१९२४	९७
५८. शक्ति और उसकी कार्य-विधि	प्र० ति०	७।१२।१९२४	९७
५९. दंगा	ले० ति०	१०।१२।१९२४	
	प्र० ति०	२१।१२।१९२४	९७
६०. न पापे प्रति पापः स्यात्	ले० ति०	१०।१२।१९२४	
	प्र० ति०	२१।१२।१९२४	९८
६१. विश्वास	प्र० ति०	२१।१२।१९२४	९८
६२. आत्मरक्षा	प्र० ति०	२१।१२।१९२४	९८
६३. सर्वश्रेष्ठ नियम	प्र० ति०	१।१।१९२५	१३
६४. देवासुर-संग्राम	प्र० ति०	१।१।१९२५	९८
६५. भ्रामक मनोदशा	प्र० ति०	१।१।१९२५	९९
६६. द्वेषहीनता	प्र० ति०	८।१।१९२५	१३
६७ दिल साफ़ कीजिए	प्र० ति०	८।१।१९२५	९९
६८. सच्चे सैनिक का लक्षण	प्र० ति०	८।१।१९२५	९९
६९. रामनाम और श्रद्धा	प्र० ति०	२२।१।१९२५	१३
७०. रोटी वनाम आत्म-सम्मान	प्र० ति०	५।२।१९२५	१००
७१. प्रेम	प्र० ति०	१९।२।१९२५	१४
७२. प्रेम-वन्धन	प्र० ति०	५।३।१९२५	१४
७३. नम्रता आवश्यक है	प्र० ति०	२५।६।१९२५	४३
७४. प्रेम	प्र० ति०	९।७।१९२५	१४
७५. वन्धुत्व धर्म है	प्र० ति०	२७।८।१९२५	१००
७६. श्रद्धा	प्र० ति०	२४।९।१९२५	१५
७७. इन्द्रियों का उपयोग	प्र० ति०	८।१०।१९२५	४६

नीति : तिथि-विहीन

नीति : परिशिष्ट

धर्म

[१३७–८००]

विषयानुसारिणी निर्देशिका

[पृष्ठ १३७-२२७]

१. धर्म : तत्त्व और सिद्धान्त

३. धर्म : हिन्दू धर्म-सिद्धान्त [पृष्ठ ३१५–३७४]

३६२	१४	मूर्ति-पूजक और मूर्ति-भंजक	प्र० ति०	७।५।१९२५	३२९
३६३	१५	हिन्दू धर्म में शैतान की कल्पना	प्र० ति०	१७।९।१९२५	३३१
३६४	१६	ब्राह्मण	प्र० ति०	१७।९।१९२५	३३२
३६५	१७	हिन्दू धर्म : एक दृष्टि	प्र० ति०	११।२।१९२६	३३२
३६६	१८	धर्म और रिवाज	प्र० ति०	२२।४।१९२६	३३४
३६७	१९	प्रार्थना किसे कहते हैं ?	प्र० ति०	१०।६।१९२६	३३४
३६८	२०	हिन्दू और हिन्दुत्व	प्र० ति०	२८।१०।१९२६	३३६
३६९	२१	हरि-हर की व्याख्या	प्र० ति०	१।९।१९२७	३३७
३७०	२२	यज्ञ का अर्थ	प्र० ति०	१५।९।१९२७	३३७
३७१	२३	हिन्दू धर्म की देन	प्र० ति०	१।१२।१९२७	३३७
३७२	२४	मोक्षदाता राम	प्र० ति०	५।४।१९२८	३३९
३७३	२५	प्रभु बड़े या गुरु ?	प्र० ति०	१४।६।१९२८	३४२
३७४	२६	श्रुति-स्मृतियों का प्रमाण	प्र० ति०	११।७।१९२९	३४६
३७५	२७	ब्रह्मचर्य की व्याख्या	ले० ति०	५।८।१९३०	३४६
३७६	२८	अस्वाद-व्रत	ले० ति०	१२।८।१९३०	३४७
३७७	२९	मूर्ति-पूजा	ले० ति०	१८।१०।१९३०	३४७
३७८	३०	गणेश एवं गुरुस्तुति	ले० ति०	२५।१।१९३१	३४८
३७९	३१	ॐ का रहस्य	ले० ति०	१४।२।१९३२	३४९
३८०	३२	सर्व-धर्म-समभाव	ले० ति०	३०।१०।१९३२	३४९
३८१	३३	हिन्दू धर्म का गौरव	ले० ति०	४।११।१९३२	३५०
३८२	३४	सनातनी	ले० ति०	४।११।१९३२	३५०
३८३	३५	हिन्दू-धर्म	ले० ति०	५।११।१९३२	३५०
३८४	३६	हिन्दू धर्म की शक्ति	ले० ति०	७।११।१९३२	३५१
३८५	३७	श्रुति-प्रमाण	ले० ति०	१७।१२।१९३२	३५१
३८६	३८	हिन्दू-धर्म का मुख्य अंग	ले० ति०	९।१।१९३३	३५३
३८७	३९	मेरी आस्था	ले० ति०	९।१।१९३३	३५३
३८८	४०	शास्त्र क्या है ?	ले० ति०	१९।२।१९३३	३५३
३८९	४१	धर्म का रहस्य	प्र० ति०	१८।८।१९३३	३५३
३९०	४२	शुद्धि के लिए उपवास	प्र० ति०	३।११।१९३३	३५५
३९१	४३	ऋग्वेद का सन्देश	ले० ति०	२०।२।१९३४	३५५
			प्र० ति०	२।३।१९३४	
३९२	४४	सनातन धर्म-सिद्धान्त	प्र० ति०	५।५।१९३४	३५५

४. धर्म : हिन्दू धर्म-व्यवहारपक्ष ३६७

[पृष्ठ ३७५–४७९]

६. धर्म : हिन्दूधर्मेतर धर्म [पृष्ठ ५३७–५८९]

७. धर्म : विविध [पृष्ठ ५९१–७३४]

८५०	२१४	प्रार्थना व्यर्थ है	ले० ति०	६।१२।१९४६	७११
			प्र० ति०	१२।१।१९४७	
८५१	२१५	धर्म : प्रश्नोत्तर	ले० ति०	२२।२।१९४७	७१२
			प्र० ति०	१६।३।१९४७	
८५२	२१६	धर्म, नीति और धार्मिक शिक्षा	ले० ति०	२१।२।१९४७	७१३
			प्र० ति०	२३।४।१९४७	
८५३	२१७	मेरा विश्वास	ले० ति०	८।३।१९४७	७१४
			प्र० ति०	३०।३।१९४७	
८५४	२१८	मेरा धर्म	ले० ति०	७।४।१९४७	७१४
			प्र० ति०	२७।४।१९४७	
८५५	२१९	धर्मों का उपहास उचित नहीं	ले० ति०	१७।४।१९४७	७१४
			प्र० ति०	४।५।१९४७	
८५६	२२०	धर्म-ग्रन्थ : एक दृष्टि	ले० ति०	७।५।१९४७	७१४
			प्र० ति०	१८।५।१९४७	
८५७	२२१	धर्म-ग्रन्थों का पठन	ले० ति०	१३।५।१९४७	७१५
			प्र० ति०	२५।५।१९४७	
८५८	२२२	धर्म और राष्ट्रीयता	ले० ति०	२२।६।१९४७	७१५
			प्र० ति०	२९।६।१९४७	
८५९	२२३	भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन	ले० ति०	२३।७।१९४७	७१५
			प्र० ति०	३।८।१९४७	
८६०	२२४	कुछ आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर	ले० ति०	२५।७।१९४७	७१६
			प्र० ति०	४।८।१९४७	
८६१	२२५	रामधुन की शक्ति	ले० ति०	२२।८।१९४७	७१८
			प्र० ति०	३१।८।१९४७	
८६२	२२६	धर्म	ले० ति०	२२।८।१९४७	७१८
			प्र० ति०	३१।८।१९४७	
८६३	२२७	अल्लाहो-अकबर	ले० ति०	२३।८।१९४७	७१९
			प्र० ति०	३१।८।१९४७	
८६४	२२८	प्रार्थना की शर्त	ले० ति०	१७।९।१९४७	७१९
			प्र० ति०	२८।९।१९४७	
८६५	२२९	प्रार्थना अखण्ड है	ले० ति०	१८।९।१९४७	७१९
			प्र० ति०	२८।९।१९४७	

८. धर्म : परिशिष्ट [पृष्ठ ७३५–८००]

धर्म

[१३७–८००]

कालक्रमानुसारिणी निर्देशिका

२३. अपने धर्म की रक्षा	ले० ति०	३०।८।१९०९	६०१
२४. देह-रक्षा	ले० ति०	१७।९।१९०९	२३२
२५. धर्म और परमार्थ	ले० ति०	३।१०।१९०९	१४१
२६. दशहरे का सन्देश	ले० ति०	२९।१०।१९०९	३८०
२७. धर्म : कुछ दृष्टिकोण	ले० ति०	११।१२।१९०९	१४१
२८. धार्मिक सद्भावना	प्र० ति०	११।१२।१९०९	१४२
२९. धर्महीन सभ्यता	प्र० ति०	११।१२।१९०९	६०१
३०. बुद्धि का उपयोग	प्र० ति०	११।१२।१९०९	६०१
३१. गो-रक्षा	प्र० ति०	११।१२।१९०९	७३७
३२. ब्रह्मचर्य का मार्ग	ले० ति०	२०।१।१९१०	६०२
३३. दैवी सम्पत्	ले० ति०	२९।३।१९१०	१४२
३४. भक्ति की परीक्षा	ले० ति०	४।११।१९१०	६०२
३५. पुण्य-भूमि या अधर्म-भूमि	ले० ति०	१५।११।१९१०	६०२
३६. थियोसाफी	ले० ति०	८।५।१९११	५३९
३७. धर्मक्षेत्र भारत	ले० ति०	१७।७।१९११	६०३
३८. श्रीकृष्ण	ले० ति०	९।९।१९११	६०३
३९. सर्व-धर्म-समता	प्र० ति०	२८।१०।१९११	१४२
४०. दान : एक आदर्श	प्र० ति०	९।१२।१९११	२३२
४१. कृष्णार्पण	ले० ति०	९।१२।१९११	३८०
४२. ब्राह्मणों का सम्मान	ले० ति०	१४।३।१९१३	३८०
४३. शास्त्रों का अर्थ	ले० ति०	३०।५।१९१३	३८१
४४. एक ही धर्म आवश्यक नहीं	ले० ति०	३०।५।१९१३	६०३
४५. आत्मान्वेषण	ले० ति०	२।७।१९१३	१४२
४६. भक्ति, ज्ञान और धर्म-साधना	ले० ति०	२।७।१९१३	६०३
४७. शास्त्र, ज्ञान और कृष्ण	ले० ति०	७।८।१९१३	३८१
४८. सन्त-समागम	प्र० ति०	२३।८।१९१३	१४३
४९. मेरा प्रयत्न	ले० ति०	१८।९।१९१३	२३२
५०. ब्रह्मचर्य-पालन एवं वैभव	ले० ति०	२१।२।१९१४	१४३
५१. धर्म और राजनीति	प्र० ति०	१७।७।१९१४	६०५
५२. प्रभु-स्मरण	ले० ति०	१०।१२।१९१४	२३२
५३. धर्म-शिक्षा की मर्यादा	ले० ति०	१७।२।१९१५	
	प्र० ति०	२१।२।१९१५	२३३

१०६. शास्त्रों का कथन	ले० ति०	७।९।१९१९	६१२
	प्र० ति०	१४।९।१९१९	
१०७. मोक्षाग्रह	ले० ति०	१५।९।१९१९	१४५
१०८. प्रार्थना और उपवास	प्र० ति०	४।१०।१९१९	१४५
१०९. उपवास एवं प्रार्थना	प्र० ति०	१२।१०।१९१९	२४१
११०. भारत में धर्म	ले० ति०	२८।९।१९१९	
	प्र० ति०	१२।१०।१९१९	६१२
१११. मन्दिर और पुरोहित	ले० ति०	२८।९।१९१९	
	प्र० ति०	१२।१०।१९१९	३८९
११२. गीता की सार्वदेशिकता	प्र० ति०	१२।१०।१९१९	४८४
११३. ईसाइयों को सन्देश	ले० ति०	३।११।१९१९	५४१
११४ मुक्ति का मार्ग	ले० ति०	२४।११।१९१९	
	प्र० ति०	६।१२।१९१९	६१२
११५ ईसाई आश्रमवासी को धर्म-निर्देश	ले० ति०	७।१२।१९१९	६१३
११६. धर्मान्तर आवश्यक नहीं	ले० ति०	१३।१।१९२०	३८९
११७. मेरा हिन्दुत्व	ले० ति०	१३।१।१९२०	३८९
११८. जीवहत्या और गोहत्या	ले० ति०	२५।१।१९२०	३८९
११९. सत्याचरण धर्म है	प्र० ति०	२५।१।१९२०	६१३
१२०. धर्म और नम्रता	ले० ति०	१२।१।१९२०	
	प्र० ति०	२५।१।१९२०	३९०
१२१. वाइविल : मेरी पथ-प्रदर्शिका	ले० ति०	२२।१।१९२०	
	प्र० ति०	२५।२।१९२०	५४१
१२२. वास्तविक धर्म	प्र० ति०	१२।५।१९२०	१४५
१२३. निष्काम कर्म	प्र० ति० -	११।७:१९२०	१४६
१२४. वुद्धिहीन धार्मिक सिद्धान्त	प्र० ति०	२१।७।१९२०	६१४
१२५. गोरक्षा	प्र० ति०	४।८।१९२०	३९१
१२६. गोरक्षा : हिन्दू धर्म की सवसे महत्वपूर्ण वाह्य अभिव्यक्ति	प्र० ति०	८।८।१९२०	३९१
१२७. मेरे धर्म की सार्वदेशिकता	प्र० ति०	११।८।१९२०	१४६
१२८. हिन्दू-धर्म-रक्षा का उपाय	प्र० ति०	२९।८।१९२०	३९२
१२९. धर्म अपरिवर्तनीय है	ले० ति०	२।९।१९२०	२४२
१३०. धर्म-शुद्धि	प्र० ति०	८।९।१९२०	२४२

१३१.	गोरक्षा का उपाय	ले० ति०	१०।९।१९२०	६१४
१३२.	हिन्दू-धर्म का प्रभाव	ले० ति०	१७।९।१९२०	
		प्र० ति०	२६।९।१९२०	३२१
१३३.	मेरा हिन्दू-धर्म	ले० ति०	१७।९।१९२०	
		प्र० ति०	२६।९।१९२०	३२१
१३४.	स्वतन्त्रता, ब्रिटिश शासन और धर्म	ले० ति०	२९।९।१९२०	
		प्र० ति०	३।१०।१९२०	६१५
१३५.	पूर्ण ब्रह्मचर्य एक काल्पनिक स्थिति है	प्र० ति०	१३।१०।१९२०	१४६
१३६.	ब्रह्मचर्य-पालन के नियम	प्र० ति०	१३।१०।१९२०	२४३
१३७.	हिंसा और धर्म	प्र० ति०	३१।१०।१९२०	१४७
१३८.	ईश्वर	प्र० ति०	३।११।१९२०	१४७
१३९.	धर्माचरण का मूल तत्त्व	ले० ति०	२७।१०।१९२०	
		प्र० ति०	३।११।१९२०	२४४
१४०.	धर्म की मूलभूत आवश्यकताएं	ले० ति०	२७।१०।१९२०	
		प्र० ति०	३।११।१९२०	६१५
१४१.	ईश्वर का नाम-स्मरण	प्र० ति०	३।११।१९२०	२४४
१४२.	शास्त्र-प्रदत्त अधिकार	प्र० ति०	२१।११।१९२०	१४७
१४३.	धर्म-पालन	ले० ति०	१४।११।१९२०	
		प्र० ति०	२१।११।१९२०	२४४
१४४.	अधर्म के विनाश का मार्ग	प्र० ति०	२१।११।१९२०	२४५
१४५.	धर्म और शरीर	प्र० ति०	३०।११।१९२०	१४७
१४६.	वैष्णवों से	प्र० ति०	५।१२।१९२०	३९२
१४७.	गोरक्षा	ले० ति०	८।१२।१९२०	३९३
१४८.	शास्त्र का अर्थ और वैष्णव धर्म	प्र० ति०	१२।१२।१९२०	३९४
१४९.	धर्म बनाम देश	प्र० ति०	१९।१२।१९२०	६१६
१५०.	वेद का प्रमाण	प्र० ति०	१९।१।१९२१	३९५
१५१.	गोरक्षा-धर्म का कैसे पालन हो?	ले० ति०	१९।१।१९२१	
		प्र० ति०	२७।१।१९२१	३९६
१५२.	धर्म-राज्य की स्थापना	प्र० ति०	२७।१।१९२१	६१६
१५३.	सनातनी हिन्दू कौन है?	प्र० ति०	६।२।१९२१	३२१

२३३.	अर्थ का अविरोधी धर्म	प्र० ति०	१०।९।१९२५	६३५
२३४.	हिन्दू धर्म में शैतान की कल्पना	प्र० ति०	१७।९।१९२५	३३१
२३५.	ब्राह्मण	प्र० ति०	१७।९।१९२५	३३२
२३६.	ईश्वर-भजन	प्र० ति०	२४।९।१९२५	२५०
२३७.	कृष्ण और महाभारत	प्र० ति०	८।१०।१९२५	४८९
२३८.	गुरु गोविन्दसिंह और सिख-धर्म	प्र० ति०	८।१०।१९२५	७३९
२३९.	वर्ण और जाति	प्र० ति०	१५।१०।१९२५	४०१
२४०.	गीता का अर्थ	प्र० ति०	१५।१०।१९२५	४९०
२४१.	ईश्वर-भजन	प्र० ति०	२९।१०।१९२५	२५२
२४२.	मन्दिर	प्र० ति०	५।११।१९२५	४०१
२४३.	गीता का सन्देश	प्र० ति०	१९।११।१९२५	४९३
२४४.	राम-नाम का प्रचार	प्र० ति०	१९।११।१९२५	६३५
२४५.	मेरी आस्था	ले० ति०	३०।११।१९२५	
		एवं	३।१२।१९२५	१५६
२४६.	ईसाई मिशनरी	प्र० ति०	१७।१२।१९२५	७४०
२४७.	भूत-प्रेतादि	प्र० ति०	१४।१।१९२६	६३८
२४८.	तीन प्रश्न	प्र० ति०	२१।१।१९२६	४०२
२४९.	हिन्दू धर्म : एक दृष्टि	प्र० ति०	११।२।१९२६	३३२
२५०.	ब्रह्मचर्य का दावा	प्र० ति०	१८।२।१९२६	६३९
२५१.	धर्म-सम्बन्धी कुछ प्रश्न	प्र० ति०	८।४।१९२६	४०५
२५२.	मांसाहार : एक धर्म-संकट	प्र० ति०	८।४।१९२६	६४१
२५३.	श्राद्ध और सगर-आख्यान	प्र० ति०	१५।४।१९२६	४०९
२५४.	धर्म और रिवाज	प्र० ति०	२२।४।१९२६	३३४
२५५.	प्रार्थना किसे कहते हैं ?	प्र० ति०	१०।६।१९२६	३३४
२५६.	गुरु की शोध	प्र० ति०	१७।६।१९२६	६४१
२५७.	सहवर्ती धर्मों का अध्ययन	प्र० ति०	२।९।१९२६	६४२
२५८.	बुद्धिवाद बनाम श्रद्धावाद	प्र० ति०	१४।१०।१९२६	२५५
२५९.	मेरा हिन्दुत्व	प्र० ति०	१४।१०।१९२६	४१०
२६०.	हिन्दू और हिन्दुत्व	प्र० ति०	२८।१०।१९२६	३३६
२६१.	गोरक्षा	प्र० ति०	२।१२।१९२६	४१०
२६२.	स्त्रियों का धर्म	ले० ति०	१९२६	७४०
२६३.	गीता का अर्थ	प्र० ति०	१९।१।१९२७	४९३

२६४. इस्लाम, शान्ति का धर्म	प्र० ति०	२०।१।१९२७	५५०
२६५. भक्ति का अर्थ श्रद्धा है	ले० ति०	२४।१।१९२७	१५७
२६६. पाप और पुण्य एक साथ नहीं चल सकते	प्र० ति०	१०।२।१९२७	१५७
२६७. प्रभु की साक्षी	प्र० ति०	१०।२।१९२७	६४४
२६८. मेरी स्थिति	प्र० ति०	३।३।१९२७	४११
२६९. मेरा धर्म	प्र० ति०	३।३।१९२७	६४४
२७०. शुद्धि और तबलीग	प्र० ति०	३।३।१९२७	७४७
२७१. विकार एवं रोग	ले० ति०	२८।३।१९२७	१५८
२७२. आत्मा	ले० ति०	२।५।१९२७	१५८
२७३. श्रद्धा	ले० ति०	१६।५।१९२७	१५८
२७४. धार्मिक भावना	ले० ति०	२८।५।१९२७	२५७
२७५. बुद्धि कर्मानुसारिणी है	ले० ति०	३१।५।१९२७	१५८
२७६. शुद्ध अन्तःकरण	ले० ति०	१३।६।१९२७	१५९
२७७. दिगम्बर-श्वेताम्बर	प्र० ति०	२३।६।१९२७	५५१
२७८. प्रार्थना की विधि	प्र० ति०	२३।६।१९२७	६४५
२७९. गीता-दृष्टि	ले० ति०	१९।७।१९२७	४९५
२८०. ध्यानावस्था	ले० ति०	८।८।१९२७	२५७
२८१. वेद-वचन	प्र० ति०	२५।८।१९२७	४११
२८२. हरि-हर की व्याख्या	प्र० ति०	१।९।१९२७	३३७
२८३. दीक्षा का अधिकार	प्र० ति०	१।९।१९२७	४१२
२८४. राम-नाम	ले० ति०	१२।९।१९२७	६४५
२८५. यज्ञ का अर्थ	प्र० ति०	१५।९।१९२७	३३७
२८६. प्रार्थना की विधि	प्र० ति०	१५।९।१९२७	४१३
२८७. धर्म का आदेश	ले० ति०	२६।९।१९२७	६४६
२८८. हिन्दू विद्यार्थी और गीता	प्र० ति०	२९।९।१९२७	४९५
२८९. प्रार्थना में विश्वास नहीं	प्र० ति०	३०।९।१९२७	२५७
२९०. वर्णाश्रम धर्म : एक परिभाषा	प्र० ति०	६।१०।१९२७	४१४
२९१. मेरा वर्णाश्रम धर्म	प्र० ति०	६।१०।१९२७	४१४
२९२. मैं हिन्दू क्यों हूं ?	प्र० ति०	२७।१०।१९२७	४१३
२९३. वर्ण और आश्रम	प्र० ति०	३।११।१९२७	४१५
२९४. बौद्ध-धर्म	प्र० ति०	२४।११।१९२७	५५३

२९५. हिन्दू धर्म की देन प्र० ति० १।१२।१९२७ ३३७

२९६. वर्णाश्रम धर्म प्र० ति० १।१२।१९२७ ४१८

२९७. सत्य की विकृति प्र० ति० ८।१२।१९२७ २५९

२९८. सच्ची शुद्धि प्र० ति० १५।१२।१९२७ १५९

२९९. प्रार्थना की शक्ति प्र० ति० १५।१२।१९२७ १६०

३००. गौतम बुद्ध और हिन्दू शास्त्र प्र० ति० १५।१२।१९२७ ४२२

३०१. धर्म-ग्रन्थ पढ़ने की शर्तें प्र० ति० १५।१२।१९२७ ६४६

३०२. पश्चिम और पूर्व में दृष्टि-भेद प्र० ति० १५।१२।१९२७ ७४८

३०३. लंका-निवासी हिन्दुओं से प्र० ति० २२।१२।१९२७ ४२२

३०४. वाइविल: मेरी नजर में प्र० ति० २२।१२।१९२७ ५५४

३०५. जीवन-कण प्र० ति० २९।१२।१९२७ ६४६

३०६. प्रार्थना का उपयोग प्र० ति० १९।१।१९२८ २६२

३०७. धर्म का रहस्य और धर्म-परिवर्तन प्र० ति० २६।१।१९२८ ६४८

३०८. धर्म-परिवर्तन या आत्म-परिवर्तन प्र० ति० २९।३।१९२८ ६५१

३०९. मन्दिर कैसा हो? प्र० ति० १।२।१९२८ ४२५

३१०. मोक्षदाता राम प्र० ति० ५।४।१९२८ ३३९

३११. एकभक्ति हनुमान प्र० ति० १२।४।१९२८ ४२६

३१२. प्रभु बड़े या गुरु? प्र० ति० १४।६।१९२८ ३४२

३१३. प्रेम नम्रता की पराकाष्ठा है लें० ति० २७।११।१९२८ १६०

३१४. धार्मिक शिक्षण का पाठ्यक्रम प्र० ति० १२।१२।१९२८ ६५४

३१५. प्रार्थना प्र० ति० २०।१२।१९२८ १६१

३१६. धर्मों में भ्रातृभाव लें० ति० १९२८ २६२

३१७. गीता और रामायण प्र० ति० १८।४।१९२९ ४९७

३१८. गीता: परिचय एवं विश्लेषण लें० ति० २४।६।१९२९ ४९९

३१९. श्रुति-स्मृतियों का प्रमाण प्र० ति० ११।७।१९२९ ३४६

३२०. धर्म-सम्बन्धी कुछ प्रश्न प्र० ति० १५।८।१९२९ १६१

३२१. वृक्ष-पूजा प्र० ति० १५।८।१९२९ ४२८

३२२. धर्म के विषय में हमारा अज्ञान प्र० ति० २३।१।१९३० १६३

३२३. भगवद्गीता अथवा अनासक्ति-योग लें० ति० २२।५।१९३० ५०८

३२४. ब्रह्मचर्य की व्याख्या लें० ति० ५।८।१९३० ३४६

३२५. अस्वाद-व्रत लें० ति० १२।८।१९३० ३४७

३२६. श्रद्धा लें० ति० १२।९।१९३० ६५४

५१६.	आध्यात्मिक उपवास	ले० ति०	२८।१२।१९३२	६७०
५१७.	महाभारत	ले० ति०	२९।१२।१९३२	५२०
५१८.	मैं राजनीतिक नहीं, धार्मिक मनुष्य हूं	ले० ति०	४।१।१९३३	६७०
५१९.	ईश्वरीय प्रेरणा से उपवास	ले० ति०	५।१।१९३३	२८१
५२०.	हिन्दू धर्म की निषेधात्मक वृत्ति	ले० ति०	५।१।१९३३	४४०
५२१.	भिक्षुक वृत्ति	ले० ति०	५।१।१९३३	६७२
५२२.	स्वधर्म का त्याग	ले० ति०	६।१।१९३३	१८१
५२३.	धर्म-त्याग	ले० ति०	६।१।१९३३	६७२
५२४.	धर्म किसके लिए?	ले० ति०	७।१।१९३३	१८१
५२५.	रजस्वला धर्म	ले० ति०	७।१।१९३३	६७२
५२६.	शास्त्र का प्रमाण	ले० ति०	९।१।१९३३	५२०
५२७.	अन्तःप्रेरणा	ले० ति०	९।१।१९३३	१८१
५२८.	हिन्दू-धर्म के मुख्य अंग	ले० ति०	९।१।१९३३	३५३
५२९.	मेरी आस्था	ले० ति०	९।१।१९३३	३५३
५३०.	वर्णाश्रम-उद्धार	ले० ति०	९।१।१९३३	४४१
५३१.	अवतार नहीं हूं	ले० ति०	९।१।१९३३	६७२
५३२.	ईश्वर	ले० ति०	११।१।१९३३	१८२
५३३.	प्रार्थना	ले० ति०	१२।१।१९३३	१८२
५३४.	अन्तरात्मा का स्वर	ले० ति०	१३।१।१९३३	१८२
५३५.	हमारा धर्म	ले० ति०	१६।१।१९३३	२८२
५३६.	वेद	ले० ति०	१७।१।१९३३	१८४
५३७.	ईश्वर	ले० ति०	१९।१।१९३३	१८४
५३८.	धर्म	ले० ति०	२०।१।१९३३	६७३
५३९.	आत्मज्ञान	ले० ति०	२३।१।१९३३	१८४
५४०.	मौन	ले० ति०	२३।१।१९३३	१८५
५४१.	उपवास, अल्पाहार और प्रार्थना	ले० ति०	२६।१।१९३३	२८२
५४२.	हिन्दू-धर्म : मेरा आराध्य	ले० ति०	२७।१।१९३३	४४१
५४३.	वर्ण-धर्म बनाम वर्णाश्रम धर्म	ले० ति०	२।२।१९३३	४४१
५४४.	धर्म : सबका आधार	ले० ति०	३।२।१९३३	१८५
५४५.	वर्णाश्रम धर्म	ले० ति०	१८।२।१९३३	४४२
५४६.	शास्त्र क्या है?	ले० ति०	१९।२।१९३३	३५३
५४७.	ईश्वर का अस्तित्व	प्र० ति०	२३।२।१९३३	१८५

६०६. मैं सनातनी हूं — प्र० ति० २९।१२।१९३३ — ४५६
६०७. हिन्दू-धर्मग्रन्थों का प्रमाण — प्र० ति० २९।१२।१९३३ — ५२१
६०८. ईश्वर — प्र० ति० २९।१२।१९३३ — ६७८
६०९. अन्तर्नाद — प्र० ति० १९३३ — ६७८
६१०. धर्म का पालन — प्र० ति० १२।१।१९३४ — २९०
६११. वर्ण-धर्म — प्र० ति० १९।१।१९३४ — ४५६
६१२. ब्राह्मण और ब्राह्मणत्व — प्र० ति० २६।१।१९३४ — ४५७
६१३. धर्म का अर्थ — ले० ति० २०।१।१९३४
प्र० ति० २।२।१९३४ — १९२
६१४. वेद यों पढ़ें — ले० ति० २०।१।१९३४
प्र० ति० २।२।१९३४ — ५२२
६१५. धर्मों का मूल आधार — प्र० ति० ९।२।१९३४ — १९२
६१६. धर्म अनेक और एक — ले० ति० १८।१।१९३४
प्र० ति० २।३।१९३४ — १९२
६१७. सभी धर्म समान हैं — ले० ति० १०।२।१९३४
प्र० ति० २।३।१९३४ — ६७९
६१८. ऋग्वेद का सन्देश — ले० ति० २०।२।१९३४
प्र० ति० २।३।१९३४ — ३५५
६१९. हमारी हर एक प्रवृत्ति का आधार — प्र० ति० २।३।१९३४ — ६७९
६२०. धर्म-साक्षात्कार — प्र० ति० ९।३।१९३४ — १९३
६२१. धर्ममय जीवन — प्र० ति० ९।३।१९३४ — २९०
६२२. धर्मों का उद्देश्य — प्र० ति० ९।३।१९३४ — ६७९
६२३. धर्म का रक्षण — प्र० ति० १६।३।१९३४ — १९३
६२४. धर्म का नाश नहीं होता — ले० ति० २८।२।१९३४
प्र० ति० १६।३।१९३४ — २९०
६२५. ईश्वर पर आस्था — प्र० ति० २३।३।१९३४ — १९३
६२६. मनुस्मृति — प्र० ति० ६।४।१९३४ — ५२२
६२७. सर्वधर्म-समन्वयी प्रार्थना — प्र० ति० १३।४।१९३४ — ६७९
६२८. परिणाम-चिन्तन — ले० ति० १८।४।१९३४ — ५२२
६२९. गलत रास्ता — प्र० ति० २०।४।१९३४ — ४५७
६३०. सर्वधर्म-समादर — प्र० ति० २०।४।१९३४ — ६८०
एवं ४।५।१९३४

६३१.	धर्म-सेवक	प्र० ति०	४।५।१९३४	६८०
६३२.	धर्म-परिवर्तन	प्र० ति०	४।५।१९३४	६८१
६३३.	अवतार बनाम इतिहास-पुरुष	प्र० ति०	४।५।१९३४	६८१
६३४.	सनातन धर्म-सिद्धान्त	प्र० ति०	५।५।१९३४	३५५
६३५.	मृत्यु-विजय : उपनिषद्-सन्देश	ले० ति०	२२।५।१९३४	५२३
६३६.	धर्म और हिंसा	प्र० ति०	१।६।१९३४	१९३
६३७.	आदर्श मन्दिर	प्र० ति०	१।६।१९३४	६८१
६३८.	इस्लाम और हजरत मुहम्मद साहब	ले० ति०	२३।६।१९३४	
		प्र० ति०	१३।७।१९३४	५६१
६३९.	धर्म-रक्षा	प्र० ति०	२०।७।१९३४	१९४
६४०.	धर्म से धरती का अस्तित्व	ले० ति०	१।७।१९३४	
		प्र० ति०	२०।७।१९३४	१९४
६४१.	धर्म में काट-छाँट अवांछनीय है	ले० ति०	१।७।१९३४	
		प्र० ति०	२०।७।१९३४	६८२
६४२.	सत्याश्रयी धर्म	ले० ति०	२२।७।१९३४	
		प्र० ति०	३।८।१९३४	१९४
६४३.	हिन्दू-धर्म	ले० ति०	१।८।१९३४	
		प्र० ति०	१०।८।१९३४	३५५
६४४.	गीता पर उपदेश	ले० ति०	१।८।१९३४	
		प्र० ति०	१०।८।१९३४	५२३
६४५.	नाम-जप राम-नाम	ले० ति०	४।८।१९३४	
		प्र० ति०	२४।८।१९३	१९४
६४६.	उपवास एक आध्यात्मिक क्रिया	प्र० ति०	२४।८।१९३४	२९०
६४७.	वर्णाश्रम धर्म	प्र० ति०	२४।८।१९३४	४५९
६४८	रामचरितमानस	ले० ति०	७।८।१९३४	
		प्र० ति०	२४।८।१९३४	५२४
६४९.	गीता की एक शिक्षा	प्र० ति०	२४।८।१९३४	५२४
६५०.	वर्ण-धर्म की व्याख्या	प्र० ति०	३१।८।१९३४	४५९
६५१.	धर्मग्रन्थों का प्रमाण	प्र० ति०	३१।८।१९३४	५२४
६५२.	अध्यात्म-बल	प्र० ति०	७।९।१९३४	६८२
६५३.	ईश्वर, निराशा और श्रद्धा	ले० ति०	१६।१२।१९३४	१९५
६५४.	रामनाम राम-बाण है	ले० ति०	३१।१२।१९३४	२३१

६८३. सोने की कुंजी	प्र० ति०	६।२।१९३७	३५७
६८४. ईश्वर का वास	प्र० ति०	२०।२।१९३७	२०४
६८५. मन्दिर हों तो ऐसे	प्र० ति०	२०।२।१९३७	६८४
६८६. ईसाइयत और अन्य धर्म	प्र० ति०	६।३।१९३७	५७५
६८७. दूसरे क्या कहते हैं?	प्र० ति०	६।३।१९३७	६८४
६८८. हिन्दू-धर्म एकेश्वरवादी है	प्र० ति०	१३।३।१९३७	३५९
६८९. अन्य धर्मों के प्रति मेरी दृष्टि	प्र० ति०	१३।३।१९३७	६८७
६९०. धर्म की सहायता	प्र० ति०	१३।३।१९३७	६८८
६९१. हमारा धर्म	प्र० ति०	२०।३।१९३७	२९६
६९२. मूर्तिपूजा	प्र० ति०	२०।३।१९३७	३६०
६९३. धर्म-हेतु त्याग	प्र० ति०	२०।३।१९३७	६९०
६९४. गोसेवा और हमारा धर्म	प्र० ति०	३।४।१९३७	४६०
६९५. ईसाई-धर्म-प्रचार : एक वार्ता	प्र० ति०	२४।४।१९३७	५८२
६९६. उपनयन-संस्कार	प्र० ति०	८।५।१९३७	४६१
६९७. अनुचित धर्म-परिवर्तन	प्र० ति०	१२।६।१९३७	६९०
६९८. धर्म-वृत्ति	प्र० ति०	२६।६।१९३७	२०४
६९९. धर्म-परिवर्तन और शुद्धि	प्र० ति०	२५।९।१९३७	४६२
	एवं	२।१०।१९३७	
७००. ईश्वर में विश्वास	प्र० ति०	१४।५।१९३८	२०५
७०१. मौन	ले० ति०	११।६।१९३८	२०६
७०२. श्रद्धा और बुद्धि	प्र० ति०	१८।६।१९३८	२०६
७०३. ब्रह्मचर्य	ले० ति०	८।७।१९३८	६९०
७०४. ईश्वरीय जीवन	प्र० ति०	२९।९।१९३८	२०६
७०५. ईश्वर-निर्भरता	ले० ति०	३।२।१९३९	६९०
७०६. उपवास का आध्यात्मिक आयाम	प्र० ति०	२५।३।१९३९	२९६
७०७. हिन्दू धर्म की नित्य प्रदक्षिणा	ले० ति०	१८।३।१९३९	
	प्र० ति०	२५।३।१९३९	४६४
७०८. गोसेवा	ले० ति०	२९।४।१९३९	४६४
	से	६।५।१९३९ तक	
७०९. ईश्वर में श्रद्धा	प्र० ति०	३।६।१९३९	२९७
७१०. प्रार्थना-रहस्य	प्र० ति०	१९।८।१९३९	२०७
७११. आत्मघात का अधिकार	प्र० ति०	२६।८।१९३९	६९१

७५७.	प्रार्थना पागलपन दूर करने का साधन	ले० ति०	१।५।१९४६	
		प्र० ति०	५।५।१९६७	३०१
७५८.	ईश्वर पर आस्था	ले० ति०	१।५।१९४६	
		प्र० ति०	५।५।१९४६	७००
७५९.	राम और प्रार्थना	ले० ति०	२२।४।१९४६	
		प्र० ति०	५।५।१९४६	७००
७६०.	रोग-नाश का उपाय ईश्वर-स्तुति	ले० ति०	९।५।१९४६	
		प्र० ति०	१९।५।१९४६	२१६
७६१.	प्रभु पर आस्था	प्र० ति०	१९।५।१९४६	२१६
७६२.	प्रार्थना और ईश्वरीय विधान	ले० ति०	१५।५।१९४६	
		प्र० ति०	१९।५।१९४६	३०१
७६३.	प्रार्थना में शान्त रहें	ले० ति०	१५।५।१९४६	
		प्र० ति०	१९।५।१९४६	७०२
७६४.	त्रिविध ताप-हर	ले० ति०	२४।५।१९४६	२१७
७६५.	कल्पतरु नाम	ले० ति०	२५।५।१९४६	२१७
७६६.	चित्तशुद्धि का साधन	ले० ति०	२१।५।१९४६	
		प्र० ति०	२६।५।१९४	२१७
७६७.	प्रार्थना का प्रयोजन	ले० ति०	१९।५।१९४६	
			एवं २१।५।१९४६	
		प्र० ति०	२६।५।१९४६	७०२
७६८.	अनेकता में एकता	ले० ति०	२१।५।१९४६	
		प्र० ति०	२६।५।१९४६	७०२
७६९.	ईश्वर-श्रद्धा	ले० ति०	२१।५।१९४६	
		प्र० ति०	२६।५।१९४६	७०३
७७०.	ईश्वरानुभूति	ले० ति०	१७।४।१९४६	
		प्र० ति०	२।६।१९४६	३०२
७७१.	राम कौन ?	ले० ति०	२६।५।१९४६	
		प्र० ति०	२।६।१९४६	३६३
७७२.	रामनाम में जागृति आवश्यक है	ले० ति०	२५।५।१९४६	
		प्र० ति०	२।६।१९४६	७०३
७७३.	राम कौन है ?	ले० ति०	२७।५।१९४६	
		प्र० ति०	२।६।१९४६	७०३

७७४.	रामनाम का मज़ाक	प्र० ति०	२।६।१९४६	७०६
७७५.	राम-नाम	ले० ति०	३०।५।१९४६	
		प्र० ति०	९।६।१९४६	३०३
७७६.	राम-नाम की महिमा	ले० ति०	१०।६।१९४६	
		प्र० ति०	१६।६।१९४६	३०३
७७७.	नामामृत	ले० ति०	२०।६।१९४६	२१७
७७८.	कष्ट में भी नाम-स्मरण	ले० ति०	६।७।१९४६	२१८
७७९.	नाम-रसायन	ले० ति०	९।७।१९४६	२१८
७८०.	ईश्वर का ध्यान कैसे किया जाय ?	ले० ति०	१०।८।१९४६	
		प्र० ति०	१८।८।१९४६	३०५
७८१.	फिर राम-नाम	ले० ति०	८।८।१९४६	
		प्र० ति०	१८।८।१९४६	७०६
७८२.	ईश्वर व्यक्ति है या शक्ति ?	ले० ति०	९।८।१९४६	
		प्र० ति०	२५।८।१९४६	७५४
७८३.	राम-नाम के बारे में भ्रम	ले० ति०	१७।८।१९४६	
		प्र० ति०	१।९।१९४६	२१८
७८४.	दशरथ-नन्दन राम	ले० ति०	१६।९।१९४६	
		प्र० ति०	२२।९।१९४६	४६८
७८५.	सम्मिलित प्रार्थना	ले० ति०	१४।९।१९४६	
		प्र० ति०	२२।९।१९४६	७०७
७८६.	धर्म और राज्य	ले० ति०	१६।९।१९४६	
		प्र० ति०	६।१०।१९४६	७०९
७८७.	कर्म पूजा नहीं ?	ले० ति०	५।१०।१९४६	
		प्र० ति०	१३।१०।१९४६	७०९
७८८.	अमोघ मन्त्र	ले० ति०	१०।११।१९४६	
		प्र० ति०	२४।११।१९४६	३६४
७८९.	मेरा हिन्दुत्व	ले० ति०	५।१२।१९४६	४६९
७९०.	हमारी सभ्यता की माँग	ले० ति०	२४।११।१९४६	
		प्र० ति०	८।१२।१९४६	७१०
७९१.	शुद्धि और शून्यता	ले० ति०	४।१।१९४७	३०५
७९२.	ईश्वर-निर्भरता और सुरक्षा	ले० ति०	३।१२।१९४६	
		प्र० ति०	१२।१।१९४७	२१९

८१०. ईश्वर	ले० ति०	२८।४।१९४७	
	प्र० ति०	११।५।१९४७	२२०
८११. गोरक्षा-धर्म	ले० ति०	२५।४।१९४७	
	प्र० ति०	११।५।१९४७	४७०
८१२. धर्म की शिक्षा	ले० ति०	२८।४।१९४७	
	प्र० ति०	११।५।१९४७	३०६
८१३. सच्ची प्रार्थना	ले० ति०	३।५।१९४७	
	प्र० ति०	१८।५।१९४७	२२०
८१४. धर्म की खाद	ले० ति०	२।५।१९४७	
	प्र० ति०	१८।५।१९४७	३०७
८१५. धर्म-ग्रन्थ : एक दृष्टि	ले० ति०	७।५।१९४७	
	प्र० ति०	१८।५।१९४७	७१४
८१६. धर्म-ग्रन्थों का पठन	ले० ति०	१३।५।१९४७	
	प्र० ति०	२५।५।१९४७	७१५
८१७. हिन्दुत्व का लक्षण	ले० ति०	१।६।१९४७	
		एवं ३।६।१९४७	
	प्र० ति०	८।६।१९४७	४७१
८१८. ब्रह्मचर्य और एकादश व्रत	ले० ति०	२।६।१९४७	
	प्र० ति०	८।६।१९४७	३०७
८१९. कुरान की शिक्षा	ले० ति०	३०।५।१९४७ और ३।६।१९४७	
	प्र० ति०	८।६।१९४७	५८८
८२०. ब्रह्मचर्य की रक्षा	ले० ति०	८।६।१९४७	
	प्र० ति०	१५।६।१९४७	३०९
८२१. ईश्वर का रूप और उसका वास	ले० ति०	१४।६।१९४७	
	प्र० ति०	२२।६।१९४७	४७१
८२२. भगवन्नाम-महौषधि	प्र० ति०	२२।६।१९४७	२२०
८२३. हिन्दू-धर्म के प्राचीन लक्षण	ले० ति०	१५।६।१९४७	
	प्र० ति०	२२।६।१९४७	४७३
८२४. प्रार्थना व्यर्थ नहीं जाती	ले० ति०	२२।६।१९४७	
	प्र० ति०	२९।६।१९४७	३११
८२५. शास्त्र और आत्म-जागरण	ले० ति०	२२।६।१९४७	
	प्र० ति०	२९।६।१९४७	३११

दर्शन

[८०१–९२१]

विषयानुसारिणी निर्देशिका

१. दर्शन : तत्व [पृष्ठ ८०१–८२६]

२. दर्शन : भाष्य [पृष्ठ ८२७–८८३]

३. दर्शन : विविध [पृष्ठ ८८५–९२१]

दर्शन

[८०१–९२१]

कालक्रमानुसारिणी निर्देशिका

सिद्धान्त एवं भाष्य

१. बुराई का जवाव भलाई से देने का सिद्धान्त

हम एक ऐसे राष्ट्र के लोग हैं, जिसमें धर्म-चिन्तन वहुत होता है और जिसमें लोग वदला न लेने और वुराई का जवाव भलाई से देने के सिद्धान्त पर निष्ठा रखते हैं। हम तो यहां तक मानते हैं कि हम अपने विचारों से उनके उन कर्मों पर भी रंग चढ़ा सकते हैं, जिनका हम विचार करते हैं। अपने दैनिक जीवन में हम प्राय: इसके उदाहरण देखते हैं। एक आदमी कोई वड़ा जुर्म करता है तो उसका चेहरा इस तरह वदल जाता है, मानों उस पर उस कुकर्म की छाप लग गई हो; इसी प्रकार अगर कोई वड़ा पुण्य करता है तो उसके चेहरे पर दूसरे प्रकार का शुभ प्रभाव अंकित हो जाता है। इस तरह मनुष्य अपने कार्यों से लोगों को अपनी तरफ आकर्षित करता हुआ या दूर हटाता हुआ पाया गया है। इसलिए हम अपना यह परम कर्त्तव्य समझें कि हमारे विचार से जो हमारे साथ वुरा व्यवहार भी करते हैं, उनके वारे में हम वुरे विचार अपने हृदय में न आने दें। जो हमारे साथ भलाई करते हैं, उनके साथ अगर हम भलाई करें तो इसमें कौन वड़े सद्‌गुण की वात है? इतना तो कुकर्मी लोग भी करते हैं। हां, विरोधी के प्रति भलाई करें तो जरूर, कुछ वात हुई। अगर हम यह सीधी-सीधी वात ध्यान में रखें तो हमें इतनी जल्दी सफलता मिल सकती है, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

—इं० ओ०, २०।८।१९०३। 'मुसीवतों के फ़ायदे' शीर्षक लेख से।]

२. आस्थापूर्ण प्रयत्न

जो साहसपूर्वक और परमात्मा में विश्वास रख कर प्रयत्न करते हैं, वे अवश्य सफल होते हैं।

—गुजराती से। इं० ओ०, ३०।११।१९०७]

३. हमारी नैतिकता : हमारा धर्म

कई पहलुओं से विचार करके देखने पर मालम होगा कि भारत में महामारी. भुखमरी वगैरह वढ़ गई है। इसका कारण भारतीय प्रजा का पाप है। यदि कोई

कहे कि राज्यकर्त्ताओं का पाप है तो यह वात हमें मान्य है। उनके पाप के कारण प्रजा दुखी होती है, यह सदा का अनुभव है। किन्तु याद रखने योग्य वात यह है कि पापी सरकार पापी प्रजा को ही मिलती है। इसके अलावा सच्चा नियम यह है कि दूसरों को दोप देने के वदले अपने दोपों की छानवीन करना अधिक लाभ-प्रद होता है।

हिन्दू-मुसलमान के वीच फूट और कटुता पाप है। किन्तु ये असल पाप नहीं हैं। फूट मिट जाये और दोनों कौमें मिलकर रहने लगें तो विदेशी शासन हट जायगा अथवा उसकी नीति में परिवर्तन होगा। किन्तु उससे प्लेग और अकाल भी मिट ही जायँगे, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं।

मुख्य पाप तो भारतीय प्रजा का असत्य है। महामारी के समय हम सरकार को तथा अपने आपको धोखा देते हैं। ऊपर से सफाई रखने का दिखावा करते हैं, किन्तु सच्ची स्वच्छता नहीं रखते। घर को धुआं देकर शुद्ध करना हो तो उसका केवल दिखावा किया जाता है। यदि उसके विना चल सकता हो, सिपाहियों को रिश्वत दी जा सकती हो, तो वह देकर हम आवश्यक कामों से वच जाते हैं। यह रोग वचपन से ही चलता रहता है। शाला में एक वात सिखाई जाती है। वहां वच्चा 'हां' कह देता है; घर आने पर उससे उलटा ही वरतता है। वैसा करने में माता-पिता सहमत रहते हैं। स्वच्छता रखनी चाहिए या नहीं, इस सम्वन्ध में नियम वनाये जाते हैं। किन्तु उनका पालन किया जाय या नहीं, इस वात को हम ताक पर रख देते हैं। उसके वारे में मतभेद भले हो, किन्तु यहां जो वात सिद्ध करना चाहता हूं वह यह है कि हम असत्य का सहारा लेते हैं। वहुतेरी वातों में हम केवल आडम्वर करते हैं। इससे हमारे तन्तु ढीले पड़ जाते हैं, हमारा खून पाप की गन्दगी से विगड़ जाता है और हर तरह के कीटाणुओं के वश में हो जाता है। देखने में आता है कि अमुक वर्णों को महामारी वगैरह नहीं होती। इसका कारण यह है कि वे स्वच्छता का या और किसी प्रकार का आडम्वर नहीं करते, वल्कि वे जैसे हैं, वैसे ही दिखते हैं। उन्हें आडम्वर करनेवालों की अपेक्षा उस हद तक हम ऊंचा समझते हैं। उपर्युक्त कथन का मतलव यह नहीं कि सभी इसी तरह करते हैं। लेकिन अधिकतर वैसा होता है।

उपर्युक्त पाप में से एक दूसरी लत पैदा हुई है और वह सभी वर्गों में है, और भयानक है। वह है—विपय-लोलुपता, व्यभिचार। इस विपय में संक्षेप में ही लिखा जा सकता है। सामान्यतः इसकी चर्चा करते हुए लोग हिचकते हैं; हम भी हिचकते हैं। फिर भी अपने पाठकों के सामने यह विचार रखना हम अपना फर्ज समझते हैं। परस्त्री-संग ही केवल व्यभिचार नहीं है। स्व-स्त्रीसंग में भी व्यभि-

चार है। यह सब धर्मों की शिक्षा है। स्त्री-संग केवल प्रजा उत्पन्न करने के लिए ही ठीक है। सामान्यतः देखने में आता है कि व्यभिचार भावना से संग किया जाता है, और उसके परिणामस्वरूप सन्तान उत्पन्न होती है। हम मानते हैं कि भारत की दशा इतनी खराब है कि इस समय बहुत ही कम सन्तान-उत्पत्ति होनी चाहिए। इसका मतलब यह हुआ कि यदि संग हो तो वह बहुत-कुछ व्यभिचार में ही शामिल होगा।

यदि यह मान्यता ठीक हो तो समझदार भारतीय का कर्त्तव्य है कि या तो वह बिल्कुल शादी न करे और यदि वह उसके वश की बात न हो तो स्त्री-संग करने से मुक्त रहे। यह सब कठिन काम है, फिर भी बिना किये छुटकारा नहीं है।

नहीं तो पाश्चात्य प्रजा का अनुकरण करना होगा। पाश्चात्य प्रजा राक्षसी उपाय बरत कर सन्तान-निरोध करती है। वह युद्ध में बहुत लोगों का नाश होने देती है, और ईश्वर पर से आस्था छोड़कर दुनियाई सुखों में ही रची-पची रहने की तजवीज करती है। इस तरह करके भारतीय भी उनकी ही तरह महामारी आदि से मुक्त रह सकते हैं। किन्तु हम मानते हैं कि भारत में पश्चिम का राक्षसी रंग प्रवेश नहीं कर सकता।

यानी भारत या तो खुदा–ईश्वर की ओर एक नजर रखकर पापमुक्त होगा और सुखी रहेगा या सदा गुलामी में रहकर, जनाना बनकर, मौत से डरते हुए, महामारी वगैरह बीमारियों में सड़कर बिना मौत मरता रहेगा।

ये विचार किसी को आश्चर्यजनक, किसी को हास्यास्पद, किसी को अज्ञानपूर्ण मालूम होंगे। फिर भी हम बेधड़क लिख रहे हैं और समझदार भारतीयों से प्रार्थना करते हैं कि वे इन पर पूरी तरह विचार करें। पागलपन के हों या सयाने, ये विचार लेखक ने अपने गहरे अनुभव के आधार पर लिखे हैं। इनके अनुसार आचरण करने से नुकसान तो होगा ही नहीं। सत्य के सेवन और ब्रह्मचर्य के पालन से किसी को नुकसान नहीं होता। कोई यह भी न माने कि एक-दो व्यक्तियों के पालने से प्रजा को क्या लाभ होगा। ऐसा कहनेवाले व्यक्ति को नादान समझना चाहिए।

—गुजराती से। इं० ओ० २८।१२।१९०७। सं० गां० वां० भाग ७ पृ० ४५२–४५३]

- मुख्य पाप तो भारतीय प्रजा का असत्य है।
- दूसरों को दोष देने के बदले अपने दोषों को छानबीन करना अधिक लाभप्रद होता है।
- परस्त्री-संग ही केवल व्यभिचार नहीं है। स्व-स्त्री-संग में भी व्यभिचार है।

- सत्य के सेवन और ब्रह्मचर्य के पालन से किसी को नुकसान नहीं होता।

४. मनुष्य जाति का सेवक वन्दनीय है

जो आदमी खुदा का बन्दा बनकर निरन्तर मनुष्य जाति अथवा जीवमात्र की सेवा करता है और उसी में मग्न रहता है उसे अवश्य खुदा की चाकरी में रहने—निर्वाण पाने का लालच है। ऐसे मनुष्य की हम पूजा करते हैं। यदि संसार में इस प्रकार के बहुत-से मनुष्य हो जायं तो आज जो पाप, क्लेश, दुःख, भुखमरी, रोग आदि दिखाई पड़ते हैं उनके बजाय पुण्य, समृद्धि, शान्ति, सुख और ऐक्य दिखाई देने लगेंगे।

—गुजराती से। इं० ओ०, १५।२।१९०८]

५. गलत क़दम

जो क़दम उठाने से आत्मोन्नति नहीं होती, उससे न देश चढ़ सकता है, न धर्म बढ़ सकता है।

—श्री मगनलाल गांधी को लिखे पत्र से। सोमवार की रात, २८।१२।१९०८]

६. आदर्श व्रत आत्मार्थ होते हैं

ब्रह्मचर्यादि व्रत आत्मार्थ हों, तभी वे पवित्र और सुखकर होते हैं। असुरों के हाथ में पड़कर तो वे दुःख की ही वृद्धि करते हैं। यह बात बहुत गम्भीर है फिर भी यह यथार्थ है। भगवान पतंजलि[1] ने अपने योगदर्शन में इसे बहुत अच्छी तरह समझाया है। हमारे धर्म की शिक्षा भी यही है।...

—मगनलाल गांधी को लिखे पत्र से। सोमवार की रात, २८।१२।१९०८]

७. आत्मा की खोज में नीति

आत्मा की खोज के लिए पहिले तो नीति पर दृढ़ता होनी चाहिए, अर्थात्

---

१. योग-दर्शन के प्रमुख आचार्य।

अभय, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि गुणों का सम्पादन करना चाहिए। ऐसा करते हुए देश-सेवा अपने-आप हो सकती है। ...मेरा विचार ऐसा है कि शहरों में, जहां लोग घनी आवादी में रहते हैं और जहां वहुतेरे प्रलोभन हैं, नैतिक नियमों का पालन करना वहुत कठिन है।...

—श्री मणिलाल गांधी को लिखे पत्र से। यूनियन कैसिल लाइन, आर० एम० किल्डोनन कैसिल, २४।११।१९०९। सं० गां० वां०, खण्ड १० पृ० ७०]

८. यह भोग-लिप्सा है

सारी भगवद्गीता में मुझे ऐसा कुछ नहीं मिलता, जिसमें कहा गया हो कि जिस मनुष्य का केवल कर्मेन्द्रियों पर नियन्त्रण है परन्तु जो 'मन को विपयों के चिन्तन से अलग नहीं रख सकता' उसके लिए यही वेहतर है कि जवतक वह मन पर भी नियन्त्रण न कर ले, तवतक कर्मेन्द्रियों से भोग करे। सावारण व्यवहार में हम ऐसी प्रकृति को भोग-लिप्सा कहते हैं। हम यह भी जानते हैं कि आत्मा के दुर्वल होने पर भी यदि हम इन्द्रियों पर कावू रख सकें और सतत कामना करते रहें कि आत्मा भी वैसी ही वलवान हो तो हम आत्मा और इन्द्रिय में ऐक्य साव सकेंगे। मेरा ख्याल है कि जो वाचन आपने उद्धृत किया है वह एक ऐसे व्यक्ति से सम्वन्वित है जो दिखाने के लिए तो इन्द्रिय-दमन करता प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में जान-बूझकर अपने मन में विपयों का चिन्तन करता है।

—श्री डब्ल्यू० जे० वायवर्ग को लिखे पत्र से। १०।५।१९१०। अंग्रेजी। इं० ओ०, २१।५।१९१०। सं० गां० वां०, खण्ड १०, पृ० २६५]

९. तालसताय का धर्म

उन (तालसताय) की शिक्षा धर्म पर आवारित थी। वे स्वयं ईसाई थे इसलिए हमेशा यही मानते थे कि ईसाई वर्म सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु उन्होंने अन्य वर्मो का खण्डन नहीं किया। उन्होंने तो यह कहा था कि सभी धर्मो में सत्य अवश्य है। साथ ही यह भी कहा है कि स्वार्थी पादरियों, स्वार्थी ब्राह्मणों और स्वार्थी मुल्लाओं ने ईसाई और इसी तरह दूसरे धर्मो को ग़लत रूप दे दिया है और मनुष्यों को भ्रमित कर दिया है।

तालसताय का विशेप रूप से यह कहना था कि शरीर-वल की अपेक्षा आत्म-वल अविक शक्तिशाली होता है और यही सव धर्मो का सार है। संसार से दुष्टता

मिटाने का मार्ग यही है कि बुरे के साथ हम बुराई के बदले भलाई करें। दुष्टता अधर्म है। अधर्म का इलाज अधर्म नहीं हो सकता, धर्म ही हो सकता है। धर्म में तो दया का ही स्थान है। धर्मात्मा व्यक्ति अपने शत्रु का भी बुरा नहीं चाहता। इसलिए सदा धर्म-पालन करते रहना इष्ट हो तो नेकी ही करनी चाहिए।...

—गुजराती से। इं० ओ०, २६।११।१९१०। सं० गां० वां०, खण्ड १०; पृ० ३९७]

१०. नीति-मर्यादा

जहां नीति के प्रश्नों को लेकर हमारे मन में संशय हो वहां अपेक्षाकृत कम दर्जे के बुजुर्गों की आज्ञा का उल्लंघन किया जा सकता है बल्कि उल्लंघन करना कर्त्तव्य है। जहां नीति-विषयक संशय न हो वहां तो माता-पिता की आज्ञा का भी उल्लंघन किया जाता है, करना कर्त्तव्य है। मुझे मेरे पिता चोरी करने को कहें तो वह नहीं करनी चाहिए। मेरा इरादा ब्रह्मचर्य पालन करने का हो और वे विपरीत आज्ञा दें तो मुझे विनयपूर्वक उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना चाहिए।...

—श्री नारायणदास गांधी को लिखे पत्र से। ताल्सताय फार्म, माघ सुदी १०;।८।२।१९११ सं० गां० वां०, खण्ड १०, पृ० ४३६, ३७]

११. धार्मिक कार्य

समाज के लिए निःस्वार्थ भाव से किये गये कार्य को मैं सांसारिक कार्य नहीं बल्कि धार्मिक कार्य मानता हूं।...अशुद्ध मन से किये गये धार्मिक कार्य को मैं धार्मिक नहीं मानता।...

—गुजराती से। इं० ओ०, १३।७।१९१२]

१२. स्वधर्म

[श्री छगनलाल गांधी को लिखे पत्र से]

फीनिक्स में सभी का प्रेम सम्पादन करना। इसी में दया-धर्म निहित है। दया का अर्थ अत्यन्त गूढ़ है, इस पर विचार करना।...आत्मा के अनुकूल कार्य

किये जायं तो वह उन्नत होती है और विपरीत कार्यों से पतित होती है। स्वधर्म की यह व्याख्या ठीक जँचती है।

—जहाज पर, श्रावण सुदी ६, २८।७।१९१४। सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृ० ५१२]

१३. धर्म और आचार

धर्म आचार पर निर्भर है।

—गुजराती से। काठियावाड़ टाइम्स, १२।११।१९१६]

१४. महान व्रत

[श्री जमनादास गांधी को लिखे पत्र से]

अत्यन्त स्वादिष्ट भोजनों से घिरे रहकर अस्वाद का व्रत लेना निश्चय ही महान व्रत है।

—मोतीहारी, पौष सुदी ६, १८।१।१९१८। सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० १४५]

१५. ईमान

जिसका ईमान रह गया, उसका सब कुछ रह गया। ईमान जाय और दुनिया का राज्य भी मिले, तो वह धूल के बराबर है।

—मिल-मजदूरों की हड़ताल के समय प्रकाशित पत्रिका संख्या १७ से। अहमदाबाद, १९।३।१९१८। गुजराती 'एक धर्मयुद्ध' से]

१६. पंच-परमेश्वर

पंच की वाणी परमेश्वर की वाणी है।

—सुणाव में दिये गये भाषण से, २२।४।१९१८। गुजराती 'खेड़ा सत्याग्रह'। सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० ३४६]

१७. पुरुषार्थ

[श्री हरिलाल गांधी को लिखे पत्र से]

स्वभाव को जीतने में ही पुरुषार्थ है; यही धर्म है।

—गाड़ी में, १।५।१९१८। गुजराती। 'महादेवभाईनी डायरी', खण्ड ४]

१८. आत्मबल

[श्री शंकरलाल बैंकर को लिखे गये पत्र से]

उचित आत्मबल के अभाव में ऊंची से ऊंची भावना व्यर्थ है।

—अहमदाबाद, ७।९।१९१८। गुजराती। महादेव भाई की डायरी, खण्ड ४। सं० गां० वां०, खण्ड १५, पृ० ४५]

१९. ईश्वर से याचना

[श्री हरिलाल गांधी को लिखे गये पत्र से]

इंसान घमण्डी बनकर ईश्वर की सहायता नहीं मांग सकता; अपनी दीनता स्वीकार करके ही माँग सकता है।

—अहमदाबाद, २६।११।१९१८। गुजराती। 'महादेव भाईनी डायरी', खण्ड ४ सं० गां० वां९, खण्ड १५, पृ० ६८]

२०. प्रच्छन्न पातक

छिपा हुआ पाप जहर के समान है जो सारे शरीर को दूषित कर देता है। यह जहर जितनी जल्दी निकाल दिया जाय, समाज के लिए उतना ही अच्छा है। जैसे संखिया में शुद्ध दूध मिला देने से संखिया का कुप्रभाव कम नहीं हो जायगा वैसे ही किसी समाज में अगर किसी पाप का प्रायश्चित न किया जाय तो फिर उसमें चाहे जितने सुकर्म क्यों न किये जायं, वे उस पाप के प्रभाव को दूर नहीं कर सकते।

—नडियाद, ६।७।१९१९। यं० इं० ९।७।१९१९]

- छिपा हुआ पाप जहर के समान है जो सारे शरीर को दूषित कर देता है।

२१. आत्म-दण्ड

आत्मदण्ड भी एक प्रकार की तपश्चर्या है। इसका फल नेक काम से बढ़नेवाले पवित्र गुण के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। यहां तक कि शत्रु भी उससे प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता।

—गुजराती। न० जी०, २०।२।१९२१। अंग्रेजी से अनूदित। 'कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी', खण्ड १९, पृ० ३७५]

२२. आशावाद

आशावाद आस्तिकता है। सिर्फ नास्तिक ही निराशावादी हो सकता है। आशावादी ईश्वर का डर मानता है, विनयपूर्वक अपना अन्तर्नाद सुनता है, उसके अनुसार वरतता है और मानता है कि ईश्वर जो करता है अच्छे के लिए ही करता है।

—न० जी०, हि० न० जी०, २८।१०।१९२१]

२३. धर्म की प्रमुख शर्त नैतिकता

ज्योंही हम नैतिक आधार खो देते हैं, त्योंही हम धार्मिक नहीं रह जाते। नैतिकता का उल्लंघन करनेवाले धर्म-जैसी कोई चीज नहीं है। उदाहरण के लिए, मनुष्य झूठा, निर्दय और असंयमी होते हुए यह दावा नहीं कर सकता कि ईश्वर उसके साथ है।

—यं० इं०, २४।११।१९२१]

२४. श्रद्धा का अर्थ

श्रद्धा का अर्थ है आत्मविश्वास और आत्मविश्वास के मानी हैं ईश्वर पर विश्वास। जब चारों ओर काले बादल दिखाई देते हों, कहीं किनारा नज़र न आता हो और ऐसा मालूम होता हो कि अब डूबे तब डूबे, तब भी जिसे विश्वास रहता है कि वह हरगिज़ नहीं डूबेगा, उसे कहते हैं श्रद्धावान। द्रौपदी का वस्त्र-हरण हो रहा था। उसकी रक्षा करने में युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, सभी असमर्थ थे। फिर भी द्रौपदी ने श्रद्धा न छोड़ी। वह 'कृष्ण, कृष्ण' पुकारती रही। उसे इस बात पर श्रद्धा थी कि जबतक कृष्ण मौजूद हैं, तबतक किसकी

मजाल है कि उसका वस्त्र-हरण कर सके। आपमें ऐसी श्रद्धा है? यदि आपके अन्दर ऐसी श्रद्धा हो, तो आप अकेले, पूना के वल, स्वराज्य ले सकते हैं। जो श्रद्धा-वान होता है, वह ईश्वर के साथ वादा नहीं करता—इकरार नहीं करता। हरिश्चन्द्र ने वादा नहीं किया था। वे अपनी पत्नी के गले पर छुरी फेरने को भी तैयार हो गये थे।

—पूना की सभा में दिये गये भाषण से। न० जी०। हि० न० जी० १४।९।१९२४]

- श्रद्धा का अर्थ है आत्म-विश्वास और आत्म-विश्वास के मानी है ईश्वर पर विश्वास।
- जो श्रद्धावान होता है, वह ईश्वर के साथ सदा वादा नहीं करता—इकरार नहीं करता।

२५. आत्म-वल

आत्मवल के सामने तलवार-वल तृण के समान है।. . .तलवार का उपयोग करके आत्मा शरीरवत् वनती है।

—दिल्ली, क्वार वदी ११ वुधवार। हि० न० जी०, २८।९।१९२४]

२६. प्रेम-तत्व

प्रेमतत्व ही संसार पर शासन करता है। मृत्यु से घिरा रहते हुए भी जीवन अटल रहता है। विनाश के निरन्तर जारी रहते हुए भी यह विश्व वरावर चलता ही रहता है। असत्य पर सत्य सदा जय पाता है। प्रेम घृणा को जीत लेता है। ईश्वर शैतान पर सदैव विजय पाता है।

—यं० इं०। हि० न० जी०, २६।१०।१९२४]

२७. प्रेम

प्रेम ही संसार में सवसे सूक्ष्म शक्ति है।

—यं० इं०। हि० न० जी०, ७।१२।१९२४]

२८. सर्वश्रेष्ठ नियम

'आत्मनः प्रतिकूलानि[1] परेषां न समाचरेत्', यह सर्वोत्तम नियम है।
—हि० न० जी०, १।१।१९२५]

२९. द्वेषहीनता

आपको किसी के प्रति घृणा या द्वेष-भाव रखने का अधिकार नहीं है। किसी को दुर्वचन कहने का अधिकार आपको नहीं। मैं चाहता हूं कि आप इस उच्च-हृदयता के नुस्खे का सेवन करें। इससे बढ़िया नुस्खा मैं आपको नहीं दे सकता। ईश्वर आपको उसका सेवन करने की शक्ति दें। ...
—हि० न० जी०। ८।१।१९२५]

३०. रामनाम और श्रद्धा

...राम, अल्लाह और गॉड सब मेरे निकट एकार्थक शब्द हैं। मैंने देखा कि सीधे-सादे, भोले लोगों ने धोखे से अपना यह खयाल बना लिया है कि मैं मुसीबत के समय उनको दिखाई देता हूं। मैं इस वहम को दूर कर देना चाहता हूं कि मैं किसी को दर्शन नहीं देता था। एक नश्वर शरीर पर भरोसा रखना उनका भ्रम था। इसलिए मैंने उनके सामने एक सादा और सरल नुस्खा रखा, जो कभी व्यर्थ नहीं जाता—अर्थात् हर रोज सुबह सूरज निकलने के पहिले और शाम को सोने के समय अपनी प्रतिज्ञाओं को पूरा करने के लिए ईश्वर से सहायता मांगना। लाखों हिन्दू उसे राम के नाम से पहिचानते हैं। मैं बचपन में जब-जब डरता, (मुझसे) राम नाम लेने को कहा जाता था। मेरे अनेक साथी ऐसे हैं, जिन्हें मुसीबत के समय राम नाम से बड़ी तसल्ली मिलती है।...

विद्वत्ता हमें जीवन की अनेक अवस्थाओं से पार ले जाती है, पर संकट और प्रलोभन के समय वह हमारा साथ बिल्कुल नहीं देती। उस स्थिति में केवल श्रद्धा ही उबारती है। राम नाम उन लोगों के लिए नहीं है जो ईश्वर को हर तरह से फुसलाना चाहते हैं और उससे हमेशा अपनी रक्षा की आशा लगाये रहते हैं। यह

---

१. जो आचरण स्वयं को प्रतिकूल अनुभव होता हो, उसे दूसरे के साथ व्यवहार में न लाना चाहिए।

उन लोगों के लिए है जो ईश्वर से डर कर चलते हैं; संयमपूर्वक जीवन विताना चाहते हैं और जो अपनी निर्वलता के कारण उसका पालन नहीं कर पाते।
—यं० इं०। हि० न० जी०, २२।१।१९२५]

- विद्वत्ता हमें जीवन की अनेक अवस्थाओं से पार ले जाती है, पर संकट और प्रलोभन के समय वह हमारा साथ विल्कुल नहीं देती।

३१. प्रेम

प्रेम अगणित सूर्यों से मिलकर वना है। जव एक छोटा-सा सूर्य छिपा नहीं रहता तव प्रेम क्यों छिपने लगा ? क्या किसी माता को कहना पड़ता है कि वह अपने वच्चे को चाहती है ? जिस वच्चे को वोलना नहीं आता वह माता की आँखों में देखता है और जव आँख से आँख मिल जाती है, तव हम देखते हैं कि वे किसी अलौकिक वस्तु को देख रहे हैं।
—हि० न० जी०, १९।२।१९२५]

३२. प्रेम-वन्धन

हर एक धर्म पुकार-पुकार कर कहता है कि प्रेम की ग्रन्थि से ही जगत् वँधा हुआ है। विद्वान् लोग यह सिखाते हैं कि यदि प्रेम-वन्धन न हो तो पृथिवी का एक-एक परमाणु अलग-अलग हो जाय और पानी में भी यदि स्नेह न हो तो उसका एक-एक विन्दु अलग-अलग हो जाय। इसी प्रकार यदि मनुष्य-मनुष्य के वीच प्रेम न होगा तो हम मृतप्राय ही रहेंगे।
—हि० न० जी०, ५।३।१९२५]

३३. प्रेम

प्रेम कभी दावा नहीं करता; वह तो हमेशा देता है। प्रेम हमेशा कष्ट सहता है; न कभी झुंझलाता है, न वदला लेता है।
—यं० इं०। हि० न० जी०, ९।७।१९२५]

३४. श्रद्धा

श्रद्धा ही हमें तूफानी समुद्रों के पार ले जाती है, श्रद्धा ही पर्वतों को हिला देती है और श्रद्धा ही महासागर को कूदकर पार कर जाती है। यह श्रद्धा और कुछ नहीं, केवल अन्तर्यामी प्रभु का सजीव, जाग्रत भान ही है। जिसे यह श्रद्धा प्राप्त हो गई, उसे और कुछ नहीं चाहिए। शरीर से रोगी होकर भी वह आध्यात्मिक दृष्टि से नीरोग है। भौतिक दृष्टि से चाहे वह निर्धन हो, पर आध्यात्मिक दृष्टि से वह सम्पन्न होता है।

—यं० इं०, २४।९।१९२५]

३५. शुद्ध प्रेम देह का नहीं होता

जहां शुद्ध प्रेम होता है वहां अधीरता को स्थान ही नहीं होता। शुद्ध प्रेम देह का नहीं, आत्मा का ही सम्भव है। देह का प्रेम विषय ही है।...आत्म-प्रेम को कोई बन्धन बाधा-रूप नहीं होता है परन्तु उस प्रेम में तपश्चर्या होती है और धैर्य तो इतना होता है कि मृत्यु-पर्यन्त वियोग रहे तो भी क्या हुआ?

—न० जी०। हि० न० जी०, ८।४।१९२६]

३६. अनुचित प्रेम

...जो प्रेम पशुवृत्ति की तृप्ति पर आश्रित है वह आखिर स्वार्थ ही है और थोड़े से भी दबाव से ठण्डा पड़ सकता है।

—यं० इं०। हि० न० जी०, १६।९।१९२६]

३७. मृत्यु एवं वियोग का शोक

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

मैं जितना ही अधिक वस्तुओं को देखता हूं और अध्ययन करता हूं उतना ही मेरा यह विचार पक्का होता जाता है कि वियोग और मृत्यु का शोक शायद सबसे बड़ा भ्रम है। यह समझ लेना कि यह भ्रम है, उससे मुक्त होना है। आत्मा की न तो मृत्यु है, न वियोग। लेकिन दुःख की बात तो यह है कि यद्यपि हम अपने मित्रों से उनके अन्दर रहनेवाली आत्मा के कारण ही प्रेम करते हैं, फिर भी आत्मा पर

जो क्षणभंगुर आवरण रहता है उसके नाश पर हमें दुःख होता है। होना यह चाहिए कि सच्ची मित्रता का उपयोग पिण्ड-द्वारा ब्रह्माण्ड को प्राप्त करने के लिए किया जाय।. . .

— २७।४।१९२७। बापू के पत्र: मीरा के नाम, पृ० ३४-३५, न० जी० प्र० मं०]

३८. उद्यम-नीति

बूंद-बूंद करके सरोवर भरता है और कंकर-कंकर करके पाल बँधती है। उद्यम के आगे कुछ भी असम्भव नहीं।

— नन्दी दुर्ग, २१।५।१९२७। बापू के पत्र : मणिबहिन पटेल के नाम, पृ० ६२ न० जी० प्र० मं०]

३९. उदारता

उदारता का पदार्थ-पाठ तभी सीखा जाता है, जब हम किसी को दोषी मानने पर भी उसके प्रति रोष न रख कर उससे प्रेम करें, उसकी सेवा करें। जबतक एक-दूसरे के बीच विचार और आचार की एकता है, तबतक यदि सद्भाव रहता है, तो वह उदारता या प्रेम का गुण नहीं। वह तो केवल मित्रता है, परस्पर प्रेम है, इतना ही कहा जा सकता है।

— १७।१०।१९२७। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, पृ० ५१। न० जी० प्र० मं० संस्करण १९५०]

४०. ईश्वरेच्छा और आत्मरक्षा

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

. . .ईश्वर की मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। अगर हमारा उस पर भरोसा हो तो वह सम्हाल लेगा। लेकिन हमारा भरोसा उन लोगों-जैसा न होना चाहिए, जो रुपये से मिलनेवाली तमाम सार-सम्हाल रखने के बाद उस पर भरोसा करते हैं। यह सच है कि हमें कुछ तो अपनी सम्हाल रखनी ही चाहिए। परन्तु श्रद्धालु लोग अपने स्वभाव के प्रति हिंसा नहीं करते और असाधारण असावधानी रखकर ऐसे उपाय नहीं करते, जिनके करनेका आम लोगोंके पास साधन नहीं होता। इसलिए सूत्र यह है कि जितनी कम चिन्ता उतना अच्छा। और उचित प्रयत्न से छोटे

छोटे आदमी को भी जितना नसीब हो सके उससे अधिक उपाय न किया जाय।
— २४।१०।१९२७। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० ५४, न० जी० प्र० मं०]

४१. जो पिण्ड में, वही ब्रह्माण्ड में

एक साफ हो जाय तो दूसरे होंगे ही। इस सम्बन्ध में हमारे यहां दो कहावतें हैं—१. आप भला तो जग भला और २. यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे। अगर ऐसा न हो तो दुनिया के लिए कभी आशा ही नहीं रखी जा सकती।
— २५।१०।१९२७। दीवाली, मंगलवार, सम्वत् १९८३, बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, पृ० ५२, न० जी० प्र० मं०]

४२. संसार का ऋण

जगत लेनदार है। हम उसके कर्जदार हैं।
— २५।१०।१९२७। दीवाली, मंगलवार सम्वत् १९८३। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, पृ० ५२, न० जी० प्र० मं०]

४३. शुभ प्रयत्न व्यर्थ नहीं

हमारी कोशिश में ही कामयाबी है। शुभ प्रयत्न कभी बेकार नहीं जाते; यह भगवान की प्रतिज्ञा है, और इसका थोड़ा-बहुत अनुभव हम सबको है।
— ३१।१०।१९२७। कार्तिक सुदी ६, सम्वत् १९८४। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, पृ० ५३, न० जी० प्र० मं०]

४४. कर्त्तव्यपरायणता

कर्त्तव्यपरायण रहना और अशान्ति में भी शान्ति प्राप्त करना सीखना। हमारा आनन्द हमारे धर्म-पालन में हो, कार्य की सफलता में या संयोगों की अनुकूलता में नहीं। नरसी मेहता ने कहा है—

नीपजे नरथी[1] तो कोई न रहे दुखी
शत्रु मारीने[2] सहु[3] मित्र राखे।

---

१. नर से, २. मारकर, ३. सब।

मगर मनुष्य तो रंक प्राणी है। वह राजा तभी होता है, जब वह अहंकार छोड़कर ईश्वर में समा जाता है। समुद्र से अलग होकर बिन्दु किसी के काम नहीं आता। परन्तु समुद्र में समा जाने से अपनी छाती पर इस बड़े जहाज का भार झेल रहा है। इसी तरह अगर हम आश्रम में और उसके जरिये जगत् में यानी ईश्वर में समा जाना सीख लें, तो पृथिवी का भार उठानेवाले माने जायेंगे। मगर उस समय तो मैं-तू मिलकर वही अकेला रह जाता है।

—७।११।१९२७। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, पृ० ५४, न० जी० प्र० मं०]

४५. स्वादेच्छा

स्वाद का रस लेने में पाप नहीं है। लेने की इच्छा होने पर भी न होने का भाव दिखाने में पाप है; फिर चोरी से लेने में पाप है।

—वर्धा, १०।१२।१९२८। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, पृ० ६५, न० जी० प्र० मं०]

४६. प्रेम

. . .प्रेम से भरा हृदय अपने प्रेम-पात्र की भूल पर दया करता है और खुद घायल हो जाने पर भी उससे प्यार करता है। अकेले सुख का साथी प्रेमी नहीं होता।

—यं० इं०। हिं० न० जी०, २४।३।१९२९]

४७. गोपनीयता पाप है

जहां साहस नहीं, वहां सत्य हो ही नहीं सकता। भूल करने में तो पाप है ही, परन्तु उसे छिपाने में उससे भी बड़ा पाप है। शुद्ध हृदय से जो अपने आप भूल स्वीकार कर लेता है, उसका पाप धुल जाता है और वह सीधे रास्ते लग सकता है। जो झूठी शर्म रखकर भूल को छिपाता है, वह गहरे गढ़े में गिरता है। यह हमने तमाम मामलों में देख लिया है, इसलिए मैं तो बहिनों से यही माँगता हूं कि तुम झूठी शर्म से बचना।

—८।४।१९२९। मौनवार। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, पृ० ७४, ७५, न० जी० प्र० मं०]

४८. प्रतिज्ञा की ढाल

मैं स्वयं बचपन से प्रतिज्ञा लेने का आदी हूं; इससे प्रतिज्ञा के प्रति मेरा बड़ा पक्षपात है। मेरा अपना अनुभव तो यह है कि प्रतिज्ञा के कारण मैं अनेक बार भय-मुक्त हुआ हूं। दूसरों को भी मैंने भय-मुक्त होते देखा है। प्रतिज्ञा-हीन जीवन बिना नींव का घर है, अथवा यों कहिए कि कागज का जहाज है। प्रतिज्ञा लेने का अर्थ है, निश्चल होना। जो आदमी निश्चल, दृढ़प्रतिज्ञ नहीं है, उसका विश्वास कौन कर सकता है? हम आपस में जो इकरारनामा लिखते हैं वे भी प्रतिज्ञापत्र ही हैं। मुंह से कही हुई बात भी इकरारनामा ही है। पहिले प्रतिष्ठित लोगों की बात, उनका वचन ही पर्याप्त होता था। उसी के बल पर वे लाखों का लेन-देन कर सकते थे। प्रतिज्ञा के बल पर ही यह संसार टिका हुआ है। अगर मनुष्य के आपसी व्यवहार प्रतिज्ञाबद्ध न हों तो संसार छिन्न-भिन्न हो जाय। हिमालय प्रतिज्ञाबद्ध है। अगर वह जब चाहे तब हलचल कर सकता होता, तो आज भारत का अस्तित्व नहीं होता, हो भी नहीं सकता। सूर्य-चन्द्र आदि ग्रह अगर प्रतिज्ञा-बद्ध न हों तो मानव जाति का जीवन असम्भव हो जाय। लेकिन हम जानते हैं कि असंख्य वर्ष बीत चुके ,सूर्य नियम से उगता रहा है और आगे भी उगता रहेगा। शीतरश्मि चन्द्रमा भी अपनी कलाओं के साथ उदय-अस्त होता रहा है; भविष्य में भी उसका यही क्रम जारी रहेगा। यही वजह है कि हम सूर्य-चन्द्र के आधार पर अपने काम करते हैं; तिथियां निश्चित करते हैं; समय जानते हैं और उसकी रक्षा या सदुपयोग करते हैं।

ग्रहादि जिन नियमों का भलीभांति पालन करते हैं, मनुष्य के लिए भी वे ही नियम उपयुक्त होते हैं। जो आदमी अपने जीवन को प्रतिज्ञामय नहीं बनाता वह कभी स्थिर नहीं बन सकता। हम अक्सर देखते हैं कि मनुष्य इन शब्दों में अपना अहंकार प्रकट करता है—'मुझे व्रत की क्या जरूरत है? फलां काम तो चुटकियों में कर सकता हूं, और अगर न भी किया तो क्या? जब करना आवश्यक हो पड़ता है तब तो कर ही लेता हूं। मैं शराब छोड़ने की प्रतिज्ञा क्यों करूं? मैं पागल तो बनता नहीं। कभी-कभी एकाध प्याली पी लेता हूं।' ऐसा मनुष्य बुरी आदतों की गुलामी से कभी नहीं छूट सकता।

प्रतिज्ञा न लेने का अर्थ अनिश्चित या डावांडोल रहना है। अनिश्चित मनुष्य के सहारे संसार का कोई काम नहीं किया जा सकता। अनिश्चित सैनिक या सेनापति क्या कर सकता है? जो चौकीदार कहता है कि जहां तक हो सकेगा चौकसी करूंगा, उसके भरोसे कोई गृहस्वामी आज तक सुख की नींद नहीं सोया। यथा-

सम्भव जागरित रहने की वात कहनेवाला सेनापति आज तक कभी विजयी नहीं हुआ।

व्रत को समकोण की उपमा दी जा सकती है। जिस तरह एक नन्हा-सा समकोण आलीशान इमारतों को सुडौल वनाने में और उन्हें स्थिर रखने में समर्थ है, उसी तरह व्रत-रूपी समकोण भी जीवन को शुद्ध और स्थिर वनाने में समर्थ है।

हां, व्रत की मर्यादा होनी चाहिए। सामर्थ्य के वाहर का व्रत लेनेवाला अविचारी कहा जायगा। व्रत में शर्तों की गुंजाइश होती है।...व्रत के अर्थ यह नहीं है कि कठिन से कठिन काम किया जाय, वल्कि सरल या कठिन काम को नियमपूर्वक करने का निश्चय ही व्रत है।

व्रत में संयम तो होना ही चाहिए। दूसरे शव्दों में, अविक से अविक खाने, रोज-रोज नाचने, गाली देने या ऐसे दूसरे स्वेच्छाचारपूर्ण व्रत, व्रत नहीं होते। मुझे यह स्पष्टीकरण इसलिए करना पड़ता है कि आज भी मुझे कुछ ऐसे उदाहरण याद हैं जिनमें अनीतिपूर्ण कार्यों को व्रत का रूप दिया गया था। जव असहयोग आन्दोलन अपने पूरे जोश में था, किसी ने पूछा था—मैं सरकार की नौकरी करने को वँवा हूं, उसे कैसे छोड़ूं? मैं शराव की दूकान पर पाँच वर्ष तक काम करने को वँवा हूं, अव उसे कैसे छोड़ूं? कई वार ये और एसे ही प्रश्न आदमी को उलझन में डाल देते हैं। लेकिन हम गहरा विचार करके देखें तो हमे पता चलेगा कि पाप करने के व्रत नहीं लिये जाते। व्रत के गर्भ में उन्नति है, अवनति कदापि नहीं।...
—न० जी०। हि० न० जी० १५।८।१९२९]

- प्रतिज्ञा-हीन जीवन बिना नींव का घर है।
- प्रतिज्ञा लेने का अर्थ है निश्चल होना।
- प्रतिज्ञा के वल पर ही यह संसार टिका हुआ है।
- हिमालय प्रतिज्ञा-वद्ध है।
- व्रत को एक समकोण की उपमा दी जा सकती है। जिस तरह एक नन्हा-सा समकोण आलीशान इमारतों को सुडौल वनाने में समर्थ है, उसी तरह व्रत रूपी समकोण भी जीवन को शुद्ध और स्थिर रखने में समर्थ है।
- सामर्थ्य से वाहर का व्रत लेनेवाला अविचारी कहा जायगा।
- सरल या कठिन काम को नियमपूर्वक करने का निश्चय ही व्रत है।
- पाप करने के व्रत नहीं लिये जाते।
- व्रत के गर्भ में उन्नति है, अवनति कदापि नहीं।

४९. दुर्भावना

दुर्भावना को मैं मनुष्यत्व का कलंक मानता हूं।

—यं० इं०। हिं० न० जी०, १२।९।१९२९]

५०. प्रार्थना

कर्त्तव्य-परायणता ही प्रार्थना है। प्रत्यक्ष सेवा के लिए योग्यता प्राप्त करने को हम प्रार्थना में बैठते हैं। मगर जहां प्रत्यक्ष कर्त्तव्य आ पड़े, वहां प्रार्थना उनमें समा जाती है। समाधि में बैठी हुई स्त्री किसी को बिच्छू काटने पर चिल्लाते हुए सुने, तो वह समाधि छोड़कर उसकी मदद के लिए दौड़ने को बंधी हुई है। दुखी की सेवा में समाधि की पूर्ति है।

—कानपुर, २३।९।१९२९। मौनवार। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को। पृ० ८२, न० जी० प्र० मं०]

- कर्त्तव्य-परायणता ही प्रार्थना है।
- दुखी की सेवा में समाधि की पूर्ति है।

५१. क्रोध-मद

क्रोध के लक्षण शराब और अफीम दोनों से मिलते हैं। शराबी की भांति क्रोधी मनुष्य भी पहिले आवेशवश लाल-पीला होता है। फिर आवेश के मन्द होने पर भी क्रोध न घटा तो वह अफ़ीम का काम करता है और मनुष्य की बुद्धि को मन्द बना देता है। अफ़ीम की तरह वह दिमाग को कुरेद डालता है। क्रोध के लक्षण क्रमशः सम्मोह, स्मृति-भ्रंश और बुद्धिनाश माने गये हैं।

—न० जी०। हिं० न० जी०, २४।१०।१९२९]

५२. भावना-शून्यता

. . .भावनाहीन मनुष्य पशु-तुल्य है। भावना को सही दिशा में ले जाना हमारा परम धर्म है।

—यरवदा मन्दिर, १३।७।१९३०। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृ० १५, न० जी० प्र० मं०]

५३. निद्रा-दर्पण

निद्रावस्था जाग्रत अवस्था की स्थिति जाँचने का दर्पण है। भावना को गलत मार्ग से रोकने की शक्ति हम सब में होती है। यह उत्कृष्ट प्रयत्न है। इस प्रयत्न में हार के लिए स्थान ही नहीं है।

—यरवदा मन्दिर, २।८।१९३०। वापू के पत्र : कुमारी प्रेमा वहिन कंटक के नाम, पृ० १७, न० जी० प्र० मं०]

५४. अल्पता का भान

अपनी अल्पता का दर्शन करना महान वनने का आरम्भ है। अलग पड़ा हुआ समुद्र-विन्दु अपने को समुद्र कहकर सूख जायगा। परन्तु अपनी विन्दुता को स्वीकार करे तो वह समुद्र की ओर प्रयाण करेगा और उसमें लीन होकर समुद्र वन जायगा।

—५।१।१९३१। वापू के पत्र : कुमारी प्रेमा वहिन कंटक के नाम, पृ० ४१, न० जी० प्र० मं०]

५५. प्रेम

प्रेम तो त्याग से ही पनपता है।

—२३।१।१९३२। वापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० १३८, न० जी० प्र० मं०]

५६. विकारों का त्याग

इस शरीर को और उसके विकारों को जानना चाहिए, क्योंकि उनको त्यागना है। इस त्याग के लिए ज्ञान चाहिए। यह ज्ञान अर्थात् मानीपने का त्याग, दम्भ का त्याग, अहिंसा , क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, शुद्धता, स्थिरता, विषयों पर अंकुश, विषयों में वैराग्य, अहंकार का त्याग, जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और उसके सिलसिले में निहित रोग-समूह, दुःख-समूह और नित्य होने वाले दोषों का पूरा भान, स्त्री, पुत्र घर, द्वार, सगे-सम्बन्धी इत्यादि से मन को खींच लेना और ममता छोड़ना, अपने मनोनुकूल कुछ हो या मन के प्रतिकूल—उसमें समता रखना ईश्वर की अनन्य भक्ति, एकान्त-सेवन, लोगों में मिलकर भोग भोगने की ओर अरुचि, आत्मा के

विषय में ज्ञान की प्यास और अन्त में आत्म-दर्शन। इससे विपरीत का नाम अज्ञान है।

—सोमप्रभात, २६।१।१९३२। गीता-बोध, पृ० ६८, स० सा० मं०, दसवां संस्करण १९५४]

५७. रोग-दुःख

[सुश्री रैहाना तैयब जी को लिखे पत्र से]

अगर तुमने अपना सब कुछ ईश्वर को सौंप दिया है तो शरीर उसका है, तुम्हारा नहीं है। रोग भी उसी को है, तुम्हें नहीं है।

—२०।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ५३५]

५८. सत्संग

[एक प्रत्रांश]

सत्संग एक पारसमणि है, यह समझकर उसकी सुगन्धि में रहना।

—२९।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २५४]

५९. दम्भ

दम्भ तो सिर्फ झूठ की पोशाक है।

—२०।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३६७]

६०. परमार्थ दृष्टि से कार्य

जिसकी दृष्टि पारमार्थिक बन जाती है उसे एक भी काम नीचा या नीरस नहीं जान पड़ता। जो सामने आये उसी में वह ईश्वर को देखेगा, उसी की सेवा करेगा। उसका रस काम के, जाति-वर्ग के ऊपर अवलम्बित नहीं होता। उसका रस उसके अन्तर से, उसकी कर्त्तव्यपरायणता से निकलता है। जो अनासक्ति-योग को समझना, साधना चाहता हो उसको हर एक काम इसी तरह करना उचित है।

—यरवदा मन्दिर, ११।९।१९३२। आश्रमवासियों से, पृ० ६७]

६१. विकार

[एक पत्रांश]

विकार का अर्थ अच्छी तरह समझने की जरूरत है। क्रोध करना भी एक विकार ही है। मन में अनेक प्रकार की इच्छाएं होते रहना भी विकार है। इसलिए यह पहनूं यह ओढ़ूं, यह खाऊं, यह न खाऊं—यह विकार है, और विवाह की इच्छा हो या विवाह की इच्छा हुए विना वरावर के लड़कों का संग अच्छा लगे, उनके साथ गुप्त वातें अच्छी लगें, उन्हें छूना अच्छा लगे, उनके साथ दिल्लगी करना अच्छा लगे, तो यह भी विकार है। यह आखिरी विकार एक भयंकर विकार माना जाता है।

— ११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १७]

- क्रोध करना भी एक विकार है।
- मन में अनेक प्रकार की इच्छाएं होते रहना भी विकार है।

६२. आचरण-रहित विचार

आचरण-रहित विकार कितने ही अच्छे क्यों न हों, तो भी उन्हें खोटे मोती की तरह समझना चाहिए।

— ११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५]

६३. सन्त और सेवा

[एक पत्रांश]

सन्त पुरुष के लिए एकान्त में रहकर विचार मात्र से भी सेवा कर सकना सम्भव है। ऐसा लाखों में एक निकल सकता है।

— ११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५]

६४. अहंकार

[सुश्री प्रेमा के नाम लिखे पत्र से]

अहंकार का वीज शून्यता के अनुभव से ही जाता है। एक भी क्षण कोई गहरा विचार करे, तो उसे अपनी अति तुच्छता मालूम हुए विना रह ही नहीं सकती। पृथिवी के आगे जैसे हम जन्तुओं को तुच्छ मानते हैं, उससे करोड़ों गुनी वड़ी मात्रा

में इस जगत् के आगे मनुष्य प्राणी तुच्छ है। उसमें वुद्धि है, इससे कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। उसकी महिमा अपनी तुच्छता अनुभव करने में ही है। क्योंकि इस अनुभव के साथ ही यह दूसरा ज्ञान पैदा होता है कि जैसा वह अपने आप में तुच्छ है, वैसा वह भगवान का तुच्छतम अंश होने के कारण जव भगवान में उसका लय होता है, तव वह भगवान रूप है और इस सूक्ष्म अणु में भगवान की शक्ति भरी है।
—११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १८]

● अहंकार का वीज शून्यता अनुभव करने से ही जाता है।

६५. दरिद्र और धनवान : नास्तिक और अस्तिक

[श्री कन्हैयालाल को लिखे पत्र से]

दरिद्र वह है जिसमें शुद्ध प्रेम की वूंद तक नहीं है। धनवान वह जिसके प्रेम में जन्तु से लेकर मस्त हाथी (तक) समा सकता है। नास्तिक वह, जो शरीर के वाहर विश्वव्यापी आत्मा को नहीं पहिचानता। आस्तिक वह, जो हर जगह आत्मा के सिवा कुछ नहीं देखता।
—१९।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ४७]

६६. आत्मज्ञान की पहिली सीढ़ी निःस्वार्थ सेवा

[एक पत्रांश]

सव तरह की निःस्वार्थ सेवा का फल आत्मशुद्धि होता है। आर्थिक और नैतिक उन्नति साथ-साथ होनी चाहिए। आत्मा वह है जो शरीर को प्राणवान वनाये। आत्मशुद्धि से आत्मज्ञान होता है। भोजन सवके लिए आवश्यक है, तो प्रार्थना भी सवके लिए आवश्यक है।
—७।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ९६]

● आत्मशुद्धि से आत्मज्ञान होता है।

६७. प्रारब्ध और पुरुषार्थ

[एक पत्रांश]

प्रारब्ध अवश्य है। परन्तु साथ ही पुरुषार्थ भी है। प्रारब्ध का इतना ही अर्थ है कि पुरुषार्थ के अभाव में पूर्वकर्मो का फल ही वाकी रहता है। पुरुषार्थ होते हुए

प्रारब्ध बदल सकता है। इस कारण जो ब्रह्मदर्शन करना चाहता है, उसे ब्रह्मचर्य आवश्यक है।

— ११।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ११०]

● जो ब्रह्मदर्शन करना चाहता है, उसे ब्रह्मचर्य आवश्यक है।

६८. ज्ञानमय प्रेम और मोह

ज्ञानमय प्रेम में हमेशा धैर्य होता है। अज्ञान (मय) प्रेम संस्कृत के मोह शब्द का बेढंगा अनुवाद है।...

— २७।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५३]

६९. आदर्श व्यवहार-नीति

[एक पत्रांश]

क्रोध के प्रति क्रोध नहीं, अवगुण के प्रति अवगुण नहीं; क्रोध के सामने शान्ति, अवगुण के बदले गुण, गाली के बदले प्रेम और बुराई के बदले भलाई, यह धर्म है; यह आश्रम-व्यवहार है।...

— ७।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १७७]

७०. आचरण ही शास्त्र

गीता के सिद्धान्तों पर जीवन में आचरण करनेवाले पुरुष का आचरण ही शास्त्र है।

— १६।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २०६]

७१. देवासुर-संग्राम

[अकोला-निवासी श्री नानाभाई को लिखे पत्र से]

हृदय में देवासुर-संग्राम चलता ही रहता है। कब हमें असुर भरमाता है और कब देव रास्ता बतलाता है, यह हम सदा नहीं जान सकते। इसीलिए धर्म सिखाता है कि जो देव को जगाना चाहता है, उसे यम-नियमादि रूपी तलवार की धार पर चलना पड़ेगा।

— ११।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २७१]

७२. मिथ्या गर्व

[डा० विधानचन्द्र राय को लिखे पत्र से]

विनाश का पूर्वाभास गर्व से और पतन का पूर्वाभास मिथ्या गर्व से होता है।

—यरवदा केन्द्रीय जेल, १५।१२।१९३२। गांधीजी की छत्रछाया में, पृ० ११४]

७३. शरीर, मन एवं आहार

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

शरीर और मन के बीच ऐसा निकट सम्बन्ध है कि एक की शुद्धता के साथ दूसरे का सम्बन्ध अधिकतर जुड़ा होता है।...मनुष्य जो खाता है वैसा ही बनता है। अन्न से भूत (पंचभूत) बनते हैं। गीता का वाक्य भी यही सूचित करता है।

—वर्धा, १४।२।१९३५। बापू के पत्र : बजाज-परिवार के नाम, पृ० २३९, अ० भा० स० से० सं०]

७४. परिग्रह

वास्तव में परिग्रह मानसिक वस्तु है। मेरे पास घड़ी है, रस्सी है और कच्छ (लंगोटी) है। इनके अभाव में यदि मुझे क्लेश होता है तो मैं परिग्रही हूं। यदि किसी को बड़े कम्बल की जरूरत हो तो वह उसे रखे, पर खो जाने पर क्लेश न करे तो वह अपरिग्रही है।

—गांधी-सेवा-संघ सम्मेलन, सावली, ३।३।१९३६]

७५. मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु-मित्र है

मनुष्य मात्र का एक ही शत्रु है, एक ही मित्र है, और वह मनुष्य स्वयं ही है। यह मेरा वचन नहीं, समस्त शास्त्रों का वचन है। जब मनुष्य स्वयं को धोखा देता है, तब वह खुद ही अपना शत्रु बन जाता है। जब वह अपने अन्तर में रहने वाले परमेश्वर की गोद में स्वयं को छोड़ देता है, तब वह अपना मित्र बन जाता है।

—ह० व०। ह० से०, ५।१२।१९३६]

७६. क्रोध

क्रोध और किसी को नहीं जलाता। क्रोध करनेवाला ही जलता है।
— १६।२।१९३७। बापू की छाया में, बलवन्त सिंह, पृ० १५४, संस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

७७. मानव की दृष्टि से भलाई-बुराई

शुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से दुनिया में हम जो भलाई और बुराई देखते हैं उन दोनों की जड़ में ईश्वर ही है। डाक्टर का चाकू और कातिल का छुरा, दोनों वही चलवाता है। परन्तु इसके बावजूद मानव की दृष्टि से तो भलाई और बुराई एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न और मेल न खानेवाली वस्तुएं हैं। वे प्रकाश और अन्धकार की, खुदा और शैतान की प्रतीक हैं।
—ह० ज०, २०।२।१९३७]

७८. आलस्य

जो सत्य और अहिंसा का उपासक है, भारत और जीवमात्र की सेवा करना चाहता है वह सुस्त नहीं रह सकता। जो समय का नाश करता है वह सत्य, अहिंसा और सेवा का भी नाश करता है।
— गांधी-सेवा-संघ, सावली, ३।३।१९३७]

७९. आलस्य

आलस्य एक प्रकार की हिंसा है।
—तृतीय गांधी-सेवा-संघ सम्मेलन, हुदली, १७।४।१९३७]

८०. सत्यान्वेषी और अपरिग्रह

परिग्रह का अर्थ है भविष्य के लिए प्रबन्ध करना। सत्यान्वेषी प्रेम-धर्म का अनुयायी कल के लिए किसी चीज का संग्रह नहीं कर सकता।
— सर्वोदय, नवम्बर १९३८, पृ० पांच के नीचे उद्धरण।

८१. साधन

...साधन का साधनत्व इसी में है कि वह अव्यवहार्य न हो।...यदि हम साधन की रक्षा करें तो आज नहीं तो कल हम साध्य को प्राप्त कर ही लेंगे।...
— सर्वोदय, नवम्बर १९३८, पहिले कवर का उद्धरण।

८२. साध्य-साधन-अभेद

...कहा जाता है कि आखिर साधन तो साधन ही है। मैं कहूंगा कि अन्त में साधन ही सब कुछ है। जैसा साधन वैसा साध्य। साध्य और साधन में कोई अभेद्य दीवार नहीं है। जिस अनुपात में साधन का अनुष्ठान होगा उसी अनुपात में ध्येय-प्राप्ति होगी। यह नियम निरपवाद है।
— सर्वोदय, १९३८, अन्तिम कवर का उद्धरण।]

८३. वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि

प्रेम की मेरी कल्पना यह है कि वह कुसुम से भी कोमल और वज्र से भी कठोर हो सकता है।
— ह० से० १३।१।१९४०]

८४. आतंक

आतंक सबसे ज्यादा निःसत्व करनेवाली अवस्था है, जिसमें कोई हो सकता है।
— सेवाग्राम, ४।६।१९४०। ह० से०, ८।६।१९४०]

८५. प्रेम

[आश्रमवासियों को लिखे पत्र से]

प्रेम कभी सन्देह नहीं करता। प्रेम के पास दोष छिप नहीं सकता।
— सेवाग्राम, ७।६।१९४०। बापू के पत्र : बीबी अमतुस्सलाम के नाम, पृ० १६९, न० जी० प्र० मं०]

८६. प्रेम निर्भय है

. . .जहां प्रेम है, वहां भय को स्थान ही कहां है ?
—ह० से० २७।७।१९४०]

८७. क्रोध

गुस्सा एक प्रकार का क्षणिक पागलपन है। जो लोग जानबूझ कर या बिना जाने इसके वश में अपने को होने देते हैं उन्हीं को उसका नतीजा भुगतना पड़ता है।
— शिमला जाते हुए ट्रेन में, २५।९।१९४०। ह० से० ५।१०।१९४०]

८८. शरीर

शरीर ईश्वर का घर है, उसे ज्यों-का-त्यों ही रखना चाहिए।
— महाबलेश्वर, २७।४।१९४५। बापू के पत्र : मणिबहिन पटेल के नाम, पृ० १३६, न० जी० प्र० मं०]

८९. निराशा

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

निराशा केवल अपनी कल्पना में बसती है।
—पूना, ८।१०।१९४५। बापू के पत्र : बजाज-परिवार के नाम, पृ० २४६, अ० भा० स० से० सं०]

९०. प्रायश्चित्त

प्रायश्चित्त सिर्फ जबान से कहने का नाम नहीं है, बल्कि हृदय का भी परिवर्तन होना चाहिए।
—प्रार्थना-सभा, १९।५।१९४७। ह० ज०। ह० से० १।६।१९४७]

९१. एकपक्षीय प्रेम

...प्रेम यदि एकपक्षीय भी हो तो वहां सर्वांश में दुःख नहीं हो सकता।
—आ० क०। सस्ता हिन्दी संस्करण १९३९, अध्याय ४, पृ० १४]

९२. शुद्ध प्रेम

शुद्ध प्रेम के लिए दुनिया में कोई बात असम्भव नहीं।
—आ० क०। सस्ता हिन्दी संस्करण, १९३९, अध्याय ४, पृ० १४]

९३. आत्मशुद्धि का मार्ग

...आत्मशुद्धि के बिना जीवमात्र के साथ ऐक्य सध नहीं सकता। आत्मशुद्धि के बिना अहिंसा धर्म का पालन असम्भव है। अशुद्ध आत्मा परमात्मा के दर्शन करने में असमर्थ है। अतएव जीवन-मार्ग के सभी क्षेत्रों में शुद्धि की आवश्यकता है। यह शुद्धि साध्य है, क्योंकि व्यष्टि और समष्टि के बीच ऐसा निकट का सम्बन्ध है कि एक की शुद्धि अनेक की शुद्धि के बराबर हो जाती है। और व्यक्तिगत प्रयत्न करने की शक्ति तो सत्यनारायण ने सबको जन्म से ही दी है।

लेकिन मैं प्रतिक्षण यह अनुभव करता हूं कि शुद्धि का यह मार्ग विकट है। शुद्ध बनने का अर्थ है मन, वचन और काया से निर्विकार बनना, रागद्वेषादि से रहित होना। इस निर्विकारता तक पहुँचने का प्रतिक्षण प्रयत्न करते हुए भी मैं पहुँच नहीं पाया हूं, इसलिए लोगों की स्तुति मुझे भुलावे में नहीं डाल सकती। उलटे यह स्थिति प्रायः तीव्र वेदना पहुंचाती है। मन के विकारों को जीतना संसार को शस्त्र-युद्ध से जीतने की अपेक्षा मुझे कठिन मालूम होता है। हिन्दुस्तान आने के बाद भी मैं अपने भीतर छिपे हुए विकारों को देख सका हूं, शर्मिन्दा हुआ हूं, किन्तु हारा नहीं हूं।
—आत्मकथा, पृ० ४३२-३३, संस्करण १९५७]

- आत्मशुद्धि के बिना जीवमात्र के साथ ऐक्य सध नहीं सकता।
- अशुद्ध आत्मा परमात्मा के दर्शन करने में असमर्थ है।
- शुद्ध बनने का अर्थ है मन, वचन और काया से निर्विकार बनना।

९४. मुमुक्षु का धर्म

नम्रता का सम्पूर्ण अर्थ तो शून्यता है। शून्यता मोक्ष की स्थिति है। मुमुक्षु अथवा सेवक के प्रत्येक कार्य में नम्रता अथवा निरभिमानता न हो, तो वह मुमुक्षु नहीं है, सेवक नहीं है। वह स्वार्थी है, अहंकारी है।

— आत्मकथा, पृ० ३४४, संस्करण १९५७]

२
क्रियापक्ष

१. वास्तविक ईश्वरोपासना

जात-पाँत के मामले में झगड़ना, दम्भ, गलत होड़ें, प्लेग का डर, ये सब बातें दुर्दशा का कारण नहीं, बल्कि दुर्दशा ही हैं। इन सबका कारण एक ही है, और वह यह कि हम कर्त्तव्य का पालन नहीं करते; हम ईश्वर को भूल गये हैं और शैतान को पूज रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य तो ईश्वर को भजना है। माला फेरना, ईश्वर-भजन का चिह्न नहीं है, मस्जिद या मन्दिर में जाना, नमाज पढ़ना या गायत्री जपना —अपनी जगह ठीक हैं। लोगों के लिए अपने-अपने धर्म के अनुसार इनमें से एक या दूसरी चीज आवश्यक है। परन्तु इनमें से किसी को भी ईश्वरोपासना का लक्षण नहीं माना जा सकता। ईश्वर को तो वह भजता है जो दूसरों के सुख को अपना सुख मानता है; जो किसी की निन्दा नहीं करता; जो धन संचय करने में अपना समय नहीं गंवाता; अनीति के मार्ग पर नहीं चलता; जो सबको मित्र मानता हुआ सदा अपना लोक-व्यवहार चलाता है; जो केवल ईश्वर से ही डरता है, इसलिए प्लेग से या मनुष्य से नहीं डरता। ऐसा व्यक्ति जाति के डर से जाति-भोज नहीं करेगा। यदि वह युवा होगा तो उचित अवस्था को प्राप्त हुए बिना अथवा आवश्यकता बिना, केवल जातिवालों के डर से अपने पुत्रों और पुत्रियों को गड्ढे में नहीं ढकेलेगा। ऐसा व्यक्ति कोई काम करते समय इस तरह नहीं सोचेगा कि अमुक व्यक्ति या हमारी बिरादरी इसके बारे में क्या सोचेगी। वह तो यह सोचेगा कि मेरे इस कार्य के विषय में परमेश्वर क्या कहेगा? इस सबका मतलब यह निकला कि हम चाहे हिन्दू हों या मुसलमान, पारसी हों या ईसाई, अपने-अपने असली धर्म को भुला बैठे हैं।...

—गुजराती से। इं० ओ०, १५।७।१९११। सं० गां० वां०, खण्ड ११, पृ० १२१]

२. माता-पिता के प्रति सम्मान सब धर्मों का आदेश है

अपने पिता और माता का मान करो। यह ईसा, मुहम्मद, जरथुस्त्र और वेद सभी का आदेश है।

—अंग्रेजी से। इं० ओ०, १९।८।१९११]

३. व्रत

कोई काम करने का फैसला किया जाय और उसे करने में जान तक जाने की नौबत आ जाय तो प्राण चला जाने दिया जाय, इसे व्रत कहा जाता है। इस प्रकार का व्रत लेने की आदत प्रत्येक मनुष्य को डालनी चाहिए। इससे मनुष्य दृढ़ बन सकता है और महान कार्य करने में समर्थ होता है। सरल और सादे व्रतों के बाद मनुष्य आगे चलकर कठिन व्रत ले सकता है।...

—गुजराती से। इं० ओ०, ८।१०।१९१३]

४. पढ़ो कम, गुनो अधिक

थोड़ा पढ़ो, परन्तु जो पढ़ो उस पर विचार करो और उसका रहस्य समझकर उसके अनुसार आचरण करने को तैयार रहो।

—केपटाउन, बुधवार, ज्येष्ठ वदी ३ १०।६।१९१४। गुजराती से। 'गांधीजी नी साधना।' सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृ० ४१५]

५. विरुद्धाचरण का धर्म

[श्री रावजी भाई पटेल को लिखे गये पत्र से]

रामचन्द्र जी वनवास जाने लगे तब दशरथ ने उनसे कहा कि कैकेयी को दिये हुए वचन की कोई पर्वाह नहीं; वचन-भंग होने पर भी तुम वन न जाओ। लौकिक और स्थूल पुत्र-प्रेम से पैदा होनेवाली इस इच्छा का अनादर करके रामचन्द्र जी वन गये और सच्ची पितृभक्ति का आचरण करके उन्होंने राजा दशरथ का और अपना भी नाम अमर कर दिया। हरिश्चन्द्र ने अपनी स्त्री को बेचकर रोहित के गले पर तलवार रखने तक को तैयार होकर स्त्री-भक्ति और पुत्र-प्रेम प्रकट किया। प्रह्लाद ने पिता की आज्ञा का उल्लंघन करके पितृभक्ति की और उनका उद्धार किया। मीराबाई ने राणा कुम्भा को त्यागकर उन्हें अपना भक्त बना लिया। दयानन्द ने अपने माता-पिता के पास से भागकर, सगाई से इन्कार करके तथा अपने पीछे भेजे गये आदमियों के हाथ से छूटकर मातृभक्ति और पितृ-भक्ति ही की। बुद्धदेव अपनी युवा स्त्री को सोती हुई छोड़कर चल दिये।

—केपटाउन, बुधवार, ज्येष्ठ वदी ३, १०।६।१९१४। गुजराती से। 'गांधीजीनी साधना'। सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृ० ४१५]

६. अपनी प्रशंसा न सुनो !

मेरे धर्म में एक हिदायत है और मैं समझता हूं कि वह सभी धर्मों के लिए सच्ची है। हिदायत यह है कि जब किसी व्यक्ति की प्रशंसा हो रही हो तब उस व्यक्ति को उस जगह से दूर चले जाना चाहिए और यदि वह ऐसा न कर सके तो अपने कान बन्द कर लेने चाहिए। यदि वह इन चीजों में से एक भी न कर सके तो उसे वह सब कुछ जो उसके सम्बन्ध में कहा गया हो, उस शर्वशक्तिमान दैवी-तत्व को समर्पित कर देना चाहिए जो विश्व के प्रत्येक जीव और पदार्थ में व्याप्त है।
— अंग्रेजी से। इं० ओ०, स्वर्ण अंक १९१४।]

७. मुमुक्षु का धर्म

[श्री मथुरादास त्रिकमजी को लिखे पत्र का अंश]

सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह—इन पांच यमों का पालन करना प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक है। मुमुक्षु तो सभी को होना चाहिए। इसलिए मनुष्य का चरित्र उक्त पांचों यमों की भित्ति पर बनाया जाना चाहिए। इनका आचरण समस्त संसारी जीवों को करना चाहिए, इसमें सन्देह नहीं।...
— ७।२।१९१५। गुजराती से। 'बापुनी प्रसादी'। सं० गां० वां०, खण्ड १३, पृ० १९]

८. प्रतिज्ञा की गम्भीरता

इस युग में प्रतिज्ञा का मूल्य, टेक की कीमत नष्ट हो गई है। लोग जब चाहते हैं और जिस तरह चाहते हैं, ली हुई प्रतिज्ञा तोड़ देते हैं, और इस तरह प्रतिज्ञा का पानी उतार देने से मुझे दुःख होता है। साधारण आदमी को बाँधने के लिए प्रतिज्ञा से बढ़कर दूसरी कोई डोर नहीं। परमात्मा को अपना साक्षी बनाकर जब हम कोई काम करने के लिए तैयार होते हैं तो वही हमारी प्रतिज्ञा हो जाती है। जो उन्नत हैं, वे बिना प्रतिज्ञा के भी अपना काम चला सकते हैं। लेकिन हमारे समान अवनत या पिछड़े हुए लोग वैसा नहीं कर सकते। हम लोगों के लिए जो जीवन में हज़ारों बार गिरते हैं, इस तरह की प्रतिज्ञाओं के बिना ऊपर चढ़ना असम्भव है।
— मिल-मजदूरों की सभा में दिये गये भाषण से। अहमदाबाद, १५।३।१९१८। गुजराती 'एक धर्मयुद्ध' से।]

९. धर्म और आत्म-सम्मान

जो व्यक्ति आत्मसम्मान की रक्षा नहीं कर सकता, कहना चाहिए कि उसकी आस्था धर्म में नहीं है। जिसे ईश्वर का भय है उसे किसी अन्य का भय नहीं होता। जिस ईश्वर की कल्पना हमने सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ के रूप में की है वह समस्त संसार का रक्षण और कल्याण करता है।

—गुजराती। सोहुंज में दिये गये भाषण से, १०।४।१९१८]

१०. यज्ञ का अर्थ

गीता में कहा गया है कि जो यज्ञ किये बिना खाता है वह चोर है। यज्ञ का अर्थ है कि हमारा यह शरीर प्रजा की अर्थात् प्रभु की सेवा के लिए है। लोक-कल्याण के लिए उसकी आहुति देना, यही सच्चा यज्ञ है। जिस प्रजा ने इस मन्त्र को समझ लिया है उसके ऊपर कोई सत्ता अत्याचार नहीं कर सकती। यदि इसका रहस्य हमारे लहू में मिल जाय तो समझो कि हमने दुनिया में सब कुछ जीत लिया।

— सन्देसर में दिये गये भाषण से, १६।५।१९१८। गुजराती। 'खेड़ा सत्याग्रह'। सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० ३८३]

११. व्रत-भंग अनुचित है

[श्री नरहरि परीख को लिखे पत्र से]

...जबतक (किसी व्यक्ति को) अपना व्रत भूल-भरा प्रतीत न हो या पाप-युक्त न लगे, तबतक किसी के भी लिए उस व्रत को छोड़ने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। अगर एक बार भी व्रत तोड़ने की छूट दे दी जाय तो उसका पालन नहीं हो सकता और उनकी महिमा जाती रहेगी। परन्तु व्रत के जो भी अर्थ हो सकते हों, वे अर्थ करके उनसे लाभ उठाने में मुझे कोई हानि नहीं है।

—बम्बई, २७।१।१९१९। गुजराती। 'महादेवभाईनी डायरी', खण्ड ५। सं० गां० वां०, खण्ड १५, पृ० ८१]

१२. संयम : हमारी शक्ति

जिस स्थान पर रामचन्द्र जी का जन्म हुआ और जहां सीता जी खेलीं, उस विहार प्रदेश में और उसके आसपास के प्रान्तों में मैं रह आया हूं। वहां ऐसे बहुत से व्यक्ति

मौजूद हैं जो गाड़ी में सफर करते समय कुछ नहीं खाते, उपवास रखते हैं। ट्रेन में कुछ न खायें, ऐसी धार्मिक भावना मूल्यवान है। इसमें संयम है। संयम अर्थात् अमुक वस्तु का समझ-बूझकर त्याग करना। इसमें किसी भी व्यक्ति पर, किसी भी व्यक्ति-द्वारा दवाव नहीं डाला जाता।

इससे आत्मवल दृढ़तर होता है। खाने योग्य वस्तु को न खाने में, पीने योग्य चीज को न पीने में संयम है। मगर किसी का निरादर करें तो हम पाप में पड़ते हैं। खाने की वस्तु मिले या न मिले, (मैं नहीं खाऊंगा), इस कारण नहीं, वल्कि अमुक व्यक्ति के हाथ का वना हुआ नहीं खाना चाहिए, इस मान्यता से कोई न खाय तो मैं मानता हूं कि उसमें अवर्म है।

— नडियाद, ६।७।१९१९। गुजराती २०।७।१९१९ । सं० गां० वां०, खण्ड १५, पृ० ४५४]

१३. धर्म-नीति

'सुधार-प्रस्ताव' शीर्षक लेख लिखते हुए गांधी जी ने लोकमान्य तिलक के सम्वन्ध में कहा कि वे राजनीति में हर वात के नैतिक और सही होने का ध्यान रखते हैं। इसे पढ़कर लोकमान्य ने १८।१।१९२० को पूना से गांधी जी को पत्र लिखकर व्यक्त किया कि उनके विचार का ग़लत प्रतिपादन किया गया है। वे राजनीति को साधुओं का नहीं, सांसारिक व्यक्तियों के उपयोग का विषय मानते हैं। वे वुद्ध के वचन 'अक्कोधेन जिने क्कोधं' के वजाय श्रीकृष्ण के 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' को ज्यादा तरजीह देते हैं।

गांधी जी ने इस पत्र के उत्तर में जो टिप्पणी लिखी, उसके कुछ अंश यहां दिये जा रहे हैं।—सम्पा०]

मैं स्वभावत: लोकमान्य के साथ ऐसे प्रश्न पर विचार-विमर्श करने में लज्जा-शीलता का अनुभव करता हूं, जो धार्मिक कृतियों की व्याख्या से सम्वद्ध हैं। किन्तु वाह्य और अन्तर में ऐसी वहुत-सी वातें हैं जिनमें भावना व्याख्या को लांघ जाती है। मेरी दृष्टि में लोकमान्य-द्वारा उद्धृत दोनों सुभाषितों में कोई अन्तर नहीं है। वौद्ध पाठ एक शाश्वत सिद्धान्त की स्थापना करता है। भगवद्गीता का पाठ मुझे यह सिद्धान्त सुझाता है कि घृणा को प्यार से, असत्य को सत्य से जीता जा सकता है और अवश्य जीता जाना चाहिए। यह सत्य है कि ईश्वर हमारे साथ उसी के अनुरूप वरतता है जैसा व्यवहार हम दूसरों के साथ करते हैं तो इससे यह परिणाम निकलता है यदि हम उचित दण्ड से वच जाते हैं तो हमें क्रोध के वदले क्रोध नहीं,

सज्जनता का व्यवहार करना चाहिए। और यह नियम विरक्त के लिए नहीं, आवश्यक रूप से सांसारिक के लिए है। लोकमान्य से असहमति व्यक्त करते हुए मैं कहने का साहस करूंगा कि यह सोचना कि राजनीति साधुओं के लिए नहीं है, अपने मानसिक आलस्य को प्रकट करना है। समस्त धर्मों का शीर्ष तत्व पुरुषार्थ को बढ़ाना है और पुरुषार्थ साधु बनने अर्थात् प्रत्येक दृष्टि से सज्जन बनने के प्रयास के सिवा और कुछ नहीं है।...

—दिल्ली, १८।११।१९२० के बाद। यं० इं०, २१।१।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० ४९०, ४९१]

- समस्त धर्मों का शीर्षतत्त्व पुरुषार्थ को बढ़ाना है और पुरुषार्थ साधु बनने......के प्रयास के सिवा और कुछ नहीं है।

१४. गोपनीयता पाप है

भारत के अभिशापों में से एक बहुधा गोपनीयता का पाप है। किसी अज्ञात परिणाम के भय से हम फुसफुसा कर बोलते हैं।...मैं भगवान के प्रति कृतज्ञ हूं कि मैं वर्षों पहिले इस निर्णय पर पहुँचा कि गोपनीयता, विशेषकर राजनीति में, पाप है। यदि हम जो करते या कहते हैं, उन सब में भगवान के साक्ष्य का अनुभव करते हैं, तो हमारे पास धरती पर किसी व्यक्ति से छिपाने के लिए कुछ न होगा, क्योंकि हम अपने सृजनकर्त्ता के समक्ष गन्दी बातें नहीं सोचेंगे ; उनका उच्चारण भी नहीं करेंगे। यह गन्दगी है जो गोपनीयता और अन्धकार चाहती है। मानव-स्वभाव की प्रवृत्ति गन्दगी को छिपाने की होती है। हम गन्दी चीजों को देखना या छूना नहीं चाहते; हम उन्हें दृष्टि से दूर रखना चाहते हैं। हमारे वचन के साथ भी यही होना चाहिए। मैं सुझाव दूंगा कि हम ऐसे विचारों का चिन्तन भी टाल जायं, जिनको हमें संसार से छिपाना पड़े।

—यं० इं०, २२।१२।१९२०। मूल अंग्रेजी से अनूदित। 'कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी', खण्ड १९, पृ० १४४, ४५]

- गोपनीयता......पाप है।
- यह गन्दगी है जो गोपनीयता और अन्धकार चाहती है।

१५. पवित्रता का लक्षण

पवित्रता का एक अनिवार्य लक्षण यह है—प्रत्येक पुरुष प्रत्येक स्त्री को अपनी माता या बहिन और प्रत्येक स्त्री हर पुरुष को अपना भाई या पिता समझे।...यदि

हम राक्षस-राज्य नहीं, धर्म राज्य चाहते हैं, तो आप मुझसे सहमत होंगे कि व्यक्तिगत पवित्रता राष्ट्रीय पवित्रता की ही तरह आवश्यक है। हमारा स्वराज्य आत्म-उच्छृंखलता पर नहीं, आत्म-नियन्त्रण पर आधारित है।

—कोकनाडा, २।४।१९२१। 'दि हिन्दू', ६।४।१९२१। अंग्रेजी से अनूदित। 'कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी', खण्ड १९, पृ० ५०३]

१६. आचार और विचार

...आचार की पूजा करते हुए हमें विचार-शुद्धि की आवश्यकता को न भुला देना चाहिए। जहां विचार में दोष होगा, वहां आचार अन्तिम सीढ़ी पर न चढ़ पायगा। रावण और इन्द्रजित[1] की तपस्या में क्या कमी थी? इन्द्रजित के संयम का मुकावला करने के लिए लक्ष्मण के संयम की आवश्यकता थी। यह दिखाकर आदि कवि[2] ने आचार का महत्त्व सिद्ध किया। परन्तु इन्द्रजित के विचार में, विश्वास में, आर्थिक वैभव को मुख्य स्थान दिया गया था और लक्ष्मण के विश्वास में वह पद परमार्थ को मिला था। अन्त में कवि ने लक्ष्मण को विजय-माला पहिनाई। 'यतो धर्मस्ततोजयः' का अर्थ भी उच्च-से-उच्च विचार अर्थात् विश्वास और उसका श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ आचार, यही हो सकता है।

तीसरे प्रकार के भी लोग हैं। उनके लिए इस चर्चा में स्थान नहीं। वे हैं ढोंगी। उनके पास विचार का, विश्वास का केवल दावा है, पर (उनका) आचार विल्कुल स्वांग है, आडम्बर है। वास्तव में उनकी कोई आस्था नहीं होती; तोता राम-राम रटता है। क्या उसके कारण लोग उसे रामभक्त कहेंगे? फिर भी हम दो तोतों या तोते और चिड़िया की वोली की तुलना करके उनके स्वर की कीमत आँक सकते हैं।

—न० जी०। हि० न० जी०, २७।४।१९२४]

१७. शास्त्रोक्त आचरण

जो लोग ऐसा कहते और मानते हैं कि शास्त्र के नाम से प्रचलित पुस्तकों में जो कुछ लिखा है, वह सव सत्य है, उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हो सकता, उन्हें पग-

---

१. रावण-पुत्र मेघनाद।

२. महर्षि वाल्मीकि।

पग पर धर्म-संकट होंगे। एक ही श्लोक के अनेक अर्थ होते हैं और वे एक-दूसरे के विरुद्ध भी होते हैं। फिर भी अनेक शास्त्रों में अटल सिद्धान्त होते हैं और अनेक देश-काल आदि के अनुसार देश-विशेष या काल-विशेष के लिए होते हैं। उत्तरी ध्रुव में छः मास तक सूर्य अस्त नहीं होता। यदि कोई वहां रह सके तो वह सन्ध्या-वन्दन किस समय करे? उसे स्नानादि के लिए क्या करना चाहिए? मनुस्मृति में खाद्याखाद्य-सम्बन्धी अनेक नियम बताये गये हैं। आज उनमें से किसी का भी पालन नहीं होता। ऐसा भी नहीं है कि सभी श्लोक एक ही व्यक्ति के रचे और एक ही समय लिखे गये हों। इसलिए जो ईश्वर से डरकर चलना चाहता है और जो नीति-नियमों को भंग नहीं करना चाहता, उसे तो उन सभी बातों का त्याग करना आवश्यक है, जो नीति और सदाचार के विरुद्ध दीख पड़े। स्वेच्छाचार कभी धर्म नहीं हो सकता। हिन्दू धर्म नहीं जनता कि संयम की मर्यादा होती है।...शास्त्र के अर्थ के झगड़े में पड़ कर हमें अत्याचार नहीं करना चाहिए। शास्त्र वही है जो हमें मोक्ष की ओर प्रेरित करे; धर्म वही है जो हमें संयम की शिक्षा दे। जो पाप के कुएं में डूब मरता है, वह कर्महीन कहा जाता है। अखा भगत ने शास्त्र को अन्धा कुआं माना है; ज्ञानेश्वर ने वेद को कृपण कहा है; नरसी मेहता ने अनुभव को ही ज्ञान बताया है।

—न० जी०। हि० न० जी०, १८।५।१९२४]

- **स्वेच्छाचार कभी धर्म नहीं हो सकता।**
- **शास्त्र वही है जो हमें मोक्ष की ओर प्रेरित करे।**
- **धर्म वही है जो हमें संयम की शिक्षा दे।**

१८. प्रण-पालन : ईश्वर-भक्ति का प्रमाण

रामचन्द्र की माता कैकेयी ने राम के वनवास का वरदान माँगा। दशरथ को उसे स्वीकार करना पड़ा। सामान्य रूप से यही कह सकते हैं कि दशरथ पागल तो नहीं हो गये थे? पर रामचन्द्र क्यों डिगने लगे? उनसे कहा गया, तुम्हारे वियोग में पिता रो-रोकर मर जायेंगे, अयोध्या विधवा हो जायगी। पर उन्होंने सब बातों को तुच्छ समझा।

रघुकुल रीति सदा चलि आई,
प्राण जाइ बरु, वचन न जाई।

अयोध्या निस्तेज हुई; दशरथ की मृत्यु हुई। पर राम अटल रहे। विश्वामित्र ने दशरथ से दो लड़के माँगे। क्या दशरथ ने देने में आनाकानी की? हरिश्चन्द्र

ने अपनी पत्नी की गर्दन पर छुरी उठाई। ये सब काम उन्हीं से हो सकते हैं, जो ईश्वर-भक्त हों, खुदापरस्त हों। खुदा के साथ तकब्बुरी (अहंकार) करनेवाले ऐसा नहीं कर सकते।

—चरखा-द्वादशी, अनशन अष्टमी। न० जी०। हि० न० जी०, २८।९।१९२४]

१९. त्याग और दान

मुझे इस सीमा तक त्याग करना चाहिए कि प्रतिपक्षी को अनुभव हो कि अब तो हद हो गई। यहां तक कि वह स्तम्भित हो जाय।...

...दान करने का धर्म ही यह कहता है (कि) इतना दो, इतना दे डालो कि खानेवाला खाकर तृप्त हो जाय,...

—हि० न० जी०, १६।११।१९२४]

२०. श्रद्धा

जिसे अपने कार्य और सिद्धान्त पर अविचल श्रद्धा है वह दूसरे की अश्रद्धा या उसके त्याग से क्यों डरने लगा, क्यों बेचैन होने लगा, क्यों चंचल होने लगा? जो श्रद्धावान होता है वह तो दूसरे की अश्रद्धा देखकर उलटे दुगना दृढ़ होता है। सुरक्षित मनुष्य रक्षकों के चले जाने पर जिस तरह असावधानी छोड़कर सावधान हो जाता है, उसी प्रकार श्रद्धावान मनुष्य अपने साथियों को भागता देखकर स्वयं सुदृढ़ होता है, सिंह की तरह अकेला लड़ता है और पहाड़-सा अडिग हो जाता है।

—हि० न० जी०, २३।११।१९२४]

२१. नम्रता आवश्यक है

बंगाल में कार्यकर्त्ताओं से बातचीत करते हुए मेरा साबका एक नवयुवक से पड़ा, जिसने कहा कि लोग मुझे इसलिए भी आदर दें कि मैं ब्रह्मचारी हूं। उसने यह बात इस तरह कही और ऐसे विश्वास के साथ कही कि मैं देखता रह गया। मैंने मन में कहा कि वह उन विषयों की बात करता है, जिसका ज्ञान उसे बहुत कम है। उसके साथियों ने उसकी बात का खण्डन किया। और जब मैंने उससे जिरह करनी शुरू की तब उसने स्वयं भी स्वीकार किया कि उसका दावा टिक नहीं सकता। जो व्यक्ति शारीरिक पाप न करता हो वह ब्रह्मचारी नहीं। जो व्यक्ति परम सुन्दरी

रमणी को देखकर अविचल नहीं रह सकता, वह ब्रह्मचारी नहीं। जो केवल आवश्यकता के वशीभूत होकर अपने शरीर को अपने वश में रखता है, वह अच्छी बात करता है, पर वह ब्रह्मचारी नहीं। हमें अनुचित, अप्रासंगिक प्रयोग करके पवित्र शब्दों का मान नहीं घटाना चाहिए। वास्तविक ब्रह्मचर्य का फल अद्‌भुत होता है; वह पहिचाना भी जा सकता है। इस गुण का पालन करना कठिन है। प्रयत्न तो बहुतेरे करते हैं, पर सफल विरले ही हो पाते हैं। जो लोग गेरुआ वस्त्र पहिनकर संन्यासियों के वस्त्र में देश में घूमा करते हैं वे अक्सर बाजार के साधारण आदमी से अधिक ब्रह्मचारी नहीं होते। अन्तर इतना ही है कि सामान्य आदमी बहुधा उसकी डींग नहीं हाँकता, इसलिए बेहतर होता है। वह इस बात पर सन्तुष्ट रहता है कि परमात्मा मेरी आजमाइश को, मेरे प्रलोभनों को, मेरे विजयोत्सव और भगीरथ प्रयत्न होते हुए भी घटित पतन को जानता है। यदि संसार उसके पतन को देखे और उससे तोले तो भी वह सन्तुष्ट रहता है। वह अपनी सफलता को कंजूस के धन की तरह छिपा कर रखता है। वह इतना विनयी होता है कि उसे प्रकट नहीं करता। ऐसा मनुष्य उद्धार की आशा रख सकता है। परन्तु वह आधा संन्यासी, जो संयम का ककहरा या वर्णमाला भी नहीं जानता, यह आशा नहीं रख सकता। वे सार्वजनिक कार्यकर्त्ता जो संन्यासी का वेश नहीं बनाते पर, जो अपने त्याग और ब्रह्मचर्य का ढिंढोरा पीटते फिरते हैं और दोनों को सस्ता बनाते हैं, स्वयं को और अपने सेवा-कार्य को बदनाम करते हैं, समझिए कि उनसे खतरा है।

मैंने जब अपने साबरमती आश्रम के लिए नियम बनाये तो उन्हें सलाह और समालोचना के लिए मित्रों के पास भेजा। एक प्रति स्वर्गीय सर गुरुदास बनर्जी को भी भेजी थी। उस प्रति की पहुँच लिखते हुए उन्होंने सलाह दी कि नियमों के अन्तर्गत उल्लिखित व्रतों में नम्रता का भी एक व्रत होना चाहिए। उन्होंने अपने पत्र में लिखा था कि आजकल के नवयुवकों में नम्रता का अभाव पाया जाता है। मैंने उनसे कहा कि आपकी सलाह के मूल्य को तो मानता हूं और नम्रता की आवश्यकता को भी सोलहो आने मानता हूं, पर व्रत में उसको स्थान देना उसके गौरव को और कम कर देना है। हमें यह बात स्वीकार करके चलना चाहिए कि जो लोग अहिंसा, ब्रह्मचर्य, का पालन करेंगे वे अवश्य ही नम्र रहेंगे। नम्रताहीन सत्य एक उद्धत हास्य-चित्र होगा।. . .जो व्यक्ति सारे संसार के साथ, यहां तक कि शत्रु कहे जाने वाले के साथ भी, प्रेम करना चाहता है वह जानता है कि केवल अपने बल पर ऐसा करना कितना असम्भव है। जबतक वह अपने को एक क्षुद्र रजकण नहीं समझने लगेगा, तबतक अहिंसा के तत्व को नहीं ग्रहण कर सकता। जिस प्रकार उसके प्रेम की माला बढ़ती जाती है उसी प्रकार यदि उसकी नम्रता की माला न

वढ़ी तो वह किसी काम का नहीं। जो मनुष्य अपनी आँखों में तेज लाना चाहता है, जो स्त्री मात्र को अपनी सगी माता या वहिन मानता है, उसे तो रजकण से भी क्षुद्र होना पड़ेगा। उसे एक खाई के किनारे खड़ा समझिए। तनिक भी मुंह इधर-उधर हुआ कि वह गिरा। वह अपने मन से भी अपने गुणों की कानाफूसी करने का साहस नहीं कर सकता क्योंकि वह नहीं जानता कि अगले क्षण क्या होने वाला है। उसके लिए अभिमान के पीछे विनाश चलता है और मगरूरी के पीछे पतन। गीता में सत्य कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज्यं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

और जवतक मनुष्य के मन में अहं भाव मौजूद है, तवतक उसे ईश्वर के दर्शन नहीं हो सकते। यदि वह ईश्वर में मिलना चाहता है तो उसे शून्यवत् वन जाना चाहिए। इस संघर्ष-पूर्ण जगत् में कौन कहने का साहस कर सकता है—मैंने विजय प्राप्त की ? हम नहीं, ईश्वर हमें विजय प्राप्त कराता है।

हमें इन गुणों का मूल्य इस तरह कम नहीं कर देना चाहिए जिससे हम नव उनका दावा कर सकें। जो वात भौतिक विषय में सत्य है, वही आध्यात्मिक विषय में भी सत्य है। यदि एक सांसारिक संग्राम में विजय पाने के लिए युरोप ने पिछले[1] युद्ध में, जो कि स्वयं ही एक नाशमान वस्तु है, कितने करोड़ लोगों का वलिदान कर दिया, तो यदि आध्यात्मिक युद्ध में करोड़ों लोगों को इसके प्रयत्न में मिट जाना पड़े, ताकि संसार के सामने एक पूर्ण उदाहरण रह जाय, तो क्या आश्चर्य है ? यह हमारे अधीन है कि हम असीम नम्रता के साथ इस वात का उद्योग करें।

उनके लिए इन उच्च गुणों की प्राप्ति ही कृत परिश्रम का पुरस्कार है। जो उस पर व्यापार चलाता है, वह अपनी आत्मा का नाश करता है। सद्गुण कोई व्यापार करने की चीज़ नहीं है। मेरा सत्य, मेरी अहिंसा, मेरा व्रह्मचर्य—ये मेरे और मेरे कर्त्ता से सम्वन्ध रखनेवाले विषय हैं। ये विक्री की चीजें नहीं हैं। जो युवक इनका व्यापार करने का साहस करेगा वह अपना ही नाश कर वैठेगा। संसार के पास ऐसा कोई वाट नहीं है, कोई साधन नहीं है, जिससे इन वातों की तोल की जा सके। वहां छानवीन और विश्लेषण की गुजर नहीं। इसलिए हम कार्य-कर्त्ताओं को चाहिए कि हम इन्हें केवल अपने शुद्धीकरण के लिए प्राप्त करें। हम संसार से कह दें कि वह हमारे कामों से हमारी पहिचान करे।...

—यं० इं०। हि० न० जी०, २५।६।१९२५]

---

१. प्रथम महायुद्ध

- जो व्यक्ति शारीरिक पाप न करता हो, किन्तु मानसिक पाप करता हो, वह ब्रह्मचारी नहीं।
- वास्तविक ब्रह्मचर्य का फल अद्भुत होता है।
- नम्रता-हीन सत्य एक उद्धत हास्य-चित्र होगा।
- ....अभिमान के पीछे विनाश चलता है और मग़रूरी के पीछे पतन।
- हम नहीं, ईश्वर हमें विजय प्राप्त कराता है।
- जो बात भौतिक विषय में सत्य है, वही आध्यात्मिक विषय में भी सत्य है।
- सद्गुण......व्यापार करने की चीज़ नहीं है।
- मेरा सत्य, मेरी अहिंसा, मेरा ब्रह्मचर्य, ये मेरे और मेरे कर्त्ता से सम्बन्ध रखनेवाले विषय हैं।

२२. इन्द्रियों का उपयोग

यह सिद्धान्त नहीं है कि इन्द्रिय मात्र का उपयोग आवश्यक है। जो पुरुष ज्ञान-पूर्वक वाचा के उपयोग का त्याग करता है, वह संसार पर उपकार करता है। इन्द्रिय-उपयोग धर्म नहीं, इन्द्रिय-दमन धर्म है। ज्ञान और इच्छापूर्वक किये गये इन्द्रिय-दमन से आत्मा को लाभ होता है, हानि नहीं। विषयेन्द्रिय का उपयोग केवल सन्तति की उत्पत्ति के लिए स्वीकार किया गया है। पर जो सन्तति का मोह छोड़ देता है, उसकी शास्त्र भी वन्दना करते हैं। इस युग में विकारों की महिमा इतनी बढ़ गई है कि लोग अधर्म को ही धर्म मानने लग गये हैं। विकारों की वृद्धि अथवा तृप्ति में ही जगत का कल्याण है, ऐसी कल्पना करना अत्यन्त दोषपूर्ण है, ऐसा मेरा विश्वास है। शास्त्र भी यही कहते हैं और यही आत्मदर्शियों का स्वच्छ अनुभव है।
—न० जी०। हि० न० जी०, ८।१०।१९२५]

- इन्द्रिय-उपयोग धर्म नहीं, इन्द्रिय-दमन धर्म है।
- इस युग में विकारों की महिमा इतनी बढ़ गई है कि लोग अधर्म को ही धर्म मानने लगे हैं।

२३. गुणों का गोपन

एक महाशय लिखते हैं—

"आपके उपवास और अन्य प्रायश्चित्त-प्रार्थनाओं के सम्बन्ध में मेरा विचार है कि उसमें कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य रह जाती है। यही कारण है कि उसका उचित

परिणाम नहीं होता। यदि इस प्रकार के त्यागों का परिणाम प्राप्त करना हो तो उनका विज्ञापन नहीं करना चाहिए और उसे यथासम्भव चुपचाप छिपाकर ही करना चाहिए। शास्त्रों में कहा गया है कि गुणों को छिपाना चाहिए और पापों को प्रकट करना चाहिए।"

पत्र-लेखक जो कहते हैं, उसमें बहुत-कुछ सत्य है। जहां तक स्वयं मेरे उपवास, प्रायश्चित्त और प्रार्थनाओं का सम्बन्ध है उनमें से कुछ तो अवश्य ही प्रकट होंगे क्योंकि वे सार्वजनिक परिणाम प्राप्त करने के लिए ही किये जाते हैं। लेकिन मैं बड़ी कठिनाइयों के बीच काम कर रहा हूं। मैं जिसे छिपाना चाहता हूं उसे भी नहीं छिपा सकता। इसलिए मुझे तो अपने मार्ग का अनुसरण करना चाहिए और इस परिस्थिति में मुझे प्रायश्चितों से जो सान्त्वना मिले, प्राप्त करनी चाहिए। यदि मैं अपने लिए इतना ही प्रमाण दे सकूं कि मैं अपने निजी प्रायश्चित्तों को प्रकट नहीं करना चाहता तो यही पर्याप्त होगा। सार्वजनिक प्रायश्चितों के सम्बन्ध में मुझे उसकी सूक्ष्म योग्यता के बारे में कोई सन्देह नहीं है, इसलिए यदि मैं शीघ्र ही उनका परिणाम न देख सकूं तो इससे मेरा क्या बिगड़ता है? यदि प्रत्येक अच्छे या बुरे काम का परिणाम फौरन ही मिल जाया करे तो श्रद्धा-जैसी वस्तु का कुछ भी मूल्य न रहेगा। परिणामों का अनिश्चित स्वरूप ही मनुष्य की कसौटी करता है, उसे नम्र बनाता है और उसकी सच्चाई एवं श्रद्धा की परीक्षा करता है।

—यं० इं०। हि० न० जी०, २४।१२।१९२५]

२४. प्रतिज्ञा भंग की जा सकती है?

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—यदि मनुष्य किसी मानसिक दुर्बलता-वश कोई प्रतिज्ञा कर ले और उस प्रतिज्ञा का कुछ दिनों तक पालन करने के बाद उसे यह मालूम हो कि प्रतिज्ञा करने में भूल हुई है, तो क्या उस प्रतिज्ञा का त्याग किया जा सकता है?

उत्तर—प्रतिज्ञा सदैव किसी सत्कार्य के लिए ही की जा सकती है। कुकर्म के लिए प्रतिज्ञा नहीं हो सकती। यदि अज्ञान के कारण कोई ऐसी प्रतिज्ञा कर ले तो उसे भंग करना ही उसका धर्म हो जाता है। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति व्यभिचार करने की प्रतिज्ञा करता है, परन्तु उसकी जागृति और शुद्धि इसी में है कि वह उस प्रतिज्ञा का त्याग करे। उस प्रतिज्ञा का पालन करना पाप है।

—न० जी०। हि० न० जी०, २५।३।१९२६]

- प्रतिज्ञा......किसी सत्कार्य के लिए ही की जा सकती है।
- कुकर्म के लिए प्रतिज्ञा नहीं हो सकती।

२५. स्वाभाविक किसे कहें ?

आजकल स्वाभाविक शब्द का बड़ा दुरुपयोग हो रहा है। एक भाई लिखते हैं—"जिस प्रकार मनुष्य के लिए खाना-पीना स्वाभाविक है, उसी प्रकार क्रोध करना भी स्वाभाविक है।" दूसरे भाई लिखते हैं—"जिस प्रकार हम लोगों के लिए सोना-बैठना स्वाभाविक है, उसी प्रकार विषय-भोग करना भी स्वाभाविक है। यदि यह बात ठीक न हो तो ईश्वर ने हमें विषय-वासना ही क्यों दी ? दुष्ट मनुष्य के प्रति क्रोध करना और साधुजन की स्तुति करना यदि हमारा धर्म नहीं है, तो हमें स्तुतिनिन्दा करने की शक्ति क्यों दी गई है ? सर्वशक्तियों का सम्पूर्ण विकास ही धर्म क्यों न हो ? . . ."

ऊपर लिखी हुई ये सब दलीलें किसी एक ही मनुष्य की नहीं है, परन्तु दो-चार या उससे भी अधिक मनुष्यों की दलीलों का संचित सार है। . . .यदि मनुष्य को भी पशुओं की श्रेणी में रख दिया जाय तो अनेक बातें जिन्हें हम स्वाभाविक मानते हैं, स्वाभाविक सिद्ध हो सकती हैं। परन्तु यदि हम उन दोनों में जातिभेद होना स्वीकार करें तो यह नहीं कहा जा सकता कि जो बातें पशुओं के लिए स्वाभाविक हैं वे सब मनुष्यों के लिए भी स्वाभाविक हैं। मनुष्य ऊर्ध्वगति प्राणी है। उसे सारासार-विवेक—बुद्धि दी गई है। वह बुद्धिपूर्वक परमात्मा का भजन करता है और उसे जानने का, पहिचानने का भी प्रयत्न करता है; उसकी पहिचान कर लेना ही वह अपना पुरुषार्थ समझता है। परन्तु यदि यह कहा जा सके कि पशु भी ईश्वर का भजन करता है तो वह अनिच्छा से ही ऐसा करता है, स्वेच्छा से नहीं। और मनुष्य तो अपनी इच्छा से शैतान की भी पूजा करता है। इसलिए मनुष्य का स्वभाव तो ईश्वर को जानना ही होना चाहिए। जब मनुष्य शैतान की पूजा करता है, तब वह अपने स्वभाव के प्रतिकूल कार्य करता है। यदि कोई यह मानता हो कि मनुष्य और पशु में कोई जातिभेद नहीं है तो उसके लिए मेरी यह दलील अवश्य निरर्थक है। वह अवश्य कह सकता है कि पाप-पुण्य-जैसी कोई चीज नहीं। ईश्वर की जानकारी प्राप्त करने के स्वभाव से युक्त मनुष्य के लिए तो खाना-पीना इत्यादि भी केवल अमुक दृष्टि से ही स्वाभाविक हो सकता है। क्योंकि ऐसा स्वभाव रखनेवाला मनुष्य खाने के लिए अथवा भोग के लिए नहीं खाये पीयेगा परन्तु ईश्वर की पहिचान करने के लिए ही भोजन करेगा। इसलिए खाने के प्रति वह हमेशा पसन्दगी, मर्यादा और त्याग का भाव ही दिखायेगा।

इसी प्रकार विचार करने से हमें यह भी मालूम होगा कि विषय-भोग मनुष्य स्वभाव के लिए प्रतिकूल वस्तु है। इस भोग का सर्वथा त्याग करना ही उसके

स्वभाव के अनुकूल है। और उस भोग का सर्वथा त्याग किये विना ईश्वर की पहिचान करना भी असम्भव है। मनुष्य में निहित सभी शक्तियों का सम्पूर्ण विकास करना उसका धर्म नहीं है; वह उसका स्वभाव नहीं है; परन्तु ईश्वर के निकट ले जानेवाली सर्वशक्तियों का विकास करना और उसके प्रतिकूल सारी शक्तियों का सर्वांश में त्याग कर देना, ही उसका दोहरा धर्म है।

जिस प्राणी को ग्रहण करने की और त्याग करने की पसन्दगी अथवा स्वतन्त्रता है उसका काम पाप-पुण्य का भेद माने विना चल ही नहीं सकता। पाप-पुण्य का दूसरा अर्थ है त्याज्य और ग्राह्य वस्तु। दूसरे की चीज उससे छीन लेना त्याज्य है, पाप है। हम में अच्छी और बुरी वासनाएं निहित हैं। बुरी वासनाओं का त्याग करना हमारा धर्म है। यदि हम ऐसा न करें तो हम मनुष्य-जन्म प्राप्त करने पर भी पशु बन जाते हैं। इसीलिए तो सभी धर्म पुकार-पुकार कर कहते हैं कि मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। मनुष्य देह हमारी परीक्षा—कसौटी—करने के लिए दी गई है और हिन्दू धर्म कहता है कि इस कसौटी में, परीक्षा में, अनुत्तीर्ण होने पर हमें फिर पशुयोनि में जाना होगा।...

—न० जी०। हि० न० जी० १७।६।१९२६]

- मनुष्य ऊर्ध्वगति प्राणी है।
- विषय-भोग मनुष्य-स्वभाव के लिए प्रतिकूल वस्तु है।
- भोग का सर्वथा त्याग किये विना ईश्वर को पहिचान करना असम्भव है।
- पाप-पुण्य का दूसरा अर्थ है त्याज्य और ग्राह्य वस्तु।
- मनुष्य देह हमारी परीक्षा......करने के लिए दी गई है।

२६. प्रतिज्ञा का रहस्य

एक विद्यार्थी लिखते हैं—

"हम जो कार्य कर सकते हैं और जिसे करने की इच्छा भी रखते हैं, फिर भी कर नहीं पाते और जब वह कार्य करने का समय आता है तो मन की कमजोरी से या तो हमें अपनी प्रतिज्ञा स्मरण ही नहीं रहती अथवा स्मरण रहने पर भी हम उसकी अवहेलना कर देते हैं। ऐसा उपाय बताइए, कि हम उस कार्य को करने के लिए बाधित हो जायं और अवश्य करें।"

ऐसा प्रश्न किसके मन में उत्पन्न न होता होगा? परन्तु प्रश्न में गलतफहमी भी है। प्रतिज्ञा मनुष्य की उन्नति करती है। इसका एकमात्र कारण यह है कि

प्रतिज्ञा करते हुए भी उसके भंग होने की गुंजाइश होती है। प्रतिज्ञा कर चुकने के वाद अगर उसके भंग होने की गुंजाइश न हो तो पुरुषार्थ के लिए कोई स्थान न रहे। संकल्प तो संकल्पकर्त्ता-रूपी नाविक के लिए दीप के समान है। दीप की ओर लक्ष्य रखे तो अनेक तूफानों में से गुजरते हुए भी मनुष्य उवर सकता है। परन्तु जिस प्रकार वह दीपक यद्यपि तूफान को शान्त नहीं कर सकता, तो भी वह उस तूफान के वीच से उसके सुरक्षित रूप से निकल जाने की शक्ति प्रदान करता है, उसी प्रकार मनुष्य का संकल्प हृदय-रूपी समुद्र में उछाल मारती हुई तरंगों से वचानेवाली प्रचण्ड शक्ति है। ऐसी हालत में संकल्पकर्त्ता का पतन कभी न हो, इसका उपाय आजतक न ढूंढ़ने से मिला है और न मिलनेवाला ही है। यह उचित भी है। यदि ऐसा न हो तो सत्य और यमनियमादि की जो महत्ता है, वह जाती रहेगी। सामान्य ज्ञान प्राप्त करने में मनुष्य भारी प्रयत्न करता है; उत्तर-ध्रुव जैसी सावारण वस्तु का दर्शन करने के लिए अनेक मनुष्य अपनी जान-माल को जोखम में डालने में भय नहीं खाते हैं, तो राग-द्वेष रूपी महाशत्रुओं को जीतने के लिए उपर्युक्त प्रयत्नों की अपेक्षा सहस्रगुना प्रयत्न करना पड़े, तो इसमें आश्चर्य और क्षोभ क्यों हो? इस प्रकार की अमर विजय प्राप्त करने के प्रयत्न करने में ही सफलता है। प्रयत्न ही विजय है। यदि उत्तर ध्रुव का दर्शन न हुआ तो सव प्रयत्न व्यर्थ ही माना जाता है किन्तु जवतक शरीर में प्राण रहें तवतक राग-द्वेष इत्यादि को जीतने में जितना प्रयत्न किया जाय उतना हमारी प्रगति का ही सूचक है। ऐसी वस्तु के लिए थोड़ा प्रयत्न भी निष्फल नहीं होता, ऐसा भगवान का वचन है।

इसलिए मैं इस विद्यार्थी को इतना ही आश्वासन दे सकता हूं कि उनको प्रयत्न करते हुए हर्गिज निराश न होना चाहिए। और संकल्प को भी नहीं छोड़ना चाहिए, वल्कि अशक्य शव्द को अपने शव्दकोश से पृथक् कर देना चाहिए। यदि संकल्प का स्मरण न रहे तो प्रायश्चित्त करना चाहिए। उनको पूरा ख्याल रखना चाहिए कि जहां भूलें हों वहीं से फिर चलें या मन में दृढ़ विश्वास रखें कि अन्त में जीत तो उन्हीं की होगी। आज तक किसी भी ज्ञानी ने इस प्रकार का अनुभव नहीं वतलाया है कि असत्य की कभी विजय हुई है। वरं सव ने एकमत होकर अपना यह अनुभव पुकार-पुकार कर वतलाया है कि अन्त में सत्य ही की जय होती है। उस अनुभव का स्मरण करते हुए तथा शुभ काम करते हुए जरा भी संकोच न करना चाहिए और शुभ संकल्प करते हुए किसी को डरना भी न चाहिए। पं० रामभजदत्त चौवरी एक कविता लिखकर छोड़ गये हैं। उसका एक पद यह है—'कवि नहिं हारना भांवें साडी जान जावे।'

— हिं० न० जी०, ५।८।१९२६]

● संकल्प तो संकल्पकर्त्ता-रूपी नाविक के लिए दीप के समान है।
○ प्रयत्न ही विजय है।

२७. प्रेम की नीति

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

मनुष्य कुछ भी करे, तुम्हें तो उससे प्रेम ही करना है। अन्त में तो आश्रम साबरमती में नहीं है, अपने आपमें है। बुरे-से-बुरे आदमी को भी हमें शुद्ध मान कर चलना चाहिए। सबके साथ समान व्यवहार करने का और विरोधी चीजों के इस विश्व में पानी में कमल की तरह अलिप्त रहने का यही अर्थ है।

—सोदपुर कलकत्ता, ३।१।१९२७। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० १७, न० जी० प्र० मं०]

● अन्त में तो आश्रम साबरमती में नहीं है, अपने-आप में है।

२८. भूल का प्रायश्चित्त

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

जहां भूल होने का ज्ञान हो, वहां अधिकांश मामलों में सुधार कर लेने की तैयारी ही काफी प्रायश्चित्त और इलाज है।

—बनारस, १०।१।१९२७। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० १८, न० जी० प्र० मं०]

२९. नियमितता

[आश्रम की बहिनों को लिखे पत्र से]

नियमित किये गये काम का असर नियमित किये गये भोजन जैसा होता है। वह आत्मा का पोषण करता है। एक ही बार में ज्यादा ली हुई खूराक जैसे शरीर को बिगाड़ती है, वैसे ही एक बार में किये हुए अधिक काम से आत्मा को कष्ट होता है।

—शोलापुर, २१।२।१९२७। सोमवार माघ बदी ५, सम्वत् १९८३। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, पृ० १९, न० जी० प्र० मं०]

- जो यज्ञ किये विना खाता है चोरी का खाता है।
- जो शुद्ध जीवन विताना चाहता है, उसके सब काम यज्ञ-रूप होते हैं।

४६. योग

जो भी नतीजा हो, उसके विषय में निश्चिन्त रहकर तथा समता रखकर मनुष्य को अपने कर्त्तव्य में तन्मय रहना चाहिए। इसका नाम योग है और इसी में कर्म-कुशलता है।

—सोमप्रभात, १७।११।१९३०। गीताबोध, पृ० ११, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

४७. गोपनीयता : धर्माधर्म

[सुश्री मीरा वहिन को लिखे पत्र से]

गुप्तता के वारे में तुम्हारे प्रकट किये हुए विचारों में कुछ गड़वड़ मालूम होती है। अगर कोई कसाई मुझसे पूछे कि गाय किधर गई है, तो उसे वता देना हर्गिज धर्म नहीं है। मैं उसे गलत रास्ता भी न वताऊं और न यह वताऊं कि गाय कहां गई। इतना ही नहीं, मैं गाय को छिपा भी सकता हूं। ऐसा करना सचमुच मेरा धर्म होगा। इस दृष्टान्त से हम परिस्थिति के अनुसार अपना आचरण निश्चित कर सकते हैं।

— १२।१।१९३१। वापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० १२२, न० जी० प्र० मं०]

४८. अन्तर्बाह्य शुचिता

हमें आत्मा का वोध है, इसलिए हमारी सफाई भीतर-वाहर दोनों की होनी चाहिए। पर अन्दर की सफाई तो सचाई है। सफाई ही सवसे वड़ी पवित्रता, इसलिए स्वच्छता है। हम वाहर से साफ-सुथरे हों और अन्तर मैला हो तो या तो यह आडम्वर मात्र है, या दम्भ है; विषयभोग की निशानी है। इसलिए संयमी स्त्री-पुरुषों की स्वच्छता अन्तर की पवित्रता का लक्षणरूप ही हो तो काम की है।

हमारा शरीर हमारा महामन्दिर है। हम उसमें वाहर से कोई मैल न भरें। अन्दर मन को कुविचारों से मलिन न करें। इस शौच को साधनेवाला अपने हर

एक काम में स्वच्छता प्रकट करेगा। यह उसके लिए स्वाभाविक वस्तु हो जानी चाहिए।

—यरवदा मन्दिर, ९।५।१९३२। आश्रमवासियों से, पृ० ३३]

४९. रामायण की एक शिक्षा : विषमताओं का सहन

खलबली के बिना जीवन बहुत नीरस बन जायगा। इसलिए जीवन की विषमताएं सह लेने में ही समझदारी है। रामायण से हमें जो कीमती पाठ मिलता है, वह यही है।

—१७।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १५५]

० जीवन की विषमताएं सह लेने में ही समझदारी है।

५०. दुर्वृत्तियों पर विजय : हमारा धर्म

[श्री दाऊभाई को लिखे पत्र से]

बुरे विचारों और वृत्तियों के खिलाफ शेर की तरह जूझना। जूझना हमारा धर्म है। जीत होना ईश्वर के हाथ है। हमारा सन्तोष जूझने में ही है। हमारा जूझना सच्चा ही होना चाहिए। सत्संग में रहना। इसके लिए सद्वाचन चाहिए।

—२९।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १८३]

० बुरे विचारों और वृत्तियों के खिलाफ.....जूझना हमारा धर्म है।

० जीत होना ईश्वर के हाथ है।

५१. जीवित व्यक्ति की मूर्ति का ध्यान

[श्री विनोबा भावे के भाई श्री भाऊ को लिखे पत्र से]

जीवित लोगों की मूर्ति का ध्यान अच्छी बात नहीं है। जिसका ध्यान करें उसमें पूर्णता का आरोपण होता है, होना चाहिए। जीवितों में किसी को पूर्ण न कहा जाय। रामायण आदि में जो चित्र आते हैं, वे अच्छे नहीं होते। किन्तु मूर्ति की आवश्यकता क्यों? ईश्वर निराकार, निर्गुण है। उसका ध्यान क्यों न करें? यदि यह अशक्य है, तो ओंकार का ध्यान किया जाय, अथवा अपनी कल्पना की मूर्ति का। गीता माता का ही ध्यान क्यों नहीं? उसे कामधेनु की उपमा दी है।

इस धेनु का ध्यान किया जाय। इसमें वहुत अर्थ पाये जाते हैं। वैसे भी जीवितों की मूर्तियों का ध्यान हानिकर हो सकता है। इसलिए त्याज्य समझो।
— ३०।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १८८]

● ईश्वर निराकार, निर्गुण है।

५२. जिज्ञासु की शंका

. . . जिज्ञासु को जिसपर श्रद्धा हो, उससे तात्विक निर्णय कम से कम माँगना चाहिए। काल्पनिक शंकाओं का निवारण कभी न कराना चाहिए। अपने को कोई क़दम उठाना हो और उसके वारे में शक हो, तो उस पर सवाल जरूर पूछा जा सकता है। किसी घटना के वारे में पूछना हो तो उस वक्त उस घटना का हाल वताना चाहिए। उस घटना के आधार पर कोई सार्वजनिक प्रश्न कभी नहीं वनाना चाहिए, क्योंकि इस तरह प्रश्न वनाते समय असली चीज़ में से कुछ न कुछ रह जाने की सम्भावना है। . . .
— ३०।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १८५]

५३. तितिक्षा और यज्ञ

कोढ़ से पीड़ित एक भाई ने नीचे लिखे उद्‌गार प्रकट किये हैं:—

"मेरा यह विश्वास दिन-दिन वढ़ता जा रहा है कि मुझ-जैसे रोगियों के लिए आसन-प्राणायाम आदि सामान्य क्रियाएं और यज्ञ करने के वाद प्राप्त किया हुआ अन्न अच्छी-से-अच्छी चीज है। गीता इत्यादि के पाठ में, भजन गाने में, ध्यान में और कम-से-कम ५०० गज सूत कातने में मेरा समय जाता है। हमारा धर्म तितिक्षा सिखाता है, और तितिक्षा का अर्थ तो यह है—सव दुखों को मन में विना विरोध किये, विना चिन्ता किये, विना कलपे सहन करना। यह सहन-शक्ति अपने आप में उत्पन्न कर रहा हूँ और यह यत्न करते हुए यह अनुभव कर रहा हूं कि अगर हम कोई भी यज्ञकार्य न करते हों तो ऐसी तितिक्षा आती नहीं। मुझ-जैसे आदमी से दूसरा-तीसरा यज्ञकार्य तो हो नहीं सकता, इसलिए आम रास्ता साफ करना, मैला साफ करना और कातना यही यज्ञ ईश्वर-कृपा से खुले हुए हैं और इनसे आनन्द प्राप्त कर लेता हूं और सहनशक्ति वढ़ा रहा हूं। पर अक्सर मन में यह विचार आता है कि अगर शरीर ऐसा हो जाय कि यज्ञ विल ल हो ही न सके तो? शास्त्र तो पुकार-पुकार कर कहते हैं, आपने अक्सर कहा और लिखा है और

मैंने अनुभव भी किया है कि यज्ञहीन जीवन मृतवत् है, भारभूत है, और जगत् के लिए त्रास उपजाने वाला है। तब सवाल यह पैदा होता है कि अगर मनुष्य व्याधि से इतना अधिक घिर जाय कि उससे किसी भी प्रकार का यज्ञ हो ही न सके और उसका शरीर प्रतिक्षण दूसरों की सेवा पर ही टिक रहा हो, तो ऐसे समय क्या कर्त्तव्य है। किसी-किसी शास्त्र में यह भी पढ़ा है कि जब आदमी को ऐसा असाध्य रोग हो जाय तब वह पानी में डूब कर या ऐसे ही किसी और उपाय से प्राण-त्याग करे।"

यह एक सुन्दर पत्र का मेरी भाषा में किया हुआ खुलासा है। इस पत्र से अपने लोगों के लिए तो मैं इतना ही अर्थ निकालना चाहता हूं कि इस भाई ने जैसी लिखी है वैसी सहनशक्ति हम सब अपने में उत्पन्न करें और रोग से पीड़ित होते हुए भी शरीर जबतक बोझा उठा सके तबतक यज्ञ करते ही रहें। सहनशक्ति बढ़ाना और यज्ञ करना दोनों बातें बहुत पुरानी हैं। आश्रम में तो पद पद पर हम इन्हें सुनते हैं, पर जब किसी अनुभवी की कलम से यह बात हमारे पास आती है तब नई-सी मालूम होती है और उसमें खूब शक्ति भरी हुई होती है। कोढ़ से पीड़ित जनों में ऐसी भाषा और ऐसे अनुभव की आशा हम नहीं रखते। आम तौर से ऐसे लोग अगर लिखते हैं तो अपना दुखड़ा रोते हुए दिखाई देते हैं। यहां हमें एक निराली ही चीज का अनुभव हुआ है। इसी से इस पत्र का सार मैंने आश्रमवासियों के लिए लिख दिया है। इसमें जो शंका उठाई गई है वह भी विचारने योग्य है।

यज्ञ का अर्थ हम परोपकार के लिए मन लगाकर किया हुआ कोई भी शारीरिक कर्म करते हैं, पर इससे यह मान लेना जरूरी नहीं है कि जो शरीर से अशक्त है वह यज्ञहीन है। जो शरीर से सर्वथा अशक्त है वह अपने मानसिक बल से अनेक प्रकार की सेवा कर सकता है और वह अवश्य यज्ञरूप मानी जायगी; पर ऐसी स्थिति की कल्पना की जा सकती है जहां अपना होश-हवास इस काबिल न हो कि यज्ञ किया जा सके, वैसा मनोबल न हो फिर भी यज्ञकर्म करने की तीव्र इच्छा हो। देह के विषय में उदासीनता आ गई हो; दूसरों की सेवा लेने से दुःख होता हो; बीमारी प्राणघातक है, इसका अपने आपको इतमीनान हो गया हो। मेरा ख्याल है कि ऐसी हालत में जिसमें ऐसी शक्ति हो उसको प्राण-त्याग करने का पूर्ण अधिकार है; धर्म है, यह भी शायद कहा जा सके। पर धर्म है, यह कहना, सुननेवाले को आघात पहुँचाने वाला वाक्य समझा जायगा। जीने वाले के मुंह में दूसरे के लिए प्राण-त्याग धर्म है, कहना शोभा न देगा, और यह वाक्य सुननेवाला व्याधिग्रस्त मनुष्य शायद व्याकुल भी हो जाय। पर मैंने, यह मानकर कि ऐसा अनर्थ यहां होना सम्भव नहीं जो मुझे उचित जान पड़ा उसे मर्यादापूर्वक लिख डाला है। अगणित उपाय

करके और असीम सेवा लेकर भी जीने की तृष्णा घट जाय और मृत्यु का हो गया भय दूर हो जाय तो यह चाहने योग्य बात है। यही दृष्टि रखकर लिखा है कि समझदार मनुष्य असाध्य रोग के समय प्राणत्याग को धर्म माने तो यह मानने के लिए कोई कारण नहीं कि वह गलत ही कर रहा है।

—यरवदा मन्दिर, ९।६।१९३२। आश्रमवासियों से पृ० ४३–४४–४५]

५४. कुविचारों का प्रकटीकरण

[एक पत्रांश]

तुम आत्मविश्वास खो बैठो, यह ठीक नहीं है। बुरे विचार मनुष्य को अक्सर आते हैं। मगर जैसे घर में कूड़ा-करकट भर जाने पर जो उसे समय-समय पर निकालता रहता है उसके लिए कहा जाता है कि वह साफ़ है और अपना घर साफ़ रखता है, उसी तरह कुविचारों के आते ही जो (उन्हें) साफ़ करता रहे, उसकी सदा जय ही है। वह कभी दम्भी नहीं कहलाता। इस दम्भ से बचने के लिए मैंने सुवर्ण उपाय यह बताया है कि हमें इन विचारों को कभी नहीं छिपाना चाहिए, बल्कि जाहिर कर देना चाहिए। उनकी ढौंड़ी पीटने की भी जरूरत नहीं है। किसी न किसी मित्र से जरूर कह देना चाहिए। और मन की यह स्थिति होनी चाहिए कि सारी दुनिया जान ले तो भी हर्ज नहीं। . . .

— १७।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २२२]

५५. ईश्वराकांक्षी

[श्री परशुराम को लिखे पत्र से]

जो आदमी ईश्वर को चाहता है, वह रोज आठ घण्टे के हिसाब से अपना काम नहीं मापता। वह हरदम काम करता ही रहता है। उसे छुट्टी होती ही नहीं। जब मौका मिलता है वह भलाई करता रहता है। उसे सदा और सर्वत्र प्रभु-प्रीत्यर्थ काम करने का अवसर मिलता ही है। वह जहां जाता है वहां अपनी सुगन्ध फैलाता है।

— १७।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २२१-२२२]

५६. शून्यवत् स्थिति

[सुश्री मंगला के पत्र का उत्तर]

शून्यवत् होकर रहने का मतलब है अच्छा (बढ़िया चीजें) लेने में सबसे पीछे रहना। सबकी सेवा करना, उपकार की आशा न रखना और कष्ट-सहन करने में दूसरों की पहल करना। जो इस तरह शून्यवत् रहेगा, वह अपने कर्त्तव्य में तो डूबा ही रहेगा।

—३।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २६६]

५७. मोक्ष-हेतु सेवा

[श्री मैथ्यू को लिखे पत्र से]

....गीता में कहा है—मनुष्य ही अपने मोक्ष या बन्धन का कारण है। यह मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही मैं कहता हूं कि हमें परिया[1] और मजदूरों की तरह सेवा करनी चाहिए।

—९।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २७५]

५८. मृत्यु में आनन्द

[चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य को लिखे पत्र से]

...हम ईश्वर को पहिचानते हैं, तो मृत्यु में भी आनन्द मानना सीखना ही चाहिए।

—२६।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३२४]

५९. गुणों का मोह

[एक पत्रांश]

हम व्यक्ति का मोह न रखें। व्यक्ति के गुणों का मोह हो सकता है, परन्तु वह मोह शुद्ध प्रेम का होगा। सबके गुण कुछ न कुछ कार्यरूप में परिणत होते हैं। अगर

---

१. दक्षिण भारत की एक शूद्र जाति।

हम उन गुणों को अच्छा समझते हों, तो उनसे जो कार्य मूर्तिमन्त हो उसे उत्तेजन देना चाहिए।...

—३१।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३३१]

६०. गुण-पूजा

[एक पत्रांश]

व्यक्ति के वजाय गुण-पूजा करनी चाहिए। व्यक्ति तो गलत सावित हो सकता है और उसका नाश तो होगा ही; गुणों का नाश नहीं होता।

— ३१।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३३१]

६१. बन्धुभाव का धर्म

[सुश्री एस्थर मेनन को लिखे पत्र से]

वन्धुभाव अभी तो दूर का सपना है। सच्ची आध्यात्मिकता की मुझे यह कसौटी मालूम होती है। जवतक जीवमात्र के साथ एकता महसूस न हो, जवतक प्रार्थना, उपवास, जप-तप सव थोथी वातें हैं। मगर अभी तक तो हमने यह चीज वुद्धि से भी नहीं मानी। फिर हृदय के साक्षात्कार की तो वात ही क्या ? अभी तो हम अच्छे-वुरे देखने लगते हैं।...वन्धु भाव में किसी तरह का हिसाव नहीं लगाया जाता; वापस जवाव मिलने की जरूरत नहीं होती। अगर हम ऐसे भेदभाव करने लगेंगे तो जिन्हें हम दुष्ट आदमी मानते हैं, उन स्त्री-पुरुषों के साथ प्रेम-भाव नहीं रख सकते। आजकल के कलह और रोग-द्वेष के वीच ऐसा करना वहुत कठिन है। फिर भी सच्चा धर्म तो हमसे यही माँग रहा है।...

—४।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३४०]

- जवतक जीवमात्र के साथ एकता महसूस न हो तवतक प्रार्थना, उपवास, जप-तप सव थोथी वातें हैं।

६२. नम्रता की नीति

[सुश्री प्रेमा वहिन कंटक को लिखे पत्र से]

दुनिया के सामने खड़े रहने के लिए घमण्ड या गुस्ताखी पैदा करने की जरूरत नहीं है। ईसामसीह दुनिया के खिलाफ हुए; वुद्ध भी अपने युग के विरुद्ध

हुए; प्रह्लाद ने भी ऐसा ही किया। ये सब नम्रता की मूर्ति थे। इसके लिए आत्म-विश्वास और भगवान पर श्रद्धा चाहिए। घमण्ड में आकर विरोध करने वाले अन्त में गिरते ही हैं।...

—१२।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३५४]

६३. क्रोध-निग्रह

[एक लड़की को लिखे पत्र से]

क्रोध आये तब क्या करें, यह प्रश्न न करके पूछना चाहिए कि क्रोध न आये, इसके लिए क्या करें? क्रोध न आये, इसके लिए सबके प्रति उदारता सीखनी चाहिए और यह भावना बनानी चाहिए कि सब में हम हैं और हममें सब है। जैसे समुद्र की सब बूंदें अलग होने पर भी एक ही हैं, वैसे ही हम इस संसार-सागर में हैं। इसमें कौन किस पर क्रोध करे?

—१४।८।१९३२। म० भा० डा० भाग १, पृ० ३५६]

- **जैसे समुद्र की सब बूंदें अलग होने पर भी एक ही हैं, वैसे ही हम इस संसार-सागर में हैं।**

६४. आचार प्रथम धर्म

['आचारः प्रथमो धर्मः' सूत्र का रहस्य जानने के इच्छुक एक जिज्ञासु को लिखे पत्र से]

आचार का अर्थ केवल बाह्याचार है और बाहरी आचार समय-समय पर बदला जा सकता है। भीतरी आचरण हमेशा एक ही हो सकता है। यानी सत्य, अहिंसा आदि पर स्थिर रहना, और इस पर क़ायम रहते हुए बाह्याचार को जहां-जहां बदलना पड़े वहां बदला जा सकता है। शास्त्र में कहा है कि आचार प्रथम धर्म है। यह कहकर या मानकर किसी चीज़ पर डटे रहने की जरूरत नहीं हो सकती। संस्कृत में दिये हुए सभी विचार कोई शास्त्र नहीं हैं। मानव धर्मशास्त्र के नाम से पहिचाना जानेवाला ग्रन्थ भी सचमुच शास्त्र नहीं है। शास्त्र पुस्तकों में लिखी हुई चीज़ नहीं है। वह जीवित वस्तु होनी चाहिए। इसलिए चरित्रवान, ज्ञानी या जिसके कहने और करने में मेल है उसका कथन ही हमारा शास्त्र है; और ऐसी कोई मशाल हमारे हाथ में न हो तब अगर हमें संस्कार मिलें हों, तो हमें जो सत्य मालूम हो वही हमारा शास्त्र है।

—१५।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३५९]

- आचार का अर्थ केवल वाह्याचार है और वाहरी आचार समय-समय पर वदला जा सकता है।
- शास्त्र पुस्तकों में लिखी हुई चीज़ नहीं है।
- जिसके कहने और करने में मेल है उसका कथन ही हमारा शास्त्र है।

६५. वैचारिक व्यभिचार, चित्तशुद्धि एवं ब्रह्मचर्य

[श्री दरवारी को लिखे पत्र से]

यह कहना मुझे ठीक नहीं मालूम होता कि ऐसा क्रम है कि मनुष्य कुछ समय निकम्मे विचार करने में विताता है। अगर इसमें एक भी अपवाद हो, तो यह नहीं कह सकते कि ऐसा नियम है। और अपवाद तो हमें वहुत-से नजर आते हैं। इतना सही है कि अनगिनत लोग तरह-तरह के मंसूवे यानी वेकार विचार किया करते हैं। ऐसा न हो तो एकाग्रता वगैरह पर जो जोर दिया जाता है, उसकी जरूरत ही न हो। हमारे लिए अभी जो चीज़ काम की है वह यह है—हम खुद तरह-तरह के घोड़े दौड़ाते हैं, अनेक प्रकार के विचार करते हैं। उनमें से वहुत तो याद भी नहीं रहते। यह सव विचारों का व्यभिचार कहलाता है।

जैसे मामूली व्यभिचार से इंसान अपने शरीर की शक्ति को वर्वाद करता है वैसे ही विचारों के व्यभिचार से मानसिक शक्ति का नाश करता है। और जैसे शारीरिक कमजोरी का मन पर असर पड़ता है, वैसे ही मन की अशक्ति का असर शरीर पर होता है। इसीलिए मैंने ब्रह्मचर्य की व्यापक व्याख्या करके निरर्थक विचारों को भी ब्रह्मचर्य का भंग ही माना है। ब्रह्मचर्य की संकुचित व्याख्या करके हमने उसे ज्यादा मुश्किल चीज वना दिया है। व्यापक व्याख्या को मानकर हम इन्दिय मात्र का, ग्यारहों[1] इन्द्रियों का, संयम करें तो एक इन्द्रिय को कावू में रखना मुकावले में वहुत आसान हो जाता है। तुम अन्दर ही अन्दर ऐसा मानते दीखते हो—वाह्य कर्म करने में आन्तरिक शुद्धि का अवलोकन रह जाता है या कम होता है। मेरा अनुभव इससे विल्कुल उलटा है। वाहरी कार्य आन्तरिक शुद्धि के विना निष्काम भाव से हो ही नहीं सकता। इसलिए अविकतर आन्तरिक शुद्धि का हिसाव वाह्य कर्म की शुद्धि से ही लगाया जाता है। जो वाह्य कर्म के विना आन्तरिक शुद्धि करने लगेगा, उसे भुलावे में पड़ जाने का पूरा डर रहता है। इस तरह के

---

१. पांच ज्ञानेन्द्रियां : चक्षु, कर्ण, त्वक्, नासिका, जिह्वा पांच कर्मेन्द्रियां : हस्त, पाद, वाक्, गुदा और उपस्थ और ग्यारहवीं इन्द्रिय मन।

उदाहरण मैंने बहुत देखे हैं। एक मामूली मिसाल ही देता हूं। मैंने देखा है कि जेल में बहुत-से साथियों ने तरह-तरह के अच्छे निश्चय किये। मैंने यह भी देखा कि बाहर निकलने पर वे निश्चय पहिले ही सपाटे में खत्म हो गये। जेल में तो उन्होंने यही मान लिया था कि उनका निश्चय कभी नहीं बदलेगा, आन्तरिक शुद्धि पूरी हो गई है, अवलोकन शान्ति से हुआ है और प्रार्थना में एकाग्रता आ गई है। मगर चारदीवारी से निकलते ही यह सब काफूर होते मैंने देखा है।

गीता जी के तीसरे अध्याय का पांचवां[1] श्लोक बहुत ही चमत्कारिक है भौतिकशास्त्री बता चुके हैं कि इसमें बताया हुआ सिद्धान्त सर्वव्यापक है। इसका अर्थ यह है कि कोई भी आदमी एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कर्म का अर्थ है गति, और यह नियम जड़-चेतन सबके लिए लागू है। मनुष्य इस नियम पर निष्काम भाव से चलता है, तो यही उसका ज्ञान और यही उसकी विशेषता है। इसी की पूर्ति में ईशोपनिषद् के दो मन्त्र हैं और वे भी इतने ही चमत्कारी हैं।

बुद्ध भगवान की आलोचना मेरे-जैसा क्या करेगा? मैं तो उनका पुजारी हूं। मगर रचना बुद्ध भगवान ने की थी या उनके बादवालों ने? कुछ भी हुआ हो, मगर जो संघ बने वे इस सर्वव्यापक नियम के अनुसार जड़वत् हो गये और अन्त में आलसी के नाम से मशहूर हुए। आज भी सीलोन, ब्रह्मदेश और तिब्बत में बौद्ध साधु ज्ञानहीन और आलस्य के ही पुतले पाये जाते हैं।

हिन्दुस्तान में भी संन्यासी नाम से पुकारे जानेवाले साधु चमकते हुए नजर नहीं आते। इसमें मुझे ऐसा लगता है कि सच्ची और शाश्वत चित्त-शुद्धि मनुष्य कर्म करते हुए ही कर सकता है। फिर गीता का वचन उद्धृत करने की मन में आती है। चौथे अध्याय के अठारहवें श्लोक[2] का अर्थ यह है कि जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है वही बुद्धिमान है; वही योगी है और वही पूरा कर्मी है, मगर यह तो मैंने अपने अनुभव की बात लिखी। गीता के श्लोक इसलिए उद्धृत किये हैं कि इनमें जो शिक्षा भरी है वही मेरे अनुभव में आई है। जिन शास्त्र वचनों को मैंने अनुभव से नहीं परखा है, उन्हें मैं उद्धृत नहीं करता। मेरे अनुभव के विरुद्ध दूसरों का अनुभव हो सकता है, और वे शायद गीता में से विरोधी वचन भी उद्धृत कर सकते हैं। और मैं जो श्लोक उद्धृत करता हूं, सम्भव है उन्हीं श्लोकों का दूसरे लोग दूसरा

---

१. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

२. कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत॥

अर्थ करके अपने अनुभव के समर्थन में उद्धृत कर सकें। इसलिए मेरा अनुभव मान लेने के वारे में मुझे किसी तरह का आग्रह नहीं हो सकता।

—२३।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३७३, ३७४, ३७५]

- जैसे मामूली व्यभिचार से इंसान अपने शरीर की शक्ति को वर्वाद करता है, वैसे ही विचारों के व्यभिचार से मानसिक शक्ति का नाश करता है।
- बाहरी कार्य आन्तरिक शुद्धि के विना निष्काम भाव से हो ही नहीं सकता।
- आन्तरिक शुद्धि का हिसाव बाह्य कर्म की शुद्धि से ही लगाया जाता है।
- कोई भी आदमी एक क्षण भी कर्म किये विना नहीं रह सकता।
- कर्म का अर्थ है गति।
- सच्ची और शाश्वत चित्त-शुद्धि मनुष्य कर्म करते हुए ही कर सकता है।
- जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है वही बुद्धिमान है, वही योगी है और वही पूरा कर्मी है।

६६. मौन

[एक पत्रांश]

हमारे यहां मौन की वड़ी महिमा है। समाधि मौन ही है। मुनि शव्द भी इसी से निकलता है। मौन के समय पहिले पहल नींद आती है और तरह-तरह के विचार आते हैं, यह सव सच है। इसे दूर करने के लिए ही मौन की जरूरत है। हमें वहुत वोलने और आवाजें सुनने की आदत पड़ गई है। इसलिए मौन कठिन लगता है। थोड़े अभ्यास से वह अच्छा लगने लगेगा और अच्छा लगने के वाद उससे जो शान्ति मिलेगी वह अलौकिक होगी। हम सत्य के पुजारी हैं, इसलिए हमें मौन का अर्थ जानकर उस अर्थ के अनुसार ही मौन-पालन की कोशिश करनी चाहिए। मौन में भी राम-नाम तो रटते ही रहें। असल वात यह है कि हमारा मन मौन के लिए तैयार होना चाहिए...

—२८।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३८१, ३८२]

६७. दोष-दर्शन-नीति

[एक पत्रांश]

अपने पड़ोसी के हमेशा गुण देखने चाहिए, अपने सदा दोष देखने चाहिए। तुलसीदास-जैसे भी अन्त में अपने को कुटिल कहते हैं।

—११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५]

६८. गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्

[श्री बबल भाई को लिखे पत्र से]

अमुक काम करना अच्छा है—यह निश्चय हो जाने के बाद उसे करने में एक क्षण भी नहीं रुकना चाहिए, क्योंकि सिर पर मौत लटक रही है। इसलिए अच्छे काम के आरम्भ में देर करने से सारा सौदा ही रह जाता है, क्योंकि जीव देह छोड़ता है, तब आरम्भों को साथ ले जाता है। अमल न होनेवाले विचार तो उसके नाम लिखे जाते हैं। मान लो, रेल में जाते समय मैंने साथ में पांच रुपये ले जाने का विचार किया, मगर आलस्य के मारे नहीं लिये। गाड़ी में बैठा। विचारों को तो मैं भुना नहीं सकता। और वे मेरे दिमाग़ पर बोझ बनकर मुझे कुरेदते रहेंगे।
—११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १४, १५]

● जीव देह छोड़ता है तो आरम्भों को साथ ले जाता है।

६९. शुद्ध जीवन की नीति

[श्री हरजीवन कोटक को लिखे पत्र से]

...जीवन की अशुद्धि भी काम में खलल डालती है। दूसरे लोग, जिनके जीवन गन्दे होते हैं, व्यापार वगैरह में सफलता प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा विचार न करना। उनकी सफलता-असफलता का निर्णय हम न करें। हम व्यक्तिगत, सार्वजनिक या व्यापारी जीवन में भेद नहीं करते। हमारी सभी प्रवृत्तियां आत्मशुद्धि के लिए होती हैं। इसलिए हमारी अशुद्धि हमारे मार्ग में पग-पग पर बाधक होगी।
—३०।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५९]

७०. शरीर बनाम आत्मा का विश्राम

[सुश्री उर्मिला देवी को लिखे पत्र से]

शरीर के आराम का अधिकारी कोई नहीं। आत्मा का आराम हमेशा सम्भव है। अपने में ऐसा संकल्प होना चाहिए। यही अनासक्तियोग है। जो अनासक्ति से काम करता है, वह शरीर से थकता नहीं और थके तो तुरन्त सो जाता है और अपार आराम ले लेता है। अनासक्ति के कारण आत्मा को तो आराम ही रहेगा।
—१३।२।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १४०]

७१. हमें धूल बन कर रहना है

व्रत धारण करके कोई अभिमान से आकाश में नहीं उड़ने लगता, धरती पर ही रहता है। हम लोग तो अणु-रेणु हैं, धूल के समान हैं। हम मिट्टी से बने हैं और अन्त में हमें मिट्टी में मिल जाना है—इसे मैं सत्य मानता हूं। हम मिट्टी से ही पैदा हुए हैं, मिट्टी के ही पुतले हैं, फिर अभिमान किस बात का करें? चींटी अपनी बाँबी की जैसी सुन्दर कलामयी रचना कर लेती है, वैसी हमसे नहीं बनती। कीड़ों, चींटियों, इत्यादि ने सम्पूर्णता प्राप्त कर ली है, पर हमने नहीं। हमारा शरीर भी सम्पूर्ण नहीं है। इसलिए हमें सम्पूर्णता खोजनी है। हम जिस स्थिति में हैं, उसमें रहते हुए हमें सन्तोष नहीं होता। हमें ईश्वर ने ही यह दैवी असन्तोष दिया है। इसलिए हम 'यह नहीं, यह नहीं'—ऐसा कहा करते हैं, और बराबर आगे बढ़ते ही जाते हैं। चींटी सम्पूर्ण है, क्योंकि आगे नहीं बढ़ना चाहती। हमें तो आगे बढ़ना ही है। इसलिए हमें नम्र बनना है, धूल की तरह या शून्य के समान बनकर रहना है। आज का भौतिक शास्त्र कहता है कि एक-एक अणु में सम्पूर्ण विश्व समाया हुआ है। उपनिषद् के ऋषियों ने तो हजारों वर्ष पहिले यह बात समझ ली थी। इसीलिए उन्होंने कहा है—यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे—अर्थात् जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। हम परमाणु के समान बनकर रहें, शून्यवत् होकर रहें, तभी हम ईश्वरीय अंश प्राप्त कर सकते हैं। कारण यह कि परमाणु विश्वव्यापी और शाश्वत है। इसलिए हमें आकाश में नहीं उड़ना है किन्तु धूल के समान बनना सीखना है।

—ह० से०, २०।१०।१९३३]

७२. धर्माचरण

मेरी समझ से धर्माचरण यह नहीं देखता कि किसी के कार्यों के विषय में दूसरे लोग क्या कहते हैं—जबतक कि उसके मार्ग के निर्माण में दूसरों की राय एक सम्बद्ध अंग न हो।

—अंग्रेजी। वर्धा। स्व० बेरियर एल्विन को लिखे गये निजी पत्र से। २५।१०।१९३३]

७३. कुछ नैतिक प्रश्न

एक सज्जन ने नीचे लिखे प्रश्न पूछे हैं, जो सभी सेवकों के लिए उपयोगी हो सकते हैं—

"१. किसी प्रकार का व्रत लेते समय किन-किन बातों का विचार करना चाहिए, जिससे भविष्य में वैसी स्थिति उपस्थित होने पर व्याकुल न होना पड़े? मान लीजिए, कि बाद में कोई बात याद आ जाय, तो क्या उसे व्रत में बढ़ा सकते हैं? एक साधारण व्रत का उदाहरण देकर क्या आप इसे समझायेंगे?

"२. आप निश्चित किये हुए समय पर प्रार्थना करने के पक्ष में हैं, पर अगर मनुष्य अपनी सुविधा के अनुसार रात को सोने से पहिले और सवेरे उठकर तुरन्त ही, ये दोनों समय नियत कर ले तो क्या उसका ऐसा करना अनुचित होगा? एक अड़चन हमेशा पड़ती है। वह यह कि प्रार्थना करते हुए कुछ ही क्षण चित्त की एकाग्रता रहती है। इसके लिए क्या किया जाय?

"३. दैनन्दिनी (डायरी) किसी दिन लिखी जाती है, और किसी दिन नहीं। तब यह विचार आता है कि नित्यप्रति क्या लिखा जाय? यदि उसमें यह लिखा जाय कि अमुक कारण से क्रोध आया, अब क्रोध नहीं आना चाहिए, सम्हल जाओ, और कुछ दिन बाद फिर क्रोध आ जाय, तो बारबार यही बात दुहराते जाने से डायरी से क्या सहायता मिल सकती है? जो बात क्रोध के सम्बन्ध में है वही काम के विषय में भी है। तब दैनन्दिनी किस तरह लिखी जाय? क्या-क्या लिखूं कि डायरी मेरे लिए पथ-प्रदर्शक बन सके? मैं बहुत दिनों से दैनन्दिनी लिखता आ रहा हूं, पर ठीक तरह से न लिख सकने के कारण यह बात मन में खटकती ही रहती है।

"४. आप अनेक बार गीता के सूत्रों की भांति संक्षेप में बात कह देते हैं, पर उसे समझने में मेरे-जैसों को बड़ी कठिनता होती है। उदाहरण के लिए मेरे दूसरे प्रश्न का जवाब अगर गीता में ढूंढ़ा जाय, तो अभ्यास और वैराग्य बस यही उत्तर मिलेगा, और मेरी धारणा है कि आप भी यही जवाब देंगे। अभ्यास का अर्थ आपने जरा विस्तार से किया तो इतना ही करेंगे कि सत्य की लगन। पर मेरे-जैसों के लिए तो यह उत्तर गीता के उत्तर के समान ही कठिन रहा। अगर कातते हुए सूत बार-बार टूटता हो तो पहिले यही कहा जायगा कि धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ जाने के बाद फिर सूत नहीं टूटेगा। फिर टूटने में जहां-जहां भूल होती है, वहां वह बता दी जाती है कि यह करो, वह करो, इस तरह पूनियां लो, ऐसी बट दो, इस तरह चरखा घुमाओ। इस तरह की अनेक बातें बताने का यह फल होता है, कि सूत टूटता नहीं और अगर टूट भी जाता है तो कातनेवाला दुखी नहीं होता। इसी प्रकार चित्त एकाग्र करने का मार्ग अभ्यास है सही पर इसका साधन कौन-सा है? अभ्यास का आरम्भ किस प्रकार किया जाय? यह तो सब कहते हैं कि चित्त को दृढ़ करो, दृढ़निश्चयी बनो पर यह कोई नहीं बतलाता कि ऐसा किस रीति से किया जाय।

"गीता के १२ वें अध्याय के १९ वें श्लोक में कहा गया है—सन्तुष्टो येनकेनचित्। इसका क्या अभिप्राय है? ईश्वर ने हमें जिस स्थिति में रख दिया है, क्या उसी में सन्तोष मानना चाहिए? फिर जेल में सरकार ने जो सुविधाएं दी हैं, उनमें क्यों न सन्तोष माना जाय? सन्तोष मानने में भी क्या कोई शर्त या मर्यादा हो सकती है?"

इन प्रश्नों का उत्तर क्रमशः नीचे देता हूं—

१. जो व्रत आप लें उसे स्पष्ट भाषा में लिख लें। उस समय कोई साक्षी मिल जाय तो उसके सामने ही व्रत लें। भविष्य में व्रत का कड़ा अर्थ ही निकालना ठीक है; उसे हल्का करने के लिए कोई मनमाना अर्थ नहीं ढूंढ़ निकालना चाहिए। मान लीजिए कि मैंने कभी शराब न पीने का व्रत लिया है। इस व्रत में देश की चर्चा नहीं आई है। मैं विलायत गया। स्वास्थ्य की दृष्टि से किसी ने शराब पीने का आग्रह किया। ऐसी दशा में, मैं यह नहीं कह सकता कि व्रत लेते समय तो मैं भारत में था इसलिए व्रत का पालन वहीं हो सकता है, विलायत में शराब पीने की स्वतन्त्रता है। व्रत में दवा का भी कोई उल्लेख नहीं है, अतः दवा के लिए भी शराब पीने की स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती।

२. दूसरी प्रवृत्तियों के समान प्रार्थना का भी समय निश्चित होना चाहिए। प्रार्थना का चाहे जो समय रखा जा सकता है, इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। सोने से पहिले और प्रातः उठकर, दातून करने के बाद, प्रार्थना करने का समय उत्तम है। सोकर उठने का समय निश्चित कर लेने की भी आवश्यकता है। चित्त की एकाग्रता तुरन्त ही नहीं प्राप्त हो जाती। नियमित रीति से प्रार्थना करने पर ही एकाग्रता आती है। चित्त यदि एकाग्र न हो, तो इसकी चिन्ता न करें, आप तो बस एक धुन के साथ नित्य प्रार्थना किये जायं।

३. डायरी लिखने का नियम करने के बाद बराबर लिखते जाना चाहिए। तत्काल नहीं, तो बाद को लाभ अवश्य होगा। डायरी लिखने की आदत ही हमें अनेक दोषों से बचा लेगी, कारण कि वह अपने दोषों की साक्षी-रूप रहेगी। उसमें अपने दोषों की चर्चा रहनी ही चाहिए। उन पर टीका करने की ज़रा भी आवश्यकता नहीं है। टीका अध्याहार ही होती है। आज अमुक पर क्रोध आया, आज अमुक को धोखा दिया, इतना ही उल्लेख काफी है। यह बहुत बुरा हुआ, रे मन! अब ऐसा नहीं करूंगा,—आदि लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपनी स्तुति के वचन लिखने ही नहीं चाहिए। निजकृत कर्मों और दोषों का उल्लेख काफ़ी है। डायरी में दूसरों के दोषों की चर्चा करना ठीक नहीं है।

४. यह प्रश्न ठीक मालूम नहीं होता। गीता की या मेरी भाषा सूत्र रूप में नहीं है। गीता की भाषा के साथ मेरी भाषा की तुलना न की जाय। यह बात

शोभा नहीं देती। गीता की भाषा मुझे आ जाय, तो अच्छा है; पर मैं उससे अभी दूर हूं। हमें जिस विषय का परिचय कम हो उस विषय को पढ़ें तो वह सूत्र रूप ही मालूम होगा। शास्त्रीय भाषा अपने विषय की पूर्ण भाषा है। वह बिना परिचय के सूत्र-जैसी मालूम होती है। यह बात अलग है और पतंजलि के सूत्रों की बात अलग है। पतंजलि के सूत्रों में तो बहुत अध्याहार है। यह बात गीता के सम्बन्ध में नहीं कही जाती। किन्तु गीता में प्राचीन शब्दों को गीताकार ने नवीन अर्थ में लिया है, अतः यह समझने में कठिन मालूम होती है। मेरी भाषा संक्षिप्त होती है, इसलिए उसमें गुण अवश्य है किन्तु वह अपूर्ण है। गीता की भाषा पूर्ण है। मेरी भाषा अपूर्ण है अतः भाषा पर अधिकार कम है, यह कहने का यहां अभिप्राय नहीं है। यहां तो यह समझना चाहिए कि मेरे विचार अपूर्ण हैं। इस-लिए मेरी भाषा समझने में कठिनता होती है। जब मेरे विचार पूर्णता को पहुंच जायंगे, तब वे इस रीति से प्रकट होंगे कि उनके समझने में सुगमता होगी। अपनी भाषा का इतना दोष स्वीकार करने के बाद में यह अवश्य कहूंगा, कि अनेक पाठक पढ़ने का पूरा प्रयत्न नहीं करते, इसी से पूर्णतया प्रकट किये हुए विचारों को भी वे नहीं समझते और बाद में दोष देते हैं। लेखक ने जो दृष्टान्त दिया है उसे ही लें। कातने की क्रिया चूंकि प्रत्यक्ष है, इससे वह प्रत्यक्ष बताई जा सकती है। पर चित्त की व्यग्रता तो अप्रत्यक्ष है। अभ्यास से व्यग्रता दूर होगी, ऐसा कहना पूर्ण है। हमारे पास उसकी प्रत्यक्षता बताने का कोई साधन नहीं है। यदि कभी विचारों का चित्र खींचना सीख लेंगे, तो अवश्य अभ्यास का भी कातने के जैसा ही चित्र अंकित कर सकेंगे। अभी तो यही कहा जा सकता है, कि धुन से प्रार्थना में लगे रहेंगे तो चित्त की अस्थिरता दूर हो जायगी। इसमें अभ्यासी की सत्यता या सत्यपरायणता पर आधार रखना पड़ता है। जो व्यक्ति प्रार्थना का ढोंग करता हो और व्यग्र रहता हो उसे कौन जानता है? अथवा जो नित्य अपने आपको धोखा देता हो और प्रार्थना के समय मन में अनेक संकल्प-विकल्प करता हो उसे कौन रोकता है? इसलिए अभ्यास की सफलता केवल अभ्यासी की सच्चाई पर निर्भर करती है। कातने की क्रिया में जो अप्रामाणिकता होती है वह प्रत्यक्ष दिखाई देती है, इसलिए वह कातनेवाले को बताई जा सकती है।

५. 'सन्तुष्टो येन केन चित्' का अर्थ यह नहीं है कि आलसी को जो मिल जाय उसी से वह सन्तोष मान ले। निरन्तर और यथार्थ उद्यम करने पर जो प्राप्त हो उसमें सन्तोष मानने का यहां आशय है। चूंकि पुरुषार्थ करने के उपरान्त दैवी वस्तु भी उसके लिए उत्तरदायी होती है, अतः प्रयत्न सफल हुआ न दिखाई दे, तो निराश होने की तनिक भी आवश्यकता नहींहै—ऐसा गीताकार का कथन है।

—ह० व०। ह० से० ३।११।१९३३]

- नियमित रीति से प्रार्थना करने पर......एकाग्रता आती है।
- शास्त्रीय भाषा अपने विषय की पूर्ण भाषा है।
- गीता की भाषा पूर्ण है।
- अभ्यास की सफलता केवल अभ्यासी की सच्चाई पर निर्भर करती है।

७४. सत्य का पन्थ ही श्रेय है

मेरा आज तक का अनुभव यह बतलाता है कि अपने को जो सत्य प्रतीत होता हो, उसी पन्थ पर चलने से अपना कल्याण है। महान् विभूतियों का मार्ग क्या है, उसे हमें स्वयं ही खोज निकालना है। जो विभूति एक के लिए आदर्श है, वही दूसरे को तुच्छ मालूम होती है। एक ही विभूति के दो अनुयायी उसके वचन और आचरण के दो परस्पर-विरोधी अर्थ निकालते देखे गये हैं।

—ह० ब०। ह० से०, १०।११।१९३३]

७५. सब से बड़ा यज्ञ

किसी पुरुष या स्त्री को तबतक अपने पास धन-दौलत रखने का कोई अधिकार नहीं, जबतक वह उसमें से गरीबों और असहायों के लिए उचित भाग अलग निकालकर न रख दे। यह एक सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्य है। भगवत् गीता में इस कर्त्तव्य को यज्ञ का नाम दिया गया है। जो यह यज्ञ नहीं करता वह चोरी का अन्न खाता है। गीता में अनेक प्रकार के यज्ञों का उल्लेख हुआ है, पर गरीब और असहाय की सेवा से बढ़कर और कौन यज्ञ हो सकता है?

—ह० से०, १९।१।१९३४]

७६. वचन-पालन

[सुश्री ओम को लिखे पत्र से]

वचन पालन करो तो मन और कर्म से। मन से तो वचन-पालन करने से जी चुराओ, और कर्म से पालन करने का पुण्य प्राप्त करो, यह असम्भव बात है। मुझे यह जरा भी पसन्द नहीं। मैंने क्या यह नहीं सिखाया कि जो करो, वह ठीक से करो और सुन्दरता से करो? छोटे या बड़े किसी काम में बेगार न टालो।

—२०।८।१९३४। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृ० २५४, २५५ अ० भा० स० से० सं०]

७७. सत्यानुसरण

[सुश्री ओम को लिखे पत्र से]

सच्ची रहना, सच्चा विचारना, सच्चा बोलना। यदि यह तुम्हारी शक्ति के बाहर हो तो मेरा त्याग करना।

—७।११।१९३४। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृ० २५७, अ० भा० स० से० सं०]

७८. विषयवासना

सभी ब्रह्मचारी न रहें यह तो बिल्कुल समझ में आने जैसी बात है। जो इन्द्रिय-निग्रह न कर सके वह खुशी से विवाह कर ले। परन्तु विषयों का गुप्त सेवन करे, यह मुझे असह्य लगता है। मनुष्य का पतन विषयों के गुप्त सेवन से होता है। ऐसा करने से मर्यादा नहीं रहती। मुझे गृहस्थाश्रम से तनिक भी द्वेष नहीं। यह आवश्यक स्थिति है; सुन्दर है। परन्तु आश्रम का तो अर्थ ही यह है कि उसके गर्भ में धर्म हो। गृहस्थ धर्म स्तुत्य है; स्वेच्छाचार निन्दनीय है। मेरा सारा विरोध केवल स्वेच्छाचार के खिलाफ है।

—सेगांव, ५।२।१९३७। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृ० २७५, न० जी० प्र० मं०]

० गृहस्थ धर्म स्तुत्य है; स्वेच्छाचार निन्दनीय है।

७९. उदारता आवश्यक है

एक मुसलमान भाई ने लम्बा पत्र भेजकर गांधी जी से अपनी शंकाओं का समाधान पूछा था। उनकी शंकाएं संक्षेप में क्रमशः इस प्रकार थीं:—

१. मैंने लम्बे अर्से से मांस खाना छोड़ दिया है, पर चूंकि आपने परिवार के अन्य सदस्यों या बच्चों की बुरी आदतें बलपूर्वक नहीं समझा-बुझाकर छुड़वाने का उपदेश किया है, इसलिए मुझे अब तक घरवालों के लिए मांस मंगाना पड़ता है। क्या मैं इस तरह अन्याय में सहयोग नहीं दे रहा हूं? मेरे लड़के यदि चोरी, बदमाशी करने लगें तो क्या मुझे उनको बलपूर्वक समझाना नहीं चाहिए या जरूरत पड़ने पर पुलिस में नहीं दे देना चाहिए? मांस की ही तरह चाय, लेमन, सोडा,

पान, सुपारी आदि के सम्बन्ध में भी मेरा विराग है, पर परिवार इनका सेवन करता है। क्या मुझे उनको जबरन बन्द नहीं करा देना चाहिए?

२. मैं व्यापारी-वर्ग का आदमी हूं। मुझे यह अनुचित लगता है कि एक ही चीज़ का भाव मोल-तोल करके घटाया-बढ़ाया जाय। कुछ नीतिशास्त्री कहते हैं कि यदि माल अच्छा बेचा जाय और सही परिमाण या मात्रा में बेचा जाय तो मोल-भाव करके कम-ज्यादा दाम लेने में कोई हर्ज नहीं। आपका इस सम्बन्ध में क्या मत है?

३. आप हज़रत मुहम्मद साहब के प्रति श्रद्धा रखते हैं। आपने कुरान का अध्ययन किया है। आप सदैव इस्लाम की प्रशंसा ही करते हैं। किन्तु हिन्दू-धर्म का एक भी दोषपूर्ण अंश आप स्वीकार नहीं करते। तब आप कुरान के त्रुटिपूर्ण अंश की आलोचना क्यों नहीं करते, उसे प्रमाण क्यों मानते हैं? मुझे तो अठारह-बीस वर्ष की उम्र से ही इस्लाम की त्रुटियां चुभ रही हैं।

इन शंकाओं का गांधी जी ने उत्तर दिया, वह यहां संग्रहीत है।—सम्पा०]

इन भाई ने मांस वगैरा छोड़ दिया है, यह तो स्तुत्य है ही। पर वे अपने कुटुम्बियों से इस कर्त्तव्य का पालन नहीं करा सकते। उनकी बुद्धि को समझाकर, उनके हृदय को पिघलाकर भले ही वे अपने जैसा बनाने का प्रयत्न करें। पर इससे अधिक कुछ करने में बलात्कार होने की सम्भावना है। आज तक जो वे खुद करते आये हैं, जिसे उन्होंने इस्लाम के विरुद्ध नहीं समझा। जिसे समाज करता है उसका एकाएक कुटुम्बियों से त्याग करवाना, यह तो ज्यादती समझी जायगी। वे खुद काफी विचार और मन्थन करने के बाद मांसादि का त्याग कर सके होंगे। वह त्याग दूसरे लोग तुरन्त करें, ऐसी आशा अगर वे रखते हैं तो इसमें अधीरता है। इसलिए नीति का नियम तो यह है कि मनुष्य को अपनी परीक्षा कड़ी-से-कड़ी करनी चाहिए, और दूसरों के प्रति उसे उतनी ही उदारता से काम लेना चाहिए। अनुभव ऐसा कहता है कि मनुष्य अपने साथ जितना सख्त हो तो भी अन्त में उसमें उदारता ही होती है। क्योंकि अपनी शक्ति के बाहर वह शायद ही जाता है। दूसरों के हृदय की उसे खबर नहीं होती। उसका जाननेवाला तो केवल ईश्वर है। इसलिए दूसरों से अपने जैसा कराने में बहुत उदारता से काम लेते हुए भी अधीर होने की पूरी सम्भावना रहती है। अपनी बात दूसरों के गले उतारने में उदारता-पूर्वक काम लेने से शीघ्र सफलता मिलने की सम्भावना है और इस तरह जो सफलता मिलेगी उसके स्थायी होने की अधिक सम्भावना रहेगी।

मांसादि के त्याग के साथ चोरी या हत्या की तुलना नहीं होती। चोरी और हत्या सर्वमान्य दोष है। और चूंकि ये कानून में गुनाह माने जाते हैं, इसलिए

सख्त सजा मिलती है। ऐसा होते हुए भी हम अपने सगे सम्वन्धियों को भी वलात्कारपूर्वक चोरी या खून करने से रोक नहीं सकते। पर चोरी या खून करने-वाला स्पष्ट अपराध करता है। यहां तो अपराध करने की कोई वात नहीं है। जिसको लेखक आज दोष मानता है वह कलतक उसकी नजर में दोप नहीं था, और आज भी वह उसके स्नेहीजनों की दृष्टि में निर्दोप ही है। ऐसी स्थिति में उनका व्यवहार सहन करना उसका धर्म है, ऐसी मेरी मान्यता है। मांसाहार, चाय, पान-सुपारी इत्यादि के गुण-दोष उनके सामने प्रेमपूर्वक रखे जा सकते हैं। पर किसी तरह का दवाव नहीं डाला जा सकता।

व्यापार में अनीति को जरा भी स्थान नहीं। चाहे जितना नुकसान उठाना पड़े तो भी ईमानदारी को नहीं छोड़ना चाहिए। अन्त में इसका परिणाम अच्छा ही होता है, पर ईमानदारी अच्छे परिणाम पर निर्भर न रहे। इच्छानुसार दाम लेने की छूट भले हो, पर अलग-अलग ग्राहकों से अलग-अलग कीमत लेना अनुचित ही माना जायगा। किसी स्नेही या ग़रीव आदमी से कम दाम लेने में मुझे कोई दोष दिखाई नहीं पड़ता। किसी चीज का दाम धनिकों के लिए एक, और ग़रीवों के लिए दूसरा, यह भी हो सकता है। इसमें कोई धोखावाजी नहीं। धोखावाज़ी या ठगी, किसे कहें, यह समझाने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।

अव दो शव्द इस्लाम के विषय में। मैंने जो कुछ लिखा है उस पर मैं अच्छी तरह क़ायम हूं। मैंने यह कहीं भी नहीं कहा कि मैं कुरान शरीफ़ या किसी धर्म-शास्त्र माने जाने वाले ग्रन्थ को अक्षरशः मानता हूं। पर धर्म की पुस्तकों के दोप वताना या उनकी आलोचना करना मेरा काम नहीं। उनके गुण वताना और हो सके तो उनका अनुसरण करना मेरा काम है। कुरान शरीफ में जो मुझे अच्छा नहीं लगता उसे वताने का मुझे अधिकार नहीं। यही वात पैगम्वर के जीवन के सम्वन्ध में समझनी चाहिए। उनके जीवन की जो वात मैं समझ सकता हूं उसकी तारीफ़ करता हूं। जो वात मैं नहीं समझता उसे मुस्लिम मित्रों और मुसलमान लेखकों द्वारा समझने का प्रयत्न करता हूं। इस प्रकार की वृत्ति रखकर ही मैं समस्त धर्मों के प्रति समानता रख सका हूं। हिन्दू धर्म के दोप वताने का का मुझे अधिकार है और मेरा कर्त्तव्य भी है। पर अहिन्दू लेखक जव हिन्दू-धर्म की आलोचना करते हैं या उसके दोप गिनाने वैठते हैं, तव अक्सर उसमें अज्ञान होता है। वे हिन्दू की आँख से वही चीज नहीं देख सकते, इसलिए सीधी चीज उन्हें टढ़ी नज़र आती है। इस प्रकार के अनुभव से भी मैं समझ सकता हूं कि जिस तरह अहिन्दू लेखकों की आलोचना मुझे दोषपूर्ण मालूम देती है उसी तरह अगर मैं

कुरान शरीफ़ या पैगम्बर की आलोचना करूं तो वह मुसलमान को सदोष क्यों नहीं मालूम होगी ?

—ह० व०। ह० से० २०।२।१९३७]

८०.- दृश्य तथा अदृश्य दोष

एक खादी सेवक लिखते हैं—

"आप कार्यकर्त्ताओं के सदाचार पर बहुत ज़ोर देते आ रहे हैं। आपने अधिकतर कामवासना से बचने को ही बहुत महत्व दिया है, जो ठीक भी है। जब कभी इस विषय में किसी कार्यकर्त्ता की गिरावट का उदाहरण आपके सामने आया है, आपके हृदय को सख्त चोट लगी है और आपने उसका उल्लेख 'हरिजन' में भी किया है। लेकिन क्या सदाचार का अर्थ केवल परस्त्री के प्रति कामवासना न रखना ही है? क्या झूठ बोलना, ईर्ष्या व द्वेष रखना सदाचार के विरुद्ध नहीं है? चूंकि हमारा समाज भी इन बातों को इतनी घृणा से नहीं देखता, जितनी घृणा से वह पर-स्त्री के साथ सम्बन्ध को देखता है, इसलिए शायद आप भी इन बातों पर अधिक ज़ोर नहीं देते। पर ये बुराइयां उससे कम नहीं, बल्कि आज की स्थिति में तो ये कहीं अधिक हानिकारक होती हैं।

"वैसे तो पापों की तुलना ही क्या? परन्तु हमारे आजकल के समाज में तो इन चीजों को अधिक बुरी निगाह से नहीं देखा जाता। जब एक जिम्मेदार मुख्य कार्यकर्त्ता एक दिन में चार-पाँच सफेद झूठ बोले और किसी पर झूठे इल्जाम लगाये, तो क्या हृदय विदीर्ण नहीं हो जाता? क्या इससे वह अपने को और समाज को हानि नहीं पहुँचाता?"

यह प्रश्न अच्छा है। दोषों में ऊंच-नीच की भावना नहीं होनी चाहिए। जहां तक मेरा सम्बन्ध है, मैं तो असत्य को सब पापों की जड़ मानता हूं। जिस संस्था में झूठ को बर्दाश्त किया जाता है वह संस्था कभी समाज-सेवा नहीं कर सकती, न उसका अस्तित्व ही अधिक दिनों तक रह सकता है। लेकिन मनुष्य जब झूठ का प्रयोग करता है, तब उस झूठ पर अनेक प्रकार के रंग चढ़ते हैं। उसका एक प्रकार व्यभिचार है। झूठ के ही रूप में झूठ शायद ही प्रकट होता है। व्यभिचारी तीन दोष करता है। झूठ का दोष तो करता ही है क्योंकि वह अपने पाप को छुपाता है। व्यभिचार को दोष मानते हुए करता है और दूसरे व्यक्ति का भी पतन करता है।

जितने और दोषों का वर्णन लेखक ने किया है वे सब गुणवाचक हैं। इनको हम न देख सकते हैं, न शीघ्र पकड़ सकते हैं। जब वे मूर्तिमन्त होते हैं, अर्थात् कार्य में परिणत होते हैं, तभी उनका विवेचन हो सकता है। उनके दूर करने का उपाय भी तभी सम्भव होता है। एक मनुष्य किसी से द्वेष करता है; जबतक उसका कोई परिणाम नहीं होता तबतक न उसकी कोई टीका की जाती है, न द्वेषी मनुष्य का सुधार किया जा सकता है। लेकिन जब द्वेषवश कोई किसी को हानि पहुँचाता है, तब उसकी टीका हो सकती है और वह दण्ड के योग्य भी बनता है। बात यह है कि समाज में और कानून में भी व्यभिचार काफी बर्दाश्त किया जाता है, यद्यपि व्यभिचार से समाज को हानि अधिक पहुँचती है। चोर को सख्त सजा मिलती है और बेचारा चोर समाज से बहिष्कृत हो जाता है। व्यभिचारी सफ़ेदपोश सब जगह देखने में आते हैं। उन्हें दण्ड नहीं मिलता। कानून उनकी उपेक्षा करता है। मेरा विश्वास है कि करोड़ों की सेवा करनेवाली संस्था में जैसे चोरों को, गुण्डों को स्थान नहीं होना चाहिए, ठीक इसी तरह व्यभिचारियों को भी नहीं होना चाहिए।

—ह० से० २७।२।१९३७]

⊙ मैं तो असत्य को सब पापों की जड़ मानता हूं।

८१. ब्रह्मचर्य

...ब्रह्मचर्य का जो अर्थ शास्त्रों में बताया गया है, वह अति शुद्ध है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी वह है, जिसने जन्म से ही ब्रह्मचर्य का पालन किया हो, जिसका वीर्य स्वप्न में भी स्खलित न हुआ हो। लेकिन मैं नहीं जानता था कि जो प्रजोत्पत्ति के हेतु सम्भोग करता है उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी क्यों माना गया है। कल यह बुलन्द बात मेरी समझ में आ गई। जो दम्पति गृहस्थाश्रम में रहते हुए केवल प्रजोत्पत्ति के हेतु परस्पर संयोग और एकान्त करते हैं, वे ब्रह्मचारी ही हैं।...

...शुद्ध विवाह में तो केवल ब्रह्मचर्य है। शुद्ध विवाह कब कहा जाय? दम्पति प्रजोत्पत्ति तभी करें जब जरूरत हो; और उसकी जरूरत हो तभी एकान्त (सेवन) भी करें। अर्थात् सम्भोग प्रजोत्पादन को कर्त्तव्य समझ कर तथा उसके लिए ही हो। इसके अतिरिक्त कभी एकान्त (सेवन) न करे। यदि कोई पुरुष इस प्रकार हेतुपूर्वक सम्भोग छोड़कर स्थिरवीर्य हो, तो वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी के समान है। सोचिए, ऐसा एकान्तवास जीवन में कितनी बार हो सकता है? वीर्यवान

नीरोग स्त्री-पुरुषों के लिए तो जीवन में एक ही वार ऐसा अवसर हो सकता है। ऐसे व्यक्ति नैष्ठिक ब्रह्मचारी के समान क्यों न माने जायं ?

—ह० से०, ३।४।१९३७]

८२. हृदयगत प्रेम का स्वरूप

...अगर हमारा प्रेम हृदयगत चीज़ है तो हमारा रास्ता तलवार का नहीं है। गाली का उत्तर हम गाली से नहीं दे सकते और न घूंसे का घूंसे से। प्रेम की सच्ची परीक्षा तो यह है कि हम मरकर दूसरों के अप्रेम का उत्तर दें।

—गांधी सेवा-संघ-सम्मेलन, डेलांग, २६।३।१९३८]

८३. शिकायत भी विषय है

[सुश्री मीरा वहिन को लिखे पत्र से]

...हमें शिकायत नहीं करनी चाहिए।...शिकायत करना भी एक विषय ही है। वह तवतक नष्ट नहीं होगा, जवतक हमें ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो जाते।

—दिल्ली, २४।९।१९३८। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० २६३, न० जी० प्र० मं०]

८४. श्रद्धा बनाम बुद्धि

"भाग्य ने मुझे यहां कुछ परले सिरे के नई रोशनीवाले वुद्धिवादी नौजवान अफसरों के वीच में ला पटका है। ये मेरी खिल्ली उड़ाते हैं, तिरस्कार करते हैं और मुझे निरा वुद्धू समझते हैं, क्योंकि मैं उनसे सहमत होकर भले और वुरे को, पाप और पुण्य को सिर्फ लोकाचार की वात नहीं समझता। अन्दर से जैसे मुझे कोई कहता है कि वे ग़लती पर हैं और मैं सही रास्ते पर हूं। मैं अव भी मानता हूं कि नीतिधर्म, शाश्वत पाप-पुण्य जैसी भी कोई चीज़ है।

"मेरे मित्र तर्क देकर मुझे विश्वास दिलाने की कोशिश करते हैं कि शराव पीने में उससे अधिक वुराई नहीं है जितनी चाय या कहवा पीने में है। उनका आग्रह है कि सदाचार आदमी के खाने-पीने में नहीं रखा है।......

"इसके सिवाय एक बात और है और इसी पर मैं खास तौर पर आपकी सलाह लेना चाहता हूं। वे कहते हैं कि व्यभिचार के निषेध का हेतु समाज के संगठन की रक्षा करना है। वे जोर देकर दलील यह देते हैं कि जिस सम्भोग से किसी को हानि नहीं पहुँचती और कोई झगड़ा खड़ा नहीं होता वह बिल्कुल स्वाभाविक है और इसलिए उसमें पाप नहीं है। उनका कहना है कि सम्भोग की अधिकता केवल उतनी ही बुरी है जितनी कि ज़रूरत से ज्यादा खा लेना। इससे अधिक कुछ नहीं। जो उसूल अपनी पत्नी के साथ उचित है उसमें कोई ऐसी बात नहीं हो सकती कि उसे दूसरी स्त्री के साथ अनैतिक समझा जाय। इसका फैसला परिस्थिति ही कर सकती है और सवाल सदा कम-ज्यादा का ही होता है। सदाचार-नीति जैसी कोई चीज़ नहीं है।"

यह एक नौजवान अफ़सर का पत्र है जिसे मैंने लगभग ज्यों-का-त्यों दे दिया है। ठीक इसी तरह के और भी बहुत से मामले होते हैं। जिन्होंने मेरे सत्य के प्रयोगों की पुस्तक यानी मेरी आत्मकथा पढ़ी है जानते हैं कि मुझे भी इसी तरह के अनुभव हुए हैं। जिन लोगों के सामने पत्र-लेखक की-सी कठिनाइयां हों उन सब लोगों को मेरी सलाह है कि उस पुस्तक का इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाला अध्याय पढ़ जायं। प्रलोभनों के आगे बेचारी बुद्धि की कुछ नहीं चलती। वहां तो श्रद्धा ही हमारी ढाल बन सकती है। बुद्धि तो उन्हीं लोगों का साथ देती दीखती है, जो छूट से शराब पीते और व्यभिचार करते हैं। असल बात यह है कि ऐसे अवसरों पर बुद्धि मारी जाती है। वह स्वभाव के पीछे-पीछे चलनेवाली होती है। क्या दो विरोधी पक्षों के वकील यह दिखाने की कोशिश नहीं करते कि न्याय उन्हीं की तरफ़ है? फिर भी दोनों में से एक की बात तो ग़लत होती ही है और यह भी हो सकता है कि दोनों की बात ग़लत हो, इसलिए प्रलोभन के हमले से बचने का एकमात्र प्रबल सहारा यही है कि मनुष्य अपनी सदाचार-नीति में दृढ़ विश्वास रखे।

लेखक को ललचानेवालों के तर्क देखने में तो उपयुक्त मालूम होते हैं। कोई ऐसी चीज़ तो नहीं है जिसे तीनों काल के लिए शुद्ध सदाचार कह सकें। लेकिन हम-जैसे अपूर्ण प्राणियों के लिए काल और स्थान के अनुसार जो सदाचार नियत है, वही धर्मरूप है। इस प्रकार शराब को दवा के रूप में दवा की खुराक में और डाक्टर-वैद्य की सलाह से लेने के सिवा और किसी भी तरह पीना विशुद्ध अनीति है। इसी तरह अपनी पत्नी के सिवा और किसी स्त्री को वासनादृष्टि से देखना निरा पाप है। ये दोनों स्थितियां तर्क-द्वारा भी सिद्ध की जा चुकी हैं। इसके विरुद्ध तो दलीलें हमेशा दी जाती रही हैं। ऐसी दलीलें तो ईश्वर के अस्तित्व के खिलाफ़ भी दी जाती रही हैं, हालांकि ईश्वर के सिवा और कुछ है ही नहीं। जो श्रद्धा

बुद्धि से परे है वही अनन्तकाल से हमारा एकमात्र आधार रही है। जो लोग इस नौजवान अफ़सर की-सी कठिनाई में हैं उन्हें मैं उसी श्रद्धा का मन्त्र भेंट करता हूं। मेरी श्रद्धा ने मुझे कई बार गिरते-गिरते बचाया है और वही अब भी बचा रही है। इसने मुझे कभी धोखा नहीं दिया। इससे अन्य किसी को धोखा हुआ हो, ऐसा जानने में नहीं आया।

—सेवाग्राम १८।१२।१९३९। ह० ज०। ह० से० ३०।१२।१९३९]

- काल और स्थान के अनुसार जो सदाचार नियत है, वही धर्म-रूप है।
- जो श्रद्धा बुद्धि से परे है, वही अनन्त काल से हमारा एक मात्र आधार
- रही है।

८५. आँखों का व्यभिचार

"मैं ग़रीब आदमी हूँ, मिल में नौकर हूं। मैं बड़े असमंजस में पड़ा हूं। जब कभी मैं बाहर जाता हूं तो किसी सुन्दरी का मुख देखकर विवश हो जाता हूं। मेरा संयम काफूर हो जाता है। कभी-कभी तो मुझे यहां तक डर रहता है कि कहीं मेरे हाथ से कोई असभ्य व्यवहार न हो जाय। एक बार मैंने आत्म-हत्या का विचार किया। मगर मेरी भली स्त्री ने मुझे बचा लिया। उसने सुझाया कि जब कभी घर से बाहर निकलो, मुझे साथ ले चला करो। इस सुझाव पर अमल तो हुआ, पर वह हमेशा व्यावहारिक नहीं है। अक्सर निराश होकर मैं सोचा करता हूं कि इन पापी आँखों को निकाल फेंकूं। लेकिन पत्नी का खयाल करके रुक जाता हूं। आप खुदा के बन्दे हैं। कोई उपाय बता सकते हैं?"

आप सच्चे और सीधे आदमी हैं। आपको मालूम होना चाहिए कि आपके जैसा ही हाल बहुत लोगों का है। आँख से व्यभिचार करना सामान्य रोग है। यह दिन-दिन बढ़ रहा है। इतना ही नहीं, इसे एक तरह की प्रतिष्ठा भी मिल गई है। मगर इससे आपको सन्तोष नहीं होना चाहिए। आपकी पत्नी बहादुर है। आपको उसके साथ बेवफाई नहीं करनी चाहिए। इससे तो विवाह एक खेल हो जाता है। आपको कामदेव रूपी शत्रु से डटकर लड़ना चाहिए। अपने मन में इस विचार का संचय कीजिए कि पर-स्त्रियां आपकी सगी बहिनें हैं। कामुक साहित्य, सिनेमा और अखबारों को भ्रष्ट करनेवाले कामोत्तेजक चित्र देखना छोड़ दीजिए। नीची निगाह करके चलिए और इस तरह चलते हुए अन्तर्यामी भगवान से प्रार्थना कीजिए कि वह आपका हृदय शुद्ध कर दे। साथ ही यह भी श्रद्धा रखिए कि वह आपको इस पाप-पंक से बचा लेगा। जरूरत हो तो काला चश्मा

लगायें। आपको पता चलेगा कि यह बड़ा बढ़िया बाहरी उपाय है। सचमुच बड़े शहरों में कोई तारीफ़ की बात नहीं होती। उनके भीमकाय और अव्यवस्थित होने से नाकों दम आ जाता है। रोज-रोज एक ही तरह का कोलाहल और एक ही तरह की सूरतें! अगर हम जड़ता के शिकार न हो जायं तो हमारी इन्द्रियां बार-बार वही भद्दा दृश्य देखती-देखती थक जायं। दिन में आपके सामने जो करने का काम हो उसमें डूबे रहिए और रात को किसी सादी-सी ज्योतिष की पुस्तक के सहारे थोड़ा आकाश-दर्शन कीजिए। आपकी आँखों के सामने वह दृश्य आयेगा जो दुनिया के किसी सिनेमा में न मिल सकेगा। सम्भव है, किसी दिन आपको असंख्य तारागणों की जगमगाहट में ईश्वर साक्षात् दिखाई दे जाय। आप अपने को इस दिव्य दृश्य के साथ एकतार करलें तो आपको ब्रह्माण्ड का सुकोमल शान्तिप्रद संगीत भी सुनाई देने लगेगा। रोज़ रात को ऐसा करके देखिए। आपकी दृष्टि और हृदय दोनों शुद्ध हो जायंगे। परमात्मा आपका भला करे।

—ह० से० ३।२।१९४०]

८६. क्या व्रतों का दोहराना उचित है?

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—इस बात से सब सहमत हैं कि केवल जबान से प्रार्थना का रोज़-रोज़ दोहराया जाना निरर्थक से भी बुरा है। आत्मा पर उसका प्रभाव सुलानेवाला पड़ता है। मुझे बहुधा आश्चर्य होता है कि आप नित्य की दिनचर्या बनाकर सुबह-शाम ग्यारह महाव्रतों के दोहराये जाने को प्रोत्साहन क्यों देते हैं? क्या इसका हमारे बच्चों की नैतिक चेतना पर शिथिल करनेवाला असर नहीं पड़ सकता? क्या इन महाव्रतों की शिक्षा देने का कोई और अच्छा तरीका नहीं है?

उत्तर—अगर बार-बार दोहराने की क्रिया यान्त्रिक ही न हो तो उससे अद्भुत परिणाम होता है। इसी कारण मैं माला को अन्धविश्वास की चीज नहीं समझता। इससे चंचल मन को स्थिर करने में मदद मिलती है। मगर व्रतों को रोज दोहराने की बात अलग है, इससे साधक को नित्य उठते और सोते समय स्मरण होता है कि उसने ग्यारह व्रत लिये हैं और उन्हीं के अनुसार उसे आचरण करना है। अवश्य ही, यदि कोई इस भ्रम में हो कि केवल रटने से पुण्य मिल जायगा और जबान से व्रत को दोहराता हो तो उसका असर जाता रहेगा। आप यह पूछ सकते हैं कि व्रतों को दोहराने की जरूरत ही क्या? आप जानते हैं कि आपने व्रत लिये हैं; आपसे उनके पालन की आशा रखी जाती है। इस तर्क में बल है।

पर अनुभव वताता है कि जानवूझ कर रटने से निश्चय को वल मिलता है। दुर्वल शरीर के लिए वलवर्द्धक औपधियां जो काम देती हैं दुर्वल मन और आत्मा के लिए वही काम व्रत देते हैं। जिस तरह तन्दुरुस्त शरीर के लिए ताक़त की दवाओं की जरूरत नहीं होती ठीक उसी तरह सवल मन व्रतों और उनके नित्य स्मरण विना अपना स्वास्थ्य वनाये रख सकता है। पर व्रतों का ध्यानपूर्वक विचार करने से मालूम हो जायगा कि हममें से अधिकांश इतने दुर्वल हैं कि हमें इनकी सहायता की आवश्यकता पड़ती है।

— सेवाग्राम, १।४।१९४०। ह० से०, ६।४।१९४०]

८७. प्रायश्चित्त

दोष सव करते हैं लेकिन उसको स्वीकार करना उस दोष का सच्चा प्रक्षालन (प्रायश्चित्त) है।

-- सेवाग्राम, ३।६।१९४०। वापू के पत्र : वीवी अमतुस्सलाम के नाम, पृ० १६६, न० जी० प्र० मं०]

८८. गुणग्राहिता

हम गुणग्राही वनकर रहें। दूसरों का अवलोकन करके हम उनके गुणों का अनुकरण करें और अवगुणों को सहन करें, क्योंकि अवगुणों को दूर करने का सवसे सच्चा उपाय यही है।

-- महावलेश्वर, ३।५।१९४५। वापू के पत्र : मणिवहिन पटेल के नाम, पृ० १३८, न० जी० प्र० मं०]

८९. त्याग और सेवा

पावन शरीर सेवा के लिए ही वनाया गया है, भोग के लिए हर्गिज नहीं। सुखी जीवन का रहस्य त्याग में है। त्याग ही जीवन है। भोग मृत्यु है। इसलिए हरएक का हक है और उसकी इच्छा होनी चाहिए कि वह निष्काम भाव से सेवा करते हुए सवा सौ वर्ष जिये। ऐसा जीवन पूरी तरह और एकमात्र सेवा के लिए ही समर्पित होना चाहिए।

ऐसी सेवा के खातिर किया हुआ त्याग अवर्णनीय आनन्द देता है। उसे कोई छीन नहीं सकता, क्योंकि इस अमृत का स्रोत भीतर होता है। वही जीवन को पोषण देता है। उसमें चिन्ता या अधीरता की गुंजाइश नहीं हो सकती। इस आनन्द के बिना दीर्घ जीवन असम्भव है, और सम्भव भी हो तो उसका कोई मूल्य नहीं है।

—ह० ज० २४।२।१९४६]

- सुखी जीवन का रहस्य त्याग में है।
- त्याग ही जीवन है। भोग मृत्यु है।

९०. दान की मर्यादा

एक सज्जन के लिखने का निचोड़ यह है—

"आप धनिकों से काफ़ी दान लेते हैं। उसका सदुपयोग ही होता होगा, इसमें शक नहीं। सवाल तो यह है कि क्या ऐसा दान किसी भी काम में ला सकते हैं? क्या उससे दानियों की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ती? इसमें तो ब्लैक मार्केटवाले भी आते हैं। इस दान से क्या गरीबों को कुछ भी लाभ हो सकता है?"

इसकी तह में सवाल तो यह आता है कि दानमात्र दूषित है। इसमें भी मेरे मन में शक नहीं है। लेकिन दुनिया इस तरह नहीं चलती। गीताकार ने तो कहा है कि सब आरम्भ दूषित होते हैं, इसलिए सब कार्य अनासक्ति से ही करो। ईशोपनिषद् कहता है, सब ईश्वरार्पण करके ही करो। अगर सब लोग दान लेना ही बन्द कर दें, तो भी हमें मानना पड़ेगा कि धनिक धन इकट्ठा करना नहीं छोड़ेंगे हम यह भी जानते हैं कि चन्द धनिक ऐसे कंजूस होते हैं कि कुछ दान ही नहीं देते। चन्द दुरुपयोगी दान देते हैं। इसलिए इतना ही कहा जा सकता है कि दान लेने में हम मर्यादा रखें, स्वार्थलाभ के लिए एक कौड़ी भी न लें। जो कुछ लें, उसमें ईश्वर को साक्षी समझें।

हाँ, मैं इतना अवश्य कहूंगा कि अगर हम किसी वर्ग के या व्यक्ति के प्रति कटु भाव रखते हों, तो हमें उनका दान नहीं लेना चाहिए। जिनके मन में नीति-अनीति का भाव पैदा होता है उनके लिए ही ऐसी चर्चा हो सकती है।

—शिमला, ५।५।१९४६। ह० से०, १२।५।१९४६]

९१. दोष-दर्शन

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

हम दूसरों के दोष न देखें; अपने ही देखें। इसी से जीवन सुखी होता है और हम स्वच्छ रहते हैं।

—सेवाग्राम, २४।८।१९४६। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृ० २४७, अ० भा० स० से० सं०]

९२. पर-दोष-दर्शन त्याज्य है

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

तुम अपने दोष और दूसरों के गुण ही देखोगी तो सपाटे से आगे बढ़ोगी और सुख अनुभव करोगी। दुःख जैसी कोई बात नहीं मालूम होगी। हमें किसी से कोई आशा रखने का कोई अधिकार नहीं है। हम देनदार हैं इसी कारण जन्म लेते हैं। लेनदार तो हैं ही नहीं। यह बात यदि तुम्हारी समझ में आ जाय तो सारा जगत् तुम्हें सरल मालूम होगा। यह ज्ञानवार्त्ता नहीं है, परन्तु जीवन-प्रवाह सरलता से बहाने का सही मार्ग है।

—नई दिल्ली, ११।९।१९४६। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृ० ३५९, अ० भा० स० से० सं०]

९३. क्रोध

क्रोध को जीतना होगा। यह काम जंगलों में होता नहीं है। क्रोध का मौका आने पर भी जब अंकुश में रहता है, तभी दबता है कि नहीं, यह समझ में आ सकता है।...

—दिल्ली, ५।५।१९४७। बापू की छाया में, बलवन्तसिंह, पृ० ३१२, संस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

९४. सेवा-धर्म

तो यह शरीर हमें इसलिए दिया गया है कि हम उसके द्वारा सारी सृष्टि की सेवा कर सकें।

और जिस तरह कोई क्रीतदास अपने मालिक से अन्न-वस्त्र आदि पाता है उसी तरह इस विश्व का स्वामी दयापूर्वक हमें जो कुछ दे दे वही हमें कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार करना चाहिए। हमें जो कुछ मिलता है उसे सचमुच उसकी दया का दान ही कहना चाहिए, क्योंकि हम तो उसके ऋणी हैं और जिस तरह ऋणी मनुष्य अपना कर्त्तव्य करता है तो उसे अपने कर्त्तव्य-पालन का कोई बदला पाने का अधिकार नहीं होता, उसी तरह हमें भी अपने कर्त्तव्य-पालन का बदला पाने का अधिकार नहीं है। इसलिए यदि हमें वह न मिले तो अपने स्वामी को हम दोष नहीं दे सकते। हमारा शरीर उसका है, वह अपनी इच्छा के अनुसार चाहे उसका पालन करे चाहे उसे फेंक दे। यह कोई ऐसी बात नहीं जिसकी शिकायत की जाय या जिसे दयनीय माना जाय, उल्टे यदि हम स्रष्टा के विधान में अपनी उचित जगह को ठीक-ठीक समझ लें तो हम महसूस करेंगे कि यह न केवल एक स्वाभाविक बल्कि सुखद और अभीष्ट स्थिति भी है। अलबत्ता, यदि हम इस सर्वोच्च आनन्द का अनुभव करना चाहते हों तो हममें वैसी प्रबल श्रद्धा अवश्य होनी चाहिए। यह आदेश सभी धर्मों में दिया गया है कि अपने विषय में बिल्कुल चिन्ता मत करो, सारी चिन्ता ईश्वर पर छोड़ दो।

इस बात से किसी को डरने की आवश्यकता नहीं। जिस मनुष्य ने अपने-आपको सेवाकार्य में हृदय से समर्पित कर दिया है वह उसकी आवश्यकता दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक अनुभव करेगा और उसकी श्रद्धा निरन्तर समृद्ध होगी। जो मनुष्य स्वार्थ का त्याग करने के लिए तैयार नहीं है और अपने जन्म की मर्यादाएं स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है वह सेवा के मार्ग पर नहीं चल सकता। जाने-अनजाने हममें से हरएक कुछ-न-कुछ सेवा करता ही है। अगर हम यह सेवा समझ-बूझकर करने की आदत डाल लें तो सेवा करने की हमारी इच्छा बलवान बनेगी और वह न केवल हमारे लिए बल्कि सारी दुनिया के लिए सुख का निर्माण करेगी।

इसके सिवा न सिर्फ सज्जनों को बल्कि हम सब लोगों को अपने समस्त साधन मानव-जाति की सेवा के लिए समर्पित कर देना चाहिए। और यदि नियम ऐसा ही हो तो जाहिर है कि भोगेच्छा को जीवन में स्थान नहीं हो सकता और उसकी जगह त्याग को मिलनी चाहिए। यह त्याग का कर्त्तव्य ही मनुष्य जाति को पशु-जगत् से से अलग करता है और उसे श्रेष्ठता प्रदान करता है।

कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि जीवन की इस कल्पना में आनन्द और कला को कोई स्थान नहीं रहता और वह गृहस्थ का विचार नहीं करती। लेकिन त्याग का हमारा अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य दुनिया को छोड़ दे और जंगल में जाकर रहे।

हम तो इतना ही कहते हैं कि जीवन की हमारी सारी प्रवृत्तियां त्याग भावना से प्रेरित होनी चाहिएं। ऐसा तो कोई नहीं करेगा कि यदि गृहस्थ व्यक्ति जीवन को कर्त्तव्य रूप समझें तो वह गृहस्थ नहीं रहता। जो व्यापारी अपना काम यज्ञ की भावना से करता है, उसके हाथों से करोड़ों रुपयों का लेन-देन होगा, किन्तु यदि वह यज्ञ के कानून को पालता है तो वह अपनी योग्यताओं का उपयोग सेवा के लिए ही करेगा। इसलिए वह न तो किसी को ठगेगा और न अनुचित लाभ उठाने के लिए सट्टा करेगा। वह सादा जीवन वितायेगा, किसी सजीव प्राणी को किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचायेगा और खुद लाखों का नुकसान सह लेगा, लेकिन किसी दूसरे को हानि नहीं पहुंचायेगा। कोई ऐसा ख्याल न करे कि इस किस्म का व्यापारी केवल मेरी कल्पना की ही दुनिया में है। दुनिया के सौभाग्य से ऐसे व्यापारी पश्चिम में भी हैं और पूर्व में भी हैं। यह सच है कि ऐसे व्यापारी अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं। लेकिन यदि इस आदर्श को सही सिद्ध करनेवाला एक भी उदाहरण मिल जाता है तो फिर उसे काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि यज्ञ की भावना से कर्म करनेवाले ये लोग अपनी जीविका अपने कर्म से ही प्राप्त करते हैं। लेकिन जीविका उनका उद्देश्य नहीं होता; उनकी प्रवृत्ति का मात्र आनुषंगिक फल होता है। यज्ञमय जीवन कला का शिखर है और वह सच्चे आनन्द से परिपूर्ण होता है।

जो मनुष्य सेवा की इच्छा रखता है, वह अपनी सुविधाओं की तनिक भी चिन्ता नहीं करेगा। उनका विचार वह भगवान पर छोड़ देता है, वह चाहे तो उनकी व्यवस्था करे और न चाहे तो न करे। इसलिए वह उसे मिलनेवाली सारी वस्तुओं का संग्रह करके अपना बोझ नहीं बढ़ायेगा और उनमें से केवल उतनी ही वस्तुएं लेगा जिनकी उसे अनिवार्य आवश्यकता है और बाकी को छोड़ देगा। असुविधा की स्थिति में भी वह शान्त, क्रोध-रहित और प्रसन्न रहेगा। जिस तरह सदाचार का पुरस्कार सदाचार ही है, उसी तरह सेवक के लिए उसकी सेवा ही उसका पुरस्कार होगी और उसमें ही वह सन्तोष मानेगा।

दूसरों की स्वेच्छापूर्वक की गई सेवा में सेवक को अपनी सर्वोच्च क्षमता का उपयोग करना चाहिए और अपनी सेवा की तुलना में दूसरों की सेवा को प्राथमिकता देनी चाहिए। सच तो यह है कि सच्चा भक्त मानव-जाति की सेवा में अपने को पूरी तरह समर्पित कर देता है।

—यरवदा मन्दिर, पृ० ५४-५५, संस्करण १९४५]

- **हमें जो कुछ मिलता है, उसे सचमुच उस (ईश्वर) की दया का दान ही कहना चाहिए।**

- अपने विषय में बिल्कुल चिन्ता मत करो, सारी चिन्ता ईश्वर पर छोड़ दो।
- जो मनुष्य स्वार्थ का त्याग करने के लिए तैयार नहीं है और अपने जन्म की मर्यादाएं स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है, वह सेवा के मार्ग पर नहीं चल सकता।
- भोगेच्छा को जीवन में स्थान नहीं हो सकता।
- त्याग का कर्तव्य ही मनुष्य-जाति को पशु-जगत् से अलग करता है।
- त्याग का......यह अर्थ नहीं कि मनुष्य दुनिया को छोड़ दे और जंगल में जाकर रहे।
- जीवन की सारी प्रवृत्तियां त्याग-भावना से प्रेरित होनी चाहिएं।
- यज्ञमय जीवन कला का शिखर है और वह सच्चे आनन्द से परिपूर्ण होता है।
- सदाचार का पुरस्कार सदाचार ही है।
- सेवक के लिए उसकी सेवा ही उसका पुरस्कार होगी।
- सच्चा भक्त मानव-जाति की सेवा में अपने को पूरी तरह समर्पित कर देता है।

९५. काम-क्रोध भाई हैं

मनुष्य को पापकर्म की ओर ढकेल ले जानेवाला काम है और क्रोध है। दोनों सगे भाई की भांति हैं; काम की पूर्ति के पहले ही क्रोध आ धमकता है। काम-क्रोधवाला रजोगुणी कहलाता है। मनुष्य के महान् शत्रु यही हैं। इनसे नित्य लड़ना है।

— मंगलप्रभात। गीता-बोध, पृ० २०. स० सा० मं०, संस्करण १९५४]
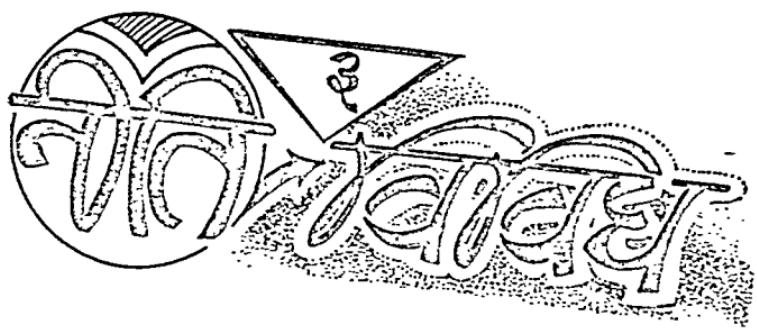
९६. मेरा सिद्ध कवच
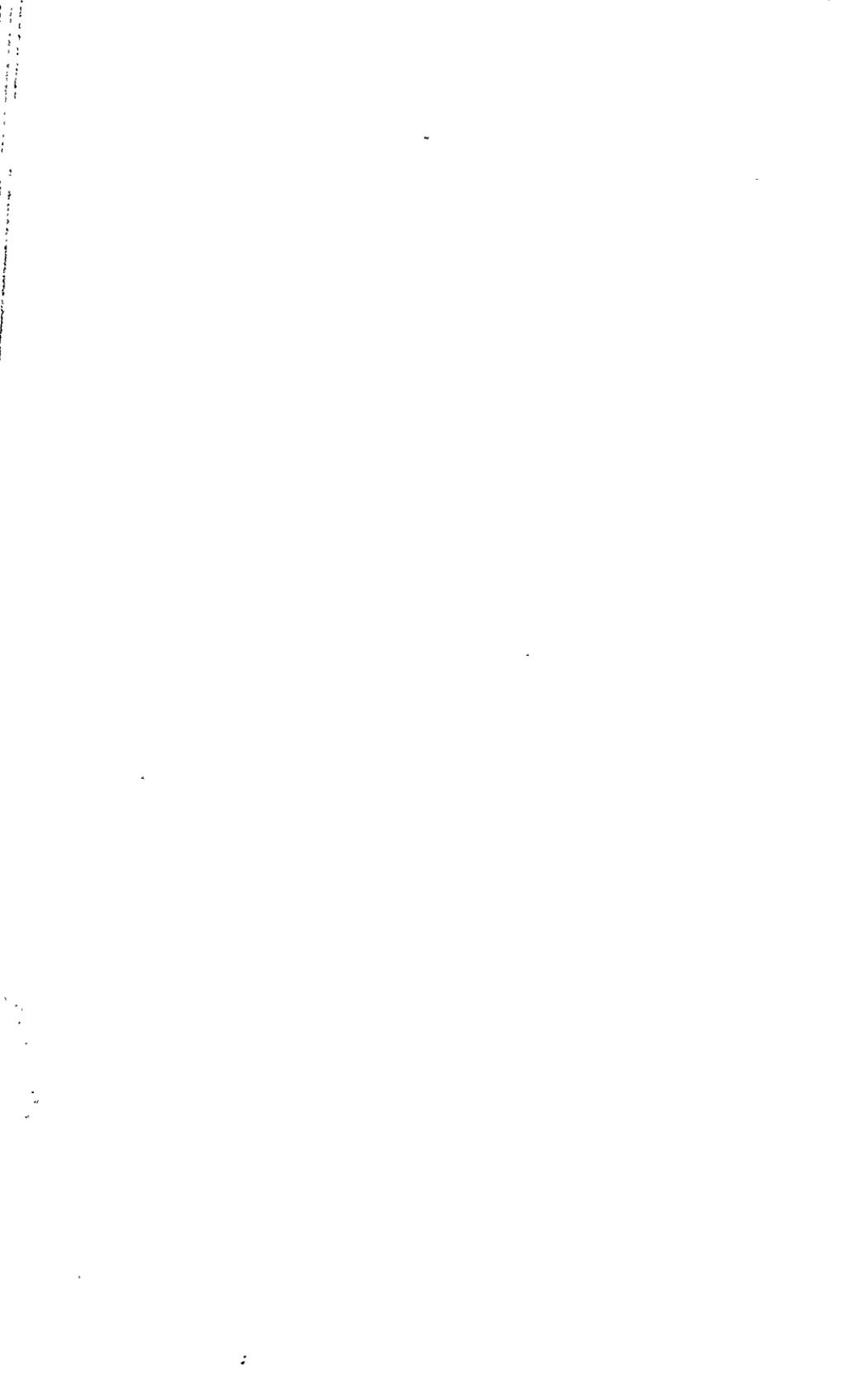
मैं आपको एक सिद्ध कवच दूं। जब कभी आपको शंका हो, या जब स्वार्थ आप पर छा जाय तब आप यह उपाय आजमाइए।

जो गरीब-से-गरीब और असहाय-से-असहाय मनुष्य आपने देखा हो उसका चेहरा याद करके अपने मन से पूछिए कि आप जो कदम उठाने का विचार कर रहे हैं क्या वह उस आदमी के किसी काम का होगा? क्या उससे कोई लाभ हो

सकेगा? क्या इस कदम से उसे अपने जीवन और भाग्य पर फिर से नियन्त्रण प्राप्त हो सकेगा? दूसरे शब्दों में क्या इससे हमारे भूखे और आध्यात्मिक भोजन से वंचित लाखों देशवासियों को स्वराज्य मिल जायगा?

फिर आप देखेंगे कि आपकी शंकाएं और आपका स्वार्थ काफूर हो जायगा।
—'दिस वाज बापू'. पृ० ४८, संस्करण १९५४]

१. सदाचरण की आकांक्षा

[श्री मणिलाल गांधी को लिखे पत्र से]

तुम्हारी सेवा-भावना से अधिक मुझे तुम्हारे सदाचरण की आकांक्षा है। यदि तुम सदाचरण से न फिसले तो समझूंगा कि मुझे सब कुछ मिल गया।

—'विटेनसिगल', केपटाउन, फाल्गुण सुदी ३। २८।२।१९१४। सं० गां० वां, खण्ड १२, पृ० ३५७]

२. नीति की रक्षा में मृत्यु

[श्री ब्र० गो० सरैया को लिखे पत्र से]

जो कुछ आ पड़े उसे आपको धीरज से सहन करना चाहिए और नीति की रक्षा करते हुए मृत्यु भी स्वीकार करनी चाहिए।...

—अहमदाबाद, पौष सुदी १०, ३।१।१९१७। सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृ० ३२८]

३. आसक्ति-त्याग

[श्री प्रभुदास गांधी को लिखे पत्र से]

मैं चाहता हूं कि तुम यह समझ सको कि मैं आश्रम में न होऊं तो भी वहां बहुत कुछ है। यदि मेरा शरीर वहां होने से ही आश्रम में जीवन दिखाई देता हो, तो यह स्थिति ठीक नहीं है क्योंकि शरीर तो आखिर नष्ट होगा ही। यदि वहां आत्मा की उपस्थिति मालूम होती हो तो ठीक है क्योंकि वह सदा वहां बनी हुई है। हम जिस पर प्रेम रखते हैं, उसके शरीर के प्रति अपनी आसक्ति ज्यों-ज्यों छोड़ते हैं, त्यों-त्यों उसके प्रति हमारा प्रेम विशुद्ध और विस्तीर्ण होता है।

—बम्बई, २।२।१९१८। गुजराती से। 'महादेव भाईनी डायरी' खण्ड १४। सं० गां० वां० खण्ड १४, पृ० १६७]

४. प्रतिज्ञा का मूल्य

आप यदि रामायण पढ़ेंगे तो समझेंगे कि प्रतिज्ञा का मूल्य बहुत बड़ा है। अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहने वाले को मोक्ष मिल सकता है। चाहे जितने संकट आयें, आकाश-पाताल एक हो जाय, किन्तु आप अपनी प्रतिज्ञा पर आरूढ़ रहें :

— चिखोदरा में दिये गये भाषण से, १७।४।१९१८। गुजराती। 'खेड़ा सत्याग्रह।' स० गां० वां० खण्ड १४, पृ० ३३७]

५. स्वच्छता और आध्यात्मिक प्रगति

मैं पूरी तरह आश्वस्त हूं कि हमारे देशवासी जबतक स्वच्छ नहीं रहते, आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकते।

— मेरठ, २२।१।१९२०। यं० इं०, २५।२।१९२०। अंग्रेज़ी से अनूदित। 'क्लेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी', खण्ड १६, पृ० ४९५]

६. नीति-विरुद्ध धर्म-सिद्धान्त त्याज्य हैं

मैं किसी ऐसे धार्मिक सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता, जो बुद्धि को न जांचे और नैतिकता के विरुद्ध हो। धार्मिक भाव अनैतिक न हो तो बुद्धिसंगत न होने पर भी मैं उसे सहन कर लेता हूं।

— यं० इं०, २१।७।१९२०]

७. भय अनुचित

मनुष्य का डर रखना यह सूचित करता है कि हमारा ईश्वर पर अविश्वास है। जिन्हें यह विश्वास न हो कि ईश्वर हमारे चारों ओर है, सर्वव्यापी है, या यह विश्वास शिथिल हो वे अपने बाहु-बल पर विश्वास रखते हैं।

— न० जी०। हि० न० जी०, १४।९।१९२४]

८. मेरा धर्म : सेवा

मेरा धर्म-सिद्धान्त है ईश्वर की और इसलिए मनुष्य जाति की सेवा करना पर यदि एक भारतवासी ने नाते मैं भारत की और एक हिन्दू के नाते भारतीय

मुसलमानों की सेवा न करूं तो मैं न ईश्वर की सेवा कर सकता हूं, न मनुष्य जाति की।

—यं० इं० । हि० न० जी०, २६।१०।१९२४]

९. सामान्य सिद्धान्त सब धर्मों में एक हैं

मैं समझता हूं कि कुछ सामान्य सिद्धान्त तो सब धर्मों में हैं—जैसे सच बोलना, किसी को दुःख न देना, अतएव उनका आचरण करनेवाला जितना ईसाई है, उतना ही हिन्दू है और उतना ही मुसलमान माना जा सकता है। फिर भी मुझे अपने धर्म के द्वारा काफ़ी शान्ति मिल रही है। यदि उसमें न मिलती हो और अन्य किसी में मिलती हो तो मैं जरूर उसे अंगीकार कर लूं।

—हि० न० जी० ९।११।१९२४]

१०. प्रायश्चित्त

...विधि और निषेध-सम्बन्धी पापों के लिए प्रायश्चित्त अवश्य करना पड़ता है।...ईसाई धर्म का मुझपर बहुत ऋण है, परन्तु प्रायश्चित्त का भाव मैंने उससे नहीं सीखा।...प्रायश्चित्त का भाव मुझे हिन्दू-धर्म से मिला है। तपश्चर्या के हजारों दृष्टान्त हिन्दूधर्म में भरे पड़े हैं।

—न० जी० । हि० न० जी० ७।१२।१९२४]

११. शक्ति और उसकी कार्यविधि

जो शक्ति जितनी ही उत्तम होती है, वह उतनी ही सूक्ष्म होती है और मौन रूप से काम करती है।

—यं० इं०। हि० न० जी ७।१२।१९२४]

१२. दंगा

मैं आप लोगों से इतना ही कहता हूं कि दंगे से मत डरो।...जो गये हैं उनका कभी नाश नहीं हो सकता।

—रावलपिण्डी, १०।१२।१९२४। न० जी०। हि० न० जी०, २१।१२।१९२४]

१३. न पापे प्रति पापः स्यात्

पाप के विरुद्ध पाप करके आप उसका नाश नहीं कर सकते। वेद या महाभारत यह नहीं सिखाते कि यदि मन्दिर तोड़ा गया तो मस्जिद भी तोड़ी जाय, या हमारी वहिन पर अत्याचार हुआ तो दूसरे की वहिन पर भी अत्याचार करके उसका वदला लिया जाय। मेरा धर्म तो कहता है कि यदि तुम उसकी रक्षा करते हुए प्राण दे दोगे तो जीवित ही रहोगे।

—रावलपिण्डी, १०।१२।१९२४। न० जी०। हि० न० जी०, २१।१२।१९२४]

१४. विश्वास

हम...एक दूसरे का विश्वास करें और हम सब सही-सलामत रहेंगे। एक दूसरे का विश्वास करने का अर्थ यह कभी नहीं हो सकता कि हम जवानी तो एक दूसरे के प्रति विश्वास दिखायें और हृदय में अविश्वास को ही स्थान दें। यह सचमुच भीरुता ही है। भीरु-भीरु में या भीरु और वीरों में मित्रता नहीं हो सकती।

—यं० इं०। हि० न० जी०, २१।१२।१९२४]

१५. आत्म-रक्षा

आत्म-रक्षण के दो तरीके हैं। सबसे अच्छा और प्रभावशाली कार्य है अपने स्थान पर विना वचाव किये जोखिम उठा लेना। दूसरा अच्छा किन्तु उतना ही गौरवपूर्ण तरीका है, आत्मरक्षार्थ वीरता से लड़ना और सबसे ज्यादा खतरनाक स्थिति में भी अपने को डाल देना।

—यं० इं०। हि० न० जी०, २१।१२।१९२४]

१६. देवासुर-संग्राम

मेरे दिल में खुदा और शैतान,[1] अहुरमज्द और अहरिमान[2] की सनातन लड़ाई जोर-शोर से हो रही है। और यह (दिल) उनके दूसरे असंख्य रणक्षेत्रों की तरह

---

१. मुस्लिम धर्मग्रन्थ कुरान के अनुसार क्रमशः दैवी और आसुरी शक्तियां।
२. पारसी धर्मग्रन्थ जेन्द अवेस्ता के अनुसार क्रमशः सात्विकी और तामसी शक्तियां।

एक खासा मैदाने जंग हो रहा है।...दूसरों की चिन्ता न करना अहुरमज्द—देवता, का रास्ता है। अहरिमान हमें अपने से दूर ले जाकर अपने जाल में फांस लेता है। ईश्वर न कावा में है, न काशी में। वह तो घट-घट में व्याप्त है; हर दिल में मौजूद है।...

—यं० इं०। हि० न० जी०, १।१।१९२५]

१७. भ्रामक मनोदशा

...वदकिस्मती से दुनिया में वहुत-सी वातें अपनी मनोदशा के अनुसार ही करनी पड़ती हैं। यदि मैं भूल से रस्सी को साँप समझ लूं तो सम्भव है कि घवराहट के कारण मेरी हवाइयां उड़ने लगें और मैं अपने साथ खड़े उन लोगों के मनोरंजन का सावन वन वैठूं, जो जानते हैं कि दरअसल वह रस्सी है। 'मन एव मनुष्याणां[1] कारणं वन्धमोक्षयो:।'

—हि० न० जी०, १।१।१९२५]

१८. दिल साफ़ कीजिए

मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप अपना दिल साफ़ कीजिए, प्रेम करना सीखिए और अपने हृदय को समुद्र की तरह विशाल वना लीजिए। क्या कुरान शरीफ और क्या गीता, दोनों का यही उपदेश है। आप काजी न वनें; यदि वनेंगे तो आपके दोप देखने वाले भी हजारों निकल आयेंगे। ईश्वर ही एक न्यायमूर्ति है। आपके अन्दर अनेक शत्रु घर किये वैठे हैं; अनेक शत्रुओं ने आपको घेर रखा है। फिर भी ईश्वर उनसे आपकी रक्षा करता है और आपको अपने करुणा-कटाक्ष से शीतल करता है।...

—हि० न० जी०, ८।१।१९२५]

● ईश्वर ही एक न्यायमूर्त्ति है।

१९. सच्चे सैनिक का लक्षण

गीता कहती है कि सैनिक वह है जो खतरे में पीठ नहीं दिखाता।

—यं० इं०। हि० न० जी०, ८।१।१९२५]

---

१. मन ही मनुष्य की मुक्ति और वन्धन का कारण होता है।

२०. रोटी बनाम आत्म-सम्मान

मनुष्य सिर्फ रोटी खाकर ही नहीं जीता। बहुत से लोग भोजन से आत्म-सम्मान को अधिक पसन्द करते हैं।
—यं० इं०। हि० न० जी०, ५।२।१९२५]

२१. बन्धुत्व धर्म है

बन्धुत्व का अर्थ यह नहीं कि जो आपके भाई बनें, जो आपको चाहें उनके आप भाई बनें। यह तो सौदा हुआ, बदला हुआ। बन्धुत्व में व्यापार नहीं होता। मेरा धर्म तो मुझे यह शिक्षा देता है कि बन्धुत्व मनुष्य के साथ नहीं, प्राणिमात्र के साथ होना चाहिए।...सब धर्म प्राणिमात्र के बन्धुत्व का उपदेश करते हैं।
—न० जी०। हि० न० जी०, २७।८।१९२५]

२२. इच्छाओं और प्राणियों के उपयोग का त्याग

बहुत-सी वस्तुओं का सर्वथा त्याग इष्ट है और कुछ का यथाशक्ति त्याग ही पर्याप्त है । प्रभु से उसकी समस्त कृति ओतप्रोत है। प्राणी केवल मनुष्य की अनेक इच्छाओं का मूर्त्त स्वरूप है। अतएव जिस प्रकार इच्छा का त्याग इष्ट है, उसी प्रकार अन्य प्राणियों के उपयोग का त्याग भी इष्ट है।
—न० जी०। हि० न० जी०, ८।१०।१९२५]

२३. अपना आचरण दूसरों पर मत लादिए

अन्तःकरण सबके लिए एक ही वस्तु नहीं है। इसलिए यद्यपि व्यक्तिगत आचरण के निर्णय के लिए वह अच्छा मार्गदर्शक है, लेकिन सब पर वही आचरण लादना सबके अन्तःकरण की स्वतन्त्रता में असह्य हस्तक्षेप करना होगा।
—यं० इं०, २३।९।१९२६]

२४. निग्रह-नीति

[सुश्री मीरा वहिन को लिखे पत्र से]

जिस चीज़ को लेने की जरूरत न हो या इच्छा न हो, उसका स्वाद हमें क्यों जानना चाहिए? क्या तुम्हें मालूम है कि हर तरह के पापाचरण को उचित ठहराने के लिए यही दलीलें[1] दी गई हैं? यह वर्जित सेव[2] का लाखों वार दोहराया हुआ किस्सा है।...अगर तुम मेरे तर्क की कद्र करती हो तो भविष्य में चेतावनी का काम देने के लिए है। मगर इसका परिणाम आत्मनिन्दा न होना चाहिए।...

—ट्रेन में मौन के मध्य, १०।१।१९२७। वापू के पत्र : मीरा के नाम; पृष्ठ १९; न० जी० प्र० मं०]

२५. आत्म-सुधार

[सुश्री मीरा वहिन को लिखे पत्र से]

आत्मसुधार से प्रफुल्लता आनी चाहिए।

— ३१।१।१९२७। वापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० २२, न० जी० प्र० मं०]

२६. मेरी नीति

लोग मेरी निन्दा करें, मेरा अपमान करें इस कारण मैं जवाव में निन्दा या अपमान न करूंगा। मैं तो वही करूंगा, जिसे करने का तुलसीदास ने उपदेश किया है यानी तपश्चर्या। मेरी प्रकृति ही ऐसी वनी है। मुझसे दूसरा क्या होगा? गीता जी ने कहा है कि सव जीव अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं, निग्रह क्या करेगा? इसलिए मुझ तो तपश्चर्या करनी है।...

—न० जी०। हि० न० जी०, ३। ३। १९२७]

---

१. मीरा वहिन ने श्री व्रजकृष्ण के यहाँ स्वादिष्ट भोजन किया था और हकीम अजमल खाँ के हाथों पान खाया था। उन्होंने स्वादिष्ट भोजन और पान लेने को उचित ठहराते हुए उसके पक्ष में तर्क दिये थे।—सम्पा०

२. वाइविल का आदम और ईव का प्रसिद्ध किस्सा।

२७. संकोच आत्मसंयम का परिणाम हो

[सुश्री मीरा वहिन को लिखे पत्र से]

मैंने पता लगाया है कि जाने -अनजाने किसी से कुछ लिये विना हम कभी नहीं देते। एक हद तक संकोच मैं सव में चाहता हूँ। मगर वह संकोच आत्मसंयम का परिणाम होना चाहिए; भावुकता का नहीं।...

—भरतपुर के वाद गाड़ी में, २२।३।१९२७। वापू के पत्रः मीरा के नाम, पृ० २६, न० जी० प्र० मं०]

२८. बुद्धि बनाम श्रद्धा

मांडले से एक डाक्टर साहव ने कई सवाल भेजे हैं। पहिला सवाल यह है—

"एक वार यं० इं० में आपने लिखा था कि श्रद्धा का आरम्भ वहां से होता है, जहां बुद्धि की सीमा समाप्त होती है। मैं आशा करता हूं कि यदि कोई आदमी अपने विश्वास का कारण न वतला सके तो उसे आप श्रद्धा कहेंगे। तव क्या यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि श्रद्धा का अर्थ अकारण विश्वास करना है। अगर कोई आदमी किसी अकारण वात में विश्वास करे तो क्या उसे आप उचित या सत्य समझेंगे? मैं इस प्रकार विश्वास करने को मूर्खता समझता हूँ। मुझे पता नहीं कि आप का वकीली दिमाग़ इसे क्या कहेगा? अगर आप भी मेरी तरह सोचें तो मुझे विश्वास है कि आप श्रद्धा को मूर्खता ही कहेंगे।"

अगर योग्य डाक्टर साहव मुझे कहने दें तो मैं कहूंगा कि उनके प्रश्न से ही यह वात झलकती है कि उन्होंने मेरा मतलव नहीं समझा। जो वुद्धि से परे है, वह निश्चय ही निर्वुद्धिता नहीं है। मूढ़ विश्वास का नाम अन्व विश्वास है और वह प्रायः वहम होता है। किसी को ऐसी वात में, जिसके प्रमाण दिये जा सकते हैं, यूं ही विश्वास करने को कहना, अवश्य मूढ़ता है। जैसे किसी वुद्धिमान पुरुष से यह विश्वास करने को कहना कि त्रिभुज के तीनों कोणों का योग फल दो समकोण के वरावर होता है और इसके लिए कोई प्रमाण न देना, अयुक्त होगा। लेकिन किसी अनुभवी पुरुष-द्वारा दूसरे से यह कहने का, कि ईश्वर है मगर मैं उसे सिद्ध नहीं कर सकता, यह अर्थ है कि वह नम्रता-सहित अपनी सीमाएं मानता है और दूसरे को अपने अनुभव की वात मान लेने को कहता है। यह तो केवल उस व्यक्ति की विश्वासालुता का प्रश्न है। संसार की सामान्य वातों में प्रायः धोखा खाते रहने पर भी हम लोगों की वात पर विश्वास करते हैं। तव हम जीवन-मरण की

समस्या पर संसार के सन्तों की यह वात क्यों न मान लें कि ईश्वर वास्तव में अवश्य है और उसकी प्राप्ति सत्य और निष्पाप मार्ग (अहिंसा) से ही होगी। यह कम-से-कम इतना युक्तियुक्त अवश्य है कि मैं पत्र-लेखक से सारे संसार की साक्षी में उतनी श्रद्धा रखने को कहूं जितनी मुझसे आशा रखेंगे कि अनेक डाक्टरों द्वारा कोई फायदा न होने पर भी मैं उनकी दी हुई दवा आँख-कान मूंदकर केवल उसी श्रद्धा-सहित खा लूं। मैं यह कहने का साहस करता हूं कि श्रद्धा और विश्वास न हो तो क्षण भर में प्रलय हो जाय। सच्ची श्रद्धा का अर्थ है उन लोगों के युक्ति-युक्त अनुभवों का आदर करना जिनके विषय में हमारा विश्वास है कि उन्होंने तपस्या और भक्ति से पवित्र जीवन विताया है। इसलिए प्राचीन काल के अवतारों या नवियों में विश्वास करना व्यर्थ का भ्रम नहीं है। यह आत्मा की आन्तरिक क्षुधा की सन्तुष्टि है। इसलिए मैंने नम्रतापूर्वक झूठ-सच की पहिचान का जो उपाय प्रस्तुत किया है, वह यह है कि जिस वात को प्रमाणित किया जा सके, उसे प्रमाण विना नहीं मानना चाहिए और जिस वात को स्वानुभव विना सिद्ध नहीं किया जा सकता हो उसे वेदवाक्य-सा मान लेना चाहिए।...

—यं० इं०। हिं० न० जी० १४।४।१९२७]

- **जो बुद्धि से परे है वह निश्चय ही निर्बुद्धिता नहीं है।**
- **श्रद्धा और विश्वास न हों तो क्षण भर में प्रलय हो जाय।**
- **अवतारों या नवियों में विश्वास करना व्यर्थ का भ्रम नहीं है।**
- **यह (अवतारों या नवियों में विश्वास) आत्मा की आन्तरिक क्षुधा की सन्तुष्टि है।**

२९. मानव का कर्त्तव्य

मनुष्य सदैव अपने मन में परमात्मा का भय रखकर चले अर्थात् एक-सी आत्मशुद्धि करता रहे। मनुष्य को सच्चा मानव वनने के लिए, जैसा कि हिन्दू और ईसाई लोग भी कहते हैं, द्विजन्मा अथवा पुनर्जन्मा होना ज़रूरी है।

—यं० इं०। हिं० न० जी०, २१।४।१९२७]

३०. वास्तविक जीवन

[सुश्री मीरा वहिन को लिखे पत्र से]

हम सचमुच अपने कार्य के द्वारा और कार्य में ही जीते हैं। अगर हम अपने नाशवान शरीरों को अस्थायी साधनों के तौर पर उपयोग न

करके अपने को उनके साथ एक रूप कर देते हैं, तो उन्हीं के द्वारा नष्ट हो जाते हैं।

— २७।४।१९२७। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० ३५, न० जी० प्र० मं०]

३१. व्रतों का नियम

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

व्रतों के बारे में नियम यह है कि जब शंका हो, तब अपने विरुद्ध अर्थ लगाओ यानी अधिक प्रतिबन्ध के पक्ष में लगाओ।

— २८।४।१९२७। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० ३६, न० जी० प्र० मं०]

३२. प्रदर्शन अनुचित

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

मुझे सबसे ज्यादा चिन्ता इस बात की है कि तुम जैसी नहीं हो वैसी दीखने की कोशिश न करो। तुम जैसी हो वैसी ही स्वीकार करना और तुम्हें जैसी बनना चाहिए वैसी बनने में मदद देना मेरा धर्म है।

— १२।५।१९२७। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० ४०-४१, न०जी० प्र० मं०]

३३. सत्कार्य

[श्री घनश्यामदास बिड़ला को लिखे पत्र से]

मेरा तो यह. . . विश्वास है कि सत्पुरुष के कार्य का सच्चा आरम्भ उसके देहान्त के बाद ही होता है। शेक्सपीयर का यह कथन कि मनुष्य का भला कार्य प्रायः उसी के साथ चला जाता है और बुरा कार्य उसके पश्चात् रह जाता है, ठीक नहीं है। बुराई की कभी इतनी आयु नहीं होती। राम जीवित हैं और उनके नाम से हम पवित्र होते हैं। रावण चला गया और अपनी बुराइयों को अपने साथ ले गया। . . .दुष्ट मनुष्य भी रावण नाम का स्मरण नहीं करते। राम के युग में राम जाने कैसे थे। कवि ने इतना तो बता दिया है कि अपने युग में राम पर भी आक्षेप हुआ करते थे। परन्तु आज राम की सब अपूर्णता राम के शरीर के साथ भस्म हो गई और उनको अवतारी समझकर हम पूजते हैं। राम का राज्य आज जितना व्यापक है उतना राम के शरीरस्थ रहते हर्गिज़ नहीं था। यह बात

मैं बड़े भारी तत्वज्ञान की नहीं लिख रहा हूं. . .परन्तु मैं दृढ़ता से यह कहना चाहता हूं कि जिनको हम सन्त पुरुष मानते हैं उनके देहान्त का कुछ भी दुःख नहीं मानना चाहिए। और इतना दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि सन्त पुरुष के कार्य का सच्चा आरम्भ या कहो सच्चा फल उसके देहान्त के बाद ही होता है। अपने युग में जो उसके बड़े-बड़े कार्य माने जाते हैं वे भविष्य में होने के परिणाम के साथ केवल यत्किंचित् हैं। हां, हमारा इतना कर्त्तव्य अवश्य है कि हम अपने ही युग में, जिनको हम सत्पुरुष मानें उनकी सारी साधुता का यथाशक्ति अनुकरण करें।
—नन्दी दुर्ग, ३१।५।१९२७। गांधी जी की छत्रछाया में, पृ० ६३–६४]

- सत्पुरुष के कार्य का सच्चा आरम्भ उसके देहान्त के बाद ही होता है।
- बुराई की कभी इतनी आयु नहीं होती।
- जिनको हम सन्त पुरुष मानते हैं उनके देहान्त का कुछ भी दुःख नहीं मानना चाहिए।

३४. आत्म-हनन

आत्महत्या करनेवाले संसार की झूठी चिन्ता करनेवाले होते हैं या दुनिया से अपने दोष छिपानेवाले होते हैं। हम जो नहीं हैं वह दीखने का ढोंग कभी न करें, जो न हो उसे करने के मनोरथ न करें।
— १।८।१९२७। श्रावण सुदी ४ सम्वत् १९८३। बापू के पत्रः आश्रम की बहिनों को, पृ० ४१, न० जी० प्र० मं०]

३५. ईश्वर के राज्य की खोज कीजिए

किसी पवित्र ध्येय में कभी पराजय स्वीकार मत कीजिए। और आज से यह दृढ़ निश्चय कर लीजिए कि आप शुद्ध और पवित्र रहेंगे और आपको ईश्वर की ओर से उत्तर मिलेगा। ईश्वर आपकी प्रार्थना अवश्य सुनेगा। परन्तु ईश्वर अहंकारी मनुष्य की प्रार्थना कभी नहीं सुनता। न वह उन लोगों की प्रार्थना सुनता है जो उसके साथ सौदा करते हैं। . . .यदि ईश्वर की सहायता आपको चाहिए तो आप जैसे हैं वैसे ही उसके पास जायं। बिना किसी चोरी या दुराव-छिपाव के उसकी शरण में जायं; साथ ही अपने मन में यह भय या शंका भी न रखें कि वह आपके-जैसे पतित की सहायता कैसे कर सकता है। जिसने अपनी शरण में आने वाले लाखों-करोड़ों मनुष्यों की सहायता की है. वह आपको ही कैसे छोड़ देगा ?

सहायता करने में वह कभी कोई अपवाद नहीं करता। आप देखेंगे कि आपकी प्रत्येक प्रार्थना सुनी जाती है। पतित-से-पतित और पापी-से-पापी की प्रार्थना भी ईश्वर सुनेगा। ये सब बातें मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव से आपके सामने कह रहा हूं। मैं इस यातना में से गुजर चुका हूं। सबसे पहिले ईश्वर के राज्य की खोज करें। उसके बाद और सब चीजें आपको अवश्य ही मिल जायंगी।
—यं० इं०, ४।४।१९२९]

● **ईश्वर अहंकारी मनुष्य की प्रार्थना कभी नहीं सुनता।**

३६. शरीर का अस्तित्व

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

जबतक ईश्वर मेरे शरीर की रक्षा करना चाहता है, तबतक वह मुझे बचाता है। जिस क्षण उसकी जरूरत पूरी हो जायगी, उस क्षण मेरी कोई सावधानी मुझे बचा नहीं सकेगी।
—८।४।१९२९। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० ७३, न० जी० प्र० मं०]

३७. पतन का मार्ग

जो स्वार्थ का विचार करते होंगे उनका पतन ज़रूर होगा। जो सेवा-परायण रहेंगे, उन्हें पतन का समय भी कहां से मिलेगा? मेरा सदा यह अनुभव रहा है कि जितने गिरे हैं, व सत्य-विमुख रहे हैं और हुए हैं। पाप-कर्म को अँधेरे की ज़रूरत होती है। वह ज्यादातर छिपकर ही होता है। ऐसे मनुष्य देखे जाते हैं जिन्होंने शर्म छोड़ दी है और जो खुलकर पाप-कर्म करते हैं, और कुछ ऐसे भी हैं जो पाप को पुण्य मानते हैं। हम ऐसों की बात तो नहीं करते।
—दिल्ली, २३।१२।१९२९। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, पृ० ९३, न० जी० प्र० मं०]

● **पाप-कर्म को अँधेरे की ज़रूरत होती है।**

३८. आरम्भ न करने का अर्थ

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—भक्त आरम्भ न करे का क्या मतलब है, कोई दृष्टान्त देकर समझाइएगा?

उत्तर—'भक्त आरम्भ न करे' इसका मतलव यह है कि किसी भी व्यवसाय के मंसूबे न गाँठे। जैसे एक व्यापारी आज कपड़े का व्यापार करता है तो कल उसमें लकड़ी का और शामिल करने का उद्यम करने लगा, अथवा कपड़े की एक दूकान है तो कल पाँच और दूकानें खोल वैठा—इसका नाम आरम्भ है। भक्त उसमें न पड़े। यह नियम सेवाकार्य के वारे में भी लागू होता है। आज खादी की मार्फत सेवा करता है तो कल गाय की मार्फत, परसों खेती की मार्फत और चौथे दिन डाक्टरी की मार्फत। इस प्रकार सेवक भी फुदकता न फिरे। उसके हिस्से में जो आ जाय उसे पूरी तरह करके मुक्त हो। जहाँ 'मैं' गया, 'मुझे' क्या करने को रह जाता है?

सूतरने[1] तांतणे मने हरजीए बाँधी,
जेम ताने तेम तेमनी रे
मने लागी कटारी प्रेमनी रे।

भक्त के सव आरम्भ भगवान रचता है। उसे सव कर्म-प्रवाह प्राप्त होते हैं, इससे वह 'सन्तुष्टो येन-केन चित्' रहे। सर्वारम्भत्याग का भी यही अर्थ है। सर्वारम्भ अर्थात् सारी प्रवृत्ति या काम नहीं, वल्कि उन्हें करने के विचार, मंसूवे गांठना। उनका त्याग करने के मानी उनका आरम्भ न करना; मंसूवे गांठने की आदत हो तो उसे छोड़ देना। 'इदमद्यमया लव्वमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्'-यह आरम्भ—त्याग का उल्टा है।...

—मंगल प्रभात, ४।११।१९३०। गीता-वोध, पृ० ६६—६७, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

३९. मानस रोग की चिकित्सा : संस्कार

हम लोग जव कभी वीमार पड़ते हैं, साधारणतया उसके पीछे-पीछे न केवल आहार-सम्वन्धी त्रुटि ही होती है, अपितु हमारे मस्तिष्क का ठीक-ठीक काम न करना भी होता है। गीताकार ने स्पष्टतः इस चीज़ को देखा और साफ-साफ भाषा में संस्कार को उसकी रामवाण औषधि वताया। इसलिए जव कभी कोई चीज़ तुम्हारे मस्तिष्क को हैरान करती हो तो तुम्हें गीता की मुख्य शिक्षा पर

---

१. मुझे भगवान ने सूत के धागे से वाँध लिया हैं। वे (धागे को) ज्यों-ज्यों तानते हैं, मैं उनकी होती जाती हूं। मुझे तो प्रेम-कटारी लगी है।

अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और अपने बोझ को उतार फेंकना चाहिए।
—४।१२।१९३०। बापूज़ लेटर्स टू मीरा।]

- जब कभी कोई चीज़ तुम्हारे मस्तिष्क को हैरान करती हो तो तुम्हें गीता की मुख्य शिक्षा पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

४०. प्रतिज्ञा-भंग

प्रतिज्ञा का अर्थ करने में हमें लकीर का फ़कीर नहीं बनना चाहिए। अक्षर पर ज़ोर देने के बजाय उसकी आत्मा की परीक्षा करनी चाहिए। प्रतिज्ञा का अर्थ करने का सुवर्ण नियम यह है, एक से अधिक अर्थ निकलते हों तो अपने लिए सुविधा उत्पन्न करनेवाले अर्थ का त्याग करना और कष्ट देने वाले अर्थ पर, कष्ट सहन करके भी डटे रहना।
—न० जी०। हि० न० जी०, ३०।४।१९३१]

४१. मृत्यु-वियोग

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

तो माताजी[1] चल बसीं। तुम्हारे पत्र की हर पंक्ति में छिपे हुए शोक को मैंने पहिचान लिया। आखिर तो हम इंसान ही हैं। शोक को छिपाने की सामर्थ्य उसे मिटाने की पहिली सीढ़ी है। भगवान तुम्हें वह शक्ति दे।...जिनसे तुम्हें इतना प्रेम था उनकी मृत्यु से भविष्य के प्रति, और सब प्राणियों की एकता के प्रति तुम्हारी श्रद्धा बढ़नी चाहिए। अगर यह एकता सत्य न होती तो हमें अपने प्रियजनों को मौत भूल जाने की ताक़त न मिली होती। इस अवसान से तुम्हें सेवा के लिए आत्मसमर्पण करने की अधिक प्रेरणा भी मिलनी चाहिए।
—६।७।१९३१ और १९।७।१९३१ के मध्य किसी दिन। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० १२९, न० जी० प्र० मं०]

- शोक को छिपाने की सामर्थ्य उसे मिटाने की पहली सीढ़ी है।

---

१. सुश्री मीरा बहिन की मां

४२. गीता की शिक्षा पर ढला जीवन

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

जो अपने जीवन को गीता की शिक्षा पर चलाना चाहे, उसे अक्षरशः इस सिद्धान्त पर चलना पड़ेगा कि कल का विचार ही न करो।

— शिमला, १९।७।१९३१ । बापू के पत्र मीरा के नाम, पृ० १३०, न० जी० प्र० मं०]

४३. श्रद्धा और बुद्धि

जैसे-जैसे श्रद्धा बढ़ेगी, वैसे-वैसे बुद्धि भी बढ़ेगी। गीता तो यह सिखाती जान पड़ती है कि बुद्धियोग ईश्वर कराता है। श्रद्धा बढ़ाना हमारा कर्त्तव्य है। यहां यह समझाने की बात जरूर है कि श्रद्धा और बुद्धि का अर्थ क्या है? यह समझ भी व्याख्या से नहीं आती, सच्ची नम्रता सीखने से आती है। जो यह मानता है कि वह जानता है, वह कुछ नहीं जानता। जो यह मानता है कि वह कुछ नहीं जानता, उसे यथासमय ज्ञान हो जाता है। भरे हुए घड़े में गंगाजल डालने की सामर्थ्य ईश्वर में भी नहीं है। इसलिए हमें ईश्वर के पास रोज खाली हाथ ही खड़े होना है। हमारा अपरिग्रह भी यही बताता है।

— ४।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ६९-७०]

४४. राम का विलाप

[आश्रम के एक लड़के ने प्रश्न लिख भेजा था, क्या राम-जैसे मनुष्य को भी सीता के हरे जाने पर पागल की तरह शोक करना चाहिए था? इस प्रश्न का गान्धीजी ने निम्नलिखित उत्तर दिया। सम्पा०]

यह कौन जानता है कि राम ने इतना शोक किया था? हम जो पढ़ते हैं, वह काव्य का वर्णन है। यह बिल्कुल सच है कि ऐसा विलाप ज्ञानी को शोभा नहीं दे सकता। इसलिए हमें यह मानना चाहिए कि हमारी कल्पना के राम ने ऐसा विलाप किया ही न होगा।

— २५।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ११८]

४५. हमारा धर्म

दोष से तो हम सब भरे हैं। मगर दोष-मुक्त होना हम सब का धर्म है।

— २७।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १२४]

४६. पर-दोष-दर्शन

किसी के छिद्र देखना और किसी का न्याय करना हमारा काम नहीं है। हमें अपना न्याय करते-करते थकावट लगनी चाहिए, और जवतक हमें अपने में एक भी दोष दिखाई देता हो और इस दोष के होते हुए भी हमारी अन्तरात्मा यह चाहती हो कि सगे-सम्वन्धी और मित्र वगैरह हमें न छोड़ें, तवतक हमें औरों के दोष देखने का हक नहीं है। जव हमें चाहे—अनिच्छा से—दूसरों के ऐसे दोष दिख जायं, तव हममें शक्ति हो और ऐसा करना उचित हो, तो हमने जिसके दोष देखे हों उससे पूछें। मगर और किसी से पूछने का हमें अधिकार नहीं है।

— २।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १३१]

४७. दया-धर्म

वीतराग पुरुष दया का सागर होना चाहिए। और जहां करोड़ों के प्रति दया की वात है, वहां यह कहना कि यह दया सात्विक होने पर भी रागरहित नहीं है या तो दया का अर्थ न समझना है या उसका नया अर्थ करना है। आमतौर पर हम दया का वही अर्थ करते हैं, जिसमें तुलसीदास जी ने दया शव्द का इस्तेमाल किया है। तुलसीदास जी का अर्थ नीचे के दोहे में साफ़ जाहिर है—

दया धर्म को मूल है, पाप (देह) मूल अभिमान।

— १२।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १४९]

- **वीतराग पुरुष दया का सागर होना चाहिए।**

४८. मृत्यु और शरीर-पोषण

[सुश्री हेमप्रभा वहिन के लड़के की वीमारी का समाचार सुनकर उन्हें लिखे गये पत्र से]

वैसे तो मरना और जीना एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और हम जितने आनन्द से जीते हैं उतने ही आनन्द से हमें मरना चाहिए। फिर भी जवतक जीवन है, तवतक शरीर को उसका हक़ देना ही चाहिए। यह तो हमारे लिए ईश्वर की दी हुई धरोहर है। और हमें उसकी उचित सम्हाल रखनी ही चाहिए।

—२२।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १६५]

- **मरना और जीना एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।**
- **यह (शरीर) तो हमारे लिए ईश्वर की दी हुई धरोहर है।**

४९. हमारा कर्त्तव्य : सेवा

[सुश्री लारी सोवर को लिखे पत्र से]

जिन्हें ईश्वर पर श्रद्धा है, उनके लिए मौत और जिन्दगी वरावर है। हमारा फर्ज तो आखिर दम तक सेवा करना है।

— १९।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २२८]

५०. वीरमृत्यु और मोक्ष

[सुश्री मीरा वहिन को लिखे पत्र से]

वहादुरों को मौत का आनन्द एक ही वार मिलता है, इस वाक्य में जो गहरा अर्थ भरा है वह तुम्हारे ध्यान में नहीं आया दीखता। इसमें हिन्दुओं की मोक्ष-भावना के अनुसार पूरा सत्य समाया हुआ है। इसका अर्थ है : जन्म-मरण के फेर से छुटकारा पाना। वहादुरों का अर्थ 'ईश्वर की खोज में वहादुर' करें, तो ऐसे लोग एक ही वार मरते हैं। उन्हें दुवारा जन्म लेना या मरना नहीं पड़ना।

— २२।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २४०]

५१. बुराई और भलाई

[एक पत्रांश]

वुराई इस दुनिया में क्यों है और क्या चीज़ है, ये प्रश्न हमारी मर्यादित वुद्धि से परे हैं। हमारे लिए इतना जानना काफी है कि वुराई और भलाई दोनों हैं, और जव-जव हम इन दोनों को अलग-अलग जान सकें, तव-तव हमें भलाई को पसन्द करना चाहिए और वुराई को छोड़ना चाहिए।

— १४।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २८६]

५२. तत्वज्ञान जो प्रेममय सेवा में नहीं बदलता

[एक पत्रांश]

हमारे तत्वज्ञान की खाक़ के वरावर कीमत नहीं अगर वह तत्काल प्रेममय सेवा में नहीं वदल जाता।

— ३१।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३३१]

५३. व्यक्तिपूजा : गुणपूजा

[सुश्री प्रेमा बहिन कंटक को लिखे पत्र से]

तुम नारदमुनि का उदाहरण तो देती हो, परन्तु उनके वचनों का रहस्य कहां जानती हो? उनके जैसी व्यक्तिपूजा ज़रूर करो। वह करने योग्य है। जैसे ऐतिहासिक वैकुण्ठ के भगवान वैसे ही उनके कृष्ण। नारद मुनि के भगवान उनके कल्पना-मन्दिर में विराजमान थे। वे नारदमुनि तो आज भी हैं और उनके कृष्ण भी हैं, क्योंकि वे दोनों हमारी कल्पना में ही रहे हैं। मेरे खयाल से इतिहास की अपेक्षा कल्पना बढ़कर है। राम से नाम का दर्जा ऊंचा है; तुलसीदास ने जो यह कहा है उसका अर्थ यही हो सकता है। तुम व्यक्ति-पूजा के चक्कर में पड़ी हो इसीलिए मुझे चिन्ता में डालती हो न? आश्रम के बारे में तुम मुझे बेफिक्र नहीं कर सकती। नारणदास कर रहे हैं। ऐसे और भी नमूने बता सकता हूं। वे भी व्यक्तिपूजक तो हैं ही। कौन नहीं है? मगर अन्त में वे व्यक्ति को पार करके उसके गुणों या उसके कार्य के पुजारी बन जाते हैं। यह अमूल्य वस्तु भूलकर हमने अपनी मूढ़ता में स्त्रियों को सती होना सिखाया। यह व्यक्तिपूजा की पराकाष्ठा है। वैसे पत्नी का धर्म तो यह है कि खुद पति का काम अपने में अमर करे; पति-पत्नी के अन्दर से विकार और नर-मादा का विचार निकल जाय, तो यह आदर्श सारे संसार के लिए हर हालत में लागू होता है। यानी यह प्रेम जाकर भगवान में मिलता है।

— १२।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३५३]

- **इतिहास की अपेक्षा कल्पना बढ़कर है।**
- **राम से नाम का दर्जा ऊंचा है।**
- **कौन (व्यक्ति-पूजक) नहीं है?**
- **यह (सती-प्रथा) व्यक्तिपूजक की पराकाष्ठा है।**

५४. विश्वास : एक सुखद नीति

[एक पत्रांश]

जैसे हम यह चाहते हैं कि दुनिया हमारी बात पर विश्वास रखे, वैसे ही हम भी दूसरे की बात पर विश्वास रखें। वह विश्वासपात्र साबित न हो तो पछतायें नहीं। विश्वास रखनेवालों ने दुनिया में आज तक कुछ भी नहीं खोया और विश्वास-घात करनेवाले करोड़ों रुपया पाने की कोशिश में खोते ही हैं। हमारी आत्मा मैली

हो जाय तो हमने खोया ही। धन-दौलत तो आती-जाती ही रहती है। चली जाय तो रंज हर्गिज न करें।

—१६।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३६१]

५५. व्रत का आशय

[श्री मथुरादास को लिखे पत्र से]

व्रत का अर्थ ही यह है कि जिस चीज़ का व्रत लिया है, उसके विषय में हमें मन रोकने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जैसे व्यापारी किसी चीज का सौदा कर लेता है तो फिर उसका विचार नहीं करता और दूसरी चीज पर ध्यान देता है, वैसी ही बात व्रतों की है।

—२०।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३६७]

५६. दुःखों की प्राणवायु

[सुश्री उर्मिला बहिन को लिखे पत्र से]

जो आज हो सकता है, उसे कल पर न छोड़ो, और जो अभी हो सकता है उसे दूसरे क्षण के लिए न छोड़ो।...इस दुनिया में केवल सुख हों, तो हमारा जीवन उनसे ऊब जाय। दुःखों की प्राणवायु के बिना हम मर जायं।

—९।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १०१]

५७. सच्ची निवृत्ति

[सुश्री उर्मिला देवी को लिखे पत्र से]

गीता के संतत अध्ययन से तुम्हें तमाम चिन्ताओं से मुक्त रहना सीखना चाहिए। जब हम सबकी फिक्र करनेवाला ईश्वर बैठा है, तब हम यह बोझ नाहक क्यों ढोयें? हम तो अपने हिस्से में आया हुआ काम कर दें और निश्चिन्त रहें।

इसीलिए मैं कहता हूं कि तुम निवृत्ति का विचार ही न करो। सच्ची निवृत्ति शरीर से नहीं होती, वह तो अन्दर से पैदा होती है। सत् प्रवृत्ति के बीच हमें निवृत्ति ढूंढ़नी है। गुफा में रहनेवाले लोगों के मन भी अक्सर सतत निवृत्ति में नहीं होते।

—२२।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १४१]

● सतत प्रवृत्ति के बीच हमें निवृत्ति ढूंढ़नी है।

५८. झूठ बोलने और चोरी करने की आदत

[एक छोटी लड़की को, जिसे धोखा देने और झूठ बोलने की आदत पड़ गई थी, लिखे पत्र का अंश।—सम्पा०]

मुझे आशा है तूने झूठ न बोलने और चोरी न करने का जो वचन दिया है, उसका पालन करेगी। तुझे यह पसन्द नहीं होगा कि दूसरे लोग तुझे धोखा दें या तेरी चीज चुरायें। इसलिए तुझे यह आशा हर्गिज न रखनी चाहिए कि तू दूसरों को धोखा दे या दूसरों की चीजें चुराये, तो वे उसे पसन्द करेंगे।

— ३१।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १६०]

५९. मौन की कोटियां

[एक पत्रांश]

पीड़ित अपने दर्द के कारण मौन लेते हैं। कोई वक्ता अपने कण्ठ को आराम देने के लिए मौन लेते हैं। कोई अन्तर्मुख होने के कारण मौन लेते हैं। तीनों को अपने हेतु के अनुकूल लाभ मिल सकता है। जो अन्तर्मुख होने के कारण मौन लेंगे, वे सामान्यतया उस दिन एकान्त में रहेंगे, उपवास या अल्पाहार करेंगे। आवश्यक होने पर अन्तर्मुखता बढ़ानेवाले ग्रन्थों का मनन करेंगे। येन-केन-प्रकारेण मौन लेने का कम ही लाभ हो सकता है, और हानि होने की सम्भावना रहती है। सत्यार्थी की प्रत्येक प्रवृत्ति का स्पष्ट हेतु होता है।

— ३१।१०।१९३२। म०भा०डा०, भाग, २ पृ० १५१]

६०. शरीर के प्रति दृष्टिकोण

[श्री सतीश बाबू के रुग्ण पुत्र को लिखे पत्र से]

...शरीर को अपना नहीं मानना चाहिए।...। यह शरीर ईश्वर का है। ईश्वर ने उसे तुझको थोड़े समय के लिए स्वच्छ और नीरोग रखने के लिए और सेवा में लगाने के लिए दिया है। इसलिए तू उसका ट्रस्टी है, मालिक नहीं। मालिक अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग भी कर सकता है; मगर ट्रस्टी या रक्षक को तो बहुत ही सावधानी रखनी चाहिए। सौंपी हुई सम्पत्ति का उसे अच्छा-से-अच्छा उपयोग करना है। इसलिए तुझे शरीर के बारे में चिन्ता तो नहीं करनी चाहिए, मगर साथ ही उसकी यथासम्भव सम्हाल अवश्य रखनी चाहिए। ईश्वर की जब इच्छा होगी, तब वह इसे वापस ले लेगा।

—५।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १७४]

६१. भगवान और हम

[कीकी ललवानी को लिखे पत्र से]

भगवान ने ही गीता में बताया है कि वह तो क्षण को भी आराम नहीं लेता। उसे तो न सोना चाहिए, न खाना चाहिए, न पानी चाहिए। तब हमारे नसीब में भी आराम कैसे हो सकता है?

— ८।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १८२]

६२. शरीर-रक्षा

[श्री जमनालाल बजाज को लिखे पत्र से]

शरीर को अमानत समझकर यथासम्भव उसकी रक्षा करना रक्षक का धर्म है।

— यरवदा मन्दिर, ८।११।१९३२। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम पृ०, ८३, अ० भा० स० से० सं०]

६३. स्वच्छ विचार और स्वच्छ जीवन

[श्री वेरियर एल्विन को उनके आश्रम के लिए प्रेषित सन्देश से]

स्वच्छ हवा, स्वच्छ पानी, सादा भोजन और स्वच्छ विचार यानी ईश्वर के साथ सच्ची एकता, ये चार मुख्य नियम हैं। चौथे नियम में से पहिले तीन निकलते हैं। इसी तरह तुम्हारी अंग्रेजी कहावत है—सादा जीवन और उच्च विचार। इस वचन को मैं इस तरह और भी सरल बनाता हूं, स्वच्छ विचार और स्वच्छ जीवन।

— १३।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २०१]

६४. सम्पूर्णता

[श्री नटराजा को लिखे पत्र से]

ईश्वर अपनी आवाज सुनने के लिए पवित्र-से-पवित्र साधन पसन्द करता है। परन्तु हम पामर प्राणियों के लिए सम्पूर्णता के निकट पहुँचना ही सम्भव है। जब-तक हम यह शरीर धारण किये हुए हैं, तबतक पूर्णता प्राप्त नहीं की जा सकती।

— १६।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २०७]

६५. ईश्वर : शरीर का स्वामी

[एक बंगाली असिस्टेण्ट एकाउण्टेण्ट जनरल को लिखे पत्र से]

आप मेरे शरीर की बहुत चिन्ता रखते हैं, जिसकी मैं कद्र करता हूं। आप जो यह कहते हैं कि यह राष्ट्र की सम्पत्ति है, इसे मैं पूरी तरह स्वीकार करता हूं। मगर राष्ट्र ईश्वर का है और ईश्वर यदि इस शरीर का ऐसा कोई उपयोग करना चाहता हो तो उसका विरोध कैसे किया जा सकता है?

— २५।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २३५]

६६. ईश्वरभक्त रोगी

[श्री डाह्याभाई को लिखे पत्र से]

जो ईश्वरभक्त है, वह तो बीमारी का भी सदुपयोग कर सकता है, बीमारी से हारता नहीं।

— २६।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २३९]

६७. प्रार्थना

[एक बंगाली युवक को लिखे पत्र से]

तुम अच्छा बनने का दृढ़ संकल्प कर लो। स्वयं को अच्छा बनाने की प्रार्थना भगवान से सदा करो, तो तुम अच्छे बन जाओगे।

— २९।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २४३]

६८. सम्पूर्ण स्वार्पण

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

सम्पूर्ण स्वार्पण का अर्थ ही यह है कि किसी भी तरह की चिन्ता से पूरी तरह मुक्त रहे। बच्चा कभी कोई चिन्ता करता है? वह सहजवृत्ति से ही जानता है कि माता-पिता उसकी सम्हाल करेंगे। यह चीज हम बड़ी उम्र के आदमियों के लिए तो ज्यादा सच्ची होनी चाहिए। इसी में श्रद्धा की या तुम्हें पसन्द हो तो गीता की अनासक्ति की कसौटी है।

— ५।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १४]

६९. अपवित्र कौन ?

क्या आप यह कहना चाहते हैं कि मन्दिर में जानेवाले सभी पवित्र होते हैं ? कुछ तो स्त्रियों के चेहरे देखने के लिए ही मन्दिर में जाते हैं। किन्तु मैं इन लोगों को अपवित्र कहने को तैयार नहीं, क्योंकि मैं भी अपवित्र हूं। यदि मैं पवित्र और पूर्ण होता, तो परमेश्वर हो जाता और आसमान से शास्त्र उतारता होता।

— ९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ३५]

७०. आत्मशुद्धि

आत्मशुद्धि की पहली सीढ़ी यह है कि हम अपनी अशुद्धि को स्वीकार करें। हम यदि अपने को विशुद्ध मानते हों, तव तो हमें मन्दिरों में जाने या प्रार्थना करने की कोई ज़रूरत ही नहीं। परमेश्वर क्या कोई शास्त्र पढ़ता होगा ?

— ९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ३४]

७१. आचरण

[श्री मगनभाई देसाई को लिखे पत्र से]

हम वड़ों के वल का अनुकरण करें, उनकी कमजोरी का कभी नहीं। वड़ों की लाल आँखों में अमृत देखें, उनके लाड़ से दूर भागें। मोहमयी दया के वश होकर वे वहुत-कुछ करने की इजाजत दें, वहुत-कुछ करने को कहें, तव लोहे-जैसे सख्त वनकर उससे इन्कार करें। मैं एक वार यदि कहूं कि हर्गिज झूठ न वोलना मगर मुश्किल में पड़कर झूठ के सामने आँखें वन्द कर लूं, तव मेरी आँखों की पलकों को पकड़ कर जोर से खोल देने में तुम्हारी भक्ति होगी; मेरे इस दोष की उपेक्षा करने में द्रोह होगा।

— ३।२।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ११२]

७२. मृत्यु

मौत के वारे में मैंने कुछ विचार वना रखे हैं। वे दृढ़ होते जा रहे हैं। मैं मृत्यु को भयानक चीज नहीं समझता। विवाह भयानक हो सकता है, मृत्यु कभी नहीं।

— चांदा, १४।११।१९३३। वापू के पत्र: मणि वहिन पटेल के नाम, पृ० ११६, न० जी० प्र० मं०]

७३. ईश्वर में आस्था और उसके नामों का झगड़ा

...स्वात्माभिमानी कहते हैं कि इस पृथिवी पर कोई न्यायमूर्ति ईश्वर नहीं है और इसलिए उनका कहना है कि अगर उन्हें ईश्वर नाम की किसी वस्तु में विश्वास करने को कहा जाय तो मनुष्यत्व ही उनका ईश्वर हो सकता है। मैं स्वीकार करता हूं कि ईश्वर में मेरा जरूरत से ज्यादा विश्वास है, भले ही इसे कोई अन्ध-विश्वास कहे। पर ईश्वर के लिए किस शब्द का प्रयोग किया जाय, इस पर मेरा किसी के साथ कोई झगड़ा नहीं। अगर उन्हें मानवता शब्द सन्तोष देता है, तो मैं भी अपने ईश्वर को मानवता के नाम से पुकारा करूंगा।...

—शियाली। मद्रास, २०।२।१९३४। ह० से०, २।३।१९३४]

७४. वैयक्तिक पवित्रता

पश्चिम में व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता की आवश्यकता नहीं मानी जाती, यह कहना पूरी तरह सही नहीं है। यह बात भी नहीं कि हमारे यहां सभी लोग उसकी आवश्यकता को मानते हैं। हम केवल उसकी आवश्यकता को ही स्वीकार नहीं करते, बल्कि यह मानते हैं कि अन्तःशुद्धिरहित बुद्धि से होनेवाले कार्य कितने ही सुन्दर क्यों न लगते हों, तो भी उनमें स्थायित्व कभी नहीं रहेगा। तात्कालिक परिणामों के आधार पर ऐसे कार्यों की तुलना की ही नहीं जा सकती। हां, जिनका नीति के साथ सम्बन्ध न हो उन कार्यों में अन्तःशुद्धि की जरूरत नहीं होती। सत्यनिष्ठा से किये गये कामों के परिणाम अवश्य आयेंगे, इस बारे में शंका ही नहीं हो सकती। इतना विश्वास न हो तो हम नीति की रक्षा कभी कर ही नहीं सकते।

—बोरसद, २८।५।१९३५। बापू के पत्र, कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृ० २४६ न० जी० प्र० मं०]

७५. आलस्य-त्याग

[श्री कमलनयन बजाज को लिखे पत्र से]

आलस्य छोड़ने के लिए सबसे अच्छी बात यह है कि नित्य के नियम बना लेना और उस पर कायम रहना।

—वर्धा, २५।७।१९३५। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृ० २१८, अ० भा० स० से० सं०]

७६. संयम और आश्रम-जीवन

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

जो संयम पालन करना हो, उसे स्वाभाविक रीति से पालन करना चाहिए... आश्रम का जीवन व्यतीत करने से स्वतन्त्रता आती है; उद्दण्डता, अविनय, अभिमान कभी नहीं।

—वर्धा, २१।८।१९३५। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृ० २४०, अ० भा० स० से० सं०]

७७. पितृभक्ति का अर्थ

तू बीमार क्यों पड़ती है? पितृभक्ति का यह अर्थ तो नहीं करती कि पिता बीमार पड़े तो तू भी बीमार हो जाय? माता-पिता अपंग थे तब श्रवण ने अपना शरीर वज्र-जैसा बनाया और अपने कन्धे पर रखकर दोनों को यात्रा कराई।...

—वर्धा, ३१।१०।१९३५। बापू के पत्र : मणिबहन पटेल के नाम, पृ० १२०, न० जी० प्र० मं०]

७८. शरीर

शरीर को ईश्वर की दी हुई सम्पत्ति मानकर तू उसका उपयोग करे तो इस तरह बीमार न पड़े। शरीर से जितना सहन हो उतना ही काम करके सन्तोष क्यों नहीं मानती?

—सेगांव-वर्धा, १९।११।१९३६। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृ० २७०, न० जी० प्र० मं०]

७९. आचरण को वाणी की जरूरत नहीं

[ईसाइयों के सामूहिक आन्दोलनों में रुचि रखने वाले कुछ लोग गांधी जी से मिलने आये। उन्होंने गांधी जी से अनेक ऐसे प्रश्न पूछे जो सभी विचारशील मिशनरियों के दिमाग़ में उथल-पुथल मचा रहे प्रतीत होते थे। इस वार्ता के आवश्यक अंश यहां संकलित किये जा रहे हैं।—सम्पा०]

प्रश्न—ईसाई पादरी विज्ञान के क्षेत्र में भारतवर्ष की सेवा करें, इसके अलावा पूर्व और पश्चिम का सम्बन्ध स्थापित करने में वे अगर ईसाई धर्म का प्रचार करें तो आपको वह अप्रस्तुत मालूम होता है ?

उत्तर—हां, मैं यह ज़रूर कहता हूं। पर मेरे कहने में एक मर्यादा है। सच्चा धर्म-प्रचार स्वाभाविक वस्तु है। इससे इन्कार करना व्यर्थ है। आपको जब यह प्रतीत होता है कि बाइबिल के आपके किये हुए विशिष्ट अर्थ से आपको शान्ति मिली है, तब आप उसमें से दूसरों को हिस्सा देते हैं। पर आपको यह वाणी-द्वारा बताने की ज़रूरत नहीं। आपकी जीभ की अपेक्षा आपका सारा जीवन अधिक जोर से बोल उठेगा। विचार को पूर्णतया प्रकट करने में भाषा हमेशा विघ्नरूप हो जाती है। उदाहरण के लिए, आप जिस प्रकार बाइबिल पढ़ते हैं, उसी प्रकार उसे पढ़ने के लिए दूसरों को आप किस तरह कहेंगे ? आपको उससे प्रतिदिन और प्रतिक्षण जो प्रकाश मिलता है, उसे आप दूसरों को वाणी के द्वारा किस प्रकार देंगे ? इसलिए सभी धर्म कहते हैं, तुम्हारा आचरण ही तुम्हारी वाणी है। आपमें अगर पर्याप्त नम्रता होगी तो आप कहेंगे कि हम वाणी या लेखनी-द्वारा अपने धर्म का पूर्ण आविष्कार नहीं कर सकते।

प्रश्न—पर क्या कोई मनुष्य पूरी नम्रता के साथ यह नहीं कह सकता कि मैं यह जानता हूं कि मेरा आचरण मेरे आदर्श से बहुत नीचा है, फिर भी मैं अपना आदर्श समझा सकता हूं ?

उत्तर—नहीं, जिस क्षण आप यह कहते हैं कि आचरण यथेष्ट नहीं है उसकी पूर्ति आपको वाणी से करनी चाहिए, उसी क्षण आप नम्रता को तिलांजलि दे देते हैं। मनुष्यों को पशुओं के पास जाकर चिल्लाकर कहना नहीं पड़ता कि वे मनुष्य हैं। पशु जानते हैं कि वे मनुष्य हैं। आत्मा की भाषा वाणी से व्यक्त नहीं हो सकती। वह देह से परे है।...

प्रश्न—तो बिना किसी शब्दबद्ध साहित्य के मनुष्य का अनुभव पीढ़ी-दर-पीढ़ी किस तरह दिया जा सकता और टिक सकता है ?

उत्तर—शब्दबद्ध साहित्य के लिए अवकाश ही नहीं, आचरण खुद ही बोल उठता है। बरसों पहले मैंने गुलाब के फूल की जो उपमा दी थी उसी को लेता हूं। गुलाब जो सुगन्ध चारों ओर फैलाता है या उसके जिस सौन्दर्य को प्रत्येक मनुष्य देख सकता है उसके सम्बन्ध में गुलाब को कोई पुस्तक लिखने या प्रवचन करने की जरूरत नहीं पड़ती। आध्यात्मिक जीवन सुन्दर और सुगन्धित गुलाब से अनन्त-गुना श्रेष्ठ है। और मैं तो कहूंगा कि जिस क्षण जीवन में आत्मा का तेज प्रकट होता है उसी क्षण आसपास के वातावरण पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता।

बाइबिल, गीता, भागवत और कुरान में ऐसे कितने ही वचन हैं जिनमें इस वस्तु का बड़ा सुन्दर रसपूर्ण वर्णन किया गया है। कहते हैं कि श्रीकृष्ण जहां-जहां जाते, वहां लोग उनके पीछे दीवाने हो जाते थे। ईसा के बारे में भी ऐसा ही कहा जाता है।... आध्यात्मिक जीवन में वायरलेस की किरणों से भी अधिक शक्ति भरी हुई है। जब मेरे और मेरे सिरजनहार के बीच किसी का माध्यम नहीं रहता और उसके हाथ का पात्र बनकर उसका प्रभाव अपने में प्रवाहित होने देता हूं तब गंगोत्री में गंगा का जल जिस तरह उमड़ पड़ता है, उसी तरह मैं उमड़ उठता हूं।... इसलिए आचरण से भिन्न या उससे अधिक सच्चा धर्म-प्रचार दूसरा नहीं है।

प्रश्न—पर कोई मनुष्य इस प्रकार के आचरण के उद्गम के सम्बन्ध में पूछे तो?

उत्तर—तब आप बोलें, पर आपकी भाषा भलीभांति विचारपूर्वक कही हुई होगी। आपको खुद यह दिखाई देगा। यह चीज पूरी तरह से वाणी-द्वारा प्रकट नहीं हो सकती। लेकिन पूछनेवाला अगर सच्चा साधक होगा तो वह अधिक गहरे उतरेगा। तब आप उसे अपनी ओर आकर्षित करें। आपको उसके पास जाने की जरूरत नहीं रहेगी। आपकी कीर्ति इतनी फैल जायगी कि संसार के अनेक भागों से लोग आपको देखने और आपकी बात सुनने के लिए आयेंगे। तब आप उनसे बोलें। अरविन्द घोष को ही लीजिए। जगह-जगह से अनेक उनके पास जाते हैं। वे साल में दो ही दिन लोगों से मिलते हैं, और बात तो कभी नहीं करते।

—ह० ज०। ह० से० १९।१२।१९३६]

- विचार को पूर्णतया प्रकट करने में भाषा हमेशा विघ्नरूप हो जाती है।
- तुम्हारा आचरण ही तुम्हारी वाणी है।
- आत्मा की भाषा वाणी से व्यक्त नहीं हो सकती।
- आध्यात्मिक जीवन सुन्दर और सुगन्धित गुलाब से अनन्त गुना श्रेष्ठ है।
- आचरण से भिन्न या उससे अधिक सच्चा धर्म-प्रचार दूसरा नहीं है।

८०. प्रेम और स्पर्श

शुद्ध प्रेम के लिए स्पर्श की आवश्यकता नहीं होती, इस कथन का ऐसा अर्थ थोड़े ही है कि स्पर्शमात्र मलिन है। अपनी मां के प्रति मेरा शुद्ध प्रेम था, लेकिन

उसके पैर दुखते तब मैं उन्हें दबाता था। उसमें कोई मलिनता नहीं थी। विकारी स्पर्श दूषित है। इसलिए मैं यह कहूंगा कि जो लोग ऐसा कहते हैं कि स्पर्श के बिना शुद्ध प्रेम अशक्य है, वे शुद्ध प्रेम को जानते ही नहीं हैं।

— तीथल-वलसाड़, २९।५।१९३७। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृ० २७९, न० जी० प्र० मं०]

८१. हमारा भविष्य

यह अच्छा ही है कि हमारा भविष्य हमारे सामर्थ्य, सत्यवादिता, साहस, संकल्प, सतर्कता और नियन्त्रण पर निर्भर करता है।

— सेगाँव, १८।७।१९३७। गांधी जी की छत्रछाया में, पृ० २९२-२९३]

८२. शान्ति पत्थर की नहीं, हृदय की

मैं शान्ति-परायण मनुष्य हूं। शान्ति में मेरा विश्वास है। लेकिन मैं चाहे जो क़ीमत देकर शान्ति नहीं खरीदना चाहता। आप पत्थर में जो शान्ति पाते हैं वह मुझे नहीं चाहिए। जिसे आप कब्र में देखते हैं वह शान्ति मैं नहीं चाहता। लेकिन मैं वह शान्ति अवश्य चाहता हूं जो मनुष्य के हृदय में सन्निहित है, और सारी दुनिया के वार करने के लिए उद्यत होते हुए भी सर्वशक्तिमान ईश्वर की शक्ति जिसकी रक्षा करती है।

— सर्वोदय, अप्रैल १९३९, पृ० ३७]

८३. उन्मुक्त प्रेम

गुप्त या खुले स्वतन्त्र प्रेम में मेरा विश्वास नहीं है। उन्मुक्त प्रेम को मैं कुत्तों का प्रेम समझता हूं। और गुप्त प्रेम में तो, इसके अलावा कायरता भी है।

— ह० से०, ४।११।१९३९]

८४. व्याधि का उपयोग

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

बीमारी का अच्छे-से-अच्छा उपयोग यह है कि भगवान पर आस्था बढ़ाना और स्वभाव काबू में रखना। इस तरह से शीघ्र स्वस्थ भी हुआ जाता है।

— सेगांव, १३।२।१९४०। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृ० २४१, अ० भा० स० से० सं०]

८५. झूठ

सबसे अच्छा तो यही है कि झूठ का कोई जवाब ही न दिया जाय। झूठ अपनी मौत मर जाता है। उसकी अपनी कोई शक्ति नहीं होती। विरोध पर वह फलता-फूलता है।
—ह० से०, २२।६।१९४०]

८६. विकार-रोग

विकारी विचार भी बीमारी की निशानी है। इसलिए हम सब विकारी विचार से बचते रहें।
—सेवाग्राम, २७।१२।१९४४]

८७. हमारा अस्तित्व

...आश्चर्य यह है कि हम जानते हैं कि हम भी मरनेवाले तो हैं ही, बहुत बहुत करें तो वैद्यादि की दवा से शायद हम थोड़े दिन और काट सकते हैं और इसलिए ख्वार होते हैं।
—सेवाग्राम, ३१।१२।१९४४ 'मेरा धर्म' संकलन; न० जी० प्र० मं०]

८८. प्रेम सौदा नहीं है

विश्वास के बदले विश्वास प्रेम के जवाब में प्रेम कहलाने योग्य नहीं। सच्चा प्रेम वह है जो शत्रु के सामने भी टिके।
—पूना, २४।२।१९४६। ह० ज०। ह० से०, ३।३।१९४६]

८९. हमारा आचरण

ईश्वर का पूरा-पूरा वर्णन अभी तक कोई नहीं कर सका।...देहधारी मनुष्य तो सदा-सर्वदा अपूर्ण ही है। उसे भगवान की उपमा चाहे दी जाय, पर वह भगवान कदापि नहीं है। भगवान अदृश्य है; अदृष्ट है। इसलिए हम जिसे सन्त पुरुष मानते हैं, उसके वचनों को, आचरणों को समझें, और जो चीज़ हमारे

दिल में वस जाय, उसके अनुसार अपना आचरण वनायें। शास्त्र और क्या करेगा ?

— पूना, २५।२।१९४६। ह० व०। ह० से०, २।३।१९४६]

९०. मानस-मलिनता

मन की गन्दगी शरीर की गन्दगी से ज्यादा खतरनाक है; वाहरी गन्दगी आखिरकार भीतरी गन्दगी की ही निशानी है।

— उरुली, २४।३।१९४६]

९१. शत वर्ष-जीवन

ईशोपनिषद् में शतम् शव्द है। उसका अर्थ ९९+१ नहीं है, १२०, १२५ या १३० वर्ष होता है।

— पटना, १९।५।१९४७। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा वहिन कंटक के नाम, पृ० ३५०, न० जी० प्र० मं०]

९२. सच्चा प्रायश्चित्त

जो सवसे वड़ा पापी है, उसे अगर सच्चा पछतावा हो जाता है, तो वह सवसे वड़ा सन्त वन जाता है। ऐसे उदाहरण हिन्दू-धर्म, इस्लाम और ईसाई-धर्म सवमें मिलते हैं।

—हिलसा, प्रार्थना सभा, २०।५।१९४७। बिहार समाचार से। ह०से० १।६।१९४७]

९३. संयम : जीवन-नीति

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

मेरा जीवन संयम के लिए है। यह हो सकता है कि उसमें पार न उतरूं परन्तु उसमें स्वेच्छाचार के लिए दरवाज़े कभी नहीं खोजूंगा, ऐसा मुझे विश्वास है।

— नई दिल्ली, ९।६।१९४७। वापू के पत्र : वजाज परिवार के नाम, पृ० २५२, अ० भा० से० सं०]

९४. जा विधि राखे राम

मुझमें राम नहीं है। मैं खुद राम का पुजारी हूं, उसका भक्त हूं। लेकिन राम के सब भक्त राम नहीं बन सकते। हमें तो राम रखे, उसी तरह रहना चाहिए।
— कलकत्ता, ४।९।१९४७। ह० व०। ह० से० १४।९।१९४७]

९५. अनासक्ति

मनुष्य को फल की चिन्ता किये बिना अपना काम करना चाहिए। आसक्ति से अनासक्ति अधिक लाभदायक है।
— बिड़ला भवन, नई दिल्ली, २१।९।१९४७। ह०ज०। ह०से०, ५।१०।१९४७]

९६. बच्चों का धर्म

बच्चों का धर्म मां का ही धर्म रहेगा। बड़े होकर वे भले किसी धर्म में चले जायं।
— बिड़ला भवन, नई दिल्ली, २६।१२।१९४७। ह० से० ४।१।१९४८]

९७. ईसा : सूली की सेज पर

[रोम में सूली पर चढ़े हुए ईसा का एक चित्र देखकर व्यक्त किये गये गांधी जी के विचार।]
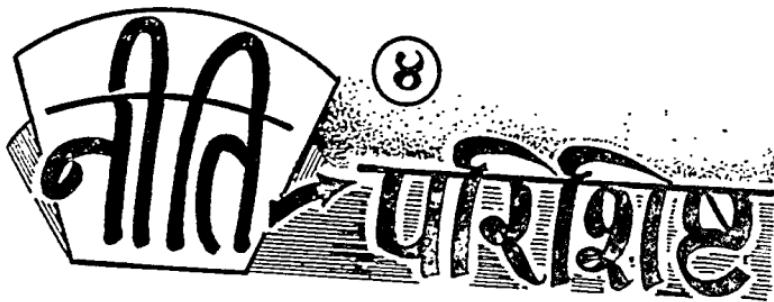
पोप के महल में सूली पर चढ़े हुए ईसा की सजीव मूर्ति के सामने सिर झुका सकने के लिए मैं क्या नहीं दे डालता? जीती-जागती करुणा के इस दृश्य से अलग होते हुए मुझे बड़ी पीड़ा हुई। इस दृश्य को देखते हुए मैंने मुहूर्तमात्र में समझ लिया की व्यक्तियों की भांति राष्ट्र भी सूली की यातना सहकर ही बनाये जा सकते हैं, और किसी तरह नहीं। आनन्द दूसरों को पीड़ा पहुंचाने से नहीं मिलता परन्तु खुशी से स्वयं कष्ट भोगने से मिलता है।
—'दिस वाज़ बापू' आर० के० प्रभु, पृ० २९, १९५४ संस्करण

९८. श्रेष्ठ जनों का आचरण

नियम ही यह है कि जैसा अच्छे और बड़े माने जानेवाले मनुष्य आचरण करते हैं उसका अनुकरण साधारण लोग करते हैं।

—मंगल प्रभात। गीताबोध, १८, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

नीति
४
परिशिष्ट

१. नीतिधर्म अथवा धर्मनीति

[सार-संक्षेप]

[गांधी जी के जीवन का दक्षिण अफ्रीका प्रवास-काल धार्मिक अनुचिन्तनों, नीति, सदाचार एवं दर्शन-सम्बन्धी अन्तर्मन्थनों से परिपूर्ण रहा है। उनके परवर्ती धार्मिक विचारों एवं नैतिक चिन्तनों की समस्त पृष्ठभूमि की रचना दक्षिण अफ्रीका में ही हुई थी। दक्षिण अफ्रीका से प्रकाशित 'इण्डियन ओपीनियन' गांधी जी का एकमात्र विचारपत्र था। यह एक ओर तो प्रवासी भारतीयों का सत्याग्रह-संग्राम के लिए आवाहन करता था; दूसरी ओर उनके नैतिक, चारित्रिक पुनरुत्थान के लिए विचारपूर्ण, बोधमय सामग्री प्रकाशित करता था, ताकि उनमें आदर्श मानव, आदर्श सत्याग्रही और अच्छे नागरिक बनने की सामर्थ्य आ जाय। चारित्रिक, नैतिक और धार्मिक मानमूल्यों की चर्चा करनेवाले लेख मुख्यतः गांधी जी की लेखनी से निःसृत होते थे और वे एक युगान्तकारी महापुरुष के तत्कालीन अध्ययन एवं चिन्तन के प्रतीक हैं।

ऐसे ही लेखों में अन्यतम है 'इण्डियन ओपीनियन' में प्रकाशित विचारपूर्ण कृति 'नीति-धर्म अथवा धर्म-नीति'। यह पुस्तक शिकागो के नैतिक-संस्कृति संघ के संस्थापक विलियम मैकिंटर साल्टर के 'एथिकल रिलीजन' का स्वतन्त्र गुजराती अनुवाद है। साल्टर की कृति का प्रथम प्रकाशन अमरीका में १८८९ मार्च में हुआ था और फिर यह १९०५ में इंग्लैण्ड में प्रकाशित की गई थी। गुजराती लेखमाला में गांधी जी ने पन्द्रह में से आठ का सार प्रस्तुत किया था। ये लेख क्रमशः 'इण्डियन ओपीनियन' के ५।१।१९०७, १२।१। १९०७, १९।१।१९०७, २६।१।१९०७, २।२।१९०७, ५।२।१९०७, १६।२।१९०७ और २३।२।१९०७, के अंकों में प्रकाशित हुए थे। यहां हम इन लेखों का सार-संक्षेप प्रायः गांधी जी के शब्दों में प्रस्तुत कर रहे हैं।—सम्पा०]

...आजकल दुनिया में पाखण्ड बढ़ गया है। किसी भी धर्म का मनुष्य क्यों न हो, वह अपने धर्म के बाहरी रूप का ही विचार करता है और अपने सच्चे कर्त्तव्य को भुला देता है। धन का अत्यधिक उपयोग करने से दूसरे लोगों को क्या कष्ट होते हैं या होंगे इस बात का विचार हम क्वचित् ही करते हैं। अत्यन्त मृदुल

और नन्हें-नन्हें प्राणियों को मार कर यदि उनकी खाल के कोमल दस्ताने वनाये जा सकें तो एसे दस्ताने पहिनने में युरोप की महिलाओं की तनिक भी हिचक नहीं होती।...चारों ओर इस तरह की हालत देखकर युरोप और अमरीका में वहुत-से लोग धर्म के विरोधी हो गये हैं।...

यह देख कर अभी-अभी अमरीका तथा युरोप में अनेक लोग सामने आये हैं। उन्हें भय है कि इस तरह धर्म का नाश होने से दुनिया का वहुत नुकसान होगा और लोग नीति का रास्ता छोड़ देंगे इसलिए वे लोग भिन्न-भिन्न मार्गों से नैतिकता की ओर (लोगों को) प्रवृत्त करने की शोध में लगे हैं।

एक ऐसे संघ[1] की स्थापना हुई है जिसने विभिन्न धर्मों की छानवीन करके यह तथ्य प्रस्तुत किया है कि सारे धर्म नीति की ही शिक्षा देते हैं; इतना ही नहीं सारे धर्म नीति के नियमों पर ही टिके हुए हैं। लोग किसी धर्म को मानें या न मानें फिर भी नीति के नियमों का पालन करना तो उनका फर्ज है।...ये सब धर्मों का सार लेकर उसमें से केवल नीति के विषयों की ही चर्चा करते हैं; उसी सम्वन्ध में लिखते हैं और तदनुसार स्वयं व्यवहार करते हैं। अपने इस मत को वे नीति-धर्म या 'एथिकल रिलीजन' कहते हैं।...

श्री साल्टर अमरीका के एक विद्वान सज्जन हैं। उन्होंने एक पुस्तक प्रकाशित की है। वह पुस्तक वड़ी खूवियों से भरी है। उसी पुस्तक का सारांश हम प्रति सप्ताह देना चाहते हैं। इस पुस्तक के लेखक के सम्वन्ध में इतना ही कहना आवश्यक है कि वे जितना करने की सलाह हमें देते हैं उतना वे स्वयं करते हैं।...

जिससे हम अच्छे विचारों में प्रवृत्त हो सकते हैं, वह हमारी नैतिकता का परिणाम माना जायगा। दुनिया के सामान्य शास्त्र हमें वतलाते हैं कि दुनिया कैसी है। नीति-मार्ग यह वतलाता है कि दुनिया कैसी होनी चाहिए। इस मार्ग से यह जाना जा सकता है कि मनुष्य को किस प्रकार आचरण करना चाहिए।... नीति का विचार वास्तुकार के नक्शे की तरह है। नक्शा तो केवल यह वतलाता है कि घर कैसा वनाया जाय। पर जैसे चुनाई और वाँधने का कार्य न किया जाय तो नक्शा वेकार ही होगा, उसी तरह नीति के अनुसार आचरण न किया जाय तो नैतिकता का विचार भी वेकार हो जायगा। वहुत लोग नीति के वचन याद करते हैं, उसके सम्वन्ध से भाषण करते हैं, परन्तु तदनुसार आचरण नहीं करते और करना चाहते भी नहीं।

---

१. नैतिक सांस्कृतिक संघ शिकागो (संयुक्तराष्ट्र अमरीका)। इसकी स्थापना श्री साल्टर ने १८८५ के लगभग की थी।

फिर, कुछ यही मानते हैं कि नैतिकता के विचारों पर अमल करना इस दुनिया के लिए नहीं, मरने के वाद दूसरी दुनिया के लिए है। पर ये विचार सराहनीय नहीं माने जायंगे। एक विचारवान व्यक्ति ने कहा है कि यदि पूर्ण वनना है तो हमें आज ही हर तरह के कष्ट उठाकर नीति के अनुसार आचरण करना चाहिए।

खुदा या ईश्वर सर्वशक्तिमान है, सम्पूर्ण है। उसकी दया, उसकी अच्छाई तथा उसके न्याय का पार नहीं है। यदि यह सत्य है तो उसके वन्दे कहलानेवाले हम लोग नीति-मार्ग का परित्याग कर ही कैसे सकते हैं? नीति के अनुसार आच-रण करनेवाला यदि असफल होता दिखाई दे तो इसमें कोई नीति का दोप नहीं है। वह दोप नीति-भंग करनेवाले को स्वयं अपने ऊपर लेना होगा।

नीति-मार्ग में नीति का पालन करते हुए उसका फल प्राप्त करने की वात तो उठती ही नहीं: मनुष्य भलाई करता है तो कुछ प्रशंसा प्राप्त करने के लिए नहीं। वह भलाई किये विना रह ही नहीं सकता। सुन्दर भोजन और भलाई की यदि तुलना की जाय, तो भलाई उसके लिए श्रेप्ठ भोजन है। ऐसे मनुप्य को यदि कोई भलाई का अवसर दे तो वह भलाई का अवसर देनेवाले का आभारी होगा, वैसे ही, जैसे कोई भूखा अपने अन्नदाता को दुआ देता है।

नीति-विपयक प्रचलित विचार वजनदार नहीं कहे जा सकते। कुछ लोग यों मानते हैं कि नीति की वहुत आवश्यकता नहीं है। फिर कुछ लोगों का कहना है कि धर्म और नीति में कोई सम्वन्ध नहीं है। पर दुनिया के धर्मों का परीक्षण किया जाय तो दीख पड़ेगा कि नीति के विना धर्म टिक नहीं सकता। सच्ची नीति में धर्म का वहुत-कुछ समावेश हो जाता है। जो लोग अपने स्वार्थ के लिए नहीं, वल्कि नीति के लिए ही नीति-नियमों का पालन करते हैं उन्हें धार्मिक कहा जा सकता है।

इसके अलावा, सच्ची नीति का नियम यह है कि उसमें हमारे लिए अपने परिचित मार्ग पर चलना ही वस नहीं, वल्कि जिस मार्ग को हम सच्चा समझते हैं, उससे हम परिचित हों या नहीं, फिर भी उस पर हमें चलना चाहिए। मतलव यह कि जव हम जानते हों कि अमुक मार्ग सही है तव हमें निर्भयता के साथ संकल्प-पूर्वक उसमें कूद पड़ना चाहिए। नीति का इस तरह पालन किया जाय, तभी हम आगे वढ़ सकते हैं। यही कारण है कि नैतिकता, सच्ची सभ्यता और सच्ची उन्नति ये तीनों सदा एक साथ दिखाई देती हैं।

इच्छा दो प्रकार की होती है। एक तो अपना निजी स्वार्थ साधने की, जिनकी पूर्ति का प्रयत्न करना ही अनीति है। दूसरे प्रकार की इच्छाएं वे होती हैं जिनके कारण हम हमेशा भले वनने तथा परहित साधने की ओर रुझान रखते हैं। हम कितनी ही भलाई क्यों न करें, हमें उसका कभी गुमान नहीं करना चाहिए, और

न उसकी कीमत आँकनी चाहिए, वल्कि निरन्तर यह इच्छा करते रहना चाहिए कि हम और अधिक अच्छे वनें, और अविक भलाई करें। ऐसी इच्छाओं की पूर्ति के लिए किये गये आचरण एवं व्यवहार का नाम ही सच्ची नीति है।

हमारे पास घरवार न हो तो इसमें शर्माने-जैसी कोई वात नहीं होती। परन्तु घर वार हो और उसका दुरुपयोग करें, वन्धा मिले और उसमें वदमाशी करें, तो हम नीति के मार्ग से च्युत होते हैं। जो हमारे लिए कर्त्तव्य है उसको करने में ही नीति निहित है।...नीति के समस्त नियमों का दोहन किया जाय, तो हम देखेंगे कि मानव-जाति के कल्याण के लिए प्रयास करना ही उत्कृष्ट नीति है। इस कुंजी से नीति-रूपी मंजूषा को खोलकर देखने पर नैतिकता के अन्य नियम हमें उसमें मिल जायंगे।

हमारे अधिकतर कामों में विशेष रूप से नीति का समावेश नहीं होता। प्रायः हम लोग सामान्य रीति-रिवाज के मुताविक चलते हैं। वहुधा ऐसी रूढ़ियों के अनुसार चलना जरूरी होता है।...पर इस प्रकार रूढ़ि-निर्वाह को नीति का नाम देना उचित नहीं माना जा सकता।

नैतिक काम तो अपनी ओर से यानी स्वयंस्फूर्त होना चाहिए। जहांतक हम यन्त्र के पुर्जे के रूप में काम करते हैं वहाँ तक हमारे काम में नीति का समावेश नहीं होता। यन्त्र के पुर्जे के समाना कार्य करना उचित है, और हम वैसा करते हैं, तो यह विचार नैतिक है, क्योंकि उसमें हम अपनी विवेक-वुद्धि का उपयोग करते हैं। यह यंत्रवत् काम और उस काम को करने का विचार करना, दोनों में जो भेद है वह ध्यान में रखने-योग्य है।...जो मनुष्य अपनी वुद्धि और मस्तिष्क का उपयोग नहीं करता और वाढ़ के पानी में लकड़ी की तरह वहता रहता है, वह नीति को कैसे समझेगा? कभी-कभी मनुष्य परम्परा से विमुख होकर परमार्थ की इच्छा से कर्म करता है।...जव हम सवको इसी की चिन्ता रहे कि हमारा अन्तर क्या कहता है, तव समझना चाहिए कि हम नीति की सीढ़ी पर पहुँच गये हैं। परन्तु यह स्थिति हमें तवतक नहीं प्राप्त होती जवतक हम यह नहीं मान लेते और अनुभव नहीं करते कि सवके अन्तर में निवास करनेवाला परमेश्वर हमारे सारे कार्यों का साक्षी है।

...अमुक कार्य में नैतिकता है या नहीं, यह कर्त्ता के इरादे पर निर्भर है। दो मनुष्यों ने एक ही कार्य किया हो, तथापि एक का काम नीति-युक्त और दूसरे का नीति-रहित हो सकता है।...ऐसा भी हो सकता है कि नैतिक कार्य का परिणाम सदा अच्छा होता नहीं दीखता। हमें नीति के सम्वन्ध में विचार करते हुए इतना-भर देखना है कि किया गया काम शुभ है और शुद्ध इरादे से किया गया है।

उसके परिणाम पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है। फलदाता तो एकमात्र परमेश्वर है।

. . नैतिक कार्य शुद्ध हेतु से किया जाय, इतना ही बस नहीं है; वह बिना दबाव के भी किया जाना चाहिए। अपने दफ्तर में समय पर न पहुंचने से मैं अपनी नौकरी खो बैठूंगा, इस भय से यदि मैं बड़े सवेरे उठूं तो उसमें किसी प्रकार की नैतिकता नहीं है। अर्थात् नीतियुक्त काम जोर-जबरदस्ती और भय से रहित होना चाहिए। . .

. . . जिस प्रकार नैतिक कार्य में भय या जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए उसी प्रकार स्वार्थ भी नहीं होना चाहिए। . . .

जिस प्रकार इस दुनिया में लाभ पाने की दृष्टि से किया गया काम नैतिक नहीं माना जाता, ठीक उसी प्रकार परलोक में लाभ पाने की आशा से किया गया कार्य भी नीतिरहित है। भलाई भलाई के लिए करनी है, इस दृष्टि से किया गया काम नीतिमय माना जायगा। . . . इस प्रकार नीति का पालन करना मौत पर विजय पानेवालों का काम है। मित्रों के साथ सच्चे रहना और दुश्मनों से दगाबाजी करना तो कापुरुषता है। डरते-डरते भलाई का काम करनेवाले नीतिरहित ही माने जायंगे। . . . मनुष्य की नीति की परीक्षा करना अत्यन्त कठिन है क्योंकि उसके मन को हम परख नहीं सकते।

कोई काम अच्छा है या बुरा, इस सम्बन्ध में हम हमेशा अपना अभिप्राय देते रहते हैं। . . . अमुक काम अच्छा है या बुरा, यह इस बात पर निर्भर नहीं कि वह हमारे लिए लाभदायक है या हानिकारक। परन्तु इसकी तुलना करने में तो हम दूसरा ही दृष्टिकोण अपनाते हैं। हमारे मन में कुछ विचार रमे रहते हैं, जिनके आधार पर हम अन्य लोगों के कामों की परीक्षा करते हैं।

. . . भलाई-बुराई मनुष्य के स्वार्थ पर निर्भर नहीं है, और न वह मनुष्य की इच्छाओं पर ही निर्भर है। नीति और भावना के बीच सदैव सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। . . . भावना दिखाना निःसन्देह अच्छा है, पर नीति-विचार के द्वारा उसकी मर्यादा न बंधी हो तो वह विष-रूप बन जाती है।

हम यह भी देखते हैं कि नीति के नियम अचल हैं। मत बदलते रहते हैं परन्तु नीति नहीं बदलती। . . . सम्भव है, अज्ञान की दशा से हम नीति को न समझ पायें, पर ज्ञान-चक्षु खुलने पर उसे समझने में हमें कठिनाई नहीं होती। मनुष्य की दृष्टि हमेशा भले ही की ओर ही रहे, यह क्वचित् ही होता है। इसलिए अक्सर वह स्वार्थ की दृष्टि से देखने के कारण अनीति को नीति कह देता है। ऐसा समय तो अभी आने को है जब मनुष्य स्वार्थ के विचार छोड़कर केवल नीति-विचार की ओर ही ध्यान देगा। . . .

तब हमने देख लिया कि मनुष्यों की धारणाओं और इच्छाओं से परे नीति की ऐसी कुछ व्यवस्था है, जिसे हम विधान या कायदा कह सकेंगे। राज्य-कारोबार में भी जब हम विधान देखते हैं, तब नीति का भी विधान क्यों नहीं हो सकता, भले वह मानव-लिखित न हो,...नीति के विधान के मातहत रहना हमारा कर्तव्य है। नीति का विधान राज्य या व्यावसायिक विधान से भिन्न तथा श्रेष्ठ है।

...इस प्रकार नीति के नियमों और दुनियादारी के नियमों में बड़ा भेद है, क्योंकि नीति का वास हमारे हृदय में है। अनीति पर चलनेवाला मनुष्य भी अपनी अनीति स्वीकार करेगा।...इस नीति में या इसके निर्वाह में लोक-परम्परा या लोकमत की परवाह नहीं रहती। लोकमत या रीति-रिवाज जहांतक नीति के विधान का अनुसरण करते दिखाई दें वहीं तक वे नीतिमान व्यक्ति के लिए बन्धनकारक होंगे।

नीति का यह विधान कहां से आया? इसे राजा नहीं बनाते, क्योंकि भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न कानून देखने में आते हैं। सुकरात अपने जमाने में जिस नीति का पालन करते थे उसके विरुद्ध अनेक लोग थे, तो भी सारा संसार मानता है कि उनकी नीति ही सनातन थी, और वह सर्वदा रहनेवाली है। अंग्रेज कवि राबर्ट ब्राउनिंग कह गया है कि यदि कोई शैतान इस दुनिया में द्वेष और झूठ की दुहाई फिरवा दे, तो भी न्याय, भलाई और सत्य तो ईश्वरीय ही रहेंगे। अतः हम यह कह सकते हैं कि नीति का विधान सर्वोपरि और ईश्वरीय है।

ऐसे नीति-विधान का भंग कोई भी समाज या व्यक्ति अन्त तक नहीं कर सकता।...

सामान्य मान्यता यह है कि नीति और धर्म दो भिन्न विषय हैं। ...पर लेखक ने यह दिखाने का निश्चय कर रखा है कि नीति और धर्म के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। नीतिधर्म अथवा धर्मनीति का प्रसार करनेवाले संगठन मानते हैं कि धर्म का निर्वाह नीति के द्वारा होता है।...

...सर्व-सामान्य दृष्टि से नीति के बिना धर्म हो सकता है और धर्म के बिना नीति हो सकती है। ऐसे अनेक दुराचारी लोग दिखाई पड़ते हैं तो बुरे कर्म करते हुए भी धार्मिक होने का पाखण्ड करते हैं। इसके विपरीत, स्वर्गीय ब्रैडलो-जैसे नीतिपरायण लोग हैं जो अपने को नास्तिक कहलाने में अभिमान मानते हैं और धर्म का नाम लेते ही भागते हैं। इन दोनों मतों के लोग भूल करते हैं; और पहिले मतवाले तो भ्रम में ही नहीं, धर्म के बहाने अनीति का आचरण करके भयंकर हो जाते हैं।...नीति और धर्म एक हैं और उन्हें एक ही रहना भी चाहिए।

पूर्वकाल में नीति केवल सांसारिक रीति थी।...यों करते-करते जो अच्छी रीति थी वह कायम रही और बुरी नष्ट हो गई। ...ऐसा होते हम आज भी देखते हैं। मनुष्य जाने-अनजाने अच्छे रिवाजों को चालू रखता है। वह न नीति है, न धर्म है। फिर भी प्रायः दुनिया के नीति में खपने योग्य काम उपर्युक्त अच्छे रिवाज ही हैं।

इसके अलावा, मनुष्य के मन में धर्म का विचार प्रायः ऊपर ही ऊपर रहता है। कभी-कभी हम अपने पर आनेवाली आपत्तियों से बचने के लिए किये गये प्रयत्न को थोड़ा-बहुत धर्म मान लेते हैं। इस प्रकार भय-प्रेरित प्रीति के कारण किये गये मनुष्य के कामों को धर्म मानना भूल है।

लेकिन अन्त में ऐसा वक्त आता है जब मनुष्य इच्छापूर्वक, सोच-समझकर नुकसान हो या फायदा, मरे या जिये फिर भी दृढ़ निश्चय से सर्वस्व बलिदान की भावना लेकर पीछे देखे बिना चला जाता है। तब कहा जा सकता है कि उस पर सच्ची नीति का रंग चढ़ा है।

ऐसी नीति धर्म के बिना कैसे निभ सकती है?...जबतक नीति रूपी बीज को धर्मरूपी जल का सिंचन नहीं मिलता, वह अंकुरित नहीं होता, और पानी के बिना यह बीज सूखा ही पड़ा रहता है और दीर्घ काल तक बिना पानी के पड़ा रहे तो नष्ट हो जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि सच्ची नीति में सत्यधर्म का समावेश होना चाहिए। इसी विचार को दूसरे शब्दों में रखा जाय तो हम कह सकते हैं कि धर्म के बिना नीति का निर्वाह नहीं किया जा सकता, अर्थात् नीति का पालन धर्म के रूप से किया जाना चाहिए।

हम फिर यह भी पाते हैं कि दुनिया के महान् धर्मों में जो नीति-नियम लिखे गये हैं वे प्रायः एक-से ही हैं। इन धर्मों के प्रचारकों ने यह भी कहा है कि धर्म की नींव नीति है। यदि हम नींव को खोद डालें तो घर अपने-आप ढह जाता है, ठीक इसी प्रकार नीतिरूपी नींव टूट जाय तो धर्मरूपी महल एकदम धराशायी हो जायगा।
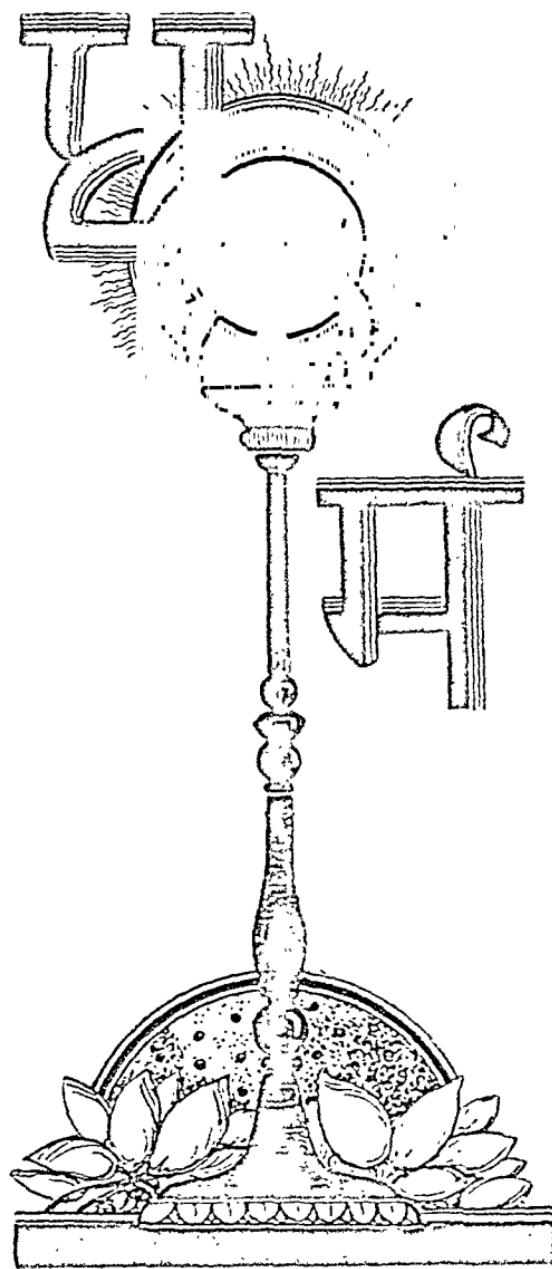
अब हमें देखना है कि हमारा स्वयं अपने प्रति क्या कर्तव्य है? पहिली बात तो यह है कि हमारे एकान्त व्यवहार को हमारे सिवा कोई नहीं जानता। ऐसे व्यवहार का असर हम पर ही होता है, अतः इसके लिए हम जिम्मेवार हैं।... उसका असर दूसरों पर भी होता है; अतः उसके लिए भी हम जिम्मेदार हैं। हर एक को अपनी उमंगों पर नियन्त्रण रखना चाहिए; अपना तन-मन स्वच्छ रखना चाहिए।...हमें अपनी इच्छाओं को काबू में रखना चाहिए। अर्थात्, हमें शराब नहीं पीनी चाहिए; असंयमपूर्वक बहुत अधिक खाना भी नहीं चाहिए,

नहीं तो आखिर शक्तिहीन होकर आवरू गंवानी होगी। जो मनुष्य विषयों से दूर रहकर अपने शरीर, मन, बुद्धि और जीवन की रक्षा नहीं करता वह वाह्य जीवन में सफल नहीं हो सकता।
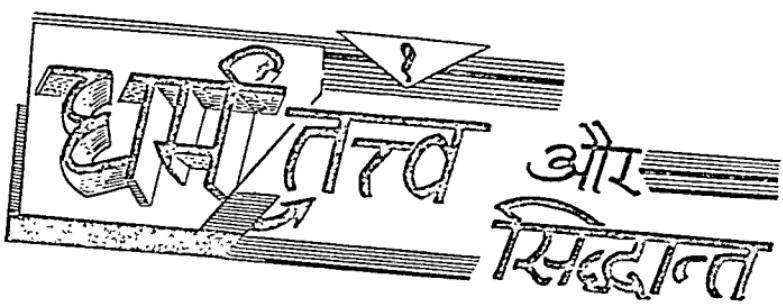
सवसे श्रेष्ठ लक्ष्य मनुष्य मात्र की सेवा करना और उसकी स्थिति सुधारने में हाथ वँटाना है। इसमें ईश्वर की सच्ची प्रार्थना, सच्ची पूजा का समावेश हो जाता है। जो मनुष्य ईश्वर का काम करता है वह ईश्वरीय पुरुष है।...मनुष्य-मात्र को समुचित स्थिति प्राप्त हो, ऐसे नियम का प्रत्येक मनुष्य पालन कर सकता है।...इस नियम का पालन करनेवाला मनुष्य कभी नीति-धर्म से विचलित नहीं होता। क्योंकि इससे विचलित होकर मनुष्य-समाज का उत्कर्ष करने की धारणा सफल नहीं हो सकती।

हम अव सिलसिलेवार विचार करें। हमें यह निरन्तर देखना होता है कि हमारा रहन-सहन सुधारनेवाला है या विगाड़नेवाला। व्यापार करनेवाला व्यापारी प्रत्येक सौदे के समय सोचेगा कि वह स्वयं ठगाता तो नहीं या दूसरे को ठगता तो नहीं? यही ध्येय सामने रखकर वकील और वैद्य अपनी कमाई के वदले अपने मुवक्किल या रोगी के हित में पहिले सोचेगा।...इस सवका सारांश यह निकलता है कि यदि मजदूर अपने कर्तव्य का पालन नैतिकतापूर्वक करता है तो स्वच्छन्द चलनेवाले धनाढ्य व्यापारी, वैद्य या वकील से वह कहीं अच्छा माना जायगा।... मनुष्य का मूल्य उसके रहन-सहन के तरीके पर निर्भर है, उसके पद पर नहीं। इस रहन-सहन की परीक्षा उसके वाह्य जीवन से नहीं होती। वह तो उसकी अन्तर्वृत्ति को जानकर ही की जा सकती है।...

जो मनुष्य स्वयं शुद्ध है, द्वेपरहित है, किसी से गलत लाभ नहीं उठाता, हमेशा पवित्र मन से व्यवहार करता है, वही मनुष्य धार्मिक है; वही सुखी है और वही धनवान है।...जो मनुष्य स्वयं ही नीति का पालन नहीं करता वह दूसरों को क्या सिखायेगा? ...नैतिकता का आचरण करनेवाला मनुष्य कभी यह सवाल नहीं उठाता कि दुनिया की सेवा किस प्रकार की जाय, क्योंकि यह सवाल ही उसके मन में नहीं उठता। मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है :—एक समय था जव मैं अपने मित्र के लिए स्वास्थ्य, विजय और कीर्ति की कामना किया करता था। पर अव वैसा नहीं करता। क्योंकि मेरे मित्र का सुख-दुःख, स्वास्थ्य, विजय और कीर्ति पर अवलम्वित नहीं है। अतः अव हमेशा मेरी यह कामना रहती है कि उसकी नैतिकता सदा अचल रहे।

१
धर्म तत्व और सिद्धान्त

१. प्रार्थना

प्रार्थना वही है, जिसके साथ अनुरूप क्रिया भी हो ,अन्यथा वह व्यर्थ तोता-रटन्त मात्र है।
—इं० ओ०, ८।१०।१९०३]

२. ईश्वर

हम ईश्वर को अपने-अपने नाप से नापते हैं और भूल जाते हैं कि उसके तरीके हमारे तरीकों से अलग हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो हम जिसे भूल से नम्रता और प्रार्थना का नाम देते हैं उसके बावजूद हमसे बहुत-सी चीजें छिन गई होतीं। प्रभु सर्वज्ञ है। उसका सूर्य भले और बुरे सब को समान रूप से प्रकाश देता रहता है।
—इं० ओ० ८।१०।१९०३]

३. ईश्वर

वह (ईश्वर) चौबीस घण्टे सारी बातें सुनता है। अर्जी सुनने के लिए हमें उससे समय नहीं माँगना है, न कभी माँगना ही पड़ता है। वह सबकी अर्जी एक साथ सुनता है।
—गुजराती से। इं० ओ०, २७।७।१९०७]

४. धर्मों की अभेदता

हिन्दू हिन्दू-धर्म की ओर अधिक आकर्षित दिखाई देते हैं, मुसलमान इस्लाम की ओर, और अन्य भारतीय अपने-अपने धर्मो की ओर। यही ठीक भी है। हमारा दृढ़ मत है कि यदि भारत का कल्याण होना होगा तो इसी मार्ग से होगा। हर धर्मवाले यदि अपने-अपने धर्म का सच्चा रहस्य समझ जायँ तो आपस में द्वेष कर

ही नहीं सकते। जलालुद्दीन रूमी[1] के कथनानुसार या जैसा श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है उसके अनुसार, नदियां वहुत हैं और अलग-अलग दिखाई देती हैं, फिर भी सवका मिलाप समुद्र में होता है। इसी प्रकार धर्म भले ही वहुत हों, फिर भी सवका सच्चा उद्देश्य एक ही है, खुदा या ईश्वर का दर्शन कराना। अतः उद्देश्य की दृष्टि से धर्मों में भेद नहीं है।

—गुजराती से। इं० ओ० ९।११।१९०७]

५. धर्म की व्याख्या

धर्म से मेरा मतलव औपचारिक या रूढ़ धर्म नहीं है, वल्कि मेरा तात्पर्य उस धर्म से है जो सव धर्मों की तह में होता है, जो लोगों का अपने सिरजनहार से साक्षात्कार कराता है। यदि आप मनुष्य को तिलाञ्जलि देते हैं और विना कोई शारीरिक असुविधा झेले ट्रांसवाल में रहने के उद्देश्य से समझ-वूझ कर किया हुआ संकल्प तोड़ते हैं तो आप निस्सन्देह अपने प्रभु से विमुख होते हैं। ईसा मसीह के वचनों को दुहराते हुए कहना पड़ेगा कि जो भगवान का अनुचर होना चाहते हैं, उन्हें संसार का परित्याग करना पड़ता है।

—अंग्रेजी। इं० ओ०, १८।१।१९०८]

६. प्रभु पर आस्था

जो व्यक्ति भगवान पर भरोसा रखता है उसके लिए न कोई आतंक है, न कोई भय है।

—अंग्रेजी। इं० ओ० १८।१।१९०८]

७. प्रभु का आश्वासन

हर धर्म-ग्रन्थ में लिखा है कि जो मेरे साथ है उसकी मनोकामना मैं पूरी करूंगा।

—गुजराती। इं० ओ०, १९।१२।१९०८]

---

१. प्रसिद्ध ईरानी सूफ़ी सन्त।

८. प्रभु पर विश्वास

जो धर्म, दीन और ईमान की रक्षा उचित प्रकार से करता है वही सत्याग्रही हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि जो मनुष्य सब कुछ खुदा या ईश्वर पर ही छोड़ देता है उसको संसार में कभी हारना नहीं पड़ता। लोग हारा हुआ कहें, इससे वह हारा हुआ नहीं माना जायगा। लोग उसे जीता हुआ मानें तो उसमें उसकी जीत भी नहीं है। इसको जो जानता है, वही जानता है।

—गुजराती। इं० ओ०, २९।५।१९०९]

९. धर्म और परमार्थ

हमारा धर्म तो सदा परमार्थ सिखाता है।

—श्री खुशालचन्द गांधी को लिखे पत्र से। लन्दन, ३।१०।१९०९]

१०. धर्म : कुछ दृष्टिकोण

मुझे तो धर्म प्यारा है, इसलिए पहिला दुःख तो यह है कि भारत धर्मच्युत होता जा रहा है। यहाँ मैं धर्म का अर्थ हिन्दू, मुसलमान या जरथुस्त्र धर्म नहीं करता। परन्तु इन सब धर्मों में जो धर्म निहित है वह समाप्त होता जा रहा है। हम ईश्वर से विमुख होते जा रहे हैं।...

हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई सभी धर्म सिखाते हैं कि हमें सांसारिक बातों के प्रति मन्द और धार्मिक बातों के प्रति उत्साही रहना चाहिए। हम अपने सांसारिक लोभ की सीमा बाँध दें और धार्मिक लोभ को मुक्त रखें, अपना उत्साह उसी में रखें।...

पाखण्ड तो सब धर्मों में है। जहाँ सूर्य है, वहाँ अँधेरा भी है। परछाई हर वस्तु की होती है। आप देखेंगे—धार्मिक धूर्त सांसारिक धूर्तों से अच्छे हैं।...

सभ्यता चूहे की भाँति फूंक-फंक कर काटती है। जब हम को उसके प्रभाव का ज्ञान होगा, तब उसकी तुलना से हमें पुराने अन्ध-विश्वास मीठे लगेंगे। मैं नहीं कहता कि हम उन उन अन्ध विश्वासों को कायम रखें। नहीं, उनसे तो हम अवश्य लड़ें। परन्तु वह लड़ाई धर्म को भूल जाने से नहीं लड़ी जायगी, बल्कि ठीक प्रकार से धर्म-सम्पादन करके लड़ी जा सकेगी।

—हिन्द स्वराज्य। अध्याय ८, भारत की दशा। इं० ओ०, ११।१२।१९०९]

- **सब धर्मों में जो धर्म निहित है वह समाप्त होता जा रहा है। हम ईश्वर से विमुख होते जा रहे हैं।**
- **सभ्यता चूहे की भाँति फूंक-फूंककर काटती है।**

११. धार्मिक सद्भावना

...कह सकते हैं कि जितने व्यक्ति उतने धर्म। एक राष्ट्र होकर रहने-वाले लोग एक-दूसरे के धर्म की आड़ नहीं आते।...

धर्म तो एक ही जगह पहुँचने के अलग-अलग रास्ते हैं...अन्य व्यक्ति ऐसे धर्म का पालन करता है जो हमें पसन्द नहीं आता, तो इसीलिए उसके प्रति वैर-भाव रखना उचित नहीं है। हमें उसके साथ ज़बर्दस्ती नहीं करनी चाहिए।

—हिन्द स्वराज्य, अध्याय १०, भारत की दशा, हिन्दू मुसलमान। इं० ओ० ११।१२।१९०९]

- **धर्म तो एक ही जगह पहुँचने के अलग-अलग रास्ते हैं।**

१२. दैवी सम्पत्

दैवी सम्पत् का प्रथम गुण अभय है।

—श्री नारायणदास गांधी को लिखे पत्र से। जोहानिसबर्ग, फाल्गुण बदी ४, संवत् १९६६। २९।३।१९१०। सं० गां० वां०, खण्ड १०, पृ० २१३]

१३. सर्व-धर्म-समता

धर्म भले ही अलग-अलग हों, किन्तु एक ही परमपुरुष को —एक ही वस्तु को—आप अल्ला के नाम से, दूसरा खुदा के नाम से और मैं ईश्वर के नाम से पूजूं तो इसमें क्या बुराई है। आप एक दिशा में मुँह करके पूजते हैं और मैं दूसरी दिशा में मुँह करके, तो इसके कारण मैं आपसे क्यों वैर बाँधूं?...

—गुजराती। इं० ओ०, २८।१०।१९११]

१४. आत्मान्वेषण

[श्री जमनादास गांधी को लिखे पत्र से]

हमारी सारी प्रवृत्ति केवल आध्यात्मिक होनी चाहिए। सब कुछ—यहाँ तक कि आरोग्य भी—इसके अन्दर आ जाता है। इतना निश्चित है कि जो

व्यक्ति आत्मा की खोज से लगा हुआ है, उसे शेष सब अपने-आप मिलता जाता है।

—ज्येष्ठ वदी १४। १९६९। २।७।१९१३। सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृ० १२१]

१५. सन्त-समागम

सन्त से भेंट होने पर कोई व्यक्ति सन्त नहीं बन जाता; सच्ची बात तो यह है कि खुद सन्त बनने पर ही सन्त मिला करते हैं।

—गुजराती। इं० ओ०, २३।८।१९१३]

१६. ब्रह्मचर्य-पालन एवं वैभव

मैं यह मानता हूँ कि जिसे ब्रह्मचर्य-पालन करना हो उसे वैभवशाली वातावरण में नहीं रहना चाहिए।

—श्री रावजी भाई पटेल को लिखे पत्र से। केपटाउन, माघ वदी १२ संवत् १९७०, २१।२।१९१४। सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृ० ३४९]

१७. धर्म और राजनीति

राजनीति को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता। धर्म से विच्छिन्न राजनीति गिरानेवाली चीज़ बन जाती है।

—वाई० एम० सी० ए०, मद्रास में दिये भाषण से, २७।४।१९१५। अंग्रेजी से स्पीचेज़ ऐण्ड राइटिंग आफ़ महात्मा गांधी। सं० गां० वां०, खण्ड १३, पृ० ७०]

१८. धर्म-भावना

धर्म-भावना के बिना कोई भी बड़ा कार्य नहीं हुआ है और न कभी भविष्य में होगा।

—सूरत आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में दिये गये भाषण से, २।१।१९१६। गुजराती से। 'गुजरात मित्र अने गुजरात दर्पण' ९।१।१९१६। गुजराती, ९।१।१९१६। सं० गां० वां०, खण्ड १३, पृ० १९०]

१९. तपस्या

तपस्या धर्म का पहिला और अन्तिम चरण है।

—द्वितीय गुजरात शिक्षा सम्मेलन में दिये गये भाषण से। भड़ौंच, २०।१०।१९१७ गुजराती। महात्मा गांधीनी विचारसृष्टि। सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० ३८]

२०. व्रत का महत्व

[श्री चन्दुलाल को लिखे गये पत्र से]

व्रतों के विना चरित्र का विकास नहीं होता, ऐसी मेरी मान्यता है। जैसे जहाज़ के विना लंगर है वैसे ही मनुष्य के लिए व्रत है और जैसे लंगर-विहीन जहाज इधर-उधर डोलता हुआ अन्त में चट्टानों से टकरा कर टूट जाता है, व्रतों से रहित मनुष्य की दशा भी वैसी ही होती है।

—मोतीहारी, कार्तिक सुदी ८।२२।११।१९१७। सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० ९४]

२१. भगवान के प्रति समर्पण

[सुश्री एस्थर फेरिंग को लिखे गये पत्र से]

ईश्वर की गति न्यारी और वुद्धि से परे है। हमें यह मान कर चलना चाहिए कि मनुष्य की कोई विसात नहीं, परमात्मा की मर्जी ही सव कुछ है।

—मोतीहारी, चम्पारन, १२।१२।१९१७। अंग्रेजी। 'माई डियर चाइल्ड'। सं० गां० वां० खण्ड १४, पृ० १०४]

२२. अपराजित

जिसने धर्म की रक्षा की है वह कभी हारेगा नहीं। वह कभी भूखा नहीं मरेगा।

—सुणाव में दिये गय भाषण से, २२।४।१९१८। गुजराती। खेड़ा सत्याग्रह। सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० ३४७]

२३. धर्म और विद्या

'विद्या धर्मेण शोभते'—यह वाक्य सत्य है। धर्म के बिना विद्या या शिक्षा का परिणाम शून्य ही होता है. . .धर्म विचार का नहीं, आचरण का विषय है। यह भी भलीभाँति ध्यान रखना चाहिए कि वह भाषा का विषय नहीं है।

—अहमदाबाद, २९।६।१९१९। 'गुजराती', १३।७।१९१९। गुजराती से। सं० गां० वां० खण्ड १५, पृ० ४२३]

○ धर्म विचार का नहीं, आचरण का विषय है।

२४. दया धर्म का मूल है

धर्म दया में है। तुलसी दया को धर्म का मूल कहते हैं।

—नडियाद, ६।७।१९१९। 'गुजराती', २०।७।१९१९। गुजराती। सं० गां० वां०, खण्ड १५, पृ० ४५५]

२५. मोक्षाग्रह

[श्री महादेव देसाई को लिखे पत्र से]

वह व्यक्ति जो मोक्ष का आग्रह नहीं रखता मनुष्य नहीं है, वह केवल पशु है।

—सोमवार, १५।९।१९१९। अंग्रेजी से अनूदित। क्लक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० १४७]

२६. प्रार्थना और उपवास

प्रार्थना आत्मा की अभिलाषा व्यक्त करती है और उपवास आत्मा को प्रभावशाली प्रार्थना हेतु उन्मुक्त रखता है।

—यं० इं०, ४।१०।१९१९। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० २०७]

२७. वास्तविक धर्म

मैं समझा दूँ कि धर्म से मेरा क्या मतलब है। मेरा मतलब हिन्दू-धर्म से नहीं है, जिसे मैं बेशक दूसरे सब धर्मों से अधिक पसन्द करता हूँ। मेरा मतलब उस

मूल धर्म से है जो हिन्दू-धर्म को लाँघ गया है; जो मनुष्य के स्वभाव तक का परिवर्तन कर देता है; जो भीतरी सत्य के साथ हमारा अटूट सम्बन्ध जोड़ता है और जो हमें निरन्तर अधिक शुद्ध और पवित्र करता रहता है। वह मानव स्वभाव का शाश्वत तत्व है, जो अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए कोई भी कीमत चुकाने को तैयार रहता है और आत्मा को उस समय तक बिल्कुल बेचैन रखता है, जबतक उसे अपने स्वरूप का पता नहीं लग जाता; सिरजनहार का ज्ञान नहीं हो जाता तथा स्रष्टा के और अपने बीच का सम्बन्ध समझ में नहीं आ जाता।

—यं० इं०, १२।५।१९२०]

● **वह (धर्म) मानव स्वभाव का शाश्वत तत्व है।**

२८. निष्काम कर्म

अपने ऊपर आ पड़े कर्त्तव्य का निर्वाह करते समय भविष्य के विषय में न सोचना, यह निष्काम कर्म है और यही धर्म है।

—गुजराती। न० जी०, ११।७।१९२०]

२९. मेरे धर्म की सार्वदेशिकता

मेरे धर्म की भौगोलिक सीमाएँ नहीं हैं।

—यं० इं०, ११।८।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १८, पृ० १३४]

३०. पूर्ण ब्रह्मचर्य एक काल्पनिक स्थिति है

सेलिबेसी—कौमार्य शब्द से मिलता-जुलता संस्कृत शब्द ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य सेलिबेसी—कौमार्य से बहुत अधिक अर्थ देता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है समस्त अंगों और इन्द्रियों पर पूरा नियन्त्रण। पूर्ण ब्रह्मचारी के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। किन्तु यह एक आदर्श स्थिति है, जो कभी-कभी ही प्राप्त होती है। यह लगभग यूक्लिड की रेखा की तरह है जिसका केवल कल्पना में अस्तित्व है, और जिसे भौतिक रूप में कभी नहीं खींचा जा सकता। फिर भी यह भूमिति की महत्वपूर्ण परिभाषा है, जिससे बड़े परिणाम निकलते हैं। इसलिए एक पूर्ण ब्रह्मचारी का अस्तित्व केवल कल्पना में सम्भव है। किन्तु यदि हम इसे सतत मन की आँख के समक्ष न

रखें तो हम लंगरहीन जहाज की तरह होंगे। काल्पनिक स्थिति के जितने निकट पहुँच जायं, पूर्णता उतनी ही अधिक होगी।

—यं० इं०, १३।१०।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी खण्ड १८, पृ० ३४५]

३१. हिंसा और धर्म

मेरे लिए हिंसा धर्म की अस्वीकृति है।

—गुजराती। न०जी०, ३१।१०।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १८, पृ० ४००]

३२. ईश्वर

ईश्वर ही हमारा पालन-पोषण करता है।

—गुजराती। न० जी०, ३।११।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १८, पृ० ४०२]

३३. शास्त्र-प्रदत्त अधिकार

सभी शास्त्र युवकों को स्वयं सोचने का अधिकार देते हैं।

—मूल गुजराती। न० जी० २१।११।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृष्ठ १२]

३४. धर्म और शरीर

शरीर धर्म के पश्चात् आता है। शरीर के लिए धर्म का बलिदान नहीं किया जा सकता, जबकि शरीर का धर्म के लिए उत्सर्ग किया जा सकता है।

—मूल हिन्दी। आज, ३०।११।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृ० ३६]

३५. तपस्या

तपस्या जीवन में सबसे बड़ी कला है।
—हि० न० जी०, १०।२।१९२४]

३६. अन्तरात्मा और धर्म

अन्तरात्मा तो अभ्यास से जाग्रत होती है। वह मनुष्य-मात्र में स्वाभावतः जाग्रत नहीं होती। उसके अभ्यास के लिए अत्यन्त पवित्र वायुमण्डल और सतत प्रयत्न की ज़रूरत होती है। वह अत्यन्त नाजुक चीज़ है। बालकों के निकट अन्तरात्मा की पुकार-जैसी कोई चीज़ नहीं होती। जो लोग जंगली माने जाते हैं उनके अन्तःकरण नहीं होता। अन्तःकरण क्या चीज़ है? परिपक्व बुद्धि के मार्ग से हमारे अन्तर्पट पर पड़नेवाली प्रतिध्वनि। अतएव अगर हर व्यक्ति अन्तरात्मा की पुकार का दावा करे, तो वह हास्यजनक है।

ऐसा होने पर भी यदि सब लोग उसका दावा करते हैं तो इससे परेशान होने की ज़रूरत नहीं। अन्तरात्मा के नाम पर जो अधर्म किया जाता है, वह अधिक दिन नहीं टिक सकता। फिर वे लोग जो अन्तरात्मा की पुकार के बहाने काम करते हैं, कष्ट-सहन के लिए तैयार नहीं होते। उनका रोज़गार दो दिन चलकर बन्द हो जाता है। अतएव ऐसा दावा सैकड़ों लोग भले ही करते रहें, उससे संसार को हानि न होगी। हाँ, जिन्होंने ऐसी सूक्ष्म वस्तु के साथ खिलवाड़ किया होगा, उनके नाश की सम्भावना ज़रूर है; दूसरों की नहीं।
—न० जी०। हि० न० जी०, २४।८।१९२४]

- **अन्तरात्मा तो अभ्यास से जाग्रत होती है।**
- **अन्तःकरण क्या है? परिपक्व बुद्धि के मार्ग से हमारे अन्तर्पट पर पड़ने वाली प्रतिध्वनि।**

३७. जीवन से भी श्रेष्ठ

धर्म जीवन से बढ़कर है। इस बात को याद रखिए कि दूसरे धर्मों के साथ तात्विक तुलना करने में, चाहे किसी का धर्म नीचा ठहरता हो, परन्तु उसे तो अपना वह धर्म सबसे सच्चा और प्रिय ही मालूम होता है।
—यं० इं०। हि० न० जी०, ३१।८।१९२४]

३८. ईश्वर ही कर्ता है

. . . . मैं जानता हूँ कि मैं कुछ नहीं कर सकता। ईश्वर ही सब कुछ कर सकता है। प्रभु, मुझे योग्य साधन बना और मुझसे अपना वांछित काम ले।

मनुष्य कोई चीज़ नहीं। नैपोलियन ने क्या-क्या मंसूबे बाँधे, पर उसे सेंट हेलेना में एक कैदी बन कर रहना पड़ा। जर्मन सम्राट कैसर[1] ने युरोप के तख़्त पर अपनी नजर गड़ाई, पर आज वह एक मामूली आदमी है। ईश्वर को यही मंजूर था। हम ऐसे उदाहरणों पर विचार करें, तो और नम्र बनें।

—यं० इं०। ६।१०।१९२४। हि० न० जी०, १२।१०।१९२४]

३९. मेरे विश्वास का आधार

मेरा तो सारा भरोसा ईश्वर पर है। और मैं मनुष्यों पर भी इसलिए भरोसा रखता हूं कि मुझे ईश्वर पर पूरा विश्वास है। यदि मेरा आधार ईश्वर पर न होता तो मैं शेक्सपियर-वर्णित एथेंस के टिमन की तरह मनुष्य जाति से घृणा करने लगता।

—यं० इं०। हि० न० जी०, ७।१२।१९२४]

४०. धर्म-भावना और सम्पत्ति-त्याग

धार्मिकता की पराकाष्ठा पर पहुँचने के लिए हर प्रकार की सम्पत्ति का त्याग आवश्यक है। इस प्रकार अपने जीवन-धर्म का निश्चय हो जाने पर हमें अपनी शक्ति के अनुसार उसका पालन करना चाहिए, अधिक नहीं। यही मध्यम मार्ग है। जब कोई डाकू 'अ' की सम्पत्ति छीनने आये तो वह उसे सब कुछ दे देगा—अगर वह उसे अपने सगा भाई मानता होगा। यदि उसके हृदय में ऐसा भाव न पैदा हो पाया हो, वह डाकू से डरता हो और चाहता हो कि कोई आकर उसे मार भगाये तो अच्छा हो, तो उसे उसको पछाड़ देने की कोशिश करनी चाहिए। यदि वह डाकू से लड़ना तो चाहता हो, पर (उसके अन्दर) ताक़त न हो तो उसे डाकू को अपना काम करने देना चाहिए और अदालत में जाकर अपनी सम्पत्ति पाने की कोशिश

---

१. जर्मन सम्राट कैसर विल्हेल्म, जिसने युरोप में प्रथम महायुद्ध छेड़ा था। प्रथम महायुद्ध के अन्त में जर्मनी पराजित हुआ। सम्राट क़ैसर को निर्वासित होकर मामूली किसान का जीवन बिताना पड़ा।

करनी चाहिए । दोनों ही हालत में सम्पत्ति के चली जाने और मिल जाने की पूरी सम्भावना है। यदि वह मेरी तरह विचारशील पुरुष हो तो मेरे समान इस विचार पर पहुँचेगा कि यदि हम वास्तव में सुखी रहना चाहें, तो किसी प्रकार की सम्पत्ति न रखें, या तभी तक रखें जवतक हमारे पड़ोसी उसे रखने दें ।

इस अन्तिम स्थिति में हम अपने शरीर-वल के भरोसे नहीं रहते वल्कि उनके (पड़ोसियों के) सौजन्य पर रहते हैं। इसीलिए चरम नम्रता और ईश्वर पर भरोसा रखने की ज़रूरत है । इसी को आत्मवल के आधार पर रहना कहते हैं। यही आत्मभाव को प्रकट करने का श्रेष्ठ से श्रेष्ठ तरीक़ा है। आइए, हम इस सिद्धान्त को अपने हृदय में स्थान दें—यह समझकर नहीं कि काग़ज़ पर लिखने के लिए यह एक अच्छा, बौद्धिक और चित्ताकर्षक मन्तव्य है, वल्कि यह समझकर कि यह हमारे जीवन का एक नियम है, धर्म है; हमें निरन्तर इसका साक्षात्कार करना है। आइए, हम इस धर्म के अनुसार इस तक पहुँचने के उद्देश्य से शक्तिभर इसका पालन करें।
—यं० इं० । हि० न० जी० ५।२।१९२५]

- **धार्मिकता की पराकाष्ठा पर पहुँचने के लिए हर प्रकार की सम्पत्ति का त्याग आवश्यक है।**

४१. ईश्वर

दृश्य ईश्वर क्या है ? दीन की सेवा ।
—न० जी० । हि० न० जी०, ५।२।१९२५]

४२. आत्मार्थी

मैं कह सकता हूँ कि मुझे सुधार की अभिलाषा नहीं है। मैं तो स्वार्थी आदमी हूँ और स्वयं ही अपने आनन्द में मग्न रहता हूँ। मैं तो अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता हूँ ।
—हि० न० जी०, १९।२।१९२५]

४३. धर्म और व्यावहारिक प्रश्न

जो धर्म व्यावहारिक वातों पर ध्यान नहीं देता और उन्हें हल करने में मदद नहीं करता वह धर्म नहीं है ।
—य० इं०, ७।५।१९२५]

४४. वासना की आँधी और राम-नाम का मणिदीप

एक सज्जन पूछते हैं :—

"आपने एक बार काठियावाड़ की यात्रा में किसी स्थान पर कहा था कि मैं जो तीन वहिनों से बच गया वह केवल ईश्वर-नाम के बल पर। इस सिलसिले में 'सौराष्ट्र' ने कुछ ऐसी बातें लिखी हैं, जो समझ में नहीं आतीं। (उसने) कुछ इस आशय का लेख लिखा है कि आप मानसिक पाप-वृत्ति से नहीं बच पाये। इसका अधिक खुलासा करेंगे तो कृपा होगी।"

पत्र-लेखक से मेरा परिचय नहीं है। जब मैं बम्बई से रवाना हुआ, तब उन्होंने यह पत्र अपने भाई के हाथ मेरे पास पहुँचाया। यह उनकी तीव्र जिज्ञासा का सूचक है। सामान्य रूप से ऐसे प्रश्नों की चर्चा सर्वसाधारण के सामने नहीं की जा सकती। यदि सर्वसाधारण जन मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में गहरे पैठने का रिवाज डालें, तो स्पष्ट है कि उसका बुरा फल हुए बिना न रहेगा।

पर मैं इस उचित अथवा अनुचित जिज्ञासा से नहीं बच सकता। मुझे बचने का अधिकार नहीं; इच्छा भी नहीं। मेरा व्यक्तिगत जीवन सार्वजनिक हो गया है। मेरे लिए संसार में एक भी बात नहीं जिसे मैं निजी रख सकूँ। मेरे प्रयोग आध्यात्मिक हैं; अनेक नये हैं। उन प्रयोगों का आधार अधिकतर आत्म-निरीक्षण पर है। "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे"—इस सूत्र के अनुसार मैंने प्रयोग किये हैं। इसमें ऐसी धारणा समाविष्ट है कि जो बात मेरे लिए सम्भव है, वही दूसरों के विषय में भी होगी। इसलिए मुझे अनेक गुह्य प्रश्नों के भी उत्तर देने की जरूरत पड़ जाती है।

फिर मुझे पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए राम-नाम की महिमा बताने का अवसर भी अनायास मिलता है। उसे मैं कैसे खो सकता हूँ?

तो अब सुनिए, किस प्रकार मैं तीनों प्रसंगों पर ईश-कृपा से बच गया। तीनों प्रसंग वारांगनाओं से सम्बन्ध रखते हैं। दो के पास भिन्न-भिन्न अवसर पर मुझे मित्र लोग ले गये थे। पहिले अवसर पर मैं झूठी शर्म का मारा वहाँ जा फँसा और यदि ईश्वर ने न बचाया होता तो मेरा पतन अवश्य हो जाता। मैं इस अवसर पर जिस घर में ले जाया गया था, वहाँ उस स्त्री ने ही मेरा तिरस्कार किया। मैं बिल्कुल नहीं जानता कि ऐसे अवसरों पर किस तरह, क्या बोलना चाहिए, किस तरह बरतना चाहिए। इससे पहिले मैं ऐसी स्त्रियों के पास बैठने में भी लांछन मानता था। इसलिए मेरा हृदय इस घर में घुसने के समय भी काँप रहा था। मकान में जाने के बाद मैं उसके चेहरे की ओर देख भी न सका। मुझे पता नहीं, उसका चेहरा

कैसा था। ऐसे मूढ़ को वह चपला क्यों निकाल वाहर न करती ? उसने मुझे दो-चार वातें सुना कर रवाना कर दिया। उस समय तो मैंने यह नहीं समझा कि ईश्वर ने वचाया। मैं तो खिन्न होकर दवे पाँव वहाँ से लौटा। मैं शर्मिन्दा हुआ और मुझे अपनी मूढ़ता पर दुःख भी हुआ। मुझे आभास हुआ जैसे मेरे अन्दर राम नहीं है। वाद में मैंने जाना कि मूढ़ता ही मेरी ढाल थी। ईश्वर ने मुझे मूर्ख वनाकर उवार लिया, नहीं तो मैं, जो कि वुरा काम करने के लिए गन्दे घर में घुसा था, कैसे वच सकता था ?

दूसरा प्रसंग इससे भी भयंकर था। यहाँ मेरी वुद्धि पहिले अवसर की तरह निर्दोष न थी; हालाँकि मैं सावधान अधिक था। फिर, मेरी पूजनीया माता जी-द्वारा दिलाई गई प्रतिज्ञा की ढाल भी मेरे पास थी। किन्तु इस अवसर पर प्रदेश विलायत था। मैं पूर्ण युवा था। (हम) दो मित्र एक घर में रहते थे; थोड़े ही दिन के लिए उस गाँव में गये थे। मकान-मालकिन आधी वेश्या-जैसी थी। हम दोनों उसके साथ ताश खेलने लगे। उन दिनों मैं समय मिल जाने पर ताश खेला करता था। विलायत में माँ-वेटा भी निर्दोष भाव से ताश खेल सकते हैं—खेलते हैं। उस समय भी हमने ताश का खेल रिवाज के अनुसार अंगीकार किया। आरम्भ तो विस्कुल निर्दोष था। मुझे पता भी न था कि मकान-मालकिन अपना शरीर वेचकर आजीविका प्राप्त करती है। पर ज्यों-ज्यों खेल जमने लगा त्यों-त्यों रंग भी वदलने लगा। उस वाई ने विषयी चेष्टा शुरू की। मैं अपने मित्र को देख रहा था। उन्होंने मर्यादा छोड़ दी थी। मैं ललचाया। मेरा चेहरा तमतमा उठा। उसमें व्यभिचार का भाव भर गया था। मैं अधीर हो रहा था।

पर 'जिसे राम रक्खे उसे कौन चक्खे ?' राम उस समय मेरे मुँह में तो न था, पर वह मेरे हृदय का स्वामी था। मेरे मुख में तो विषयोत्तेजक भाषा थी। इन सज्जन मित्र ने मेरा रंग-ढंग देखा। हम एक-दूसरे से अच्छी तरह परिचित थे। उन्हें ऐसे कठिन प्रसंगों की स्मृति थी जव कि मैं अपने ही इरादे से पवित्र रह सका था। पर इस मित्र ने देखा कि इस समय मेरी वुद्धि विगड़ गई है। उन्होंने देखा कि अगर इस रंगत में रात अधिक जायगी तो उनकी तरह मैं भी पतित हुए विना न रहूँगा।

विषयी मनुष्यों में भी सु-वासनाएं होती हैं, इस वात का परिचय मुझे इस मित्र के द्वारा पहिली वार मिला। मेरी दीन दशा देखकर उन्हें दुःख हुआ। मैं उम्र में उनसे छोटा था। उनके द्वारा राम ने मेरी सहायता की। उन्होंने प्रेमवाण छोड़े, "मोनिया, (यह मोहनदास का दुलार का नाम है। मेरे माता-पिता तथा हमारे कुटुम्व के सवसे वड़े चचेरे भाई, मुझे इसी नाम से पुकारते थे। इस नाम से पुकारने

वाले चौथे यह मित्र मेरे धर्म-भाई सिद्ध हुए) होशियार रहना। मैं तो गिर चुका हूँ, तुम जानते ही हो। पर (मैं) तुम्हें न गिरने दूंगा। अपनी मां के पास की (गई) प्रतिज्ञा का स्मरण करो। यह काम तुम्हारा नहीं; यहां से भागो, अपने बिछौने पर; हटो, ताश रख दो।"

मैंने कुछ जवाब दिया या नहीं, यह याद नहीं पड़ता। मैंने ताश रख दिया। तनिक दुःख हुआ, लज्जित हुआ, छाती धड़कने लगी। मैं उठ खड़ा हुआ; अपना बिस्तर सम्हाला।

मैं जगा। राम-नाम शुरू हुआ। मन में कहने लगा, कौन बचा, किसने बचाया? धन्य प्रतिज्ञा! धन्य माता! धन्य मित्र! धन्य राम! मेरे लिए तो यह चमत्कार ही था। यदि मेरे मित्र ने मुझ पर रामबाण न चलाये होते तो मैं आज कहाँ होता?

राम-बाण वाग्यां रे होय ते जाणे,
प्रेम-बाण वाग्यां रे होय ते जाणे।

मेरे लिए तो यह अवसर ईश्वर-साक्षात्कार का था।

अब मुझसे यदि सारा संसार कहे कि ईश्वर नहीं, राम नहीं, तो मैं उसे झूठा कहूँगा। यदि उस भयंकर रात को मेरा पतन हो गया होता तो मैं आज सत्याग्रह की लड़ाइयाँ न लड़ता; होता, अस्पृश्यता के मैल को न धो रहा होता; चरखेकी पवित्र ध्वनि न उच्चार करता; अपने को करोड़ों स्त्रियों के दर्शन करके पावन होने का अधिकारी न मानता; मेरे आसपास किसी बालक के निकट की तरह लाखों स्त्रियां निःशंक होकर न बैठती होतीं। मैं उनसे दूर भाग रहा होता और वे भी मुझसे दूर रहतीं। यह उचित भी था। मैं इस प्रसंग को अपने जीवन का सर्वाधिक भयंकर समय मानता हूँ। मैंने स्वच्छन्दता का प्रयोग करते हुए संयम सीखा। मुझे राम को भूलते समय राम के दर्शन हुए। अहो!

रघुवीर तुमको मेरी लाज।
हौं तो पतित पुरातन कहिए, पार उतारो जहाज।

तीसरा प्रसंग हास्यजनक है। एक यात्रा में एक जहाज के कप्तान और एक अंग्रेज यात्री से मेरा मेलजोल हो गया। जहाज जहाँ-जहाँ रुकता, वहां कप्तान और अनेक यात्री वेश्यागृह ढूंढ़ते। कप्तान ने अपने साथ मुझे बन्दरगाह देखने के लिए चलने का आमन्त्रण दिया। मैं इसका अर्थ नहीं समझता था। हम एक वेश्या के घर के सामने आकर खड़े हो गये। तब मैंने समझा कि बन्दर देखने का क्या अर्थ

है। तीन स्त्रियाँ हमारे पास खड़ी की गईं। मैं तो स्तम्भित हो गया ; शर्म के मारे न कुछ बोल सका, न भाग सका। मुझे विषयेच्छा तनिक भी न थी। वे दो तो कमरे में चले गये। तीसरी स्त्री मुझे अपने कमरे में ले गई। मैं विचार ही कर रहा था कि क्या करूँ, इतने में दोनों बाहर आये। मैं नहीं कह सकता उस औरत ने मेरे बारे में क्या ख़याल किया होगा। वह मेरे सामने हँस रही थी। मेरे हृदय पर उसका कुछ प्रभाव न हुआ। हम दोनों की भाषा भिन्न थी। इसलिए मेरे बोलने का काम तो वहाँ था ही नहीं। उन मित्रों ने मुझे पुकारा तो मैं बाहर निकल आया; कुछ शर्माया तो जरूर। उन्होंने अब मुझे ऐसी बातों में बेवकूफ समझ लिया; उन्होंने आपस में मेरी हँसी भी उड़ाई; मुझ पर तरस तो ज़रूर खाया। उस दिन से मैं कप्तान के निकट संसार के बुद्धुओं में सम्मिलित हुआ। उसने फिर मुझे बन्दरगाह देखने का न्योता नहीं दिया। यदि मैं अधिक समय रहता या उस बाई की भाषा जानता होता तो कह नहीं सकता, मेरी क्या दशा होती? पर मैं इतना तो जान सका कि उस दिन भी मैं अपने पुरुषार्थ के बल नहीं बचा था, बल्कि ईश्वर ने ही मुझे ऐसी बात में मूढ़ रखकर बचाया।

उस भाषण के समय मुझे तीन ही प्रसंग याद आये थे। पाठक यह न समझें कि मुझ पर और प्रसंग नहीं बीते थे। मैं यह ज़रूर कहना चाहता हूँ कि प्रत्येक अवसर पर मैं राम-नाम के बल बचा हूँ। ईश्वर खाली हाथ जाने वाले निर्बल को ही बल देता है

जबलग गज बल अपनो बरत्यो,
नेक सर्‌यो नहिं काम।
निर्बल ह्वै बल राम पुकारयो,
आये आधे नाम।

तब यह राम-नाम है क्या चीज ? तोते की तरह रटना ? यदि ऐसा हो तो हम सबका बेड़ा राम-नाम रट कर पार हो जाय। राम-नाम का उच्चारण शुद्ध न हो तो कोई हर्ज नहीं। हृदय की तोतली बोली ईश्वर के दरबार में स्वीकार होती है। हृदय भले ही मरा, मरा पुकारता[1] रहे, फिर भी हृदय से निकली पुकार जमा के

---

१. अनुश्रुति है कि महाकवि बाल्मीकि प्रारम्भ में दस्यु थे। उन्हें ज्ञान हुआ और राम-नाम का उपदेश किया गया तो वे अज्ञानवश उसे उलटा जपते रहे। इसी आशय का संकेत गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस में इस प्रकार किया है—

उलटा नाम जपत जग जाना, बाल्मीकि भए ब्रह्म समाना ॥१॥

गांधी जी का संकेत भी इसी ओर है।

खाते में जमा होगी। पर यदि मुख राम-नाम का शुद्ध उच्चारण करता होगा और हृदय का स्वामी रावण होगा, तो वह शुद्ध उच्चारण भी नामे के खाते में दर्ज होगा।

तुलसीदास ने 'मुख में राम, बगल में छुरी' वाले बगला भगत के लिए राम-नाम-महिमा नहीं गाई। उनके सीधे पांसे भी उल्टे पड़ेंगे। और जिसने हृदय में राम को स्थान दिया है उसके उल्टे पांसे भी सीधे पड़ेंगे। बिगड़ी का सुधारने वाला राम ही है और इसीलिए भक्त सूरदास ने गाया है :—

बिगरी कौन सुधारे?
राम बिन बिगरी कौन सुधारे रे।
बनी बनी के सब कोई साथी,
बिगरी के नहिं कोई रे।

इसलिए पाठक खूब समझ लें कि राम-नाम हृदय का बोल है। जहाँ वचन और मन में एकता नहीं वहाँ वाचा केवल मिथ्यात्व है, दम्भ है, शब्दजाल है। ऐसे उच्चारण से संसार चाहे धोखा खा जाय, पर वह अन्तर्यामी राम भला खा सकता है? सीता-द्वारा दी हुई माला के मनके हनुमान ने फोड़ डाले, क्योंकि वह देखना चाहते थे कि (उनके) अन्दर राम-नाम है या नहीं? अपने को समझदार समझनेवाले सुभटों ने उनसे पूछा—"सीता जी की मणिमाला का ऐसा अनादर?" हनुमान ने उत्तर दिया—'यदि उसके अन्दर राम-नाम न होगा तो सीता जी द्वारा दिया होने पर भी वह हार मेरे लिए भार-भूत होगा।' तब उन समझदार सुभटों ने मुँह बना-कर पूछा, "तो क्या तुम्हारे अन्दर राम नाम है?" हनुमान ने छुरी से तुरन्त अपना हृदय चीर कर दिखाया और कहा, "देखो, अन्दर राम-नाम के सिवा यदि और कुछ हो तो कहना।" सुभट लज्जित हुए. हनुमान पर पुष्प-वृष्टि हुई और उस दिन से रामकथा के समय हनुमान का आवाहन प्रारम्भ हुआ।

सम्भव है यह कथाकार या नाटककार की रचना हो पर उसका सार अनन्त काल के लिए सच्चा है। जो हृदय में है, वही सच है।

—न० जी०। हि० न० जी०, २१।५।१९२५]

- मुझसे यदि सारा संसार कहे कि ईश्वर नहीं, राम नहीं, तो मैं उसे झूठा कहूँगा।
- प्रत्येक अवसर पर मैं राम-नाम के बल बचा हूँ।
- ईश्वर खाली हाथ जाने वाले निर्बल को ही बल देता है।
- हृदय की तोतली बोली ईश्वर के दरबार में स्वीकार होती है।

- सुधारने वाला राम ही है।
- राम-नाम हृदय का बोल है।
- जहाँ वचन और मन में एकता नहीं, वहाँ वाचा केवल मिथ्यात्व है, दम्भ है, शब्दजाल है।
- जो हृदय में है वही सच है।

४५. धर्म

....किसी धर्म में निन्दा और घृणा को स्थान नहीं है।

—हि० न० जी०, १६।७।१९२५]

४६. संन्यास

दुनिया सच्चे संन्यासियों को शायद ही जानती है। वे तो अदृश्य रहकर अपना काम करते हैं। उनके लिए स्तुति-निन्दा समान है, अथवा यों कहें कि वे स्तुति से दूर भागते हैं।....जो स्तुति के लिए ही सेवा करते हैं उनकी सेवा का मूल्य नहीं के बराबर है।

—न० जी०। हि० न० जी०, ३०।७।१९२५]

- जो स्तुति के लिए ही सेवा करते हैं, उनकी सेवा का मूल्य नहीं के बराबर है।

४७. मुमुक्षु

जान में हो, या अनजान में, हम सब मुमुक्षु हैं।

—न० जी०। हि० न० जी०, ३०।७।१९२५]

४८. मेरी आस्था

यदि मेरी अन्तरात्मा पूर्ण शुद्ध न होने के कारण गुमराह है तो भी दूसरे लोगों की सलाह पर, जो कितने ही मित्र-भाव से क्यों न दी गई हो, पर जो ग़लत भी हो सकती है—उस पर चलने की अपेक्षा क्या अपनी अन्तरात्मा को सन्तोष पहुँचाना ही अधिक श्रेष्ठ नहीं है? यदि मेरे कोई गुरु होते, और मैं गुरु की खोज कर रहा हूँ—

तो मुझे अपना शरीर और आत्मा सब उन्हीं के चरणों में रख देना चाहिए था। लेकिन इस अश्रद्धा के जमाने में सच्चे गुरु का मिलना कठिन है। इसके बदले किसी को गुरु मान लेना बुरा है, उससे अवश्य नुकसान ही होता है। इसलिए मुझे लोगों को यह चेतावनी दे देनी चाहिए कि अपूर्ण को कोई अपना गुरु न बनाये। उस व्यक्ति को, जो यह नहीं जानता कि वह कुछ भी नहीं जानता, अपने को सौंप देने की अपेक्षा अँधेरे में भटकते रहना और करोड़ों गलतियाँ करके भी सत्य की ओर बढ़ना कहीं अच्छा है। क्या किसी ने गले में पत्थर बाँधकर तैरना सीखा है ?

—३०।११।१९२५। यं० इं० के लिए लिखित। हि० न० जी०, ३।१२। १९२५]

- इस अश्रद्धा के जमाने में सच्चे गुरु का मिलना कठिन है।
- अपूर्ण को कोई अपना गुरु न बनाये।
- क्या किसी ने गले में पत्थर बाँधकर तैरना सीखा है ?

४९. भक्ति का अर्थ श्रद्धा है

[आश्रम की बहिनों को लिखे पत्र से]

भक्ति का अर्थ है श्रद्धा, ईश्वर के प्रति और अपने प्रति। यह श्रद्धा हमसे सारे त्याग कराती है। त्याग के लिए त्याग करना मुश्किल होता है, परन्तु सेवा के निमित्त त्याग आसान हो जाता है। कोई माता जान-बूझ कर गीले में नहीं सोती, मगर अपने बच्चे को सूखे में सुलाने के लिए खुद विवश होकर गीले में सो जायगी।

—बेतिया, २४।१।१९२७। बापू के पत्र: आश्रम की बहिनों को, न० जी० प्र० मं०]

५०. पाप और पुण्य एक साथ नहीं चल सकते

एक ओर पाप करके, दूसरी ओर पुण्य नहीं लूटा जा सकता। मनुष्य का जीवन एक पूरी वस्तु है, जिसके खण्ड नहीं किये जा सकते।

—यं० इं०। हि० न० जी०, १०।२।१९२७]

५१. विकार एवं रोग

[आश्रम की बहिनों को लिखे पत्र से]

विकार के विना रोग नहीं होता। निर्विकार को भी जाना तो है ही मगर वह तो पके फल की तरह अपने-आप गिर पड़ता है।....निर्विकार स्थिति तो जब अनुभव में आये तब सच्ची।

—निपानी, २८।३।१९२७। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, न० जी० प्र० मं०]

५२. आत्मा

[आश्रम की बहिनों को लिखे पत्र से]

आत्मा न पुरुष है, न स्त्री; न बालक है, न वृद्ध। ये सारे गुण तो शरीर के हैं, ऐसा शास्त्र और अनुभव दोनों कहते हैं।

— २।५।१९२७। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, न० जी० प्र० मं०]

५३. श्रद्धा

[आश्रम की बहिनों को लिखे पत्र से]

भयमात्र अश्रद्धा की निशानी है। मगर श्रद्धा कोई अक्ल दौड़ा कर नहीं पैदा की जा सकती। वह धीरे-धीरे मनन, चिन्तन और अभ्यास से आती है। इस श्रद्धा को उत्पन्न करने के लिए हम प्रार्थना करते हैं, अच्छी पुस्तकें पढ़ते हैं, सत्संग ढूँढ़ते हैं और चरखा-यज्ञ करते हैं।....

— १६।५।१९२७। वैशाख सुदी पूर्णिमा। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, न० जी० प्र० मं०]

५४. बुद्धि कर्मानुसारिणी है

[श्री घनश्यामदास बिड़ला को लिखे पत्र से]

प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि कर्मानुसारिणी होती है। ऐसी बातों में पुरुषार्थ के लिए बहुत ही कम जगह है।

—नन्दी दुर्ग, ३१।५।१९२७। गांधी जी की छत्रछाया में]

५५. शुद्ध अन्तःकरण

अगर अन्तर शुद्ध हो, तो तोतली बोली के भी सौ के सौ ही दाम चढ़ते हैं।
—१३।६।१९२७। जे० सुदी० १४। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, न० जी० प्र० मं०]

५६. सच्ची शुद्धि

[लंका में दिये गये कुछ भाषणों एवं अन्य लेखों से संकलित गांधी जी के कुछ उद्गार।—सम्पा०।]

मेरा दावा है कि मेरा एक मात्र सहारा भक्ति और प्रार्थना है और अगर मेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े भी कर दिये जायँ तो भी परमात्मा मुझे वह शक्ति देंगे कि मैं उन्हें अस्वीकृत न करूँगा; जोरों से यही कहूँगा कि वह हैं। मुसलमान कहता है कि एक वही है, दूसरा कोई नहीं है। ईसाई भी वही कहता है। हिन्दू भी वही मन्त्र पढ़ता है। मैं तो कहूँगा कि बौद्ध भी दूसरे शब्दों में ही सही, पर वही कहता है। परमात्मा का राज्य कुछ हमारी ही छोटी-सी पृथिवी तक सीमित नहीं। इसका साम्राज्य इस तरह के करोड़ों, शंख, महाशंख गोलकों तक विस्तृत है। हम सब परमात्मा का अपने-अपने (द्वारा किया हुआ) अलग ही अर्थ समझते हैं। हमारे-जैसे नगण्य, तुच्छ, निर्बल, असहाय, कीड़े उसका बड़प्पन, उसका अपार प्रेम, उसकी अनन्त क्षमा क्या समझ सकेंगे ? उसकी क्षमाशीलता ऐसी है कि वह मनुष्यों को स्वयं परमात्मा के अस्तित्व से भी इन्कार करने देता है उसके नाम पर झगड़ने देता है; अपने ही भाइयों के गले काटने को भी क्षमा कर देता है। ऐसे क्षमाशील दिव्य भगवान् की महिमा समझने की शक्ति हमें कहाँ ? इसलिए भले ही हम सब एक ही शब्द पुकारें, मगर हम सबके लिए उनका एक ही मतलब नहीं है। और इसलिए मैं कहता हूँ कि हमें भाषण या लेख के जरिए धर्म-प्रचार, या शुद्धि या तबलीग करने की कोई जरूरत नहीं है। यह शुद्धि का काम तो हम अपने जीवन के जरिए ही कर सकते हैं। हमारा जीवन खुली किताब हो जिसे सब कोई पढ़ सकें। अगर मैं धर्म-प्रचारकों को यह बात सुझा सकता, समझा सकता, तब न तो कहीं अविश्वास होता, न सन्देह होता, न विद्वेष-फूट का नामोनिशान होता।
—हि० न० जी०, १५।१२।१९२७]

० मेरा एक मात्र सहारा भक्ति और प्रार्थना है।

- परमात्मा का राज्य . . .हमारी ही छोटी-सी पृथिवी तक सीमित नहीं।
- हमारा जीवन खुली किताब हो, जिसे सब कोई पढ़ सकें।

५७. प्रार्थना की शक्ति

[ब्रह्मपुर, उड़ीसा की सायंकालीन सभा में विद्यार्थियों के समक्ष किये गये प्रवचन का अंश।—सम्पा०।]

जिस प्रकार शरीर के लिए भोजन ज़रूरी है, उसी प्रकार आत्मा के लिए भी ज़रूरी है। आदमी भोजन विना वहुत दिनों तक रह सकता है। आयरलैण्ड का प्रसिद्ध वीर मैकस्विनी सत्तर दिन विना खाये जिया था। लेकिन परमात्मा में विश्वास रख कर व्यक्ति एक क्षण भी प्रार्थना के विना नहीं जी सकता; जीना भी नहीं चाहिए। तुम कहोगे कि वहुत-से आदमी कभी प्रार्थना नहीं करते और जिन्दा हैं। मैं मानता हूं कि वे जीवित हैं, लेकिन वह जीवन पशु का जीवन है, जो मृत्यु से भी वुरा है। मुझे इस वात में कोईसन्देह नहीं कि आज हमारा वातावरण जिस वैर, फूट और द्वेष की आग से भरा हुआ है, उसका कारण प्रार्थना के सच्चे भाव का न होना ही है। तुम इससे इन्कार करोगे और कहोगे कि करोड़ों मुसलमान, ईसाई और हिन्दू प्रार्थना करते हैं। मैं जानता था कि तुम यह आपत्ति प्रस्तुत करोगे। इसलिए मैंने कहा था—सच्ची प्रार्थना। वात यह है कि हम मुँह से तो प्रार्थना करते रहे हैं, मगर दिल से शायद ही कभी करते हों। इसी पाखण्ड से वचने के लिए हम आश्रम में रोज़ भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के पिछले श्लोकों का पाठ करते हैं। उन श्लोकों में स्थितप्रज्ञ के जो लक्षण वतलाये गये हैं, उन पर अगर हम रोज़ विचार करें, ध्यान करें तो हमारे हृदय परमात्मा की ओर अवश्य झुकें। अगर तुम विद्यार्थी लोग, शुद्ध चारित्र्य और सच्चे हृदय की नींव पर शिक्षा का भवन खड़ा करो तो तुम्हें रोज़ सच्चे हृदय और धार्मिक भावना से प्रार्थना करने से अधिक और किसी चीज़ से सहायता नहीं मिलेगी।

—यं० इं०। हि० न० जी०, १५।१२।१९२७]

५८. प्रेम नम्रता की पराकाष्ठा है

मैंने कितनी वार समझाया है कि जिसे सव कुछ प्रेमभाव से करना है उसका काम शून्यवत् हुए विना चल ही नहीं सकता। प्रेम नम्रता की पराकाष्ठा है।

—वर्धा, २७।११।१९२८। वापू के पत्र : कुसुम वहिन देसाई के नाम, न० जी० प्र० मं०]

५९. प्रार्थना

यदि हमारे भीतर श्रद्धा हो, यदि हमारा हृदय प्रार्थना से ओत-प्रोत हो, तो हम ईश्वर के सामने प्रलोभन नहीं रखेंगे; उसके साथ कभी सौदा नहीं करेंगे।

.....जबतक हम अपने आपको शून्यवत् नहीं बना लेते, तबतक हम अपने भीतर की बुराई को जीत नहीं सकते। एकमात्र प्राप्त करने योग्य सच्ची स्वतन्त्रता के मूल्य के रूप में ईश्वर मनुष्य से सम्पूर्ण आत्म-समर्पण से कम किसी वस्तु की माँग नहीं करता। और जब मनुष्य इस तरह अपने को खो देता है, शून्यवत् बना लेता है, तो वह तुरन्त ही अपने को ईश्वर के सब प्राणियों की सेवा में लगा हुआ पाता है। वह सेवा ही उसके जीवन का आनन्द और उसका मनोरंजन बन जाती है। वह बिल्कुल नया आदमी बन जाता है और ईश्वर की सृष्टि की सेवा में अपने को खपाने में कभी थकान महसूस नहीं करता।

—यं० इं०, २०।१२।१९२८]

o यदि हमारा हृदय प्रार्थना से ओतप्रोत हो, तो हम ईश्वर के सामने प्रलोभन नहीं रखेंगे; उसके साथ कभी सौदा नहीं करेंगे।

६०. धर्म-सम्बन्धी कुछ प्रश्न

एक भाई नीचे-लिखे प्रश्न पूछते हैं:—

१. "धर्म का वास्तविक रूप तथा उद्देश्य : आज धर्म के नाम पर कैसे-कैसे अनर्थ होते हैं। जरा-जरा सी बातों में धर्म की दुहाई दी जाती है। किन्तु ऐसे कितने मनुष्य हैं जो धर्म के उद्देश्य तथा रहस्य को जानते हैं? इसका एकमात्र कारण धार्मिक शिक्षा का अभाव है। मुझे आशा है, आप इस पर और नीचे-लिखे दूसरे प्रश्नों पर 'हिन्दी नवजीवन'-द्वारा अपने विचार प्रकट करने का कष्ट स्वीकार करेंगे।

२. मनुष्य की आत्मा को किन साधनों-द्वारा शान्ति मिल सकती है और उसका इहलोक व परलोक बन सकता है?

३. क्या आपके विचार से अगर मनुष्य अपने पिछले दुष्कृत्यों का प्रायश्चित्त करले तो उनका फल नष्ट हो सकता है?

४. मनुष्य के जीवन का उद्देश्य और उसके प्रमुख कर्त्तव्य क्या होने चाहिए?"

यह आश्चर्य और आनन्द की बात है कि 'यं० इं०', 'गुजराती नवजीवन', और 'हिन्दी-नवजीवन' के पाठकों में हिन्दी पाठक ही धर्म के बारे में ज्यादातर

प्रश्न पूछते हैं। इसका यह अर्थ तो हर्गिज नहीं होता कि दूसरे प्रान्त के लोगों में धर्म-जिज्ञासा का अभाव है। परन्तु यह ठीक है कि 'हिन्दी नवजीवन' के पाठकों में ही अधिकतर ऐसे हैं, जिन्हें धर्म-सम्वन्धी प्रश्नों की चर्चा से प्रेम है, और उसके समाधान के लिए वे मेरी सहायता की अपेक्षा रखते हैं। मैं अपने लिए धर्मशास्त्र के गम्भीर अनुभव का दावा नहीं कर सकता; हाँ, धर्म-पालन के प्रयत्न का दावा मैं अवश्य करता हूँ। अपने इस प्रयत्न में मुझे जो अनुभव होते हैं, उनसे अगर पाठकों का कुछ लाभ हो सकता है तो अवश्य ही वे उनका लाभ उठा सकते हैं। अपनी इस मर्यादा का उल्लेख कर अव मैं उक्त प्रश्नों के उत्तर देने की चेष्टा करूँगा।

१. सत्संग मनुष्य के लिए क्या नहीं कर सकता? तुलसीदास ने सत्संग की महिमा का जो वर्णन किया है उसे कौन नहीं जानता? इसका यह अर्थ नहीं है कि धार्मिक पुस्तकों का पठन-पाठन अनावश्यक है। इसकी आवश्यकता तभी होती है जव मनुष्य सत्संग प्राप्त कर चुकता है और कुछ हद तक शुद्ध भी वन चुकता है। यदि इससे पहिले धर्म-पुस्तकों का पठन-पाठन शुरू किया जाता है तो शान्तिप्रद होने के वदले उसका वन्धक वन जाना अधिक सम्भव है। तात्पर्य यह कि समझदार मनुष्य दुनियाभर की फिक्र करने के वदले पहिले स्वयं धर्म-पालन करना शुरू कर दे। फिर तो 'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के न्यायानुसार एक के आरम्भ का असर दूसरे पर अवश्य ही पड़ेगा। अगर सव अपनी-अपनी चिन्ता करने लगें तो किसी की चिन्ता करने की जरूरत नहीं रह जाय।

साधु-जीवन से ही आत्मशान्ति की प्राप्ति सम्भव है। यही इहलोक और परलोक, दोनों, का साधन है। साधु-जीवन का अर्थ है, सत्य और अहिंसामय जीवन, संयमपूर्ण जीवन। भोग कभी धर्म नहीं वन सकता। धर्म की जड़ तो त्याग ही में है।

३. पिछले दुष्कृत्यों का प्रायश्चित्त शक्य है और कर्त्तव्य भी है। प्रायश्चित्त का अर्थ न मिन्नत है, न रोना पीटना ही है। हाँ, उसमें उपवासादि की गुंजाइश अवश्य है। पश्चात्ताप ही सच्चा प्रायश्चित्त है। दूसरे शव्दों में, दुवारा दुष्कर्म न करने का निश्चय ही शुद्ध प्रायश्चित्त है। दुष्कर्मों के फलों का कुछ-न-कुछ नाश तो अवश्य होता है। जवतक प्रायश्चित्त नहीं किया जाता तवतक फल चक्रवृद्धि व्याज की भाँति वढ़ता ही रहता है। प्रायश्चित्त कर लेने से सूद की वृद्धि वन्द हो जाती है।

४. मनुष्य-जीवन का उद्देश्य आत्म-दर्शन है। और उसकी सिद्धि का मुख्य एवं एकमात्र उपाय पारमार्थिक भाव से जीवमात्र की सेवा करना है; उनमें तन्मयता तथा अद्वैत के दर्शन करना है।

—हि० न० जी० १५।८।१९२९]

- सत्संग मनुष्य के लिए क्या नहीं कर सकता?
- साधु-जीवन से ही आत्म-शान्ति की प्राप्ति सम्भव है।
- साधु-जीवन का अर्थ है, सत्य और अहिंसामय जीवन, संयम-पूर्ण जीवन।
- भोग कभी धर्म नहीं वन सकता।
- धर्म की जड़ तो त्याग ही में है।
- पिछले दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त शक्य है और कर्त्तव्य भी है।
- दुवारा दुष्कर्म न करने का निश्चय ही शुद्ध प्रायश्चित्त है।
- मनुष्य जीवन का उद्देश्य आत्मदर्शन है।

६१. धर्म के विषय में हमारा अज्ञान

मनुष्य धर्म के विना नहीं जी सकता। कुछ लोग अपनी वुद्धि के घमण्ड में कह देते हैं कि उन्हें धर्म से कोई वास्ता नहीं। परन्तु यह ऐसी ही वात है जैसे कोई मनुष्य यह कहे कि वह साँस तो लेता है परन्तु उसके नाक नहीं है। वुद्धि से हो, सहज वोध से हो या अन्ध विश्वास से हो, मनुष्य ईश्वर के साथ अपना कुछ-न-कुछ सम्वन्ध मानता ही है। कट्टर-से-कट्टर अज्ञेयवादी या नास्तिक भी किसी नैतिक सिद्धान्त की आवश्यकता अवश्य स्वीकार करता है और उसके पालन में कुछ-न-कुछ भलाई तथा उसके अपालन में कुछ-न-कुछ वुराई समझता है। ब्रैडला की नास्तिकता मशहूर है, परन्तु वह अपने अन्तरतम के विश्वास की घोषणा करने का सदा आग्रह रखता था। उसे इस प्रकार सत्य कहने के कारण काफी कष्ट सहने पड़े, परन्तु इसमें उसे आनन्द आता था और वह कहता था कि सत्य स्वयं ही अपना पुरस्कार है। यह वात नहीं कि सत्य-पालन से मिलनेवाले इस आनन्द का उसे कोई ज्ञान नहीं था। परन्तु यह आनन्द सांसारिक विल्कुल नहीं है, यह तो दैवी सत्ता के साथ सम्वन्ध जुड़ने से पैदा होता है। इसीलिए मैंने कहा है कि जो मनुष्य धर्म को नहीं मानता वह भी धर्म के विना नहीं रह सकता और नहीं रहता।

—यं० इं०, २३।१।१९३०]

- जो मनुष्य धर्म को नहीं मानता वह भी धर्म के विना नहीं रह सकता।

६२. सभी धर्म ईश्वर-प्रणीत

सव धर्म (मत-पन्थ) ईश्वर की देन हैं, परन्तु उसमें मानव की अपूर्णता का पुट है, क्योंकि वे मनुष्य की वुद्धि और भाषा के माध्यम से गुजरते हैं। ईश्वर-

प्रदत्त धर्म वाणी से परे हैं। अपूर्ण मनुष्यों के पास जैसी भी भाषा होती है उसी में वे उसे रख देते हैं, और फिर उनके इन शब्दों का अर्थ उतने ही अपूर्ण मनुष्य करते हैं। तब फिर कौन अर्थ सही माना जाय ? अपने-अपने दृष्टिकोण से सभी सही हैं, परन्तु क्या यह सम्भव नहीं है कि सभी गलत हों ? इसीलिए सहिष्णुता की जरूरत है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपने धर्म के प्रति उदासीन हो जायँ, परन्तु यह है कि उसके प्रति हमारा प्रेम अधिक वुद्धिपूर्ण और शुद्ध हो। सहिष्णुता से हमें आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है और वह धार्मिक कट्टरता से उतनी ही दूर है जितना उत्तरी ध्रुव दक्षिणी ध्रुव से दूर है। धर्म का सच्चा ज्ञान मत-पन्थों के वीच की दीवारों को हटाकर सहिष्णुता उत्पन्न करता है। दूसरे धर्मों के लिए सहिष्णुता रखने से हमें अपने धर्म को सही तौर पर समझने में मदद मिलेगी।

—यं० इं० (वुलेटिन), २।१०।१९३०]

६३. भक्ति ही सर्वोपरि

भक्ति के विना ज्ञान तथा कर्म शुष्क हैं और उनके वन्धन रूप हो जाने की सम्भावना है।

—मंगल प्रभात, ४।१०।१९३०। गीतावोध, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

६४. यज्ञमय जीवन

यज्ञमय जीवन कला की पराकाष्ठा है; सच्चा रस उसी में है, क्योंकि उसमें से नित्य रस के नये झरने प्रकट होते हैं। मनुष्य उसे पीकर नहीं अघाता, न वे झरने कभी सूखते हैं। यज्ञ यदि भाररूप जान पड़े तो यज्ञ नहीं है; जो अखरे वह त्याग नहीं है। भोग का अन्त नाश है; त्याग का अन्त अमरता।

—मंगल प्रभात, २८।१०।१९३०। गीता-वोध, पृ० ३१, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

- **यज्ञमय जीवन कला की पराकाष्ठा है।**
- **भोग का अन्त नाश है; त्याग का अन्त अमरता।**

६५. निराकार : साकार

निराकार निर्गुण है, अतः मनुष्य की कल्पना से परे है। अतः सब देहधारी जाने-अनजाने साकार के ही भक्त हैं।

—मंगलप्रभात, ४।११।१९३०। गीता-बोध, पृ० ६३-६४, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

६६. ज्ञान का स्रोत

धर्म-वेदना तथा धर्म-जिज्ञासा के बिना ज्ञान नहीं मिलता। जिसके मन में अच्छे और बुरे का भेद जानने की इच्छा तक नहीं होती, उसके सामने धर्म-चर्चा कैसी ?

—मंगल प्रभात, ११।११।१९३०। गीता-बोध, पृ० ८, स० सा० मं०, दसवाँ संस्करण १९५०]

६७. ईश-कृपा

सूर्य के तेज से जैसे बर्फ पिघल जाती है वैसे ईश्वर-प्रसादी के तेज से दुःख मात्र भाग जाते हैं.....।

—सोमप्रभात, १७।११।१९३०। गीता-बोध, पृ० १४, स० सा० मं०, दसवाँ संस्करण १९५४]

६८. मानव-धर्म

वास्तव में मनुष्य का धर्म फल का विचार छोड़ कर कर्तव्य-कर्म किये जाने का है।

—सोमप्रभात, १७।११।१९३०। गीता-बोध, पृ० ११ स० सा० मं०, दसवां संस्करण १९५४]

६९. कर्म और ज्ञान

आरम्भ से ही इस जगत् में दो मार्ग चलते आये हैं—एक में ज्ञान की प्रधानता है और दूसरे में कर्म की।...कर्म के बिना मनुष्य अकर्मी नहीं हो सकता; बिना कर्म

के ज्ञान आता ही नहीं। सब छोड़कर बैठ जानेवाला मनुष्य सिद्ध पुरुष नहीं कहला सकता।

—सोमप्रभात, २४।११।१९३०। गीता-बोध, स० सा० मं०, दसवां संस्करण १९५४]

७०. ज्ञान

ज्ञान से मतलब अक्षर-ज्ञान नहीं है। इस ज्ञान में शंका की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। उसका आरम्भ श्रद्धा से होता है और अन्त में उसका अनुभव आता है। ऐसे ज्ञान से मनुष्य सब जीवों को अपने में देखता है और अपने को ईश्वर में देखता है, यहाँ तक कि यह सब प्रत्यक्ष की भाँति उसे ईश्वरमय लगता है। ऐसा ज्ञान पापी-से-पापी को भी तार देता है। यह ज्ञान मनुष्य को कर्मबन्धन से मुक्त करता है अर्थात् कर्म का फल उसे स्पर्श नहीं करता। इसके समान पवित्र इस जगत् में दूसरा कुछ नहीं।

—सोमप्रभात, १।१२।१९३०। गीता-बोध, स० सा० मं०, दसवाँ संस्करण १९५४]

७१. आत्मा की स्थिति

आत्मा का उद्धार आत्मा से ही होता है। तब कह सकते हैं कि आत्मा स्वयं ही अपना शत्रु और मित्र बनता है। जिसने मन को जीता है, उसका आत्मा मित्र है, जिसने नहीं जीता है उसका आत्मा शत्रु है।

—मंगल प्रभात, १६।१२।१९३० गीता-बोध, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

७२. ईश्वर-भजन का अर्थ

ईश्वर ने गीता में स्वयं कहा है—"मुझे भजने का अर्थ है मेरे जगत् की सेवा करना।"

—मंगल प्रभात, २३।१२।१९३०। गीता-बोध, स० सा० मं० दसवाँ संस्करण १९५४]

७३. पूर्णब्रह्म, अध्यात्म और कर्म

जो सर्वोत्तम नाशरहित स्वरूप है वह पूर्णब्रह्म है और जो प्राणिमात्र में कर्त्ता भोक्तारूप से देह धारण किये हुए है वह अध्यात्म है। प्राणिमात्र की उत्पत्ति जिस क्रिया से होती है उसका नाम कर्म है। अतः यह भी कह सकते हैं कि जिस क्रिया से उत्पत्तिमात्र होती है वह कर्म है।.....यज्ञ-द्वारा शुद्ध हुआ अध्यात्म-स्वरूप अधियज्ञ है।

—सोम प्रभात, २९।१२।१९३०। गीता-बोध स० सा० मं० संस्करण १९५४]

७४. भक्ति का अर्थ

भक्ति का तात्पर्य है ईश्वर में आसक्ति। अनासक्ति के अभ्यास का भी यह सरल-से-सरल उपाय है।.....भक्ति राजयोग है और सरल मार्ग है। हृदय में जो बैठ जाय वह सरल है; जो न बैठे वह विकट है। इसलिए उसे सिर का सौदा भी माना गया है। पर यह ऐसा है कि देखनेवाले जलते हैं; अन्दर पड़े हुए महासुख मानते हैं। कवि लिखता है कि उबलते तेल की कड़ाही में सुधन्वा हँसता था और बाहर खड़े हुए (लोग) काँपते थे। क्या बात है कि नन्द अन्त्यज की जब परीक्षा हुई तब वह अग्नि में नाचता था? इन सबकी सचाई की ऐतिहासिकता खोजने की ज़रूरत नहीं है। जो किसी भी चीज़ में लीन होता है उसकी ऐसी ही स्थिति होती है। वह अपने को भूल जाता है, पर प्रभु को छोड़कर दूसरे में लीन कौन होगा?

शक्कर गन्ने का स्वाद छोड़ कड़वे नीम को मत घोल रे।
सूरज-चाँद का तेज तज, जुगनू से मन मत जोड़ रे।

—सोम प्रभात, ५।१।१९३१। गीता-बोध, पृ० ५६, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

७५. सर्वार्पण भक्ति और विराटरूप ईश्वर

सर्वार्पण और सर्वव्यापक प्रेम के बिना भक्ति नहीं है। ईश्वर के काल रूप का मनन करने से और उसके मुख में सृष्टिमात्र को समा जाना है, प्रतिक्षण काल का यह काम चलता ही रहता है—इसका भान आ जाने से सर्वार्पण और जीवमात्र के साथ ऐक्य अनायास हो जाता है। चाहे अनचाहे इस मुख में हम अकल्पित क्षण में पड़नेवाले हैं। वहाँ छोटे-बड़े का, नीच-ऊँच का, स्त्री-पुरुष का, मनुष्य-मनुष्येतर

का भेद नहीं रहता है। सब कालेश्वर के एक कौर हैं, यह जान कर हम क्यों दीन, शून्यवत् न बनें, क्यों सबके साथ मैत्री न करें ! . . . . .

—सोम प्रभात, १२।१।१९३१। गीता-बोध, पृ० ६२, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

७६. गुणातीत

जो मनुष्य अपने पर जो आ पड़े, फिर भले ही प्रकाश हो या प्रवृत्ति हो या मोह हो, ज्ञान हो, गड़बड़ हो या अज्ञान, उसका अतिशय दुःख या सुख न माने या इच्छा न करे; जो गुणों के बारे में तटस्थ रहकर विचलित नहीं होता, गुण अपने गुणानुसार बरतते हैं यह समझ कर जो स्थिर रहता है; जो सुख-दुःख को सम मानता है; जिसे लोहा, पत्थर या सोना समान है; जिसे प्रिय-अप्रिय की बात नहीं है; जिसपर उसकी स्तुति या निन्दा कोई प्रभाव नहीं डाल सकती; जिसे मान-अपमान समान है; जो शत्रु-मित्र के प्रति समभाव रखता है; जिसने सब आरम्भों का त्याग किया है वह गुणातीत कहलाता है।

—मौनवार, २५।१।१९३२। गीता-बोध, पृ० ७१, ७२-स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

७७. धर्मवृत्ति और अधर्म वृत्ति

जिसमें धर्मवृत्ति होती है उसमें निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान, समता, इन्द्रिय-दमन, दान, यज्ञ, शास्त्रों का अभ्यास, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, किसी की चुगली न खाना अर्थात् अपैशुनता, भूतमात्र के प्रति दया, अलोलुपता, कोमलता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धीरज, अन्तर और बाहर की स्वच्छता, अद्रोह और निरभिमानता होती है।

अधर्म वृत्तिवाले में दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान देखने में आता है।

धर्मवृत्ति मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जाती है। अधर्म-वृत्ति बन्धन में डालती है। . . . .

अधर्म वृत्तिवाला प्रवृत्ति और निवृत्ति का भेद नहीं जानता, उसे शुद्ध-अशुद्ध का या सत्यासत्य का भान नहीं होता तो फिर उसके बर्ताव का तो ठिकाना ही कहां से होगा ? उसके मन (की भावनानुसार) जगत् झूठा, निराधार है; जगत् का कोई

नियन्ता नहीं है। स्त्री पुरुष का सम्बन्ध ही उसका जगत् है, अतः इसमें विषय-भोग के सिवा दूसरा विचार नहीं मिलता।

ऐसी वृत्तिवालों के कार्य भयानक होते हैं, उनकी मति मन्द होती है। ऐसे लोग अपने दुष्ट विचारों को पकड़े रहते हैं और जगत् के नाश के लिए ही उनकी सब प्रवृत्तियाँ होती हैं। उनकी कामनाओं का अन्त ही नहीं होता। वे दंभ, मान, मद में भूले रहते हैं। उनकी चिन्ता का भी पार नहीं होता। उन्हें नित्य नये भोग चाहिए। (वे) सैकड़ों आशाओं के महल चुनते रहते हैं और अपनी कामना के पोषण के लिए द्रव्य एकत्र करने में न्याय-अन्याय का भेद बिल्कुल छोड़ देते हैं।

आज यह पाया और कल वह और प्राप्त करूँगा; इस शत्रु को आज मारा फिर दूसरे को मारूंगा, मैं बलवान् हूँ; मेरे पास ऋद्धि–सिद्धि है; मेरे समान दूसरा कौन है; कीर्तिप्राप्ति के लिए यज्ञ करूँगा; दान दूंगा और चैन की वंशी बजाऊँगा।—यों मन ही मन मानता हुआ वह खुश होता रहता है और अन्त में मोह-जाल में फँसकर नरक-वास पाता है।

ये आसुरी वृत्तिवाले प्राणी अपने घमण्ड में भूले रह कर परनिन्दा करते हुए सर्वव्यापक ईश्वर का द्वेष करते हैं और इससे वे बारंबार आसुरी योनि में जनमते हैं।

—यरवदा मन्दिर, ७।२।१९३२। गीता-बोध, पृ० ७५-७६, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

७८. ईश्वर पर श्रद्धा : लक्षण

[सुश्री मीराबहिन को लिखे पत्र से]

जिनका ईश्वर के पथ-प्रदर्शन में विश्वास है, वे जो अच्छे से अच्छा हो सकता है, वही करते हैं और फिर चिन्ता नहीं रखते। सूर्य को कभी अधिक परिश्रम से थकान नहीं आती और सूर्य के समान अनोखी नियमितता के साथ कौन बेगार करता है?

—यरवदा मन्दिर, ११।२।१९३२। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० १४०, न० जी० प्र० मं०]

७९. श्रद्धा के भेद

श्रद्धा तीन प्रकार की होती है—सात्विकी, राजसी और तामसी। श्रद्धा के अनुसार ही मनुष्य होता है।

सात्विक मनुष्य ईश्वर को, राजस यक्ष-राक्षसों को और तामस भूत-प्रेतों को भजता है ।

पर किसी की श्रद्धा कैसी है यह एकाएक नहीं जाना जा सकता । उसका आहार कैसा है, उसका तप कैसा है, यज्ञ कैसा है, दान कैसा है—(यह) जानना चाहिए । . .

—यरवदा मन्दिर, १४।२।१९३२ । गीता-बोध, पृ० ७८, सं० सा० मं०, संस्करण १९५४]

८०. त्रिविध दान

कर्त्तव्य-बुद्धि से दिया गया, विना फलेच्छा के देश, काल, पात्र देख कर दिया गया, दान सात्विक है । जिसमें बदले की आशा है और जिसे देते हुए संकोच है वह दान राजस है और देशकालादि का विचार किये विना तिरस्कृत भाव से या मान विना दिया हुआ दान तामस है ।

—यरवदा मन्दिर, १४।२।१९३२ । गीता-बोध, ७९, स० सा० मं० संस्करण १९५४]

८१. त्रिविध यज्ञ

जिस यज्ञ के करने में फल की इच्छा नहीं है; जो कर्तव्य रूप से, तन्मयता से होता है, वह सात्विक माना जाता है । जिसमें फल की आशा है और दंभ भी है उसे राजस यज्ञ जानना चाहिए । जिसमें कोई विधि नहीं है, न कुछ उपज है, न कोई मन्त्र है, न कोई त्याग है वह यज्ञ तामस है ।

—यरवदा मन्दिर, १४।२।१९३२ । गीता-बोध, पृ० ७९, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

८२. त्रिविध तप

जिसमें सन्तों की पूजा है, पवित्रता है, ब्रह्मचर्य है, अहिंसा है, वह शारीरिक तप है । सत्य, प्रिय, हितकर वचन और धर्म ग्रन्थ का अभ्यास वाचिक तप है; मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, संयम, शुद्ध भावना—यह मानसिक तप कहलाता है । ऐसा शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप जो समभाव से फलेच्छा का त्याग करके, किया जाता है, सात्विक तप कहलाता है । जो तप मान की आशा से, दंभपूर्वक

किया जाता है उसे राजस जानना चाहिए और जो तप पीड़ित होकर, दुराग्रह से या दूसरे के नाश के लिए किया जाय जिसमें शरीरस्थ आत्मा को क्लेश हो वह तप तामस है।

—यरवदा मन्दिर, १४।२।१९३२। गीता-बोध, पृ० ७९, स० सा० मं० संस्करण १९५४]

८३. सत्यनारायण की प्राप्ति

[श्री जुगतराम को लिखे पत्र से]

अकेले रहने की कला जिसने नहीं सीखी, वह बाहर के फेर-बदल से अशान्त होता है। मगर सत्यनारायण को तो वही पाते हैं, जो अकेले खड़े रहने लायक होते हैं।

—२१।३।१९३२। म० भा० डा० भाग १, पृ० २७]

८४. ईश्वर हमारा सारथी

[श्री जुगतराम को लिखे पत्र से]

हमारी गाड़ी को चलानेवाला मनुष्य नहीं, ईश्वर है। उसमें बैठे हुए हम लोग जबतक उस पर श्रद्धा रखेंगे, तबतक गाड़ी ज़रूर चलती रहेगी। श्रद्धा छोड़ी कि गाड़ी अटकी ही समझें।

—२४।३।१९३२। म० भा० डा० भाग १, पृ० ३४]

८५. ईश्वर

[श्री तिलकन को लिखे पत्र से]

ईश्वर को साक्षात् देखना। इस प्रयोग में 'साक्षात्' का अर्थ अक्षरशः नहीं लेना चाहिए। यह प्रयोग तो हमारी भावना की निश्चितता बताने के लिए है। वैसे ईश्वर तो निराकार है। वह तो आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से ही दिख सकता है।

—२८।३।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ५२]

८६. विभूति

[एक पत्रांश]

साथी-सहयोगी करोड़ों हो सकते हैं। मित्र तो एक ईश्वर ही है। दूसरी मित्रता ईश्वर की मित्रता में बाधक है; यह मेरा मत और अनुभव है।

मैं यह जानता या मानता नहीं कि कृष्ण भगवान योगवल से या दूसरे वल से भौतिक साधनों के विना आया-जाया करते थे। सच्चे योगी विभूति मात्र का त्याग करते हैं, क्योंकि उनका योग सिर्फ साक्षात्कार साधने के लिए होता है। उसकी हल्की चीज़ के साथ कैसे अदलावदली की जा सकती है ?

— २८।३।१९३२। म० भा० डा०, भाग १ पृ० ५२-५३]

८७. ब्रह्मचर्य

[श्री सुरेन्द्र को लिखे पत्र से]

तीनों काल में और सव हालतों में टिका रहे वही ब्रह्मचर्य है। यह स्थिति वहुत मुश्किल है, मगर इसमें आश्चर्य की कुछ वात नहीं। हमारा जन्म विषय से हुआ है। जो विषय से पैदा हुआ है, वह शरीर हमें वहुत अच्छा लगता है। वंश-परम्परा से मिले हुए इस विषयी उत्तराधिकार को निर्विषयी वनाना कठिन ही है। फिर भी वह अमूल्य आत्मा का निवासस्थान है। आत्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो तव ब्रह्मचर्य स्वाभाविक हो सकता है। और वह ब्रह्मचर्य साक्षात् रम्भा स्वर्ग से उतर आये और स्पर्श करे तो भी अखण्डित रहता है। सवकी माता रम्भा के समान हो सकती है। रम्भा माता का विचार करने से भी विकार शान्त होते हैं। इसी तरह स्त्री मात्र का विचार करने से विकार शान्त होने चाहिए। मगर कितना विस्तार करूं ? इसी पर वार-वार विचार करके फलितार्थ निकालना।

—४।४।१९३२। म० भा०, डा० भाग १, पृ० ६९]

८८. ब्रह्मचर्य

[श्री सुरेन्द्र जी के पत्र में व्यक्त शंकाओं का उत्तर। सम्पा०]

सभी हालतों में कायम रह सके वही ब्रह्मचर्य है—इसमें सभी हालतों का पूरा अर्थ करना चाहिए। किसी भी लालच में या किसी भी प्रलोभन में आ पड़े, तो भी जो टिका रहे वह ब्रह्मचर्य है। किसी ने पत्थर का पुरुष वनाया हो और उसके पास

कोई रूपवती जाय तो पत्थर पर उसका असर नहीं होगा। इसी तरह जो पत्थर की तरह रह सके, वह ब्रह्मचारी है। मगर जैसे पत्थर की मूर्ति न कानों से काम लेती है, न आँखों से, वैसे ही पुरुष भी लालच ढूंढ़ने न जाय। वह तो ब्रह्मचारी नहीं है। इसलिए अपनी तरफ से तो पुरुप का एक भी कृत्य ऐसा नहीं होना चाहिए, जिसे विकार के चिह्न के तौर पर माना जा सके। मगर बड़ा सवाल तुम्हारे मन में यह है—स्त्री-जाति का दर्शन और उसका संग अनुभव से संयम का विघातक पाया जाता है, इसलिए त्याज्य है। इस विचार में मुझे दोप दीखता है।

जो संग स्वाभाविक है और जिसका मूल सेवा है, उसे छोड़ कर ही जो संयम पाला जा सके, वह संयम नहीं, ब्रह्मचर्य नहीं, वह तो बिना वैराग्य का त्याग है। इसलिए यह संयम मौका पाकर बढ़ेगा। 'पर' के दर्शनों के बिना विपयों की निवृत्ति हो ही नहीं सकती—यह वेदवाक्य है। मगर इससे उल्टा वाक्य भी उतना ही सच है। विपयों की निवृत्ति के विना 'पर' के दर्शन नहीं हो सकते। यानी दोनों चीजें साथ-साथ चलती हैं। अन्तिम वचन तनिक समझ लेने की ज़रूरत है। रस तो 'पर' के दर्शन के बाद मिट जाता है, यानी विपयों के शान्त हो जाने पर भी अन्दर-अन्दर अगर रस रह जाता है, तो 'पर' के दर्शन हुए विना विपय-वासना के जागरित होने की सम्भावना रह जाती है। साक्षात्कार होने के बाद वासना मात्र असम्भव हो जाती है। यानी पुरुप नरजाति न रहकर नपुंसक हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह एक न रहकर शून्य बन जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह परमेश्वर में समा जाता है। जहां वासना नहीं रही वहां रस भी क्या और विपय भी क्या ? इस तरह बुद्धि को तो यह बिल्कुल सीधा लगता है। यहां पर और जहां-जहां ईश्वर, ब्रह्म, परब्रह्म वगैरह शब्द आते हैं, वहाँ-वहाँ सत्य शब्द इस्तेमाल करके अर्थ करने और समझने से वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जायगी और साक्षात्कार का अर्थ भी आसानी से समझ में आ जायगा। यह खेल आत्म-वंचना का नहीं है। आश्रम में जो कुटुम्ब-भावना के नाम पर हम अन्तर में विषयों का सेवन करते होंगे, वे भी तीसरे अध्यायवाले मिथ्याचारी हैं। हम यहां सत्याचारी की बात कर रहे हैं, और यह सोच रहे हैं कि सत्याचारी को क्या करना चाहिए।.....

—१९।४।१९३२। म० भा० डा० भाग १, पृ० १०७-१०८]

- सभी हालतों में कायम रह सके, वही ब्रह्मचर्य है।
- किसी भी प्रलोभन में आ पड़े, तो भी जो टिका रहे, वह ब्रह्मचर्य है।
- जो पत्थर की तरह रह सके वह ब्रह्मचारी है।

८९. कुछ अध्यात्म-सूक्तियाँ

[एक प्रश्नकर्ता के उत्तर में अंकित सूक्ष्म विचार-कण]

१. आचार्य वह जो अपने आचार से हमें सदाचारी बनाये।

२. सच्चा व्यक्तित्व अपने को शून्यवत् बनाने में है।

३. जीवन का रहस्य निष्काम सेवा है।

४. सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि हम वीतराग बनें।

५. अन्तर्बाह्य नियमों का निश्चय ऋषि-मुनियों ने प्रायः अपने अनुभव से किया है। ऋषि वह जिसने आत्मानुभव किया है।

६. कर्तव्य-कर्मों के त्याग को गीता संन्यास कहती है।

७. पुरुष वह जो अपने देह का राजा बनता है।

८. सौन्दर्य के आन्तरिक वस्तु होने से उसका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो सकता।

— १६।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १५४]

९०. प्रार्थना

प्रार्थना तो एक यही शोभा देती है—'ईश्वर को जो ठीक लगे सो करे।' यह प्रश्न उठता है कि ऐसी प्रार्थना करने का अर्थ क्या? इसका जवाब यह है कि प्रार्थना का स्थूल अर्थ नहीं करना चाहिए। हमारे हृदय में बसनेवाले ईश्वर की हस्ती के बारे में हम जागरित हैं और मोह से छूटने के लिए घड़ी भर ईश्वर को अपने से अलग समझ कर उससे प्रार्थना करते हैं, यानी मन हमें जहां खींच ले जाता है वहां हम जाना नहीं चाहते। मगर ईश्वर हमसे भिन्न हो, तो हमारा स्वामी होने के कारण वह हमें जहां खींच कर ले जायगा वहीं हमें जाना है। हम नहीं जानते कि जीने में भला है या मरने में। इसलिए न तो जीकर खुश हों, न मरने से डरें। यह समझकर कि दोनों एक से हैं, हम तटस्थ रहें। यह आदर्श है। यहां तक पहुँचने में देर लगती है या शायद ही कोई पहुँच सकता है। इसलिए हम आदर्श को कभी न छोड़ें और ज्यों-ज्यों उसकी कठिनाई हमें महसूस होती जाय, त्यों-त्यों हम अपना प्रयत्न बढ़ाते जायं।

— १९।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १६०]

९१. प्रभु के प्रति समर्पण

[कुमारी एस्थर फेरिंग को लिखे पत्र से]

हम अगर अपने-आपको भगवान की इच्छा के सुपुर्द कर दें, तो हमें कभी चिन्ता करनी ही न पड़े।

—२२।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १६५]

९२. संयममयी श्रद्धा

[श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार को लिखे पत्र से]

संयममयी श्रद्धा शब्द का प्रयोग मैंने लाचारी से किया था। वह मेरे सब भाव प्रकट नहीं करता। और कोई शब्द-रचना इस वक्त मेरे खयाल में नहीं आती। तात्पर्य यह है कि वह श्रद्धा मूढ़, विवेकहीन, अन्ध नहीं होनी चाहिए। अर्थात् जिस जगह बुद्धि भी चलती है वहां कोई कहे कि बुद्धि कुछ भी कहे, मैं श्रद्धा से वही मानता हूं और मानूंगा—तो इस श्रद्धा में संयम नहीं है। पृथिवी गोल है या नहीं, यह कहना बुद्धि का विषय है : फिर भी कोई कहे कि मेरी श्रद्धा है कि पृथिवी सपाट है तो यह श्रद्धा संयममयी नहीं है।

—२१।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २३८]

० श्रद्धा मूढ़, विवेकहीन, अन्ध नहीं होनी चाहिए।

९३. ईश्वर : सेवी और सेवक

[श्री भुस्कुटे ने गांधी जी को पत्र लिखकर ताल्सताय का यह उद्धरण प्रस्तुत किया था, "दो ईश्वर माने जाते हैं। एक वह जिसे आमतौर पर लोग मानते हैं, जो लोगों की सेवा करता है. . . . । ऐसे ईश्वर की हस्ती नहीं है। मगर वह ईश्वर, जिसकी सेवा हम सभी को करनी है, हस्ती रखता है. . ."

उपर्युक्त उद्धरण प्रस्तुत कर श्री भुस्कुटे ने गांधी जी से पूछा था कि वह उपर्युक्त दोनों में से किस ईश्वर को मानते हैं? गांधी जी ने इस प्रश्न का निम्नलिखित उत्तर दिया।—सम्पा०]

मैं दोनों ईश्वरों को मानता हूं, जिसके पास से हम सेवा लेते हैं, और जिसकी हम सेवा करते हैं। ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि हम सेवा करें और किसी प्रकार की सेवा न लें। लेकिन दोनों ईश्वर काल्पनिक हैं। हां, उसके नजदीक तो वही चीज़

सच्ची है। जो ईश्वर सचमुच है, वह कल्पनातीत है। वह न सेवा करता है, न सेवा लेता है। उसके लिए कोई विशेषण भी नहीं है, क्योंकि ईश्वर कोई वाह्यशक्ति नहीं है; वह तो हमारे अन्दर ही है। और क्योंकि हम जानते नहीं हैं कि ईश्वर किस तरह काम करता है, इसलिए कल्पनातीत शक्ति का स्मरण करना ही चाहिए। और जब हमने स्मरण किया, वैसे ही (तभी) हमारा कल्पनामय ईश्वर पैदा हुआ। अन्त में बात यह है कि आस्तिकता बुद्धि का प्रयोग नहीं है; वह श्रद्धा की बात है। बुद्धि का सहारा इस बात में बहुत कम मिल सकता है। और जब हमने ईश्वर को माना तब विश्व के व्यवहार की बात का झगड़ा छूट जाता है, क्योंकि पीछे (बाद में) हमको मानना होगा कि ईश्वर की कोई कृति बगैर हेतु नहीं हो सकती। इससे आगे नहीं जा सकता हूं।

— १५।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग१, पृ० ३५८-३५९]

- **जो ईश्वर सचमुच है, वह कल्पनातीत है।**
- **वह (ईश्वर) न सेवा करता है, न सेवा लेता है।**
- **ईश्वर कोई बाह्यशक्ति नहीं है....वह तो हमारे अन्दर ही है।**
- **आस्तिकता बुद्धि का प्रयोग नहीं है। वह श्रद्धा की बात है।**
- **ईश्वर की कोई कृति बगैर हेतु नहीं हो सकती।**

९४. विचारपूर्वक प्रार्थना

प्रार्थना क्या है ? किसलिए की जाती है ? मौन क्यों रखते हैं ? प्रार्थना संस्कृत में क्यों हो ? गुजराती, मराठी या हिन्दी में क्यों न की जाय ? आदि अनेक बातों का विचार करके हम प्रार्थना को प्रचण्ड शक्ति बना सकते हैं, पर हम उसके विषय में कम-से-कम विचार करते हुए जान पड़ते हैं।

योगः कर्मसु कौशलम्—यह गीता का विचार प्रौढ़ है। योग का अर्थ है जुड़ना। ईश्वर के साथ जुड़ जाने का नाम योग है। गीतामाता सिखाती है कि कर्मकौशल से वह सहज ही सधता है। कौशल प्राप्त करनेवाले को अपने कर्म में तन्मय अर्थात् विचारमय होना ही चाहिए....इसलिए विचार भी सद्विचार, धार्मिक भावनामय, होना चाहिए। फिर भी विचार-शून्यता की तुलना में तो मन्त्र का आविष्कार करनेवाले की विचारशक्ति पूजने योग्य ही मानी जायगी।

—यरवदा मन्दिर, २८।८।१९३२। आश्रमवासियों से, पृ० ६४-६५]

९५. हमारा बल : ईश्वर

हमारा कोई बल ही नहीं, वह तो भगवान का ही दिया हुआ है। उसी के बल से हम बलवान हैं। यह एक छोटे से घड़े को समुद्र बनने की कोशिश करने-जैसी बात है। इसमें कोई शक नहीं कि घड़े में जो पानी है, वह समुद्र के पानी का ही अंश है। मगर इसमें वह अंश है और इसलिए हमें दिन-दिन शुद्ध होकर उस महासागर में मिलना है, यह ज्ञान ही हमें पशु से अलग करता है, नहीं तो पशु जैसे गुण तो हममें बहुत हैं। जो सर्वशक्तिमान है, सर्वव्यापक है, उसके बिना हम अपंग हो जायँगे।
—७।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १०]

- **उसी (भगवान) के बल से हम बलवान हैं।**
- **जो सर्वशक्तिमान है, सर्वव्यापक है, उसके बिना हम अपंग हो जायँगे।**

९६. शुद्धि

[एक पत्रांश]

कर्म-प्राधान्य का वर्णन करके तुलसीदास जी ने ईश्वरीय न्याय की प्रशंसा की है। भक्त के पापों को भगवान क्षमा करता है। शास्त्र की भाषा में इसका अर्थ यह है कि भक्त जब भगवान में लीन हो जाता है, तब शुद्ध होता है। शुद्ध होना पाप का क्षय ही है, जैसे सुवर्ण में से कुधातु का निकलना।
—११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५]

९७. एक ही उपास्य

[एक पत्रांश]

परमेश्वर और प्रकृति एक ही वस्तु है। देवता परमेश्वर की एक-एक शक्ति हैं। उनकी उपासना से भी अन्त में परमेश्वर तक पहुँचा जा सकता है।
—११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५]

९८. प्रार्थना

[सुश्री पद्मजा नायडू को लिखे पत्र से]

यह बात सच है कि अपने आस-पास की हवा से भी जिसमें मैं साँस लेता हूं, ईश्वर मेरे ज्यादा निकट है। निर्दोष बालकों की प्रार्थना में मैं

उसी की अदृश्य उपस्थिति का अनुभव करता हूं। उसी के सहारे मैं टिका हुआ हूं।

—१८।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ३६]

९९. अनशन

[सुश्री गंगा वहिन को लिखे पत्र से]

अन्तर्शुद्धि न होने पर भी पैदा हो जाय, तो वह अनशन राक्षसी हो सकता है।

—१९।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ४३]

१००. सामुदायिक बनाम वैयक्तिक प्रार्थना

[श्री श्रीरामनाथ सुमन को लिखे पत्र से]

सामुदायिक प्रार्थना की जड़ वैयक्तिक प्रार्थना ही हो सकती है। सामुदायिक प्रार्थना पर मैंने वजन दिया, उसका यह अर्थ कभी नहीं है कि वह वैयक्तिक प्रार्थना से अधिक महत्व रखती है। परन्तु चूंकि हमें सामुदायिक प्रार्थना की आदत ही नहीं है, इसलिए मैंने उस प्रार्थना की आवश्यकता वताने की चेष्टा की है। जो कुछ अनुभव तुम्हें एकान्त में वैठकर होता है, वह समूह में होना अशक्य नहीं, तो कठिन तो है ही, और मैंने ऐसा भी देखा है कि कई लोग एकान्त में वैठकर प्रार्थना कर ही नहीं सकते; समुदाय में ही कर सकते हैं। उनके लिए वैयक्तिक प्रार्थना आवश्यक हो जाती है। मैं यह भी कवूल करूंगा कि सामुदायिक प्रार्थना के विना मनुष्य रह सकता है; वैयक्तिक के विना कभी नहीं रह सकता।

—२६।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १४९-१५०]

- **सामुदायिक प्रार्थना की जड़ वैयक्तिक प्रार्थना ही हो सकती है।**
- **सामुदायिक प्रार्थना के बिना मनुष्य रह सकता है, वैयक्तिक के बिना कभी नहीं रह सकता।**

१०१. ईश्वर-प्रदत्त बल

[एक पत्रांश]

ऐसा आत्मवल हो ही नहीं सकता, जिसके पीछे ईश्वर का हाथ न हो।

—२७।१०।१९३२ म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५३]

१०२. अन्तर्नाद

[श्री मोहनलाल भट्ट को लिखे पत्र से]

.....अन्तर्नाद किसे कहा जाय ? वह सबको हो सकता है ? ये दो बड़े प्रश्न हैं। अन्तर्नाद तो सभी को होता ही है। मगर जैसे बहरा आदमी मधुर से-मधुर संगीत नहीं सुन सकता वैसे ही जिसके कान अन्तर्नाद सुनने को खुले न हों, वह इस नाद को नहीं सुन सकता और जो संयमी नहीं है, उसके कान अन्तर्नाद सुनने को खुलते ही नहीं। जिसमें गीता के दूसरे अध्याय में बताये हुए स्थितप्रज्ञ के या बारहवें अध्याय में कहे गये भक्त के या चौदहवें अध्याय में वर्णित गुणातीत के लक्षण हों या जिसमें तीनों का सम्मिश्रण हो, उसी में यह योग्यता हो सकती है।

—३०।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५६]

१०३. सर्वधर्म-ऐक्य

जैसे सर्व हिन्दू एक और अखण्ड हैं, वैसे ही तमाम हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, यहूदी और ईसाई एक ही वृक्ष की शाखाएँ हैं। सम्प्रदाय बहुत हैं, परन्तु धर्म तो एक ही है।

—५।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, (परिशिष्ट), पृ० ३८५-३८६]

१०४. ईश्वर-द्वारा मार्ग-दर्शन

[एक बालक को लिखे पत्र से]

ईश्वर अपने भक्तों को रास्ता दिखाता है। जो ईश्वर का नाम तक नहीं लेता, उसे याद तक नहीं करता, उसे भी ईश्वर रास्ता दिखाता है, यह कैसे कहा जा सकता है ? हम सब अमुक संस्कारों के साथ जन्म लेते हैं, ; उनके अनुसार हमें बुद्धि सूझती है। इन संस्कारों को मिटाने की शक्ति ईश्वर ने सबको दी है। इसका जो उपयोग करेगा, वह इनको मिटा सकता है।

—७।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १७८]

१०५. भगवद्भक्ति

[श्री रामदास को लिखे पत्र से]

जो उस (भगवान) की भक्ति करेगा उसे आवश्यक बुद्धि वही दे देगा; उसका निर्वाह भी वही करेगा। भक्ति का अर्थ है जिसमें ईश्वर रहता है, ऐसे

जीवमात्र की निःस्वार्थ भाव से की गई सेवा। इसमें आत्मशान्ति के लिए रामनाम का जप भी आ गया।

—७।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १७९]

१०६. धर्म का अर्थ

धर्म का अर्थ है जो धारण[1] करे। फिर भले ही वह धर्म नास्तिक का हो, मूर्तिपूजा करनेवाले का हो या निराकार की उपासना करनेवाले का हो।

—२१।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २२०]

● धर्म का अर्थ है जो धारण करे।

१०७. धर्म

[श्री स्टोक्स को लिखे पत्र से]

यह कितने आनन्द की बात होगी कि लोग यह समझ जायं कि धर्म बाहरी कर्मकाण्ड में नहीं है, बल्कि मनुष्य की ऊंची-से-ऊंची वृत्तियों का अधिक-से-अधिक अनुसरण करने में है।

—२५।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २३३]

१०८. परमेश्वर की खोज

परमेश्वर की तलाश करने मनुष्य को नहीं जाना पड़ता। अगर खोज में निकलने से परमेश्वर मिल सकता हो, तो क्या वह परमेश्वर है? परमेश्वर तो स्वयं अपने दास को, अपने भक्त को ढूंढ़ निकालता है।

—६।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २६३]

१०९. धर्म

हर व्यक्ति को जो चीज़ हृदयंगम हो गई है, वह उसके लिए धर्म है। धर्म बुद्धिगम्य वस्तु नहीं, हृदयगम्य है। इसीलिए धर्म मूर्ख लोगों के लिए भी है।

—६।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २६३]

---

१. धारयतीति धर्मः।

११०. राम-नाम

[श्री डाह्या भाई पटेल को लिखे पत्र से]

सभी दवाओं और सारी खुराकों से राम-नाम में अधिक शक्ति है, यह अनुभव न किया हो तो कर देखना। इसकी शक्ति विद्युत-शक्ति से अधिक है। यह तुम्हें शान्ति और उत्साह देगा।

—यरवदा मन्दिर, १७।१२।१९३२। 'बापू के पत्र : मणि बहिन पटेल के नाम,' पृ० १५४, न० जी० प्र० मं०]

१११. धर्म-पालन

[श्री कोतवाल को लिखे पत्र से]

अगर धर्म-संकट पैदा ही न होते, तो धर्मपालन असिधारा-जैसा न माना जाता। आमतौर पर त्याज्य मानी जानेवाली चीज़ ज़रा से परिवर्तन के कारण कर्त्तव्य बन जाती है।

—१८।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ३००]

११२. स्वधर्म का त्याग

स्वधर्म का त्याग करना मरण है।

—६।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १९]

११३. धर्म किसके लिए?

धर्म तो जो पालन करे उसके लिए है।

—७।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० २२]

११४. अन्तःप्रेरणा

शास्त्राज्ञा, लोकाचार, शिष्टाचार सब पर मेरी श्रद्धा है। परन्तु उसका असर होकर अन्त में जो प्रेरणा निकलती है, वही अन्तःस्फूर्ति मानी जाय। सारा जगत् इसी तरह चलता है। यह मेरा कोई विशेष गुण या दोष नहीं है। जैसे दूसरों की

वैसी मेरी अन्तःस्फूर्ति अल्पज्ञता अवश्य हो सकती है। इसी कारण तो मनुष्य भूल का पुतला माना जाता है।

—९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० २९-३०]

११५. ईश्वर

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

जगत् हम ही हैं। हम उसके अन्दर हैं; वह हमारे अन्दर है। ईश्वर भी हमारे अन्दर है। हमारे अन्दर हवा भरी हुई है; यह हम आँखों से तो नहीं देखते, लेकिन उसे जानने की इन्द्रिय हमारे पास है; ईश्वर को जानने की इन्द्रिय का विकास किया जा सकता है। उसका विकास कर लें तो इसे भी पहिचान लेंगे।...

—यरवदा मन्दिर, ११।१।१९३३। 'बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम', पृ० २३७, अ० भा० स० से० सं०]

११६. प्रार्थना

प्रार्थना तो हमारे श्वासोच्छ्वास में और हर काम में मौजूद है। मैं तुम्हें अमुक बात करने को कहता हूं, यह प्रार्थना नहीं तो क्या है? हम एक दूसरे की प्रार्थना करके एक दूसरे पर आधार रखते हैं। आधार न रखते हों तो जमीन पर खड़े तक नहीं रह सकते।

—१२।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ४३]

११७. अन्तरात्मा का स्वर

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—अन्तरात्मा की आवाज़ का क्या अर्थ है?

उत्तर—अन्तरात्मा की आवाज ईश्वर की आवाज है। वह हमारी आवाज नहीं है। यह आवाज ईश्वर की भी हो सकती है और शैतान की भी। ईश्वर हमारे द्वारा बोले, इसके लिए हमें यम-नियम का अच्छी तरह पालन करना चाहिए। क़रोड़ों मनुष्य अन्तरात्मा की आवाज का दावा करें तो भी सच्ची अन्तरात्मा की आवाज एक की ही होगी। इसका सबूत नहीं दिया जा सकता, पर उसका असर पड़ सकता है। अन्तरात्मा की आवाज हमसे बाहर का बल है, किन्तु वह बाह्य

वल नहीं है। हमारे वाहर का यानी हमारे अहंकार के बाहर का वल है। अहंकार जव सोया होता है, तव उस पर दो वल काम करते हैं—सत् और असत्। जब हम सत् वल के साथ तदाकार हो जाते हैं, तव गूढ़ भाषा में यह कहा जाता है कि ईश्वर हमारे जरिये बोल रहा है। हम सत् के साथ इतने तद्रूप हो जाते हैं कि हमारा अहं शून्य हो जाता है।

प्रश्न—अन्तरात्मा की आवाज सुनने का दावा मनुष्य कव कर सकता है?

उत्तर—यह तो उस आदमी पर निर्भर है। उसे जव अनुभव हो जाय कि वह स्वयं काम नहीं करता, तव वह ऐसा कर सकता है। मान लीजिए कि मैं अन्तरात्मा की आवाज सुनने का हमेशा प्रयत्न करूं, सदा ईश्वर से प्रार्थना करूं कि तू मेरे जरिये काम कर और मुझे शून्य वना दे, तो ऐसा क्षण आ सकता है, जब मुझे यह लगे कि ईश्वर मुझे उसकी आवाज सुना रहा है। उस समय मैं यह कहूंगा भी कि मैं ईश्वर की आवाज सुन रहा हूं। किन्तु इसे मैं सिद्ध कैसे करूं? यह तो मेरे आचरण से ही सिद्ध होगा। किन्तु यह भी अन्तिम कसौटी नहीं है। मान लीजिए हिमालय की किसी गुफा में एक आदमी गड़ गया है और ईश्वर उससे मिलने के लिए मुझे वहां भेजता है। मान लीजिए मैं उस जगह पहुंच गया, मैंने जरा सा खोदा और मुझे वह आदमी मिल गया। फिर भी सम्भव है कि वह अन्तरात्मा की आवाज न हो। केवल संयोग हो या मेरा भ्रम ही हो या मुझे किसी ने ऐसा कहा हो। दुनिया तो परिणाम से ही मेरा न्याय करेगी। यदि परिणाम अच्छा आये, तो दुनिया कहेगी कि यह चमत्कार हुआ। किन्तु असल में इसमें अन्तिम प्रमाण कुछ नहीं है। मनुष्य कब आत्मवंचना करता है और कव दंभी बनता है, यह वह स्वयं नहीं जानता। आत्मवंचना में दंभ से भी ज्यादा वड़ा खतरा है।

एक ही चीज को वतानेवाले वहुत से उदाहरण हों, तव हमें ज्यादा सबूत मिलता है। इसमें बुद्ध, कृष्ण और मोहम्मद सव महान् पुरुष आ जाते हैं। उन्होंने जो सत्य कहा है, वह उन्होंने अपनी शक्ति से नहीं कहा है, वल्कि किसी अलौकिक शक्ति ने उनके जरिये कहलवाया है। कुछ मनुष्य इतने अधिकारी होते हैं कि उनके द्वारा अलौकिक शक्ति काम करती है। किन्तु वह कब करती है, इसका सबूत नहीं दिया जा सकता।

--१३।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ४८-४९]

- **अन्तरात्मा की आवाज़ हमसे बाहर का वल है, किन्तु वह बाह्य वल नहीं है।**
- **आत्मवंचना में दंभ से भी ज्यादा वड़ा खतरा है।**

११८. वेद

किसी के भी हृदय में ईश्वर प्रेरणा करे और वह वोले तो वह वेद है। मुहम्मद (साहव) का कहा हुआ भी वेद वाक्य हो सकता है। इसीलिए तो सत्य वेद है।

— १७।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ६४]

११९. ईश्वर

[सुश्री मीरा वहिन को लिखे पत्र से]

ईश्वर दयासागर है, इसलिए हम कोई कल्पना करें तो अच्छे की ही करें। जैसे गीता का भक्त तो कोई भी कल्पना नहीं करेगा। अच्छा और वुरा आखिर तो सापेक्ष है। ईश्वर का भक्त जो घटनाएं होती हैं उन्हें देखता रहता है और स्वाभाविक रूप में अपने हिस्से में आया हुआ काम करता रहता है। जैसे अच्छा यन्त्र यान्त्रिक के हाथ में अच्छी तरह चलता है, वैसे ही हमें भी उस महान् यान्त्रिक के चलाये चलना है। वुद्धिवाले मनुष्य के लिए ऐसा यन्त्र वनना वहुत मुश्किल है। किन्तु हमें शून्य वन जाना हो और पूर्णता को प्राप्त करना हो, तो ठीक इसी तरह करना चाहिए। यन्त्र और मनुष्य के वीच मूल भेद तो यह है कि यन्त्र जड़ है और मनुष्य पूरी तरह चेतनामय है। मनुष्य उस महान् यान्त्रिक के हाथ में यन्त्र वनता है, तो ज्ञानपूर्वक वनता है। श्रीकृष्ण ने यही वात इन शब्दों में रखी है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया ॥

— १९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ६९]

१२०. आत्मज्ञान

विकार को वश में करने के लिए अन्तर्मुख वनने की जरूरत है। उन्नति का मूलमन्त्र आत्मसमर्पण है। उन्नति का अर्थ है आत्मज्ञान।

— २३।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ८१]

१२१. मौन

[एक पत्रांश]

मौन का अर्थ न बोलना, न इशारा करना, न देखना, न सुनना, न खाना, न पीना अर्थात् एकान्त में रह अन्तर्धान होना। मौन के दिन ईश्वर-ध्यान होना चाहिए। मौन का हेतु अन्तर्धान होना है।

—२३।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ८१]

० मौन का अर्थ अन्तर्धान होना है।

१२२. धर्म : सबका आधार

मनुष्य अल्प है, निराधार है, ऐसा तो उसे मानना ही पड़ेगा। क्योंकि शरीर निराधार है, परावलम्बी है। उपनिषद् की वह प्रसिद्ध कथा बड़ी अच्छी है। वायु से पूछा, इस तिनके को तू उड़ा सकता है? अग्नि से पूछा, तू इसे जला सकती है, तब कोई यह न कर सका। जिस शक्ति के द्वारा यह वायु और अग्नि की शक्ति चलती थी, उसी शक्ति से हम सबको सिंचन मिलता है। इसी में हमारा ऐक्य है। इस गुण में हम सब एक से हैं। इस वस्तु से मैंने यह सार निकाला कि सत्य ही ईश्वर है। होना—सत्—ईश्वर का धर्म है, दूसरे का नहीं। इसी हस्ती के सहारे हम टिके हुए हैं। फिर उसे कुछ भी कहो। चाहो तो 'नेति नेति' कहो।

—३।२।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ११४-११५]

१२३. ईश्वर का अस्तित्व

...ईश्वर है, वह करुणा का भण्डार है, दुखियों का दुःख दूर करता है, भूखों का पेट भरता है।

—ह० से०, २३।२।१९३३]

१२४. प्रभु की प्रतिज्ञा

ईश्वर की प्रतिज्ञा है कि वह दुखियों का सहायक है, दया का सागर है, अशक्तों को शक्ति देनेवाला है, निर्बल का बल है, पंगु का पैर है, अन्धों की आँख है।

—ह० से०, २३।२।१९३३]

१२५. आत्म-विश्वास का अर्थ ईश्वर में विश्वास है

...अपने ऊपर विश्वास का अर्थ है ईश्वर में विश्वास। जो अपने अन्दर से सारा गर्व और अहंकार निकाल फेंकते हैं, वे ईश्वर से सर्वाधिक सहायता पाते हैं।
—ह० ज०। ह० से०, १७।३।१९३३]

१२६. ईश्वर

[सुश्री हेमप्रभा को लिखे पत्र से]

तेरा साथी, मित्र, सखा, पिता सब कुछ ईश्वर है, जिसको हम राम-नाम से पहिचानते हैं।
—२२।४।१९३३। म० भा० डा० भाग ३, पृ० २३९]

१२७. उपवास

उपवास धर्म का अविभाज्य अंग है। इस्लाम में और दूसरे धर्मों में सैकड़ों इस तरह मर मिटे हैं। तू यह आपत्ति ज़रूर कर सकता है कि यह प्रकट करने की क्या ज़रूरत थी? लेकिन इसकी भी ज़रूरत है। यह नई चीज़ है। प्राचीन प्रणाली में मैं जो कुछ देखता हूं उसमें सुधार कर रहा हूं। इसका अनर्थ भी हो सकता है।
—३०।४।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० २५७]

१२८. भक्ति-धारा कैसे बहे?

एक भागवत-धर्म-प्रेमी लिखते हैं—

"बहुत-से लोग अब भी इस धार्मिक आन्दोलन को हमारी एक राजनीतिक चाल समझ रहे हैं। यद्यपि आप बराबर हरिजन-आन्दोलन में भक्तिवाद को स्थान देते आये हैं, तथापि वास्तविकता के अत्यधिक प्रभाव से इस आन्दोलन के पीछे जो धर्म-भाव है उसे लोग अभी समझ नहीं सके। यदि आप 'हरिजन', 'हरिजन-बन्धु' और 'हरिजन-सेवक' में निरन्तर एकाध ऐसा लेख देते रहें जिसमें शुद्ध भक्ति-भाव का ही प्रवाह हो, तो बहुत सम्भव है, कि लोग शास्त्रीय वाद-विवाद को छोड़कर भागवत् धर्म की प्रबल धारा में बह जायं। ऐसी भक्ति-भागीरथी बहाइए, जिसमें अवगाहन करके हमारे हरिजन भाई वास्तव में हरिजन हो

जायं और साथ ही हम गुनहगार भी अपने पापों का प्रायश्चित्त करके हरिजन बन जायं। क्या भागवत धर्म के प्रचार से ही हम मन्दिर-प्रवेश का अधिकार हरिजनों को न दिला सकेंगे? कानूनी कठिनाई हल हो जाने के बाद हृदय-परिवर्तन तो भागवत-धर्म ही करेगा। और मेरा विश्वास है, कि वह भक्ति-धारा इस नास्तिकता-प्रधान युग में आप ही प्रवाहित कर सकते हैं।

"यदि मैंने अपना आशय स्पष्ट कर दिया है, तो मुझे आशा है, कि इन पत्रों में आप अबाधित रूप से कुछ पंक्तियां पतित-पावनी भक्ति पर लिखते रहेंगे।"

भक्ति-धारा लेखनी से नहीं वह सकती। वह बुद्धि का विषय नहीं है। वह तो हृदय की गुफा से ही निकल सकती है, और जब वहां से फूट निकलेगी, तब उसके प्रवाह को कोई भी शक्ति नहीं रोक सकेगी। गंगा के प्रबल प्रवाह को कौन रोक सकता है?

ऐसी भक्ति के लिए मैं प्रयत्नशील अवश्य हूं। लेकिन यह प्रयत्न शब्दाडम्बर से सिद्ध नहीं होगा। इसके लिए तो कर्मयोग ही एकमात्र मार्ग है। इस योग में पूरी निष्कामता आवश्यक है। निष्काम कर्म का ही दूसरा नाम कर्मयोग है।

अतः भक्ति-धारा बहाने के लिए मुझे किसी विशेष लेख की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अंग्रेजी, गुजराती, हिन्दी हरिजन का प्रत्येक शब्द यदि भीतरी भक्ति का द्योतक होगा, तो अपने आप उसका प्रभाव पड़ेगा।

भागवत-धर्म-प्रेमी के आशय को मैं समझ गया हूं। मेरे अन्दर वह भक्ति होगी और जितनी होगी, उसी मात्रा में बिना प्रयत्न किये ही उसका स्पर्श दूसरों को होगा, क्योंकि मैं मानता हूं, कि एकमात्र भागवत-धर्म से हृदय-परिवर्तन हो सकता है। यह धर्म संक्रामक है। प्रकट होने के बाद किसी को यह अछूता नहीं छोड़ता। जब हम में से किसी में सचमुच यह प्रकट हो जायगा, तब हरिजन और सनातनी अपने आप ही इसे पहिचान लेंगे। कम-से-कम अपने लिए मैं कह सकता हूं, कि मेरे सब कार्य—क्या लिखना, क्या बोलना—मेरे अन्दर उस भक्ति के पैदा होने के कारण हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दू धर्म को विनाश से बचाना है, तो इसे छोड़ दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

गुण्डेबाजी से अथवा पाखण्ड से, वाक्‌चातुर्य से अथवा ललित लेखों से धर्म की रक्षा न तो कभी हुई है, न होगी। धर्म-रक्षा तो धर्मप्राणों की आत्म-शुद्धि और तपश्चर्या से ही हो सकती है। भागवतकार ने स्पष्ट कर दिया है, कि इस युग में भगवद्‌भक्ति का ही मार्ग सुलभ है और शायद वही एक मार्ग है।

तव मैं क्यों लिखता हूं. क्यों वोलता हूं, ऐसा प्रश्न उठ सकता है। उत्तर मेरे उक्त कार्यों में ही भरा है। यही प्रवृत्तियां वताती हैं, कि भागवत-धर्म का पूर्ण विकास मुझमें नहीं हुआ है। और यदि थोड़ा भी हुआ है तो, ये मेरी प्रवृत्तियाँ भी उसी विकास के कारण हैं, और सचमुच ऐसा होगा तो, उनमें कहीं-न-कहीं भक्ति का कुछ दर्शन दूसरों को होना ही चाहिए।

—ह० से। ५।५।१९३३]

- **भक्ति-धारा लेखनी से नहीं वह सकती।**
- **वह (भक्ति-धारा) वुद्धि का विषय नहीं है। वह तो हृदय की गुफा से ही निकल सकती है।**
- **निष्काम कर्म का ही दूसरा नाम कर्मयोग है।**
- **एकमात्र भागवत-धर्म से हृदय-परिवर्तन हो सकता है।**
- **धर्म-रक्षा तो धर्मप्राणों की आत्मशुद्धि और तपश्चर्या से ही हो सकती है।**
- **इस युग में भगवद्-भक्ति का ही मार्ग सुलभ है।**

१२९. धर्म

...ऐसे चमत्कारी धर्म की व्याख्या क्या है? धर्म वह है जो आत्मा को शुद्ध करता है; जो फल की आकांक्षा नहीं रखता, जिसे अटूट विश्वास है और जिसमें स्वार्थ का होना असम्भव है। जो कार्य इस धर्म के अनुकूल है, वह धार्मिक है। इस अर्थ में हरिजनों की सेवा धार्मिक कामों में सवर्ण हिन्दुओं की शुद्धि का रूप लेती है, उनका प्रायश्चित्त वनती है। अगर यह वात अच्छी तरह समझ में आ जाय, तो किसी को कोई शंका न रहे। हर एक स्त्री-पुरुष या संघ यथाशक्ति हरिजन-सेवा करके शुद्ध हो, किसी की निन्दा न करे और न द्वेष रखे। इसमें राजनीतिक लाभ की कहीं वात ही नहीं है।

परन्तु यह कहना आसान है, करना कठिन है। इसका अर्थ यह हुआ कि धर्म वुद्धिगम्य नहीं, हृदयगम्य है। हृदय के जागरण के लिए तप के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। तप त्याग की परिसीमा है। तप का आरम्भ उपवास से होता है। दुःख सहने का नाम तप है। उपवास का दुःख उपवासी ही जानता है। जो चीज मैं दलीलों से नहीं समझा सकता, वह उपवास रूपी तप से समझाने की आशा रखता हूं।

—ह० व०, ६।५।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, परिशिष्ट-२, पृ० ४०६]

- धर्म बुद्धिगम्य नहीं, हृदयगम्य है।
- हृदय की शुद्धि के लिए तप के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है।
- तप त्याग की परिसीमा है।
- दुःख सहने का नाम तप है।

१३०. दुःख ईश्वर का वरदान है

[श्री जे० सी० कुमारप्पा को लिखे निजी पत्र से]

मुझे यह दृष्टि मिली है कि ऐसे दुःख-शोक, कभी-कभी उस अटूट सुख की अपेक्षा ईश्वर के अधिक सच्चे वरदान हैं, जो वाह्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

—अंग्रेजी। वर्धा ३।१०।१९३३। प्रधान सम्पादक के पास संग्रहीत गांधी जी के पत्रों की प्रतिलिपि से।]

१३१. अन्तःकरण

जैसा कि मैं समझता हूँ, अन्तःकरण सत्य का स्पष्ट दर्शन है और चूंकि हम सत्य को केवल सापेक्षिक रूप में जान सकते हैं, हम विश्व के सन्तों को अपना पथ-दर्शक बनाते हैं। सत्य का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए निश्चित नियम बनाये गये हैं। जैसे आवश्यक शिक्षण प्राप्त किये बिना प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि उसे ज्यामिति का ज्ञान है, वैसे ही जबतक किसी ने आवश्यक यम-नियमों का पालन नहीं किया है तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि उसके पास अन्तःकरण है।

—अंग्रेजी। वर्धा। बंगलौर के वी० ए० सदाशिवम् को लिखे गये एक निजी पत्र से। ८।१०।१९३३ प्रधान सम्पादक के संग्रह से।]

१३२. रामनाम रामबाण औषधि है!

[एक सज्जन ने गांधी जी से पूछा था कि राम-नाम लेने पर भी उसका कोई फल दीख नहीं पड़ता, तब राम-नाम लेने से लाभ ही क्या? गांधी जी ने इसके उत्तर में निम्नलिखित विचार व्यक्त किये।—सम्पा०]

आपके लिए, मेरे लिए और जो समझें उन सबके लिए राम-नाम रामबाण औषधि है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। राम-नाम निर्दोष और निरोगी के लिए

नहीं, हमारे-जैसे पातकी और रोग-ग्रस्त लोगों के लिए है। इसलिए कोई फल मिले या न मिले, तब भी, दृढ़ता के साथ, राम-नाम की रटन तो लगी ही रहनी चाहिए।

—ह० व०। ह० से०, १३।१०।१९३३]

१३३. ईश्वर के विषय में

[एक सज्जन ने ईश्वर और उसकी प्राप्ति के उपाय के सम्बन्ध में पूछा। उन्हें गांधी जी ने जो उत्तर दिया, उसका सारांश निम्नलिखित है।—सम्पा०]

१. ईश्वर सत्य है।

२. अतः ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग यह है कि मन, वचन और कर्म से सत्य का पालन किया जाय।

३. यदि राम-नाम का स्मरण हृदय से किया जाय, तो उससे अवश्य ही आत्म-साक्षात्कार होगा।

४. आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है सत्य से साक्षात्कार।

—ह० व०। ह० से०, १३।१०।१९३३।]

१३४. मोह और सेवा

[बिरुआगढ़ी, हरदोई की रानी विद्यावती को लिखे गये एक निजी पत्र से]

...सेवा का भी मोह हो सकता है। मोह-मात्र छोड़ने से ही सच्ची सेवा हो सकती है।...

—हिन्दी। वर्धा। २३।१०।१९३३। प्रधान सम्पादक-द्वारा संग्रहीत गांधी जी के पत्रों की प्रतिलिपि से]

१३५. ईश्वर का नाम

हमें ईश्वर के जिस नाम का अभ्यास हो, उसे ही सबसे अधिक उपयोगी समझना चाहिए। मुझसे पूछिए तो मुझे रामनाम बहुत प्रिय है।

—ह० व०। ह० से०, १०।११।१९३३]

१३६. जीवन ही प्रार्थनामय

...ठीक राह तो यह है कि सम्पूर्ण जीवन को ही प्रार्थनामय बना लेना चाहिए।

—गुजराती। धमतरी। श्री पुरातन को लिखे निजी पत्र से; १४।११।१९३३ प्रतिलिपि प्रधान सम्पादक के पास संग्रहीत]

१३७. धर्म में द्वेष नहीं

धर्म में द्वेष के लिए कोई स्थान नहीं है।

—ह० से०, १७।११।१९३३]

१३८. धर्म का पालन

बलात्कार (जबर्दस्ती) से धर्म का पालन नहीं हो सकता।

—ह० से०, २४।११।१९३३]

१३९. धर्म का पालन सब का कर्तव्य

प्राकृत क्या और संस्कृत क्या, धर्म का पालन तो सबके लिए कर्तव्य है।

—ह० से०, २४।११।१९३३]

१४०. समस्त धर्मों की राय

सब धर्मों के लोगों ने माना है कि ईश्वर न्यायी है; ईश्वर सत्य है, सत्य ही ईश्वर है।...ईश्वर ही है, दूसरा कुछ नहीं है, सारा संसार ऐसा मानता है। ऐसे ईश्वर के यहां भेदभाव हो सकता है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

—नागपुर। ह० से०, २४।११।१९३३]

१४१. अनुयायियों की अनीति

कोई धर्म अपने अनुयायियों की अनीति पर फल-फूल नहीं सकता।

—ह० से० २४।११।१९३३]

१४२. सनातन धर्म

सनातन धर्म तो सनातन सत्य है।
—ह० से०, २२।१२।१९३३]

१४३. धर्म का अर्थ

संस्कृत में धर्म का धात्वर्थ धारण करना है। धर्म ही कर्त्तव्य में बाँधता है। धर्म ही मनुष्य का पोषण करता है। मूलतः धर्म ही व त्रोपम सदाचार है। जव मनुष्य में सदाचार का, सच्चरित्रता का उदय होता है, तव वह धर्म का रूप धारण कर लेती है। संकट काल में मनुष्य को धर्मरूप सदाचार ही धारण करता है और वही उसकी रक्षा करता है।
—त्रिवांकुर। २०।१।१९३४। ह० से०, २।२।१९३४]

१४४. धर्मों का मूल आधार

एक ईश्वर में विश्वास ही तमाम धर्म—मजहवों का मूलाधार है। पर ऐसे किसी युग की कल्पना नहीं कर सकता, जव सारे संसार में एक ही धर्म का प्रवर्तन दीख पड़ेगा। सैद्धान्तिक दृष्टि से तो चूँकि एक ही ईश्वर है, इसलिए धर्म भी एक ही हो सकता है। लेकिन व्यवहार में मैं नहीं जानता कि किन्हीं दो मनुष्यों की ईश्वर-विषयक कल्पना विल्कुल एक-सी होगी। इसलिए शायद विविध स्वभाव और विविध जलवायु के कारण धर्म-मजहवों की विविधता भी रहेगी। मेरी दृष्टि में ऐसा समय ज़रूर आ रहा है, जव विविध धर्मावलम्वी लोग दूसरे के धर्मों के प्रति उतना ही आदर-भाव रखने लगेंगे, जितना कि वे अपने धर्म के प्रति रखते हैं। मेरी मान्यता है कि हमें भेद में अभेद का दर्शन करना है।. . .हम एक ही ईश्वर की, एक ही परमपिता की सन्तान हैं, इसलिए निश्चय ही हम सव समान हैं।
—ह० ज०। ह० से०। ९।२।१९३४।]

१४५. धर्म : अनेक और एक

मेरा विश्वास है कि संसार के समस्त महान् धर्म सच्चे हैं, ईश्वरीय आदेश-द्वारा नियत किये हुए हैं, और जो उन धर्मों को मानते हैं या उनके वातावरण में

रहते हैं, उनके लिए वे उपयोगी ही सिद्ध होते हैं। इस बात में मेरा विश्वास नहीं है कि कभी ऐसा समय आयेगा, जब हम यह कह सकेंगे कि संसार भर में एक ही मौलिक धर्म है। वैसे तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो आज भी संसार में एक ही मौलिक धर्म दिखाई देगा। धर्म एक विशाल वृक्ष के समान है, जिसकी अगणित शाखाएं हैं। शाखाओं की दृष्टि से तो आप कह सकते हैं कि धर्म अनेक हैं और वृक्ष के रूप में धर्म एक है।

—एलेप्पी, १८।१।१९३४। ह० से० २।३।१९३४]

१४६. धर्म-साक्षात्कार

धर्म का साक्षात्कार आत्म-पारतन्त्र्य के द्वारा नहीं, किन्तु आत्म-स्वातन्त्र्य के द्वारा होता है।

—पाण्डिचेरी। ह० से०, ९।३।१९३४]

१४७. धर्म का रक्षण

मेरा यह पक्का विश्वास है कि पाशविक बल के सहारे किसी भी धर्म का पोषण नहीं हो सकता।...धर्म की रक्षा उसके अनुयायियों के सदाचरण से ही होती है।

—ह० से०, १६।३।१९३४]

१४८. ईश्वर पर आस्था

मैं ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास किये बिना कैसे रह सकता हूं?... अवश्य ही कोई ऐसी रहस्यमयी शक्ति है, जिसे हम ईश्वर कहते हैं।

—शेड़वाल। ह० से०, २३।३।१९३४]

१४९. धर्म और हिंसा

धर्म की सेवा हिंसा या बल-प्रयोग से कदापि नहीं हो सकती।

—कटजुड़ी (उड़ीसा) ह० से० १।६।१९३४]

१५०. धर्म-रक्षा

मेरा विश्वास है कि हिंसा, असत्य या क्रोध से न धर्म की सेवा हो सकती है, न रक्षा ही। धर्म-रक्षा आत्मत्याग और आत्म-संयम द्वारा ही हो सकती है।
—अजमेर। ह० से०, २०।७।१९३४]

१५१. धर्म से धरती का अस्तित्व

धर्म की नींव पर यह संसार-दुर्ग खड़ा है। अगर नींव खोदकर फेंक दी जाय तो उस इमारत के ध्वस्त हो जाने में क्या सन्देह?
—भावनगर, १।७।१९३४। ह० से०, २०।७।१९३४]

१५२. सत्याश्रयी धर्म

सत्य के अनुकूल आचरण करना मैं अपना धर्म समझता हूं। धर्म को कैसे छोड़ दूं? ईश्वर क्या कहेगा?
—कानपुर २२।७।१९३४। ह० से०, ३।८।१९३४]

१५३. नाम-जप : राम-नाम

प्रत्येक जप भगवान के अनुसन्धान का साधन है। एक के लिए गायत्री मन्त्र अनुकूल पड़ता है तो दूसरे के लिए द्वादशाक्षरी मन्त्र। मुझे राम-नाम से जितना आश्वासन मिलता है, उतना गायत्री मन्त्र से नहीं मिलता। प्रत्येक जप के पीछे उसके उत्पादक का महान तप होता है, इसलिए भविष्य में कुछ तपस्वी कोई अन्य मन्त्र भी दें, तो दे सकते हैं। पर मेरे लिए तो राम-नाम में ही सब कुछ आ जाता है। मेरे जीवन में रामनाम ओतप्रोत हो गया है। बचपन में ही मेरी धाय ने मुझे राम का नाम लेना सिखाया था। जब-जब मैं भयभीत या दुखी हुआ, राम-नाम लेकर भय-मुक्त हो सका। अब तो राम-नाम-स्मरण मेरा सहज स्वभाव बन गया है। कहा जा सकता है कि मुझे चौबीसो घण्टे राम-नाम का ही ध्यान रहता है। मैं मुंह से भले ही जप न करूं, पर जो भी करता हूं, उसमें राम-नाम की प्रेरणा निरन्तर रहती है। अनेक विकट प्रसंगों पर राम-नाम ने मेरी रक्षा की है। मेरा

यह सदा ही संकल्प रहता है कि मेरा शरीर चाहे जिस प्रवृत्ति में लगा हो, पर मन में तो राम का मधुर नाम ही गूँजा करे।

—४।८।१९३४। ह० से०, २४।८।१९३४]

० मेरे जीवन में राम-नाम ओतप्रोत हो गया है।

१५४. ईश्वर, निराशा और श्रद्धा

निराशा विषयासक्ति की निशानी होती है: अश्रद्धा की तो होती ही है। जो राम-नाम लेने से थक जाय, निराश हो जाय—उसकी श्रद्धा को हम समाप्त हो चुकी ही कहेंगे न? जब कोलम्बस के साथियों की श्रद्धा खत्म हो गई तब वे उसे मार डालने को तैयार हो गये। कोलम्बस श्रद्धा की आँख से किनारे को स्पष्ट देख रहा था। उसने थोड़ी-सी मोहलत माँगी और वह अमरीका पहुँच गया। न खाने की चीज सपने में खाई जाय तो उसका भी यही अर्थ है। ऐसे सपनों के बाहरी कारण होते हैं। उनका पता चले तब उन्हें दूर करना चाहिए। जो सब अवस्थाओं का साक्षी है वह निष्कल ब्रह्म मैं हूँ—ऐसा हम गाते हैं। ऐसा बनने का हम सतत प्रयत्न करें तभी इसे गा सकते हैं। ऐसे हम नहीं बने हैं, इसी के चिह्न-स्वरूप सपने आते हैं। वे हमारे लिए दीपस्तम्भ का काम करते हैं।

ईश्वर की कृपा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता, परन्तु प्रयत्नरूपी निमित्त के बिना भी वह नहीं हिलता। प्राणिमात्र की शुद्धतम सेवा ही साक्षात्कार है।

—१३।१२।१९३४। 'बापू के पत्र: कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम', पृ० २३१, न० जी० प्र० मं०]

० निराशा विषयासक्ति की निशानी होती है।

१५५. नियमित प्रार्थना के नये आयाम

[स्विटजरलैण्ड निवासी श्री पी० आर० सेरेसोल अन्तर्राष्ट्रीय सेवा-सेना के अध्यक्ष थे और श्री जो० विलकिंसन उनके एक नौजवान साथी। ये दोनों सेवाभावी ईसाई गांधी जी से मिले और इन्होंने विविध प्रश्नों पर उनसे बातचीत की। उनकी वार्ता के आवश्यक अंश यहां दिये जा रहे हैं।—सम्पा०]

श्री सेरेसोल—आश्रम की दैनिक प्रार्थना को लक्ष्य कर एक ही श्लोक का जो बार-बार पाठ होता है, वह मेरे कान को कुछ रुचता नहीं। सम्भव है कि यह मेरे बुद्धिवादी, गणितज्ञ स्वभाव का दोष हो। पर वही श्लोक नित्य बार-बार गाये

जायं, यह मुझे अच्छा नहीं लगता। उदाहरण के लिए बाख के अलौकिक संगीत में भी जब वहीं एक पद बार-बार गाया जाता है, तब मेरे मन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

गांधी जी—(मुस्कराते हुए) पर आपके गणित में क्या पुनरावर्ती दशमलव नहीं होता?

श्री सेरेसोल—किन्तु प्रत्येक दशमलव से एक नई ही वस्तु निकलती है।

गांधी जी—इसी प्रकार प्रत्येक जप में नूतन अर्थ रहता है; प्रत्येक जप मनुष्य को भगवान के अधिक निकट ले जाता है; यह बिल्कुल सच्ची बात है। मैं आपसे कहता हूं कि आप किसी सिद्धान्तवादी से बात नहीं कर रहे हैं, आप तो एक ऐसे मनुष्य से बात कर रहे हैं, जिसने इस वस्तु का अनुभव जीवन के प्रत्येक क्षण में किया है, यहां तक कि इस अविराम क्रिया के बन्द हो जाने की अपेक्षा प्राणवायु का निकल जाना अधिक सरल है। यह हमारी आत्मा की भूख है।

श्री सेरेसोल—मैं इसे अच्छी तरह समझ सकता हूं, पर साधारण मनुष्य के लिए यह मात्र एक अर्थ-शून्य विधि है।

गांधी जी—मैं मानता हूं, पर अच्छी-से-अच्छी चीज का भी दुरुपयोग हो सकता है। इसमें यथेच्छ दंभ की गुंजाइश तो है, पर वह दंभ भी सदाचार की स्तुति है। मैं जानता हूं कि अगर दस हजार दंभी मनुष्य मिलते हैं तो करोड़ों ऐसे श्रद्धालु भी होंगे, जिन्हें ईश्वर के इस नाम-रटन से शान्ति मिलती होगी। मकान बनाते समय पाड़ बाँधने की जरूरत पड़ती है। यह चीज ठीक वैसी ही है।

श्री सेरेसोल—अगर मैं आपके द्वारा की हुई इस उपमा को तनिक और आगे ले जाऊं तो क्या आप मान लेंगे कि मकान तैयार हो जाय, तब पाड़ को गिरा देना चाहिए?

गांधी जी—हां, जब शरीर-पात हो जायगा, तब वह भी दूर हो जायगा।

श्री सेरेसोल—यह क्यों?

श्री विल्किंस—यह इसलिए कि हम निरन्तर निर्माण ही करते रहते हैं।

गांधी जी—इसलिए कि हम निरन्तर पूर्णता के लिए प्रयत्न करते रहते हैं। केवल ईश्वर ही पूर्ण है, मनुष्य कभी पूर्ण नहीं होता।

—ह० से०, ३१।५।१९३५]

- प्रत्येक जप में नूतन अर्थ रहता है।
- प्रत्येक जप मनुष्य को भगवान के अधिक निकट ले जाता है।

- अच्छी से अच्छी चीज़ का भी दुरुपयोग हो सकता है।
- केवल...ईश्वर ही पूर्ण है; मनुष्य कभी पूर्ण नहीं होता।

१५६. आइए, प्रार्थना करें

जब कोई मनुष्य गिर पड़ता है तो वह उठने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। तमिल भाषा में एक कहावत है कि वह निराधारों का आधार है। क्वेटा का यह भयंकर महानाश[1] मनुष्य की बुद्धि को चक्कर में डाल देता है। वह हमारे पुनर्निर्माण के तमाम प्रयत्नों पर पानी फेर देता है। इस महानाश के विषय में सम्पूर्ण सत्य शायद कभी मालूम न हो सकेगा। जो बेचारे इस दुर्घटना में मर गये उन्हें फिर से जीवन-दान नहीं दिया जा सकता। पर मनुष्य को तो अपना प्रयत्न जारी रखना ही चाहिए। जो बच गये हैं उन्हें सहायता अवश्य मिलनी चाहिए। ऐसा पुनर्निर्माण जहां तक सम्भव है, किया जायगा। पर यह सब और इसी प्रकार का और भी काम ईश्वर-प्रार्थना का स्थान नहीं ले सकता।

मगर प्रार्थना क्यों की जाय? अगर कोई ईश्वर है तो क्या उसे इस भयंकर दुर्घटना का पता न होगा? उसे क्या इस बात की आवश्यकता है कि पहिले उसकी प्रार्थना की जाय तब कहीं वह अपना कर्त्तव्य-पालन करे?

ऐसी बात नहीं है। ईश्वर को याद दिलाने की कोई जरूरत नहीं। वह तो घट-घटव्यापी है। बिना उसकी आज्ञा के एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। हमारी प्रार्थना तो सिर्फ इसलिए है कि हम अपने अन्तर का शोधन करें। प्रार्थना-द्वारा तो हम खुद अपने को यह याद दिलाते हैं कि उसके अवलम्बन के बिना हम सब कितने असमर्थ और असहाय हैं। हमारा कोई भी प्रयत्न ईश्वर-प्रार्थना के बिना विफल ही है। वह प्रयत्न तबतक किसी प्रकार पूर्ण नहीं कहा जा सकता, जबतक उसमें प्रार्थना की पुट न हो। मनुष्य के जिस प्रयत्न के पीछे ईश्वर का आशीर्वाद नहीं, वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, बेकार ही जाता है, यह एक मानी हुई बात है। प्रार्थना से हम विनम्र बनते हैं। वह हमें आत्म-शुद्धि की ओर ले जाती है अन्तर्निरीक्षण के लिए प्रेरणा देती है।

जो बात मैंने बिहार के भूकम्प के समय कही थी, उसे मैं आज भी कहूंगा। प्रत्येक भौतिक विपत्ति के पीछे कोई-न-कोई ईश्वरीय अभिप्राय रहता है। एक समय ऐसा आयगा जब पूर्ण विज्ञान की बदौलत हमें पहिले से ही भूकम्प आने की

---

१. क्वेटा में आये भयंकर भूकम्प की ओर संकेत किया गया है।

वात उसी तरह मालूम हो जायगी जिस तरह ग्रहण लगने की सूचना पहिले ही मिल जाती है। मनुष्य के बौद्धिक ज्ञान की यह एक और विजय होगी। पर ऐसी एक नहीं असंख्य विजयों से भी आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकती, और विना आत्मशुद्धि के सब व्यर्थ हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस प्रकार हम विहार की विपत्ति को भूल गये हैं उसी प्रकार क्वेटा की इस महाविपत्ति को भी भूल जायंगे। जो लोग आत्म-शुद्धि की आवश्यकता में विश्वास रखते हैं उनसे मैं कहूंगा कि वे मेरे साथ प्रार्थना में सम्मिलत हों ताकि ऐसी दारुण विपत्तियों में हम ईश्वर के अभिप्राय को समझ सकें और जव कभी ऐसी विपत्ति आये, हम विनम्र भाव से अपने सिरजनहार की शरण लेकर विना किसी तरह के भेदभाव के अपने विपद्ग्रस्त भाइयों की सेवा-सहायता कर सकें।

—ह० ज०। ह० से० १४।६।१९३५]

- ईश्वर को याद दिलाने की जरूरत नहीं। वह तो घट-घटव्यापी है।
- हमारा कोई भी प्रयत्न ईश्वर-प्रार्थना के विना विफल ही है।
- प्रार्थना से हम विनम्र वनते हैं।
- वह (प्रार्थना) हमें आत्मशुद्धि की ओर ले जाती है; अन्तर्निरीक्षण के लिए प्रेरणा देती है।
- भौतिक विपत्ति के पीछे कोई न कोई ईश्वरीय अभिप्राय रहता है।
- विना आत्मशुद्धि के सब व्यर्थ है।

१५७. प्रार्थना का रहस्य

मैंने गत सप्ताह क्वेटा के भूकम्प के लिए लोगों को प्रार्थना और प्रायश्चित्त करने की सलाह जिन थोड़ी-सी पंक्तियों-द्वारा दी थी, उनके सम्वन्ध में इधर कुछ निजी पत्र-व्यवहार हुआ है। एक पत्र-लेखक ने पूछा है कि विहार के भूकम्प के समय आपने कहा था कि इसे सवर्ण हिन्दुओं-द्वारा किये गये अस्पृश्यतारूपी पाप का दण्ड मानना चाहिए। तव यह क्वेटा का इससे भी अधिक भयानक भूक-म्प किस पाप का दण्ड होगा? लेखक को उक्त प्रश्न पूछने का अधिकार है। जिस प्रकार मैंने विहार के विषय में खूब विचारपूर्वक कहा था, उसी प्रकार मैंने क्वेटा-विषयक यह लेख भी विचारपूर्वक ही लिखा है। प्रार्थना का यह आमन्त्रण निश्चय ही आत्मा की व्याकुलता का द्योतक है। प्रार्थना पश्चात्ताप का एक चिह्न

है। प्रार्थना हमारे अधिक अच्छे, अधिक शुद्ध होने की आतुरता को सूचित करती है। प्रार्थनापरायण मनुष्य भौतिक विपत्तियों को दैवी दण्ड समझता है। यह दण्ड व्यक्तियों तथा राष्ट्रों—दोनों के ही लिए होता है। ऐसे सभी दण्ड लोगों को एक समान नहीं चौंकाते। कुछ दण्डों का प्रभाव तो केवल व्यक्तियों पर पड़ता है। दूसरे कुछ दण्डों का असर जन-समूहों अथवा राष्ट्रों पर मामूली-सा होता है; क्वेटा की जैसी विपत्तियां हमें स्तब्ध बना देती हैं। यदि नित्य ऐसे संकट आने लगें तो अत्यन्त परिचय के कारण मन में उनके प्रति अवज्ञा का भाव आ जाता है। भूकम्प यदि नित्य आया करता तो उसकी तरफ हमारा ध्यान भी न जाता। क्वेटा के इस भूकम्प से भी हमारे मन में उतनी व्यथा नहीं हुई जितनी कि बिहार के भूक-म्प से हुई थी।

लेकिन सारे संसार का कुछ ऐसा अनुभव है कि जब भी विपत्ति पड़ती है, तब समझदार मनुष्य घुटने टेक देता है। वह यह मानता है कि ईश्वर ने यह मेरे पापों का दण्ड दिया है, और इसलिए अब मुझे अपना आचरण और भी अच्छा रखना चाहिए। उसके पाप उसे अत्यन्त निर्बल बना देते हैं, और अपनी उस निर्ब-लता में वह प्रभु को अधीर होकर पुकारता है। इस प्रकार करोड़ों मनुष्यों ने अपने ऊपर पड़ी हुई विपत्तियों का अपनी आत्मशुद्धि के लिए उपयोग किया है। राष्ट्रों ने भी विपत्ति पड़ने पर ईश्वर से सहायता माँगी है—इसके भी उदाहरण मिलते हैं। उन्होंने भगवान के आगे विनम्र बनकर प्रार्थना, प्रायश्चित्त और आत्मशुद्धि के दिवस नियत किये हैं।

मैंने कोई नई या मौलिक बात नहीं सुझाई। वर्तमान समय में, जब कि अश्रद्धा को लोगों ने एक तरह का फ़ैशन बना लिया है, स्त्री-पुरुषों से पश्चात्ताप करने के लिए कहा जाय तो उसमें कुछ साहस की ज़रूरत तो पड़ती ही है। पर मैं साहस के लिए कोई यश लेने का दावा नहीं करता, क्योंकि मेरी कमजोरियों और विचि-त्रताओं को संसार में कौन नहीं जानता? जिस तरह मैं बिहार और बिहार-वासियों को जानता हूं उसी तरह अगर मैं क्वेटा को जानता होता तो क्वेटा के पाप का उल्लेख अवश्य करता, यद्यपि यह सम्भव है कि जिस प्रकार अस्पृश्यता का पाप अकेले बिहार का पाप नहीं था उसी प्रकार यह पाप केवल क्वेटा का ही नहीं हो सकता। किन्तु हम सब—शासक और प्रजा—यह मानते हैं कि हमें ऐसे अनेक व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय पापों का जवाब देना है। अतः यह उन सबको प्रार्थना और नम्रता के लिए आमन्त्रण है। सच्ची प्रार्थना से अकर्मण्यता कदापि उत्पन्न नहीं होती। उससे निरन्तर निष्काम कार्य के लिए शक्ति तथा उत्साह उत्पन्न होता है। स्वार्थ का विचार करके आलस्य में बैठ रहनेवाला मनुष्य आत्मशुद्धि

कभी नहीं कर सकता। निःस्वार्थ रीति से उद्यम करनेवाला व्यक्ति ही आत्मशुद्धि कर सकता है।

—ह० ज०। ह० से० २१।६।१९३५]

- प्रार्थना का...आमन्त्रण निश्चय ही आत्मा की व्याकुलता का द्योतक है।
- प्रार्थना पश्चात्ताप का एक चिह्न है।
- प्रार्थना हमारे अधिक अच्छे, अधिक शुद्ध होने की आतुरता को सूचित करती है।
- प्रार्थनापरायण मनुष्य भौतिक विपत्तियों को दैवी दण्ड समझता है।
- राष्ट्रों ने भी विपत्ति पड़ने पर ईश्वर से सहायता माँगी है।
- सच्ची प्रार्थना से अकर्मण्यता कदापि उत्पन्न नहीं होती।
- निःस्वार्थ रीति से उद्यम करनेवाला व्यक्ति ही आत्मशुद्धि कर सकता है।

१५८. ईश्वर की अनुभूति

एक सज्जन बंगाल से लिखते हैं:—

'एक नवयुवक की कठिनाई' शीर्षक से आपने जो लेख लिखा है उसे मैंने पढ़ा।

"मैं आपके लेख के मुख्य विषय से पूरी तरह सहमत हूं। लेकिन आपने उस लेख में ईश्वर-विषयक अपने भावों को भी प्रकट किया है। आपने कहा है कि आजकल यह फैशन-सा हो गया है कि नौजवान लोग ईश्वर को नहीं मानते और प्रत्यक्ष ईश्वर में जीवन्त विश्वास नहीं रखते।

"लेकिन, क्या मैं आपसे पूछूं कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय में आप क्या प्रमाण दे सकते हैं (जो निश्चित और असन्दिग्ध हो)? हिन्दू दार्शनिकों अर्थात् हमारे प्राचीन ऋषियों ने ईश्वर के स्वरूप को बताने का प्रयत्न किया। और मुझे लगता है कि ऐसा करते हुए वे अन्त में इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि ईश्वर अनिर्वचनीय और मायापरिच्छिन्न आदि है। संक्षेप में कहें तो उन्होंने ईश्वर को तमिस्र के अभेद्य आवरण में लपेट दिया और इस प्रकार ईश्वर-सम्बन्धी उलझे प्रश्न को और भी उलझा दिया। अवश्य ही मैं इस बात से इन्कार नहीं करता कि प्राचीनकाल के शंकराचार्य और बुद्ध या आधुनिक काल के श्री अरविन्द और

आप-जैसे सच्चे महात्मा ऐसे ईश्वर की कल्पना और उसके अस्तित्व का अनुभव कर सकते हैं, किन्तु वह साधारण मानव-बुद्धि की पहुँच के बहुत परे है।

"और हम साधारण लोग, जिनकी मन्द बुद्धि इतनी अगम्य गहराई तक कभी नहीं पहुँच सकती, जब अपने बीच उसके अस्तित्व का ही अनुभव नहीं कर सकते तो फिर ऐसे ईश्वर का क्या करें? यदि वह वास्तव में हम सब का निर्माता और पिता है तो हम अपने हृदय की प्रत्येक धड़कन के साथ उसकी उपस्थिति या उसके अस्तित्व का क्यों नहीं अनुभव करते? अगर वह अपनी उपस्थिति की अनुभूति नहीं करा सकता तो मैं उसे ईश्वर नहीं मानता। इसके अलावा मेरे सामने यह प्रश्न भी है कि यदि वह इस जगत् का जनक है तो क्या वह अपनी सन्तति के कष्टों को महसूस करता है? अगर वह महसूस करता है तो उसने बिहार और क्वेटा के प्रलयंकारी भूकम्पों-द्वारा अपनी सन्तति को इतना दुःख क्यों दिया और हब्शियों के प्राचीन राष्ट्र[1] को नीचा क्यों दिखाया? क्या हब्शी उसके बच्चे नहीं हैं? क्या वह सर्व-शक्तिमान नहीं है? तब भला वह इन सारी दुर्घटनाओं को क्यों नहीं रोक सका? हमारी पराधीनता-पीड़ित भारतमाता की स्वतन्त्रता के लिए आपने सत्य और अहिंसा की लड़ाई छेड़ी और उसमें ईश्वर की मदद माँगी। लेकिन, मैं समझता हूं वह आपको नहीं मिली और भौतिकता की प्रबल शक्ति ने, जो ईश्वर पर कभी अवलम्बित नहीं रहती, आपकी अच्छाई को दाब दिया। फलतः आपको नीचा देखना पड़ा और आप अवकाश ग्रहण करके पीछे हट जाने को बाध्य हुए। अगर ईश्वर होता तो वह आपकी सहायता जरूर करता, क्योंकि आपका काम अवश्य वांछनीय था। इसी तरह के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, पर इसकी कोई आवश्यकता मालूम नहीं पड़ती।

"इसलिए आज के नवयुवक ईश्वर में विश्वास नहीं करते तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। बात दर असल यह है कि वे ईश्वर की कोरी कल्पना नहीं करना चाहते। वे तो वास्तविक और प्रत्यक्ष ईश्वर को चाहते हैं। अपने लेख में आपने प्रत्यक्ष ईश्वर में जीवित विश्वास रखने की बात कही है। अगर आप ईश्वर के अस्तित्व-विषयक कुछ निश्चित प्रमाण प्रस्तुत करें तो मैं बहुत कृतज्ञ होऊंगा। मैं समझता हूं कि आप ऐसा करके युवकों का बहुत हित करेंगे। मुझे विश्वास है कि आप पहिले से ही रहस्यपूर्ण इस समस्या को और रहस्यपूर्ण नहीं बनायेंगे और इस विषय पर कुछ निश्चित प्रकाश डालेंगे।"

---

१. तानाशाह इटली द्वारा तत्कालीन एबीसीनिया (अब इथियोपिआ) पर किया गया आक्रमण।

मुझे बड़ा डर है कि मैं जो कुछ लिखने जा रहा हूं, उससे वह आवरण दूर नहीं होगा, जिसका उक्त पत्र में जिक्र किया गया है।

पत्र-लेखक का विचार है कि शायद मैंने प्रत्यक्ष ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव कर लिया है। परन्तु मैं ऐसा कोई दावा नहीं कर सकता। यह अवश्य है कि जिस प्रकार वैज्ञानिकों-द्वारा बताई गई अनेक बातों में मेरा विश्वास है उसी प्रकार ईश्वर में भी सच्चा विश्वास है। कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक जो बात कहते हैं उसके तो प्रमाण मौजूद होते हैं और उनके द्वारा बताई विधि से हर व्यक्ति उसकी परीक्षा कर सकता है। किन्तु ऋषि और पैगम्बर भी तो ठीक इसी प्रकार बातें करते हैं। वे कहते हैं कि जो कोई उनके बताये हुए मार्ग पर चले वह ईश्वर को पा सकता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि हम उस रास्ते पर चलना नहीं चाहते और जो बात सचमुच जरूरी है उसके बारे में प्रत्यक्षदर्शियों की बात भी नहीं मानते। भौतिक विज्ञान की सारी सफलताएं एक साथ रखी जायं, तब भी उस बात का मुकाबला नहीं कर सकतीं जिसके कारण ईश्वर में हमारी जीवित श्रद्धा होती है। जो लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करना चाहते वे अपने शरीर के सिवा और किसी वस्तु के अस्तित्व से विश्वास नहीं करते। मानवता की प्रगति के लिए ऐसा विश्वास अनावश्यक है। आत्मा या परमात्मा के अस्तित्व की प्रमाणरूप कितनी ही वजनी दलील क्यों न हो, ऐसे मनुष्यों के लिए वह व्यर्थ ही है। जिस मनुष्य ने अपने कानों में डाट लगा रखी हो उसे आप कितना ही बढ़िया संगीत क्यों न सुनायें, वह उसकी सराहना तो क्या करेगा, उसे सुन भी नहीं सकेगा। इसी तरह जो लोग विश्वास ही नहीं करना चाहते उन्हें आप प्रत्यक्ष ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करा सकते।

सौभाग्यवश सर्व-साधारण का विशाल बहुमत प्रत्यक्ष ईश्वर में जीवन्त विश्वास रखता है। वे न तो उसके बारे में कोई तर्क कर सकते हैं, न करते हैं। उनके लिए तो वह सचमुच ही है। क्या संसार के सारे शास्त्र नानी की कहानियां ही हैं? क्या हम ऋषियों, पैग़म्बरों की बात नहीं मानेंगे? चैतन्य महाप्रभु, रामकृष्ण परमहंस, तुकाराम, ज्ञानदेव, रामदास, नानक, कबीर और तुलसी ने जो बात कही, क्या उसका कुछ भी मूल्य नहीं? राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर , विवेकानन्द के लिए आप क्या कहेंगे? ये सब तो आधुनिक व्यक्ति हैं और उसी प्रकार सुशिक्षित थे जिस प्रकार आज हममें से कोई हो सकता है। मैं जीवित व्यक्तियों का, भले ही वे निर्दोष हों, साक्ष्य नहीं दे रहा हूं। ईश्वर में यह विश्वास श्रद्धा पर ही अवलम्बित है, जो तर्क से प्रबल है। निस्सन्देह, जिसे हम अनुभूति कहते हैं, उसकी सतह में भी विश्वास ही होता है, जिसके बिना वह रह

नहीं सकता। स्थिति ही ऐसी है कि यही होना चाहिए। अपने अस्तित्व की मर्यादाओं का अतिक्रमण कौन कर सकता है? मैं तो यह मानता हूं कि हमारा जो जीवन है, उसमें ईश्वर की पूर्ण अनुभूति न सम्भव है, न आवश्यक। मनुष्यों को आध्यात्मिकता की पूरी ऊंचाई पर पहुंचने के लिए जिस बात की आवश्यकता है, वह ईश्वर में जीवित और अटूट विश्वास का होना है। ईश्वर हमारे इस भूमण्डल से परे नहीं है। इसलिए बाहर का कोई प्रमाण हो भी तो उसका कोई विशेष उपयोग नहीं है। अपनी इन्द्रियों (भावनाओं) द्वारा हम उसे कभी नहीं पा सकते, क्योंकि वह उनसे परे है। हम चाहें तो उसे अवश्य अनुभव कर सकते हैं, पर इसके लिए हमें इन्द्रियों से ऊपर उठना होगा। हमारे अन्दर दैवी संगीत सदा गुंजरित होता है। इन्द्रियों से हम जो कुछ समझ या सुन सकते हैं वह उससे भिन्न और निश्चित रूप से ऊंचे दर्जे का है। लेकिन इन्द्रियों के कोलाहल, हलचल में वह नाजुक संगीत विलीन हो जाता है।

पत्र-लेखक यह जानना चाहते हैं कि ईश्वर यदि दया और न्याय का अधिष्ठाता है तो वह उन दुःखों और शोकों को क्यों होने देता है, जिन्हें हम अपने चारों ओर घटित देखते हैं। मैं इसका कोई सन्तोषजनक स्पष्टीकरण नहीं दे सकता। मुझे वह (पत्रलेखक) पराजित या अपमानित हुआ बतलाते हैं। परन्तु मुझमें पराजय, अपमान या निराशा-जैसी कोई भावना नहीं है। यह तो आत्मशुद्धि और अपनी तैयारी की दिशा में प्रयत्न मात्र है—उससे कम बेश कुछ नहीं। यह बात मैं सिर्फ यह बताने के लिए कह रहा हूँ कि हमें जो चीज जैसी मालूम पड़ती है अक्सर वैसी ही नहीं होती। हम जिन्हें भूल से शोक, अन्याय और ऐसी ही बातें मान रहे हैं, सम्भव है सचाई में जाने पर वे वैसी न निकलें। हम विश्व के सारे रहस्यों को सुलझा सकें तो ईश्वर के समकक्ष ही न हो जायं? यह ठीक है कि समुद्र की जो प्रतिष्ठा है, उसका श्रेय उसके प्रत्येक बिन्दु से है। परन्तु वह बिन्दु समुद्र नहीं है। जीवन की इस अल्पता का विचार करके ही हम अपनी प्रातःकालीन प्रार्थना के अन्त में नित्य यह श्लोक दोहराते हैं—

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणं विष्णोस्सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

—ह० ज०। ह० से०, १३।६।१९३६]

- सर्व-साधारण का विशाल बहुमत प्रत्यक्ष ईश्वर में जीवन्त विश्वास रखता है।
- ईश्वर में...विश्वास श्रद्धा पर ही अवलम्बित है, जो तर्क से प्रबल है।

- अनुभूति...की सतह में भी विश्वास ही होता है।
- अपनी इन्द्रियों (भावनाओं) द्वारा हम उसे (ईश्वर को) कभी नहीं पा सकते।
- हमारे अन्दर दैवी संगीत सदा गुंजरित होता है।

१५९. प्रभु-स्मरण

केवल ईश्वर का ध्यान धर। इसका यह अर्थ नहीं कि तू मुझे छोड़ दे या मैं तुझे छोड़ दूं। लेकिन इसका यह अर्थ तो है ही कि मेरे बारे में तेरा जो कुछ विशेष खयाल है उसे छोड़ कर तू सिर्फ खुदा का आसरा ले। ऐसा करेगी तो तू जरूर सुखी होगी और शान्त होगी।

खुदा को याद करके रोने में तो अर्थ है। मनुष्य को याद करके रोने से आँख बिगड़ती है और कुछ नहीं मिलता।

—सेगांव, वर्धा, ११।१०।१९३६। बापू के पत्र : बीबी अमतुस्सलाम के नाम, पृ० १०५, न० जी० प्र० मं०]

१६०. ईश्वर का वास

...भगवान कहां बसते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में श्री रामचन्द्र जी ने कहा है कि भगवान सन्त के हृदय से वास करते हैं, असन्त के हृदय में नहीं। यह वचन भी एकान्तिक है।...इसके विपरीत यह कहना कि भगवान दुर्जन के हृदय में भी बसते हैं, अधिक शास्त्रीय भले ही हो, पर व्यवहार-दृष्टि से हानिकारक है। हत्यारे के खंजर और सर्जन के नश्तर, दोनों में शास्त्रीय दृष्टि से ईश्वर है। पर प्राकृत और व्यावहारिक-दृष्टि से एक में देव है, दूसरे में असुर; एक का प्रेरक राम है दूसरे का रावण; एक में खुदा है दूसरे में शैतान; एक में अहुरमज्द है दूसरे में अहरिमान।...

—ह० से०, २०।२।१९३७]

१६१. धर्म-वृत्ति

..एक धार्मिक और आध्यात्मिक वृत्तिवाले मनुष्य के सारे विचार, शब्द और क्रियाएं धर्म अथवा यों कहें कि धर्म-वृत्ति से प्रेरित होती हैं।

...जीवन में...हमें अपने कार्यों के सामाजिक, राजनीतिक, व्यापारिक, धार्मिक आदि भेद करने ही पड़ेंगे। ये भेद असंख्य हो सकते हैं। मगर ईश्वर को ढूंढ़नेवाला अपनी धार्मिक भावना और आध्यात्मिक वृत्ति से ही हर जगह काम लेगा।...

—ह० ज०। ह० से०, २६।६।१९३७]

१६२. ईश्वर में विश्वास

[इस्लामिया कालेज के एक प्रोफ़ेसर ने गांधी जी से भेंट करके उनकी ईश्वर-विषयक आस्था के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न किये। उनकी गांधी जी के साथ हुई वार्ता के आवश्यक अंश यहां संकलित किये जा रहे हैं।

प्रोफ़ेसर का पहिला प्रश्न था कि गांधी जी की ईश्वर-विषयक श्रद्धा का आधार क्या है, उनका इस विषय में क्या अनुभव है?—सम्पा०]

यह ऐसा विषय नहीं है जिस पर बहस की जा सके। पर मैं आपसे इतना कह सकता हूं कि जितना मुझे इस बात का विश्वास है कि आप और हम इस कमरे में बैठे हुए हैं इससे कहीं ज्यादा मुझे ईश्वर में विश्वास है। मैं यह भी विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि मैं हवा और पानी के बिना भले ही जीवित रह जाऊं, पर ईश्वर के बिना जीवित नहीं रह सकता। आप मेरी आंखें फोड़ दें, पर इससे मैं मर नहीं सकता। आप मेरी नाट काट लें, पर इससे भी मैं मरूंगा नहीं। लेकिन आप ईश्वर पर से मेरा विश्वास उठा दें और मैं उसी क्षण मर जाऊँगा। आप इसे भले ही अन्ध-विश्वास कहें, पर मैं स्वीकार करता हूं कि यह एक ऐसा वहम है, जिसे मैं बड़े प्रेम से छाती से चिपटाये हुए हूं; जिस तरह बचपन में मुझे जब भय मालूम होता था, तब मैं राम-नाम की शरण ले लिया करता था। मुझे यह एक बूढ़ी दाई ने सिखाया था।

प्रोफ़ेसर—पर क्या आपके ख़याल में ऐसा वहम आपके लिए ज़रूरी है?

गांधी जी—हां, मुझे भी जीवित रखने के लिए यह ज़रूरी है।

प्रोफेसर—यह ठीक है। क्या मैं अब आपसे यह पूछूं कि आपके पास ऐसी कोई अलौकिक दृष्टि है, जैसी पैगम्बरों की होती है?

गांधी जी—मैं नहीं जानता कि ऐसी दृष्टि से आपका क्या आशय है और आप पैग़म्बर किसे कहेंगे। लेकिन मैं आपको अपने जीवन का एक अनुभव सुना दूं।

जब मैंने जेल में अपने इक्कीस दिन के उपवास की घोषणा की तब उसके बारे में मैंने कोई दलीलें पेश नहीं की थीं। मैं जब सोने गया तब मुझे विचार भी नहीं

था कि मैं कल सवेरे इक्कीस दिन के उपवास की घोषणा करने जा रहा हूं। पर आधी रात को एक आवाज़ ने मुझे जगा दिया और कहा, उपवास करो। 'कितने दिन का' मैंने पूछा। उत्तर मिला—'इक्कीस दिन का।'

मैं आपसे कहता हूं कि उपवास के लिए मेरा मन तैयार नहीं था। मेरा उधर कोई झुकाव भी नहीं था, पर यह चीज़ मेरे सामने बहुत स्पष्ट रूप में आई। आप से एक बात और कहूंगा। मैंने अपने जीवन में जो भी आश्चर्यजनक काम किये हैं, उनको सहज ज्ञान से मैं कहूंगा कि ईश्वरादेश से प्रेरित होकर किया है।...
—[ह० ज०। ह० से०, १४।५।१९३८]

१६३. मौन

सम्पूर्ण ज्ञान मौन से ज्यादा प्रकट होता है, क्योंकि भाषा कभी पूर्ण विचार को प्रकट नहीं कर सकती। अज्ञान विचार की निरंकुशता का सूचक है।... जहां तक मुझे कुछ भी समझाने की आवश्यकता रहती है वहां तक मेरे में अपूर्णता भरी है अथवा विकार भी है।
— सेगांव, ११।६।१९३८। 'बापू की छाया में' बलवन्त सिंह, संस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

१६४. श्रद्धा और बुद्धि

जिस चीज का वस्तुतः आत्मा से सम्बन्ध है उसको बुद्धि-द्वारा सिखाना असम्भव है। यह तो ठीक वैसा ही हुआ जैसे कि बुद्धि-द्वारा ईश्वर में श्रद्धा रखना सिखाया जाय। ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि यह वस्तुतः हृदय का विषय है। श्रद्धा केवल हृदय से आ सकती है, बुद्धि से नहीं। बुद्धि तो श्रद्धा के विषय में बाधक ही हो सकती है।
—ह० ज०। ह० से०, १८।६।१९३८]

१६५. ईश्वरीय जीवन

...हमारे धर्मग्रन्थों में लिखा है कि सत्य के सिवा कुछ नहीं है। इसी का अर्थ ईश्वरीय जीवन है।
—ह० ज०। ह० से०, २९।९।१९३८]

१६६. प्रार्थना-रहस्य

[गांधी जी की एवटाबाद-यात्रा के दौरान एक प्रसिद्ध बौद्ध डा० फाब्री उनसे मिलने आये। वे हंगरी के मूल निवासी और प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् थे। गांधी जी पर वे पूर्ण आस्था और श्रद्धा रखते थे। डा० फाब्री ने गांधी जी से पहिला प्रश्न यह किया कि वे किस प्रकार प्रार्थना करते हैं। क्या प्रार्थना-द्वारा ईश्वरीय अभिप्राय वदला जा सकता है, जाना जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर और तत्सम्बन्धी अन्य वार्तालाप यहां संकलित किया जा रहा है।—सम्पा०]

गांधी जी—प्रार्थना के समय मैं क्या किया करता हूँ, इसे पूरी तरह से समझाना कठिन है। पर आपको इस शंका का जवाब देना कठिन नहीं है कि ईश्वरीय संकेत वदला जा सकता है या नहीं। चराचर में ईश्वर का वास है। प्रार्थना का अर्थ है अपने अन्दर रहनेवाले ईश्वरीय तत्व को जागरित करने का मेरा प्रयत्न। मुझमें वौद्धिक समझ तो है, पर जीवित स्पर्श नहीं। इसलिए जब मैं भारत के लिए स्वराज्य अथवा स्वतन्त्रता की प्रार्थना करता हूँ अथवा ऐसे स्वराज्य के लिए आवश्यक सामर्थ्य माँगता हूँ या उसकी प्राप्ति के लिए सबसे बड़ा योग देने की अभिलाषा रखता हूँ, तब उसका अर्थ यह हुआ कि इस प्रकार की इच्छा के रूप में वैसा सामर्थ्य मेरे अन्दर संचित होता है।

डा० फाब्री—तब तो उसे आप प्रार्थना नहीं कह सकते। प्रार्थना का अर्थ तो भीख माँगना या अधिकार माँगना है।

गांधी जी—भले ही हो, पर मैं तो खुद अपने से ही, उच्चात्मा से अथवा जिसके साथ अभी मेरा सम्पूर्ण तादात्म्य नहीं हुआ उस सच्ची आत्मा से ही भीख माँगता हूं। इसीलिए आप यदि इस वस्तु का सचराचर-व्यापी ईश्वरीय तत्व में अपने को लीन कर देने के अविरत प्रयास के रूप में वर्णन करें, तो इसमें ऐसी गलती ही क्या है?

ध्यान या पुकार

डा० फ़ाब्री—और ऐसा करने के लिए आप पुराना ढंग ग्रहण करते हैं?

गांधी जी—मैंने तो आपके सामने एक बुद्धिग्राह्य कल्पना रख दी, किन्तु यदि आप यह कहें कि मैं किसी बाह्य शक्ति की प्रार्थना करता हूँ, तो इनमें मुझे कोई आपत्ति नहीं। मैं अनन्त का ही एक अंश हूँ, और फिर भी इतना अल्प अंश हूँ कि ऐसा भास होता है कि उससे पृथक् हूँ। आपको बौद्धिक अर्थ समझाते हुए भी ईश्वरीय तत्व के साथ तादात्म्य के बिना मुझे अपनी अल्पता का इतना अधिक

अनुभव होता है कि मानो मैं कुछ भी नहीं हूँ। जिस क्षण मैं यह कहता हूँ कि मैं यह करता हूँ या वह करता हूँ, उसी क्षण अपनी क्षुद्रता का अनुभव करने लगता हूँ और मुझे ऐसा लगने लगता है कि कोई बहुत ऊंची शक्ति सहारा दे रही है।

डा० फ़ाब्री—तालसताय ने भी यही कहा है। प्रार्थना का अर्थ असल में देखा जाय तो पूर्ण ध्यान और उच्च आत्मा में विगलित हो जाना है, यद्यपि प्रसंगोपात्त मनुष्य इस प्रकार पुकार करने की भूल कर बैठता है, जिस तरह बालक पिता को पुकारता है।

गांधी जी—माफ़ कीजिए, मैं तो उसे भूल नहीं कहूँगा। उचित तो यह है कि मैं कहूँ, हाँ, मैं प्रभु-प्रार्थना करता हूँ। जो कहीं ऊंचे आकाश में या बहुत दूर रहता है ऐसा कोई प्रभु है, उसके लिए मेरी अविरत आतुरता या रटन भी बढ़ती है, और विचार-स्थिति में मैं उसकी उपस्थिति का अनुभव करता हूँ। और यह तो आप जानते ही हैं कि विचार का वेग प्रकाश से भी बाज़ी मार ले जाता है। इसलिए आप बुद्धि की भाषा में यह कह सकते हैं कि मेरे और उसके बीच का अन्तर इतना अधिक अमाप है कि वह निकल जाता है; वह अत्यन्त दूर और फिर भी बिल्कुल निकट है।

डा० फ़ाब्री—बात तो मान्यता की है, पर मेरे जैसे कुछ कठिन शोध के अभ्यस्त होते हैं। जिन बुद्ध ने हमें उपदेश दिया है उनसे उच्चतर या उनसे बहुत बड़ा कोई जगद्गुरु मैं नहीं मानता। कारण कि बुद्ध ने संसार के दूसरे महान् जगद्गुरुओं की तरह ही संसार से कहा था कि, मैं जो कहता हूँ उसे अन्धश्रद्धा से न मान लेना, किसी सिद्धान्त या किसी ग्रन्थ को अटल न समझना। मैं किसी ग्रन्थ को अटल नहीं मानता, कारण कि सभी ग्रन्थ मनुष्यकृत हैं, फिर भले ही वे चाहे जितनी भव्य प्रेरणा से लिखे गये हों। इसीलिए ईश्वर-सम्बन्धी कल्पना को, महान् शुभ्र सिंहासन पर किसी महाराजा की भाँति बैठे हुए और आपकी प्रार्थना को सुनते हुए ईश्वर को मैं नहीं मान सकता। मुझे प्रसन्नता होती है कि आपकी प्रार्थना इससे भिन्न भूमिका पर है।

गांधी जी—आपको मैं याद दिला दूँ कि यह कहना भी अंशतः ही सत्य है कि वह भिन्न प्रकार की है। मैं आपसे कह चुका हूँ कि आपको मैंने जो बौद्धिक भूमिका समझाई है, वह मुझमें स्थिर नहीं होती। स्थिर तो एक अदृश्य शक्ति में उस श्रद्धा की तीव्रता ही होती है, जिसके द्वारा मैं खो जाता हूँ और इसीलिए यह कहने की अपेक्षा कि मैंने कुछ किया, यह कहना कि ईश्वर ने किया बहुत अधिक सत्य है। मेरे जीवन में ऐसी बहुत-सी चीजें हुई हैं, जिनकी मुझे तीव्र आतुरता थी, किन्तु जिन्हें मैं खुद अकेला कभी प्राप्त नहीं कर सकता था। और मैंने अपने साथियों

को हमेशा यह बात सुनाई है कि यह सिद्धि मेरी प्रार्थना से फलित हुई। साथियों से मैंने यह कभी नहीं कहा कि मेरे अन्तर्व्यापी ईश्वरीय तत्त्व में मेरे व्यक्तित्व को लय कर देने के मेरे बौद्धिक प्रयास के जवाब में वैसा हुआ। सीधी-से-सीधी सच्ची बात मेरे इतने ही कथन में आ जाती है कि प्रभु ने मेरा बेड़ा पार लगाया।

मात्र कर्म शक्तिहीन

डा० फ़ाब्री—पर यह तो आपने अपने कर्म-बल से प्राप्त किया। परमेश्वर न्यायरूप है, दयारूप नहीं। आप भले हैं, इसलिए आपके साथ सब भला ही होता है।

गांधी जी—नहीं, नहीं, मैं ऐसा भला नहीं। कर्म के ऐसे तत्वार्थ में फँस जाने से तो मेरा कई बार खात्मा हो जाय। मेरा कर्म मुझे नहीं बचा सकता। कर्म के अटल सिद्धान्त को मैं मानता हूँ। मैं बहुत-सी वस्तुओं के लिए प्रयत्न करता हूँ। अधिकाधिक शुभ कर्मों का संचय करने के कठिन प्रयास में मेरे जीवन का प्रत्येक क्षण बीतता है। अतः यह कहना ग़लत है कि मेरे संचित कर्म अच्छे हैं, इसलिए आज मेरा सब अच्छा ही होता है। संचित तो देखते-देखते खत्म हो जायँगे। अतः अपनी प्रार्थना के बल पर भावी शुभ कर्मों की रचना करनी है। पर मैं आपसे कहता हूँ कि मात्र कर्म सामर्थ्य-रहित है। मैं कहता हूँ कि मैं यह दिया-सलाई जलाता हूँ। और फिर भी बाहर के सहयोग के बगैर मैं उसे जला नहीं सकता।

मैं दियासलाई को घिसता हूँ, घिसने से पहले हाथ अकड़ जाता है, अथवा मेरे पास एक ही तीली है, और हवा उसे बुझा देती है, यह अकस्मात् है, ईश्वर है या उच्च शक्ति ? मैं इस विषय में उसी भाषा का प्रयोग करना अधिक पसन्द करता हूँ, जिसका कि मेरे बाप-दादे प्रयोग करते आये हैं. या बालक करते हैं। मैं बालक से बढ़कर नहीं हूं। हम लोग विद्वत्तापूर्ण बातें छाँटते हैं, बड़े-बड़े ग्रन्थों की चर्चा करते हैं. पर जब वक्त आता है, और कोई विपत्ति सामने आ जाती है, तब हम बच्चों की तरह मानने लग जाते हैं, और हमारी प्रज्ञा हमें कोई सान्त्वना नहीं दे सकती।

बुद्ध प्रार्थना नहीं करते थे

डा० फ़ाब्री—जिन्हें ईश्वर-विषयक श्रद्धा भारी सान्त्वना देती है और चरित्र-गठन में जो बहुत सहायक सिद्ध होते हैं ऐसे बहुत ऊंची कोटि के कुछ सत्पुरुषों को

मैंने देखा है। पर ऐसे भी कुछ महान सत्पुरुष होते हैं, जो उस श्रद्धा के विना भी काम चला सकते हैं। वौद्ध विचारणा से यह मैंने सीखा है।

गांधी जी—किन्तु वौद्ध विचारणा क्या एक अखंड प्रार्थना नहीं है?

डा० फ़ाव्री—बुद्ध ने तो सवको अपने आप ही मोक्ष का मार्ग खोज निकालने के लिए कहा है। वुद्ध कभी प्रार्थना नहीं करते थे; वह तो ध्यान धारण करते थे।

गांधी जी—आप जिस शव्द का प्रयोग करना हो करें, अर्थ एक ही है। वुद्ध की प्रतिमाओं को ही देखिए।

डा० फ़ाव्री—इन प्रतिमाओं का वनना तो वुद्ध के निर्वाण से ४४० वर्ष वाद शुरू हुआ था।

गांधी जी—ठीक है। आपने शोध-द्वारा वुद्ध का जो भी इतिहास निश्चित किया हो उसे ले लें, तव भी मैं यह सिद्ध कर दूँगा कि वुद्ध प्रार्थना करते थे। निरी वौद्धिक कल्पना मुझे सन्तोष नहीं दे सकती। आपके विचार का वर्णन करने के लिए मैंने तो आपको एक सम्पूर्ण व्याख्या दे दी। वर्णन करने का प्रयास ही मर्यादा रूप है। वह पृथक्करण को थका देता है और मात्र नास्तिकता ही शेष रहती है।
—ह० ज०। ह० से० १९।८।१९३९]

- चराचर में ईश्वर का वास है।
- प्रार्थना का अर्थ है—अपने अन्दर रहनेवाले ईश्वरीय तत्व को जाग्रत करने का मेरा प्रयास।

१६७. ब्रह्मचर्य : जीवन की नींव

एक साथी ने मेरे एक पुराने लेख में से यह वताया था कि मुझे अपने ब्रह्मचर्य के विषय में कुछ लिखना चाहिए। वह वाक्य तो मेरे सामने नहीं है, पर उनसे मैंने यह कहा था कि मैं कभी इस विषय पर कुछ लिखने का प्रयत्न करूँगा।

ब्रह्मचर्य की जो व्याख्या मैंने की है, वह अव भी क़ायम है। अर्थात् जो मनुष्य मन से भी विकारी होता है, समझना चाहिए कि, उसका ब्रह्मचर्य स्खलित हो गया है। जो विचार में निर्विकार नहीं, वह पूर्ण ब्रह्मचारी कभी नहीं माना जा सकता। चूँकि मैं अपनी इस व्याख्या तक नहीं पहुँच सका, इसलिए अपने को मैं आदर्श ब्रह्मचारी नहीं मानता। पर अपने आदर्श से दूर होते हुए भी, मैं यह मानता हूँ कि जव मैंने इस व्रत का आरम्भ किया तव मैं जहाँ पर था, उससे आगे वढ़ गया हूँ। विकार की निर्विकारता तवतक कभी नहीं आती जवतक 'पर' का दर्शन नहीं होता। जव विचार के ऊपर पूरा नियन्त्रण हो जाता है, तव पुरुष स्त्री को

और स्त्री पुरुष को अपने में लय कर लेती है। इस प्रकार के ब्रह्मचारी के अस्तित्व में मेरा विश्वास है, पर ऐसा कोई ब्रह्मचारी मेरे देखने में नहीं आया। ऐसा ब्रह्मचारी बनने का मेरा महान प्रयास अवश्य जारी है। जबतक यह ब्रह्मचर्य प्राप्त नहीं हो जाता, मनुष्य उतनी अहिंसा तक, जितनी कि उसके लिए शक्य है, पहुँच नहीं सकता।

ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक माने जाने वाले अवरोध को मैं ने हमेशा के लिए आवश्यक नहीं माना है। जिसे किसी बाह्य रक्षा की जरूरत है वह पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं। इसके विपरीत, जो बाड़ को तोड़ने के ढोंग से प्रलोभनों की खोज में रहता है, वह ब्रह्मचारी नहीं, किन्तु मिथ्याचारी है।

ऐसे निर्भय ब्रह्मचर्य का पालन कैसे हो? मेरे पास इसका कोई अचूक उपाय नहीं, क्योंकि मैं पूर्ण दशा को नहीं पहुँचा हूँ। पर मैंने अपने लिए जिस वस्तु को आवश्यक माना है वह यह है।

विचारों को खाली न रहने देने के लिए निरन्तर उन्हें शुभ चिन्तन में लगाये रहना चाहिए। रामनाम का इकतारा तो चौबीसों घण्टे, सोते हुए भी, श्वास की तरह स्वाभाविक रीति से, चलता रहना चाहिए। वाचन हो तो सदा शुभ, और विचार किया जाय, तो अपने कार्य का ही। कार्य पारमार्थिक होना चाहिए। विवाहितों को एक दूसरे के साथ एकान्त-सेवन नहीं करना चाहिए; एक कोठरी में एक चारपाई पर नहीं सोना चाहिए। यदि एक दूसरे को देखने से विकार पैदा होता हो, तो अलग-अलग रहना चाहिए। यदि साथ-साथ बातें करने में विकार पैदा होता हो, तो बातें नहीं करनी चाहिए। स्त्री मात्र को देखकर जिसके मन में विकार पैदा होता हो, वह ब्रह्मचर्य-पालन का विचार छोड़कर अपनी स्त्री के साथ मर्यादापूर्वक व्यवहार रखें; यदि विवाहित न हो, तो उसे विवाह का विचार करना चाहिए। सामर्थ्य के बाहर जाने का आग्रह किसी को नहीं रखना चाहिए। सामर्थ्य से बाहर प्रयत्न करके गिरनेवालों के अनेक उदाहरण मेरी नज़र के सामने आते रहते हैं।

जो मनुष्य कान से बीभत्स या अश्लील बातें सुनने में रस लेते हैं, आँख से स्त्री की तरफ़ देखने में रस लेते हैं; जो अश्लील चीज़ें पढ़ते हैं; जो अश्लील बातें करने में रस लेते हैं, वे सब ब्रह्मचर्य का भंग करते हैं। अनेक विद्यार्थी और शिक्षक ब्रह्मचर्य-पालन में हताश हो जाते हैं, इसका कारण यह है कि वे श्रवण, दर्शन, वाचन, भाषण आदि की मर्यादा नहीं जानते, और मुझसे पूछते हैं, हम किस तरह ब्रह्मचर्य का पालन करें? वे तनिक भी प्रयत्न नहीं करते। जो पुरुष स्त्री के चाहे जिस अंग का सविकार स्पर्श करता है उसने ब्रह्मचर्य का भंग किया है, ऐसा समझना

चाहिए। जो ऊपरी मर्यादा का ठीक-ठीक पालन करता है उसके लिए ब्रह्मचर्य सुलभ हो जाता है।

आलसी मनुष्य कभी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता। वीर्यसंग्रह करनेवाले में एक अमोघ शक्ति पैदा होती है। उसे अपने शरीर और मन को निरन्तर कार्यरत रखना ही चाहिए। अतः हर एक साधक को ऐसा सेवा-कार्य खोज लेना चाहिए कि जिससे उसे विषय-सेवन करने के लिए रंचमात्र भी समय न मिले।

साधक को अपने आहार पर पूरा नियन्त्रण रखना चाहिए। वह जो कुछ खाय वह केवल औषधिरूप से शरीर-रक्षा के लिए, स्वाद के लिए कदापि नहीं। इसलिए मादक पदार्थ, मसाले वगैरह उसे खाने ही नहीं चाहिए। ब्रह्मचारी मिताहारी नहीं, किन्तु अल्पाहारी होना चाहिए। सब अपनी मर्यादा बाँध लें।

उपवासादि के लिए ब्रह्मचर्य-पालन में अवश्य स्थान है। पर आवश्यकता से अधिक महत्व देकर जो उपवास करता है और उससे अपने को कृतकृत्य हुआ मानता है, वह भारी ग़लती करता है। निराहारी के विषय उस बीच में क्षीण भले ही हो जायँ, पर उसका रस नष्ट नहीं होता। शरीर को नीरोगी रखने में उपवास बहुत सहायक है। अल्पाहारी भी भूल कर सकता है इसलिए प्रसंग आने पर उपवास करने में लाभ ही है।

क्षणिक रस के लिए मैं क्यों तेजहीन होऊं? जिस वीर्य में प्रजोत्पत्ति की शक्ति भरी हुई है, उसका पतन क्यों होने दूँ, और इस तरह ईश्वर-प्रदत्त पुरस्कार का दुरुपयोग करके मैं ईश्वर का चोर क्यों बनूं? जिस वीर्य का संग्रह कर मैं वीर्यवान् बन सकता हूँ, उसका पतन करके वीर्यहीन क्यों बनुं? इस विचार का मनन यदि साधक नित्य करे, और रोज़ ईश्वर-कृपा की याचना करे, तो सम्भवतः वह इस जन्म में ही वीर्य पर नियन्त्रण प्राप्त कर ब्रह्मचारी बन सकता है। इसी आशा को लेकर मैं जी रहा हूँ।

—ह० ब०। ह० से० २८।१०।१९३९]

- जिसे किसी बाह्य रक्षा की जरूरत है, वह पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं।
- सामर्थ्य से बाहर जाने का आग्रह किसी को नहीं रखना चाहिए।
- आलसी मनुष्य कभी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता।
- शरीर को निरोगी रखने में उपवास बहुत सहायक है।

१६८. प्रार्थना

भोजन न मिले तो मनुष्य की उतनी हानि नहीं होती बल्कि भोजन-त्याग से कुछ लाभ ही होता है क्योंकि हम भोजन में अतिशयता कर देते हैं। लेकिन प्रार्थना

तो आत्मा की खूराक है। उसके बिना आत्मा का हनन होता है। प्रार्थना जितनी की जाय उतना ही अच्छा है। प्रार्थना में अतिशयता जैसी कोई चीज़ नहीं है। मैंने तो ऐसा एक भी आदमी नहीं देखा, जिसे प्रार्थना की अतिशयता से हानि हुई हो। प्रार्थना के लिए हम जितना समय दे सकें उतना ही अच्छा है— यहाँ तक कि अन्त में प्रार्थनामय बन जायँ।...

—दिल्ली, २।११।१९३९। प्रातः ८ बजे। ह० ज०। ह० से०, ४।११।१९३९]

१६९. धर्म का सार्वभौम रूप

धर्म हमारे काम में समाया हुआ होना चाहिए। यहाँ धर्म का अर्थ सम्प्रदाय-वाद नहीं है। इसका मतलब विश्व के व्यवस्थित नैतिक शासन में विश्वास है। यह अदृश्य है, लेकिन कम वास्तविक नहीं है। यह धर्म हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत वगैरह से परे है। यह उसका स्थान नहीं लेता। यह उन्हें एकरस बनाता है और वास्तविकता प्रदान करता है।

—ह० ज०, १०।२।१९४०]

१७०. ईश्वरीय दान

हमें ईश्वर ने जो रोशनी दी है, हम उसी के अनुसार चल सकते हैं। सम्पूर्ण सत्य केवल ईश्वर को मालूम है।

—ह० ज०। ह० से० ५।१०।१९४०]

१७१. धर्म-सार

'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:'—इस मन्त्र के अर्थ को हर एक पाठक समझ ले और कण्ठाग्र कर ले। कोई हर्ज नहीं, अगर यह वेदवाक्य गले से नीचे भी न उतरे। गले में अटका हुआ यह जुए की तरह दम घोटेगा। नीचे उतर कर हृदय तक पहुँच गया तो रटने वाला तर जायगा। जीने का लोभ छोड़कर जीवन का उपभोग करना हमारा सहज धर्म बनना चाहिए।

—सेवाग्राम, २३।२।१९४२। ह० व०। ह० से० १।३।१९४२]

१७२. ईश-कृपा

[श्रीमती जानकी बहिन बजाज को लिखे पत्र से]

ईश्वर की तो हमेशा कृपा ही होती है। हम उस कृपा को न पहिचान सकें, यह हमारी मूर्खता है। परन्तु उसकी इच्छा के तो हम अपनी इच्छा या अनिच्छा से अधीन हैं ही।...

—पंचगनी, ३१।७।१९४४। 'बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम', पृ० २०५, अ० भा० स० से० सं०]

१७३. विकारों का उपचार

विकारी विचार से बचने का एक अमोघ उपाय रामनाम है। नाम कण्ठ से ही नहीं, किन्तु हृदय से निकलना चाहिए।

—सेवाग्राम, २८।१२।१९४४]

१७४. राम ही वैद्य

व्याधि अनेक हैं; वैद्य अनेक हैं; उपचार भी अनेक हैं। अगर सारी व्याधि को एक ही मानें और उसका मिटानेवाला वैद्य एक राम ही है ऐसा समझें, तो हम बहुत-सी झंझटों से बच जायँ।

—सेवाग्राम, २९।१२।१९४४]

१७५. अविनाशी राम

आश्चर्य है कि वैद्य मरते हैं, डाक्टर मरते हैं, फिर भी उनके पीछे हम भटकते हैं। लेकिन जो राम मरता नहीं है, हमेशा जिन्दा रहता है और अचूक वैद्य है, उसे हम भूल जाते हैं।

—सेवाग्राम, ३०।१२।१९४४]

१७६. ईश्वर

ईश्वर ऊपर नहीं , नीचे नहीं, हृदयस्थ है। वास्तव में तो वह हर जगह है। शास्त्र में जो लिखा है कि कुछ चीजें खाली हो सकती हैं तो वह हवा से खाली होने

की बात हो सकती है। हवा से खाली करो तो भी कुछ तो रह ही जाता है, भौतिक शास्त्रवालों ने तो यह देख लिया है कि हवा से भी सूक्ष्म कोई चीज़ है। आध्यात्मिक शास्त्रवालों ने देख लिया है कि ईश्वर सब जगह है। हमारी सब धार्मिक क्रियाओं का वह ईश्वर साक्षी है।

—२२।२।१९४५। 'बापू की छाया में', बलवन्त सिंह, पृ० २९८, संस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

१७७. श्रद्धालु कभी अकेला नहीं है

ईश्वर में श्रद्धा रखने वाला आदमी स्वयं को कभी अकेला अनुभव न करेगा क्योंकि ईश्वर हमेशा उसका साथी है।

—पूना, २३।२।१९४६। ह० से० ३।३।१९४६]

१७८. नामौषधि

मैं जितना विचार करता हूँ, उतना ही ज्यादा यह महसूस करता हूँ कि ज्ञान के साथ हृदय से लिया हुआ रामनाम सारी बीमारियों की रामबाण दवा है।

—उरुली, २२।३।१९४६। 'रामनाम' संकलन; पष्ठ ६७; न० जी० प्र० मं०]

१७९. विकार-चिकित्सा

आसक्ति, घृणा वगैरह भी रोग हैं और वे शारीरिक रोगों से ज्यादा बुरे हैं। रामनाम के सिवा उनका कोई इलाज नहीं है।

—उरुली, २३।३।१९४६। 'रामनाम' संकलन; पृष्ठ ६७; न०जी० प्र० मं०]

१८०. ईश्वर

जीवन-मरण का स्वामी तो ईश्वर ही है।

—उरुली कांचन, २५।३।१९४६। बापू के पत्र : सरदार वल्लभ भाई के नाम, पृ० २८५, न० जी० प्र० मं०]

१८१. अवर्णनीय आनन्द

ईश्वर की शरण में आने से किसी को जो आनन्द और सुख मिलता है, उसका कौन वर्णन कर सकता है?

—उरूली, २५।३।१९४६। 'रामनाम' 'संकलन'; पृष्ठ ६८; न० जी० प्र० मं०]

१८२. ईश्वरेच्छा

ईश्वर की इच्छा अचानक विजली की तरह कौंध जाती है और वह मनुष्यों को चमत्कार-सी मालूम पड़ती है। हम ईश्वर को नहीं जानते। हम उसे उसके नियम-चक्र द्वारा ही पहिचानते हैं। ईश्वर और उसके नियम, दोनों एक हैं। उसके नियम के वाहर कोई चीज़ नहीं है। भूकम्प और वड़े-वड़े तूफ़ान भी उसकी इच्छा-विना नहीं आते। घास का एक तिनका तक उसकी इच्छा से ही उग पाता है। शैतान भी यहाँ उसकी इच्छा से ही रहता है और काम करता है। शैतान की अपनी कोई इच्छा या अस्तित्व नहीं होता।

—दिल्ली जाते हुए, रेल में, २१।३।१९४६। ह० ज०। ह० से० ७।४।१९४६]

१८३. रोगनाश का उपाय ईश्वर-स्तुति

ईश्वर की स्तुति और सदाचार का प्रचार हर तरह की वीमारी को रोकने का अच्छे-से-अच्छा और सस्ते-से-सस्ता इलाज है।

—शिमला, ९।५।१९४६। ह० व०। ह० से० १९।५।१९४६]

१८४. प्रभु पर आस्था

भगवान पर भरोसा रखने से वहुत-सी कठिनाइयाँ आसान वनाई जा सकती हैं। जव से मैं समझदार या सयाना हुआ हूँ, तभी से मैंने यह अनुभव किया है कि जो भगवान की उपासना करते हैं, उनके साथ वह हमेशा रहता है। वास्तव में वह सर्वत्र है। लेकिन चूंकि वह निराकार है और आँखों से दीख नहीं पड़ता, इस-लिए आदमी हमेशा उसकी उपस्थिति का अनुभव नहीं कर पाता। लेकिन अगर आपके पास भगवान की वात सुननेवाले कान हैं तो वह आपसे आपकी ही भाषा में

बात करेगा, फिर वह भाषा चाहे कोई भी क्यों न हो।...ईश्वर सर्वशक्तिमान है। आदमी उसकी इच्छा पर जीता है।

—शिमला के प्रार्थना-प्रवचनों पर लिखे गये विवरण से। दिल्ली, १५।५।-१९४६। ह० ज०। ह० से०, १९।५।१९४६]

१८५. त्रिविध ताप-हर

तीनों तरह के रोगों के लिए रामनाम ही यकीनी इलाज है।

—नई दिल्ली, २४।५।१९४६। 'रामनाम' संकलन; पृष्ठ ६८; न० जी० प्र० मं०]

१८६. कल्पतरु नाम

जो रामनाम का आसरा लेता है, उसकी सारी इच्छाएँ पूरी होती हैं।

—नई दिल्ली, २५।५।१९४६। 'रामनाम' संकलन; पृष्ठ ६८; न ०जी० प्र० मं०]

१८७. चित्त-शुद्धि का साधन

राम-नाम के बिना चित्त-शुद्धि नहीं हो सकती।

—नई दिल्ली, २१।५।१९४६। ह० से० २६।५।१९४६]

१८८. नामामृत

अगर कोई रामनाम का अमृत पीना चाहता है, तो यह जरूरी है कि वह काम, क्रोध वगैरह को अपने पास से भगा दे।

—नई दिल्ली, २०।६।१९४६। 'रामनाम' संकलन; पृष्ठ ६८; न० जी० प्र० मं०]

१८९. कष्ट में भी नाम-स्मरण

जब सब कुछ अच्छा होता है, तब तो सब कोई ईश्वर का नाम लेते ही हैं; लेकिन सच्चा भक्त तो वही है, जो सब कुछ बिगड़ जाने पर भी ईश्वर को याद करता है।

—बम्बई, ६।७।१९४६। 'रामनाम' संकलन; पृष्ठ ६८; न० जी० प्र० मं०]

१९०. नाम-रसायन

रामनाम का रसायन आत्मा को आनन्द देता है और शरीर के रोग मिटाता है।

—पूना, ९।७।१९४६। 'रामनाम' संकलन; पृष्ठ ६८; न० जी० प्र० मं०]

१९१. राम-नाम के बारे में भ्रम

एक दोस्त लिखते हैं—

"आपने राम-नाम से मलेरिया का इलाज सुझाया है। मेरी कठिनाई यह है कि शारीरिक बीमारियों के लिए आत्मिक शक्ति पर भरोसा करना मेरी समझ से बाहर है। मैं दृढ़ रूप से यह भी नहीं जानता कि मुझे अच्छा होने का अधिकार भी है या नहीं। और क्या ऐसे समय जबकि समस्त देशवासी इतने दुःख में पड़े हैं, मेरी अपनी मुक्ति के लिए प्रार्थना करना ठीक होगा? मैं जिस दिन राम-नाम समझ जाऊँगा, उस दिन मैं उनकी मुक्ति के लिए प्रार्थना करूँगा, नहीं तो मैं अपने-आपको आज से ज्यादा स्वार्थी महसूस करूँगा।"

मैं मानता हूँ कि यह मित्र सच्चे सत्य के शोधक हैं। उनकी इस कठिनाई की खुली चर्चा मैंने इसलिए की है कि उन-जैसे बहुतों की कठिनाइयाँ इसी तरह की हैं।

दूसरी शक्तियों की तरह आत्मिक शक्ति भी मनुष्य की सेवा के लिए है। सदियों से थोड़ी-बहुत सफलता के साथ शारीरिक रोगों को ठीक करने के लिए उसका उपयोग होता रहा है। इस बात को छोड़ भी दें, तो भी अगर शारीरिक व्याधियों के इलाज के लिए सफलता के साथ उसका इस्तेमाल हो सकता हो, तो उसका उपयोग न करना सख्त ग़लती है। क्योंकि आदमी पदार्थ भी है और आत्मा भी; और इन दोनों का एक-दूसरे पर असर होता है। अगर आप मलेरिया

से बचने के लिए कुनैन लेते हैं, और इस बात का विचार भी नहीं करते कि करोड़ों को कुनैन नहीं मिलती, तो आप उस इलाज के इस्तेमाल से क्यों इन्कार करते हैं, जो आपके अन्दर है? क्या सिर्फ इसलिए कि करोड़ों अपनी मूर्खता के कारण उसका इस्तेमाल नहीं करते? अगर करोड़ों अनजाने, या हो सकता है, जान-बूझकर भी, गन्दे रहें, तो क्या आप अपनी स्वच्छता और स्वास्थ्य का ध्यान छोड़ देंगे? उदारता की ग़लत कल्पना के कारण अगर आप साफ़ नहीं रहेंगे, तो गन्दा और बीमार रहकर आप उन्हीं करोड़ों की सेवा का फर्ज भी अपने ऊपर नहीं ले सकेंगे, और यह बात तो पक्की है कि आत्मा का रोगी या गन्दा होना (उसे अच्छी और साफ रखने से इन्कार करना) शरीर को बीमार और गन्दा रखने से भी बुरा है।

मुक्ति का अर्थ यही है कि आदमी हर तरह से अच्छा रहे। फिर आप अच्छे क्यों न रहें? अगर अच्छे रहेंगे, तो दूसरों को अच्छा रहने का रास्ता दिखा सकेंगे, और इससे भी बढ़कर अच्छा होने के कारण आप दूसरों की सेवा कर सकेंगे। लेकिन अगर आप अच्छे होने के लिए पेनिसिलिन लेते हैं, हालाँकि आप जानते हैं कि दूसरों को वह नहीं मिल सकती, तो ज़रूर आप सरासर स्वार्थी बनते हैं।

मुझे पत्र लिखनेवाले इन दोस्त के तर्क में जो गड़बड़ी है, वह स्पष्ट है।

हाँ, यह ज़रूर है कि कुनैन की गोली या गोलियाँ खा लेना राम-नाम के उपयोग के ज्ञान को पाने से अधिक सरल है। कुनैन की गोलियां खरीदने के मूल्य से इसमें कहीं अधिक श्रम पड़ता है। लेकिन यह श्रम उन करोड़ों के लिए उठाना चाहिए, जिनके नाम पर और जिनके लिए लेखक राम-नाम को अपने हल से बाहर रखना चाहते हैं।

—सेवाग्राम, १७।८।१९४६। ह० ज०। ह० से० १।९।१९४६]

- आत्मा का रोगी या गन्दा होना...शरीर को बीमार और गन्दा रखने से भी बुरा है।
- मुक्ति का अर्थ यही है कि आदमी हर तरह से अच्छा रहे।

१९२. ईश्वरनिर्भरता और सुरक्षा

समस्त मानवीय शक्तियां नाशमान हैं। हमारी सच्ची सुरक्षा तभी हो सकती है, जब हम भगवान पर पूरा भरोसा रखें।

—श्रीरामपुर, ३।१२।१९४६। ह० ज०। ह० से०, १२।१।१९४७]

१९३. ईश्वर

ईश्वर सब कुछ है, हम कुछ नहीं।

—बांकीपुर मैदान (बिहार) २८।४।१९४७। ह० से०, ११।५।१९४७]

१९४. सच्ची प्रार्थना

सच्ची प्रार्थना हृदय से पैदा होती है। वस्तुतः वह मुंह से बोले हुए शब्दों पर निर्भर नहीं रहती।

—दिल्ली, प्रार्थना-सभा ३।५।१९४७। ह० ज०। ह० से० १८।५।१९४७]

१९५. भगवन्नाम-महौषधि

सारी बीमारियों का एकमात्र इलाज सच्चे हृदय से भगवान का नाम जपना है।

—ह० ज०। ह० से०, २२।६।१९४७]

१९६. भगवदेच्छा

एक भाग्यवादी के नाते मैं मानता हूं कि भगवान की इच्छा विना एक तिनका भी नहीं डोलता।

—नई दिल्ली, २२।७।१९४७। ह० ज०। ह० से०, १०।८।१९४७]

१९७. राम ही चिकित्सक है

आज मेरा एकमात्र वैद्य मेरा राम है।...राम सारी शारीरिक, मानसिक और नैतिक बुराइयों को दूर करनेवाला है।

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, २७।९।१९४७]

१९८. ईश्वर-श्रद्धा

विषय-वासना के नाश हो जाने पर ही ईश्वर में निहित श्रद्धा जागती है। दोनों चीजें साथ-साथ नहीं रह सकतीं।

—नई दिल्ली, १२।१०।१९४७। ह० व०। ह० से०, १९।१०।१९४७]

१९९. राम-नाम-महौषधि

राम-नाम सारी बीमारियों का सबसे बड़ा इलाज है, इसलिए वह सारे इलाजों से श्रेष्ठ है।

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, १७।१०।१९४७। ह० ज०। ह० से० २६।१०।१९४७]

२००. उपवास

जब मानवी बुद्धि काम नहीं करती तो अहिंसा का पुजारी उपवास करता है। उपवास से मन प्रार्थना की ओर तेजी से झुकता है। यानी उपवास एक आत्मिक वस्तु है और उसका रुख ईश्वर की ओर होता है।...

—नई दिल्ली, १४।१२।१९४७। ह० से०, २१।१२।१९४७]

२०१. प्रार्थना जीवन का पोषण

प्रार्थना ही आत्मा का आहार है। हमें भगवान के पास से जो भोजन मिल सकता है वह दूसरी जगह नहीं मिल सकता।

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, १।१।१९४८। ह० से०, ११।१।१९४८]

२०२. धर्मों की बाह्य संज्ञा

जबतक अलग-अलग धर्म मौजूद हैं, तबतक प्रत्येक धर्म को किसी विशेष बाह्य चिह्न की आवश्यकता हो सकती है। लेकिन जब बाह्य संज्ञा केवल आडम्बर बन जाती है अथवा अपने धर्म को दूसरे धर्म से अलग बताने के काम आती है, तब वह त्याज्य हो जाती है।

—आत्मकथा, संस्करण १९५७]

२०३. आत्मा की शक्ति

मनुष्य को आत्मा की, अपनी शक्ति का पता नहीं है, इसीलिए वह मानता है कि इन्द्रियां वश में नहीं रहतीं या बुद्धि काम नहीं करती। आत्मा की शक्ति का विश्वास होते ही बाकी सब आसान हो जाता है।

—मंगल प्रभात। गीता-बोध, पृ० २१, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

२०४. संन्यासी

जो मनुष्य किसी वस्तु या मनुष्य का न द्वेष करता है, न कोई इच्छा रखता है, और सुख-दुःख, सर्दी- गर्मी इत्यादि द्वन्द्वों से परे रहता है, वह संन्यासी ही है, फिर वह कर्म करता हो या न करता हो। ऐसा मनुष्य सहज में बन्धनमुक्त हो जाता है।
—गीता-बोध, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

२०५. दिव्य जीवन-धर्म

मेरा यह अनुभव है कि विनाश के बीच भी जीवन कायम रहता है। इसलिए विनाश से बढ़कर कोई कुदरती कानून जरूर है। ऐसे कानून के आधार पर ही सुव्यवस्थित समाज का अस्तित्व समझ में आ सकता है और जीवन सुसह्य हो सकता है। ज्यों-ज्यों मैं इस कानून पर अमल करता हूं, त्यों-त्यों मुझे जिन्दगी में मजा आता है, सृष्टि की रचना में आनन्द आता है। उससे मुझे जो शान्ति मिलती है, और प्रकृति के गूढ़ भाव समझने की जो शक्ति प्राप्त होती है, उसका वर्णन करना मेरी शक्ति से परे है।...

जगत् का नियमन प्रेम-धर्म करता है। मृत्यु के होते हुए भी जीवन मौजूद ही है। प्रतिक्षण विध्वंस चल रहा है, परन्तु फिर भी विश्व तो विद्यमान ही है। सत्य असत्य पर विजय प्राप्त करता है; प्रेम द्वेष को परास्त करता है; ईश्वर शैतान के दाँत खट्टे करता है।
—सर्वोदय वर्ष १ अंक ८, चतुर्थ आवरण पृष्ठ]

२०६. तत्वज्ञान

तत्वज्ञान अनुभवगम्य है और खुद के अनुभव से आनेवाली अवस्था है।...
—बापू की छाया में, बलवन्त सिंह। न० जी० प्र० मं०, संस्करण १९५७]

२०७. तप

मानापमान सहन करना तो बड़ा तप है।
—बापू की छाया में, बलवन्त सिंह। न० जी० प्र० मं०, संस्करण १९५७]

२०८. उपासना की शक्ति

मैं कह सकता हूं कि कई आध्यात्मिक प्रसंगों में, वकालत के प्रसंगों में, संस्थाएं चलाने में, राजनीति में ईश्वर ने मुझे बचाया है। मैंने यह अनुभव किया है कि जब हम सारी आशा छोड़कर बैठ जाते हैं, हमारे दोनों हाथ टिक जाते हैं, तब कहीं-न-कहीं से मदद आ पहुंचती है। स्तुति, उपासना, प्रार्थना वहम नहीं है, बल्कि हमारा खाना-पीना, चलना-बैठना जितना सच है उससे भी अधिक यह वस्तु सच है। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं कि यही सच है; बाकी सब झूठ है।

ऐसी उपासना, ऐसी प्रार्थना निरा वाणी-विलास नहीं होती। उसका मूल कण्ठ नहीं, हृदय है। इसलिए अगर हम हृदय की निर्मलता को पा लें, उसके तारों को सुसंगठित रखें, तो उनमें से जो सुर निकलते हैं गगनगामी होते हैं। उसके लिए जीभ की जरूरत नहीं होती। वह स्वभाव से ही अद्भुत वस्तु है। मुझे इस विषय में कोई शंका नहीं है कि विकाररूपी मलों की शुद्धि के लिए हार्दिक उपासना एक रामबाण औषधि है। पर इस प्रसादी के लिए हमारे अन्दर पूरी नम्रता होनी चाहिए।

—आत्मकथा, संस्करण १९५७]

२०९. ब्रह्मचर्य-पालन और उसके उपादान

ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण पालन का अर्थ ब्रह्मदर्शन है, यह ज्ञान मुझे शास्त्र के द्वारा नहीं हुआ। यह अर्थ मेरे सामने धीरे-धीरे अनुभव-सिद्ध होता गया। इस बारे में शास्त्र-वाक्य मैंने बाद में पढ़े। ब्रह्मचर्य में शरीर-रक्षण, बुद्धि-रक्षण और आत्मा का रक्षण है, व्रत लेने के बाद मुझे इसका दिन-दिन अधिकाधिक अनुभव होने लगा। कारण, अब ब्रह्मचर्य को घोर तपस्या रूप रहने देने के बदले रसमय बनाना था; उसी के सहारे निभाना था। इसलिए अब उसकी नित नई खूबियों के दर्शन होने लगे।

यद्यपि मैं इस व्रत का इस तरह रस लूट रहा था, पर कोई यह न समझे कि मैं उसकी कठिनाई का अनुभव नहीं करता था। आज छप्पन वर्ष पूरे हो चुके हैं फिर भी कठिनता का अनुभव तो होता ही है। वह असिधाराव्रत है—इसका अनुभव दिन-दिन अधिकाधिक हो रहा है। इस व्रत में सदा जाग्रत रहने की आवश्यकता दिखाई देती है।

ब्रह्मचर्य का पालन करना हो तो स्वादेन्द्रिय पर प्रभुत्व पाना ही चाहिए। मैंने स्वयं अनुभव किया है कि अगर स्वाद को जीत लिया जाए, तो ब्रह्मचर्य का पालन बहुत सरल हो जाता है। इसलिए इसके बाद के मेरे आहार-सम्बन्धी प्रयोग सिर्फ अन्नाहार की दृष्टि से नहीं, बल्कि ब्रह्मचर्य की दृष्टि से होने लगे। मैंने प्रयोग करके अनुभव किया कि आहार थोड़ा, सादा, बिना मिर्च-मसाले का और प्राकृतिक स्थिति में होना चाहिए। ब्रह्मचारी का आहार वनपक्व फल है, इसे मैंने अपने विषय में छः साल तक प्रयोग करके देखा है। जब मैं सूखे और हरे वनपक्व फलों पर रहता था, तब जिस निर्विकार अवस्था का अनुभव मैंने किया, वैसा अनुभव आहार में परिवर्तन करने के बाद मुझे नहीं हुआ। फलाहार के दिनों में ब्रह्मचर्य स्वाभाविक हो गया था। दुग्धाहार के कारण वह कष्टसाध्य बन गया। ...ब्रह्मचारी के लिए दूध का आहार विघ्नकारक है, इस विषय में मुझे शंका नहीं है। इससे किसी को यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि ब्रह्मचारी मात्र के लिए दूध का त्याग इष्ट है। ब्रह्मचर्य पर खूराक का असर कितना पड़ता है, इस विषय में बहुत प्रयोगों की आवश्यकता है।...

बाह्य उपचारों में जैसे खूराक की किस्म और परिमाण की मर्यादा की आवश्यकता है, वही बात उपवास की भी समझनी चाहिए। इन्द्रियां ऐसी बलवान हैं कि उन्हें चारों तरफ से, ऊपर से और नीचे से, दसां दिशाओं से घेरा जाय, तभी वे अंकुश में रहती हैं। सब जानते हैं कि आहार के बिना वे काम नहीं कर सकतीं। इसलिए इन्द्रिय-दमन के निमित्त इच्छापूर्वक किये हुए उपवास से इन्द्रियदमन में बड़ी सहायता मिलती है, इस विषय में मुझे तनिक भी शंका नहीं। कितने लोग उपवास करते हुए भी इसमें असफल होते हैं। उसका कारण यह है कि उपवास ही सब कुछ कर सकेगा—ऐसा मानकर वे केवल स्थूल उपवास करते हैं और मन से छप्पन भोगों का स्वाद लेते रहते हैं। उपवास के दिनों में वे उपवास खत्म होने पर क्या खायंगे, इसके विचारों का स्वाद लेते रहते हैं और फिर शिकायत करते हैं कि न स्वादेन्द्रिय का संयम सधा, न जननेन्द्रिय का। उपवास की सच्ची उपयोगिता वहीं होती है जहां मनुष्य का मन भी देह-दमन का साथ देता है। मतलब यह कि मन को विषय-भोग के प्रति विराग होना चाहिए। विषय की जड़ें मन में रहती हैं। उपवास आदि साधनों से बहुत मदद मिलती है, फिर भी वह आवश्यकता से कम ही होती है। कहा जा सकता है कि उपवास करते हुए भी मनुष्य विषयासक्त रह सकता है। पर उपवास के बिना विषयासक्ति का समूल नाश सम्भव नहीं है। इसलिए ब्रह्मचर्य पालन में उपवास अनिवार्य अंग है।

ब्रह्मचर्य का प्रयत्न करनेवाले बहुतेरे असफल होते हैं, क्योंकि वे खाने-पीने देखने-सुनने में अब्रह्मचारी-जैसे रहना चाहते हैं और फिर भी ब्रह्मचर्य पालन-की इच्छा रखते हैं। यह प्रयत्न वैसा ही कहा जायगा जैसा गरमी में जाड़े का मजा लेने की कोशिश करना। संयमी के और स्वच्छन्दाचारी के, भोगी के और त्यागी के जीवन में भेद होना अनिवार्य है। समता ऊपर से देखने भर को होती है; भेद स्पष्ट दिखाई देना चाहिए। आँखों से काम दोनों लेते हैं पर ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है; भोगी नाटक-सिनेमा में रमा रहता है। कानों से काम दोनों लेते हैं; पर एक ईश्वर-भजन सुनता है; दूसरे को विलासी गाने सुनने में मजा आता है। जागते दोनों हैं; पर एक जाग्रत अवस्था में हृदय-मन्दिर में विराजनेवाले राम को भजता है; दूसरा नाचरंग की धुन में सोना भूल जाता है। खाते दोनों हैं; पर एक शरीर रूपी तीर्थ-क्षेत्र की रक्षा भर के लिए देह को भाड़ा देता है; दूसरा स्वाद के लिए देह में भांति-भांति की चीजें भर कर उसे दुर्गन्धित कर डालता है। यों, दोनों के आचार-विचार में भेद रहा ही करता है और यह अन्तर दिन-दिन बढ़ता जाता है, घटता नहीं।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है, मन-वचन-काया से समस्त इन्द्रियों का संयम। इस संयम के लिए ऊपर बताये गये त्यागों की आवश्यकता है, इसे मैं दिनानुदिन अनुभव करता रहा हूं और आज भी कर रहा हूं। त्याग के क्षेत्र की कोई सीमा नहीं है। ऐसा ब्रह्मचर्य थोड़े प्रयत्न से सिद्ध नहीं होता। करोड़ों लोगों के लिए वह सदा केवल आदर्शरूप रहेगा। क्योंकि प्रयत्नशील ब्रह्मचारी अपनी त्रुटियों का नित्य दर्शन करेगा; अपने अन्दर कोने में छिपकर बैठे हुए विकारों को पहिचान लेगा और उन्हें निकालने का सतत प्रयत्न करेगा। जबतक विचारों पर इतना अंकुश प्राप्त न हो जाय कि इच्छा के बिना एक भी विचार मन में न आये, तबतक ब्रह्मचर्य सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता। विचारमात्र विकार हैं। उन्हें वश में करने का मतलब है मन को वश में करना और मन को वश में करना तो वायु को वश में करने से भी कठिन है। फिर भी यदि आत्मा है तो यह वस्तु भी साध्य है ही। हमारे मार्ग में कठिनाइयां आकर बाधा डालती हैं, इससे कोई यह न माने कि वह असाध्य है। वह परम अर्थ है। और परम अर्थ के लिए परम प्रयत्न की आवश्यकता हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या?

परन्तु ऐसा ब्रह्मचर्य केवल प्रयत्न-साध्य नहीं है, इसे मैंने (दक्षिण-अफ्रीका से) हिन्दुस्तान आने के बाद अनुभव किया। कहा जा सकता है कि तबतक मैं मूर्च्छा के वश में था। मैंने यह मान लिया था कि फलाहार से विकार समूल नष्ट हो जाते हैं, और मैं अभिमानपूर्वक यह मानता था कि अब मुझे कुछ करना बाकी नहीं है।

पर इस विचार के प्रकरण तक पहुँचने में अभी देर है। इस बीच इतना कह देना जरूरी है कि ईश्वर-साक्षात्कार के लिए जो लोग मेरी व्याख्याओं के ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, वे यदि अपने प्रयत्न के साथ ही ईश्वर पर श्रद्धा रखने वाले हों, तो उनके लिए निराशा का कोई कारण नहीं रहेगा।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।[1]
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

इसलिए रामनाम और रामकृपा, यही आत्मार्थी का अन्तिम साधन है।...
—आत्मकथा, भाग ३, अध्याय ८]

- ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण पालन का अर्थ ब्रह्मदर्शन है।
- ब्रह्मचर्य में शरीर-रक्षण, बुद्धि-रक्षण और आत्मा का रक्षण है।
- वह (ब्रह्मचर्य) असिधारा-व्रत है।
- ब्रह्मचारी के लिए दूध का आहार विघ्नकारक है।
- विषय की जड़ें मन में रहती हैं।
- ब्रह्मचर्य-पालन में उपवास अनिवार्य अंग है।
- ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन-वचन-काया से समस्त इन्द्रियों का संयम।
- त्याग के क्षेत्र की कोई सीमा नहीं है।
- करोड़ों लोगों के लिए वह (ब्रह्मचर्य) सदा केवल आदर्शरूप रहेगा।
- विचारमात्र विकार हैं।
- मन को वश में करना ...वायु को वश में करने से कठिन है।
- रामनाम और रामकृपा, यही आत्मार्थी का अन्तिम साधन है।

२१०. ईश्वर-साक्षात्कार

तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर निम्नलिखित हैं—

१. ईश्वर सत्य है।

२. इसलिए ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग विचार, वाणी और कर्म से सत्य का अनुसरण करना है।

---

१. निराहारी के विषय तो शान्त हो जाते हैं, पर वासना का शमन नहीं होता। ईश्वर-दर्शन से वासना भी शान्त हो जाती है।
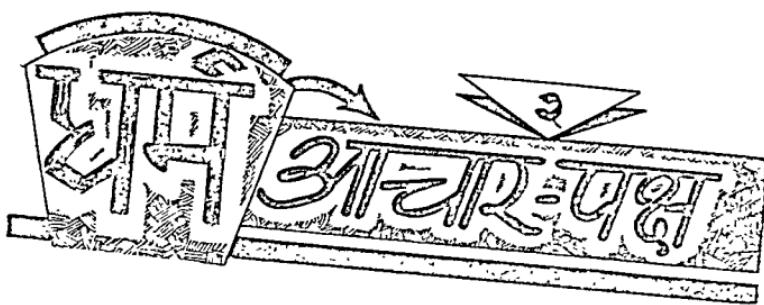
३. यदि हृदय से रामनाम लिया जाय तो आत्मसाक्षत्कार तक ले जाता है।

४. आत्मसाक्षात्कार का अर्थ सत्य का साक्षात्कार है।

—अंग्रेजी। वर्धा। श्री वी० सूर्यनारायण राजू को लिखे निजी पत्र से।]

२११. धर्म का तात्पर्य

धर्म से मेरा अभिप्राय औपचारिक धर्म या रूढ़िगत धर्म का नहीं, परन्तु उस धर्म का है जो सब धर्मों की बुनियाद है, और जो हमें अपने सिरजनहार का साक्षात्कार कराता है।

—एम० के० गांधी, ले० जोजेफ़ जे० डोक, पृष्ठ, ७, १९०९]

धर्म
३
आचार-पक्ष

१. धर्म के विषय में भूल

किसी भी धर्म का मनुष्य क्यों न हो, वह अपने धर्म के बाहरी रूप का ही विचार करता है और अपने सच्चे कर्त्तव्य को भुला देता है। धन का अत्यधिक उपभोग करने से दूसरे लोगों को क्या कष्ट होते हैं या होंगे, इस बात का विचार हम शायद ही करते हैं। यदि अत्यन्त कोमल और नन्हें प्राणियों को मार कर उनकी खाल के कोमल दस्ताने बनाये जा सकें तो ऐसे दस्ताने पहिनने में युरोप की महिलाओं को तनिक भी हिचक नहीं होती। श्री राकफ़ेलर संसार के धन-कुबेरों में प्रथम श्रेणी के गिने जाते हैं। उन्होंने अपना धन इकट्ठा करने में नीति के अनेक नियमों को भंग किया है, यह जगत्-प्रसिद्ध है। चारों ओर इस तरह की हालत देखकर युरोप तथा अमरीका में बहुतेरे लोग धर्म के विरोधी हो गये हैं। उनका कहना है कि यदि दुनिया में धर्म नाम की कोई चीज़ होती तो यह जो दुराचरण बढ़ गया है, उसे बढ़ना नहीं चाहिए था। यह विचार भूल से भरा हुआ है। मनुष्य अपनी हमेशा की आदत के अनुसार अपना दोष न देख कर साधनों को दोष देता है। ठीक इसी तरह मनुष्य अपनी दुष्टता का विचार न करके धर्म को ही बुरा मानकर स्वच्छन्दतापूर्वक जी में आये वैसा व्यवहार करता है और रहता है।

—गुजराती से। इं० ओ०। ५।१।१९०७]

२. स्वधर्म-पालन

प्रत्येक भारतीय अपने धर्म का पालन सचाई के साथ श्रद्धापूर्वक करे। हम सब मुख्य धर्मों को सच्चा मानते हैं इसलिए यदि प्रत्येक जाति अपने-अपने धर्म का उचित पालन करे तो ईश्वर में उसका विश्वास दृढ़ हो जायगा और उसे सत्य ही प्रिय लगेगा। यदि हम ठीक तरह से अपने धर्म का पालन करें तो एक दूसरे के बीच झगड़ा न होगा अर्थात् एकता की रक्षा होगी। जो ठीक तरह से धर्म का पालन करना चाहते हैं वे अशिक्षित और अज्ञानी कदापि नहीं रह सकते। वे आलसी भी न रह सकेंगे।

—गुजराती। इं० ओ०, ४।४।१९०८]

३. देह-रक्षा

देह आत्मा से प्यारी न होनी चाहिए। जो मनुष्य आत्मा को जानता है और देह से आत्मा के अलग होने की बात भी जानता है, वह हिंसात्मक उपायों से देह की रक्षा न करेगा। यह बात बहुत कठिन है, लेकिन जिसके संस्कार बहुत पवित्र हैं, वह इस बात को सहज ही समझता है और उस पर आचरण करता है। यह मान्यता अत्यन्त भूल-भरी है कि आत्मा देह में रहकर ही भला-बुरा कर सकती है। इस मान्यता के कारण संसार में घोर पाप हुए हैं और अब भी हो रहे हैं।
—श्री मणिलाल गांधी को लिखे पत्र से। लन्दन, १७।९।१९०९]

४. दान : एक आदर्श

जिस दान को हम अपने हाथों करते हैं और जिसका उपयोग अपनी आँखों से होता देखते हैं उसके समान कोई दूसरा दान नहीं। हमारे देश में जहाँ-जहां पश्चिम का प्रभाव नहीं पहुँच पाया है, वहाँ तो ऐसा ही है। गाँवों के लोग गाँव के तरीके से दान करते हैं; वे घर आये हुए ग़रीब को अपने भोजन का भी एक अंश दे दिया करते हैं। उन्हें स्वप्न में भी यह नहीं सूझता कि वे जिन्हें देख नहीं सकते उन्हें सहायता देने की इच्छा करें। वे जानते हैं कि ऐसा करने का विचार करना केवल दंभ है और खुदाई का दावा करने के समान है।
—गुजराती। इं० ओ०, ९।१२।१९११]

५. मेरा प्रयत्न

[श्री मणिलाल गांधी को लिखे पत्र से]

मैं अपनी आत्मा को निर्विकार बनाने के प्रयत्नों से दुखी नहीं हो सकता। व्रतों से मुझे कोई कष्ट नहीं होता; उससे मुझे सुख ही होता है। . . .
—डर्बन, गुरुवार, १८।९।१९१३]

६. प्रभु-स्मरण

खेती करते, खाते, खेलते, घूमते, नहाते अथवा अन्य कोई भी (कार्य) करते समय हरि का नाम लेना उचित ही नहीं, बल्कि कर्त्तव्य है। जो राममय होना चाहे,

और उसका प्रयत्न करे, तो उसके लिए अमुक समय की आवश्यकता नहीं; फिर भी युवकों के लिए नियम की जरूरत तो होती ही है, इसलिए जो समय खेती करने का नहीं है, वह समय खास तौर से प्रार्थना के लिए निर्धारित कर लो।... शास्त्रों का कथन है कि सन्ध्यादि सूर्योदय से पहिले करना चाहिए।...

—लन्दन, मार्गशीर्ष वदी ८; १०।१२।१९१४। सं० गां० वां० खण्ड १२, पृ० ५५१]

७. धर्म-शिक्षा की मर्यादा

धर्म और नीति की जितनी शिक्षा तुम्हारे काम आ सकती है, उतनी ही लेनी चाहिए।

—गुजराती। काठियावाड़ टाइम्स, १७।२।१९१५। गुजराती, २१।२।१९१५]

८. धर्मात्मा पुरुष

जो पुरुष सदाचारमय साधु जीवन विताता है; जिसकी वृत्तियाँ सादी हैं, जो सत्य की मूर्ति है, विनम्र है; सत्य-स्वरूप है; जिसने अहंकार का आत्यन्तिक त्याग किया है, वह पुरुष स्वयं जाने या न जाने, धर्मात्मा ही है।

—४।२।१९१६ के पूर्व। गुजराती से। महात्मा गांधीनी विचारसृष्टि। सं० गां० वां०,—खण्ड १३, पृ० २०५-२०६]

९. धार्मिक वृत्ति

हम सब निर्भयता, सत्यपरायणता, धैर्य, नम्रता, न्यायबुद्धि, सरलता, दृढ़ता आदि गुणों का अपने में विकास करके देश के हित में उनका उपयोग कर सकते हैं। यह धार्मिक वृत्ति है। राजनीतिक जीवन को धर्ममय बनाया जाय, इस महावाक्य का यही अर्थ है।

—४।२।१९१६। गुजराती से। महात्मा गांधीनी विचारसृष्टि। सं० गां० वां०, खण्ड १३, पृ० २१०]

१०. धर्माचरण में व्रतों का महत्व

...आप पूछेंगे धर्म है क्या ? मेरा उत्तर होगा, वह धर्म नहीं जो संसार के धर्मग्रन्थों को पढ़ने के पश्चात् प्राप्त होता है! वास्तव में धर्म बुद्धि-ग्राह्य नहीं, हृदय-ग्राह्य है। यह हमारे बाहर की कोई चीज नहीं है। इस तत्व को तो हमें अपने अन्तर से उद्भूत और विकसित करना पड़ेगा। यह सदा हमारे अन्तर में स्थित है। कुछ को इसकी चेतना होती है, कुछ को नहीं होती। तथापि वह वहाँ स्थित है। यदि हम कोई काम सही ढंग से करना चाहते हैं और यदि उसे स्थायी बनाना चाहते हैं तो चाहे बाहरी मदद से, चाहे आन्तरिक विकास से, किसी भी तरह क्यों न हो, हमें धर्म की इस मूल प्रवृत्ति को जागरित करना ही होगा

हमारे धर्मशास्त्रों ने जीवन के कुछ ऐसे सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं जिन्हें स्वयं प्रमाणित सत्य मानकर हमें स्वीकार कर ही लेना होगा। शास्त्रों का कहना है कि उन सिद्धान्तों के अनुसार आचरण किये बिना धर्म का स्थूल स्वरूप भी नहीं समझा जा सकता। पिछले अनेक वर्षों से इन शास्त्रीय अनुशासनों में अविचल श्रद्धा रखकर और उनके अनुसार आचरण का प्रयत्न करने के बाद मुझे यह ज़रूरी जान पड़ा कि जो लोग मेरे इस विचार से सहमत हैं उनका संस्था-स्थापनार्थ सहयोग प्राप्त करें। हमने आश्रम का सदस्य बनने की इच्छा करनेवाले व्यक्ति के लिए जो आचार-नियम बनाये हैं आज मैं उन्हें आपके सामने रखना चाहता हूँ। इन आचार-नियमों में से पहिले पाँच यम कहलाते हैं।...

सत्य का व्रत

सत्य का स्वरूप जैसा हम साधारणतया समझते हैं वह उससे भिन्न है। हमने तो समझ रखा है कि यथाशक्ति झूठ का सहारा न लेना ही सत्य है। अर्थात् हमारी धारणा का सत्य, वह सत्य नहीं है जिसका पालन ईमानदारी सर्वोत्तम नीति है, के विचार से किया जाता हो। इस कहावत में तो यह छुपा हुआ है कि यदि किसी परिस्थिति में ईमानदारी सर्वोत्तम नीति-कौशल न लगे तो हम उससे हट सकते हैं, जब कि सत्य के व्रत का अर्थ तो यह है कि हमें अपना सारा जीवन किसी भी कीमत पर सत्य से ही अनुशासित रखना है।

अहिंसा का व्रत

अहिंसा का शाब्दिक अर्थ होता है न मारना। किन्तु मेरी दृष्टि से उसका अर्थ बहुत व्यापक है। यदि मैं उसका अर्थ केवल न मारना करता तो यह शब्द

मुझे जिन ऊँचे, अनन्त ऊँचे मनोमय लोकों तक ले जाता है, उन तक मैं कभी न पहुँच पाता। अहिंसा का वास्तव में यह अर्थ है कि आप किसी का मन न दुखायें; जो अपने को आपका शत्रु मानता है उसके बारे में भी कोई अनुदार विचार मन में न रखें। इस बात में जो सावधानी है कृपया उस पर ध्यान दें। मैंने आप जिसे अपना शत्रु समझते हैं, नहीं कहा, जो आपको अपना शत्रु समझता है, कहा है। क्योंकि जो व्यक्ति अहिंसा के सिद्धान्त का पालन करता है उसके लिए तो किसी को अपना शत्रु मानने की गुंजाइश ही नहीं है; वह शत्रु का अस्तित्व नहीं मानता। किन्तु ऐसे लोग हो सकते हैं जो उसे अपना शत्रु मानें; इसमें तो उसका कोई वश नहीं है। इसलिए इस बात पर जोर दिया गया है कि ऐसे व्यक्तियों के प्रति भी कोई दुर्भावना न रखी जाय। यदि हम घूंसे का जवाब घूंसे से देते हैं तो हम अहिंसा के सिद्धान्त से च्युत हो जाते हैं।...

ब्रह्मचर्य-व्रत

जो लोग राष्ट्र की सेवा करना चाहते हैं या जो धार्मिक जीवन की सच्ची झाँकी देखना चाहते हैं वे विवाहित हों या अविवाहित, उन्हें संयम का जीवन बिताना चाहिए। विवाह केवल एक स्त्री और एक पुरुष को पास-पास लाता है और वे विशिष्ट प्रकार से जन्म-जन्मान्तरों के लिए कभी न बिछुड़नेवाले मित्र बन जाते हैं, किन्तु मेरे ख्याल से विवाह-सम्बन्धी हमारी धारणा में वासनाएं हों ही, यह जरूरी नहीं है।...

अस्वाद-व्रत

अपनी पशु-वृत्तियों को सुगमता से वश में करने की अभिलाषा रखनेवाला व्यक्ति अपनी स्वादेन्द्रिय पर काबू पा ले तो ऐसा कर सकता है मेरी समझ में यह बहुत ही कठिन व्रत है।...

अस्तेय-व्रत

मैं कहना चाहता हूँ कि हम (सब) एक अर्थ में चोर हैं। जिस चीज़ की मुझे तत्काल ज़रूरत नहीं है अगर मैं उसे लेकर रख लेता हूँ तो किसी को उससे वंचित कर रहा हूँ। मैं यह कहने का साहस करूँगा कि यह प्रकृति का एक मौलिक और निरपवाद नियम है कि हमारी रोजमर्रा की जरूरतों के लिए वह पर्याप्त चीजें पैदा करती रहती है और यदि हम जितना आवश्यक है, अपने लिए केवल उतना ही लिया करें तो संसार में दारिद्र्य हो ही नहीं; कोई आदमी यहाँ भूखों न मरे।...

अभय-व्रत

. . .एक ही सत्ता, यदि उसके लिए सत्ता शब्द का प्रयोग ठीक हो, ऐसी है जिससे हमें डरना है और वह है ईश्वर। ईश्वर से डरें तो आदमी से डर नहीं, रहेगा. . .वह चाहे जितना बड़ा क्यों न हो। आप किसी भी रूप में सही, सत्य के व्रत का पालन करना चाहते हैं तो अभय उसकी अनिवार्य परिणति है। इसलिए भगवद्गीता में अभय को ब्राह्मण का प्रथम अनिवार्य गुण माना गया है। . . .

—आश्रम के व्रतों पर दिये गये भाषण से, १६।२।१९१६, अंग्रेजी से। इण्डिया रिव्यू, फरवरी १९१६। सं० गां० वां० भाग १३, पृष्ठ २२८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४]

- **मैं कहना चाहता हूँ कि हम सब एक अर्थ में चोर हैं।**
- **ईश्वर से डरें तो आदमी से डर नहीं रहेगा।**

११. धर्म अनिवार्य है

[बिहार-छात्र सम्मेलन में दिये गये भाषण से।]

. . . . .अब मैं धर्म की बात पर आ गया। जहाँ धर्म नहीं वहाँ विद्या, लक्ष्मी, स्वास्थ्य आदि का भी अभाव होता है। धर्म-रहित स्थिति बिलकुल शुष्क होती है; शून्य होती है। हम धर्म की शिक्षा खो बैठे हैं। हमारी पढ़ाई में धर्म को जगह नहीं दी गई। यह तो बिना दूल्हे की बरात-जैसी बात है। धर्म को जाने बिना विद्यार्थी निर्दोष आनन्द नहीं ले सकते। यह आनन्द लेने के लिए शास्त्रों का पढ़ना, शास्त्रों का चिन्तन करना और विचार के अनुसार कार्य करना जरूरी है। सुबह उठते ही सिगरेट पीने से या निकम्मी बातचीत करने से न अपना भला होता है, और न दूसरों का भला होता है। 'नज़ीर' ने कहा है कि चिड़िया भी चूं-चूं करके सुबह-शाम ईश्वर का नाम लेती है, किन्तु हम तो लम्बी तान कर सोये रहते हैं। किसी भी तरह धर्म की शिक्षा पाना विद्यार्थी का कर्तव्य है। पाठशालाओं में धर्म की शिक्षा दी जाय या न दी जाय, किन्तु इस समय यहाँ आये हुए विद्यार्थियों से मेरी प्रार्थना है कि वे अपने जीवन में धर्म का तत्व प्रविष्ट करें। धर्म क्या है? धर्म की शिक्षा किस तरह की हो सकती है? इन बातों का विचार इस जगह नहीं हो सकता। परन्तु इतनी-सी व्यावहारिक सलाह अनुभव के आधार पर देता हूँ कि तुम रामचरितमानस के और भगवद्गीता के भक्त बनो। तुम्हारे पास मानस-रूपी रत्न पड़ा है, उसे ग्रहण कर लो। किन्तु इतना याद रखना कि इन दो ग्रन्थों की पढ़ाई धर्म को समझने के लिए

करनी है। इन ग्रन्थों के लिखनेवाले ऋषियों का ध्येय इतिहास लिखना नहीं था, वल्कि धर्म और नीति की शिक्षा देना था। करोड़ों आदमी इन ग्रन्थों को पढ़ते हैं और अपना जीवन पवित्र करते हैं। वे निर्दोष वुद्धि से इनका अध्ययन करते हैं और उनसे निर्दोष आनन्द लेकर इस संसार में विचरते हैं। उनके मन में स्वप्न में भी यह शंका नहीं उठती कि राम थे या नहीं; उन्होंने जिस तरह रावण का वध किया उस तरह हम भी अपने शत्रु का वध कर सकते हैं या नहीं। वह तो शत्रु को सम्मुख देखते हुए भी राम की सहायता की याचना करके निर्भय रहता है। रामायण के प्रणेता तुलसीदास के पास तो शस्त्र के रूप में एक दया ही थी। तुलसीदास किसी का संहार नहीं करना चाहते थे। जो उत्पन्न करता है वही नाश कर सकता है। राम ईश्वर, थे ; उन्होंने रावण को उत्पन्न किया था; उन्हें उसका संहार करने का अधिकार भी था। जब हम ईश्वर का पद प्राप्त करेंगे तव सोच लेंगे कि संहार का अधिकार हमें है या नहीं। इन महान् ग्रन्थों के विषय में मैंने कुछ शब्द कहने का साहस इसलिए किया है कि एक समय मैं स्वय संशयात्मा था। और मुझे अपने जीवन के नष्ट हो जाने का भय था। मैं उस अवस्था से निकलकर श्रद्धालु हो सका हूं। इन पुस्तकों ने मेरे ऊपर जो प्रभाव डाला है, उसका वर्णन करना मुझे उचित लगा। मुसलमान विद्यार्थियों के लिए कुरान शरीफ़ सब से ऊंचा ग्रन्थ है। उन्हें भी मैं इस ग्रन्थ का धर्म-भाव से अध्ययन करने की सलाह देता हूँ। कुरान शरीफ़ का रहस्य जानना चाहिए। मेरा यह भी विचार है कि हिन्दू-मुसलमानों को एक-दूसरे के धर्म -ग्रन्थों को विनय के साथ पढ़ना और समझना चाहिए।

—भागलपुर, १५।१०।१९१७। गुजराती से। महात्मा गांधीनी; विचारसृष्टि। सं० गां० वां० खण्ड १४, पृ० ९-१०]

० जहाँ धर्म नहीं, वहाँ विद्या, लक्ष्मी स्वास्थ्य आदि का भी अभाव होता है।

० धर्म-रहित स्थिति बिल्कुल शुष्क होती है; शून्य होती है।

१२. यम-नियम का पालन

[सुश्री एस्थर फेरिंग को लिखे पत्र से]

यह कहना कि संसार में पूर्णता प्राप्त करना सम्भव नहीं, ईश्वर से इन्कार करना है। हमारे लिए सर्वथा पाप-मुक्त होना सम्भव नहीं; स्पष्ट है कि यह कथन जीवन की एक अवस्था-विशेष के लिए ही सही है। परन्तु इसका समर्थन पाने के लिए शास्त्रों के

पन्ने पलटने की जरूरत नहीं। प्रयत्न द्वारा और यम-नियमों के पालन से हम मनुष्यों को हमेशा उन्नत से उन्नततर बनते देखते हैं।

—मोतीहारी, १३।१।१९१८। अंग्रेजी। 'माई डियर चाइल्ड।' सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० १३३]

१३. शुद्ध धर्म-वृत्ति

इस कठिन कलिकाल में शुद्ध धर्म-वृत्ति विरली ही जगह देखने में आती है। ऋषियों, मुनियों, साधुओं आदि के नाम से जो लोग आज हमें भ्रमण करते हुए दिखाई देते हैं, उनमें यह वृत्ति शायद ही कभी दीख पड़ती हो। यह तो सभी देख सकते हैं कि धर्म के कोष की चाबी उनके पास नहीं है। धर्म क्या है, इसे भक्त-शिरोमणि कवि नरसी मेहता ने एक ही सुन्दर वाक्य में बहुत अच्छी तरह प्रकट किया है। वह कहते हैं :—

ज्यां लगी आतमा-तत्व[1] चीन्यो नहीं,
त्यां लगी साधना सर्व जूठी।

यह अपने अनुभव-सागर में से निकला हुआ उनका एक वचन है। इससे हमारी समझ में आ जाता है कि महातपस्वी या योग की सारी क्रियाएँ जाननेवाले महायोगी में भी हमेशा धर्म का वास नहीं होता।.....प्रत्येक युग में मोक्ष की ओर ले जाने वाली कुछ प्रधान प्रवृत्तियाँ दीख पड़ती हैं। जब-जब धर्म की शिथिलता दीख पड़ती है, तब-तब ऐसी ही किसी प्रधान प्रवृत्ति के जरिए धर्म-जागृति होती है। ऐसी प्रवृत्ति हमेशा तत्कालीन वातावरण के अनुरूप हुआ करती है।

—१९।२।१९१८ के पूर्व। गुजराती से। 'गोपालकृष्ण गोखलेना व्याख्यानो; खण्ड १। सं० गां० वां०; खण्ड १४; पृष्ठ १८८]

१४. धर्म-साधना

मेरा यह अटल विश्वास है कि धर्म की साधना का उपाय धर्माचरण करना है; भजन गाना और कीर्तन करना भर नहीं। हमें आत्मज्ञान अर्थात् आत्मशक्ति का ज्ञान प्राप्त करना है।

--नडियाद में दिये गये भाषण से, १२।४।१९१८। गुजराती। खेड़ा सत्याग्रह। स० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० ३१९]

---

१. जब तक आतम-तत्व को नहीं पहिचाना, सारी साधना झूठी है।

१५. रूढ़िधर्म त्याज्य है

[श्री रणछोड़लाल पटवारी को लिखे गये पत्र से]

.....रूढ़ि-धर्म का तनिक भी आदर नहीं किया जाना चाहिए। शुद्ध धर्म अचल है; रूढ़ि-धर्म समयानुसार बदला जा सकता है।......

—सत्याग्रहाश्रम, सोमवार, गणेश चतुर्थी, ९।९।१९१८। स० गां० वां०, खण्ड १५, पृ० ४७]

१६. व्रत

[सुश्री एस्थर फेरिंग को लिखे गये पत्र से]

किसी बात को करने या न करने का पक्का निश्चय करने का ही नाम व्रत है। मुक्ति-सेना[1] के सदस्यगण आत्मसंयम के सप्ताह में मुरब्बा या अन्य कोई खाद्य पदार्थ एक निश्चित समय तक न खाने का व्रत लेते हैं। लेंट के दिनों में रोमन कैथोलिक ईसाई कुछ परहेज रखते हैं। यह भी व्रत ही है। इन सब बातों में एक से ही परिणामों की अपेक्षा की जाती है, यानी आत्मा की शुद्धि और अभिव्यक्ति। ऐसे संकल्प करके हम शरीर को वश में करते हैं। देह पार्थिव है, जड़ है; आत्मा चेतनामय है। जड़ और चेतन के बीच आन्तरिक संघर्ष हो रहा है। जड़ की चेतन पर विजय हो जाये तो आत्मा का विनाश हुआ समझना चाहिए। यह तो सभी जानते हैं कि जिस हद तक हम शरीर-सुख का भोग करेंगे और आत्मा की उपेक्षा करेंगे, उसी हद तक यह विनाश होगा। शरीर अथवा जड़ तत्व का भी उपयोग तो है ही। वही आत्मा की अभिव्यक्ति का साधन है। किन्तु यह परिणाम तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब शरीर का उपयोग आत्मोन्नति के साधन के रूप में किया जाय। मानव-कुल का बहुत बड़ा भाग अपने शरीर का यह उपयोग नहीं करता। परिणामस्वरूप शरीर अथवा जड़ तत्व की आत्मा अथवा चेतन तत्व पर विजय होती दिखाई देती है। लेकिन हम, जो यह जानते हैं कि यह शरीर सदा परिवर्तनशील है और नश्वर है और उसमें रहनेवाली आत्मा ही अविनाशी है, उन्हें तो दृढ़ संकल्प करके अपने शरीर पर इतना काबू पा लेना चाहिए कि आत्मा की सेवा के लिए वे उसका पूरा उपयोग कर सकें।

---

१. साल्वेशन आर्मी या मुक्ति-सेना की स्थापना १८८० में विलियम बूथ ने की थी। यह संगठन धार्मिक कोटि के सहायता-कार्य करता है।

वाइविल के नये करार (न्यू टेस्टामेण्ट) में यह विचार काफी स्पष्ट कर दिया गया है। परन्तु हिन्दू-शास्त्रों में वह जितनी परिपूर्णता के साथ और विशद रूप में समझाया गया है, उतना मैंने और कहीं नहीं देखा। रामायण और महाभारत के पन्ने-पन्ने पर तुम आत्मसंयम का यह नियम लिखा पाओगी। क्या ये दो ग्रन्थ तुमने पढ़े हैं? न पढ़े हों तो जितनी जल्दी हो सके, ध्यानपूर्वक और श्रद्धा से पढ़ लेने चाहिए। इन दोनों ग्रन्थों में परियों की कहानियों-जैसी वहुत-सी चीजें भी आती हैं। परन्तु ये ग्रन्थ साधारण जनता के लिए लिखे गये हैं, इसलिए इनके रचयिताओं ने जान-बूझकर ऐसी शैली में लिखना पसन्द किया कि आम जनता के लिए वे रोचक वन जायं। करोड़ों लोगों को सत्य समझाने का सरल-से-सरल ढंग उन्होंने अपनाया है, और हजारों वष का अनुभव सिद्ध करता है कि उन्हें इसमें अद्‌भुत सफलता मिली है। मेरी वात अच्छी तरह समझ में न आये अथवा शंका हो तो मुझे लिखो; मैं दुवारा समझाने की कोशिश करूंगा।

—वम्बई, २५।१।१९१९। अंग्रेजी से। स० गां० वां०, खण्ड १५, पृ० ७९,-८०]

- देह पार्थिव है, जड़ है, आत्मा चेतनामय है।
- जड़ की चेतन पर विजय हो जाय तो आत्मा का विनाश समझना चाहिए।
- जिस हद तक हम शरीर-सुख का भोग करेंगे और आत्मा की अपेक्षा करेंगे, उसी हद तक यह विनाश होगा।

१७. उपवास

लोग जव धार्मिक वृत्ति से उपवास करते हैं और अपने दुःख की पुकार ईश्वर के सामने रखते हैं तव उन्हें उसका उत्तर निश्चय ही मिलता है। कठोर-से-कठोर हृदय पर भी उसका असर होता है। सभी धर्मों में उपवास को महासंयम माना गया है। जो स्वेच्छा से उपवास करते हैं, वे उसके द्वारा नम्र वनते हैं और शुद्ध होते हैं। शुद्ध उपवास वड़ी कारगर प्रार्थना है।

—७।५।१९१९। गुजराती। महादेव भाईनी डायरी, खण्ड ५। स० गां० वां०, खण्ड १५, पृ० २९४]

- शुद्ध उपवास वड़ी कारगर प्रार्थना है।

१८. प्रार्थना आत्मा का भोजन है

[श्री रामदास गांधी को लिखे गये पत्र से]

प्रातःस्मरण करते हो? न करते हो तो फिर याद दिलाता हूँ कि अवश्य करना क्योंकि मेरा विश्वास है कि वह बहुत ही श्रेयस्कर है। इसका मूल्य तुम्हें संकट पड़ने पर मालूम होगा तथा विचारपूर्वक किये गये प्रातःस्मरण और सन्ध्यादि का मूल्य तो दिन-प्रतिदिन लगाया जा सकता है। यह तो अपनी आत्मा को भोजन देना है। जैसे शरीर भोजन के विना सूख जाता है, वैसे ही आत्मा भी यदि उसे उचित भोजन न मिले तो मुरझा जाती है।

—आश्रम, १।६।१९१९। गुजराती से। महादेव भाईनी डायरी, खण्ड ५। स० गां० वां०, खण्ड १५, पृ० ३४८]

१९. धर्माचरण और धर्मगुरु

समस्त संसार में धर्म की भावना इतनी गौण हो गई है कि धर्म के नाम पर अधर्म फैल रहा है और मनुष्य स्वयं अपनी अन्तरात्मा को ठग रहा है। कहने में आता है कि हम धर्म का पालन करते हैं, जब कि प्रवृत्ति अधर्म में होती है। अधर्म से रुपया कमाकर उसे धर्म-कार्य में दान करने से यह नहीं कहा जा सकता कि धर्म का पालन हो गया।

हमारा धर्म तो यह है कि हम चाहे भूखों मर जायँ, किन्तु धर्म का त्याग न करें और जबतक हम ऐसा नहीं करते तबतक धर्म हमारे जीवन का आधार नहीं हो सकता।

.....हमारे धर्मगुरु, जिनका कर्तव्य ज्ञान आदि देना है, अपना कर्तव्य भुला बैठे हैं। यह बात चाहे कितनी ही दुःखद क्यों न हो, फिर भी सत्य है। धर्म-गुरु अपने आचरण से अनुयायियों का मार्ग-दर्शन कर सकते हैं। केवल उपदेश देने से श्रोताओं पर प्रभाव नहीं पड़ता।

—बम्बई, २८।६।१९१९। 'गुजराती' ६।७।१९१९। स० गां० वां०, खण्ड १५ पृ० ४१३]

२०. उपवास एवं प्रार्थना

यह मेरी धारणा और मेरा अनुभव है कि यदि उपवास और प्रार्थना सच्चे हृदय से धार्मिक भावना के साथ की जाय तो उससे श्रेष्ठ परिणाम प्राप्त किये जा सकते

हैं। उपवास से वढ़कर शुद्ध करनेवाली कोई वस्तु नहीं है लेकिन प्रार्थना के विना उपवास निष्फल है। यह रुग्ण व्यक्ति को स्वस्थ कर सकता है अथवा यह केवल स्वस्थ व्यक्ति के लिए हो सकता है, जो अनावश्यक रूप से रुग्णता अनुभव करता हो। शुद्ध दिखावे के लिए या दूसरों को कष्ट पहुँचाने के लिए किया गया उपवास कभी शान्त न होनेवाला पाप है। अतएव यह केवल तपस्या के रूप में किसी पर कुछ प्रभाव डालने के लिए किया प्रार्थनापूर्ण उपवास ही है, जिसे धार्मिक उपवास कहा जा सकता है। प्रार्थना का अर्थ प्रभु से सांसारिक सुखों की भिक्षा माँगना या उन वस्तुओं का माँगना नहीं है जिससे किसी का स्वार्थसाधन होता है। यह कष्टित आत्मा की करुण पुकार है। यह समग्र संसार को प्रभावित किये विना रह नहीं सकती और ईश्वर के दरवार को भी इसे अवश्य सुनना होगा। जव कोई व्यक्ति या राष्ट्र किसी वड़ी विपति से ग्रस्त होता है तो उस दुःख के प्रति सच्ची सजगता प्रार्थना है। इस पवित्र करने वाले ज्ञान की उपस्थिति में भोजन आदि भौतिक क्रियाएं कम महत्वपूर्ण हो जाती हैं।.....

—मूल गुजराती। 'नवजीवन', १२।१०।१९१९। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० २३०]

- उपवास से वढ़कर शुद्ध करनेवाली कोई वस्तु नहीं है।
- प्रार्थना के विना उपवास निष्फल है।
- शुद्ध दिखावे के लिए या दूसरों को कष्ट पहुँचाने के लिए किया गया उपवास कभी शान्त न होने वाला पाप है।
- यह (प्रार्थना) कष्टित आत्मा की करुण पुकार है।

२१. धर्म अपरिवर्तनीय है

[कुमारी एस्थर फेरिंग को लिखे पत्र से]

तुम्हारा धर्म सव चीजों से ऊपर होना चाहिए। यह कोई मशीनी चीज़ नहीं, जो इच्छा होने पर वदल दी जाय।

—कलकत्ता जाते हुए मार्ग में, २।९।१९२०। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १८, पृ० २२३]

२२. धर्म-शुद्धि

धर्म को उसकी ग्रन्थि से मुक्त करना निश्चय ही आवश्यक है किन्तु यह भी समान रूप से आवश्यक है कि उन लोगों के नैतिक वहानों का खोखलापन प्रकट

कर दिया जाय जो नैतिक प्राप्तियों के लिए भौतिक सम्पत्ति को तरजीह देते हैं। एक गुण्डे को उसके शोहदेपन से विमुख करने की अपेक्षा एक अज्ञानी धर्मान्ध को उसकी भूल से विमुख करना अधिक सरल है।

—यं० इं०, ८।९।१९२०। अंग्रेज़ी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १८, पृ० २३६]

२३. ब्रह्मचर्य-पालन के नियम

१. लड़के और लड़कियों का पालन-पोषण सरल और प्राकृतिक रूप से इस पूर्ण विश्वास के साथ किया जाना चाहिए कि वे अबोध हैं और रह सकते हैं।

२. इन सबको गर्म और उत्तेजक भोजन, मसाले तथा मिर्च, चिकने पदार्थ, गरिष्ठ पदार्थ जैसे फ्रिटर (फल और अण्डे या दूध से मिलाकर बनी टिकिया), मिठाइयों और तली चीज़ों से बचाना चाहिए।

३. पति-पत्नी को अलग कमरों में रहना चाहिए और एकान्त बचाना चाहिए।

४. शरीर और मन दोनों को सतत और स्वस्थ रूप से सक्रिय रहना चाहिए।

५. जल्दी सोने और जल्दी उठने का नियम सख्ती से पालन करना चाहिए।

६. सभी गन्दा साहित्य बचाना चाहिए। अपवित्र विचारों की काट पवित्र विचार है।

७. थियेटर और सिनेमा को, जो वासना भड़काने की ओर ले जाते हैं, छोड़ देना चाहिए।

८. स्वप्नदोष से चिन्ता नहीं होनी चाहिए। एक सशक्त व्यक्ति के लिए हरबार ठंडे जल से स्नान इस मामले में सबसे अच्छी रोक है। यह कहना ग़लत है कि कभी-कभी सहवास अनैच्छिक स्वप्नदोष से बचाव कर सकता है।

९. सबके ऊपर किसी व्यक्ति को पति-पत्नी के बीच संयम को इतना कठिन नहीं समझना चाहिए कि वह व्यावहारिक रूप से असम्भव हो। इसके विपरीत आत्म-संयम को जीवन का सामान्य और प्राकृतिक व्यवहार समझना चाहिए।

१०. प्रतिदिन पवित्रता के लिए हृदय से निकली प्रार्थना व्यक्ति को प्रगतिशील रूप से पवित्र बनाती है।

—यं० इं०, १३।१०।१९२०। अंग्रेज़ी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी खण्ड १८, पृ० ३४८]

२४. धर्माचरण का मूल तत्व

[स्त्रियों की सभा में दिये गये भाषण से।]

आप सब इस तीर्थ-स्थान में भक्ति की भावना लेकर आये हैं। आप सम्भवतः मानते हैं कि आप डाकोर के दर्शन से पापमुक्त होंगे, या यदि आप गोमती में डुबकी लगायेंगे तो आपके हृदय की अभिलाषाएं स्वीकृत होंगी। आपमें से कुछ लोग यह सोचते होंगे कि इस गांधी की तरह महात्मा के दर्शन से वे पवित्र हो जायंगे। यह सत्य से बहुत परे है। वस्तुतः आप अपने हृदय को पवित्र किये बिना केवल गोमती में स्नान करते हैं तो उसे दूषित करते हैं।...दर्शन तभी लाभप्रद हो सकता है जब हम अपने हृदय को पवित्र करें, उसे सद्विचारों से भरें और आत्मज्ञान प्राप्त करें। आप स्वयं भी कहेंगे मुझ-जैसे संशयात्मा के लिए या एक ईसाई के लिए यह दर्शन क्या लाभ कर सकता है। मैं आपके सामने स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जबतक हृदय और मन पवित्र नहीं हैं, रणछोड़ जी का दर्शन या गोमती में स्नान कोई लाभ नहीं कर सकता।

—डाकोर २७।१०।१९२०। गुजराती। न० जी०, ३।११।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १८, पृ० ३९१]

○ जब तक हृदय और मन पवित्र नहीं है, रणछोड़ जी का दर्शन या गोमती में स्नान कोई लाभ नहीं कर सकता।

२५. ईश्वर का नाम-स्मरण

...ईश्वर का नाम सतत रूप से ओठ पर रहना आवश्यक है। किन्तु तोते की तरह राम-नाम रटना आपको मोक्ष नहीं देगा। यदि आपके हृदय में राम है तो आप दया का अनुभव करेंगे और हृदय में दया रहने पर आप ऐसा व्यवहार नहीं करेंगे जिससे दूसरों को चोट पहुँचे।

—गुजराती। न० जी०, ३।११।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड, १८, पृ० ४०२-०३]

२६. धर्म-पालन

हम धर्म के द्वारा अधर्म को पराजित कर सकते हैं। हम स्वयं धर्म-सम्मत जीवन व्यतीत कर लोगों को अधर्म के मार्ग पर जाने से रोक सकते हैं।

—न० जी०, १४।११।१९२० और २१।११।१९२०। मूल गुजराती। अंग्रेजी से अनूदित]

२७. अधर्म के विनाश का मार्ग

अधर्म को नष्ट करने का मार्ग धर्म की स्थापना करना है।. . .वह व्यक्ति जो धर्म के प्रति आदर नहीं रखता, किस प्रकार दूसरे के प्रति अपने जैसा होने के लिए अंगुली उठा सकता है। चलनी को सूप पर हँसने का क्या अधिकार है? अधर्म केवल धर्म-द्वारा विनष्ट किया जा सकता है।. . .

[मूल गुजराती। न० जी०, २१।११।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृ० ११]

२८. मोक्ष का मार्ग : पवित्रता

[श्री जमनालाल बजाज को लिखे पत्र से]

ऐसा समझो कि अपवित्र विचार से जो मुक्त हो जाय उसने मोक्ष प्राप्त किया। अपवित्र विचारों का सर्वथा नाश बड़ी तपश्चर्या से होता है। उसका एक ही उपाय है। अपवित्र विचारों के आते ही उनके विरुद्ध तुरत पवित्र विचार खड़े कर दें। ईश्वर-प्रसादी से ही यह सम्भव है। यह प्रसादी चौबीसों घण्टे ईश्वर का नाम जपने से तथा वह ईश्वर अन्तर्यामी है, यह जान लेने से ही मिलती है। भले रामनाम जीभ पर ही हो और मन में दूसरे विचार आते रहें। जीभ से रामनाम इतना प्रयत्न-पूर्वक लें कि अन्त में जो जीभ पर हो वही हृदय में भी प्रथम स्थान ले ले। फिर मन चाहे जितना मिथ्या प्रयत्न करे तो भी एक भी इन्द्रिय उसके वश में नहीं होने देनी चाहिए। जो मनुष्य मन जिधर ले जाय उधर इन्द्रियों को भी जाने देता है उसका नाश ही होता है। परन्तु अपनी इन्द्रियों को जो मनुष्य बलात् भी अपने कब्जे में रखता है तो यह आशा है कि वह किसी दिन अपवित्र विचारों पर भी अधिकार कर लेगा। मैं जानता हूँ कि आज भी अगर मैं अपने विचारों के अनुसार अपनी इन्द्रियों को खुली छोड़ दूँ तो आज ही मेरा नाश हो जाय। अपवित्र विचार आयें तो उससे पीछे न हटें बल्कि अधिक उत्साहित हों। प्रयत्न करने का सम्पूर्ण क्षेत्र हमारे पास है। परिणाम का क्षेत्र ईश्वर ने अपने हाथ में रखा है। इसलिए इसकी चिन्ता मत करो। जब मन में अपवित्र विचार आयें, यह समझो कि तुम जानकीबाई[1] के प्रति बेवफा होते हो। और साधु पति अपनी पत्नी के प्रति बेवफा होता ही नहीं। तुम साधु हो। प्राकृत उपाय जानते ही हो। अल्पाहार ही करें। सिर्फ अपने

---

१. श्री जमनालाल बजाज की पत्नी।

सामने की जमीन पर निगाह रखकर ही चलें। आँखें मलिन होने की सम्भावना हो कि उसे फोड़ डालने जितना क्रोध उनपर करना चाहिए। निरन्तर पवित्र पुस्तकों का ही संग रखें। ईश्वर तुम्हारा सब प्रकार रक्षण करे।
—५।१०।१९२२। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृ० २९-३० अ० भा० स० से० स०]

- अपवित्र विचारों का सर्वथा नाश बड़ी तपश्चर्या से होता है।
- जो मनुष्य मन जिधर जाय उधर इन्द्रियों को भी जाने देता है, उसका नाश ही होता है।

२९. धर्म और व्यवहार

धर्म और व्यवहार, ये दोनों सदा परस्पर-विरुद्ध वस्तुएँ नहीं हैं। जब व्यवहार धर्म का विरोधी दीख पड़े तो वह त्याज्य है। धर्म की परीक्षा तभी होती है जब वह व्यवहार में परिणत होता है। धर्म के लिए सामान्य कार्यकुशलता के अलावा कुछ और बातों की ज़रूरत होती है। विवेक, विचार आदि गुणों के बिना धर्म का पालन असम्भव है। आजकल तो धनार्जन में व्यस्त सेठ-साहूकार सरलचित्त से, बिना विचारे, अनेक प्रकार के दान करते हैं। और जो संस्थाएँ उन दोनों का शिकार होती हैं, उनके व्यवस्थापक भी बिना विचार किये उन्हें चलाते हैं और हम उनका अनुमोदन करते हैं। इस तरह तीनों पक्ष के लोग अज्ञान में ठगे जाते हैं और समझते हैं कि वे धर्म करते हैं। सत्य यह है कि इस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक बार पूरा अधर्म होता है। यदि तीनों पक्ष, अथवा एक भी पक्ष विवेकपूर्वक धर्म को समझे और उसके अनुसार चले तो प्रत्येक संस्था शुद्ध धर्म से चमक उठे।
—न० जी०। हि० न० जी०, २७।४।१९२४]

- जब व्यवहार धर्म का विरोधी दीख पड़े तो वह त्याज्य है।

३०. शास्त्रार्थ

शास्त्रार्थ का व्यवसाय वकीलों के पेशे की तरह है। शास्त्रार्थ करनेवाला स्याह को सफ़ेद और सफ़ेद को स्याह करके दिखा सकता है। इसका अनुभव किसे नहीं होता? बहुत से वेद-वाद-रत प्राणी वेद से अनेक बातें सिद्ध करते हैं। और वैसा ही नाम धारण करनेवाले अन्य अनेक लोग वेद से उनके विरुद्ध बातें जोर देकर सिद्ध करते हैं। मैं अपने-जैसे प्राकृत मनुष्यों को एक सरल उपाय बतलाता हूँ, जिसका

अनुभव मैंने किया है। मैंने प्रत्येक धर्म का विचार करके उसका लघुत्तम निकाल रखा है। अनेक सिद्धान्त अपरिवर्तनीय-से मालूम होते हैं। अनुभव उनका अनादर नहीं कर सकता। भक्त तुलसीदास ने आधे दोहे में स्पष्ट कह दिया—दया धरम को मूल है। सत्य के सिवा धर्म नहीं, यह सनातन वचन है। किसी भी धर्म ने इन सूत्रों को अस्वीकार नहीं किया है। ऐसे प्रत्येक वचन को, जिसके विषय में धर्मशास्त्र का वचन होने का दावा किया गया हो, सत्य की निहाई पर दया रूपी हथौड़े से पीट कर देख लेना चाहिए। अगर वह पक्का मालूम हो और टूट न जाय तो (उसे) ठीक समझना चाहिए। नहीं तो हजारों शास्त्रवादियों के रहते हुए भी नेति-नेति कहते रहना चाहिए। अखा[1] की अनुभव-वाणी में शास्त्रार्थ एक अन्धा कुआँ है। जो उसमें गिरता है, वह मरता है। आत्मा एक है; शरीर मात्र में उसका निवास है।

—न० जी०। हि० न० जी०, २९।६।१९२४]

○ अखा की अनुभव-वाणी में शास्त्रार्थ एक अन्धा कुआँ है। जो उसमें गिरता है, वह मरता है।

○ आत्मा एक है; शरीर-मात्र में उसका निवास है।

३१. एक के आध्यात्मिक लाभ में सबका लाभ

...मैं विश्वास नहीं करता कि एक व्यक्ति को तो आध्यात्मिक लाभ हो सकता है, पर उसके आस-पास वालों को हानि। मैं अद्वैत में विश्वास करता हूँ; मैं मनुष्य की परम आवश्यक एकता में भी विश्वास करता हूँ इसीलिए मैं सभी जीव-धारियों की एकता में विश्वास करता हूँ। अतएव मुझे तो विश्वास है कि एक मनुष्य के आध्यात्मिक लाभ के साथ सारे संसार का लाभ होता है। इसी तरह एक मनुष्य के अध:पतन के साथ उस सीमा तक सारे संसार की अधोगति होती है।...

—यं० इं०। हि० न० जी०, ७।१२।१९२४]

३२. मजबूर करना धर्म की निन्दा है

...हिन्दू, मुस्लिम अथवा किसी भी धर्म में दूसरे धर्म के साथ लड़ना हराम है। किसी भी इंसान को मजबूर करना धर्म की निन्दा करना है।

—न० जी०। हि० न० जी०, १४।१२।१९२४]

---

१. एक गुजराती कवि।

३३. संकल्प-शक्ति और चमत्कार

[एक मनोविज्ञान शास्त्री-द्वारा गांधी जी से किये गये प्रश्न और उनके उत्तर।]

प्रश्न—आप स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति को मानते हैं?

उत्तर—मैं मानता हूँ कि मैं परिस्थिति के अधीन हूँ; देश और काल के अधीन हूँ। फिर भी परमेश्वर ने मुझे कुछ स्वतन्त्रता दे रखी है और मैं उसकी रक्षा कर रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि धर्म और अधर्म को जानकर उनमें से जो पसन्द हो उसे ग्रहण करने की मुझको स्वतन्त्रता है। मुझको ऐसा कभी प्रतीत नहीं हुआ कि मुझे स्वतन्त्रता नहीं है। परन्तु यह निर्णय करना कठिन है कि कोई कार्य करने की स्वतन्त्रता अपना रूप बदलकर कहाँ कर्त्तव्य बन जाती है। अवशता और परवशता की सीमा बहुत ही सूक्ष्म है।

प्रश्न—आप चमत्कारों में विश्वास रखते हैं? आग पर चलना तथा ऐसी हो दूसरी जो बातें सुनी जाती हैं, उनके बारे में आपकी क्या राय है?

उत्तर—यह सच हो सकता है। पर मैंने कभी इस पर गौर नहीं किया; इसमें कभी दिलचस्पी नहीं ली। हमारे शास्त्र तो इसका निषेध करते हैं। जो इसके मोह-जाल में फँसते हैं वे मानो जन्म-मरण के फेरे में फंस चुके हैं और उनके मुक्ति का मार्ग हीं है। शास्त्र-वचन तो यही है। पर मैं यह नहीं मानता कि ऐसी बातें असम्भव हैं।

प्रश्न—पर क्या जनकल्याण के लिए इसका उपयोग नहीं हो सकता?

उत्तर—नहीं; यदि ऐसा होता तो इन चमत्कारियों के द्वारा अब तक कुछ न-कल्याण हुआ होता। फिर यह कोई ऐसी शक्ति नहीं जो आसानी से प्राप्त र ली जाय या जिसकी जरूरत भी हो। यदि ऐसा होता तो वह सत्यानाश कर ती। प्रकृति के नियम को उलट देने में क्या आनन्द है? यदि किसी के हृदय में ही तरंग उठे कि मैं सहारा के रेगिस्तान में पानी निकालूंगा और वह निकाल भी तो इससे क्या लाभ? कुदरत का तख्ता उलटने से लाभ ही क्या?

–न०जी०। हि० न० जी०, १४।१२।१९२४]

- अवशता और परवशता की सीमा बहुत ही सूक्ष्म है।
- प्रकृति के नियम को उलट देने में क्या आनन्द है?

३४. राम-नाम

[श्री घनश्यामदास बिड़ला को लिखे पत्र से।]

इस कलि-काल में मैं राम-नाम को बड़ी वस्तु समझता हूँ। मेरे अनुभव में ऐ मित्र हैं, जिनको रामनाम से बड़ी शान्ति मिली है। राम-नाम का अर्थ ईश्वर

नाम है; मन्त्र भी वही फल देता है। जिस नाम का अभ्यास हो उसका स्मरण करना चाहिए। विषयासक्त संसार में चित्त-वृत्ति का निरोध कैसे हो, ऐसा प्रश्न होता ही रहता है।...निर्विकार बनना शक्य है, इसमें मुझे कोई शक नहीं। प्रत्येक मनुष्य का यह चेष्टा करना अपना कर्त्तव्य है। निर्विकार होने के साधन हैं। साधनों में राजा राम-नाम है। प्रातःकाल उठते ही राम-नाम लेना और राम से कहना 'मुझे निर्विकार कर' —मनुष्य को अवश्य निर्विकार करता है। किसी को आज, किसी को कल। शर्त्त यह है कि यह प्रार्थना हार्दिक होनी चाहिए। बात यह है कि प्रतिक्षण हमारे स्मरण में हमारी आँखों के सामने ईश्वर की अमूर्त्त मूर्ति खड़ी होनी चाहिए। अभ्यास से इस बात का होना सरल है।

—बम्बई, १३।४।१९२५। 'गांधी जी की छत्रछाया में']

३५. राम-नाम की महिमा

हम पापों का प्रायश्चित्त तो तपश्चर्या के द्वारा कर सकते हैं। पाप का प्रक्षालन गायत्री के जप से हो सकता है। पर उसके लिए मैं अवकाश नहीं देखता। इन तमाम महाजंजालों से छूटने का रामबाण उपाय तुलसीदास ने राम-नाम बताया है।...

राम-नाम के प्रताप से पत्थर तैरने लगे। राम-नाम के बल वानरसेना ने रावण के छक्के छुड़ा दिये; रामनाम के सहारे हनुमान ने पर्वत उठा लिया और राक्षसों के घर अनेक वर्ष रहने पर भी सीता अपना सतीत्व बचा सकीं। भरत ने चौदह वर्ष तक प्राण धारण कर रखा, क्योंकि उनके कण्ठ से राम-नाम के सिवा दूसरा कोई शब्द नहीं निकलता था। इसी कारण तुलसीदास ने कहा कि कलिकाल का मल धो डालने के लिए राम-नाम जपो।

इस प्रकार प्राकृत और संस्कृत, दोनों प्रकार के, मनुष्य राम-नाम लेकर पवित्र होते हैं। परन्तु पावन होने के लिए राम-नाम हृदय से लेना चाहिए। जिह्वा और हृदय को एक रस करके राम-नाम लेना चाहिए।

मैं अपना अनुभव सुनाता हूँ। मैं यदि संसार में व्यभिचारी होने से बचा हूँ तो राम-नाम के कारण। मैंने दावे तो बड़े-बड़े किये हैं, किन्तु यदि मेरे पास राम-नाम न होता तो मैं तीन स्त्रियों को बहिन कहने योग्य न रहता। मुझ पर जब-जब विकट प्रसंग आये हैं, मैंने राम-नाम लिया है और बच गया हूँ। रामनाम ने मेरी अनेक संकटों से रक्षा की है। इक्कीस दिन के उपवास में रामनाम ने ही मुझे शान्ति प्रदान की है और जिलाया है। इस प्रकार यदि कोई मुझसे रामनाम

के गीत गाने को कहे तो मैं सारी रात गाता रहूँ। इसलिए यदि आप अपने को दुखी और पतित मानते हों—और हम सब पतित हैं—तो सुबह शाम और सोते समय राम-नाम रटें और पवित्र हों।

—न० जी०। हि० न० जी०, ३०।४।१९२५]

● राम-नाम ने मेरी अनेक संकटों में रक्षा की है।

३६. ब्रह्मचर्य के लिए एकान्तवास अनिवार्य नहीं

वह ब्रह्मचर्य, ब्रह्मचर्य नहीं, वह संयम संयम नहीं, जिसका पालन जंगल में रहकर ही किया जा सकता हो। कितने ही लोगों के लिए वन-सेवन अभीष्ट है। ऐसा एकान्तवास कम-बेस सबके लिए लाभदायक है। पर वह विचार-वृद्धि के लिए, आत्मबोध के लिए है; अपने को सुरक्षित रखने के लिए कदापि नहीं। संसार के सामान्य व्यवहारों में रहते हुए भी जो अलिप्त रहता है, वही संयमी है; सुरक्षित है।

—न० जी०। हि० न० जी०। २८।५।१९२५]

● संसार के सामान्य व्यवहारों में रहते हुए भी जो अलिप्त रहता है, वही संयमी है; सुरक्षित है।

३७. धर्म-परिवर्तन का अर्थ

धर्म-परिवर्तन का अर्थ यह है कि हम अपना जीवन अपने देश के लिए और उससे भी अधिक ईश्वर के लिए और अपनी आत्मा को शुद्ध, पवित्र बनाने के लिए समर्पित कर दें।

—यं० इं०। हि० न० जी०, २०।८।१९२५]

३८. ईश्वर-भजन

"ईश्वर-भजन, प्रार्थना किस तरह और किसकी करें, यह समझ में नहीं आता। आप तो बार-बार यह लिखते हैं, प्रार्थना करो, प्रार्थना करो। आप समझाइए कि वह कैसे हो सकती है?"

एक सज्जन इस प्रकार पूछते हैं। ईश्वर-भजन का अर्थ है उसका गुण-गान। प्रार्थना का अर्थ है अपनी अयोग्यता की, अपनी अशक्ति की स्वीकृति। ईश्वर

के सहस्र अर्थात् अनेक नाम हैं अथवा यह कहिए कि वह नाम-हीन है। जो नाम हमको अच्छा मालूम हो हम उसी नाम से ईश्वर को भजें, उसकी प्रार्थना करें। कोई उसे राम के नाम से पहिचानते हैं, तो कोई कृष्ण के नाम से; कोई उसे रहीम कहते हैं, तो कोई गाड। ये सब एक ही चैतन्य को भजते हैं। परन्तु जिस प्रकार सब तरह का भोजन सबको नहीं रुचता उसी प्रकार सब नाम सबको नहीं रुचते। जिसको जिसका सहवास होता है उसी नाम से वह ईश्वर को पहचानता है और वह अन्तर्यामी, सर्वशक्तिमान होने के कारण हमारे हृदय के भाव को पहिचानकर हमारी योग्यता के अनुसार हमको जवाब देता है।

प्रार्थना या भजन जीभ से नहीं वरं हृदय से होता है। इसीलिए गूंगे, तुतले और मूढ़ भी प्रार्थना कर सकते हैं। जीभ पर अमृत हो और हृदय में हलाहल हो तो जीभ का अमृत किस काम का? काग़ज़ के गुलाब से सुगन्ध कैसे निकल सकती है? इसलिए जो सरल तरीके से ईश्वर को भजना चाहता हो वह अपने हृदय को यथास्थित रखे। हनुमान की जीभ में जो राम था वही उनके हृदय का स्वामी था और इसीलिए उनमें अपरिमित बल था। विश्वास से जहाज चलते हैं; विश्वास से पर्वत उठाये जाते हैं; इसी के द्वारा समुद्र लाँघा जाता है। इसका अर्थ यह कि जिसके हृदय में सर्वशक्तिमान ईश्वर का निवास है वह क्या नहीं कर सकता? वह चाहे कोढ़ी हो या क्षय-रोगी हो। जिसके हृदय में राम बसते हैं उसके सब रोग सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

ऐसा हृदय किस प्रकार हो सकता है? यह सवाल प्रश्नकर्त्ता ने नहीं पूछा है। परन्तु (यह) मेरे जवाब से निकलता है। मुँह से बोलना तो कोई भी सिखा सकता है, पर हृदय की वाणी कौन सिखा सकता है? यह तो भक्तजन ही कर सकते हैं। भक्त किसे कहें? गीता जी में तीन-स्थल पर विशेष रूप से और सब जगह सामान्य रूप से इसका विवेचन किया गया है। परन्तु उसकी संज्ञा या व्याख्या मालूम हो जाने से भक्तजन नहीं मिल जाते। इस जमाने में यह दुर्लभ है। इसीलिए मैंने सेवा-धर्म प्रस्तुत किया है। जो दूसरों की सेवा करता है उसके हृदय में ईश्वर स्वयं अपनी गरज से रहता है। इसीलिए अनुभवप्राप्त नरसी मेहता ने गाया है—

वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे

और पीड़ित कौन है? अन्त्यज और कंगाल। इन दोनों की सेवा तन, मन, धन से करनी चाहिए।...जो मनुष्य कंगाल के सामने बैठकर चर्खा चलाता और उसे चर्खा कातने के लिए बुलाता है, वह ईश्वर की अनन्य सेवा करता है। भगवान ने कहा है—जो मुझे भक्तिपूर्वक पत्र-पुष्प, जल आदि देता है, वह मेरा सेवक है।

भगवान कंगाल के घर अधिक रहते हैं, यह तो हम निरन्तर सिद्ध होता हुआ देखते हैं। अतएव कंगाल के लिए कातना महा-प्रार्थना है, महायज्ञ है, महा-सेवा है।

. . .ईश्वर की प्रार्थना किसी भी नाम से की जा सकती है। उसकी सच्ची रीति है हृदय से प्रार्थना करना। हृदय की प्रार्थना सीखने का मार्ग सेवा-धर्म है। इस युग में जो हिन्दू हृदय के अन्त्यज-सेवा करता है वह शुद्ध प्रार्थना करता है। हिन्दू तथा हिन्दुस्तान के अन्य धर्मावलम्बी जो कंगाल के लिए हृदय से चर्खा चलाते हैं, वे भी सेवा-धर्म का पालन करते हैं और हृदय की प्रार्थना करते हैं।

—न० जी०। हि० न० जी०, २४।९।१९२५]

- ईश्वर-भजन का अर्थ है उसका गुणगान।
- प्रार्थना का अर्थ है अपनी अयोग्यता. . .अशक्ति की स्वीकृति।
- ईश्वर के सहस्र अर्थात् अनेक नाम हैं।
- प्रार्थना या भजन जीभ से नहीं वरन् हृदय से होता है।
- जिसके हृदय में राम बसते हैं, उसके सब रोग सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।
- हृदय की वाणी कौन सिखा सकता है।
- जो दूसरों की सेवा करता है उसके हृदय में ईश्वर. . .रहता है।
- कंगाल के लिए कातना महाप्रार्थना है, महायज्ञ है, महासेवा है।
- हृदय की प्रार्थना सीखने का मार्ग सेवा-धर्म है।

३९. ईश्वर-भजन

एक पारसी भाई ने ईरान से एक पत्र लिखा है और उसमें अनेक गूढ़ प्रश्न पूछे हैं। मैं उसे यहाँ उन्हीं की भाषा में दे रहा हूँ। उन्होंने दो-तीन स्थल पर अँग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है। मैं यहाँ पर उसका अनुवाद ही दूंगा।

"१. ईश्वर पर मेरी सम्पूर्ण श्रद्धा है। मैं मानता हूँ कि ईश्वर ही सारे संसार को चलाता है; सभी बुरे या भले काम जैसे युद्ध, गरीबी, भूकम्प, चींटियों का अपने पैरों तले कुचला जाना इत्यादि सभी बातें ईश्वर की खुशी से होती हैं और हम लोग अल्पबुद्धि होने के कारण ईश्वर के कामों को समझ नहीं सकते।

२. इस कारण मैं इस दुविधा में पड़ा रहता हूँ कि जब सब चीजों को ईश्वर ही बनाता है और वही अपनी खुशी से सब कुछ करता है, तब मुझ-जैसा तुच्छ मानव खुदा की किस तरह सेवा कर सकता है। यदि ग़रीबी और दुःख खुदा की चछा से ही मनुष्य पर आ गिरते हैं, तब बड़ी-बड़ी संस्थाएं, अस्पताल, सदाव्रत

इत्यादि चला कर हम ईश्वर की सहायता कैसे कर सकेंगे? क्या ईश्वर को मेरे -जैसे आदमियों की सहायता की आवश्यकता है? वह सब कुछ कर सकता है; वह गरीबी दुःख आदि सब एक ही पल में दूर कर सकता है। लेकिन इन्हें वह स्वयं ही रहने देता है।

३. आप मुझे यह बतायें कि मुझको ईश्वर की सेवा किस प्रकार करनी चाहिए? यदि मैं गरीबों को अच्छी सलाह देने जाता हूँ, उनके दुःखों को कम करने का प्रयत्न करता हूँ, तो मुझे यह विचार होता है कि मैं ईश्वर के काम में व्यर्थ हाथ डाल रहा हूँ और मुझे ऐसा कदापि न करना चाहिए।

४. अब हमें इस छोटी -सी जिन्दगी में ईश्वर को किस प्रकार भजना चाहिए? इस संसार में जीवित रहने का और हेतु ही क्या हो सकता है? मेरा मन गोरख-धन्धे में फँस गया है और मुझे यह नहीं मालूम कि कौन-सा मार्ग सच्चा हो सकता है?"

ईश्वर की इच्छा बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता तो मनुष्य के लिए क्या करना बाकी रहेगा? यह प्रश्न अनादि है और सदा ही पूछा जायगा। लेकिन उसका जवाब भी तो उसी सवाल के अन्दर है क्योंकि सवाल पूछने की शक्ति भी ईश्वर ने ही दी है। जिस प्रकार हम लोग एक नियम और कानून के वश में रहते हैं, उसी प्रकार ईश्वर भी रहता है। हमारा कानून और हमारा ज्ञान अपूर्ण होता है, इसलिए हम लोग अपने कानूनों का सविनय और अविनय भंग भी कर सकते हैं। लेकिन ईश्वर तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है, इसलिए वह अपने कानून का कभी भंग नहीं करता। उसके कानून में न कोई बात बढ़ाई जाती है, न घटाई जाती है। उसके कानून और नियम अटल हैं। उसने हमें अनेक प्रकार के विचार करने की और उनमें से कुछ को पसन्द करने की, अच्छा-बुरा समझने की शक्ति दी है और उसी में हमारी स्वतन्त्रता का समावेश होता है। यह स्वतन्त्रता बहुत ही कम है, इतनी कम कि एक ज्ञानी को कहना पड़ा कि जितनी स्वतन्त्रता एक जहाज के तख़्ते पर घूमने फिरने की होती है, वह उससे भी कम है। लेकिन कितनी भी कम हो, वह आख़िर स्वतन्त्रता तो है ही। कम होने पर भी वह इतनी अवश्य है कि मनुष्य उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। दैव और पुरुषार्थ का युग्म कभी एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ता। लेकिन मुक्ति के पथ पर चलनेवालों को दैव कभी बाधा नहीं पहुँचाता। इसलिए हमें अब इस बात का विचार करना चाहिए कि ईश्वर की सेवा किस प्रकार की जाय, उसका भजन कैसे किया जाय?

ईश्वर की सेवा एक ही प्रकार से हो सकती है। गरीबों की सेवा ही ईश्वर-सेवा है। एक चींटी की सेवा की जाय तो वह ईश्वर-सेवा ही होगी। लेकिन चींटियों

के बिलों के पास आटा डालने से उनकी सेवा न होगी। ईश्वर चींटी को कन और हाथी को मन देता है। चींटी को भी जान-बूझकर नहीं कुचलता है; वही उसकी सेवा करता है और इस तरह जो ज्ञानपूर्वक चींटी को भी दुःख नहीं पहुँचाता वह अन्य प्राणियों और अपनी ही जाति के मनुष्य प्राणी को कभी दुःख न पहुँचायेगा। प्रत्येक स्थल और समय पर सेवा का प्रकार बदलता रहता है, यद्यपि वृत्ति एक ही बनी रहती है। दुखी मनुष्य की सेवा करने से ईश्वर की ही सेवा होती है, लेकिन उसमें विवेक होना चाहिए। भूखे मनुष्य को भोजन देने से सेवा ही होगी, यही मान बैठने का कोई कारण नहीं है। जो मनुष्य आलसी है, दूसरे के भरोसे बैठा रहता है और भोजन की आशा रखता है उसे भोजन देना ठीक नहीं है। उसे काम देना पुण्य-कार्य है और यदि वह काम करने के लिए तैयार नहीं है, तो उसे भूखा रखने में ही उसकी सेवा होगी। ईश्वर का नाम जपना, पूजा-पाठ करना आवश्यक है, क्योंकि उससे आत्मा की शुद्धि होती है। जो मनुष्य आत्म-शुद्ध है, वह अपना मार्ग स्पष्ट देख सकता है। लेकिन पूजापाठ ही कुछ ईश्वर-सेवा नहीं है। यह सेवा का साधन है। इसीलिए गुजराती कवि नरसी ने गाया है।

शुं थयुं स्नान सेवा ने पूजा थकी।
शुं थयुं माल ग्रही नाम लीधे॥

इस उत्तर में तीसरे प्रश्न का भी उत्तर मिल जाता है तीसरा प्रश्न है—जीवन का हेतु क्या है ? जीवन का हेतु अपने को पहिचानना है। नरसी की भाषा में कहें तो:—

ज्यां लगी आतना तत्व चीन्यों नहीं।
त्यां लगी साधना सर्व झूठी[1]॥

और आत्मतत्व—आत्मज्ञान, जीवमात्र के साथ अर्थात् ईश्वर के साथ ऐक्य —तन्मयता सिद्ध करने से ही प्राप्त होता है। जीवमात्र के साथ ऐक्य करने के मानी हैं उनके दुःखों को समझकर स्वयं दुखी होना और उनके दुःख का निवारण करना।

—न० जी०। हि० न० जी०। २९।१०।१९२५]

- ईश्वर की इच्छा बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।
- हमारा कानून और हमारा ज्ञान अपूर्ण होता है।

---

१. जब तक आत्मतत्व नहीं पहचाना तबतक सभी साधनाएँ झूठी हैं।

- ईश्वर...सर्वज्ञ और शक्तिमान है।...उसके कानून और नियम अटल हैं।
- दैव और पुरुषार्थ का युग्म कभी एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ता।
- ग़रीबों की सेवा ही ईश्वर-सेवा है।
- दुःखी मनुष्य की सेवा करने से ईश्वर की ही सेवा होती है।
- जो मनुष्य आत्म-शुद्ध है, वह अपना मार्ग स्पष्ट देख सकता है।
- जीवन का हेतु अपने को पहिचानना है।

४०. बुद्धिवाद बनाम श्रद्धावाद

['प्रार्थना में विश्वास नहीं' शीर्षक लेख में गांधी जी ने एक विद्यार्थी को प्रार्थना की उपादेयता बताई थी। उस विद्यार्थी के अनास्थापूर्ण दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए एक भाई ने गांधी जी को लम्बा पत्र लिखा। इसका आशय था कि विद्यार्थी का दृष्टिकोण बुद्धिवादी है, जो तर्क से सन्तुष्ट होकर ही मान्यता देता है और गांधी जी का श्रद्धावादी जो कहता है, पहिले विश्वास करो फिर स्वयं ही सन्तुष्ट हो जाओगे। श्रद्धावाद ने अन्ध धर्म-कट्टरता और साम्प्रदायिक विद्वेष को जन्म दिया है। यदि समस्त आविष्कारक और वैज्ञानिक श्रद्धाभीरु होते तो संसार की प्रगति नहीं हो सकती थी। इन भाई को गांधी जी ने जो उत्तर दिया, उसके आवश्यक अंश यहां दिये जा रहे हैं।—सम्पा०]

...पत्रलेखक को...एक शब्द और बन्धन में बाँधे हुए है। यह महाशब्द है बुद्धिवाद। मुझे इसकी पूरी खूराक मिली थी। अनुभव ने मुझे इतना नम्र बना दिया है कि मैं बुद्धि की यथार्थ सीमाओं को समझ सकूँ। जिस प्रकार ग़लत स्थान में रखे जाने से कोई चीज़ गन्दी मानी जाने लगती है, उसी प्रकार अनवसर-प्रयोग करने पर बुद्धि को भी पागलपन कहा जाता है। जिसका जहाँ तक अधिकार है, अगर हम उसका प्रयोग वहीं तक करें तो सब कुछ ठीक रहेगा।

बुद्धिवाद के समर्थक पुरुष प्रशंसनीय होते हैं। किन्तु बुद्धिवाद को तब भयंकर राक्षस कहा जाना चाहिए, जब वह सर्वज्ञता का दावा करने लगे। बुद्धि को सर्वज्ञ मानना, उतनी ही बुरी मूर्तिपूजा है, जितनी ईंट-पत्थर को ईश्वर मानकर पूजना।

प्रार्थना की उपयोगिता को तर्क से निकालकर किसने जाँचा है? अभ्यास के बाद ही इसकी उपयोगिता का पता चलता है। संसार की साक्षी यही है। जिस

समय 'कार्डिनल न्यूमैन' ने गाया था, 'मेरे लिए एक पग ही काफी है'-उन्होंने बुद्धि का त्याग नहीं कर दिया था, किन्तु प्रार्थना को उससे ऊँचा स्थान दिया था। शंकराचार्य तो तार्किकों के राजा थे। संसार के साहित्य में शायद ही कोई ऐसी वस्तु हो, जो शंकर के तर्कवाद के आगे बढ़ सके। किन्तु उन्होंने पहिला स्थान प्रार्थना और भक्ति को दिया था।

पत्र-लेखक ने क्षणिक और क्षोभकारी घटनाओं को लेकर सामान्य नियम बनाने में गलती की है। इस संसार में सभी वस्तुओं का दुरुपयोग होने लगता है। मनुष्य की सभी वस्तुओं के लिए यह नियम लागू प्रतीत होता है। इतिहास में अनेक भीषण अत्याचारों के लिए धर्म के झगड़े ही उत्तरदायी हैं। यह धर्म का नहीं, मनुष्य की दुर्दमनीय पशुता का दोष है।...

मैं ऐसे किसी बुद्धिवादी को नहीं जानता जिसने एक भी काम केवल विश्वास के वशीभूत होकर न किया हो, बल्कि सभी कामों को तर्क-द्वारा निश्चित करके किया हो। किन्तु हम उन करोड़ों आदमियों को जानते हैं, जो अपना नियमित जीवन इसी कारण बिता पाते हैं कि हम सबके बनानेवाले सृष्टिकर्त्ता में उनका अटल विश्वास है। वह विश्वास ही एक प्रार्थना है। वह लड़का, जिसके पत्र के आधार पर मैंने अपना लेख लिखा था, उस बड़े मानव-समुदाय में एक है और उसे तथा उसी के समान दूसरे सत्य-शोधकों को अपने पथ पर अडिग रहने के लिए लिखा गया था; पत्र-लेखक-जैसे बुद्धिवादियों की शान्ति लूटने के लिए नहीं।

मगर वे तो उस झुकाव से ही झगड़ते हैं, जो शिक्षक या गुरुजन बालकों को बचपन में देना चाहते हैं। लेकिन यह कठिनाई (अगर यह कठिनाई है तो) बचपन की उस उम्र के लिए, जब असर डाला जा सकता है, बराबर बनी रहेगी; शुद्ध धर्म-विहीन शिक्षा भी बच्चों के मन की शिक्षा का ही एक तरीका है। पत्र-लेखक यह स्वीकार करने की भलमनसाहत दिखलाते हैं कि मन और शरीर को शिक्षा दी जा सकती है और रास्ता सुझाया जा सकता है। आत्मा के लिए जो शरीर और मन को बनाती हैं, उन्हें कोई चिन्ता नहीं । शायद उसके अस्तित्व में ही उन्हें कुछ शंका है। मगर उनके अविश्वास से उनका कोई काम न निकलेगा।.. दूसरे लोग जिस प्रकार बच्चों के मन और शरीर पर असर डालना चाहते हैं, वैसे ही आत्मा पर भी प्रभाव डालना जरूरी है। सच्ची धर्म-भावना का उदय होते ही, धार्मिक शिक्षा के दोष गायब हो जायँगे। धार्मिक शिक्षा को छोड़ देना उसी प्रकार है, जिस प्रकार किसी किसान ने यह न जान कर कि खेत का उपयोग कैसे करना चाहिए, उसमें घास-पात उग जाने दिया हो।...

—यं० इं०। हिं० न० जी०, १४।१०।१९२६]

- बुद्धिवाद के समर्थक पुरुष प्रशंसनीय हैं।
- बुद्धि को ही सर्वज्ञ मानना......बुरी मूर्तिपूजा है।
- सच्ची धर्म-भावना के उदय होते ही धार्मिक शिक्षा के दोष गायब हो जायँगे।

४१. धार्मिक भावना

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

धार्मिक भावना होने की सच्ची कसौटी यह है कि मनुष्य ऐसी बहुत-सी चीजों में से , जो सभी थोड़ी-बहुत ठीक हैं, जो सबसे ज्यादा ठीक हो उसे चुन सके। भगवद्गीता के एक श्लोक का यही अर्थ है, जिसमें कहा गया है—पर धर्म कितना ही बड़ा हो तो भी उसका पालन करने की अपेक्षा स्वधर्म का पालन करते हुए मर जाना ज्यादा अच्छा है, फिर वह कितना ही छोटा क्यों न हो।

—नन्दीपर्वत, २८।५।१९२७। बापू के पत्र : मीरा के नाम, न० जी० प्र० मं०]

४२. ध्यानावस्था

जो अपने कर्त्तव्य के ध्यान में रम जाता है, वह दूसरी वस्तुओं से उदासीन हो जाता है। पत्थर तटस्थ है, परन्तु उसे हम जड़ मानते हैं। उसके मुकाबले में हम चेतन हैं। और इतने पर भी यदि प्राप्त हुए कार्य में ही रत रहें और दूसरी किसी बात का विचार तक न करें, तो हमारा जीना सफल माना जा सकता है। ऐसी ध्यानावस्था एकाएक नहीं आती।

— ८।८।१९२७। मौनवार। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, पृ० ४१ न० जी० प्र० मं०]

४३. प्रार्थना में विश्वास नहीं

किसी राष्ट्रीय संस्था के प्रधान के नाम एक विद्यार्थी ने पत्र लिखा है, जिसमें उसने प्रधान से वहाँ की प्रार्थना में न शामिल होने के लिए क्षमा माँगी है। यह पत्र नीचे दिया जाता है:—

"प्रार्थना पर मेरा विश्वास नहीं है। इसका कारण यह कि मेरी धारणा है कि ईश्वर-जैसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी हमें प्रार्थना करनी चाहिए। मुझे यह

कभी जरूरी नहीं मालूम होता कि मैं अपने लिए एक ईश्वर की कल्पना करूँ। अगर मैं उसके अस्तित्व को मानने की झंझट में न पड़ूँ और स्वच्छ हृदय से अपना काम करता जाऊँ, तो मेरा क्या विगड़ता है ?

"सामुदायिक प्रार्थना तो विल्कुल ही व्यर्थ है। क्या इतने सारे व्यक्ति साधारण से साधारण चीज़ पर भी मानसिक एकाग्रता के साथ वैठ सकते हैं ? यदि नहीं, तो छोटे-छोटे और अवोध वालकों से यह आशा कैसे रखी जाय कि वे अपने चंचल मन को हमारे महान शास्त्रों के जटिल तत्व, उदाहरणार्थ आत्मा, परमात्मा और मानव मात्र की एकता इत्यादि वाक्यों के गूढ़ मर्म पर एकाग्रचित्त हों। इस महान कार्य को निर्धारित समय पर विशेष व्यक्ति के मिलने पर ही करना पड़ता है। क्या उस कल्पित ईश्वर के प्रति प्रेम इस प्रकार की किसी यान्त्रिक क्रिया-द्वारा वालकों के हृदय में पैठ सकता है ? हर प्रकार के स्वभाववाले लोगों से यह आशा रखना कि वह कल्पित ईश्वर के प्रति ही प्रेम रखें, इसके समान नासमझी की वात और क्या हो सकती है ? इसलिए प्रार्थना वलात् न कराई जानी चाहिए। प्रार्थना वे करें जिनको उसमें रुचि हो और प्रार्थना में रुचि न रखने वाले उसे न करें। दृढ़ विश्वास के विना कोई काम करना अनीतिमूलक एवं पतनकारी है।"

...यह कहना वड़ा आसान है कि मैं ईश्वर को नहीं मानता क्योंकि ईश्वर के वारे में चाहे जो कहा जाय, ईश्वर उसे विना सजा दिये कहने देता है। वह हमारी कृतियों को देखता है। ईश्वर के वनाये हुए किसी भी कानून के खिलाफ़ काम करने से वह काम करनेवाला दण्ड अवश्य पाता है। लेकिन वह सजा, सजा के लिए नहीं होती, वल्कि उसे शुद्ध करने और उसे अवश्य ही सुधारने की विशेषता रखनेवाली होती है। ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता और न उसको सिद्ध होने की जरूरत ही है। ईश्वर तो है ही। अगर वह दीख नहीं पड़ता तो यह हमारा दुर्भाग्य है। उसे अनुभव करने की शक्ति का अभाव एक रोग है और उसे हम किसी न किसी दिन दूर कर देंगे। चाहे हम उसे चाहें या न चाहें।...

प्रार्थना करना याचना करना नहीं है। वह तो आत्मा की पुकार है; वह अपनी त्रुटियों को नित्य स्वीकार करना है। हम में से वड़े से वड़े को मृत्यु, रोग, वृद्धावस्था, दुर्घटना आदि के सामने अपनी तुच्छता का भान हरदम हुआ करता है। जव हमारे मंसूवे क्षणभर में मिट्टी में मिल सकते हैं, जव पल भर में, अचानक खुद हमारा अस्तित्व तक मिट सकता है, तव हमारे मंसूवों का मूल्य ही क्या रहा ? लेकिन अगर हम यह कह सकें, कि हम तो ईश्वर के निमित्त तथा उसकी रचना के अनुसार ही काम करते हैं, तो हम अपने को मेरु की भाँति अचल मान सकते हैं। तव कोई झगड़ा नहीं रह जाता। उस स्थिति में नाशमान कुछ भी नहीं है

तथा दृश्यजगत् ही नाशमान मालूम होगा। तब, केवल तब, मृत्यु और विनाश सब असत् मालूम होते हैं क्योंकि उस स्थिति में मृत्यु या विनाश एक रूपान्तर मात्र है—उसी प्रकार, जिस प्रकार शिल्पी अपने एक चित्र को उससे उत्तम चित्र बनाने के लिए नष्ट कर देता है और जिस प्रकार एक घड़ीसाज एक अच्छी कमानी लगाने के लिए खराब कमानी को फेंक देता है।

सामुदायिक प्रार्थना अत्यन्त बलवती वस्तु है। जो काम हम प्रायः अकेले नहीं करते, उसे हम सबके साथ करते हैं। लड़कों को निश्चय की आवश्यकता नहीं। अगर वे केवल अनुशासन-पालनार्थ ही सच्चे दिल से प्रार्थना में सम्मिलित हों, तो उनको प्रफुल्लता का अनुभव होगा। लेकिन अनेक विद्यार्थी ऐसा अनुभव नहीं करते। वे तो प्रार्थना के समय उल्टे शरारत किया करते हैं। लेकिन इसके बावजूद अप्रकट रूप से होनेवाला फल रुक नहीं सकता। क्या वे लड़के नहीं हैं जो अपने प्रारम्भ काल में प्रार्थना में केवल मजाक करने के लिए सम्मिलित होते थे; लेकिन जो बाद में सामुदायिक प्रार्थना में अटल विश्वास रखने लगे ?

यह बात सभी के अनुभव में आई होगी कि जिनके अन्दर दृढ़ विश्वास नहीं होता, वे सामुदायिक प्रार्थना का सहारा लेते हैं। वे सब लोग जो कि गिर्जाघरों, मन्दिरों और मस्जिदों में इकट्ठे होते हैं, न कोरे टीकाधारी हैं, न पाखण्डी। वे धर्मशील लोग हैं। उनके लिए सामुदायिक प्रार्थना नित्य स्नान की भाँति एक आवश्यक नित्यकर्म है। प्रार्थना के स्थान निरे भ्रम नहीं हैं, जिन्हें जल्दी से जल्दी मिटा देना चाहिए। वे आघात सहते रहने पर भी अब तक मौजूद हैं और अनन्त काल तक बने रहेंगे।

—यं० इं०। हि० न० जी०, ३०।९।१९२७]

- **ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता और न उसके सिद्ध होने की जरूरत ही है।**
- **प्रार्थना करना याचना करना नहीं है; वह तो हृदय की पुकार है।**
- **मृत्यु या विनाश एक रूपान्तर मात्र है।**
- **सामुदायिक प्रार्थना अत्यन्त बलवती वस्तु है।**
- **प्रार्थना के स्थान निरे भ्रम नहीं हैं।**

४४. सत्य की विकृति

एक भाई किसी हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक की सहायता से उसके विद्यार्थियों में गीता पढ़ना शुरू कराने की कोशिश कर रहे हैं। हाल में गीता-पाठ का प्रबन्ध

करने के सम्बन्ध में एक सभा हो रही थी, तभी वीच में किसी वैंक के कोई मैनेजर यह कहते हुए आ कूदे कि 'लड़कों को भला गीता पढ़ने का क्या अधिकार है? यह कुछ खिलौना थोड़े ही है जो लड़कों को खेलने के लिए दिया जाय?' इस घटना के वारे में इन भाई ने एक लम्वा युक्तिपूर्ण पत्र लिखा है। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने परमहंस रामकृष्ण के कुछ उपयुक्त वचन भी दिये हैं, जिनमें से मैं चुनकर कुछ नीचे देता हूँ—

"मैं नवयुवकों से इतना प्रेम क्यों करता हूँ। इसीलिए न कि वे अपने मन के सोलहों आने मालिक हैं जो कि उनकी उम्र वढ़ने के साथ-साथ हिस्सों में वँटने लगता है। घर-गृहस्थी वाले का आधा मन तो अपनी स्त्री में चला जाता है। जव वाल-वच्चे पैदा होते हैं तो चार आना मन उनमें चला जाता है और वाकी चार आना माँ-वाप, धनदौलत, वगैरह में वँट जाता है। इसलिए नवयुवक परमात्मा को सहज ही जान सकते हैं। वड़े वूढ़ों के लिए यह वहुत ही मुश्किल हैं।

"जव सेर भर दूध में सिर्फ एक छटाँक पानी मिलाया गया हो तो थोड़ी ही लकड़ी के खर्च से सहज ही दूध का पानी जलाया जा सकता है, मगर जव तीन पाव पानी हो तव ईंधन भी अधिक लगेगा और दूध सहज ही गाढ़ा नहीं हो सकेगा। नवयुवकों के मन में सांसारिक विकार कम होने के कारण, वे सहज ही ईश्वर की ओर झुक सकते हैं। वड़े-वूढ़ों के साथ यह वात नहीं हो सकती क्योंकि उनके मन में सांसारिक इच्छाओं का वहुत अधिक विकार मिला हुआ होता है।

"नया वाँस सहज ही झुकाया जा सकता है, मगर पुराने वाँस को मोड़ने की कोशिश करने पर वह टूट जाता है। नवयुवकों के हृदयों को ईश्वर की ओर झुकाना सहज है, मगर वूढ़ों का दिल झुकाने पर भी छूट भागता है।

"मनुष्यों का मन सरसों के वीज जैसा होता है। जिस तरह सरसों के वीज फैल जाते हैं तो उन्हें इकट्ठा करने में मुश्किल होता है उसी तरह मन जव कई ओर वँट जाता है और सांसारिक जंजालों में फँस जाता है तव उसे एकाग्र करना वहुत कठिन होता है। नवयुवकों का मन कई ओर वँटा हुआ नहीं होने के कारण किसी वस्तु पर सहज ही एकाग्र किया जा सकता है, जव कि वूढ़े आदमी का मन सांसारिक वातों में लगा हुआ होने के कारण, उसके लिए उसे खींचकर परमात्मा में लगाना वहुत ही कठिन होता है।

मैंने वेदपाठ के सम्बन्ध में अधिकार की वात सुनी थी, मगर मैं यह वात कभी नहीं जानता था कि गीता पढ़ने के लिए भी वैंक-मैनेजर की धारणा के अनुसार योग्यता की जरूरत है। अगर मैनेजर साहव उन योग्यताओं को वतलाते तो वड़ा अच्छा होता। गीता में स्पष्ट कहा है कि हँसी उड़ानेवालों को छोड़कर

सभी को गीता पढ़ने का अधिकार है। अगर हिन्दू विद्यार्थियों को गीता पढ़ने का अधिकार नहीं है तो उन्हें कोई धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने का अधिकार नहीं है। सच पूछिए तो हिन्दूधर्म की मौलिक कल्पना यह है कि विद्यार्थी को ब्रह्मचारी का जीवन बिताना चाहिए और धर्म के ज्ञान और आचरण के साथ-साथ जीवन शुरू करना चाहिए, ताकि वह धर्म के ज्ञान को पचा भी सके और धर्माचरण को अपने जीवन में मिला सके। प्राचीन काल के विद्यार्थी धर्म को जानने के पहिले धर्म का आचरण शुरू कर देते थे। आचरण के बाद उन्हें आवश्यक ज्ञान होता था जिससे वे अपने लिए विहित कर्त्तव्य का कारण समझते थे।

अधिकार तो वहाँ निश्चय ही था। मगर यह अधिकार पाँच यमों या संयमों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य—का था। जो कोई धर्म का अध्ययन करना चाहता था, उसे इन नियमों का पालन करना पड़ता था। धर्म के इन मूल आधारों को सिद्ध करने के लिए धार्मिक ग्रन्थों तक दौड़ जाने की जरूरत नहीं है।

दूसरे कई अर्थभरे शब्दों के समान अधिकार शब्द की भी विकृति हो रही है और कोई पुरुष केवल ब्राह्मण कहे जाने के कारण शास्त्रों को पढ़ने और उनका अर्थ समझाने का अधिकार दिखलाता है, जब कि दूसरा कोई आदमी अगर केवल अपने जन्म के कारण अछूत कहा जाता है तो वह चाहे जैसा पवित्रात्मा क्यों न हो शास्त्र नहीं पढ़ सकता।

लेकिन गीता जिस महाभारत का एक अंश है, उसके लेखक ने इस व्यर्थ के उज्र का जबाब देने के लिए ही वह महाग्रन्थ लिखा था और जाति का विचार न करते हुए उसे सबके लिए, मैं मान लेता हूँ कि जो मेरे बतलाए पाँच यमों का पालन करते हैं उनके लिए, उसे सुलभ बनाया। मैं यह भी जोड़ देता हूँ—"मैं मान लेता हूँ" क्योंकि लिखने के समय मुझे याद नहीं है कि महाभारत पढ़ने के पहिले पाँच यम-नियमों का पालन आवश्यक शर्त्त थी या नहीं। अनुभव से मालूम होता है कि धार्मिक ग्रन्थों को ठीक-ठीक समझने के लिए हृदय की पवित्रता और श्रद्धालुता की आवश्यकता है।

मुद्रण-युग ने सभी बन्धन तोड़ दिये हैं और हँसी उड़ानेवालों को भी धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने की अधिक नहीं तो कम से कम वह स्वतन्त्रता तो है ही जो धार्मिक प्रवृत्ति वालों को है। लेकिन हम तो यहाँ पर लड़कों को धार्मिक शिक्षण और अभ्यास के रूप में गीता पढ़ाने के औचित्य पर विचार कर रहे हैं। और मैं यह सोच नहीं सकता कि कुछ लोग ऐसे होंगे कि जो ऐसी शिक्षा के लिए आवश्यक संयम को लड़कों की अपेक्षा अधिक खुशी से पालेंगे। मगर खेद के साथ यह स्वीकार करना पड़ता है

कि न तो अधिकांश विद्यार्थी ही और न उनके शिक्षक ही पाँच यमों के अधिकार का विचार करते हैं।

—यं० इं०। हि० न० जी० ८।१२।१९२७]

- हँसी उड़ानेवालों को छोड़कर सभी को गीता पढ़ने का अधिकार है।
- विद्यार्थी को ब्रह्मचारी का जीवन बिताना चाहिए।
- अधिकार शब्द की......विकृति हो रही है।
- धार्मिक ग्रन्थों को समझने के लिए हृदय की पवित्रता और श्रद्धालुता की आवश्यकता होती है।

४५. प्रार्थना का उपयोग

हम प्रार्थना में आते हैं तो कुछ गीत सुनने के लिए नहीं, कुछ यह देखने के लिए नहीं कि फलाँ ने खूब अच्छा गाया, और फलां ने नहीं मगर इसलिए कि प्रार्थना में जो कुछ सुना हो, उसमें का कुछ अंश हृदय में वचा रखें और सारे दिन उसकी शिक्षा को अपने जीवन से मिलाया करें। अगर यह न हुआ तो प्रार्थना में आना, न आना, दोनों ही वरावर है।...

—न० जी०। हि० न० जी० १९।१।१९२८]

४६. धर्मों में भ्रातृभाव

धर्मों के भ्रातृमण्डल का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह एक हिन्दू को अधिक अच्छा हिन्दू, एक मुसलमान को अधिक अच्छा मुसलमान और एक ईसाई को अधिक अच्छा ईसाई वनने में मदद करे। कृपापूर्ण सहिष्णुता का रवैया अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृभावना के विपरीत है। अगर मेरे मन में यह हो कि मेरा धर्म तो थोड़ा-बहुत सच्चा है और दूसरों के धर्म थोड़े या वहुत झूठे हैं, तो मुझे उनके प्रति थोड़ा-सा भ्रातृभाव चाहे हो, लेकिन वह उस भ्रातृभाव से विल्कुल भिन्न प्रकार का होता है जिसकी हमें अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृमण्डल से जरूरत है। दूसरों के लिए हमारी प्रार्थना यह नहीं होनी चाहिए, कि हे ईश्वर, उन्हें वही प्रकाश दे जो तू ने मुझे दिया है, परन्तु यह होनी चाहिए कि उन्हें वह सारा प्रकाश और सत्य दे जिसकी उन्हें अपने सर्वोच्च विकास के लिए आवश्यकता है। प्रार्थना इतनी ही कीजिए कि आपके मित्र अधिक अच्छे मनुष्य वन जायं, चाहे उनके धर्म का स्वरूप कुछ भी हो।

फिर भी आपके जाने विना ही आपका अनुभव उनके अनुभव का एक अंग वन सकता है।

—सावरमती (फेडरेशन आफ़ इण्टर नेशनल फेलोशिप्स की पहिली वार्षिक वैठक की रिपोर्ट) १९२८]

४७. सर्व धर्म-समभाव

हमारे व्रतों में जो व्रत सहिष्णुता के नाम से पहिचाना जाता था, उसे यह नाम दिया गया है। सहिष्णुता शव्द अंग्रेजी शव्द 'टालरेशन' का अनुवाद है। वह मुझे पसन्द नहीं था, लेकिन दूसरा नाम सूझता नहीं था। काका साहव को भी वह पसन्द नहीं था। उन्होंने सर्व-धर्म-समादर शव्द सुझाया। मुझे वह भी पसन्द नहीं आया। दूसरे धर्मो को सहन करने में उनकी (धर्मो की) कमी मान ली जाती है। आदर में कृपा का भाव आता है। अहिंसा हमें दूसरे धर्मों के लिए समभाव —वरावरी का भाव सिखाती है। आदर और सहिष्णुता अहिंसा की नजर से काफी नहीं है। दूसरे धर्मों के लिए समभाव रखने के मूल में अपने धर्म की अपूर्णता का स्वीकार आ ही जाता है।. . .अगर हम अपूर्ण हैं तो हमारी कल्पना का धर्म भी अपूर्ण है। स्वतन्त्र धर्म सम्पूर्ण है। उसे हमने देखा नहीं है, जैसे ईश्वर को देखा नहीं है। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमें हमेशा हेरफेर हुआ करते हैं, होते रहेंगे। ऐसा हो तभी हम ऊपर और ऊपर उठ सकते हैं; सत्य की ओर, ईश्वर की ओर रोज-व-रोज आगे वढ़ सकते हैं। अगर हम आदमी के माने हुए सव धर्मों को अपूर्ण मानें, तो फिर किसी को ऊंचा या नीचा मानने की वात नहीं रहती। सव धर्म सच्चे हैं, लेकिन सव अपूर्ण हैं, इसलिए उनमें दोप हो सकते हैं। समभाव होने पर भी हम उनमें (सव धर्मों में) दोष देख सकते हैं। अपने धर्म में भी दोप देखें। उन दोपों के कारण उसको (अपने धर्म को) छोड़ न दें, लेकिन दोपों को मिटायें। अगर इस तरह समभाव रखें तो दूसरे धर्मों में से जो कुछ लेने योग्य हो उसे अपने धर्म में जगह देने में हमें हिचकिचाहट नहीं होगी। इतना ही नहीं वल्कि ऐसा करना हमारा धर्म हो जायगा।

सव धर्म ईश्वर के दिये हुए हैं, लेकिन वे मनुष्य की कल्पना के हैं। और मनुष्य उनका प्रचार करता है, इसलिए वे अपूर्ण हैं। ईश्वर का दिया हुआ धर्म पहुँच के परे—अगम्य है। इंसान उसे (अपनी) भापा में रखता है, उसका अर्थ भी इंसान करता है। किसका अर्थ सच्चा है? सव अपनी-अपनी दृष्टि से, जवतक उस दृष्टि के अनुसार वरतते हैं तवतक सच्चे हैं। लेकिन सवका ग़लत होना भी

असम्भव नहीं। इसलिए हम सब धर्मों के प्रति समभाव रखें। इससे अपने धर्म के लिए उदासीनता नहीं आती, लेकिन अपने धर्म के लिए हमारा जो प्रेम है वह अन्धा न होकर ज्ञानवाला होता है, और इसलिए वह ज्यादा सात्विक, निर्मल बनता है। सब धर्मों की ओर समभाव हो तभी हमारे दिव्यचक्षु खुलें। धर्मान्धता और दिव्य-दर्शन में उत्तर-दक्षिण का अन्तर है। धर्म का ज्ञान होने पर अड़चनें दूर होती हैं और समभाव पैदा होता है। यह समभाव मन में बढ़ाकर हम अपने धर्म को ज्यादा पहिचानेंगे।

यहाँ धर्म-अधर्म का भेद नहीं मिटता। यहाँ तो जिन धर्मों पर मुहर लगी हुई हम जानते हैं उनकी बात है। इन सब धर्मों में मूल सिद्धान्त तो एक ही हैं। उन सब में सन्त स्त्री-पुरुष हो गये हैं; आज भी मौजूद हैं। इसलिए धर्मों के लिए समभाव में और धर्मियों—मनुष्यों के लिए समभाव में कुछ फर्क है। तमाम मनुष्यों के लिए, दुष्ट और श्रेष्ठ के लिए, धर्मी और अधर्मी के लिए समभाव की ज़रूरत है, लेकिन अधर्म के लिए कभी नहीं।

तब सवाल यह उठता है कि बहुत-से धर्म किसलिए? धर्म बहुत से हैं यह हम जानते हैं। आत्मा एक है, लेकिन मनुष्य देह अनगिनत हैं। देहों का अनगिनत-पन टाले नहीं टलता। फिर भी आत्मा की एकता को हम पहिचान सकते हैं। धर्म का मूल एक है, जैसे पेड़ का, लेकिन उसके पत्ते अनगिनत हैं।

— २३।९।१९३०। मंगल प्रभात, न० जी० प्र० मं०, संस्करण १९५८]

- **अगर हम अपूर्ण हैं तो हमारी कल्पना का धर्म भी अपूर्ण है।**
- **सब धर्म सच्चे हैं, लेकिन सब अपूर्ण हैं।**
- **ईश्वर का दिया हुआ धर्म.....अगम्य है।**
- **धर्मान्धता और दिव्य दर्शन में उत्तर-दक्षिण का अन्तर है।**
- **धर्म का ज्ञान होने पर......समभाव पैदा होता है।**
- **सब धर्मों में मूल सिद्धान्त तो एक ही है।**

४८. धर्म-समभाव का विकास

अपने सन्तोष के लिए जब मैं भिन्न-भिन्न धर्मों की पुस्तकें देख रहा था, तब ख्रिस्ती (ईसाई) धर्म, इस्लाम, जरथुस्त्री (पारसी), यहूदी और हिन्दू इतने धर्मों की पुस्तकों की मैंने अपने सन्तोष के लिए जानकारी की। यह करते हुए इन सब धर्मों की ओर मेरे मन में समभाव था, ऐसा कह सकता हूँ। उस समय मुझे यह ज्ञान था, ऐसा मैं नहीं कहता। समभाव शब्द की भी पूरी जानकारी उस समय नहीं

होगी। लेकिन उस समय के मेरे (अपने) स्मरण ताजे करता हूँ, तो मुझे उन-उन धर्मों की टीका-टिप्पणी करने की इच्छा भी कभी हुई हो, ऐसा याद नहीं आता। बल्कि उन पुस्तकों को धर्म की पुस्तकें समझकर मैं आदर से पढ़ता था और सबमें मूल नीति के उसूल (सिद्धान्त) एक सरीखे देखता था। कुछ बातें मेरी समझ में नहीं आती थीं। वैसा ही हिन्दू धर्म-पुस्तकों में था। ऐसी तो कितनी ही बातें हैं, जो आज भी मेरी समझ में नहीं आतीं। लेकिन अनुभव से मैं देखता हूँ जिसे हम समझ न सकें वह गलत ही है, ऐसा मानने की जल्दबाजी करना भूल है। जो कुछ पहिले समझ में नहीं आता था, वह आज दीये-जैसा साफ मालूम होता है। समभाव बढ़ाने से बहुत-सी गुत्थियाँ अपने-आप सुलझ जाती हैं और जहाँ हमें दोष ही दिखाई दे, वहाँ उसे दिखाने में भी जो नम्रता और विनय हममें होता है उसके कारण किसी को दुःख नहीं होता।

एक उलझन शायद रहती है।...मैंने कहा है कि धर्म-अधर्म का फर्क रहता है और अधर्म के लिए समभाव रखने का यहाँ उद्देश्य नहीं है। अगर ऐसा ही हो तो क्या धर्म-अधर्म का निर्णय करने में ही समभाव की साँकल टूट नहीं जाती? ऐसा सवाल उठेगा और ऐसा (धर्म-अधर्म का) निर्णय करनेवाला ग़लती करे, यह भी सम्भव है। लेकिन अगर हममें सच्ची अहिंसा हो तो हम वैर-भाव से बच जाते हैं। क्योंकि अधर्म को देखते हुए भी अधर्म आचरनेवाले बरतनेवाले के लिए तो हमारे मन में प्रेम-भाव ही होगा। और इसलिए या तो वह हमारी दृष्टि अपनायेगा या हमारी ग़लती हमें दिखायेगा, या दोनों एक-दूसरे के मतभेद को बर्दाश्त करेंगे। आखिर, सामनेवाला अगर अहिंसक नहीं होगा तो वह सख्ती करेगा, लेकिन अगर हम अहिंसा के सच्चे पुजारी होंगे तो हमारी नरमी उस सख्ती को दूर करेगी ही, इसमें शक नहीं। दूसरों की गलती के खातिर भी हमें उन्हें दुःख नहीं देना है, खुद ही दुःख उठाना है। यह सुनहला नियम जो पालता है वह सब संकटों से उबर जाता है।

— ३०।९।१९३०। मंगल प्रभात, न० जी० प्र० मं०, संस्करण १९५८]

० दूसरों की ग़लती के खातिर भी हमें उन्हें दुःख नहीं देना है, खुद ही दुःख उठाना है।

४९. सेवक का धर्म

यज्ञ करनेवाले अनेक सेवक मानते हैं कि हम निष्काम भाव से सेवा करते हैं, अतः लोगों से आवश्यकता भर को और अनावश्यक भी, लेने का परवाना हमें मिल

गया है। जहाँ किसी सेवक के मन में यह विचार आया कि उसकी सेवकाई गई कि वस सरदारी आई। सेवा में अपनी सुविधा के विचार की गुंजाइश नहीं होती। सेवक की सुविधा स्वामी —ईश्वर देखे; देनी होगी तो वह देगा। यह खयाल रखते हुए सेवक को चाहिए कि जो कुछ आ जाय, सवको न अपना वैठे, आवश्यकता भर को ही ले; वाकी का त्याग करे; अपनी सुविधा की रक्षा न होने पर भी शान्त रहे; रोष न करे, मन में भी खिन्नता न लाये। याज्ञिक का वदला, सेवक की मजदूरी, यज्ञ—सेवा, ही है। उसी में उसका सन्तोष है।

—मंगल प्रभात, २८।१०।१९३०। गीता-वोध, पृ० ३२, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

५०. यज्ञार्थ कर्म

यज्ञ-कार्य के सिवा सारे कर्म लोगों को वन्धन में रखते हैं। यज्ञ के मानी हैं, अपने लिए नहीं, वल्कि दूसरे के लिए, परोपकार के लिए, किया हुआ श्रम अर्थात् संक्षेप में सेवा। . . .

—सोमप्रभात, २४।११।१९३०। गीता-वोध, पृ० १६, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

५१. ईश्वरवत् निष्कामता

जगत् में जितनी प्रवृत्तियाँ हैं, सव ईश्वरीय नियमों के अधीन होती हैं, फिर भी ईश्वर उनसे अलिप्त रहता है, इसलिए वह उनका कर्त्ता है और अकर्त्ता भी। यों अलिप्त रहकर, अछूते रहकर, फलेच्छा से रहित होकर जैसे ईश्वर चलता है वैसे मनुष्य भी निष्काम रहकर चले तो अवश्य मोक्ष पा जाय। ऐसा मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है और ऐसे मनुष्य को न करने योग्य कर्म का भी तुरन्त पता चल जाता है।

—सोमप्रभात, १।१२।१९३०। गीता-वोध, पृ० २३, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

५२. विविध यज्ञ

यज्ञ तो अनेक प्रकार के कहे गये हैं। उन सवके मूल में शुद्धि और सेवा होती है। इन्द्रिय-दमन एक प्रकार का यज्ञ है; किसी को दान देना दूसरी प्रकार का।

प्राणायामादि भी शुद्धि के लिए आरम्भ किये जानेवाले यज्ञ हैं। . . .यदि सब लोग बिना समझे-बूझे यज्ञ के नाम पर अनेक प्रवृत्तियाँ करने लग जायँ तो अज्ञान के निमित्त होने के कारण, भले के बदले बुरा नतीजा भी हो सकता है। इसलिए हरएक काम ज्ञानपूर्वक करने की पूरी आवश्यकता है।

—सोमप्रभात, १।१२।१९३०। गीता-बोध, स० सा० मं०, दसवां संस्करण १९५४]

५३. ईश्वर

ईश्वर महान है और हम रज-मात्र हैं। किन्तु अपने अभिमान में जब हम अपनी जिह्वा से कहते हैं कि ईश्वर महान है, तब हमारे कार्य इस कथन को झूठा सिद्ध करते हैं। वे बतलाते हैं कि हम ईश्वर और अपनी महती भवितव्यता के सम्बन्ध में कुछ नहीं सोचते।

—यं० इं०। हि० न० जी०, १३।८।१९३१]

५४. प्रार्थना : एक अनुभूति

[गोलमेज परिषद् में भाग लेने के लिए लन्दन जाते समय राजपूताना जहाज पर एक सान्ध्य प्रार्थना-सभा में किया गया प्रवचन।—सम्पा०]

प्रार्थना मेरे जीवन की रक्षिका रही है। इसके बिना मैं बहुत पहिले ही पागल हो गया होता। मेरी आत्म-कथा से आपको मालूम होगा कि अपने जीवन में मुझे सार्वजनिक और निजी सब तरह के पर्याप्त कटु-से-कटु अनुभव हुए हैं। उन्होंने मुझे क्षणिक निराशा में डाल दिया था, लेकिन अन्त में मैं उनसे अपने आपको बचा सका, और इसका कारण था प्रार्थना। अब मैं आपको बता देना चाहता हूँ, कि जिस अर्थ में सत्य मेरे जीवन का एक भाग रहा है, उस तरह प्रार्थना नहीं रही है। इसका आरम्भ सर्वथा आवश्यकता के कारण हुआ, क्योंकि जब कभी मैंने अपने को कठिनाई में पाया, कदाचित् इसके बिना मैं सुखी न हो सका। और जितना अधिक मेरा ईश्वर में विश्वास बढ़ा, उतनी ही अधिक प्रार्थना के प्रति मेरी लगन बढ़ने लगी। इसके बिना जीवन सुस्त और नीरस मालूम होने लगा। दक्षिण अफ्रीका में मैं ईसाइयों की प्रार्थना में सम्मिलित हुआ था, लेकिन वह मुझे आकर्षित करने में असफल हुई। मैं प्रार्थना में उनका साथ न दे सका। उन्होंने ईश्वर की प्रार्थना की, किन्तु मैं ऐसा न कर सका; मैं बुरी तरह असफल हुआ। मैंने ईश्वर और प्रार्थना

में अविश्वास करना शुरू कर दिया और आगे चलकर जीवन की एक विशेष अवस्था के सिवा, मैंने जीवन में किसी बात को असम्भव नहीं समझा। लेकिन उस अवस्था में मैंने अनुभव किया कि जिस तरह शरीर के लिए भोजन अनिवार्य है, उसी तरह आत्मा के लिए प्रार्थना अनिवार्य है। वस्तुतः भोजन शरीर के लिए इतना आवश्यक नहीं है, जितनी आत्मा के लिए प्रार्थना, क्योंकि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए भूखे रहने या उपवास करने की अक्सर आवश्यकता हो जाती है, किन्तु प्रार्थना का उपवास-जैसी कोई वस्तु नहीं है। सम्भवतः आप प्रार्थना का अतिरेक नहीं पा सकते। संसार के सबसे बड़े शिक्षकों में तीन महान शिक्षक बुद्ध, ईसा और मुहम्मद अपना यह अकाट्य अनुभव छोड़ गये हैं कि उन्हें प्रार्थना के द्वारा प्रकाश मिला और उसके बिना जीवित रह सकना सम्भव नहीं। पास का उदाहरण लीजिए। करोड़ों हिन्दू, मुसलमान और ईसाई अपने जीवन का समाधान केवल प्रार्थना में पाते हैं। या तो आप उन्हें झूठा कहेंगे या आत्मवंचक। तब मैं कहूँगा, कि यदि यह असत्यता है, जिसने मुझे जीवन का वह मुख्य आधार दिया है, जिसके बिना मैं एक क्षण को भी जीवित नहीं रह सकता था, तो मुझ सत्य-संशोधक के लिए इसी में मोहकता है। राजनीतिक क्षितिज में निराशा के स्पष्ट दर्शन होने पर भी मैंने कभी अपनी शान्ति नहीं खोई। वस्तुतः मुझे ऐसे आदमी मिले हैं, जो मेरी शान्ति से ईर्ष्या करते हैं। मैं आपको बता देना चाहता हूँ कि मुझे यह शान्ति प्रार्थना से ही मिलती है। मैं कोई विद्वान व्यक्ति नहीं हूँ, किन्तु नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि मैं प्रार्थना का प्राणी हूँ। मैं प्रार्थना के रूप के सम्बन्ध में उदासीन हूँ। इस सम्बन्ध में प्रत्येक अपने लिए नियम निश्चित करने में स्वतन्त्र है। किन्तु कुछ सु-चिह्नित मार्ग है, और प्राचीन शिक्षकों-द्वारा अनुभूत मार्ग पर चलना अच्छा है। मैं अपना व्यावहारिक अनुभव बता चुका हूं। प्रत्येक को प्रयत्न करना और यह अनुभव करना चाहिए कि दैनिक प्रार्थना के रूप में वह अपने जीवन में किसी ऐसी चीज़ की वृद्धि कर रहा है, जिसकी समता किसी से नहीं की जा सकती।

—यं० इं०। हि० न० जी०, २४।९।१९३१]

- **प्रार्थना मेरे जीवन की रक्षिका रही है।**
- **जिस तरह शरीर के लिए भोजन अनिवार्य है उसी तरह आत्मा के लिए प्रार्थना अनिवार्य है।**
- **प्रार्थना का उपवास-जैसी कोई वस्तु नहीं है।**
- **आप प्रार्थना का अतिरेक नहीं पा सकते।**
- **मुझे......शान्ति प्रार्थना से ही मिली है।**
- **मैं प्रार्थना का प्राणी हूँ।**

५५. नास्तिकता और प्रार्थना

[गोलमेज परिषद् में भाग लेने के लिए लन्दन जाते हुए राजपूताना जहाज पर गांधी जी से किये गये एक युवक के प्रश्न और उनका उत्तर।—सम्पा०]

प्रश्न—लेकिन गांधी जी, आप तो ईश्वर के विषय में मूल से ही अस्तिकता अर्थात् विश्वास से आरम्भ करते हैं, जब कि हम नास्तिकता अर्थात् अविश्वास से आरम्भ करते हैं। ऐसी दशा में हम प्रार्थना किस प्रकार कर सकते हैं?

उत्तर—ईश्वर के सम्बन्ध में आपके अन्दर विश्वास पैदा करना मेरी शक्ति के बाहर की बात है। कई बातें स्वयंसिद्ध होती हैं। और कई ऐसी होती हैं जो सिद्ध नहीं हो सकतीं। ईश्वर का अस्तित्व गणित के स्वयंसिद्ध सत्यों की तरह है। यह सम्भव है कि वह हमारे हृदय-द्वारा ग्रहण न हो सके। मैं बुद्धिग्राह्यता की बात ही न करूँगा। बौद्धिक प्रयत्न तो थोड़े-बहुत अंशों में निष्फल ही हैं। बुद्धिगम्य युक्तियों अथवा दलीलों से ईश्वर के विषय में श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि यह वस्तु बुद्धि की ग्रहण -शक्ति से परे है। युक्तियाँ इसके सामने काम नहीं करतीं। ऐसी बहुत-सी घटनाएँ हैं, जिनसे ईश्वर के अस्तित्व की दलीलें दी जा सकती हैं। लेकिन मैं ऐसी बुद्धिगम्य दलीलों में उतर कर आपकी बुद्धि का अपमान नहीं करना चाहता। मैं तो आपको यही सलाह दूंगा कि ऐसे बौद्धिक तर्कों को एक तरफ रख दीजिए और ईश्वर के सम्बन्ध में सीधी-सादी बालोचित श्रद्धा रखिए। यदि मेरा अस्तित्व है, मैं हूँ तो ईश्वर का भी अस्तित्व है, ईश्वर भी है। वह करोड़ों लोगों की तरह मेरे जीवन की एक आवश्यकता है। वे करोड़ों लोग चाहे ईश्वर के सम्बन्ध में व्याख्यान न दे सकें, किन्तु उनके जीवन से आप जान सकते हैं कि ईश्वर के प्रति विश्वास उनके जीवन का अंग है। आपका यह विश्वास दब गया है। मैं आपसे केवल उसे सजीव करने को कहता हूँ। इसके लिए हमने जो बुद्धि को चौंधिया देनेवाला और चंचल बना देनेवाला बहुत-सा साहित्य पढ़ा है, उसे हमें भुला देना होगा। ऐसी श्रद्धा से आरम्भ कीजिए कि हम इस संसार में अणु से भी छोटे हैं। इसमें नम्रता का भी आभास है और हम कुछ भी नहीं जानते, यह स्वीकृति भी है। हम अणु से भी छोटे हैं, मैं यह इसलिए कहता हूँ कि अणु तो प्रकृति के नियमों की अधीनता में रहकर उनका पालन करता है, जब कि हम अपनी अज्ञानता के मद में प्रकृति के नियमों को अस्वीकार करते हैं; उन्हें भंग करते हैं। लेकिन जिनके अन्दर श्रद्धा नहीं है उन्हें समझाने योग्य तर्क मेरे पास नहीं हैं।

एक बार ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार कर लिये जाने पर प्रार्थना की आवश्यकता स्वीकार किये बिना कोई गति नहीं। हमें उतना बड़ा दावा नहीं करना चाहिए

कि हमारा समस्त जीवन ही प्रार्थनामय है, इसलिए किसी विशिष्ट समय प्रार्थना के लिए बैठने की कोई खास जरूरत नहीं। जिन व्यक्तियों का सारा समय अनन्त के साथ एकाग्रता करने में बीता है, उन्होंने भी ऐसा दावा नहीं किया। उनका जीवन सतत प्रार्थनामय होने पर भी हमें कहना चाहिए कि वे हमारे लिए निश्चित समय पर प्रार्थना करते और प्रतिदिन ईश्वर के प्रति अपनी निष्ठा की प्रतिज्ञा दुहराते थे। अवश्य ही ईश्वर को ऐसी किसी प्रतिज्ञा की आवश्यकता नहीं, लेकिन हमें तो नित्य इस प्रतिज्ञा को दोहराना चाहिए। और मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि उस दशा में हम अपने जीवन के सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जायँगे।
——यं० इं०। हि० न० जी०, १।१०।१९३१]

- **कई बातें स्वयंसिद्ध होती हैं और......कई.....सिद्ध नहीं हो सकतीं।**
- **ईश्वर का अस्तित्व गणित के स्वयंसिद्ध सत्यों की तरह है।**
- **यदि मेरा अस्तित्व है, मैं हूँ तो ईश्वर का भी अस्तित्व है; ईश्वर भी है।**
- **हम इस संसार में अणु से भी छोटे हैं।**
- **जिनके अन्दर श्रद्धा नहीं है उन्हें समझाने योग्य तर्क मेरे पास नहीं है।**

५६. ब्रह्मचर्य-पालन के उपाय

[ब्रह्मचर्य-पालनेच्छुक एक लड़की को लिखे पत्र से]

ब्रह्मचर्य-पालन में सबसे बड़ी चीज भ्रातृ-भावना का साक्षात्कार करना है। हम सब एक पिता के लड़के-लड़कियाँ हैं। उनमें विवाह कैसे ? खाना केवल औषध-रूप; स्वाद के लिए नहीं। मन को और शरीर को सेवा कार्य में रोके रखना। सत्यनारायण का मनन करना। बाल काटने का धर्म स्पष्ट हो जाय, तो लोक-लज्जा छोड़कर कटवाना। ईश्वर-भक्ति के लिए नित्य सेवा में लीन रहना।

मनोविकार हमारे सच्चे शत्रु हैं, यह समझकर नित्य युद्ध करना। इसी युद्ध का महाभारत में वर्णन है।
—— २१।३।१९३२। म० भा० डा० भाग १, पृ० २७]

५७. ब्रह्मचर्य-साधन के उपाय

[एक बंगाली साधक को लिखे गये पत्र से]

...ब्रह्मचर्य मन की स्थिति है। अलबत्ता सब तरह के निग्रह से उसे मदद जरूर मिलती है। आवश्यक मनःस्थिति प्राप्त करने में आहार कम से कम सहायक

होता है, मगर ग़लत आहार से प्रगति रुकती तो है ही। इस आधार पर मैं यह कहना चाहता हूं कि योग्य आहार परिमित मात्रा में लिया जाय। लेकिन यह एक ही साधन ब्रह्मचर्य-पालन में मदद देने के लिए काफ़ी नहीं है। हाँ, (यह) बहुत से जरूरी साधनों में से एक माना जा सकता है। जीभ का चटोरापन कमजोर मनःस्थिति का लक्षण है। और यह चीज़ ब्रह्मचर्य के लिए बाधक है। ब्रह्मचर्य-पालन के लिए रामबाण उपाय तो इस बात का अनुभव होना है कि यह जीव परमात्मा का ही अंश है और हमारे हृदय में परमात्मा का वास है। हम यह चीज़ समझने लग जायं तो उससे मन की शुद्धि और दृढ़ता प्राप्त होती है। तुम्हें ऐसी पुस्तकें पढ़नी चाहिए, जो इस मुख्य चीज़ के समझने में सहायक हों। तुम्हें ऐसी संगति में रहना चाहिए, जिसमें तुम्हें सदा ईश्वर के हाजिर-नाजिर होने का ख्याल रहे।...

— २५।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ११६-११७]

- **ब्रह्मचर्य मन की स्थिति है।**
- **जीभ का चटोरापन कमजोर मनःस्थिति का लक्षण है।**
- **यह जीव परमात्मा का ही अंश है और हमारे हृदय में परमात्मा का वास है।**

५८. सिद्धियां

[यरवदा जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट से वार्ता के दौरान व्यक्त विचार।—सम्पा०]

सुपरिण्टेण्डेण्ट—मगर......सिद्धि हो भी सकती है या नहीं? और हो भी तो उसका उपयोग क्या?

गांधीजी—उपयोग यही कि यह अन्तिम दशा को पहुँचने से पहिले की एक अवस्था है। मनुष्य को इसका पता तक न चलना चाहिए। यह सिद्धि उपयोग करने की चीज़ ही नहीं है। इसका अन्यथा उपयोग होता हो तो दूसरी बात है।

सुपरिण्टेण्डेण्ट—ऐसा हो सकता है कि मनुष्य इसके बारे में अनजान रहे?

गांधी जी—हाँ, मैं अनजान था।

सुपरिण्टेण्डेण्ट—आप में ऐसी कोई शक्ति है?

गांधीजी—हां, ऐसा कोई चमत्कार करने की तो नहीं, मगर दूसरी है। मुझे क्या पता था या है कि अमुक जगह मैं अमुक शब्द बोलूंगा, मगर ईश्वर मुझे वह दे देता है। यह एक शक्ति है। मगर इसका उपयोग क्या? यह अपने आप भले ही प्रकट हो।

— ८।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १४२]

५९. ईश्वर

[सुश्री भारती को लिखे पत्र से]

अगर ईश्वर है—भले हम उसे सत्य के रूप में ही जानें—तो उसकी आराधना करना हमारा धर्म हो जाता है। हम जिसकी आराधना करते हैं वैसे ही बन जाते हैं। प्रार्थना का अर्थ इससे ज्यादा नहीं है। मगर इस अर्थ में सब कुछ समझ में आ जाता है न? सत्य हमारे हृदय में बसता है। मगर हमें उसका भान या पूरा भान नहीं है। वह हार्दिक प्रार्थना के जरिए होता है।

— १२।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २११]

६०. अपरिग्रह-व्रत

[श्री छगनलाल जोशी को लिखे पत्र से]

मैं यह सत्य रोज अनुभव कर रहा हूँ कि कुदरत जीवमात्र की हर क्षण की जरूरत की चीज़ हर क्षण पैदा करती है और तनिक भी ज्यादा नहीं पैदा करती। और यह भी देख रहा हूँ कि हम इस महान कानून को इच्छा या अनिच्छा से जान या अनजान में हर घड़ी तोड़ते हैं। और यह तो हम सब देख सकते हैं कि इस कानून-भंग से एक तरफ तो बहुत-से मनुष्य भोग का कष्ट उठा रहे हैं और दूसरी तरफ़ बेशुमार मनुष्य भूख से पीड़ित हैं।...इस विपत्ति से बचने का हमारा प्रयत्न है। हां, कुदरत के इस कानून का पालन इस वक्त तो हर्गिज़ नहीं हो सकता। लेकिन इससे हमारे लिए घबराने का कोई कारण नहीं है।

— १७।६।१९३२। म० भा.० डा०, भाग १, पृ० २२०]

६१. प्रार्थना

प्रार्थना आश्रम का एक बुनियादी हिस्सा है। इसलिए इस चीज़ को हमें ठीक तौर से समझ लेना चाहिए। यह मन लगाकर न हो तो सब मिथ्या समझिए। भोजन करते समय आमतौर से हम किसी को सोता हुआ नहीं देखते । प्रार्थना भोजन से करोड़गुना अधिक उपयोगी वस्तु है। इस वक्त कोई सोये तो यह अति दयाजनक स्थिति मानी जायगी। प्रार्थना छूट जाय तो मनुष्य को भारी दुःख होना चाहिए। खाना छूटे, पर प्रार्थना न छूटे। खाना छोड़ना कितनी ही बार शरीर के लिए लाभदायक होता है। प्रार्थना का छूट जाना कभी लाभदायक हो ही नहीं सकता।

पर जो आदमी प्रार्थना में सोता हो, आलस्य करता हो, बातें करता हो, ध्यान न रखता हो, विचार को जहां-तहां भटकने देता हो उसने प्रार्थना छोड़ दी—यही कहा जायगा। उसने जो केवल शरीर से हाजिरी दी, उसकी गिनती दंभ में होगी। अर्थात् उसने दुहरा दोप किया—प्रार्थना छोड़ी और समाज को ठगा। ठगना यानी असत्य आचरण करना अर्थात् सत्यव्रत का भंग।

पर हमारे न चाहने पर भी नींद आये, आलस्य लगे तो क्या करना होगा? ऐसी बात होती ही नहीं। अगर हम खाट से उठकर सीधे प्रार्थना में जायं तब तो वहां ऊंघेंगे ही। प्रार्थना में जाने के पहिले जागरित हो जाने, दातुन करने और ताजा रहने का निश्चय करना चाहिए। प्रार्थना में एक-दूसरे से सटकर न बैठना चाहिए; सोंटे की तरह सीधा बैठना चाहिए; धीमे-धीमे साँस लेना चाहिए और उच्चारण आता हो तो ऊंची आवाज से, नहीं तो मन-ही-मन जो श्लोक या भजन पढ़ा-गाया जा रहा हो उसे बोलना चाहिए। यह भी न आये तो रामनाम ले। इतने पर भी शरीर काबू में न रहे तो खड़ा हो जाय। छोटा हो या बड़ा इसमें किसी को लजाना न चाहिए। शर्म मिटाने के लिए, बड़ों को चाहिए कि खुद ऊंघते न हों तो भी, जब-तब खड़े हो जाया करें।

प्रार्थना में जो-कुछ कहा जाय उसे तुरन्त सबको समझ लेना चाहिए। संस्कृत आती हो तो भी अर्थ तो जान ही लेना और उसका मनन करना चाहिए।

—यरवदा मन्दिर १९।८।१९३२। आश्रमवासियों से, पृ० ४५, ४६, ४७]

६२. प्रार्थना में भार नहीं

अकेले प्रार्थना तो सोते, नहाते, खाते—कोई भी क्रिया करते हुए हो सकती है। इसलिए उसका बोझ तो होगा ही नहीं, उल्टे उससे मन हल्का हो जाता है; होना चाहिए। ऐसा अनुभव न हो तो उस प्रार्थना को कृत्रिम समझना चाहिए।

—यरवदा मन्दिर, २।७।१९३२। बापू के पत्र: मणि बहन पटेल के नाम, पृ० ८७, न० जी० प्र० मं०]

६३. बुद्धि-योग

[एक पत्रांश]

भगवान ने यह कहा है कि जो उसे प्रेम से भजते हैं, उन्हें वह ऐन वक्त पर बुद्धि दे देता है। यहां भगवान की जगह सत्य शब्द का उपयोग करके देखो तो अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जायगा।

—३।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २६५]

६४. आश्रम-प्रार्थना का पहिला श्लोक

[श्री भाऊ—आचार्य विनोबा भावे के भाई ने आश्रम-प्रार्थना के प्रातःस्मरामि[1] वाले पहिले श्लोक के सम्बन्ध में पूछा था, यह क्या दंभ नहीं है। हमारा दिन भर का काम-काज तो यह समझ कर होता है कि हम शरीर हैं। गांधी जी ने इस शंका का निम्नलिखित समाधान किया।—सम्पा०]

हमारी प्रार्थना का पहिला श्लोक[1] मुझे भी खटकता था। मगर गहरे जाने पर देखा कि समझ के साथ इस श्लोक का रहना ठीक है। हमारी बुद्धि जरूर कहती है कि हम यह मिट्टी का पुतला शरीर नहीं हैं, बल्कि इसमें रहनेवाले साक्षी हैं। श्लोकों में इसी साक्षी का वर्णन है। और फिर उपासक प्रतिज्ञा करता है कि—'मैं वही साक्षी ब्रह्म हूं।' ऐसी प्रतिज्ञा वे मनुष्य ही कर सकते हैं, जो वैसा बनने की रोज कोशिश करते हों और मिट्टी के पिण्ड का सम्बन्ध कम करते जाते हों। मूर्च्छा, भय और रागद्वेष हो, उसके बजाय वे हर वक्त ब्रह्म के गुणों को याद करके रागद्वेष से छूटने की कोशिश करते हैं। ऐसा करते-करते मनुष्य जिसका ध्यान करता है, अन्त में वैसा ही बन जाता है। इसलिए नम्रता किन्तु दृढ़ता के साथ हम रोज भले ही इस श्लोक को याद करें और हर काम में उस प्रतिज्ञा को साक्षी तौर पर समझें।

— १०।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २७९]

६५. प्रार्थना में समय का व्यय दुरुपयोग नहीं

[प्रार्थना में लगनेवाले समय के सम्बन्ध में एक पत्रांश]

इससे द्वेष या अरुचि नहीं होनी चाहिए। इस्लाम में पांच वक्त की नमाज़ है। हर नमाज़ ज्यादा नहीं तो पन्द्रह मिनट तो लेती है। पढ़ने को एक ही चीज है। ईसाई प्रार्थना में हमेशा ही एक बात रहती है। उसमें भी हर समय पन्द्रह मिनट लगते ही हैं। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय में और अंग्रेज़ों के प्रचलित गिरजे में आध घण्टे से कम नहीं लगता। और वह सुबह, शाम, और दोपहर को होती है। भक्त

---

१. प्रातःस्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्वम्।
सच्चित सुखं परमहंस गतिं तुरीयम्।
यत्स्वप्न जागर सुषुप्तिमवैति नित्यम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः।

को यह मुश्किल नहीं मालूम होता। अन्त में अपना क्रम[1] बदलने का हम किसी को हक़ नहीं रहा क्योंकि हम सब अधूरे हैं और क्रम पर हमने बहुत चर्चा कर ली है। हमें उसमें दिलचस्पी पैदा करनी ही चाहिए। उससे ईश्वर के दर्शन करने हैं; उसी में हमें दैनिक पाथेय जुटाना है। फेरबदल का विचार छोड़कर जो कुछ है उसी को शोभायमान बनाकर हम उसमें प्राण उड़ेल दें। जितना विचार करता हूं मुझे तो यही लगता है।

— १०।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २७६]

६६. धर्म का उपाय

[श्री कन्हैयालाल को लिखे पत्र से]

धर्म का सच्चा उपाय हर तरह से यम-नियमों का पालन है।

— १०।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २७९]

६७. प्रार्थना की आवश्यकता

[एक पत्रांश]

इसमें शक नहीं कि यह सचराचर जगत् एक कानून से चलता है। अगर आप कानून बनानेवाले के बिना कानून की कल्पना कर सकते हों, तो मैं कहता हूं कि यह कानून ही कानून बनानेवाला यानी ईश्वर है। हम जब उस कानून की प्रार्थना करते हैं, तब उसको जानने और उसका पालन करने की उत्कण्ठा दिखाते हैं। हम जिसकी लालसा रखते हैं, वही बन जाते हैं इसलिए प्रार्थना की ज़रूरत है। हमारा वर्तमान जीवन पिछले जीवन से नियत होता है। इसी कार्य-कारण के नियम से हमारा भविष्य का जीवन हमारे वर्तमान कामों से बनेगा। हमारे सामने दो या उससे ज्यादा कामों के बीच चुनाव करने का सवाल हो तो हमें यह चुनाव करना ही पड़ेगा।

— १४।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २८६]

० हम जिसकी लालसा रखते हैं, वही बन जाते हैं।

६८. प्रार्थना : कुछ विचार

[एक पत्रांश]

किसी मनुष्य या वस्तु को लक्ष्य में रखकर प्रार्थना हो सकती है। उसका फल भी मिलता है। मगर वैसे उद्देश्य-रहित प्रार्थना आत्मा और जगत् के लिए

---

१. प्रार्थना-क्रम

ज्यादा कल्याणकारी हो सकती है। प्रार्थना का असर अपने पर होता है यानी उससे अन्तरात्मा ज्यादा जागरित होती है, और और ज्यों-ज्यों जागृति ज्यादा होती है, त्यों-त्यों उसका असर ज्यादा फैलता है।...प्रार्थना हृदय का विषय है। मुँह से बोलने वगैरह की क्रियाएं हृदय को जागरित करने के लिए हैं। व्यापक शक्ति जो वाहर है वही अन्दर है और उतनी ही व्यापक है। उसके लिए शरीर वाधक नहीं है। वाधा हम पैदा करते हैं। प्रार्थना से वाधा मिटती है। प्रार्थना से इच्छित फल मिला या नहीं, इसका हमें पता नहीं चलता।...प्रार्थना निष्फल तो हर्गिज नहीं जाती, लेकिन हमें यह पता नहीं लगता कि कौन-सा फल देती है। और हमारा सोचा हुआ फल निकल आये तो वह अच्छा ही है—ऐसा भी नहीं मानना चाहिए। यहां भी गीता वोध पर अमल करना है। प्रार्थना की हो तो भी अनासक्त रहा जा सकता है। किसी की मुक्ति हमें इष्ट लगे तो उसके लिए हमें प्रार्थना करनी चाहिए, लेकिन वह मिले या न मिले इस वारे में हमें निश्चिन्त रहना चाहिए। उल्टा नतीजा निकले तो यह मानने का कारण नहीं कि वह प्रार्थना निष्फल हो गई।...

— १७।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २९३]

- **उद्देश्य-रहित प्रार्थना आत्मा और जगत् के लिए ज्यादा कल्याणकारी हो सकती है।**
- **प्रार्थना हृदय का विषय है।**
- **व्यापक शक्ति जो वाहर है वही अन्दर है और उतनी ही व्यापक है।**
- **प्रार्थना से वाधा मिटती है।**
- **प्रार्थना निष्फल तो हर्गिज नहीं जाती।**

६९. व्यक्तिगत प्रार्थना

व्यक्तिगत प्रार्थना के विषय में मैं कुछ लिख तो चुका हूं, पर उसके महत्व के विषय में फिर कुछ लिखने की आवश्यकता जान पड़ती है। मुझे जान पड़ता है कि सामाजिक प्रार्थना में जो रस पैदा नहीं होता उसका एक कारण व्यक्तिगत प्रार्थना की आवश्यकता का अज्ञान है। सामाजिक प्रार्थना की व्यवस्था व्यक्तिगत प्रार्थना से ही हुई है। व्यक्ति को प्रार्थना की भूख न हो तो समाज को कहां से हो सकती है? सामाजिक प्रार्थना का उपयोग भी व्यक्ति के लाभ के लिए है। व्यक्ति के आत्म-दर्शन में—आत्मशुद्धि में—सामाजिक प्रार्थना सहायक सिद्ध होती है, इसलिए व्यक्तिगत प्रार्थना का मूल्य सवको समझ लेना चाहिए। वच्चा ज्योंही

समझने लगे, माता को चाहिए कि तुरन्त उसे प्रार्थना सिखा दे। सब धर्मों में यह सामान्य वस्तु है।

इस प्रार्थना के दो समय तो पक्के हैं : सवेरे उठते ही अन्तर्यामी को स्मरण करना और रात में आँख मूँदते समय उसकी याद रखना। इस बीच जागरित स्त्री-पुरुष प्रत्येक क्रिया के सम्पादन में अन्तर्यामी को याद करेंगे और साक्षी रखेंगे। ऐसा करने वाले से बुरा काम तो होगा ही नहीं और अन्त में उसकी ऐसी आदत पड़ जायगी कि (वह) हर विचार का ईश्वर को साक्षी रखेगा और स्वामी बनायेगा। यह शून्यवत् हो जाने की स्थिति है। इस प्रकार जिसके सामने हर समय ईश्वर रहता है उसके हृदय में निरन्तर राम बसते हैं।

ऐसी प्रार्थना के लिए खास मन्त्र या भजन की जरूरत नहीं होती। यद्यपि प्रत्येक क्रिया के आरम्भ और अन्त के लिए मन्त्र देखने में आते हैं, पर उनकी आवश्यकता नहीं है। चाहे जिस नाम से, चाहे जिस रीति से, चाहे जिस स्थिति में भगवान को याद करना है। ऐसा करने की आदत बहुत थोड़ों को ही होती है। बहुतों को हो तो दुनिया में पाप घट जाय, मलिनता घट जाय और आपस का व्यवहार शुद्ध हो जाय। इस शुभ स्थिति को पहुँचने के लिए हर आदमी को जो दो वक्त मैंने बताये वे तो रखने ही चाहिए; दूसरे वक्त भी खुद बाँध ले और नित्य उसमें वृद्धि करता जाय, जिससे अन्त में हर साँस से राम-नाम निकले।

इस व्यक्तिगत प्रार्थना में वक्त बिल्कुल नहीं लगता। उसमें वक्त की जरूरत नहीं, सचेत रहने की जरूरत है। जैसे आँख मूँदने में समय लगता नहीं जान पड़ता वैसे ही व्यक्तिगत प्रार्थना में भी वह लगता नहीं मालूम होता। जसे पलकें अपना काम करती हैं, यह हम जानते हैं, वैसे ही प्रार्थना हृदय में चलनी चाहिए। ऐसी प्रार्थना करनेवाले को याद रखना चाहिए कि जिसका हृदय मलिन हो वह मलिनता को बनाये रखकर प्रार्थना नहीं कर सकता। अर्थात् प्रार्थना के समय उसको मलिनता का त्याग करना ही चाहिए। वह कोई गन्दा काम कर रहा हो और कोई उसे देख ले तो जैसे वह शर्मायेगा वैसे ही ईश्वर के सामने भी गन्दा, बुरा काम करते हुए उसे शर्माना चाहिए। पर ईश्वर तो सदा हमारे हर काम को देखता है, हर विचार को जानता है। इसलिए ऐसा एक भी क्षण नहीं है जब उससे छिपाकर कोई काम या विचार किया जा सके। इस तरह जो हृदयपूर्वक प्रार्थना करेगा, वह अन्त में ईश्वरमय ही होगा, अर्थात् निष्पाप होगा।

—यरवदा मन्दिर, १७।७।१९३२। आश्रमवासियों से, पृ० ५३, ५४, ५५]

● सामाजिक प्रार्थना की व्यवस्था व्यक्तिगत प्रार्थना से ही हुई है।

- जागरित स्त्री-पुरुष प्रत्येक क्रिया के सम्पादन में अन्तर्यामी को याद करेंगे और साक्षी रखेंगे।
- जिसके सामने हर समय ईश्वर रहता है उसके हृदय में निरन्तर राम बसते हैं।
- जो हृदयपूर्वक प्रार्थना करेगा, वह अन्त में ईश्वरमय....होगा .....निष्पाप होगा।

७०. प्रार्थना और ब्रह्मचर्य

[एक भाई ने गांधी जी से पूछा था कि वे प्रार्थना के साथ ब्रह्मचर्य पर ज़ोर क्यों नहीं देते। इन्हें उत्तर देते हुए गांधी जी ने निम्नलिखित विचार व्यक्त किये। —सम्पा०]

प्रार्थना और ब्रह्मचर्य एक ही तरह की चीजें नहीं हैं। ब्रह्मचर्य पाँच महाव्रतों में से एक है। प्रार्थना उसे पाने का एक साधन है। ब्रह्मचर्य की ज़रूरत के बारे में मैंने बहुत कहा है, बहुत समझाया है। मगर यह विचार करने पर कि उसे किस तरह साधा जाय, जवाब में एक प्रार्थना ही बड़ा साधन मिला है। जो प्रार्थना का मूल्य जान सकता है और मूल्य जानने के बाद प्रार्थना में तल्लीन हो सकता है उसके लिए ब्रह्मचर्य आसान हो जाता है।

— १५।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३५९]

- ब्रह्मचर्य पाँच महाव्रतों में से एक है। प्रार्थना उसे पाने का एक साधन है।

७१. प्रार्थना

[श्री बबल भाई को लिखे पत्र से]

प्रार्थना में बैठकर भी जो भजनादि में भाग नहीं लेता वह असत्य आचरण करता है।

— ११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५]

७२. उपवास : ईश्वरीय आदेश

[श्री पोलक को लिखे पत्र से]

अपने प्रेमपात्र को उल्टे रास्ते जाने से रोकने के लिए प्रेमी उपवास करे, तो उसमें बलात्कार नहीं। वह तो दुखी हृदय की ईश्वर तक पहुँचनेवाली आह है।

तुम्हारी भाषा में आकाश का संगीत ऐसी ही आहों का होता है। मेरा उपवास नींद में पड़े हुए प्रेम के लिए चाबुक-जैसा था।

तुमने पूछा कि तब आपने दस वर्ष पहिले उपवास क्यों नहीं किया? इसका जवाब इतना ही है कि ईश्वर ने उस समय मुझे आदेश नहीं दिया।

— १८।९।१९३२। म० भा० डा,० भाग २, पृ० १२७]

७३. प्रार्थना और राम-नाम

[श्री वसन्तलाल मुरारका को लिखे पत्र से]

प्रार्थना में मन की स्थिरता अभ्यास से ही आ सकती है। प्रार्थना करते समय ऐसा चिन्तन करना कि जैसे शरीर के लिए अन्न आवश्यक है, उससे भी अधिक प्रार्थना आत्मा के लिए आवश्यक है। ऐसा चिन्तन करके प्रार्थना में बैठने से थोड़े ही दिनों में आनन्द आ जायगा। राम-नाम का विस्मरण ही सबसे बड़ा दुःख है, ऐसा विश्वास रखने से नाम-स्मरण स्थायी हो जायगा। असत्य सबसे बड़ा पातक है, ऐसा विश्वास रखने से असत्य से कुछ क्षणिक लाभ मिल जाय तो उसका त्याग करने से सत्य सहज ही प्रिय हो जायगा।

— २६।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १४९]

० राम-नाम का विस्मरण ही सबसे बड़ा दुःख है।

७४. अभिमान

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

यह तुम जानती हो कि क्रोध बुरा है, अतः धीरे-धीरे वह निकल ही जायगा। इसी प्रकार अभिमान का समझो। चलते-फिरते रोना आ जाता है। यह कमजोरी का कारण है। तुम अगर खेल-कूद में लग जाओ तो रोना बन्द हो जायगा। जरा रोने-जैसा मालूम हो कि ऊंचे स्वर से गीता-पाठ करने लग जाओ तो रोना सूझेगा ही नहीं। यह करके देखना।

— यरवदा मन्दिर, २२।११।१९३२। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृ० २३६, अ० भा० सा० से० सं०]

७५. प्रार्थना में श्रद्धा

मेरी सलाह है कि तू प्रार्थना की सारी विधि पर श्रद्धा रख। हो सके तो अर्थ पर ध्यान रख। वैसा न कर सके तो—वे शब्द संस्कारी हैं, उन्हें सुनने में भी लाभ

है, ऐसी श्रद्धा रखकर विनयपूर्वक सुन। इसका अर्थ यह मत समझना कि मैं तुझे सात दिन के पारायण की तरफ ले जाना चाहता हूं। इस प्रार्थना के पीछे कुछ लोगों की अनन्य श्रद्धा से की हुई पन्द्रह वर्ष की तपश्चर्या है; उसमें कुछ तो (सार) है ही, यह बात तेरे गले उतारने के लिए यह लिखा है।

—यरवदा मन्दिर, २४।११।१९३२। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृ० ३३, न० जी० प्र० सं०]

७६. आध्यात्मिक उपवास

उपवास एक खास तरह का उपाय है। जबतक अन्दर से साफ़ तौर पर आवाज़ न आये, तबतक किसी को उपवास न करना चाहिए। इसलिए अनुकरण करके तो उपवास हो ही नहीं सकता।

—६।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २५९]

७७. उपवास : आध्यात्मिक प्रयोग

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

उपवास मेरे जीवन की एक मामूली बात हो गई है। कुछ रोग इस तरह के इलाज से ही मिटते हैं। उनके लिए समय-समय पर आध्यात्मिक औषधि की ज़रूरत पड़ती है। सब में यह शक्ति एकदम नहीं आ जाती। मुझमें वह आ गई हो, तो बहुत लम्बी तालीम के परिणाम-स्वरूप ही आई है।...

—८।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २६४]

७८. उपवास : ईश्वरीय आदेश

[श्री प्रज्ञानेश्वर यति को लिखे पत्र से]

मैं अपने आप कोई उपवास नहीं करता, अन्तर्यामी की आवाज़ के अनुसार ही करता हूं। यह आवाज़ हमेशा ईश्वर की होती है या फिर शैतान की, यह कहना आसान नहीं है। इतने पर भी यह कहा जा सकता है कि इसका अन्तर्यामी की आवाज़ होने का अपना दावा मैंने सच्चा साबित किया है।

—१०।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २६८]

७९. धर्म-जागृति-हेतु तपस्या

[अकोला-निवासी श्री नाना भाई को लिखे पत्र से]

उपवास की सारी कल्पना आध्यात्मिक है। इसके विना हमारी जड़ता दूर नहीं हो सकती। हमेशा जब-जब धर्म से जड़ता आई है, तब-तब तीव्र भावनावाले लोगों ने प्रचण्ड तपस्या की है। उसके विना धर्म-जागृति हो ही नहीं सकती। अगर कोई गायब होकर, जंगल म बैठकर अनशन व्रत ले, तो उसके विरुद्ध कोई बात कहने को नहीं रहती। कोई मोह के वश होकर ऐसा क़दम उठाये, तो उसकी गिनती मूर्खता में होगी, यह दूसरी बात है। परन्तु कोई ज्ञानपूर्वक ऐसा करे तो वह क़दम निरपवाद कहलायेगा।

— ११।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २७०]

८०. आध्यात्मिक प्रयत्न से कमाया अधिकार

[सुश्री उर्मिला देवी को लिखे पत्र से]

मेरे उपवास से तुम्हें घबराना नहीं चाहिए। यह यम-नियम का एक अंग है। यह बड़े आध्यात्मिक प्रयत्न से कमाया हुआ अधिकार है।

— १२।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २७१]

८१. ईश्वरीय प्रेरणा से उपवास

मेरे उपवास में किसी तरह की जबरदस्ती हो तो मुझे कहना चाहिए कि ईश्वर उसे चाहता है। ईश्वर की इच्छा न हो, ऐसा एक भी शब्द मैं बोलना नहीं चाहता। मैं यह भी नहीं चाहता कि कोई मेरी सुने। किन्तु जब करोड़ों लोग सुनते हैं तो आपको जानना चाहिए कि यह केवल आधिभौतिक वस्तु नहीं है। ऐसे करोड़ों मनुष्यों पर , जिन्होंने मुझे देखा भी न हो या सुना भी न हो, मेरे कृत्य या वचन का असर पड़े, तो मुझे कहना चाहिए कि ईश्वर मेरे द्वारा काम कर रहा है। चम्पारन में मैं पहिले कभी गया नहीं था। वहां लाखों आदमियों ने मुझे घेर लिया। किसलिए ? वे लोग मुझे जानते तो नहीं थे। मैं तो सारी जिन्दगी दक्षिण अफ्रीका रहा था और वहां मैंने तमिल लोगों में काम किया था। फिर विहारी किसलिए मेरे पीछे हो लिये ? जो वस्तु हम समझ नहीं सकते या जिस वस्तु का हम स्पष्टीकरण नहीं कर सकते, उसका वर्णन करने के लिए गूढ़ शब्द बनाया गया है। यह

अनिवार्य है। आध्यात्मिक हेतु से जो उपवास किया जाय और जिसमें सारी प्रवृत्ति केवल आध्यात्मिक ही हो, उसका जादू का-सा असर होता है। यह कहा जाता है कि वह गूढ़ रीति से काम करता है। तुच्छ हेतु से जो उपवास किया जाता है, उससे किसी का भी भला नहीं होता। उसका उपवास करनेवाले के शरीर को कष्ट होने के सिवा और कोई असर नहीं होता।

—५।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १७]

- जब करोड़ों लोग (मेरी बात) सुनते हैं, तो आपको जानना चाहिए कि यह केवल अधिभौतिक वस्तु नहीं है।
- आध्यात्मिक हेतु से जो उपवास किया जाय और जिसमें सारी प्रवृत्ति केवल आध्यात्मिक ही हो, उसका जादू का-सा असर होता है।
- तुच्छ हेतु से जो उपवास किया जाता है, उससे किसी का भी भला नहीं होता।

८२. हमारा धर्म

[सुश्री वत्सला को लिखे पत्र से]

जिसको दुःख है उसके दुःख मिटाने की यथाशक्ति चेष्टा करके और सत्यादि यमों का भलीभाँति पालन करके जीवमात्र की सेवा होती है। जो असत्य, हिंसा, परिग्रह, स्तेय, अब्रह्मचर्य करते हैं, वे प्राणिमात्र को दुःख देते हैं; सत्यादि का पालन करके दुःख मिटाते हैं अर्थात् सेवा करते हैं।

— १६।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ५६]

८३. उपवास, अल्पाहार और प्रार्थना

विना उपवास के प्रार्थना सम्भव नहीं,—यह कथन पूर्णतया सत्य है। यहां उपवास को व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। शरीर के उपवास के साथ-साथ सभी इन्द्रियों का उपवास होना आवश्यक है। और गीता में वर्णित अल्पाहार भी शरीर का उपवास है। गीता भोजन-निग्रह का आदेश नहीं देती, वल्कि अल्पाहार के लिए कहती है। अल्पाहार सदा चलनेवाला उपवास है। अल्पता का अर्थ है कि केवल उतना ही भोजन किया जाय, जितना शरीर को उस सेवा के लिए वनाये रखने को पर्याप्त हो, जिसे करने के लिए उसका निर्माण हुआ है। इसकी कसौटी पुनः इस कथन में मिलती है कि जिस प्रकार स्वाद के लिए नहीं, वल्कि शरीर-आरोग्यता के लिए नपी-तुली मात्रा में और निश्चित समय पर औषधि का सेवन किया जाता है, उसी प्रकार आहार भी किया जाय। नपी-तुली मात्रा में अल्पता

का भाव शायद अधिक अच्छी तरह से आ जाता है। आर्नोल्ड[1] का रूपान्तर मुझे स्मरण नहीं है। पूरा भोजन लेना ईश्वर और मानव के प्रति पाप है। मानव के प्रति इसलिए कि पूरा भोजन करके हम पड़ोसियों को उनके भाग से वंचित करते हैं। भगवान की अर्थ-व्यवस्था में केवल औषधीय मात्रा में प्रतिदिन सबको भोजन लेने की गुंजाइश है। हम सब-के-सब पूरा भोजन लेनेवाली जाति के लोग हैं। अन्तःप्रवृत्ति से यह जान लेना कि औषधीय मात्रा क्या है, भगीरथ काम है, क्योंकि हमें मां-बाप का शिक्षण ऐसा मिलता है कि हम पेटू बन जाते हैं। जब हम अभ्यस्त हो जाते हैं तब हमें पता चलता है कि भोजन का उपयोग स्वाद के लिए नहीं, बल्कि अपने दास के रूप में अपने शरीर को बनाये रखने के लिए होना चाहिए। उस क्षण से आनन्द के लिए भोजन करने के पैतृक और स्व-अर्जित स्वभाव के विरुद्ध युद्ध शुरू हो जाता है। इसलिए कभी-कभी पूर्ण उपवास और सदैव आंशिक उपवास करने की आवश्यकता होती है। आंशिक उपवास का अर्थ अल्पाहार अथवा गीता के अनुसार नपा-तुला भोजन लेना है। इस प्रकार उपवास के बिना प्रार्थना सम्भव नहीं—यह कथन वैज्ञानिक है और इसकी सत्यता की परीक्षा प्रयोग और अनुभव-द्वारा की जा सकती है।

—२६।१।१९३३। 'बापूज लेटर्स टू मीरा']

- बिना उपवास के प्रार्थना सम्भव नहीं।
- शरीर के उपवास के साथ-साथ सभी इन्द्रियों का उपवास होना आवश्यक है।
- गीता में वर्णित अल्पाहार भी शरीर का उपवास है।
- अल्पाहार सदा चलनेवाला उपवास है।
- पूरा भोजन लेना ईश्वर और मानव के प्रति पाप है।
- भोजन का उपयोग स्वाद के लिए नहीं, बल्कि अपने दास के रूप में अपने शरीर को बनाये रखने के लिए होना चाहिए।
- कभी-कभी पूर्ण उपवास और सदैव आंशिक उपवास करने की आवश्यकता होती है।

८४. धर्म का नाश नहीं

मैं इतनी प्रतिज्ञा अवश्य करूँगा कि हिन्दू धर्म अथवा किसी धर्म का नाश किसी के आक्रमण से कभी नहीं हो सकता। यह स्वयंसिद्ध नियम है। किसी बाह्य

---

१. एडविन आर्नाल्ड, अंग्रेज कवि, द्वारा किया गया गीता का पद्यानुवाद।

शक्ति से जिसका नाश हो सकता है वह धर्म नहीं, भले ही वह सामाजिक व्यवहार हो। धर्म का नाश उसके अन्दर कोई गन्दगी पैदा होने से ही हो सकता है।... ...जिसका पालन स्वेच्छा से किया जाय वही धर्म हो सकता है।

—ह० से०, १७।३।१९३३]

● **किसी बाह्य शक्ति से जिसका नाश हो सकता है, वह धर्म नहीं।**

८५. आत्मशुद्धि-हेतु मन्दिर

मन्दिर जाना आत्मा की शुद्धि के लिए है। पूजा करनेवाला उपासक अपने भीतर उत्तम वृत्तियों का विकास करता है। किसी सजीव व्यक्ति को प्रणाम किया जाय और वह प्रणाम निःस्वार्थ हो, तो प्रणाम करनेवाला जिसे प्रणाम किया गया है उसके उत्तम गुणों को खींच सकता है और ग्रहण कर सकता है। सभी सजीव व्यक्ति हमारी ही तरह भूल करनेवाले हो सकते हैं। परन्तु मन्दिर में हम ऐसे चेतन ईश्वर की पूजा करते हैं, जिसकी पूर्णता हमारी कल्पना से परे है। सजीव व्यक्तियों को लिखे गये पत्रों का उत्तर मिलने पर भी अक्सर वे अन्त में हृदय-विदारक सिद्ध होते हैं और यह भी निश्चय नहीं कि उनका उत्तर हमेशा मिलेगा ही। ईश्वर के नाम लिखे गये पत्रों में, जो भक्त की कल्पना के अनुसार मन्दिरों में रहता है, न दावात-कलम की ज़रूरत होती है, न कागज की। वाणी की भी आवश्यकता नहीं। मूक पूजा ही पत्र बन जाती है और उसका उत्तर मिले बिना नहीं रहता। सारी क्रिया श्रद्धा के प्रत्यक्ष आचरण का एक सुन्दर रूप है। इसमें कोई प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता; दिल के टूटने का कोई सवाल नहीं रहता और गलतफ़हमी होने का भी कोई खतरा नहीं होता। मन्दिर, मस्जिद या गिरजे में पूजा करने के पीछे जो सरल तत्वज्ञान है, उसे पत्रलेखक को समझने की कोशिश करनी चाहिए। अगर वह यह समझ लेगा कि मैं ईश्वर के इन भिन्न-भिन्न निवास स्थानों में कोई भेद नहीं करता, तो मेरी बात उसकी समझ में ज्यादा अच्छी तरह आ जायगी। वे स्थान तो मनुष्य के हृदय की श्रद्धा ने खड़े किये हैं। वे किसी-न-किसी तरह अदृश्य शक्ति तक पहुँचने की मानव की लालसा के परिणाम हैं।

—ह० ज०, १८।३।१९३३]

● **ईश्वर के नाम लिखे गये पत्रों में......न दवात-कलम की ज़रूरत होती है, न कागज की। वाणी की भी आवश्यकता नहीं। मूक पूजा ही पत्र बन जाती है।**

८६. ब्रह्मचर्य

जो ब्रह्मचर्य का महत्व समझते हैं और उसका पालन कर सकते हैं, उनके लिए वह बहुत सुन्दर वस्तु है। पर इतना मान लेना चाहिए कि देहधारियों के लिए यह बड़ी असाधारण वस्तु है। दुनिया में सभी प्राणी नर-मादा के जोड़े में रहते हैं और काल के अन्त तक इसी तरह रहेंगे। इसलिए विवाहित जीवन और उसके परिणामों के बारे में अधीर होना शायद ठीक नहीं; साधुत्व धारण कर हमारा काम चल ही नहीं सकता। ईश्वर की गति समझ में नहीं आ सकती। इसलिए हर एक के प्रति हमें उदार रहना चाहिए। स्वयं हमको ही हर क्षण दूसरों की उदारता की ज़रूरत पड़ती है। करोड़ों मनुष्यों के लिए तो विवाहित जीवन ही विषयी और दुःखमय जीवन से मुक्त पाने का मार्ग है।

— ३०।३।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० २०६]

८७. आध्यात्मिक उपवास की शर्तें

शरीर को स्थूल भोजन देना बन्द करने से कुछ नहीं होता। जबतक सब इन्द्रियां विषयों का आहार करना बन्द न कर दें, तबतक 'पर' के दर्शन नहीं हो सकते, और बन्द कर दें तभी रोम-रोम में सत्यरूपी ईश्वर व्याप्त होगा और प्रकट होगा। इस प्रकार ऐसे आध्यात्मिक उपवास के लिए तो वे अधिकारी होंगे, जिन्होंने यमों का जागरित रहकर पालन किया होगा; जिनमें विरोधी तो क्या आततायी के प्रति भी अहिंसा होगी; जिन्होंने, ब्रह्मचर्य का पालन किया होगा तथा जिन्होंने अपरिग्रह तथा अस्तेय का सेवन किया होगा। इस साधन-सम्पत्ति के बिना एक भी आदमी मेरे पीछे उपवास शुरू न करे।

— ह० ब० ३०।४।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, (परिशिष्ट-२) पृ० ४०२]

८८. अनशन के विषय में

अनशन के बारे में लिखता हूं :—

बहुधा यह प्रश्न उपस्थित किया गया है, कि ईश्वर की प्रेरणा क्या चीज़ है? वह प्रेरणा मुझे कैसे हुई? मैंने कैसे जाना, कि यह ईश्वर की प्रेरणा थी? मैंने कैसे ईश्वर के दर्शन किये? क्या मुझे ही साक्षात्कार हो गया? ऐसे ही प्रश्न किये गये हैं।

मेरे लिए ईश्वरीय प्रेरणा, अन्तर्नाद, अन्त:प्रेरणा, सत्य का सन्देश आदि एक ही अर्थ के सूचक शब्द हैं। मुझे किसी आकृति के दर्शन नहीं हुए; ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हुआ। मैं नहीं मानता, कि मुझे किसी आकृति के दर्शन होंगे। ईश्वर निराकार है, इसीलिए उसका दर्शन आकृतिरूप में नहीं हो सकता।

जिसे ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है, वह सर्वथा निष्कलंक हो जाता है। वह कामना-रहित हो जाता है। उसके विचार में दोष, अपूर्णता या कलुष नहीं रहता। उसका कार्यमात्र सम्पूर्ण होता है, कारण कि वह स्वयं कुछ नहीं करता, उसके अन्तर में रहनेवाला अन्तर्यामी ही सब कुछ करता है। वह तो उसी में लीन हो जाता है। करोड़ों में किसी एक को ऐसा साक्षात्कार होता है। ऐसा साक्षात्कार हो सकता है, इस बारे में मुझे रंचमात्र भी शंका नहीं है। ऐसा साक्षात्कार करने की मेरी अभिलाषा है, पर अभी तक वह हुआ नहीं है। मैं जानता हूं, कि अभी मैं उससे बहुत दूर हूं। मुझे जो प्रेरणा हुई, वह एक अद्‌भुत वस्तु थी, और ऐसी प्रेरणा समय-समय पर या किसी समय बहुतों को होती है। ऐसी प्रेरणा के लिए विशेष साधना की आवश्यकता होती है। जब साधारण-से-साधारण कार्य करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए कुछ प्रयत्न और साधना की आवश्यकता होती है, तब ईश्वरीय प्रेरणा होने की योग्यता प्राप्त करने के लिए भी प्रयत्न और साधना की जरूरत हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? मुझे यह प्रेरणा हुई थी। जिस रात को यह प्रेरणा हुई, उस रात को हृदय में खूब हलचल मची हुई थी; चित्त व्याकुल था; मार्ग नहीं सूझता था। मैं उत्तरदायित्व के भार से दबा जाता था। इसी समय सहसा आवाज़ आई। बहुत दूर से आती हुई भी निकट ही मालूम पड़ती थी। यह अनुभव असाधारण था। मानो कोई मनुष्य ही कुछ कह रहा हो, ऐसी आवाज़ थी। इस समय मेरी स्वप्नावस्था नहीं थी। मैं जागरित था। रात की पहली नींद लेने के बाद मैं एक क्षण में उठ बैठा। मैं नहीं समझ सका, कि कैसे उठ गया। अन्तर्नाद सुनने के बाद हृदय की वेदना शान्त हो गई। मैंने निश्चय कर लिया। अनशन की तारीख और घड़ी भी निश्चित कर ली; मेरा भार एकदम हल्का हो गया। हृदय उल्लसित हो उठा। यह समय ११ और १२ के बीच का था। मन में स्फूर्ति आ गई। मैं शय्या से उठ कर कमरे में गया, बत्ती जलाई और मुझे जो लिखना था वह लिखने बैठ गया। पाठकों ने मेरा वह लेख तो देख ही लिया होगा।

मुझे जो ईश्वरीय प्रेरणा हुई थी, वह मेरे गरम दिमाग़ से निकली हुई तरंग नहीं थी, यह सिद्ध करने के लिए मुझसे कहा गया है। उपर्युक्त वर्णन पर जो विश्वास न कर सके, उसके लिए मेरे पास कोई अन्य प्रमाण नहीं है। वह कह

सकता है, कि यह वर्णन केवल आत्म-प्रवंचना है। यही वात दूसरों के वारे में भी हुई है। मेरे लिए आत्म-प्रवंचना का होना असम्भव है, यह तो मैं नहीं कह सकता; कहूं भी तो सिद्ध नहीं कर सकता। पर इतना कह सकता हूं, कि अगर सारा जगत् ही मेरा कहना न माने और विरुद्ध वात कहे, तो भी मुझे अन्तर्नाद हुआ और ईश्वरीय प्रेरणा हुई, इस वात पर मैं अन्त तक डटा रहूंगा।

पर कितने तो ईश्वर के अस्तित्व ही को नहीं मानते। वे तो यहां तक कहते हैं, कि ईश्वर-जैसी कोई कोई वस्तु है ही नहीं। वह केवल मनुष्य की कल्पना की एक कृति है। जहां ऐसे विचार वस रहे हों, वहां किसी का कुछ वस नहीं चलता, क्योंकि उनमें मन तो कल्पना के घोड़े-रूप हो जाता है। ऐसे लोग मेरे कथन को भले ही कल्पना का एक नवीन घोड़ा समझें फिर भी उन्हें समझ लेना चाहिए, कि जहां तक इस कल्पना का मेरे ऊपर अधिकार है, वहां तक मैं उसके वश में रह कर ही चल सकता हूं। सत्य-से-सत्य वस्तु भी सापेक्ष, अर्थात् दूसरे के प्रमाण से ही सत्य होती है। सम्पूर्ण और शुद्ध सत्य तो केवल ईश्वर के विपय में ही हो सकता है। जो आवाज़ मैंने सुनी, वह मुझे अपने अस्तित्व से अधिक सत्य मालूम होती है। इसके अधीन होकर मैंने कुछ खोया नहीं, वल्कि प्राप्त ही अधिक किया है। जिन दूसरे लोगों ने इस अन्तर्नाद के सुनने का दावा किया है, उन्हें भी यही अनुभव हुआ है।

...कोई मुझसे पूछे, कि अनशन के औचित्य के वारे में मुझे कोई शंका है या नहीं, तो मैं कह सकता हूं कि मुझे कोई शंका नहीं। इतना ही नहीं वल्कि इस अनुभव के अत्यन्त मधुर स्मरण मेरे पास हैं। यद्यपि शरीर को वहुत कष्ट था, पर उस समय की अनिर्वचनीय शान्ति से मुझे शरीर के कष्ट का पूरा-पूरा वदला मिल गया। शान्ति तो मुझे अपने प्रत्येक उपवास में प्राप्त हुई है, पर इस अन्तिम उपवास की शान्ति कुछ और ही थी। शायद इसका कारण यह था कि इस समय मेरी दृष्टि अनशन के किसी भी परिणाम पर नहीं थी। पहिले अनशनों से कुछ-न-कुछ स्पष्ट दिखाई पड़ सकनेवाले परिणामों के ऊपर मेरे मन में आशा रहती थी, पर इस वार ऐसा कुछ नहीं था। इतनी श्रद्धा अवश्य थी, कि उपवास के फलस्वरूप आत्म-शुद्धि और थोड़ी वहुत अन्य साथियों की शुद्धि तो होगी ही। मेरे सहयोगी इतना तो समझ ही जायंगे, कि अन्तर की शुद्धि के विना सच्ची हरिजन-सेवा असम्भव है। पर इस परिणाम को नापने के लिए मेरे पास कोई माप-दण्ड नहीं है। अतः कहा जा सकता है, कि परिणाम के ऊपर वाह्य दृष्टि रखने के वजाय मैं इन इक्कीस दिनों में मुख्यतः अन्तर्मुख होकर ही रहा।

इस अनशन के स्वरूप पर कुछ विस्तृत विचार करना उचित होगा। क्या यह केवल-मात्र देह-दमन था? मेरा दृढ़ विश्वास है, कि केवल देह-दमन के लिए किये गये अनशन से, वैज्ञानिक दृष्टि से, शरीर को तो कुछ लाभ पहुँचता है। पर इसके अतिरिक्त और कुछ असर नहीं होता। मैं जानता हूं, कि मेरा उपवास देह-दमन के लिए तनिक भी नहीं था। देह-दमन के लिए मेरी तैयारी भी नहीं थी। जिस समय मैंने प्रतिज्ञा की थी, उस समय अनशन कल्पना के वाहर था। इस वीच में मित्रों को लिखे गये पत्रों से स्पष्ट है, कि केवल तात्कालिक अनशन मेरी दृष्टि के वाहर था। मेरे लिए यह अनशन, हृदय में से निकली हुई ईश्वर के प्रति याचना अथवा प्रार्थना के समान था। मुझे जितना प्रार्थना का अनुभव होता जाता है, उतना ही मुझे यह स्पष्ट प्रकट होता जाता है, कि न्यूनाधिक अनशन के विना शुद्ध प्रार्थना असम्भव है। इस स्थान पर अनशन का विस्तृत अर्थ करना ठीक होगा। अनशन में, थोड़े-वहुत अंश में, अपनी समस्त इन्द्रियों को पोषण करने वाली क्रिया वन्द करनी पड़ती है। प्रार्थना अन्तस्तल की वस्तु है। प्रार्थना करते समय मनुष्य न तो आँख से कोई चीज देखता है, न कान से कोई दूसरा शब्द सुनता है, और न अन्य इन्द्रियों से ही कुछ काम लेता है। विचार-सहित वह केवल प्रार्थना में ही लीन रहता है। तो फिर ऐसी दशा में खाने की क्रिया मन्द पड़ जाय अथवा विल्कुल वन्द हो जाय, इसमें विचित्रता ही क्या है? अतः जो मनुष्य प्रार्थना में ही लीन है, उसे और किसी क्रिया की वात सूझ ही नहीं सकती। ऐसा भी समय आ सकता है, जव मनुष्य केवल प्रार्थनामय हो जाय। इसका अर्थ साक्षात्कार है। इस समय वह खाता, पीता और चाहे जो काम करता हुआ प्रार्थना ही करता है, कारण कि उसकी प्रवृत्तिमात्र ही एक महायज्ञ के समान हो जाती है। वह स्वयं शून्यवत् होकर विचरण करता है। इस अवस्था को सन्तों ने सहज समाधि कहा है। असंख्य मनुष्य अनशनमय प्रार्थना करते हैं; उनमें से कोई कोई विरला ही सहज समाधि प्राप्त कर सकता है। अतः मुझ-जैसे सामान्य मनुष्य की प्रार्थना का आरम्भ सव इन्द्रियों के दमन से ही हो सकता है। इस रीति से अनशन का विचार करते हुए, आध्यात्मिक दृष्टि से किया अनशन हृदय का नाद होता है। इसमें आत्मा की, परमात्मा में लीन हो जाने की तीक्ष्ण वृत्ति रहती है। मेरा अनशन कितने अंश में प्रकार का था, यह मैं नहीं जानता। मैं तो इतना ही जानता हूं कि अनशन इस दृष्टि से ही किया गया था। ईश्वरीय प्रेरणा की मेरी भूख वहुत वर्षों की है। इस भूख की तृप्ति अभी नहीं हुई है। मेरा छोटे-से-छोटा कार्य भी ईश्वर-प्रेरित होता है, और इसी के लिए मैं सारा पुरुषार्थ करता हूं, इतना ही मैं कह सकता हूं। फल-प्राप्ति की परवाह न करने

पर भी इस अनशन के कितने ही परिणाम मुझे दिखाई पड़े हैं। इस अनशन से प्रेरित होकर कितने ही साथियों ने आत्म-शुद्धि की है।...

इसीलिए प्रतिदिन मेरा यह निश्चय दृढ़ होता जाता है, कि अनशनकारियों की एक शृंखला निर्मित की जाय। उसमें सुयोग्य स्त्री-पुरुष अपना-अपना योग दें और वे सब इस शृंखला की कड़ियां बन जायं। यह शृंखला कैसे निर्मित होगी, इसमें कड़ियों का रूप कौन लेगा, यह सब मैं अभी स्पष्ट रूप से नहीं जानता।...

—ह० व०। ह० से० १४।७।१९३३]

- **न्यूनाधिक अनशन के बिना शुद्ध प्रार्थना असंभव है।**
- **प्रार्थना अन्तस्तल की वस्तु है।**
- **ऐसा भी समय आ सकता है जब मनुष्य केवल प्रार्थनामय हो जाय।**

८९. धर्म-अर्थ का समन्वय

धर्म और अर्थ के बीच मेल न मानना घोर अज्ञान की बात है। जो मनुष्य अर्थ को धर्म पर निर्भर रखता है, उसे अर्थ-लाभ होता है और धर्म-लाभ तो है ही।

—अमरावती, १६।११।१९३३। ह० से०, १।१२।१९३३]

९०. धर्म के लिए तप

धर्म ने ही हमें सिखाया है कि धर्म-पालन और धर्म-जागरण के कार्य में तपश्चर्या से ही सफलता मिल सकती है।

—ह० से०, ९।१२।१९३३]

९१. धर्म की प्रक्रिया

धार्मिक कार्य में सभ्यता छोड़ी कि धर्म गया। धर्म के साथ असभ्यता या अविवेक मेल नहीं खा सकता। धर्म के साथ तो विनय, विवेक, सभ्यता, दया आदि सद्गुण ही शोभा देते हैं।

—रायपुर। ह० से०, २२।१२।१९३३]

९२. धर्म का पालन

शास्त्र कहते हैं कि धर्म का पालन असि-धारा पर चलने के समान है।
—ह० से०, १२।१।१९३४]

९३. धर्ममय जीवन

मेरा सारा जीवन धार्मिक भावना से ओत-प्रोत रहा है। मैं बिना धर्म के एक पल भी जीवित नहीं रह सकता था। मेरे बहुत-से राजनीतिक मित्रों को मेरी ओर से निराशा हो गई है, क्योंकि उनका कहना है कि मेरी राजनीति में भी धर्म की बू आ जाती है। उनका कथन सही है। हां, मेरी राजनीति और मेरी समस्त प्रवृत्तियां धर्म से ही निकली हैं। मैं तो यह भी कहूंगा कि धार्मिक मनुष्य का प्रत्येक कार्य धर्म का ही परिणाम होना चाहिए क्योंकि धर्म का अर्थ है ईश्वरीय बन्धन। इसका अर्थ यह कि मनुष्य की प्रत्येक साँस पर ईश्वर का ही शासन चल रहा है। अगर आप इस सत्य का साक्षात्कार कर लें तो आप देखेंगे कि ईश्वर ही आपके प्रत्येक कार्य का नियामक और संचालक है।
—पन्नामपेट। ह० से० ९।३।१९३४]

९४. धर्म का नाश नहीं होता

धर्म का विनाश किस प्रकार सम्भव है, यह प्रश्न पूछा जा सकता है। वास्तव में धर्म का नाश नहीं हो सकता। परन्तु यदि अधर्म धर्म का स्वांग बना ले, तो ऐसा नक़ली धर्म निश्चय ही नष्ट हो जायगा।
—कारवार २८।२।१९३४। ह० से० १६।३।१९३४]

९५. उपवास एक आध्यात्मिक क्रिया

मेरी दृष्टि से उपवास का आध्यात्मिक मूल्य इतना अधिक रहा है कि मैं उसे आँक नहीं सकता। मैं नहीं जानता क्यों, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब मनुष्य पर संकट आता है, तो वह उसी तरह सर्वतोभावेन भगवान से चिपट जाता है, जिस तरह अबोध बालक कष्ट में अपनी माँ से चिपट जाता है।
—ह० ज०। ह० से०, २४।८।१९३४]

९६. रामनाम राम-बाण है

राम-नाम राम-बाण है, यह अटल विश्वास तू रखती है।...सर्वत्र अन्धकार दिखाई देता हो तो राम-नाम का रटन करती ही रहना। इससे भला ही होगा।

—बिड़ला मिल्स, दिल्ली, ३१।१२।१९३४। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृ० २३२, न० जी० प्र० मं०]

९७. धर्मोपदेश

धर्म-सन्देश को जीवन में उतारना ही उपदेश का आदि, मध्य और अन्त में सबसे प्रभावशाली तरीक़ा है।...मैं तो उन्हें प्यार करता हूं, जो कभी उपदेश नहीं करते, किन्तु अपने अन्तर्बोध के अनुसार वैसा आचरण करते हैं। वे कुछ कहते नहीं, फिर भी उनका मूक आचरण उनके धर्मोपदेश का अत्यन्त प्रभावशाली प्रमाण देता है।...मैं यह नहीं बता सकता कि किस चीज़ का उपदेश किया जाय, पर मैं यह कह सकता हूँ कि सेवा और अत्यन्त सादगी का जीवन ही सर्वोत्तम धर्मोपदेश है।...जहां भी कोई उपदेश के द्वारा धर्म-सन्देश ग्रहण करने की बात कही जाती है, वहां मेरी हमेशा यह शिकायत रहती है कि वहाँ कोई-न-कोई मतलब की बात होगी।

...सारे धर्मोपदेश को हमारा एक लोभपूर्ण हेतु नष्ट कर देता है। वह एक बूंद जहर के समान है, जो सारे भोजन को खराब कर देता है। इसलिए मुझे तो बिना उपदेश के अपना काम चला लेना चाहिए। गुलाब के फूल को उपदेश करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। वह तो केवल अपनी सुगन्ध फैला देता है। वह सुगन्ध ही उसका पवित्र प्रवचन है। अगर मनुष्य-जैसी समझ गुलाब के फूल में होती और वह बहुत-से उपदेशकों को रख सकता तो जितने फूलों को उसकी सुगन्ध बिकवा देती है, उससे अधिक फूलों को उसके वे तमाम उपदेशक कभी न बिकवा सकते। फिर, धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध तो गुलाब की सुगन्ध से कहीं ज्यादा मीठी और सूक्ष्म है।

—ह० ज०। ह० से०, ५।४।१९३५]

- सेवा और अत्यन्त सादगी का जीवन ही सर्वोत्तम धर्मोपदेश है।
- सारे धर्मोपदेश को हमारा एक लोभपूर्ण हेतु नष्ट कर देता है।
- गुलाब के फूल को उपदेश की जरूरत नहीं पड़ती। वह तो केवल अपनी सुगन्ध फैला देता है। वह सुगन्ध ही उसका पवित्र प्रवचन है।

९८. मौन

[चार सप्ताह के मौन व्रत की समाप्ति पर किये गये प्रवचन का अंश।]

...मौन से मुझे...अनेक लाभ हुए हैं। चूंकि मेरी दृष्टि में सदा केवल आध्यात्मिक लक्ष्य रहता है, इसलिए मेरे इस मौनव्रत से मुझे स्पष्ट ही आध्यात्मिक लाभ हुआ। जो (व्यक्ति) अपने जीवन में निरन्तर अनवरत रीति से सत्य की शोध कर रहा हो उसके लिए मौन बहुत आवश्यक है। किन्तु वह मौन मेरे इस मौन से कहीं अधिक महान वस्तु है। उसमें तो बातचीत का साधन—लिखना भी, बन्द कर देना चाहिए। यदि अन्तर में सत्य होगा तो वह वाणी के बिना, लेखनी के बिना, प्रत्येक कार्य-द्वारा बोलेगा।...

इस मौन में मुझे एक गुण और दर्पण के समान दिखाई दिया। क्रोध जैसे सबको आता है, वैसे ही मुझे भी आ जाता है। पर मैं उसे सफलतापूर्वक दबा सकता हूं।...मुझे यह मालूम हुआ कि क्रोध को दबाने में मौन से जितनी सहायता मिलती है उतनी शायद किसी अन्य साधन से नहीं मिलती। मनुष्य मौन रहेगा, तो क्रोध कैसे प्रकट करेगा। नेत्रों के द्वारा तो प्रकट नहीं करेगा। और जब उसने अहिंसा का व्रत ले लिया है, तब शारीरिक हिंसा के द्वारा वह क्रोध को उत्तेजन नहीं दे सकता। वह लिखकर भी क्रोध नहीं प्रकट कर सकता, क्योंकि लिखने की क्रिया आरम्भ करने में ही क्रोध का शमन हो जाता है।...

—ह० ज०। ह० से०, ३।५।१९३५]

- **जो......सत्य की शोध कर रहा हो उसके लिए मौन बहुत आवश्यक है।**

९९. निर्बल के बल राम

[बम्बई की प्रार्थना-सभा में किये गये प्रवचन का अंश।]

आप लोगों को आश्चर्य होगा कि जब बहुतेरे मनुष्यों के लिए ईश्वर का अस्तित्व भी सन्देह का विषय हो रहा है, तब मैंने बम्बई में प्रार्थना-सभा करने के लिए क्यों स्वीकृति दे दी? ऐसे लोग भी हैं, जिनका कहना है, अगर ईश्वर का वास हर एक के हृदय में है, तो फिर कौन, किसकी प्रार्थना करे और कौन किसका नामस्मरण? मैं यहां इन विचित्र दिमाग़ी पहेलियों को सुलझाने नहीं आया हूं। मैं तो इतना ही कह सकता हूं कि मेरे बचपन से ही यह प्रार्थना मुझे धैर्य और बल प्रदान करती आ रही है।

. . .प्रभु का यह वाना है कि जो भी अपने को निर्वल और असहाय समझ-कर उसकी शरण जाता है, उसकी समस्त निर्वलता को वह हर लेता है। भक्त सूरदास ने यही तो गाया है—'सुने री मैंने निर्वल के वल राम।' यह वल अस्त्र-शस्त्र या किसी अन्य सावन से प्राप्त नहीं होता। यह वल तो उस अशरण-शरण राम के नामस्मरण में सर्वतोभावेन तन्मय हो जाने से ही प्राप्त हो सकता है। रामनाम तो केवल भगवान का एक प्रतीक है। उसे आप गाड, अल्लाह या जिस नाम से पुकारना चाहें, पुकार सकते हैं। उसी क्षण आपके अन्दर शक्ति आ जायगी, आपकी सारी निराशा दूर हो जायगी, जब आप सर्वाश्रय छोड़कर एक ईश्वर का ही आश्रय पकड़ लेंगे। सूरदास के. . .भजन में जो यह आया है—'जंवलगि गज वल अपनो वरत्यो नेक सर्‌यो नहिं काम, निर्वल ह्वै वलराम पुकार्‌यौ आये आवे नाम'—इस पर आप मनन कीजिए। आपको यह तो मालूम ही होगा कि जव गजेन्द्र को ग्राह ने ग्रस लिया, तव उसने पैर छुड़ाने का वहुत यत्न किया, पर सव वेकार गया। केवल गजेन्द्र की सूंड़ मात्र जल के ऊपर निकली हुई थी। उसने अन्त में अपने को सर्वथा निर्वल, निस्सहाय पाकर ज्यों ही हरि का नाम-स्मरण किया, त्योंही भगवान ने उसका फन्दा काट दिया। गजेन्द्रमोक्ष तो एक रूपक मात्र है। पर इसके अन्दर एक महान सत्य छिपा हुआ है। मैंने अपने जीवन में वार-वार उस सत्य का अनुभव किया है। घोर से घोर निराशा के समय, जव इस दुनिया में न तो हमारा कोई सहायक दीखता है न सहारा, तव भगवान का अमोघ नाम ही हमें वल और स्फूर्ति प्रदान करता है और हमारे समस्त संशय तथा निराशा को एक क्षण में दूर कर देता है। सम्भव है कि आज निराशा की काली घटाएं घिरी दीखती हों, पर उन्हें छिन्न-भिन्न करने के लिए हमारे अन्तस्तल से निकली हुई प्रार्थना ही काफी है। इस प्रार्थना के वल पर मैंने अपने जीवन में निराशा-जैसी वस्तु को कभी नहीं जाना. . . .हम आज भगवान से यह प्रार्थना करें कि वह हमारे हृदय से क्षुद्रता, नीचता और वंचकता को दूर कर दे। वह हमारी इस प्रार्थना को निश्चय ही सुनेगा। मैं जानता हूं कि अनेक को इस प्रार्थना-द्वारा निश्चय ही वल मिलता है।
—ह० ज०। ह० से०, ७।६।१९३५]

- प्रार्थना मुझे धैर्य और वल-प्रदान करती आ रही है।
- रामनाम तो केवल भगवान का एक प्रतीक है।

१००. प्रार्थना या सेवा ?

[क्वेटा से आये एक भूकम्प-पीड़ित ने गांधी जी से मिल कर उन्हें विनाशकारी दुर्घटना का विवरण दिया। वह गांधी जी के इस विचार से सहमत थे कि भूकम्प

ईश्वर का कोप नहीं, आशीर्वाद ही है। किन्तु उनकी समझ में नहीं आता था कि यह अवसर सेवा का है या प्रार्थना का? उनकी वार्ता का आवश्यक अंश यहाँ दिया जाता है। —सम्पा०]

प्रश्न—प्रार्थना क्यों और सेवा क्यों नहीं?

गांधी जी—अवश्य अगर सेवा का द्वार हमारे लिए खुला होता तो। मगर ऐसे लाखों मनुष्य हैं जो भूकम्प से बचे मनुष्यों की सेवा करने में विल्कुल असमर्थ हैं। इसलिए इस दैवी प्रकोप की वात करने के वजाय उन्हें अपना अन्तर्मन्थन और आत्म-शुद्धि करनी चाहिए। प्रार्थना आत्मशुद्धि के लिए एक आमन्त्रण है।

प्रश्न—किन्तु सेवा-रहित कोरी प्रार्थना क्या निरर्थक नहीं है?

गांधी जी—मैं यहां प्रार्थना के वाहरी प्रदर्शन की वात नहीं कर रहा हूँ। मैं तो आत्म-निरीक्षण और आत्म-शुद्धि की वात कर रहा हूं। हम सवको इस प्रार्थना की ज़रूरत है। अगर हम जागरित अवस्था का अपना सारा समय सेवा-कार्य में लगाते तो मुझे कुछ कहना नहीं था। पर वात ऐसी नहीं है। और जव हमारा सारा समय सेवा-कार्य में नहीं लग रहा है, तव हम आत्म-शुद्धि के लिए भगवान का नाम लें, तो वह व्यर्थ नहीं जायगा।

—ह० ज०। ह० से०, २८।६।१९३५]

● प्रार्थना आत्मशुद्धि के लिए एक आमन्त्रण है।

१०१. ईश्वर-सेवा

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—जव हम ईश्वर को जानते ही नहीं तो उसकी सेवा कैसे करें?

उत्तर—हम ईश्वर को भले ही न जानें, पर उसकी रची हुई सृष्टि को तो जानते हैं। सृष्टि की सेवा उस सृजनकर्ता की सेवा है।

—ह० ज०। ह० से०, २२।८।१९६३]

१०२. मेरी आध्यात्मिक प्रेरणा का स्रोत

[श्री वेसिल मेथ्यूज गांधी जी से मिलने के लिए सेगांव आये थे। उन्होंने गांधी जी से आध्यात्म-सम्वन्धी कुछ प्रश्न किये थे जिनके उत्तर अत्यन्त उपयोगी एवं मार्ग-दर्शक हैं। यह वार्ता संकलित की जा रही है। श्री मेथ्यूज़ का प्रश्न था कि गांधी जी कोई आध्यात्मिक क्रियाएं करते हैं या नहीं और उन्हें कौन-सी पुस्तक

पढ़ने से सहायता मिलती है। इसके उत्तर में गांधी जी ने जो कुछ कहा, यहां दिया जाता है।—सम्पा०]

मैं योग की क्रियाएं तो जानता नहीं। मैं जो क्रिया करता हूं उसे मैंने बचपन में अपनी दाई से सीखा था। मुझे भूत का डर लगता था। इस पर वह मुझसे कहती, भूत-जैसी कोई चीज़ है ही नहीं, फिर भी अगर तुझे डर लगे तो राम नाम ले लिया कर। मैंने बचपन में जो सीखा, उसने मेरे मानसिक आकाश में विशाल रूप धारण कर लिया है। इस सूर्य ने घोर-से-घोर अन्धकार के समय मुझे प्रकाश दिया है। यही आश्वासन ईसाई को ईसा का नाम लेने से और मुसलमान को अल्लाह के नाम से मिलता है। इन सब का अर्थ तो एक ही है और समान परिस्थितियों में इनका एक-सा परिणाम होता है। यह नाम-स्मरण केवल तोते की तरह नहीं होना चाहिए। यह नाम-ध्वनि अन्तस्तल से उठनी चाहिए। धार्मिक वाचन में तो हम भगवद्गीता का नित्य पाठ करते हैं और अब हम यहां तक पहुंच गये हैं कि रोज प्रातःकाल निश्चित किये हुए कुछ अध्यायों का पाठ करके सप्ताह में समस्त गीता पूरी कर देते हैं। इस पाठ के बाद भारत के अनेक सन्त-महात्माओं के भजन गाये जाते हैं। और उनमें हमने ईसाई भजन भी रखे हैं। आजकल खान साहब यहीं हैं इसलिए कुरान का पाठ भी होता है। हम मानते हैं कि सभी धर्म समान हैं। मुझे सबसे अधिक आश्वासन तुलसीकृत रामायण के पाठ से मिलता है। बाइबिल के न्यू टेस्टामेण्ट और कुरान से भी मुझे आश्वासन मिलता है। मैं इन्हें आलोचक की दृष्टि से नहीं पढ़ता। मेरे मन में इनका महत्व भगवद्गीता के समान ही है, यद्यपि न्यू टेस्टामेण्ट के सभी अंश—उदाहरणार्थ पाल के पत्रों का सारा प्रकरण—मुझे पसन्द नहीं। इसी तरह तुलसीदास की रामायण की सारी चौपाइयां मेरे गले नहीं उतरतीं। गीता एक शुद्ध निरलंकृत धार्मिक संवाद है। यह जीवात्मा की परमात्मा के प्रति प्रगति का वर्णन मात्र है। इसलिए इनमें से चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता।

श्री मैथ्यूज़—आप तो सचमुच प्रोटेस्टेण्ट हैं।

गांधी जी—मैं क्या हूं और क्या नहीं, इसका मुझे पता नहीं। श्री हॉज मुझे प्रेस्बाइटेरियन कहेंगे।

प्रश्न—आप धर्म का प्रमाण क्या मानते हैं?

उत्तर—(छाती की तरफ उंगली का संकेत करके) यहां। मैं प्रत्येक धर्मशास्त्र के विषय में, गीता के विषय में भी, अपनी बुद्धि का प्रयोग करता हूं; शास्त्र-वचन को अपनी बुद्धि का स्थान नहीं लेने देता। मैं मानता हूं कि संसार के सभी धर्मग्रन्थ ईश्वर-प्रेरित हैं, पर दो-दो चलनियों से छनकर आने के कारण वे पूर्ण

शुद्ध नहीं होते। पहिले तो वे किसी मानव ऋषि या पैग़म्बर द्वारा आते हैं; फिर भाष्यकार उनकी टीकाएं करते हैं। उनमें से कुछ भी ईश्वर के पास से सीधे नहीं आता। एक ही वचन को मैथ्यू एक रूप में देता है और जान दूसरे रूप में। मैं धर्म-ग्रन्थों को ईश्वर-प्रणीत अवश्य मानता हूं, फिर भी अपनी बुद्धि का उपयोग किये बिना नहीं रह सकता। मेरी स्थिति के सम्बन्ध में आपको कोई ग़लतफ़हमी न हो जाय। मैं श्रद्धा को भी मानता हूं। मेरा विश्वास है कि कुछ चीजें बुद्धि से परे हैं। उनमें बुद्धि नहीं चल सकती। ईश्वर का अस्तित्व इनमें से एक है। कोई कितने ही तर्क दे मेरी यह (ईश्वर-विषयक) श्रद्धा विचलित नहीं हो सकती। अत्यन्त प्रखर बुद्धि वाला मनुष्य तर्क से मुझे पराजित कर दे तो भी मैं कहता जाऊंगा, फिर भी ईश्वर तो है ही।

—ह० ज०। ह० से०, १२।१२।१९३६]

- नाम-ध्वनि अन्तस्तल से उठनी चाहिए।
- गीता एक शुद्ध निरलंकृत धार्मिक संवाद है।
- यह (गीता) जीवात्मा की परमात्मा के प्रति प्रगति का वर्णन मात्र है।
- संसार के सभी धर्म-ग्रन्थ ईश्वर-प्रेरित हैं।
- कुछ चीजें बुद्धि से परे हैं......ईश्वर का अस्तित्व इनमें से एक है।

१०३. हमारा धर्म

दूसरे मनुष्य हमारे साथ चाहे जैसा बर्ताव करें, तब भी हमें अपने धर्म का त्याग करना उचित नहीं। धर्म का उद्गम-स्थान हृदय में विराजमान ईश्वर है और अगर हम अपने ईश्वर के प्रति निष्ठा रखना चाहते हैं, तो उसके दिये हुए धर्म का त्याग कभी न करें। यदि हम हर एक काम में ईश्वर को मार्ग-दर्शक, स्वामी और शासक मानकर चलें तो सारे संसार के विरोध की चिन्ता किये बिना हम अपने धर्म में स्थित रह सकते हैं।

—ह० ज०। ह० से०, २०।३।१९३७]

१०४. उपवास का आध्यात्मिक आयाम

उपवास आदिकाल से चला आ रहा है। यह आत्मशुद्धि अथवा किसी उच्च या नीच हेतु की सिद्धि के लिए किया जाता है। बुद्ध, ईसा तथा पैग़म्बर मुहम्मद

ने ईश्वर-साक्षात्कार के लिए उपवास किये थे। रामचन्द्र जी ने अपनी वानर-सेना के लिए मार्ग देने के हेतु सागर के सामने उपवास किया था। मैंने अपने उपवासों में ऊपर बताये महान उदाहरणों का अपेक्षाकृत हल्के उद्देश्य से भी, अनुसरण मात्र किया है।

—ह० ज०। ह० से०, २५।३।१९३९]

१०५. ईश्वर में श्रद्धा

यद्यपि सबको इसका ज्ञान नहीं, फिर भी ईश्वर में श्रद्धा सभी को है। कारण, सभी को अपने में विश्वास है और वही अनन्तगुना होने पर ईश्वर बन जाता है। जगत् में दिखाई देने वाला सारा जीवन ईश्वर है। हम ईश्वर न हों तो भी ईश्वर के तो हैं ही, जैसे पानी की छोटी-सी बूंद महासागर की होती है। कल्पना कीजिए कि वह समुद्र से अलग करके लाखों मील दूर फेंक दी जाती है। तब वह अपने स्थान से विच्छिन्न होकर निःसहाय बन जाती है और महासागर की शक्ति और भव्यता का अनुभव नहीं कर सकती। परन्तु यदि कोई उसे यह बता दे कि वह महासागर का ही अंग है, तो उसकी श्रद्धा पुनर्जीवित हो जायगी; वह खुशी के मारे नाचने लगेगी और महासागर की सारी शक्ति और भव्यता उसमें प्रतिबिम्बित होने लगेगी।

—ह० ज०, ३।६।१९३९]

१०६. ईश्वराधीन

मेरी तबीयत की फिक्र करती है, यह बताता है कि न तू ईश्वर को जानती है, न मुझको। ईश्वर को जाने तो समझेगी कि तू, मैं और दूसरे सब उसी के मातहत हैं।...

—सेवाग्राम, १०।१।१९४५। बापू के पत्र: बीबी अमतुस्सलाम के नाम, पृ० २२२, न० जी० प्र० मं०]

१०७. प्रार्थना में हम कहाँ हैं?

अगर प्रार्थना के समय मन घूमता रहे, ईश्वर में न रहे, तो प्रार्थना में हाजिरी मात्र भले ही हो, हम वहाँ नहीं हैं। हमारे शरीर और मन में द्वन्द्व चलता रहता है। आखिर मन जीत जाता है।

—२२।२।१९४५। 'बापू की छाया में', बलवन्तसिंह, पृ० ३००, संस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

१०८. रामनाम और प्राकृतिक चिकित्सा

दूसरी सब चीजों की तरह मेरी प्राकृतिक चिकित्सा की कल्पना ने भी धीरे-धीरे विकास किया है। वर्षों से मेरा यह विश्वास रहा है कि जो मनुष्य अपने में ईश्वर का अस्तित्व अनुभव करता है, और इस तरह विकाररहित स्थिति प्राप्त कर चुकता है, वह लम्बे जीवन के रास्ते में आनेवाली सारी कठिनाइयों को जीत सकता है। मैंने जो देखा और धर्मशास्त्रों में पढ़ा है, उसके आधार पर मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि जब मनुष्य में उस अदृश्य शक्ति के प्रति पूर्ण जीवित श्रद्धा पैदा हो जाती है, तब उसके शरीर में भीतरी परिवर्तन होता है। लेकिन यह सिर्फ इच्छा करने मात्र से नहीं हो जाता। इसके लिए हमेशा सावधान रहने और अभ्यास करने की जरूरत रहती है। दोनों के होते हुए भी ईश्वर-कृपा न हो, तो मानव-प्रयत्न व्यर्थ जाता है।

—प्रेस रिपोर्ट, १२।६।१९४५, 'रामनाम' संकलन; पृ०२४; न० जी० प्र० मं०]

१०९. नामाधार

अगर लाख प्रयत्न करने पर भी मनुष्य का मन अपवित्र रहे, तो रामनाम ही उसका एकमात्र आधार होना चाहिए।

—मद्रास के नजदीक पहुँचते हुए, २१।१।१९४६। 'रामनाम' संकलन; पृष्ठ ६७; न० जी० प्र० मं०।]

११०. कुछ आध्यात्मिक प्रश्न

[गांधी जी से पूछे गये कुछ आध्यात्मिक प्रश्न और उनके उत्तर]

प्रश्न—दूसरे से बातचीत करते समय, मस्तिष्क-द्वारा कठिन कार्य करते समय अथवा अचानक घबड़ाहट आदि के समय भी क्या हृदय में रामनाम का जप हो सकता है? अगर ऐसी दशा में भी लोग नाम जप करते हैं, तो किस प्रकार?

उत्तर—अनुभव कहता है कि मनुष्य किसी भी हालत में हो, चाहे सो ही रहा हो, अगर आदत पड़ गई है और नाम हृदयस्थ हो गया है, तो जबतक हृदय चलता है तबतक राम-नाम हृदय में चलता ही रहना चाहिए। अन्यथा यह कहा

जायगा कि मनुष्य जो रामनाम लेता है, वह उसके कण्ठ से ही निकलता है, अथवा कभी-कभी हृदय तक पहुँचता है, लेकिन हृदय पर नाम का साम्राज्य स्थापित नहीं हुआ है। जब नाम ने हृदय का स्वामित्व पाया है तब जप क्यों किया जाय, यह सवाल नहीं पूछा जाना चाहिए। क्योंकि यदि नाम हृदय में स्थान लेता है तो उच्चारण की आवश्यकता नहीं है। यह कहना ठीक होगा कि इस तरह राम-नाम जिनको हृदयस्थ हुआ है, ऐसे लोग कम होंगे। राम-नाम में जो शक्ति मानी गई है, उसके बारे में मुझे कोई शक नहीं है। हर आदमी इच्छा मात्र से ही राम-नाम को अपने हृदय में अंकित नहीं कर सकेगा। उसमें अथक परिश्रम और धैर्य की आवश्यकता है। पारसमणि को पाने के लिए धैर्य क्यों न हो? (राम) नाम तो उससे भी अधिक है।

प्रश्न—क्या दिमाग़ की किसी कमजोरी के कारण मन को सन्देह दीख पड़ते हैं, अथवा क्या निश्चल दशा में पहुँचने से पहिले मन के लिए इन दशाओं से गुजरना आवश्यक है? जागरित दशा में भी शान्त मन में स्वप्न के-से खेल क्यों होते हैं? अर्थात् जिन घटनाओं का प्रत्यक्ष जीवन की स्मृति के साथ कभी सम्बन्ध नहीं रहा, उनका दिमाग़ में आना अथवा हृदय में उच्चारण क्यों होने लगता है?

उत्तर—निश्चल दशा में पहुँचने के पहिले, जिसका वर्णन प्रश्नकर्त्ता ने किया है, लगभग सबके लिए ऐसा होना आवश्यक है। लगभग कहने का मतलब है कि पूर्वजन्म में जिन्होंने साधना की है, लेकिन जो सिद्धार्थ नहीं हुए, उनको इस जन्म में यातना से नहीं गुज़रना पड़ेगा। शान्त मन में स्वप्न के-से खेल होते हैं। इसका अर्थ इतना ही है कि मन बाहर से शान्त दीखता है, परन्तु वास्तव में वह शान्त नहीं है। प्रत्यक्ष जीवन में जिसका सम्बन्ध नहीं दीखता, मन में उसका संचरण होता है, इसका अर्थ मेरी दृष्टि में यह है कि स्मृति के अतिरिक्त भी बहुत-सी चीज़ें हैं, जिनका सम्बन्ध रहता ही है।

प्रश्न—सेवाकार्य के कठिन अवसरों पर भगवद्भक्ति के नित्य नियम नहीं निभ पाते, तो क्या इससे कोई हर्ज होता है? दोनों में किस को प्रधानता दी जाय, सेवाकार्य को अथवा माला-जप को?

उत्तर—कठिन सेवाकार्य हो या उससे भी कठिन अवसर हो, तो भी भगवद्-भक्ति यानी राम-नाम बन्द हो ही नहीं सकता। उसका बाह्य रूप प्रसंगवशात् बदलता रहेगा। माला छूटने से राम-नाम, जो हृदय में अंकित हो चुका है, थोड़े ही छूट सकता है।

—सेवाग्राम, ९।२।१९४६। ह० से० १७।२।१९४६]

० माला छूटने से राम नाम. . . .थोड़े ही छूट सकता है।

१११. इलाजों का इलाज

आध्यात्मिक रोगों (आधियों) को मिटाने के लिए राम-नाम के जप का इलाज बहुत पुराने ज़माने से हमारे यहाँ प्रचलित रहा है। लेकिन चूँकि बड़ी चीज़ में छोटी चीज़ भी समा जाती है, इसलिए मेरा यह दावा है कि हमारे शरीर की बीमारियों को दूर करने के लिए भी राम-नाम का जप सब इलाजों का इलाज है। प्राकृतिक उपचारक अपने बीमार से यह नहीं कहेगा कि तुम मुझे बुलाओ, तो मैं तुम्हारी सारी बीमारी दूर कर दूँ। वह तो बीमार को सिर्फ यह बतायेगा कि प्राणीमात्र में रहनेवाला और सब बीमारियों को मिटानेवाला तत्व कौन सा है; किस तरह उस तत्व को जागरित किया जा सकता है; और कैसे उसको अपने जीवन की प्रेरकशक्ति बनाकर उसकी मदद से अपनी बीमारियों को दूर किया जा सकता है। अगर हिन्दुस्तान इस तत्व की शक्ति को समझ जाय तो हम आजाद तो हो ही जायँ, लेकिन उसके अलावा आज हमारा जो देश बीमारियों और कमज़ोर तबीयतवालों का घर बन बैठा है, वह तन्दुरुस्त और ताक़तवर शरीरवाले लोगों का देश बन जाय।

रामनाम का उपयोग और उसकी मर्यादा

राम-नाम की शक्ति की अपनी कुछ मर्यादा है और उसके कारगर होने के लिए कुछ शर्तों का पूरा होना जरूरी है। रामनाम कोई यन्त्र-मन्त्र या जादू-टोना नहीं। जो लोग खा-खाकर खूब मोटे हो गये हैं, और जो अपने मुटापे की और उसके साथ बढ़नेवाली बादी की आफ़त से बच जाने के बाद, फिर तरह-तरह के पकवानों का मजा चखने के लिए इलाज की तलाश में रहते हैं, उनके लिए रामनाम किसी काम का नहीं। रामनाम का उपयोग तो अच्छे काम के लिए होता है। बुरे कामों के लिए हो सकता होता, तो चोर और डाकू सबसे बड़े भक्त बन जाते। रामनाम उनके लिए है, जो दिल के साफ हैं और जो दिल की सफाई करके हमेशा साफ़-साफ़ रहना चाहते हैं। भोग-विलास की शक्ति या सुविधा पाने के लिए रामनाम कभी साधन नहीं बन सकता। बादी (मोटापे) का इलाज प्रार्थना नहीं, उपवास है। उपवास का काम पूरा होने पर ही प्रार्थना का काम शुरू होता है, यद्यपि यह सच है कि प्रार्थना से उपवास का काम आसान और हलका बन जाता है। इसी तरह एक तरफ से आप अपने शरीर में दवा की बोतलें उडेला करें और दूसरी तरफ मुँह से रामनाम लिया करें, तो वह एक बे-मतलब प्रहसन ही होगा। जो डाक्टर बीमार की बुराइयों को बनाये रखने में या उन्हें सहेजने में अपनी

होशियारी का उपयोग करता है, वह खुद गिरता है और अपने बीमार को भी नीचे गिराता है। अपने शरीर को अपने सिरजनहार की पूजा के लिए मिला हुआ एक साधन समझने के बदले उसी की पूजा करने और उसको किसी भी तरह बनाये रखने के लिए पानी की तरह पैसा बहाने से बढ़कर बुरी गत और क्या हो सकती है? इसके खिलाफ़ रामनाम मर्ज को मिटाने के साथ ही साथ आदमी को भी शुद्ध बनाता है और इस तरह उसको ऊँचा उठाता है। यही रामनाम का उपयोग है और यही उसकी मर्यादा है।

—ह० ज०। ह० से०, ७।४।१९४६]

११२. मानव और ईश्वर

मनुष्य न ईश्वर है न पशु। वह तो ईश्वर का बन्दा है। पश्चात्ताप और आत्मशुद्धि की सहायता से वह अपने किये हुए पापों और ग़लतियों को धो सकता है।

—नई दिल्ली, १५।४।१९४६। ह० से०, २१।४।१९४६]

११३. प्रार्थना पागलपन दूर करने का साधन

हमें भगवान से प्रार्थना करनी चाहिए कि वह हमारे हृदय की घृणा और क्रोध पर नियन्त्रण पाने में हमारी सहायता करे। क्रोध, घृणा और दूसरी बुराइयों को जीत सकने में प्रार्थना की सफलता है।

...प्रार्थना करनेवाला कभी नहीं डरता। अगर आपकी प्रार्थना भय, घबराहट और जनसाधारण का पागलपन दूर नहीं कर सकती तो उसे बार-बार दोहराना व्यर्थ है।

—नई दिल्ली, १।५।१९४६। ह० ज०। ह० से०, ५।५।१९४६]

११४. प्रार्थना और ईश्वरीय विधान

आपके अन्दर प्रार्थना की भावना चौबीसों घण्टे मौजूद रहनी चाहिए, शर्त यह है कि प्रार्थना हृदय से निकली हो और सिर्फ ज़बानी या ओठों से निकलनेवाली न हो। आपके हृदय में प्रार्थना की सच्ची शान्ति तभी आ सकेगी जब आप उसमें भगवान को भी अपने साथ रखेंगे। उस हालत में आप अन्दर-बाहर एक-से रह

सकेंगे। आपके अन्दर सच्चाई और ईमानदारी आ जायगी। आप अपने मन में किसी के लिए शत्रुता न रखेंगे। आप सत्य से प्रेम करेंगे और अगर आप व्यापारी हैं तो किसी को ठगने से परहेज़ करेंगे।

...मैं चाहूंगा कि आप यहाँ, इन प्रार्थना-सभाओं में अधिक से अधिक संख्या में आयें, लेकिन शर्त यही है कि सही भावना लेर आयें; जो कुछ वहाँ होता है; उसे ध्यान से सुनने और गुनने का विचार लेकर आयें, ताकि आप यहाँ की पूजा से जो कुछ अच्छा ले जा सकें उसके अनुसार अपना जीवन बनायें। हृदय से राम-नाम निकलने में समय लग सकता है। बीज को धरती में बोने के बाद उसकी पूरी सार-सम्हाल करनी पड़ती है, तभी वह ऋतु आने पर फलता है। यदि हृदय में भगवान को सदा अपने साथ रखने की इच्छा है, तो प्रगति की चाल चाहे जितनी धीमी हो, वह होकर रहेगी। आदमी को रातोंरात बुरे से भला नहीं बनाया जा सकता। भगवान कभी जादू से काम नहीं लेता। वह भी कानून से बँधा है। लेकिन उसका कानून सरकार के कानून से अलग है। सरकारी कानून में भूल हो सकती है,, लेकिन भगवान कभी भूल नहीं करता। यदि वह अपने कानून की सीमा लाँघजाय तो संसार ही खत्म हो जाय। वह कभी नहीं बदलता; वह परिवर्तन से परे है। उसकी कोई जोड़ नहीं। वह जिस रूप में कल था, उसी में आज भी रहेगा और भविष्य में भी सदा के लिए उसका वही रूप होगा। उसका क़ानून आपके हृदय-पटल पर लिखा है। आप उसी स्थिति में बदले हुए स्त्री-पुरुष बन सकते हैं, जब आपके अन्दर अपने को सुधारने की अभिलाषा उत्पन्न हो और आप उसके लिए लगातार प्रयत्न करने को तैयार हों।

—दिल्ली, १५।५।१९४६। ह० ज०। ह० से०, १९।५।१९४६]

- भगवान कभी जादू से काम नहीं लेता। वह भी क़ानून से बँधा है।
- भगवान कभी भूल नहीं करता।
- वह (भगवान) कभी नहीं बदलता; वह परिवर्तन से परे है।

११५. ईश्वरानुभूति

अगर मनुष्य चौबीसों घण्टे ईश्वर की उपस्थिति अनुभव कर सके तो उसके लिए प्रार्थना के अलग समय की ज़रूरत नहीं, लेकिन अधिकतर लोगों के लिए यह असम्भव होता है। वे दैनिक, स्वार्थभरी सांसारिकता में ही व्यस्त रहते हैं। ऐसे लोग अगर प्रतिदिन कुछ मिनट के लिए भी अपने मन को सांसारिक वस्तुओं से पूरी तरह अलग रख सकें तो उन्हें बेहद लाभ हो। वे मौन-समागम से सांसारिक

झगड़ा-झंझटों के बीच अखण्ड शान्ति का अनुभव करेंगे, क्रोध को दबा सकेंगे और सहनशील बनेंगे। जब मन पूरी तरह ईश्वर की भावना से भर जाता है, तो आदमी न किसी का बुरा सोचता है, न किसी से घृणा करता है और (इसके) बदले शत्रु भी शत्रुता भूल कर मित्र बन जाता है। मैं इस बात का दावा नहीं करता कि मैं हमेशा शत्रुओं को मित्र बनाने में सफल रहा हूँ, लेकिन कई मामलों में मैंने अनुभव किया है कि जब मन ईश्वरीय शान्ति से पूर्ण होता है, तो सारी नफ़रत गायब हो जाती है। पैगम्बरों की जो परम्परा सनातन काल से बराबर चली आ रही है वह इस बात का प्रमाण है। मैं दावा नहीं करता कि मुझ में यह गुण है। मैं जानता हूँ कि यह केवल ईश्वर-कृपा से मिलता है।...

—नई दिल्ली, १७।४।१९४६। ह० ज०। ह० से०, २।६।१९४६]

११६. राम-नाम

राम-नाम तो भ्रम का शत्रु है। जो बुराई करने से नहीं झिझकते, वे राम नाम का नाजायज फ़ायदा उठायेंगे।...राम-नाम सिर्फ़ कल्पना की वस्तु नहीं। उसे तो हृदय से निकलना चाहिए।...परमात्मा में ज्ञान-सहित विश्वास हो और उसके साथ-साथ प्रकृति के नियमों का पालन किया जाय, तभी किसी अन्य की सहायता बिना रोगी बिलकुल अच्छा हो सकता है।...यदि कोई अपने अन्दर परमात्मा को पहिचान ले, तो एक भी गन्दा या व्यर्थ विचार मन में नहीं आ सकता। ...मुझे राम-नाम के सिवा पवित्रता पाने का कोई और तरीक़ा मालूम नहीं। संसार में हर जगह प्राचीन ऋषि भी इसी रास्ते पर चले हैं। वे खुदा के बन्दे थे, कोई वहमी या ढोंगी आदमी नहीं।...मैं यह नहीं कहता कि राम-नाम मेरी ही शोध है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, राम-नाम ईसाई धर्म से भी पुराना है।...

—मसूरी, ३०।५।१९४६। ह० ज०। ह० से०, ९।६।१९४६]

११७. राम-नाम की महिमा

राम-नाम सिर्फ थोड़े-से विशिष्ट व्यक्तियों के लिए नहीं है। वह सबके लिए है। जो उसका नाम लेता है, वह अपने लिए एक बड़ा खजाना जमा करता है। यह ऐसा खजाना है जो कभी नहीं चुकता। इसमें से जितना निकालें उतना ही बढ़ता जाता है। इसका अन्त नहीं है। जैसा कि उपनिषद् कहता है, पूर्ण में से पूर्ण निकालें तो पूर्ण ही शेष रह जाता है। वैसे ही राम-नाम समस्त रोगों

का शर्तिया इलाज है, फिर चाहे वे शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक हों। राम-नाम ईश्वर के कई नामों में से एक है। सच बात यह है कि दुनिया में जितने इंसान हैं, उतने ही ईश्वर के नाम हैं। आप राम के स्थान पर कृष्ण कहें या ईश्वर के अगणित नामों में से कोई और नाम लें, इससे कोई फ़र्क न पड़ेगा।

[बाल्यावस्था में राम-नाम मन्त्र-प्राप्ति का प्रसंग बतलाते हुए गांधी जी ने कहा।]

मुझे अँधेरे में भूत-प्रेत का डर लगता था। मेरी आया ने मुझसे कहा था, अगर तुम राम-नाम लोगे तो तमाम भूत-प्रेत भाग जायंगे। मैं तो बच्चा ही था लेकिन आया की बात पर मेरी श्रद्धा थी। मैंने उसकी सलाह पर पूरा-पूरा अमल किया। इससे मेरा डर भाग गया। यदि एक बच्चे का यह अनुभव है, तो सोचिए कि वयस्क आदमियों-द्वारा बुद्धि और श्रद्धा के साथ राम-नाम लेने से उन्हें कितना लाभ हो सकता है।

लेकिन शर्त यह है कि राम-नाम दिल से निकले। क्या आपके मन में बुरे विचार आते हैं; क्या काम और लोभ आपको सताते हैं? अगर ऐसा है तो राम-नाम जैसा कोई जादू नहीं। . . . मान लीजिए आपके मन में यह लालच पैदा होता है कि बिना मेहनत किये, बेईमानी से आप लाखों कमा लें। लेकिन अगर आपको राम-नाम पर श्रद्धा है तो आप सोचेंगे कि आप अपने बीबी-बच्चों के लिए ऐसा धन क्यों इकट्ठा करें, जिसे वे शायद उड़ा दें? अच्छे चाल-चलन, अच्छी शिक्षा और प्रशिक्षण के रूप में उनके लिए ऐसी विरासत क्यों न छोड़ जायँ, जिससे वे ईमानदारी और मेहनत के साथ अपनी रोटी कमा सकें? आप यह सब सोचते तो हैं, लेकिन कर नहीं पाते। मगर राम-नाम का जप निरन्तर चलता रहे तो वह एक दिन आपके कण्ठ से हृदय तक उतर आयगा और वह रामबाण सिद्ध होगा; वह आपके समस्त भ्रम मिटा देगा; झूठे मोह और अज्ञान को छुड़ा देगा। तब आप समझ जायँगे कि आप कितने पागल थे, जो अपने बाल-बच्चों के लिए करोड़ों की इच्छा करते थे, बजाय इसके कि आप उन्हें राम-नाम का वह खजाना देते, जिसका मूल्य कोई नहीं लगा सकता; जो हमें भटकने नहीं देता और जो मुक्तिदाता है। आप खुशी से फूले नहीं समायंगे, अपने बाल-बच्चों और पत्नी से कहेंगे, मैं करोड़ों कमाने गया था मगर वह कमाना तो भूल गया, दूसरे करोड़ लाया हूँ। आपकी पत्नी पूछेगी, कहाँ है वह हीरा, तनिक देखूँ तो। जवाब में आपकी आँखें हँसेंगी, चेहरा हँसेगा। आप धीरे-से जवाब देंगे, जो करोड़ों का पति है, उसे हृदय में रख-कर आया हूँ। तुम भी चैन से रहोगी, मैं भी चैन से रहूँगा।

—नई दिल्ली, १०।६।१९४६। ह० ज०। ह० से०, १६।६।१९४६]

- यह (रामनाम) ऐसा खजाना है जो कभी नहीं चुकता।
- राम-नाम समस्त रोगों का शर्तिया इलाज है।

११८. ईश्वर का ध्यान कैसे किया जाय ?

एक भाई लिखते हैं :—

"आप कहते हैं कि नियम यह होना चाहिए कि प्रार्थना के समय प्रत्येक आदमी आँखें बन्द करके बैठे और ईश्वर के सिवा दूसरी किसी चीज का विचार न करे। लेकिन सवाल यह पैदा होता है कि हम किस तरह और किस रूप में ईश्वर का ध्यान करें ?"

ध्यान करने का सच्चा रास्ता यह है कि हम अपनी भक्ति के विषय को छोड़कर वाकी सब ओर से मन की आँखों और कानों को खींच लें। इसलिए प्रार्थना के मध्य आँखें बन्द कर लेने से हमें इस तरह के ध्यान में सहायता मिलेगी। प्राकृतिक रूप से ईश्वर के वारे में मनुष्य के विचार की कोई सीमा होती है ? इसलिए हरएक आदमी को ईश्वर का उसी रूप में ध्यान करना चाहिए, जो उसे सवसे ज्यादा रुचे, वशर्ते कि वह विचार पवित्र और ऊँचा उठानेवाला हो।

— सेवाग्राम, १०।८।१९४६। ह० ज०। ह० से०, १८।८।१९४६]

११९. शुद्धि और शून्यता

[सुश्री मीरा वहिन को लिखे पत्र से]

हम अक्सर शुद्धि शब्द का निश्चित अर्थ में उपयोग नहीं करते और तरह-तरह की नैतिक भूलों को क्षम्य मान लेते हैं। यह भी चिन्ता न करो कि यहां मेरा क्या हाल है या मैं क्या कर रहा हूं। अगर मैं अपने अहं को पूरी तरह निकाल दूं, तो ईश्वर मुझमें आ वसेगा; फिर मैं जानता हूं कि सव वातें सच्ची होंगी। लेकिन यह एक गम्भीर प्रश्न है कि मैं शून्यवत् कव वनूंगा। मैं और ० (शून्य) को पास-पास रखकर सोचोगी, तो तुम्हें दो चिह्नों में जीवन की सारी समस्या समाई हुई मालूम होगी। इस क्रिया में तुमने मेरी वहुत मदद की है, क्योंकि दूर रहकर भी तुम अपने कार्यक्षेत्र में अपना कर्तव्य पूरी तरह अदा करती हुई दिखाई देती हो।

— चण्डीपुर, ४।१।१९४७। वापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० ३०८, न० जी० प्र० मं०]

१२०. ईश्वरीय शक्ति ही श्रेष्ठ है

अक्सर देखा गया है कि वलवान की शक्ति भगवान की सहायता के विना व्यर्थ हो जाती है। आप वाह्य सावनों का आसरा तकने के वजाय आन्तरिक शक्ति पर भरोसा रखें। जो लोग सच्चे हृदय से ईश्वर से यह शक्ति माँगते हैं, उन्हें वह जरूर मिलती है।...

—श्रीरामपुर, २।१२।१९४६। ह० ज०। ह० से०, १२।१।१९४७]

१२१. मौन प्रार्थना

भगवान का स्मरण करने और हृदय को पवित्र करने के लिए प्रार्थना की जाती है, इसलिए हम मौन रहकर भी प्रार्थना कर सकते हैं।

— दिल्ली, प्रार्थना-सभा, ३।४।१९४७। ह० से०, २०।४।१९४७]

१२२. सभी धर्म समान हैं

एक धर्म को दूसरे धर्म से श्रेष्ठ समझना वेवकूफी है। हमें सव धर्मों को समान मानना चाहिए।

— दिल्ली, प्रार्थना-सभा, ५।४।१९४७। ह० से० २०।४।१९४७]

१२३. धर्म की शिक्षा

धर्म सिखाता है कि हम सव की सेवा करें, सवके दोस्त वनें और किसी के दुश्मन न वनें। मैंने अपनी माता की गोद में यही सीखा है। मुझे आप हिन्दू कहें या न कहें, मैं तो इकवाल[1] के शव्दों में यही कहूंगा—

मजहव नहीं सिखाता आपस में वैर रखना।

दोस्तों से तो सभी दोस्ती करते हैं, लेकिन जो अपने को दुश्मन मानते हैं, उनसे भी दोस्ती करने में धर्म है; वाक़ी तो सव व्यापार है।

— वांकीपुर मैदान (विहार) प्रार्थना-सभा २८।४।१९४७। मौन दिवस पर पढ़े गये भाषण से। 'विहार समाचार'। ह० से० ११।५।१९४७]

---

१. अल्लामा इक़वाल, उर्दू के सुप्रसिद्ध शायर। इनकी नज्म सारे जहां से से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा देश के कोने-कोने में आज भी गाई जाती है। उपर्युक्त पद्यांश उसी नज्म से लिया गया है।

१२४. धर्म की खाद

जबतक किसी मज़हब के माननेवाले उसके लिए कष्ट न उठायें तबतक वह ज़िन्दा नहीं रह सकता। किसी श्रद्धा की शक्ति तभी बढ़ती है, जब लोग उसके लिए अपनी जान देने को तैयार रहें।...हिन्दू धर्म इसी बुनियाद पर खड़ा है और संसार के अन्य धर्मों के मूल में भी यही बात है।

—दिल्ली, प्रार्थना-सभा, २।५।१९४७। ह० ज०। ह० से० १८।५।१९४७]

१२५. ब्रह्मचर्य और एकादश व्रत

...जो विषय हम सबके मन पर अधिकार जमाये हुए है, उसकी चर्चा तो मैं रोज शाम की प्रार्थना के बाद करता ही हूं। यहां जो लिख रहा हूं वह तो सात दिन बाद प्रकाशित होगा। जो चीज़ आज हमारे जीवन में पहिली जगह ले रही है, उसके लिए इतना अर्सा लम्बा गिना जायगा। इसलिए हरिजन के लिए जीवन के शाश्वत भागों पर बहस करना ठीक लगता है। उनमें एक ब्रह्मचर्य है। दुनिया मामूली चीज़ों की तरफ़ दौड़ती है। शाश्वत वस्तुओं के लिए उसके पास समय नहीं रहता। तो भी हम विचार करें तो देखेंगे कि संसार शाश्वत वस्तुओं पर ही चलता है।

ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं? जो हमें ब्रह्म की ओर ले जाय, वह ब्रह्मचर्य है। इसमें जननेन्द्रिय का संयम आ जाता है। वह संयम मन, वाणी और कर्म से होना चाहिए। अगर कोई मन से भोग करे और वाणी तथा स्थूल कर्म पर नियन्त्रण रखे तो यह ब्रह्मचर्य में नहीं माना जायगा। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा'। मन पर पूरा नियन्त्रण हो जाय, तो वाणी और कर्म का संयम बहुत आसान हो जाता है। मेरी कल्पना का ब्रह्मचारी प्रकृत्या स्वस्थ होगा; उसका सिर तक नहीं दुखेगा; वह प्राकृतिक रूप से दीर्घजीवी होगा; उसकी बुद्धि तेज़ होगी; वह आलसी नहीं होगा। शारीरिक या दिमाग़ी काम करने में थकेगा नहीं और उसकी बाहरी सुघड़ता सिर्फ दिखावा न होकर भीतर का प्रतिबिम्ब होगी। ऐसे ब्रह्मचारी में स्थितप्रज्ञ के सब लक्षण देखने में आयेंगे।

ऐसा ब्रह्मचारी हमें कहीं दिखाई न पड़े, तो इससे घबड़ाने की कोई बात नहीं।

जो स्थिरवीर्य है; जो ऊर्ध्वरेता है; उसमें ऊपर के लक्षण देखने में आयें तो कौन बड़ी बात है? मनुष्य के जिस वीर्य में अपने-जैसा जीव पैदा करने की शक्ति

है, उस वीर्य को ऊपर ले जाना ऐसी-वैसी वात नहीं हो सकती। जिस वीर्य की एक बूंद में इतनी शक्ति है, उसकी हज़ारों बूंदों की शक्ति का माप कौन लगा सकता है?

यहां एक आवश्यक वात पर विचार कर लेना चाहिए। पतंजलि भगवान् के पाँच महाव्रतों में से किसी एक को लेकर उसकी साधना नहीं की जा सकती। यह हो सकता है तो सिर्फ सत्य के वारे में ही, क्योंकि दूसरे चार तो सत्य में छिपे हुए हैं। और इस युग के लिए तो पाँच की नहीं, ग्यारह व्रतों की ज़रूरत है। विनोवा ने उन्हें मराठी में सूत्ररूप में रख दिया है——

अहिंसा सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य असंग्रह,
शरीरश्रम अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन।
सर्वधर्मी-समानत्व, स्वदेशी स्पर्शभावना,
हीं एकादश सेवावीं नम्रत्वें व्रतनिश्चयें॥१॥

ये सव व्रत सत्य के पालन में से निकाले जा सकते हैं। मगर जीवन इतना सरल नहीं। एक सिद्धान्त में-से अनेक उप-सिद्धान्त निकाले जा सकते हैं। तो भी एक सवसे वड़े सिद्धान्त को समझने के लिए अनेक उप-सिद्धान्त जानने पड़ते हैं।

यह भी समझना चाहिए कि सव व्रत समान हैं। एक टूटा कि सव टूटे। हमें आदत पड़ गई है कि सत्य और अहिंसा के व्रतभंग को हम क्षमा कर सकते हैं। इन व्रतों को तोड़ने वाले की तरफ हम उंगली नहीं उठाते। अस्तेय और अपरिग्रह क्या है, इसे तो हम समझते ही नहीं। मगर माना हुआ ब्रह्मचर्य का व्रत टूटा, तो तोड़नेवाले का वुरा हाल होता है। जिस समाज में ऐसा होता है, उसमें कोई वड़ा दोप होना चाहिए। ब्रह्मचर्य का संकुचित अर्थ लेने से वह निस्तेज वनता है। उसका शुद्ध पालन नहीं होता। सच्ची क़ीमत नहीं आँकी जाती और दंभ वढ़ता है। कम-से-कम इस व्रत का पूरा स्थूल पालन भी अशक्य नहीं यद्यपि वहुत कठिन तो होता है। इसलिए सव व्रतों को एक साथ लेना चाहिए। ऐसा हो तभी, ब्रह्मचर्य की व्यवस्था सिद्ध की जा सकती है। आज की भापा में वही सच्चा ब्रह्मचारी है, जो एकादश व्रत का पालन मन से, वाणी से और कर्म से करता है।

—नई दिल्ली, २।६।१९४७। गुजराती से। ह० से० ८।६।१९४७]

- **संसार शाश्वत वस्तुओं पर चलता है।**
- **जो हमें ब्रह्म की ओर ले जाय, वह ब्रह्मचर्य है।**
- **ब्रह्मचर्य का संकुचित अर्थ लेने से वह निस्तेज वनता है।**

१२६. ब्रह्मचर्य की रक्षा

मैंने पिछले सप्ताह जिस ब्रह्मचर्य की चर्चा की थी, उसके लिए कैसी रक्षा होनी चाहिए ? जवाब तो सीधा है। जिसे रक्षा की ज़रूरत हो,वह ब्रह्मचर्य नहीं है। मगर यह कहना आसान है, उसे समझना और उस पर अमल करना मुश्किल है

इतना तो साफ़ है कि यह बात पूर्ण ब्रह्मचारी के लिए ही सच्ची है। लेकिन जो ब्रह्मचारी बनने की कोशिश कर रहा है, उसके लिए तो अनेक बन्धनों की ज़रूरत है। आम के छोटे पेड़ को सुरक्षित रखने के लिए उसके चारों तरफ़ बाड़ लगानी पड़ती है। छोटा बच्चा पहिले माँ की गोद में सोता है, फिर पालने में और फिर चालन-गाड़ी लेकर चलता है। जब बड़ा होकर खुद चलने-फिरने लगता है, तब सब सहारा छोड़ देता है। न छोड़े तो उसे नुक़सान होता है। ब्रह्मचर्य पर भी यही चीज लागू होती है।

ब्रह्मचर्य एकादश व्रतों में एक है, यह मैं पिछले सप्ताह कह चुका हूं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य की मर्यादा या बाड़ एकादश व्रतों का पालन है। मगर एकादश व्रतों को कोई बाड़ न माने। बाड़ तो किसी विशेष स्थिति के लिए ही होती है। हालत बदली और बाड़ टूटी। मगर एकादश व्रत का पालन ब्रह्मचर्य का आवश्यक भाग है। उसके बिना ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो सकता।

...ब्रह्मचर्य मन की स्थिति है। बाहरी आचार या व्यवहार उसकी पहिचान, उसकी निशानी है। जिस पुरुष के मन में तनिक भी विषयवासना नहीं रही, वह कभी विकार के वश नहीं होगा। वह किसी स्त्री को चाहे जिस स्थिति में देखे, चाहे जिस रूप-रंग में देखे, तो भी उसके मन में विकार पैदा नहीं होगा। यही स्त्री के बारे में भी समझना चाहिए। मगर जिसके मन में विकार उठा करते हैं, उसे तो सगी बहिन या बेटी को भी नहीं देखना चाहिए। मैंने अपने कुछ मित्रों को यह नियम पालने की सलाह दी थी। और, जिन्होंने इसका पालन किया है, उन्हें फायदा हुआ है। अपने बारे में मेरा यह अनुभव है कि जिन चीजों को देखकर दक्षिण-अफ्रीका में मेरे मन में कभी विकार पैदा नहीं हुआ था, उन्हीं से दक्षिण-अफ्रीका से वापस आने पर मेरे मन में विकार पैदा हुआ। और, उसे शान्त करने में मुझे बहुत परिश्रम करना पड़ा।

यह बात सिर्फ जननेन्द्रिय के बारे में ही सच थी ऐसा नहीं, इंसान को शोभा न देनेवाले डर के बारे में भी यही बात सच हुई और मैं शरमिन्दा हुआ। बचपन में मैं स्वभाव से डरपोक था। दीपक के बिना मैं आराम से सो नहीं सकता था। कमरे में अकेले सोना अपनी बहादुरी की निशानी समझता था। मुझे पता नहीं

कि आज अगर मैं रास्ता भूल जाऊं और काली रात में घने जंगल में भटकता होऊं, तो मेरी क्या हालत हो? मेरा राम मेरे पास है, यह ख्याल भी उस वक्त भूल जाऊं तो? अगर वचपन का डर मेरे मन में से विल्कुल निकल न गया हो, तो मैं मानता हूं कि निर्जन वन में निडर रहना जननेन्द्रिय के संयम से भी अधिक कठिन है। जिसकी यह हालत हो वह मेरी व्याख्या का ब्रह्मचारी नहीं गिना जायगा।

ब्रह्मचर्य की जो मर्यादा हम लोगों में मानी जाती है, उसके अनुसार ब्रह्मचारी को स्त्रियों, पशुओं और नपुंसकों के वीच नहीं रहना चाहिए। ब्रह्मचारी अकेली स्त्री या स्त्रियों के समूह को उपदेश न करे; स्त्रियों के साथ एक आसन पर न वैठे; स्त्रियों के शरीर का कोई अंग न देखे; दूध, दही, घी वगैरह चिकनी चीजें न खाय; स्नान-लेपन न करे। यह सब मैंने दक्षिण अफ्रीका में पढ़ा था। वहां जननेन्द्रिय का संयम करनेवाले पश्चिम के स्त्री-पुरुषों के वीच में रहता था। मैं उन्हें इन सब मर्यादाओं को तोड़ते देखता था। मैं खुद भी उनका पालन नहीं करता था; यहां आकर भी नहीं कर सका। दूध, दही वगैरह मैं हठपूर्वक छोड़ता था। उसका कारण दूसरा था। इसमें मैं हारा। अभी भी अगर मुझे ऐसी कोई वनस्पति मिल जाय जो दूध-घी की ज़रूरत पूरी कर सके, तो मैं फौरन दूध वगैरह प्राणिज चीजें छोड़ दूं। और मेरी खुशी का पार न रहे। मगर यह तो दूसरी वात हुई।

ब्रह्मचारी कभी निर्वीर्य नहीं होता। वह रोज वीर्य पैदा करता है और उसे इकट्ठा करके रोज़-रोज़ वढ़ाता जाता है। उसे कभी बुढ़ापा नहीं आता। उसकी वुद्धि कभी कुण्ठित नहीं होती।

मुझे लगता है कि जो ब्रह्मचारी वनने की सच्ची कोशिश कर रहा है, उसे भी ऊपर वताई हुई वाड़ों (मर्यादाओं) की ज़रूरत नहीं है। ब्रह्मचर्य वलात् यानी मन से विरुद्ध जाकर पालने की चीज़ नहीं। वह वलात् नहीं पाला जा सकता। यहां तो मन को वश में करने की वात है। जो ज़रूरत पड़ने पर भी स्त्री को छूने से भागता है, वह ब्रह्मचारी वनने की कोशिश ही नहीं करता।

इस लेख का मतलव यह नहीं कि लोग मनमानी करें। इसमें तो सच्चा संयम पालने की वात वताई गई है। दंभ या ढोंग के लिए यहां कोई वात नहीं हो सकती।

जो छुपे तौर से विषय-सेवन के लिए इस लेख का प्रयोग करेगा, वह दंभी और पापी ही गिना जायगा।

ब्रह्मचारी को नक़ली अवरोधों से भागना चाहिए। उसे अपने लिए अपना अवरोध वना देना है। जव उसकी ज़रूरत न रहे, तव उसे तोड़ देना चाहिए। इस लेख का उद्देश्य यह है कि हम सच्चे ब्रह्मचर्य को पहिचानें। उसकी क़ीमत

जान लें और ऐसे क़ीमती ब्रह्मचर्य का पालन करें। इसमें देश-सेवा का सच्चा ज्ञान निहित है। इससे देश सेवा करने की शक्ति भी बढ़ती है।
—नई दिल्ली ८।६।१९४७। ह० ब०। ह० से०, १५।६।१९४७]

- ब्रह्मचर्य एकादश व्रतों में से एक है।
- एकादश व्रत का पालन ब्रह्मचर्य का आवश्यक भाग है।
- ब्रह्मचर्य मन की स्थिति है।
- ब्रह्मचारी को नकली अवरोधों से भागना चाहिए।

१२७. प्रार्थना व्यर्थ नहीं जाती

इंसान के ढंग से भगवान का ढंग अलग होता है। इसलिए कोई उसे समझ नहीं सकता। प्रार्थना के लिए श्रद्धा होना जरूरी है। कोई प्रार्थना व्यर्थ नहीं जाती। प्रार्थना भी दूसरे कामों की तरह एक काम है। हम देख सकें या न देख सकें, उसका फल तो मिलता ही है। और तथाकथित कर्म-फल की अपेक्षा हृदय से की जानेवाली प्रार्थना का फल बहुत अधिक शक्ति रखता है।
—नई दिल्ली, २२।६।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २९।६।१९४७]

१२८. शास्त्र और आत्म-जागरण

तोते की तरह शास्त्रों को रट लेने से कोई लाभ नहीं होता। मनुष्य शास्त्रों के अनुसार अपना जीवन तभी बिता सकता है, जब वह उनमें पढ़ी हुई बात को पचा ले। तभी उसकी अन्तरात्मा सच्चे अर्थों में जागरित होगी।
—नई दिल्ली, २२।६।१९४७। ह० ज०। ह० से०। २९।६।१९४७]

१२९. ईश्वर का वशवर्ती

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

...मैं तो ईश्वर के हाथ में हूं। मैं न यह चाहूंगा, न वह। मेरे लिए तो आज की भलाई काफ़ी है। बुराई का विचार मुझे नहीं करना चाहिए। कौन जानता है कि वास्तव में क्या भला है और क्या बुरा है। इसलिए हमें भलाई के सिवा कुछ सोचना ही नहीं चाहिए।
—नई दिल्ली, २९-३०।६।१९४७। बापू के पत्र: मीरा के नाम, पृ० ३११, न० जी० प्र० मं०]

१३०. प्रार्थना के लिए वातावरण

प्रार्थना के लिए पवित्र वातावरण की आवश्यकता है।
— बिड़ला भवन, नई दिल्ली, २१।९।१९४७। ह० ज०। ह० से० ५।१०।१९४७]

१३१. धर्म-रक्षा

हमारे धर्म की रक्षा करना हमारे ही हाथ है। प्रत्येक बच्चे को यह शिक्षा मिलनी चाहिए कि वह अपने धर्म के लिए अपनी जान दे सके। आप लोग प्रह्लाद की कहानी जानते हैं। वह बारह वर्ष की अवस्था में अपनी श्रद्धा के लिए अपने पिता के विरुद्ध हो गया था। ऐसी वीरता के उदाहरण हर धर्म में मिलते हैं। मैंने अपने बच्चों को यही शिक्षा दी है। मैं अपने बच्चों के धर्म का रक्षक नहीं हूं।
— बिड़ला भवन, नई दिल्ली, ३०।९।१९४७। ह० ज०। ह० से०, १२।११।१९४७]

१३२. असंगत नहीं

'हरिजन' के एक ग्राहक ने मेरे सामने नीचे लिखी बात रखी है। मैंने उसका निम्नलिखित उत्तर भेजा है।

प्रश्न—एक बार आपने स्वीकार किया है कि आपने ईश्वर को प्रत्यक्ष नहीं देखा है। आपने 'सत्य के मेरे अनुभव' नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में कहा है कि आपने सत्य के रूप में भगवान को बहुत दूर से जीता-जागता देखा है। ये दोनों बातें बेमेल मालूम होती हैं। मैं इन दोनों को ठीक-ठीक समझ सकूं, इसलिए विस्तार से समझाने की कृपा कीजिए।

उत्तर—ईश्वर को आँखों से प्रत्यक्ष देखने और उसे बड़ी दूर से सत्य के रूप में जीता-जागता देखने में बहुत बड़ा अन्तर है। मेरी राय में उपर्युक्त दोनों बातें एक-दूसरे की विरोधी नहीं है, बल्कि उनमें से प्रत्येक दूसरी को समझाती है। हम हिमालय को बहुत दूर से देखते हैं और जब हम उसकी चोटी पर होते हैं, तो उसे प्रत्यक्ष देखते हैं। लाखों आदमी हिमालय को सैकड़ों मील दूर से देख सकते हैं बशर्ते वह दिखाई देनेवाली दूरी के अन्दर हो। लेकिन वर्षों के कष्ट के बाद उसकी चोटी पर पहुँचकर थोड़े ही लोग उसे प्रत्यक्ष देखते हैं। इसे ह०ज० के कालमों में विस्तार से समझाने की जरूरत नहीं मालूम होती।...
— नई दिल्ली, १३।११।१९४७। ह० ज०। ह० से० २३।११।१९४७]

१३३. प्रार्थना

प्रार्थना तो जीवन का नियम होना चाहिए। सुबह-शाम दोनों समय प्रार्थना करनी चाहिए। हम सोने के समय भी ईश्वर का स्मरण करें और कभी अपने स्वार्थ का विचार न करें।...

—संमलका गांव (नई दिल्ली के पास) २७।१२।१९४७। ह० से०, ४।१।१९४८]

१३४. अनासक्त आचरण और स्वधर्म

...जो अनासक्तिपूर्वक कर्म का आचरण करता है वह ईश्वर-साक्षात्कार करता है।...आज यह किया कल दूसरा काम हाथ में लिया, परसों तीसरा, यों भटकता न फिरे, वल्कि अपने हिस्से में जो सेवा आ जाय उसे ईश्वरप्रीत्यर्थ करने को तैयार रहे। तव यह भावना उत्पन्न होगी कि जो हम करते हैं वह ईश्वर ही कराता है। यह ज्ञान उत्पन्न होगा और अहंभाव चला जायगा। इसे स्वधर्म कहते हैं। स्वधर्म से चिपका रहना चाहिए, क्योंकि अपने लिए तो वही अच्छा है। देखने में परधर्म अच्छा दिखाई दे तो भी उसे भयानक समझना चाहिए। स्वधर्म पर चलते हुए मृत्यु होने में मोक्ष है।

—मंगल प्रभात। गीताबोध, पृष्ठ १७, १९, २०, सं० सा० मं०, संस्करण १९५४]

- स्वधर्म पर चलते हुए मृत्यु होने में मोक्ष है।

१३५. मैं पारस पत्थर नहीं हूँ

ब्रह्मचर्य के वारे में मैंने अपना विचार स्पष्ट लिखा है। जिसका मन से पतन हुआ उसका पतन हो चुका। यह वात ठीक है कि आश्रम के सव लड़के भाग गये लेकिन इससे मैं असफल हुआ हूं, ऐसा भी नहीं है। जो दो-चार सम्हले हुए हैं उनसे मुझे वस्तु की सिद्धि का भरोसा हो गया है। मैं खुद अपूर्ण हूं तो दूसरों को पूर्ण मार्ग कैसे वता सकता हूँ? मैं कुछ पारस पत्थर तो नहीं हूं जो दूसरों को स्पर्श करते ही ब्रह्मचारी वना दूं। मेरा तो नम्र प्रयत्न है। जो लोग काल्पनिक गांधी को मानते हैं उनको भी लाभ होता है। मेरे पास तो दूर-दूर से खत आते हैं कि आपके लेखों से हमको वहुत लाभ हुआ है। जो लोग मेरे नजदीक आ जाते

हैं उनको मालूम हो जाता है कि मैं तो एक हाड़-मांस का पुतला हूं। मैंने कभी गुरु वनने का दावा तो किया ही नहीं है। मैं तो अल्पज्ञ हूं। सर्वज्ञ तो ईश्वर ही है।
— वापू की छाया में, वलवन्त सिंह, संस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

१३६. बाहरी पूजा बनाम अन्तर की पूजा
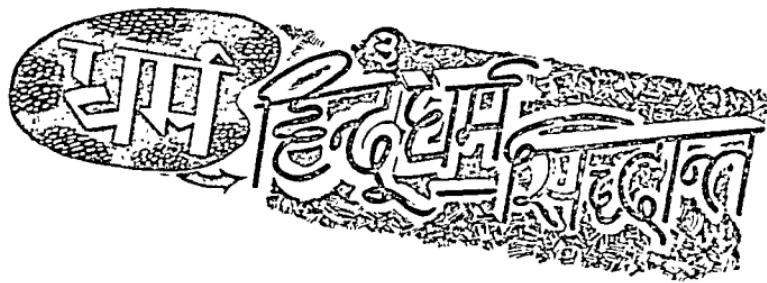
जो काम मिल जाय उसी को कर्त्तव्यप्राप्त समझ कर करना चाहिए। इसी को भगवान ने गीता में योगः कर्मसु कौशलम् कहा है। किसी काम की प्राप्ति की लालसा भी न हो।...कार्य तो वाहर की चीज़ है और ईश्वर अन्तर की चीज़ है। वाहरी पूजा तो भक्त भी कर सकता है और दंभी भी। परन्तु अन्तर की पूजा तो भक्त ही कर सकता है। वस, अगर हम अन्तर के पुजारी वन जायं तो हमारा काम निवट जाता है।
— वापू की छाया में, वलवन्त सिंह, संस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

१३७. निष्काम कर्म

[श्री सत्यदेव शास्त्री से वार्ता के मध्य व्यक्त विचार]

कर्त्तव्यप्राप्त कर्म अपने को निमित्त मात्र समझ कर करना चाहिए। जगत् में अनेक शक्तियां अपना काम कर रही हैं। हम तो उन शक्तियों में से क्षुद्र से क्षुद्र शक्ति रखते हैं। यह अहंभाव रखना तो मूर्खता है कि मैं करता हूं"।
— वापू की छाया में, वलवन्त सिंह, तृ० संस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

आचार में प्रविष्ट है। आध्यात्मिक पक्ष में हिन्दू-धर्म का प्रधानस्वर है—मोक्ष, अर्थात् सर्वव्यापी परमात्मतत्व में आत्मा का अन्तिम रूप से विलीन हो जाना। धर्म से सम्वन्वित मुख्य विशेषता है अखिल-देवतावाद, और नीति के स्तर पर सर्वाधिक द्रष्टव्य गुण है आत्मत्याग तथा उससे निःसृत उसकी अनुपमेय सहिष्णुता। सामाजिक व्यवहार में जाति सर्वोपरि थी और आचार में पशुओं का वलिदान। जव हिन्दू-धर्म अपेक्षाकृत अधिक कर्मकाण्डी हो गया तव राजपुत्र गौतम वुद्ध ने दीर्घ-काल तक तपस्या करके वस्तुओं के आध्यात्मिक मूल्य को जानकर यह उपदेश करना प्रारम्भ किया कि पशुवलि अनाध्यात्मिक है और प्रेम के परम-स्वरूप की अभिव्यक्ति जीवित प्राणियों का नाश करने की दिशा से विमुख होकर, उस सहिष्णुता की भावना को फैलाना है, जो पहिले से उनके धर्म का सिद्धान्त है। हिन्दू-धर्म कभी ईसाई अथवा इस्लाम मत की तरह प्रचारक धर्म नहीं रहा, किन्तु सम्राट् अशोक के समय में देश-देशान्तरों में वौद्ध भिक्षु इन नये मत का प्रचार करने के लिए भेजे गये। हिन्दू-धर्म पर वौद्ध मत का कुछ वैसा ही सुधारक प्रभाव पड़ा जैसा कैथोलिक मत पर प्रोटेस्टेंट मत का हुआ था। किन्तु इस सुधार की आन्तरिक भावना वहुत अलग थी। किसी हिन्दू के मन में वौद्धों के प्रति दुर्भावना नहीं थी। यह एक ऐसी वात है जो प्रोटेस्टेंटों और कैथोलिकों के वारे में नहीं कही जा सकती। कई वार कहा जाता है कि वाद में भारत में वौद्ध मत का ह्रास हो गया। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। वौद्ध भिक्षुओं ने अत्यधिक लगन से अपने मत का प्रचार किया और तव हिन्दू पुरोहितों में ईर्ष्या जागी। उन्होंने वौद्धों को देश के सीमान्त भागों —तिव्वत, चीन, जपान, व्रह्मदेश और लंका में खदेड़ दिया। किन्तु वौद्ध भावना भारत में रह गई और उसने हिन्दुओं-द्वारा मान्य, प्रत्येक सिद्धान्त को वल दिया।

जैनों का दावा है कि जैन मत वौद्धमत से एकदम स्वतन्त्र है; वह उससे निकला हुआ नहीं है। यह मानते हुए कि उसके पवित्र शास्त्र मानवकृतित्व के परिणाम हैं, वे अन्य मतवादियों की तरह यह दावा नहीं करते कि उनका धर्म अपौरुषेय है। शायद सारे धर्मों में जैनमत सवसे अधिक तर्कसंगत है। और उसकी सर्वाधिक ध्यान देने योग्य विशेषता जीवमात्र के प्रति उसका हार्दिक सद्भाव है।

—जोहानिसवर्ग। ४।३।१९०५। अंग्रेजी से। १०।३।१९०५। सं० गां० वां० भाग ४ पृष्ठ ३९५-९६]

२. मैं सनातनी हूँ

...मैं विल्कुल सनातनी हूँ। मेरी दृष्टि में हिन्दू-धर्म में सव कुछ आ जाता है। इसकी आदर्श छाया में सभी तरह के विभिन्न विचारों को आश्रय मिल जाता

है और मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आर्य समाज और सिख तथा ब्रह्म समाज भले ही स्वयं को हिन्दुओं से अलग वर्ग में रखना चाहें किन्तु वे सब बहुत जल्दी हिन्दू-धर्म में लीन हो जायँगे। और उन्हें अपनी परिपूर्णता भी इसी में मिलेगी। मानव की अन्य सभी संस्थाओं की तरह हिन्दू धर्म में भी दोष और कमियाँ हैं। (इस-लिए) प्रत्येक कार्यकर्त्ता के लिए उनके सुधारार्थ भरपूर जुटने की गुंजाइश यहां है, किन्तु उससे टूटकर अलग हो जाने का कोई कारण नहीं है।

—गुरुकुल-वार्षिक उत्सव में दिये गये भाषण से, २०।३।१९१६। अंग्रेजी से। स्पीचेज़ ऐंड राइटिंग्स आफ़ महात्मा गांधी। सं० गां० वां०, खण्ड १३, पृष्ठ २६३]

३. वर्णाश्रम

वर्णाश्रम धर्म प्रकृति का अनिवार्य नियम है। भारतवर्ष ज्ञानपूर्वक इस धर्म का पालन कर उससे ठीक-ठीक लाभ उठाता है। भारतवर्ष में इस्लामी और अंग्रेज भाई भी थोड़ा बहुत इस धर्म का पालन करते हैं। भारतवर्ष के बाहर भी अनजाने इस धर्म का पालन होता है। जबतक वर्णाश्रम-धर्म रहेगा तबतक भारतवर्ष में हरएक आदमी शस्त्रधारी नहीं हो सकता। भारतवर्ष में ब्राह्मणधर्म—आत्म-शक्ति—को सर्वोच्च पद दिया गया है। शस्त्रधारी भी ब्राह्मण को प्रणाम करता है।

—२।९।१९१७ के लगभग, सं० गां० वां० भाग १३, पृ० ५३१]

४. मेरा धर्मानुभव

धर्म-सम्बन्धी बातों में मैं अपने को बालक नहीं, किन्तु खासा ३५ वर्षों का अनुभवी मानता हूँ। क्योंकि इतने वर्ष मैंने धर्म के विषय का विचार और मनन किया है। विशेषकर मुझे जहाँ-जहाँ सत्य दीख पड़ा, वहाँ-वहाँ मैंने उसे कार्य में परिणत किया। मेरी धारणा है कि मात्र शास्त्राभ्यास से ही धर्म का स्वरूप हस्त-गत नहीं होता। हम सदा ही देखते हैं कि शास्त्र पढ़े बिना और नियमों के पालन बिना मनुष्य मनमाने मार्ग से चलने लगता है। मैं ऐसे मनुष्य से शास्त्र का अर्थ न पूछूंगा, जिसने लोगों द्वारा पण्डित कहे जाने के लिए शास्त्र पढ़े हैं इसीलिए मैक्समूलर-जैसे महान विद्वानों ने गहन अध्ययन के अनन्तर जो पुस्तकें लिखी हैं उनसे भी मैं अपने आचरण-सम्बन्धी नियम बनाने में सहायता न लूंगा।

आजकल अपने को शास्त्रों के ज्ञाता कहलानेवाले बहुतेरे लोग अज्ञानी और दंभी ही पाये जाते हैं। मैं धर्मगुरु की खोज में हूँ। गुरु की आवश्यकता है, यह मैं मानता हूँ। परन्तु जबतक मुझे कोई योग्य गुरु न दीख पड़े, तबतक मैं अपने को ही अपना गुरु मानता हूँ। यह मार्ग विकट अवश्य है परन्तु वर्तमान विषम-काल में यह उचित जान पड़ता है। हिन्दू-धर्म इतना महान और व्यापक है कि आज तक कोई उसकी व्याख्या करने में कृतकार्य नहीं हो सका। मेरा जन्म वैष्णव सम्प्रदाय में हुआ है और इसके सिद्ध सिद्धान्त मुझे बड़े ही प्रिय हैं।

—गोधरा, ५।११।१९१७ के बाद। बापू और हरिजन। सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० ७३-७४]

- **शास्त्राभ्यास से ही धर्म का स्वरूप हस्तगत नहीं होता।**
- **जबतक कोई योग्य गुरु न दीख पड़े, मैं अपने को ही अपना गुरु मानता हूँ।**
- **हिन्दूधर्म इतना महान और व्यापक है कि आज तक कोई उसकी व्याख्या करने में कृतकार्य नहीं हो सका।**

५. हिन्दू-धर्म की परिभाषाएँ

हिन्दू-धर्म सही अर्थ में दो परिभाषाओं-द्वारा व्यक्त किया गया है—अहिंसा परम[1] धर्म है और सत्य से बढ़कर अन्य बल नहीं[2]।

—अमृत बाजार पत्रिका, २।१।१९१८। सं० गां० वां० खण्ड १४, पृ० ११९]

६. श्रीकृष्ण और हिन्दू-धर्म

[श्री जमनादास गांधी को लिखे गये पत्र से]

श्रीकृष्ण को हम मनुष्य न मानकर यदि एक महान तत्व (शक्ति?) मानें तो सब शंकाएँ नष्ट हो जाती हैं। श्रीकृष्ण काल्पनिक व्यक्ति हैं परन्तु हिन्दुओं के हृदय में वह इतनी दृढ़तापूर्वक विराजमान है कि वह हम जितने साकार हैं,

---

१. अहिंसा परमोधर्मः।

२. सत्यान्नास्ति परं बलम्।

उससे कहीं अधिक साकार है। इसमें सन्देह नहीं कि जबतक हिन्दू-धर्म जीवित है, तबतक श्रीकृष्ण तो रहेंगे ही।

— मोतीहारी, पौष सुदी ५, १७।१।१९१८। सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० १४५]

○ जबतक हिन्दू धर्म जीवित है, तब तक श्री कृष्ण तो रहेंगे ही।

७. हिन्दू-धर्म का प्रभाव

यदि हिन्दू अपने धर्म को समझकर उसका पालन करने लगें तो विश्व पर उनका प्रभाव अवश्य ही पड़ेगा।

— शान्ति-निकेतन, १७।९।१९२०। गुजराती। न० जी०, २६।९।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १८, पृ० २६६]

८. मेरा हिन्दू-धर्म

वैयक्तिक रूप से मेरे लिए केवल एक धर्म है, और वह हिन्दू-धर्म है। मैं अपने को हिन्दू कहलाने में गर्व का अनुभव करता हूँ। किन्तु मैं रूढ़िग्रस्त, कर्म-काण्ड-आबद्ध हिन्दू नहीं हूँ। जहाँ तक मैं हिन्दू-धर्म को समझ पाया हूँ, यह एक ठोस धर्म है। इसमें सहिष्णुता है और यह अन्य धर्मों के प्रति आदर रखता है। इसलिए आप मुझको इस्लाम की रक्षा में उसी शक्ति से लगा हुआ देखते हैं, जिससे मैं अपने धर्म की रक्षा करता। इस्लाम की रक्षा मेरे लिए अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है क्योंकि मैं अनुभव करता हूँ कि इसके द्वारा मैं अपने धर्म की रक्षा हेतु योग्यता प्राप्त करता हूँ।

— शान्ति निकेतन, १७।९।१९२०। गुजराती। न० जी०, २६।९।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १८, पृ० २६४]

○ मैं अपने को हिन्दू कहलाने में गर्व का अनुभव करता हूँ। किन्तु मैं रूढ़िग्रस्त कर्मकाण्ड-आबद्ध हिन्दू नहीं हूँ।

९. सनातनी हिन्दू कौन है ?

अक्सर यह पूछा जाता है कि मैं अपने को कट्टर सनातनी हिन्दू क्यों कहता हूँ और अपने को वैष्णव क्यों मानता हूँ। मेरा ख्याल है कि मुझे इन सवालों का जवाब देना चाहिए।

इस जवाव में सनातनी हिन्दू की परिभाषा समाहित होगी और इसमें वैष्णव का विस्तृत वर्णन शामिल होगा।

मेरे विश्वास के अनुसार हिन्दू वह है जो भारत में हिन्दू-परिवार में जन्मा है; वेदों, उपनिषदों और पुराणों को पवित्र पुस्तक के रूप में स्वीकार करता है; जिसे सत्य-अहिंसा आदि पाँच यमों पर विश्वास है और जो अपनी श्रेष्ठतम क्षमता से उनका अभ्यास करता है; जो आत्मन् (आत्मा) और परमात्मन् (परमात्मा) के अस्तित्व में विश्वास रखता है और इससे भी आगे यह विश्वास करता है कि आत्मा का कभी जन्म और मरण नहीं होता, प्रत्युत शरीर में अवतरित हो वह एक शरीर से दूसरे शरीर में जाती है और वह मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ है; जो विश्वास करता है कि मानव-प्रयत्नों का उच्चतम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है और जो वर्णाश्रम तथा गोरक्षा में विश्वास रखता है। जो भी व्यक्ति इन वातों में विश्वास करने के साथ-साथ वैष्णव सम्प्रदानुयायी परिवार में उत्पन्न हुआ है और जिसने वैष्णव-मार्ग छोड़ नहीं दिया है; जो नरसी मेहता के भजन वैष्णवजन में वर्णित गुणों को कुछ मात्रा में धारण करता है और इन गुणों को पूर्णता तक वढ़ाने के लिए प्रयत्न करता है, वह वैष्णव है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि मेरे अन्दर वड़े पैमाने पर मेरे द्वारा वर्णित चारित्रिक विशेपताएं हैं और मैं उन्हें दृढ़ करने के लिए यत्न कर रहा हूँ। अतएव मैं अपने को सम्पूर्ण दृढ़ता, किन्तु नम्रता के साथ कट्टर सनातनी हिन्दू और वैष्णव कहने में नहीं हिचकता। मैं मानता हूँ कि हिन्दू-धर्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण वाह्य रूप गोरक्षा है। मैं हिन्दू-जगत् को क्लीव समझता हूँ क्योंकि वर्तमान समय में एक भी हिन्दू यह संरक्षण देने में समर्थ नहीं है। इन क्लीव लोगों में मैं अपने को सवसे कम क्लीव मानता हूँ। मैं नहीं मानता कि और कोई व्यक्ति ऐसा हो सकता है जिसने गोरक्षा के लिए इतने तरीके से श्रम किया हो, जितना मैंने किया है और आज भी कर रहा हूँ, या जो गाय और उसकी सन्तान के विपय में उतना अनुभव करता हो जितना मैं करता हुँ। जवतक भारत के हिन्दू गाय के प्रति दया नहीं दिखाते; जवतक वे स्वयं अनेक तरह से पशु को यातना देते हैं; जवतक वे मुसलमानों का आदर जीतने में सफल नहीं होते, और उन्हें सम्मान-वश गोहत्या वन्द करने पर राजी नहीं कर लेते; जवतक वे अंग्रेजों-द्वारा की गई गोहत्या को सहन करते हैं और ब्रिटिश झण्डे को सलाम करते हैं, मैं मानूंगा कि हिन्दू-धर्म से व्राह्मण और क्षत्रिय भावना गायव हो गई है। अतएव, यद्यपि मैं जन्म से वैश्य हूँ, मैं इन दोनों के कर्त्तव्य में सक्रिय रहूँगा।

मैं मानता हूँ कि हिन्दू-धर्म का सार-तत्व सत्य और अहिंसा है। अपने परिचितों में मैंने ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं देखा जो सत्य का उतनी सूक्ष्मता से आदर

करता हो, जितना मैं अपने बचपन से करता आ रहा हूँ। अहिंसा की सक्रिय अभिव्यक्ति प्रेम—दुर्भावना का अभाव है। मैं दृढ़तापूर्वक मानता हूँ कि मुझमें प्रेम का उफान आ रहा है। मैंने स्वप्न में भी किसी के प्रति दुर्भावना का अनुभव नहीं किया। मैं डायर के विरुद्ध भी उसके दुष्कृत्यों के बावजूद ऐसी भावना नहीं रखता। मैंने जहाँ भी दयनीय दशा और अन्याय देखा है, मेरी आत्मा को कष्ट हुआ है।

हिन्दू-धर्म का केन्द्रीय सिद्धान्त मोक्ष है। मैं सदैव इसके लिए प्रयत्नशील हूँ। मेरी समस्त प्रवृत्तियाँ मोक्ष के लिए हैं। मुझे आत्मा के अस्तित्व और उसकी अनश्वरता पर उतना ही विश्वास है, जितना कि मैं शरीर के अस्तित्व और उसकी क्षणजीविता के विषय में आश्वस्त हूँ।

इन्हीं कारणों से मैं प्रसन्नतापूर्वक अपने को कट्टर सनातनी हिन्दू घोषित करता हूँ।

यदि कोई मुझसे पूछे कि क्या मैंने शास्त्रों का गहन अध्ययन किया है, तो मैं कहूँगा कि किया भी है और नहीं भी। मैंने उनको एक विद्यार्थी के दृष्टिकोण से नहीं पढ़ा है। मेरा संस्कृत का ज्ञान नहीं के बराबर है; आधुनिक भारतीय भाषाओं में प्राप्त (शास्त्रग्रन्थों के) अनुवाद को भी मैंने बहुत थोड़ा पढ़ा है। मैं एक भी वेद को पूरा पढ़ने का दावा नहीं कर सकता। इसके बावजूद मैंने उनका सच्चा अर्थ समझा है। मैं जानता हूँ कि कोई व्यक्ति वेद पढ़े बिना भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

मैंने शास्त्रों को समझने और पढ़ने की सही विधि खोज ली है। यदि शास्त्र का कोई निर्देश सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य का विरोधी है तो वह अप्रामाणिक है फिर वह चाहे किसी भी शास्त्र में क्यों न हो। शास्त्र तर्क से परे नहीं हैं। हम किसी भी शास्त्र को जो तर्क के अनुरूप न हो, अस्वीकार कर सकते हैं। मैंने केवल उपनिषदों को पढ़ा है। मैंने उनमें कुछ ऐसी बातें पढ़ी हैं, जिन्हें मेरा विवेक स्वीकार नहीं करता। अतएव मैं उन्हें किसी प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करता। अनेक कवियों ने अपनी कविताओं में हमें बताया है कि जो व्यक्ति शास्त्रों के शब्द से चिपका रहता है, वह विद्या-दंभी है। शंकराचार्य[1] जैसे शिक्षकों ने एक वाक्य में शास्त्रों का सारांश दे दिया है और उसका मूल तत्व यह है कि मनुष्य को ईश्वर के प्रति भक्ति रखनी चाहिए, ज्ञान और उसके द्वारा मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। अखा भगत ने कहा है:—

---

१. अद्वैत वेदान्त के पोषक, उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और भगवतगीता पर भाष्य लिखनेवाले, जगद्गुरु आदय शंकराचार्य ७८० ई०—८१२।

जिस तरह चाहें रहें,
ईश्वर को जैसे भी हो, किसी तरह प्राप्त करें।

जो शास्त्र मुझे शराब पीना, मांस खाना, और बुरे तरीके सिखाता है, उसे शास्त्र नहीं कहा जा सकता।

स्मृतियों के नाम से धर्म के ठीक विरुद्ध अनेक बातें चलती हैं। स्मृतियों और उसी तरह के ग्रन्थों के शब्दों को पालन करने का प्रयत्न करके हम अपने को नरक के योग्य बना रहे हैं। उनसे भ्रमित होकर, जो व्यक्ति अपने को हिन्दू कहते हैं, वे अपने लिए स्वच्छन्दता प्राप्त करते हैं; वे छोटी लड़कियों पर बलात्कार करने को तैयार होते हैं या दूसरों को इसके लिए तैयार करते हैं।

अब हमारे समक्ष महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि समस्त शास्त्रों में हम किसे क्षेपक समझें, किसे स्वीकार और अस्वीकार करने योग्य मानें। जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, यदि ब्राह्मण-भावना का पूर्णतया लोप न हो गया होता तो हमने किसी ऐसे ब्राह्मण की राय ली होती जिसने यम-नियम के अनुशासन-पालन द्वारा स्वयं को पवित्र किया होता और पर्याप्त मात्रा में ज्ञान प्राप्त किया होता। ऐसे ब्राह्मण के अभाव में आज भक्ति का मार्ग प्रमुख स्थान रखता है। जब हम वर्तमान सरकार से जिसमें दम्भ, बहाना, अभिमान, सांसारिकता और ऐसे ही पातक अनेक रूपों में प्रकट होते हैं, असहयोग करके आत्म-शुद्धि कर लेंगे, तब सम्भवतः हम एक सुसंस्कृत व्यक्ति पायेंगे जो हमें शास्त्रों का मूल तत्व दे सके। तबतक के लिए हम सामान्य जन सारभूत बातों से सरल आस्थापूर्वक चिपके रहें और ईश्वर के प्रति भक्ति का जीवन बितायें। मैं दूसरा कोई मार्ग नहीं देखता।

गुरु के बिना ज्ञान नहीं हो सकता, यह एक स्वर्णसूत्र है। किन्तु गुरु की प्राप्ति बहुत कठिन है और यह उचित नहीं होगा कि अच्छे गुरु के अभाव में किसी को भी अपना गुरु मान लें और इस तरह हम जीवन-समुद्र की यात्रा के ठीक बीच में अपने को डुबा दें। गुरु वह है जो हमें पार तक तैर जाने में सहायता दे। वह व्यक्ति जो स्वयं तैरना नहीं जानता दूसरों को कैसे बचा सकता है? यदि इस प्रकार के तैराकों का आधुनिक युग में अस्तित्व है भी तो वे सामान्य रूप से दीख नहीं पड़ते।

अब हम वर्णाश्रम की जाँच करें। मेरा सदैव से विश्वास रहा है कि चार से अधिक वर्ण[1] नहीं हैं। मेरा विश्वास है कि जाति जन्मना प्राप्त होती है। जो व्यक्ति ब्राह्मण परिवार में जन्म लेता है, वह ब्राह्मण के रूप में मरता है। यदि

---

१. जातियाँ।

वह अपने चारित्रिक गुणों के द्वारा अब्राह्मण हो जाता है तो उसका ब्राह्मण शरीर ऐसा रहना बन्द नहीं करता। एक ब्राह्मण जो ब्राह्मण-धर्म का पालन नहीं करता अपने गुणों के अनुसार शूद्र अथवा पशु के रूप में भी जन्म ले सकता है। मेरे समान एक वैश्य जो कि ब्राह्मण और क्षत्रिय का धर्म पालन करता है, यदि उसे पुनर्जन्म लेना पड़े, तो वह दूसरे जन्म में ब्राह्मण या क्षत्रिय हो सकता है। जहाँ-तक इस जीवन का सम्बन्ध है वह केवल वैश्य रहेगा और यह ठीक भी है। समय-समय पर अन्य धर्मानुयायी हिन्दू-धर्म द्वारा उसमें मिला लिये गये हैं किन्तु उनके जीवन-काल में उन्हें हिन्दू नहीं माना गया। हिन्दू-संसार समुद्र की तरह है। इसके हृदय में जो भी मल पहुँच जाता है, स्वच्छ होकर बैठ जाता है। ऐसा बार-बार हुआ है। इटली, ग्रीस और अन्य स्थानों के लोग आये और हिन्दू-धर्म द्वारा समाहित कर लिये गये, किन्तु वे किसी के द्वारा हिन्दू-धर्म में परिवर्तित नहीं किये गये। केवल युगों के दौरान संख्याएं बढ़ीं और घटीं। ईसाई धर्म या इस्लाम के विपरीत हिन्दू-धर्म अन्य मतावलम्बियों को अपना मत स्वीकार करने के लिए आमन्त्रित नहीं करता। यह प्रत्येक से उसका अपना धर्म पालन करने को कहता है। उदाहरण के लिए भगिनी निवेदिता[1] ने हिन्दू-धर्म स्वीकार किया, पर हम उन्हें हिन्दू के रूप में नहीं सोचते, न हम उनका किसी भी रूप में बहिष्कार या अवज्ञा ही करते हैं। किसी व्यक्ति के हिन्दू-धर्म स्वीकार करने का प्रश्न नहीं है। हिन्दू धर्म का आचरण सभी लोग कर सकते हैं।

वर्णाश्रम एक कानून है। व्यावहारिक प्रश्न जाति-प्रथा है। जातियाँ (संख्या में) घटती-बढ़ती रहती हैं। वे अस्तित्व प्राप्त करती हैं और गायब हो जाती हैं। कोई व्यक्ति स्वयं ही हिन्दू-धर्म छोड़ सकता है यद्यपि वह (दूसरों द्वारा) जाति-बहिष्कृत किया जा सकता है। जाति-बहिष्कार दण्ड की एक विधि है और इसे प्रत्येक समुदाय के लिए प्राप्य होना चाहिए।

यह निश्चित रूप से आवश्यक है कि बहुसंख्यक जातियों की संख्या कम हो जाय और यह विभिन्न जाति की परिषदों द्वारा हिन्दू-धर्म को नुकसान पहुँचाये बिना किया जा सकता है। यदि बनियों के अनेक विभाग (उपजातियाँ) आपस में विलय कर लें और उनके सदस्य आपस में विवाह करने लगें, तो इससे हिन्दू-धर्म को किसी प्रकार क्षति नहीं पहुँचेगी।

अन्न, जल और विवाह के सम्बन्ध में लोग जिन नियमों का पालन करते हैं, वे हिन्दू-धर्म के आवश्यक अंग नहीं हैं। चूँकि हिन्दू धर्म में आत्म-नियन्त्रण को

---

१. स्वामी विवेकानन्द की शिष्या मार्गरेट ई० नोबेल।

विशेप महत्व दिया गया है, इसलिए इन वातों की छोटी-से-छोटी वारीकियों पर पर भी नियन्त्रण लगाये गये हैं। मैं नहीं सोचता कि वे निन्दा-योग्य हैं, किन्तु इनके साथ ही जो आदमी इनका पालन नहीं करता उसके लिए मैं यह नहीं कहूँगा कि उसने धर्म का नियम-भंग किया है। किसी जगह और सव जगह अन्न, जल स्वीकार न करने या विवाह न करने को. सभ्य आचरण मानता हूँ। इससे स्वास्थ्य और पवित्रता की रक्षा होती है किन्तु मेरा विश्वास है कि किसी के यहाँ तिरस्कार-पूर्वक अन्न, जल न स्वीकार करना हिन्दू-धर्म के विरुद्ध है। यह मेरे अनुभव पर आधारित दृष्टिकोण है कि दूसरे वर्ण या अन्य धर्मावलम्बी के साथ भोजन या विवाह का निषेध उस संस्कृति के लिए आवश्यक रोक है जिसे हिन्दू-धर्म ने प्रस्तुत किया है।

तव मैं मुसलमानों के यहाँ भी भोजन क्यों कर लेता हूँ? मैं इसलिए ऐसा करता हूँ कि उनके साथ खाने पर भी मैं अत्यन्त आत्म-नियन्त्रण का पालन करने में समर्थ हूँ। पकाई हुई वस्तुओं में मैं ब्रेड तक ले लेता हूँ क्योंकि ब्रेड सेंकने का तरीका पूर्णतया स्वच्छ है और जिस तरह भुना हुआ अन्न सदैव खाया जा सकता है, वह चाहे जहाँ भूना गया हो उसी प्रकार ब्रेड (रोटी नहीं) ली जा सकती है वह फिर चाहे जहाँ सेंकी गई हो, लेकिन मेरे साथी कार्यकर्त्ता इस नियन्त्रण को भी नहीं मानते और जो अन्य तरह से स्वीकार्य हो ऐसी कोई भी चीज़ मुसलमान के यहाँ अथवा अपने से भिन्न जातिवालों के यहाँ खा लेते हैं वशर्ते वह चीज सफाई से वनाई गई हो। ऐसा करने में वे जाति-वहिष्कृत होने का ख़तरा उठाते हैं किन्तु उनका हिन्दू होना खत्म नहीं हो जाता। आश्रम इस प्रकार के धर्म का पालन करता है, जो संन्यासियों के योग्य है। वहाँ एक नई जाति या नई आचरण-संहिता वनाई जा रही है जो वर्तमान युग के अनुरूप और हिन्दू-धर्म-सम्मत है। मैं इस प्रयास को एक प्रयोग के रूप में देखता हूँ। यदि यह सफल हुआ तो इसे स्वीकार योग्य माना जायगा। यदि यह असफल रहा तो इससे किसी का नुकसान नहीं होगा। यहाँ तक कि जो प्रयोग में लगे हैं, उनका भी कोई नुकसान न होगा, क्योंकि प्रयोग का आधार आत्म-नियन्त्रण है। इसका उद्देश्य सेवा-कार्य को सरलतापूर्वक चलाने में क्षमता प्राप्त करना और यह देखना है कि आज के विपरीत, जव कि धर्म खाने-पीने के नियमों में वँध गया है, इन मामलों में रूढ़ियों को उनके उचित और गौण स्थान पर रखा जाय।...

—गुजराती। न० जी०, ६।२।१९२१। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृ० ३२७-३१।]

- हिन्दू-धर्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण वाह्य रूप गोरक्षा है।
- हिन्दू धर्म का सार-तत्व सत्य और अहिंसा है।

- हिन्दू-धर्म का केन्द्रीय सिद्धान्त मोक्ष है।
- जो व्यक्ति शास्त्रों के शब्द से चिपका रहता है वह विद्यादंभी है।
- शास्त्र तर्क से परे नहीं है।
- वर्णाश्रम एक कानून है।

१०. धर्मशास्त्र का रहस्य

अब.....मैं आपके सामने धर्म की बात क्या करूं? मैं तो यह समझता हूँ कि हमारे धर्म में जो कुछ लिखा गया है, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों के जो थोड़े से वचन यत्र-तत्र मिलते हैं, वे सब अमर और स्थायी नहीं हैं। वह समय दूसरा था; आज का समय दूसरा है। हम द्रौपदी को एक अलौकिक स्त्री मानते हैं; सुबह उठकर उसका नाम लेते हैं; पाँचों पाण्डवों को पूज्य मानते हैं। पर इस कारण क्या हम आज द्रौपदी की तरह पाँच पति करनेवाली स्त्री को सती मानेंगे? हम उनकी पूजा उनके अच्छे कामों के लिए करते हैं। हमें गुणग्राहक होना चाहिए। उनके अनेक गुण अलौकिक थे। इसलिए हमने उनकी स्मृति को कायम रखा है। यह तो महाभारत की बात हुई। मेरे निकट रामायण से बढ़कर कोई प्रिय पुस्तक नहीं है। फिर भी, क्या तुलसीदास ने धर्मशास्त्र की जो अनेक बातें लिखी हैं, वे सब प्रामाण्य हैं? मनुस्मृति तो बड़ा प्रमाण-ग्रन्थ है। पर उसमें मांसाहार की स्पष्ट आज्ञा है। क्या इसलिए आप मांस खायंगे? आप ऐसी बातें सुनकर चौंकते हैं। कोई मांस खाता होगा तो लुक-छिपकर खाता होगा। यह दूसरी बात है। लेकिन मनुस्मृति में लुक-छिपकर नहीं सरे आम मांस खाने की आज्ञा दी गई है। फिर भी हम इसे त्याज्य मानते हैं। कलियुग में जिस बात की मनाही की गई है, सत्ययुग में उसकी आज्ञा दी गई है। सुवर्ण युग में अभक्ष्य भक्ष्य हो सकता है, पर इस कलियुग में नहीं। यह बात बेतुकी नहीं मालूम होती है? धर्म को किस दृष्टि से देखना चाहिए, यही मुख्य प्रश्न है। इसमें दो बातें हैं। एक तो यह कि धर्म की चर्चा बुद्धि-द्वारा नहीं, हृदय के द्वारा करें। और दूसरी यह कि धर्म के नाम पर अधर्म न फैलायें। आप समझ लें कि गीता जी का अनर्थ हो सकता है। दुर्योधन पर भीम ने गदा-प्रहार किया, इसलिए यदि कोई यह कहने लगे कि भाइयों के पुत्र एक दूसरे को शत्रु मानकर मार सकते हैं, तो मैं कहूँगा कि वह गीता पढ़ना नहीं जानता। यह तो केवल हृदय का विषय है। मेरा धर्म बुद्धि पर आधारित नहीं है। मैं आपसे अनुरोध करता हूं कि अपनी बुद्धि को टटोलिए और उस पर प्रकाश डालिए।

—न० जी०। हि० न० जी०, ३०।३।१९२४]

- मेरे निकट रामायण से बढ़कर कोई प्रिय पुस्तक नहीं है।
- धर्म की चर्चा बुद्धि-द्वारा नहीं, हृदय के द्वारा करें।
- धर्म के नाम पर अधर्म न फैलायें।
- मेरा धर्म बुद्धि पर आधारित नहीं।

११. हिन्दू धर्म को चुनौती

यह युधिष्ठिर की भूमि है; यह रामचन्द्र की भूमि है। ऋषि-मुनियों ने हम से कह रखा है कि यह भोगभूमि नहीं, कर्मभूमि है। मैं इस भूमि के निवासियों से कहता हूँ कि हिन्दू-धर्म आज तराजू पर चढ़ा हुआ है और संसार के तमाम धर्मों के साथ उसकी तुलना हो रही है। यदि हिन्दू धर्म में उन बातों का समावेश होगा जो बुद्धि के बाहर होंगी, दया-धर्म के बाहर होंगी तो उसका नाश निश्चित समझिए। मुझे दया-धर्म का भान है और इसी कारण मैं देख रहा हूँ कि हिन्दू धर्म के नाम पर कितना पाखण्ड, कितना अज्ञान फैल रहा है। इस पाखण्ड और अज्ञान के खिलाफ यदि ज़रूरत पड़े तो मैं अकेला लड़ूंगा; अकेले रहकर तपश्चर्या करूँगा और उसका नाम जपते हुए मरूँगा।

—हि० न० जी०, १५।१।१९२५]

- यह भोगभूमि नहीं, कर्मभूमि है।

१२. हिन्दू धर्म का नवनीत

सनातनी भाई शायद यह मानते हैं कि मैं हिन्दू धर्म के हृदय पर आघात करना चाहता हूं। स्वयं मैं अपने को सनातनी गिनता हूँ। मैं जानता हूँ कि मेरा दावा बहुत थोड़े भाई-बहिन स्वीकार करते होंगे। किन्तु मेरा यह दावा है और रहेगा। मैं तो कई बार कह चुका हूँ कि आज नहीं तो मेरी मृत्यु के बाद समाज मेरी बात को अवश्य स्वीकार करेगा कि गांधी सनातनी हिन्दू था। सनातनी के मानी हैं प्राचीन। मेरे भाव प्राचीन हैं—अर्थात् ये भाव मुझे प्राचीन-से-प्राचीन ग्रन्थों में दिखाई देते हैं और मैं इन्हें जीवन-रूप बनाने की कोशिश कर रहा हूँ। इसी कारण मैं मानता हूँ कि मेरा सनातनी होने का दावा बिल्कुल ठीक है। मैं शास्त्रों की कथा गढ़कर कहनेवालों को सनातनी नहीं कहता। सनातनी वही है जिसकी रग-रग

में हिन्दू धर्म व्याप्त हो। इस हिन्दू धर्म को शंकर[1] भगवान ने एक ही वाक्य में कह दिया है—'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या"। दूसरे ऋषियों ने कहा—"सत्य से बढ़कर दूसरा धर्म नहीं।" और तीसरे ने कहा है, "हिन्दू धर्म का अर्थ है अहिंसा"। इन तीन में से आप चाहे जिस सूत्र को ले लीजिए, उसमें आपको हिन्दू धर्म का रहस्य मिल जायगा। ये तीन सूत्र क्या हैं, मानों हिन्दू-धर्मशास्त्र को दुहकर निकाला गया नवनीत है।

—हि० न० जी०, १९।२।१९२५]

१३. ब्राह्मण, कुछ आदर्श परिकल्पनाएँ, स्थापनाएँ

ब्राह्मण शब्द तो नम्रता, स्वयं को भूल जाना, त्याग, पवित्रता, साहस, क्षमा और सत्य-ज्ञान का पर्यायवाची होना चाहिए।.....बहुत-सी बातों में ब्राह्मणों ने अपनी महत्ता का कभी दावा नहीं किया था, परन्तु असन्दिग्ध रूप से उनकी सेवा के कारण उसका सेहरा उन्हीं के सिर बँधा था। ब्राह्मण लोग आज जिसका दावा नहीं कर सकते उसी को प्राप्त करने के लिए बड़ा प्रयत्न कर रहे हैं और इससे हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सों में अब्राह्मणों को उनके प्रति ईर्ष्या हुई है .....

ब्राह्मण तो हिन्दू धर्म और मनुष्य-समाज का उत्तम पुष्पांग है। मैं ऐसा एक भी काम न करूँगा, जिससे उसे मुरझाना पड़े। मैं जानता हूँ कि वह अपनी रक्षा करने में समर्थ है; उसने अब तक बहुत-से तूफान देख लिये हैं।....मैं नहीं चाहता कि ब्राह्मणों के सर्वनाश पर अब्राह्मण लोग उन्नति करें।.....ब्राह्मण जन्म से होते हैं किन्तु ब्राह्मणत्व जन्म से नहीं होता। यह तो ऐसा गुण है, जिसको एक छोटे-से-छोटे आदमी भी विकास करके प्राप्त कर सकता है।

—यं० इं०। हि० न० जी०, १९।३।१९२५]

० ब्राह्मण जन्म से होते हैं किन्तु ब्राह्मणत्व जन्म से नहीं होता।

१४. मूर्ति-पूजक और मूर्ति-भंजक

मैंने अपने एक भाषण में प्रसंगवश कहा था कि मैं मूर्ति-पूजक हूँ पर मैं मूर्ति-भंजक भी हूँ। यदि मेरा वह भाषण पूरा छापा गया होता तो उसका अर्थ अच्छी तरह समझ में आने योग्य था। मैंने भाषण की रिपोर्ट नहीं देखी है। एक सज्जन उसको उद्धृत कर लिखते हैं:—

---

१. जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य।

"मेरे-जैसे लोग, जिनकी श्रद्धा मूर्ति-पूजा से उठ गई है, किन्तु फिर भी कितनी वार मूर्ति-पूजा के रूप को (जैसे मृत पिता के चित्र या मृत मित्र के पत्र को) आदर की दृष्टि से देखते हैं, उन्हें आप यदि इन शब्दों का अर्थ समझाकर मार्ग-सूचक वनेंगे तो वड़ा उपकार होगा।"

यहाँ मूर्ति शब्द के अर्थ अलग-अलग हैं। मूर्ति का अर्थ यदि वुत लिया जाय तो मैं मूर्ति-भंजक हूँ। उसका अर्थ यदि ध्यान करने, मान करने या स्मृति कराने का साधन किया जाय तो मैं मूर्तिपूजक हूँ। मूर्ति का अर्थ केवल आकृति नहीं। जो एक पुस्तक की भी पूजा आँखें मूँदकर करते हैं वे मूर्ति-पूजक अथवा वुतपरस्त हैं। वुद्धि का प्रयोग किये विना, सारासार-विवेक विना, अर्थ की छानवीन किये विना, वेद में जो कुछ लिखा है, सव को मानना मूर्तिपूजा इसलिए वुतपरस्ती है। जिस मूर्ति को देखकर तुलसीदास पुलकित-गात्र होते, ईश्वरमय, राममय वनते, उसका पूजन करने से वे शुद्ध मूर्ति-पूजक थे और इसलिए वन्दनीय तथा अनुकरणीय थे।

जितने वहम हैं, अन्ध विश्वास हैं, वे सव वुतपरस्ती अथवा नित्य मूर्ति-पूजा हैं। जो हर प्रकार के रिवाज को धर्म मानते हैं, वे निन्द्य मूर्ति-पूजक हैं। अतएव मैं मूर्ति-भंजक हूँ। मैं शास्त्र के प्रमाण देकर असत्य को सत्य, कठोरता को दया, वैरभाव को प्रेम वनाकर नहीं दिखा सकता, इसलिए और इस तरह मैं मूर्ति-भंजक हूँ। द्विअर्थी या क्षेपक श्लोक वताकर अथवा धमकी देकर कोई व्यक्ति मुझे अन्त्यजों का तिरस्कार, त्याग या उसकी अस्पृश्यता नहीं सिखा सकता, इसलिए मैं अपने को मूर्ति-भंजक मानता हूँ। मैं माँ, वाप की अनीति को भी अनीति के रूप में देख सकता हूँ और इस देश पर अथाह प्रेम रखते हुए इसके दोष भी खोलकर वता सकता हूँ, इसलिए मूर्ति-भंजक हूँ।

मेरे हृदय में वेदादि के प्रति पूर्ण और स्वाभाविक रूप से आदरभाव है। में पाषाण में भी परमेश्वर को देख सकता हूँ। साधु पुरुषों की प्रतिमाओं के प्रति मेरा मस्तक स्वयं झुकता है, इसलिए मैं स्वयं को मूर्ति-पूजक मानता हूँ।

इसका अर्थ यह कि गुण-दोष वाह्य कार्य की अपेक्षा आन्तरिक भाव में विशेष रूप से होता है। किसी भी कार्य की परीक्षा कर्त्ता के भाव से होती है। उसी माता का सविकार स्पर्श पुत्र को नरकवास प्राप्त कराता है, उसी का निर्विकार स्पर्श पुत्र को स्वर्ग पहुँचाता है। द्वेष-भाव से चलाई छुरी प्राण लेती है, प्रेम-भाव से लगाई छुरी (शल्य क्रिया) प्राण लाती है। विल्ली के वही दाँत चूहे के लिए घातक होते हैं, पर अपने वच्चों के रक्षक होते हैं।

दोष मूर्ति में नहीं, ज्ञान-रहित पूजा में है।

—न० जी०। हि० न० जी०, ७।५।१९२५]

- मूर्ति का अर्थ केवल आकृति नहीं।
- दोष मूर्ति में नहीं, ज्ञानरहित पूजा में है।

१५. हिन्दू धर्म में शैतान की कल्पना

मेरी राय में हिन्दू धर्म की विशेषता उसकी सर्वव्यापकता और संग्राहकता है। महाभारत के कर्त्ता ने अपनी महान सृष्टि के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह हिन्दू धर्म पर भी उतना ही घटता है। दूसरे धर्मों में जो काम की बातें मिलती हैं वे सर्वदा हिन्दू धर्म में पाई जाती हैं और जो कुछ उसमें नहीं हैं उसे सारहीन या अनावश्यक समझना चाहिए।

. यह अवश्य मानता हूँ कि हिन्दू धर्म में शैतान के लिए जगह है। बाइबिल में यह विचार न तो नया है, न मौलिक है। बाइबिल में भी शैतान कोई व्यक्ति नहीं है। बाइबिल में वह व्यक्ति उसी कोटि तक है जिस कोटि तक रावण या सारी असुर-सन्तति हिन्दू-धर्म में है। मैं दस सिर और बीस हाथ वाले ऐतिहासिक रावण को उतने से ही अधिक नहीं मानता, जितना कि ऐतिहासिक शैतान को मानता हूँ। और जिस तरह शैतान और उसके साथी पतित फ़रिश्ते हैं, उसी तरह रावण और उसके साथी भी पतित फ़रिश्ते या चाहें तो देव कहिए, हैं। यदि दुर्विकारों और उच्च भावों को व्यक्तियों का जामा पहिनाना कोई अपराध है तो शायद हिन्दू धर्म इसके लिए सबसे ज्यादा जिम्मेवार है। क्या . . .छः विकारों[1] को हिन्दू धर्म में व्यक्ति का रूप नहीं दिया गया है? धृतराष्ट्र और उसके सौ पुत्र कौन हैं, क्या हैं? कालान्त तक कल्पना-शक्ति अर्थात् काव्य मनुष्य के विकास में अपना उपयोगी और आवश्यक काम ज़रूर करेगा। हम विकारों का वर्णन इसी प्रकार करते रहेंगे मानों वे कोई व्यक्ति हों। क्या वे हमें दुष्ट मनुष्यों की तरह नहीं सताते? . . अक्षरार्थ करने से मृत्यु है और आशय ग्रहण करने में जीवन-लाभ है।

—यं० इं०। हि० न० जी०, १७।९।१९२५]

- हिन्दू धर्म की विशेषता उसकी सर्वव्यापकता और सर्वसंग्राहकता है।
- कालान्त तक कल्पना-शक्ति अर्थात् काव्य मनुष्य के विकास में अपना उपयोगी और आवश्यक काम जरूर करेगा।
- अक्षरार्थ करने में मृत्यु है और आशय ग्रहण करने में जीवन-लाभ है।

---

१. काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर।

१६. ब्राह्मण

ब्राह्मण वह है जो अपने धर्म और देश के लिए खुद को स्वाहा कर दे और उनकी सेवा के लिए अपने जीवन में दरिद्रता-धर्म को सानन्द अंगीकार करे।
—य० इं०। हि० न० जी०, १७।९।१९२५]

१७. हिन्दू धर्म : एक दृष्टि

...हिन्दू-धर्म जीवित धर्म है। उसमें भर्ती खोट और आती ही रहती है। वह संसार के नियमों का ही अनुसरण करता है। मूल से तो वह एक ही है, लेकिन वृक्ष से वह विविध प्रकार का है। उस पर ऋतुओं का असर होता है। उसका वसन्त होता है और पतझड़ भी। उसकी शरद् ऋतु होती है और ग्रीष्म ऋतु भी। वह वर्षा से भी वंचित नहीं रहता। उसके लिए शास्त्र है और नहीं भी। उसका आधार एक ही पुस्तक पर नहीं है। गीता सर्वमान्य है, लेकिन वह केवल मार्गदर्शक है। रूढ़ियों पर उसका बहुत कम असर होता है। हिन्दू धर्म गंगा का प्रवाह है। वह मूल में शुद्ध है। मार्ग में उस पर मैल चढ़ता है। इसके बावजूद जिस प्रकार गंगा की प्रवृत्ति अन्त में पोषक है, उसी प्रकार हिन्दू धर्म भी है। वह प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय स्वरूप ग्रहण करता है, फिर भी उसमें एकता होती है; रूढ़ि धर्म नहीं है। रूढ़ि में परिवर्तन होगा लेकिन धर्म-सूत्र यथावत् बने रहेंगे।

हिन्दू धर्मावलम्बी की तपश्चर्या पर ही हिन्दू धर्म की शुद्धता आधारित है। जब हिन्दू धर्म पर संकट आता है, हिन्दू धर्मावलम्बी तपश्चर्या करता है, बुराई के कारण खोजता है और उसका उपाय करता है। शास्त्रों में वृद्धि होती रहती है। वेद, उपनिषद्, स्मृति, इतिहास आदि एक साथ एक ही समय में उत्पन्न नहीं हुए हैं। प्रसंग आने पर ही उन ग्रन्थों की रचना हुई है इसलिए उनमें विरोधाभास भी होता है। वे ग्रन्थ शाश्वत सत्य नहीं बतलाते। वे अपने-अपने समय में शाश्वत सत्य का किस प्रकार अमल किया गया था, यही बतलाते हैं। उस समय जिस प्रकार व्यवहार किया गया था वैसा ही अन्य समय में भी करें तो निराशा के कूप में पड़ना होगा। एक समय हमारे यहाँ पशुयज्ञ होता था, इसीलिए क्या आज भी करेंगे? एक समय हम लोग मांसाहार करते थे, इसलिए क्या आज भी करेंगे? एक समय चोर के हाथ-पैर काट डाले जाते थे, क्या आज भी उनके हाथ-पैर काटेंगे? एक समय हमारे यहाँ एक स्त्री अनेक पति करती थी, क्या आज भी करेगी? एक समय हम लोग बालकन्या का दान करते थे, तो क्या आज भी वही करेंगे? एक

समय हम लोगों ने प्रजा के कुछ मनुष्यों को तिरस्कृत माना था, इसलिए क्या आज भी उन्हें तिरस्कृत ही मानेंगे ?

हिन्दू धर्म जड़ बनने से साफ़ इन्कार करता है। ज्ञान अनन्त है। सत्य की मर्यादा की खोज किसी ने नहीं पाई। आत्मा की नई-नई खोज होती रहती है और होती रहेगी। हम लोग अनुभव के पाठ पढ़ते हुए अनेक प्रकार के परिवर्तन करते रहेंगे।...वेद सत्य है, अनादि है, लेकिन उसे सर्वांश में कौन जान सका है ? आज वेद के नाम से जो पहिचाना जाता है, वह तो उसका करोड़वाँ भाग भी नहीं है। जो हम लोगों के पास है, उसका अर्थ भी सम्पूर्णतया कौन जानता है ?

इतना बड़ा जंजाल होने के कारण ही ऋषियों ने हमें एक बहुत बड़ी बात सिखाई है—'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' ब्रह्माण्ड का पृथक्करण असम्भव है; अपना पृथक्करण कर देखना शक्य है। स्वयं को पहिचानते ही संसार पहिचान में आ जाता है। लेकिन अपने को पहिचानने के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। प्रयत्न भी निर्मल होना चाहिए। निर्मल हृदय के बिना प्रयत्न का निर्मल होना असम्भव है। यम-नियमादि के पालन बिना हृदय की निर्मलता भी सम्भव नहीं। ईश-कृपा बिना यमादि का पालन कठिन है। ईश्वर की कृपा बिना श्रद्धा और भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसीलिए तुलसीदास जी ने रामनाम की महिमा गाई है और भागवत-कार ने द्वादश मन्त्र सिखाया है। जो समाहित हृदय से यह जप कर सकता है, वही सनातनी हिन्दू है; बाक़ी सब तो अखा[1] की भाषा में अंधेरा कुआँ है।

...खाद्याखाद्य में हिन्दू धर्म की परिसीमा नहीं हो जाती। उससे करोड़ गुनी आवश्यक वस्तु अन्तराचरण है; सत्य-अहिंसादि का सूक्ष्म पालन है। गोमांस का त्याग करनेवाले दंभी ऋषि की अपेक्षा गोमांस खानेवाला दयामय, सत्यमय ईश्वरभीरु मनुष्य हज़ार गुना अधिक अच्छा हिन्दू है। और जो सत्यवादी, सत्या-चरणी गोमांसादि के आहार में हिंसा देख सका है और जिसने उसका त्याग किया है; जिसको जीवमात्र के प्रति दया है उसे कोटिशः नमस्कार है। उसने ईश्वर को देखा है, पहिचाना है; वह परमभक्त है, जगद्गुरु है।

आज हिन्दू धर्म की और अन्य धर्मों की परीक्षा हो रही है। सनातन सत्य एक ही है; ईश्वर एक ही है।...सनातनी माने जाने वाले बहुत-से लोग भटक रहे हैं। उनमें कौन जानता है, किसे स्वीकार किया जायगा। रामनाम लेनेवाले अनेक लोग रह जायँगे और चुपचाप राम का काम करनेवाले विरल लोग विजयमाला पहिन लेंगे।

—न० जी०। हि० न० जी०, ११।२।१९२६]

---

१. अखा भगत।

- हिन्दू धर्म जीवित धर्म है।
- गीता सर्वमान्य है...।
- हिन्दू धर्म गंगा का प्रवाह है।
- रूढ़ि धर्म नहीं है।
- शास्त्रों में वृद्धि होती रहती है।
- हिन्दू धर्म जड़ बनने से साफ़ इन्कार करता है।
- ज्ञान अनन्त है।
- वेद सत्य है, अनादि है।
- ब्रह्माण्ड का पृथक्करण असम्भव है।
- स्वयं को पहिचानते ही संसार पहिचान में आ जाता है।
- निर्मल हृदय के बिना संसार का निर्मल होना असम्भव है।
- ईश-कृपा बिना यमादि का पालन कठिन है।
- ईश्वर की कृपा बिना श्रद्धा और भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।
- खाद्याखाद्य में हिन्दू धर्म की परिसीमा नहीं हो जाती।
- सनातन सत्य एक ही है, ईश्वर एक ही है।

१८. धर्म और रिवाज

वर्णाश्रम, यह धर्म है। वर्तमान असंख्य जाति-भेद का होना कोई धर्म नहीं है। यह एक रिवाज है।...

—न० जी०। हि० न० जी०, २२।४।१९२६]

१९. प्रार्थना किसे कहते हैं?

डाक्टरी डिग्री प्राप्त किये हुए एक महाशय प्रश्न करते हैं:—

"प्रार्थना का सबसे उत्तम प्रकार क्या हो सकता है; उसमें कितना समय लगाया जाना चाहिए? मेरी राय में तो न्याय करना ही उत्तम प्रकार की प्रार्थना है और जो मनुष्य सबसे के साथ न्याय करने के लिए सच्चे दिल से तैयार होता है उसे दूसरी प्रार्थना करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। कुछ लोग तो सन्ध्या करने में बहुत-सा समय लगा देते हैं परन्तु पंचानवे प्रतिशत मनुष्य तो उस समय जो कुछ बोलते हैं उसका अर्थ भी नहीं समझते। मेरी राय में तो अपनी मातृ-भाषा में ही प्रार्थना करनी चाहिए। आत्मा पर उसी का उत्तम प्रभाव पड़ सकता

है। मैं तो यह भी कहता हूँ कि सच्ची प्रार्थना यदि एक मिनट के लिए की गई हो तो वह भी काफी होगी। ईश्वर को पाप न करने का अभिवचन देना ही काफी है।"

प्रार्थना का अर्थ है—धर्मभावना और आदरपूर्वक ईश्वर से कुछ माँगना। परन्तु किसी भक्तिभावयुक्त कार्य को व्यक्त करने के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। लेखक के मन में जो बात है उसके लिए भक्ति शब्द का प्रयोग करना ही अधिक अच्छा है; परन्तु उसकी व्याख्या का विचार छोड़ कर हम इसी पर विचार करें कि करोड़ों हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी और दूसरे लोग रोजाना अपने स्रष्टा की भक्ति करने के लिए निश्चित किये हुए समय में क्या करते हैं? मुझे तो यह मालूम होता है कि हर एक स्रष्टा के साथ एक होने की, हृदय की उत्कृष्ट इच्छा को प्रकट करता है और उसके आशीर्वाद के लिए याचना करता है। इसमें मन की वृत्ति और भावों का ही महत्व होता है, शब्दों का नहीं और अक्सर पुराने जमाने से जो शब्द-रचना चली आती है उसका भी असर होता है, जो मातृभाषा में उसका अनुवाद करने पर सर्वथा नष्ट हो जाती है। गुजराती में गायत्री का अनुवाद कर उसका पाठ करने पर उसका वह असर न होगा जो कि संस्कृत गायत्री से होता है। राम शब्द के उच्चारण से लाखों-करोड़ों हिन्दुओं पर फौरन असर होगा और 'गाड' शब्द का अर्थ समझने पर भी उसका उन पर कोई असर न होगा। चिरकाल के प्रयोग से और उनके उपयोग के साथ संयोजित पवित्रता से शब्दों को शक्ति प्राप्त होती है। इसलिए सबसे अधिक प्रचलित मन्त्र और श्लोकों की भाषा संस्कृत रखने के लिए बहुत से तर्क दिये जा सकते हैं। परन्तु उनका अर्थ अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, यह बात तो बिना कहे ही मान ली जानी चाहिए। ऐसी भक्तियुक्त क्रियाएँ किस समय करनी चाहिएँ, इसका कोई निश्चित नियम नहीं हो सकता। इसका आधार अलग-अलग व्यक्तियों के स्वभाव पर ही होता है। मनुष्य के जीवन में ये क्षण बड़े ही कीमती होते हैं। क्रियाएँ हमें नम्र और शान्त बनाने के लिए होती हैं और इससे हम इस बात का अनुभव कर सकते हैं कि उसकी इच्छा के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। हम तो उस प्रजापति के हाथ में मिट्टी के पिण्ड हैं। वे क्षण ऐसे हैं जिनमें मनुष्य अपने भूतकाल का निरीक्षण करता है; अपनी दुर्बलता को स्वीकार करता है और क्षमायाचना करते हुए अच्छा बनने की, अच्छा कार्य करने की शक्ति के लिए प्रार्थना करता है। कुछ लोगों को इसके लिए एक मिनट भी पर्याप्त होता है। तो कुछ लोगों को २४ घण्टे भी काफ़ी नहीं हो सकते। उन लोगों के लिए जो ईश्वर के अस्तित्व को अपने में अनुभव करते हैं केवल मेहनत या मजदूरी करना भी प्रार्थना हो सकती

है। उनका जीवन ही सतत प्रार्थना और भक्ति के कार्यों से बना होता है। परन्तु वे लोग जो केवल पापकर्म ही करते हैं, प्रार्थना में जितना भी समय लगायेंगे उतना ही कम होगा। यदि उनमें धैर्य और श्रद्धा होगी और पवित्र बनने की इच्छा होगी तो वे तबतक प्रार्थना करेंगे जबतक उन्हें अपने में ईश्वर की पवित्र उपस्थिति का निर्णयात्मक अनुभव न होगा। हम साधारण वर्ग के मनुष्यों के लिए तो इन दो सिरे के मार्गों के मध्य का एक और मार्ग भी होना चाहिए। हम ऐसे उन्नत नहीं हो गये हैं कि यह कह सकें कि हमारे सब कर्म ईश्वरार्पण ही हैं और शायद इतने गिरे हुए भी नहीं है कि केवल स्वार्थपूर्ण जीवन ही बिताते हों। इसलिए सभी धर्मों ने सामान्य भक्तिभाव प्रदर्शित करने के लिए अलग समय नियत किया है। दुर्भाग्य से इन दिनों ये प्रार्थनाएँ जहाँ दांभिक नहीं होतीं, वहाँ यान्त्रिक और औपचारिक हो गई हैं। इसलिए आवश्यक है कि इन प्रार्थनाओं के समय वृत्ति भी शुद्ध और सच्ची हो।

निश्चयात्मक वैयक्तिक प्रार्थना, जो ईश्वर से कुछ माँगने के लिए की गई हो, तो अपनी ही भाषा में होनी चाहिए। इस प्रार्थना से बढ़कर कोई बात नहीं हो सकती कि ईश्वर हमें हर एक जीव के प्रति न्यायपूर्वक व्यवहार रखने की शक्ति दे।

—यं० इं०। हि० न० जी०, १०।६।१९२६]

२०. हिन्दू और हिन्दुत्व

एक पत्र-प्रेषक, जो 'यंग इण्डिया' के श्रमशील तथा धैर्यवान पाठक हैं, लिखते हैं—

"एक सहायक एक्जीक्यूटिव इंजीनियर के प्रश्नों का उत्तर देते हुए आपने १४ अक्तूबर के यं० इं० में लिखा है—हिन्दू वह है जो ईश्वर में विश्वास करता है, आत्मा की अविनश्वरता, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और मोक्ष में विश्वास करता है और अपने दैनिक जीवन में सत्य और अहिंसा का अभ्यास करने का प्रयत्न करता है और इसलिए अत्यन्त व्यापक अर्थ में गोरक्षा करता है और वर्णाश्रम धर्म को समझता है; उस पर चलने का प्रयत्न करता है इत्यादि।

इसे पढ़कर मेरी इच्छा होती है कि आपके समक्ष आपका ही एक पुराना लेख (दो वर्ष पूर्व लिखित) रखूँ। आपने २४ अप्रैल सन् १९२४ के यं० इं० के १३६ पृष्ठ पर लिखा था—'यदि मुझसे हिन्दू धर्म की परिभाषा पूछी जाय तो सिर्फ

इतना कहूँगा कि अहिंसात्मक साधनों से सत्य की खोज करना ही उसका अर्थ है। पर कोई ईश्वर में विश्वास न करके भी अपने को हिन्दू कह सकता है। हिन्दुत्व, सत्य के लिए घोर परिश्रम का नाम है।"

मुझे आश्चर्य होता है कि पत्र-लेखक दोनों बयानों में अन्तर नहीं देखते। पहिले सन्दर्भ के अन्दर जो आ जायं वे हिन्दू कहे जा सकते हैं। ईश्वर का अस्तित्व मानने से इन्कार करना हिन्दू धर्म का गुण नहीं है। करोड़ों हिन्दू ईश्वर में विश्वास रखते हैं, इसलिए कोई यह कह बैठे कि 'हिन्दू वह है जो ईश्वर में विश्वास रखता हो-इत्यादि।' लेकिन कोई व्यक्ति ईश्वर में विश्वास न रखते हुए भी अपने को हिन्दू कह सकता है। दूसरी स्थिति में मैंने सर्वांगपूर्ण परिभाषा दे दी है; पहिली में सामान्य रूप से साधारण दृष्टान्त मात्र दिया है। इसलिए मुझे दोनों स्थितियों में कोई विरोध प्रतीत नहीं होता।

—हि० न० जी०, २८।१०।१९२६]

● ईश्वर का अस्तित्व मानने से इन्कार करना हिन्दू धर्म का गुण नहीं है।

२१. हरि-हर की व्याख्या

...हरि का अर्थ विष्णु या पालक है; हर का अर्थ रुद्र या संहारक है। जब भगवान देखते हैं कि धनिकों ने दीनों का पालन करना छोड़ दिया है, तब वे हर का रूप धारण कर संसार का संहार करते हैं। धनिक जब गरीबों का पालन करेंगे तभी हरि और हर का संगम होगा।...

—न० जी०। हि० न० जी०, १।९।१९२७]

२२. यज्ञ का अर्थ

यज्ञ का एक ही अर्थ है—सेवा।

—न० जी०। हि० न० जी०, १५।९।१९२७]

२३. हिन्दू धर्म की देन

[प्रश्नोत्तर]

उत्तर—हम देखते हैं कि आप सब कुछ हिन्दू धर्म के नाम पर कहते हैं। क्या हमें बतलाइएगा कि हिन्दू धर्म ने हमारे भले के लिए क्या किया है? क्या यह बुरे वहमों और आचारों की विरासत नहीं है?

उत्तर—मैं समझता था कि मैं यह स्पष्ट कर चुका हूँ। स्वयं वर्णाश्रम धर्म ही संसार को हिन्दू धर्म की अपूर्व देन है। हिन्दू धर्म ने हमें भय से बचा लिया है। अगर हिन्दू धर्म मेरी मदद को नहीं आता तो मेरे लिए आत्महत्या के सिवा और कोई चारा न होता। मैं हिन्दू इसलिए हूँ कि हिन्दू धर्म ही वह चीज है जो संसार को रहने योग्य बनाती है। हिन्दू धर्म से बौद्ध धर्म पैदा हुआ था। आज हम जिसे देखते हैं,वह शुद्ध हिन्दू धर्म नहीं है बल्कि वह बहुधा उसका उपहास होता है, अन्यथा मुझे इसकी ओर से वकालत करने की जरूरत नहीं पड़ती, जैसे कि, अगर मैं पूर्ण पवित्र होता तो मुझे आपसे बात करने की जरूरत नहीं होती। परमात्मा अपनी ज़बान से नहीं बोलता और जो उसके नज़दीक पहुँचता है वह उसी के समान बन जाता है। हिन्दू धर्म मुझे सिखलाता है कि मेरी अन्तरात्मा की शक्ति की मर्यादा, मेरा यह शरीर है।

पश्चिम में जिस प्रकार भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में आश्चर्यजनक शोध हुई है, उसी प्रकार हिन्दुओं ने धर्म-सम्बन्धी, आत्मा-सम्बन्धी उससे भी आश्चर्य-जनक शोध की है। लेकिन इन महान और सुन्दर शोधों को देखने के लिए हमारे पास आँखें नहीं हैं। पश्चिमी सभ्यता ने जो भौतिक उन्नति की है, उसी से हमारी आँखें चौंधिया गई हैं। मैं उस उन्नति पर मुग्ध नहीं हो गया हूँ। सच पूछिए तो यह ऐसा मालूम पड़ता है मानों परमात्मा ने ही भारतवर्ष को उस रास्ते उन्नति करने से रोका हो, जिससे कि वह भौतिकता की धारा को रोकने का अपना विशेष उद्देश्य पूरा कर सके। आखिर हिन्दू धर्म में कोई ऐसा तत्व है जो इसे अबतक जिलाये हुए है। इसने बेबिलोन, सीरिया, फारस, और मिश्र का पतन देखा है। अपने चारों ओर दृष्टि डालिए। कहाँ है रोम और कहाँ है यूनान? क्या आप कहीं गिबन की इटली या प्राचीन रोम को ही, क्योंकि रोम ही इटली था, ढूँढ़ सकते हैं? तनिक यूनान जाइए। संसार-प्रसिद्ध ग्रीक-सभ्यता कहाँ हैं? फिर भारत लौटिए, पुराने से पुराने लेखों को देखिए और अपने चारों ओर नजर डालिए। तब आपको विवश होकर कहना पड़ेगा कि हाँ, मैं यहाँ प्राचीन भारत को अब भी जीवित देखता हूँ। बेशक इधर-उधर कूड़े के ढेर हैं, लेकिन उनके नीचे लाल-रत्न छिपे हैं। आज तक हिन्दू धर्म जिन्दा क्यों रहा? इसका कारण यह है कि इसने अपने सामने भौतिक उन्नति के बदले आध्यात्मिक उन्नति का उद्देश्य रखा था। इसकी कई देनों में यह अपूर्व ही है कि मनुष्यों और गूंगे पशुओं में एक ही आत्मा वास करती है। मेरे लिए तो गो-पूजा एक बहुत बड़ा विचार है, जिसका विस्तार किया जा सकता है। इसमें आज के जैसे धर्म-प्रचार का न होना भी मेरे लिए एक बहुमूल्य चीज है। इसे उपदेश देने की जरूरत नहीं है। यह सिखलाता है कि ऐसा जीवन बनाओ।

यह काम मेरा है, आपका है कि हम ऐसा जीवन बितायें और फिर उसका असर युग-युग तक चला जायगा। इसने आदमी भी कैसे पैदा किये ? रामानुज, चैतन्य, रामकृष्ण, जैसे हिन्दू धर्म पर अपनी छाप छोड़ जाने वाले ! और आधुनिक नामों को तो छोड़ दीजिए। हिन्दू धर्म की शक्ति किसी प्रकार भी समाप्त नहीं कही जा सकती । यह मरा हुआ धर्म नहीं है।

चार आश्रमों[1] की देन तो है ही। यह भी अपूर्व ही भेंट है। संसार में इसके समान कुछ भी नहीं है। कैथोलिक ईसाइयों में ब्रह्मचारियों का संघ अवश्य है किन्तु वह कोई संस्था नहीं है। पर यहाँ, हिन्दुस्तान में, प्रत्येक बालक को ब्रह्मचर्याश्रम का पालन करना ही पड़ता था। क्या ही उदात्त कल्पना है। आज हमारी आँखें मैली हो रही हैं, विचार गन्दे हो रहे हैं और शरीर सबसे अधिक गन्दा हो रहा है क्योंकि हम हिन्दू धर्म का इन्कार कर रहे हैं।

इसके अलावा एक और चीज है जिसका जिक्र मैंने नहीं किया है। मैक्समूलर ने चालीस साल पहिले कहा था कि यूरोप को यह खयाल अब आ रहा है कि पुनर्जन्म और भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म कुछ खाम-खयाली नहीं है बल्कि सत्य घटना है। यह सम्पूर्णतया हिन्दू धर्म की ही देन है।

आज इन्हीं के अनुयायी वर्णाश्रम धर्म और हिन्दू धर्म का उल्टा अर्थ लगाते हैं ; उनसे इन्कार करते हैं। इसकी दवा विनाश नहीं है, सुधार है। हम अपने अन्दर सच्ची हिन्दू-भावना पैदा करें और तब पूछें कि इस धर्म से आत्मा को पूरा-पूरा सन्तोष होता है या नहीं।

—यं० इं०। हि० न० जी० १।१२।१९२७]

- ...वर्णाश्रम धर्म...संसार को हिन्दू धर्म की अपूर्व देन है।
- हिन्दू धर्म ही वह चीज़ है, जो संसार को रहने योग्य बनाती है।
- मेरे लिए तो गो-पूजा एक बहुत बड़ा विचार है।

२४. मोक्षदाता राम

[आश्रम में रामनवमी के दिन दिये प्रवचन का सारांश।—सम्पा०]

हमें जिन राम के गुण गाने हैं, वे राम वाल्मीकि के राम नहीं हैं; तुलसीकृत रामायण के राम भी नहीं हैं, यद्यपि तुलसीदास की रामायण मुझे अत्यन्त प्रिय है। मैं तुलसीकृत रामायण को अद्वितीय ग्रन्थ मानता हूँ। तथा उसे एक बार

---

१. ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम।

पढ़ना शुरू करके कभी उकताता नहीं। फिर भी हम आज तुलसीदास या गिरधर दास के राम का स्मरण नहीं करने जा रहे हैं; तो कालिदास और भवभूति के राम का कहना ही क्या? भवभूति के 'उत्तर राम-चरित' में बहुत सौन्दर्य है, किन्तु उसमें वे राम नहीं हैं, जिनका नाम लेकर हम भवसागर पार कर सकें, या जिनका नाम हम दुःख के अवसर पर लिया करें। मैं असह्य वेदना से दुःखित आदमी से कहता हूँ—राम नाम लो; नींद न आती हो तो भी मैं कहता हूँ, राम नाम लो। किन्तु ये राम दशरथ के कुँवर या सीता के पति राम नहीं हैं। ये देहधारी राम नहीं हैं। जो हमारे हृदय में बसते हैं वे राम देहधारी नहीं हो सकते। अंगूठे के समान छोटा सा तो हमारा हृदय है और उसमें भी समाये हुए राम देहधारी क्यों कर हो सकते हैं? किसी साल चैत्र की नवमी को इनका जन्म नहीं हुआ होगा। ये तो अजन्मा हैं। ये पृथिवी को पैदा करनेवाले हैं; संसार के स्वामी हैं। इसलिए हम जिन राम का स्मरण करना चाहते हैं और जिनका स्मरण करना चाहिए वे राम हमारी कल्पना के राम हैं; दूसरे की कल्पना के राम नहीं।

इतना याद रखें तो हमारे मन में जो अनेक प्रश्न उठा करते हैं वे न उठें। कितनी बार सवाल होता है कि बालि का वध करनेवाले राम सम्पूर्ण पुरुष क्यों कर होंगे? मेरे पास भी ऐसे अनेक प्रश्न आते हैं। इसलिए मैं मन ही मन हँसता हूँ। किसी ने अगर छल में या सीधी रीति से किसी को मारा अथवा कोई दस सिर का देहधारी रावण हो तो उसी को मारकर कौन सा भारी काम कर लिया? आज का युग तो ऐसा है कि बीस क्या, असंख्य भुजा का रावण पैदा हो, एक बालक तोप के एक ही गोले से उसके असंख्य हाथ और माथ उड़ा देगा। उसे हम अलौकिक बालक नहीं गिनेंगे। हम उसे बड़ा राक्षस मानेंगे। मैं मानता हूँ कि हम राक्षस के बड़े भाई के समान शक्ति पैदा करना नहीं चाहते। उसकी पूजा करने से हमें शान्ति नहीं मिलेगी। हम पूजा करें तो अन्तर्यामी की जो सबके भीतर है और साथ ही सबसे अलग है और सबका स्वामी है। उन्हीं के बारे में हमने गाया—निर्बल के बल राम। इसमें तो 'द्रुपद-सुता निर्बल भई' की बात आई है। अब द्रौपदी और देहधारी राम का मेल कहाँ बैठेगा? फिर भी कवि ने गाया है कि द्रौपदी की लाज राम ने रखी। इसमें तो वही राम हैं जो सभी के लिए सामान्य हैं, फिर भी जिन्हें कोई पहिचान नहीं सकता। हम उसी राम का स्मरण करते हैं। इन अन्तर्यामी राम और कृष्ण में भेद नहीं है।

रामनवमी का पर्व इसलिए बनाया गया कि इसके निमित्त हम कुछ संयम का पालन करें; लड़के कुछ निर्दोष आनन्द लें और रामायण पढ़कर कुछ बोध प्राप्त करें। देहधारी मनुष्य परमेश्वर को दूसरे तरीके से तुरन्त नहीं पहिचान सकता।

उसकी कल्पना अधिक दूर नहीं दौड़ सकती और इसलिए वह मानता है कि परमेश्वर ने मनुष्य के रूप में अवतार लिया था। हिन्दू धर्म में उदारता का पार नहीं है। इसलिए वर्णन किया है कि परमेश्वर ने मछली के रूप में, वाराह के रूप में, और नरसिंह के रूप में अवतार लिया था। मनुष्य ने इस प्रकार देहाध्यास से ईश्वर की कल्पना देहधारी के रूप में की है और जब-तब उसके अवतार लेने की कल्पना की है। कहा है कि धर्म की ग्लानि हो और अधर्म फैल जाय तो ईश्वर धर्म की रक्षा करने के लिए अवतार लेता है। यह बात भी उसी तरह और उतनी ही हद तक सच्ची है, जितना मैंने कहा है। नहीं तो अजन्मा का अवतार लेना कैसा? यह मानने का कोई कारण नहीं है कि किसी ऐतिहासिक पुरुष ने ईश्वर के रूप में या ईश्वर ने किसी ऐतिहासिक पुरुष के रूप में अवतार लिया था। जितने महापुरुष हो गये हैं उनके गुण देखकर मनुष्यों ने उन्हें पूर्ण अथवा अंशावतार माना। और यह जानते हुए भी कि वाल्मीकि या तुलसीदास के राम के विभिन्न उपासकों ने अपना ईश्वर उन्हीं को माना है, उनके भजनों को गाने में कोई दोष नहीं है। किन्तु मैंने जो बात तुमसे पहिले कही है. उसे सदा याद रखो तो तुम्हारे भ्रमजाल में पड़ने का कोई कारण न रहे। हमारे सामने अगर कोई शंकाएँ रखकर हमें चक्कर में डालना चाहे तो उससे कहो कि हम किसी देहधारी राम की पूजा नहीं करते। हम तो अपने निरंजन, निराकार राम को पूजते हैं। उसके पास सीधे नहीं पहुँच सकते, इसलिए जिनमें ईश्वर की मूर्तिमन्त कल्पना की है, उन भजनों को गाते हैं।

...देह अभिमान का मूल है। इसके विषय में जिसका राग शेष है, वह अभिमान से मुक्त नहीं हो सकता। जबतक मेरे मन में यह है कि यह देह मेरी है, तबतक मैं हिंसा से सर्वथा मुक्त नहीं हूँ। जिसकी अभिलाषा ईश्वर को देखने की है उसे देह के पार जाना पड़ेगा; अपनी देह का तिरस्कार करना पड़ेगा; मौत से भेंट करनी पड़ेगी।

यदि यह दो गुण मिलें तो हम तर सकेंगे; ब्रह्मचर्यादि का पालन कर सकेंगे ...कोई अपराध करे तो क्या उस पर क्रोध करने के बदले प्रेम करना हमें रुचता है? हम संसार को असार कहकर गाते अवश्य हैं, मगर क्या उसे असार समझते भी हैं?

राम कहते हैं, मुझसे मिलना हो तो इस संसार से भाग जा। मगर शरीर तो भगाने से भाग नहीं जाता। असारता की वृत्ति पैदा करके, चौबीस घण्टे काम करते हुए भी हम राम से मिल सकते हैं। यही वस्तु गीता जी में सिखलाई गई है। गीता को मैं इसीलिए आध्यात्मिक शब्दकोश मानता हूँ। तुलसीदास ने वही वस्तु हमें सुन्दर काव्य के रूप में सिखलाई है।

किन्तु कुंजी तो वही है जो मैंने वतलाई है। यानी हमारी अपनी कल्पना के ही राम तारेंगे। मेरा राम मुझे तारेगा, आपको नहीं और आपका राम आपको तारेगा, मुझे नहीं। हम सब तुलसीदास के समान सुन्दर काव्य नहीं रच सकते किन्तु जीवन में ईश्वर को उतार कर उसे काव्यमय बना सकते हैं।
—न० जी०। हि० न० जी० ५।४।१९२८]

- मैं असह्य वेदना से दुःखित आदमी से कहता हूँ—रामनाम लो। नींद न आती हो तो भी मैं कहता हूँ रामनाम लो।
- जो हमारे हृदय में बसते हैं वे राम देहधारी नहीं हो सकते।
- ये (राम)...अजन्मा हैं। ये पृथिवी को पैदा करनेवाले हैं; संसार के स्वामी हैं।
- हिन्दू धर्म में उदारता का पार नहीं है।
- देह अभिमान का मूल है।
- जिसकी अभिलाषा ईश्वर को देखने की है, उसे देह के पार जाना पड़ेगा।
- गीता को मैं...आध्यात्मिक शब्दकोश मानता हूँ।

२५. प्रभु बड़े या गुरु ?

उपर्युक्त शीर्षक देकर एक गृहस्थ ने यह लिख भेजा है :—

"कलकत्ते के गोविन्द भवन की दिल दहलाने वाली बात सुनकर सारे मारवाड़ी समाज में खलवली मच गई है। अपने को सनातनी कहलानेवाले पुराने विचार के मारवाड़ियों में भी बहुत हाहाकार मच रहा है। 'नवजीवन' में आपने एक लेख लिखकर यह मत प्रकट किया है कि—

१. वहिनों को मनुष्य का सेवन-पूजन छोड़कर परमेश्वर के पूजन में ही लक्ष्य रखना चाहिए।

२. किन्तु 'सोलन' के विचारानुसार कोई आदमी चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न माना जाता हो, जबतक वह जीवित है तबतक पार पहुँचा हुआ नहीं कहा जा सकता। इसलिए जीवित मनुष्यों का सेवन-पूजन, स्त्रियों के लिए अयोग्य है।

"आपके लेख का यह भावार्थ मुझे बहुत पसन्द आया है। किन्तु उसके सामने पहाड़ के समान धार्मिक कठिनाइयाँ खड़ी हैं। आपने शायद उनका विचार न किया हो। 'नवजीवन' में इस बात पर थोड़ी-बहुत चर्चा हो, इस आशय से नीचे के प्रश्नों पर आपका ध्यान आकर्षित करता हूँ।

"हिन्दू धर्म के बहुत-से मतों और पन्थों का ऐसा सिद्धान्त है कि मनुष्य को सीधे अपने-आप ही परमेश्वर नहीं मिल सकता। अतएव आत्मा और परमात्मा की एकता के लिए एक तीसरे आदमी की जरूरत पड़ती है। इस आत्मा और परमात्मा की एकता कराने का दावा करनेवाले आदमी की पदवी परमात्मा से भी बड़ी गिनी जाती है। सारे हिन्दुस्तान में प्रचलित इस दोहे को तो आपने सुना ही होगा:—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काको लागूं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय॥

"फिर दादूदयाल नाम के गुजरात के एक ब्राह्मण का पन्थ पंजाब में चलता है। इस पंथ में दादूदयाल के शिष्य 'सुन्दरदास' कवि का लिखा 'सुन्दर विलास' नाम का ग्रन्थ बहुत प्रचलित है। उसमें लिखा है:—

गोविन्द के किये तें जिव जात है रसातल में,
गुरु जो कृपा करें तो छूटे जमफन्द तें॥

"मतलब यह कि प्रभु के बनाये जीव नरक में जायँगे किन्तु जिन पर गुरु ने कृपा करके मार्ग दिखलाया होगा, केवल वे ही तरेंगे।

"गोस्वामी श्री तुलसीदास जी महाराज की रामायण से भी एक वचन बार-बार बतलाया जाता है। वह यह रहा—

मोरे मन प्रभु अस विश्वासा।
राम तें अधिक राम कर दासा।

"वल्लभी पन्थ का ऐसा सिद्धान्त है कि जब गुरु ब्रह्म-सम्बन्ध करें तभी उद्धार हो सकता है। इसके बिना चाहे कोई कैसा ही नीतिमान, सद्गुणी, या भक्ति-युक्त हो, उसका उद्धार नहीं होता। वल्लभाचार्य को भगवान प्रत्यक्ष मिले और उन्होंने कहा—जिन-जिन को शरण में लेकर तुम मुझे सौंपोगे उनको मैं तारूँगा। इसलिए वल्लभी पन्थ के गुरु अपने सेवक और सेविकाओं का ब्रह्म-सम्बन्ध कराते हैं। वल्लभाचार्य ने 'सिद्धान्त-रहस्य' नाम की एक पुस्तक लिखी है। उसके पहले तीन श्लोकों का अर्थ यह है:—

"साक्षात् भगवान ने मुझसे मिल कर जो कहा है, उसे मैं अक्षर-अक्षर सुनाता हूँ। ब्रह्म-सम्बन्ध लेने से देह के तथा जीव के सभी पाप जलकर भस्म हो जाते हैं। लोगों में और वेद में जो पाँच महापाप बतलाये हैं, उन्हें बिल्कुल न मानना। ब्रह्म सम्बन्ध लिये बिना, किसी तरह सभी दोषों की निवृत्ति नहीं हो सकती।

"इन वल्लभाचार्य को भगवान से भी बड़ा दिखलाने के लिए इन्हें महाप्रभु जी का नाम दिया गया है। यह तो मैंने केवल थोड़े से ही उदाहरण बतलाये हैं। दूसरे अभी बहुत से हैं। किन्तु उन्हें छोड़ कर अब खुद गोविन्द-भवन के बारे में लिखता हूँ। पिछली राम-नवमी पर कलकत्ते के गोविन्द भवन से एक मारवाड़ी भक्त भक्ति का प्रचार करने बम्बई पधारे थे। उनका विज्ञापन गुजराती पत्रों में भी छपा था। कालबादेवी मार्ग पर एक मकान में उनका व्याख्यान था। मैं जब देखने गया, तब इस भक्त के सम्मान में अनेक व्यक्ति ढोल, ताश, झाल, बिगुल, झाँझ, नगाड़ा, और पिपुही बजा रहे थे। लगभग तीस-पैंतीस आदमी तो सिर्फ गुलाबजल ही फूलदानियों में भर कर उन पर छिड़क रहे थे और फूल के टोकरे पर टोकरे खाली कर उन पर बरसा रहे थे। कोई पंखा हाँक रहे थे। मैंने लोगों से पूछा तो सभी ने यही कहा ये बहुत बड़े भक्त हैं और उन्हें प्रभु का साक्षात्कार हो चुका है। इस बात की पूरी जाँच छोड़ कर मैं यही पूछना चाहता हूँ कि आपने तो बहिनों को मनुष्य-पूजा छोड़ कर प्रभु को भजने की शुभ शिक्षा दी लेकिन इन सभी बातों का, जो आपके तर्क का खण्डन करती हैं, क्या हो? प्रभु के पास पहुँचानेवाले आदमी, प्रभु से भी बहुत बड़े बन कर भोले भावुकों से अपने पैर पुजवा रहे हैं। उनका महात्म्य पुराने ग्रन्थों में भी बहुत गाया गया है। इसलिए यह बात उनके पक्ष में लाभदायी हो गई है। अतएव मैं इस सम्बन्ध में जो सलाह 'नवजीवन' के द्वारा माँग रहा हूँ, उससे बहुतों को लाभ होगा और वह सार्वजनिक समाज के लिए हितकर सिद्ध होगा।"

मारवाड़ी भक्त के बारे में जो लिखा गया है, उसे मैं नहीं जानता। सिद्धान्त-रहस्य नामक पुस्तक में से जो तीन श्लोकों का अर्थ भेजा गया है, वे श्लोक भी मैंने नहीं देखे हैं। किन्तु इस लेख में जो लिखा है, वैसी मान्यता हिन्दू धर्म में है, इस विषय में शंका नहीं है। मैं स्वयं ही नित्य प्रातःकाल नीचे लिखा श्लोक गाता हूँ—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥

और गुरु के माहात्म्य के बारे में हिन्दू धर्म की मान्यता के लिए सबल कारणों का होना भी मैं मानता हूँ। इसीलिए मैं गुरु शब्द का शुद्ध अर्थ खोज रहा हूँ। जिस गुरु में ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर का लय हो, और जो साक्षात् परब्रह्म के समान हो, वह देहधारी, विकारी और रोगी मनुष्य नहीं होगा। उसमें तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की सारी शक्ति होगी, यानी वह आदमी मुख्य रूप से हमारी कल्पना में ही होगा। और वह गुरु-इष्टदेव, केवल सत्य की मूर्ति परमात्मा ही होगा।

इसलिए गुरु की खोज परमात्मा की खोज के समान हुई। विचार करते हुए जो-जो वस्तुएँ लेखक ने लिखी हैं, वे सरल हो जाती हैं। जो गोविन्द को वता सके वह अवश्य ही गुरु होने योग्य है। वह चाहे वाद में भले ही गोविन्द से भी वड़ा गिना जाय। हम गोविन्द के वनाये हुए जीवों को अनन्त दुःख भोगते हुए देखते हैं। किन्तु हमें जो इस फन्दे से छुड़ा सके वह खुशी से गोविन्द से भी वड़ा पद ले ले। यही आशय 'राम से अधिक राम कर दासा में' है। इन सभी महावचनों का अर्थ इतना स्पष्ट है कि अगर हम सरल हृदय से खोजें तो प्रपंच में विल्कुल न पड़ें, और अनर्थ में न पड़ें। प्रत्येक महावचन में अनिवार्य शर्त्त अवश्य जुड़ी होती है। जो हमें प्रेमधर्म सिखलाये, भयमुक्त करे, सादगी सिखलावे, गरीव-से-गरीव के साथ ऐक्य साधने की वुद्धि ही नहीं वल्कि ऐक्य अनुभव करने का हृदयवल भी दे, वह हमारे लिए अवश्य ईश्वर से वड़ा है। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि ईश्वर का ऐसा दास अलग स्वतन्त्र रूप में ईश्वर से वड़ा है। हम समुद्र में गिरें तो डूव जायेंगे, मगर इसी समुद्र में वहनेवाली गंगा के मूल से एक लोटा जल प्यास लगने पर लेकर पियें तो उस समय यह गंगाजल हमारे लिए समुद्र से भी वड़ा है। किन्तु यही गंगा जल वहाँ से लेने जायँ, जहाँ गंगा समुद्र में मिलती हैं तो वह जहर के समान हो जायगा। ऐसा ही गुरु के विषय में समझना चाहिए। जिनमें दंभ है, ईर्ष्या है; जो सेवा के भूखे हैं उन्हें गुरु मान वैठना तो अनेक प्रकार के गन्दे जलों के समुद्र में पड़े हुए गंगा नदी के जहरीले पानी के समान समझना चाहिए।

अभी तो हम धर्म के नाम पर अधर्म का आवरण करते हैं; सत्य के नाम पर पाखण्ड का पोषण करते हैं और ज्ञानी होने का डौल करके अनेक प्रकार की पूजा चुराकर स्वयं अधोगति को प्राप्त होते हैं, और साथ में दूसरों को भी ले डूवते हैं। ऐसी स्थिति में किसी को गुरु करने के सम्वन्ध में विल्कुल अस्वीकार करने का ही धर्म प्राप्त होता है। सच्चे गुरु न मिलें तो मिट्टी के पुतले को गुरु वनाकर वैठाने में दुहरा पाप है। किन्तु जवतक सच्चे गुरु न मिलें, तवतक 'नेति नेति' कहने में पुण्य है। इतना ही नहीं किन्तु उससे किसी दिन सच्चे गुरु के मिलने का भी प्रसंग आ सकता है।

मुझे इसके वहुत से कड़वे-मीठे अनुभव हुए हैं और अव भी हुआ करते हैं। चलती धारा का विरोध करने में वहुत-सी मुसीवतें आती रही हैं। किन्तु उनमें से मैंने एक वात यह सीखी है कि जिस वस्तु में अनीति है, जिसका खण्डन होना ही चाहिए, हमें उसका विरोध एकाकी होने पर भी करना ही चाहिए। और वह वात यदि सच्ची होगी तो विरोध से जरूर सफल होगी, ऐसा विश्वास सदैव रखना उचित है।

जो भक्त स्तुति का या पूजा का भूखा है; जो मान न मिलने से चिढ़ जाता है, वह भक्त नहीं है। भक्त की सच्ची सेवा स्वयं भक्त बनने में है। इसलिए मैं आजकल चलनेवाली मनुष्य-पूजा का यथासम्भव विरोध ही करता हूँ और सबको विरोध करने के लिए प्रेरित करता हूँ।

—न० जी०। हि० न० जी० १४।६।१९२८]

- मैं गुरु शब्द का अर्थ खोज रहा हूँ।
- गुरु की खोज परमात्मा की खोज के समान हुई।
- जो गोविन्द को बता सके वह अवश्य ही गुरु होने योग्य है।
- प्रत्येक महावचन में अनिवार्य शर्त्त अवश्य जुड़ी होती है।
- भक्त की सच्ची सेवा स्वयं भक्त बनने में है।

२६. श्रुति-स्मृतियों का प्रमाण

केवल नाम देने से श्रुति-स्मृतियाँ धर्म-वाक्य नहीं बन सकतीं। जो बात सत्यादि अटल सिद्धान्तों के विरुद्ध है, वह धर्म-प्रमाण नहीं हो सकती। मनुस्मृति आदि जो ग्रन्थ आज हमारे सामने रखे जाते हैं, वे मूलतः जैसे थे वैसे आज प्रतीत नहीं होते क्योंकि उनमें विरोधी वचन आते हैं। उनमें ऐसे वचन भी पाये जाते हैं जो सनातन नीति, सिद्धान्त और बुद्धि के विरोधी हैं।. . .संस्कृत भाषा में छपे हुए हर एक संस्कृत ग्रन्थ को शास्त्र मानने से पुण्य पाप हो जायगा और पाप पुण्य बन जायगा। इसलिए गीता की भाषा के अनुसार गीता के स्थितप्रज्ञ का वचन ही शास्त्र का बुद्धिग्राह्य अर्थ हो सकता है।. . .

—हि० न० जी०, ११।७।१९२९]

२७. ब्रह्मचर्य की व्याख्या

. . .ब्रह्मचर्य का पालन बहुत मुश्किल, लगभग नामुमकिन माना गया है। उसके कारण ढूँढ़ने पर पता चलता है कि ब्रह्मचर्य का संकुचित अर्थ किया गया है। जनन-इन्द्रिय (लिंग, योनि) के विकारों पर काबू ही ब्रह्मचर्य-पालन है—ऐसा जाना गया है। मुझे लगता है कि यह अधूरी और गलत व्याख्या है। समस्त विषयों पर रोक ही ब्रह्मचर्य है। जो दूसरी इन्द्रियों को जहाँ-तहाँ भटकने देता है और एक ही इन्द्रिय को रोकने की कोशिश करता है, वह निकम्मी कोशिश करता है इसमें क्या शक है? कानों से विकार की बातें सुनें, आँखों से विकार पैदा करने

वाली चीजें देखें, जीभ से विकारों को तेज करनेवाली चीजें स्वाद से खायें, हाथ से विकारों को तेज करनेवाली वस्तुओं को छुएं और फिर भी कोई जननेन्द्रिय को रोकने का इरादा रखे तो यह आग में हाथ डालकर न जलने की कोशिश करने-जैसा होगा। इसलिए जो जनन-इन्द्रिय को रोकने की ठान ले उसको तमाम इन्द्रियों के विकारों को रोकने की ठान ही लेनी चाहिए। ब्रह्मचर्य की संकीर्ण व्याख्या से नुकसान हुआ है, ऐसा मुझे हमेशा लगा है। मेरी तो पक्की राय है और मेरा अनुभव भी है कि अगर हम सब इन्द्रियों को एक साथ वस में लाने की आदत डालें तो जनन-इन्द्रिय को वस में लाने की कोशिश तुरन्त सफल होगी। इसमें मुख्य चीज़ स्वादेन्द्रिय है और इसलिए उसके संयम को हमने स्थान दिया है।...

ब्रह्मचर्य का मूल अर्थ सब याद करें, ब्रह्मचर्य यानी ब्रह्म की, सत्य की खोज में चर्या यानी उसके विषय में आचार—बरतना। इस मूल अर्थ में से सब इन्द्रियों का संयम, यह विशेष अर्थ निकलता है। सिर्फ जनन-इन्द्रिय का संयम—ऐसा अधूरा अर्थ तो हम भूल ही जायँ।

——मंगल प्रभात, ५।८।१९३०। न० जी० प्र० मं० संस्करण १९५८]

२८. अस्वाद-व्रत

ब्रह्मचर्य के साथ बहुत नजदीक का सम्बन्ध रखनेवाला यह व्रत है। मेरा अनुभव है कि अगर मनुष्य इस व्रत में पार उतर सके, तो ब्रह्मचर्य यानी जनन-इन्द्रिय का संयम बिल्कुल सरल हो जाय। लेकिन साधारण रूप से इसे व्रतों में अलग स्थान नहीं दिया जाता। स्वाद को बड़े-बड़े मुनिवर भी नहीं जीत सके, इसलिए उस व्रत को अलग स्थान नहीं मिला।...

अस्वाद यानी स्वाद न लेना। स्वाद यानी रस-आनन्द। जैसे, दवा खाते समय वह जायकेदार है या नहीं इसका खयाल न करते हुए शरीर को उसकी जरूरत है ऐसा समझ कर उसकी मात्रा में ही हम खाते हैं, उसी तरह अन्न का (के बारे में) समझना चाहिए।...

—मंगल प्रभात। १२।८।१९३०। न० जी० प्र० मं०, संस्करण १९५८]

२९. मूर्ति-पूजा

मूर्ति-पूजा के मैं दो अर्थ करता हूं, एक में मनुष्य मूर्ति का ध्यान करते हुए गुणों में लीन होता है। यह अच्छी पूजा है। दूसरी में गुणों का विचार

न करके वह मूर्ति को ही मूलवस्तु मानता है। यह वुतपरस्ती नुकसान करती है।

— यरवदा मन्दिर, १८।१०।१९३०। वापू के पत्र : प्रेमा वहिन कंटक के नाम, न० जी० प्र० मं०]

३०. गणेश एवं गुरुस्तुति

[सुश्री मीरा वहिन को लिखे पत्र से।]

साप्ताहिक पत्रों को शुरू कर देने से पहिले तुम्हारे लिए श्लोक (इस वार दो होंगे) नकल कर देने में मुझे आनन्द आता है। तो यह लो छठा[1] और सातवाँ[2] श्लोक और साथ ही तत्काल लिखी गई टिप्पणियाँ।

६. "जिनका मुख टेढ़ा है, जिनका शरीर विशाल है, करोड़ों सूर्य के वरावर जिनकी कान्ति है, ऐसे हे गणेश जी, मेरे सारे शुभ कर्मों में मुझे निर्विघ्न करो।"

टिप्पणी—यह ओंकाररूप ईश्वर के लिए कहा गया है, इसका टेढ़ा मुख और वड़ा शरीर देखो। इसकी गूढ़ महत्ता उपनिषदों में वर्णन की गई है।

७. गुरु ब्रह्मा है, गुरु विष्णु हैं और गुरु ही महादेव हैं; गुरु साक्षात् परब्रह्म हैं, ऐसे श्री गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ।

टिप्पणी—यहाँ अवश्य ही मतलव आध्यात्मिक गुरु से है। यह कोई यान्त्रिक या कृत्रिम सम्बन्ध नहीं है। गुरु असल में यह सव कुछ नहीं है। परन्तु उस शिष्य के लिए वह सव कुछ है, जो उसमें पूरा सन्तोष अनुभव करता है; जो उसमें सम्पूर्णता का आरोपण करता है; जिसे उस गुरु ने सजीव ईश्वर में सजीव श्रद्धा प्रदान की है। ऐसा गुरु कम से कम आजकल तो क्वचित् ही मिलता है। इसलिए उत्तम वात यही है कि स्वयं ईश्वर को ही अपना गुरु समझा जाय या श्रद्धापूर्वक ऐसे गुरु की प्रतीक्षा की जाय।

— २५।१।१९३१। वापू के पत्र : मीरा के नाम पृ० १२४ न० जी० प्र० मं०]

---

१. वक्रतुण्ड महाकाय सूर्यकोटि समप्रभ।
निर्विघ्नं कुरु मे देव सर्वकार्येषु सर्वदा॥१॥

२. गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥१॥

३१. ॐ का रहस्य

वेदों ने ब्रह्म का वर्णन 'ॐ तत्सत्' रूप से किया है, अतः श्रद्धालु को चाहिए कि यज्ञ, दान, तप आदि क्रिया इसका उच्चारण करके करे। ॐ अर्थात् एकाक्षरी ब्रह्म; तत् अर्थात् वह। सत् अर्थात् सत्य, कल्याण-रूप। मतलब कि ईश्वर एक है, वही है, वही सत्य है; वही कल्याण करनेवाला है।...

—यरवदा मन्दिर १४।२।१९३२। गीता-बोध पृ० ७९ स० सा० मं० संस्करण १९५४]

३२. सर्व-धर्म-समभाव

[श्री सुन्दरम् नामक एक जेलवासी ईसाई ने गांधी जी से पूछा था—'आपको सत्य के ज्यादा निकट कौन-सा धर्म प्रतीत हुआ?' इस प्रश्न का निम्नलिखित उत्तर गांधी जी ने श्री मोहनलाल भट्ट को लिखे पत्र में दिया।—सम्पा०]

भाई सुन्दरम जो पूछते हैं वह सवाल पूछने लायक नहीं है। मगर जब वह पूछते ही हैं, तो मुझे कहना चाहिए कि मेरी दृष्टि में सब बातें देखते हुए सत्य के सबसे ज्यादा निकट हिन्दू-धर्म है। मगर साथ ही यह स्वीकार करने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं होता कि शायद मैं इसमें मोहवश भूल कर रहा हूं। मगर यदि यह भूल हो, तो भी क्षम्य है और आवश्यक भी है। क्योंकि इतना मोह न हो, तो मनुष्य किसी भी धर्म पर टिक नहीं सकता, और अगर उसे किसी दूसरे धर्म में अधिक सत्य दिखाई दे, तो उसमें गये बिना रह नहीं सकता, न रहना चाहिए। इसे ईश्वर की माया कहो या जिस किसी भी नाम से पुकारना हो पुकारो, मगर दुनिया में है ऐसा ही। इतने पर भी सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। यानी ईसाई ईसाई धर्म को सत्य के अधिक निकट माने, मुसलमान इस्लाम को माने; यह मुझे हिन्दू की हैसियत से मान लेना चाहिए और यह भी मान लेना चाहिए कि अपने अपने धर्म में चुस्त रहने के लिए यह उनके लिए जरूरी है। इस मान्यता के लिए उनके प्रति मुझे द्वेष भी न होना चाहिए। मुझे यह भी न मानना चाहिए कि उनका यह खयाल ग़लत है। मैं आशा रखता हूँ कि भाई सुन्दरम् को और तुम सबको यह बात स्पष्ट हो गई होगी। यह सम्भव है कि सब धर्मों के बारे में मेरा यह विचार मौलिक है। दूसरों ने भी इस ढंग से सोचा हो, तो मुझे मालूम नहीं। मेरे लिए तो यह मौलिक ही है और मुझे इससे रस के घूंट मिले हैं। इस

विचार के कारण मैं हिन्दू-धर्म में चुस्त रहकर भी दूसरे धर्मों को पूज सकता हूँ और उनमें से जो कुछ अच्छा हो वह निःसंकोच ले सकता हूं।...
—३०।१०।१९३२। म० भा० डा० भाग २ पृ० १५६-१५७]

- मेरी दृष्टि में...सत्य के सबसे ज्यादा निकट हिन्दू-धर्म है।
- सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए।
- मैं हिन्दू-धर्म में चुस्त रह कर भी दूसरे धर्मों को पूज सकता हूँ।

३३. हिन्दू-धर्म का गौरव

मैं अपने को हिन्दू समझने में गौरव अनुभव करता हूं, क्योंकि मेरे ख्याल से यह शब्द इतना विशाल है कि वह पृथिवी की चारों दिशाओं के पैग़म्बरों के उपदेशों के प्रति सहिष्णुता रखता है; इतना ही नहीं बल्कि उन्हें आत्मसात् कर सकता है।
—४।११।१९३२। म० भा० डा० भाग २ (परिशिष्ट) पृ० ३८१]

३४. सनातनी

मैं खुद सनातनी होने का दावा करता हूं।...मेरे ख़याल से सनातन धर्म ऐतिहासिक काल से भी पहिले की पीढ़ियों से विरासत में आया हुआ और वेद तथा उसके बाद के ग्रन्थों पर रचा हुआ प्राणवान धर्म है। मेरे विचार वेद, ईश्वर और हिन्दूधर्म के समान ही अव्याख्येय हैं। छपे हुए चार ग्रन्थों को ही वेद कहना अर्ध-सत्य है। वे ग्रन्थ तो अज्ञात द्रष्टाओं के प्रवचनों के अवशेष मात्र हैं। बाद के व्यक्तियों ने इस मूल पूंजी में अपने ज्ञान के अनुसार वृद्धि की है।
—४।११।१९३२। म० भा० डा० भाग २ (परिशिष्ट) पृ० ३८०

३५. हिन्दू-धर्म

[अलीगढ़ विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर श्री हबीबुर्रहमान को लिखे गये पत्र से]

हिन्दू धर्म की खसूसियत यह है कि उसमें काफी विचार-स्वातंत्र्य है। और उसमें हर एक धर्म के प्रति उदारभाव होने के कारण उसमें जो कुछ अच्छी बातें रहती हैं, उनको हिन्दूधर्मी मान सकता है। इतना ही नहीं, परन्तु मानना उसका कर्त्तव्य है। ऐसा होने के कारण हिन्दू धर्म-ग्र थों के अर्थ का दिन-प्रति-दिन विकास होता रहा है।...

. . . हिन्दू धर्म के नाम से प्रचलित ग्रन्थों में जो कुछ लिखा गया है, वह सबके सब धर्म-वचन हैं, ऐसा नहीं है और हिन्दू जनता को अब यह मानना चाहिए, ऐसा भी नहीं है। वेद-पाठ सुननेवाले शूद्र के कान में गरम सीसा डालने की बात अगर ऐतिहासिक मानी जाय, तो मैं उसे धर्म मानने के लिए हर्गिज़ तैयार नहीं हूं और ऐसे असंख्य हिन्दू हैं, जो उसे धर्म-वचन नहीं मानते हैं। हिन्दू -धर्म के लिए एक कसौटी रखी गई है, जिसको एक बालक भी समझ सकता है। जो बुद्धि-ग्राह्य वस्तु नहीं है और बुद्धि से विपरीत है, वह कभी धर्म नहीं हो सकती, और जो सत्य अहिंसा के विपरीत है, वह भी धर्म नहीं हो सकती।

—५।११।१९३२। म० भा० डा० भाग २, १७३-१७४]

- हिन्दू-धर्म में . . . काफ़ी विचार-स्वातंत्र्य है।
- हिन्दू-धर्मग्रन्थों के अर्थ का दिन प्रतिदिन विकास होता रहा है।
- जो बुद्धि-ग्राह्य वस्तु नहीं है और बुद्धि से विपरीत है, वह कभी धर्म नहीं हो सकती।
- जो (वस्तु) सत्य-अहिंसा के विपरीत है वह भी धर्म नहीं हो सकती।

३६. हिन्दू-धर्म की शक्ति

[ए० पी० आई० के प्रतिनिधि श्री शास्त्री से मुलाकात के दौरान में इस प्रश्न पर व्यक्त उद्‌गार कि हिन्दू-धर्म पर लोग क्यों कायम हैं?—सम्पा०]

क्योंकि उस (हिन्दू-धर्म) में अधिक-से-अधिक विकास पाने का मौका देने की संभावना है और कठोर-से-कठोर अन्तरात्मा को, गहरे-से-गहरे विचारक को और पवित्र-से-पवित्र मनुष्य को सन्तोष देने की शक्ति है।

—७।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १७८]

३७. श्रुति-प्रमाण

[श्री हरिभाऊ उपाध्याय, बाबासाहब पोतदार और श्री धुन्धीराज शास्त्री बापट के साथ हुई गांधी जी की वार्ता के अंश।—सम्पा०]

प्रश्न—वेद ईश्वर की स्फूर्ति है, इसलिए अब जो स्फूर्ति होगी उसकी भी वही कीमत होगी। जो नीति के विरुद्ध होगा उसे मैं बिल्कुल नहीं मानूंगा। क्या आपके ये वचन ठीक हैं?

गांधी जी—हां।

पोतदार—तब तो वैदिक धर्म की सारी जड़ हिल जाती है। हिन्दू धर्म का आधार वेदों पर है, जैसे ईसाई धर्म का बाइबिल पर और इस्लाम का कुरान पर। अगर स्फूर्तियां समय-समय पर बदलती हों, तो प्राचीन वैदिक धर्म सनातन माना ही नहीं जा सकता।

गांधी जी—तो क्या हम ईश्वर की शक्ति की मर्यादा बांध देंगे ? मैं मानता हूं कि वेद ईश्वरप्रेरित हैं। मगर मान लीजिए ईश्वर दूसरे वचनों की भी प्रेरणा करे और लोग उन्हें स्वीकार कर लें तब ? यह कहने का कोई अर्थ ही नहीं कि ईश्वर में दूसरे वेदों की प्रेरणा करने की शक्ति ही नहीं। यह तो निरीश्वरवादी वचन हुआ। परन्तु इससे मैं यह भी नहीं कहना चाहता कि ईश्वर किसी दूसरे ग्रन्थ की प्रेरणा अभी करने वाला है।

पोतदार—मगर वेद ईश्वर-प्रेरित हों तो भविष्य में उनके विरुद्ध प्रेरणा वाला ग्रन्थ कैसे आयगा ?

गांधी जी—दस हजार वर्ष पहिले जो काला हो वह आज सफेद नहीं हो सकता ? मूलभूत सिद्धान्त शाश्वत काल तक एक से ही रहते हैं। मगर वेदों में तो मूलभूत सिद्धान्तों के सिवा और भी बहुत कुछ है। अगर ऐसा नहीं हो तो गीता के चौथे अध्याय में जो कहा है कि ईश्वर समय-समय पर अवतार लेता है, उसका क्या अर्थ ?

ईश्वर तो वेदों का और इस मानवकुल का भी संहार कर सकता है। और कोई दूसरी ही जाति और दूसरे ही वेद उत्पन्न कर सकता है। आप तो कहेंगे कि ईश्वर खुद अपने साथ असंगत है।

प्रश्न—मगर किसी सन्त ने अभी तक वेद के ईश्वरप्रेरित होने के बारे में शंका नहीं की है।

गांधी जी—मैं भी नहीं करता। मैं तो इतना ही कहता हूं कि वेदों में ईश्वर की कोई आखिरी प्रेरणा नहीं है। अन्त में तो ईश्वर भी हम दोष-पात्र मनुष्यों के द्वारा ही बोलता है न ? और हमारे पास जो वेद ग्रन्थ हैं, वे भी कोई पूर्ण रूप में नहीं। बहुत से हिन्दू मानते हैं कि अकेले वेद ही ईश्वर-प्रेरित ग्रन्थ हैं। मैं कहता हूं कि ऐसे और भी ईश्वर-प्रेरित ग्रन्थों की संभावना है। वेद और ज्ञानेश्वरी प्रकट हो गई तो ईश्वर ने कोई हाथ नहीं धो लिये। हिन्दू धर्म की विशेषता तो यह है कि उसने सभी ईश्वर-प्रेरित ग्रन्थों में एकवाक्यता और मेल साधने की कोशिश की है। एक ही सिद्धान्त अलग-अलग संयोगों में अलग-अलग ढंग से अमल में लाये जा सकते हैं।

—१७।१२।१९३२। म० भा० डा० भाग २, पृ० २९४-२९५]

३८. हिन्दू-धर्म के मुख्य अंग

सत्य, अहिंसा पर अनन्य श्रद्धा और गोसेवा हिन्दू-धर्म के मुख्य अंग हैं। जो इन्हें छोड़ता है, वह हिन्दू नहीं रहता। यज्ञोपवीत की आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं हुई है। न पहिनने का आग्रह न किया जाय। जो ब्राह्मणत्व छोड़ता है, वह ब्राह्मण के अधिकार से च्युत हो गया है। ऐसे नाम के ब्राह्मणों को भोजन क्यों? विवाह में जो सामान्य मन्त्र हैं, वही आवश्यक हैं।...आजकल जो श्राद्ध की प्रथा देखी जाती है, उस पर मेरा विश्वास नहीं है।

—९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० २९]

३९. मेरी आस्था

कृष्णभक्ति मेरे जीवन का मन्त्र है। सनातन धर्म मेरा प्राण है। जो आज अपने को सनातनी मानते हैं, वे एक दिन मेरी उक्त प्रतिज्ञा के सत्य को स्वीकार करेंगे।

—९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ३०]

४०. शास्त्र क्या है?

शास्त्र का अर्थ पूर्वकाल में अनुभवियों-द्वारा कहे हुए वचन नहीं, बल्कि जिसे आज अनुभव-ज्ञान यानी ब्रह्मज्ञान हुआ है, ऐसे देहधारी के वचन। शास्त्र नित्य मूर्तिमन्त होता है। जो केवल पुस्तकों में है, जिसका अमल नहीं होता, वह या तो तत्व ज्ञान नहीं होगा या मूर्खता या पाखण्ड होगा। शास्त्र उसी क्षण अनुभवगम्य होना चाहिए, कहनेवाले के अनुभव की बात होनी चाहिए। इसी अर्थ में वेद नित्य है। अन्य सब वेद नहीं वेदवाद हैं।

—१९।२।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १५३]

४१. धर्म का रहस्य

...धर्म का रहस्य किसी सुख-सुविधा अथवा सामाजिक, आर्थिक स्थिति सुधारने में नहीं है। ऐसे लोगों के उदाहरण मिलते हैं, जो सामाजिक बहिष्कार, आर्थिक विनाश और उससे भी अधिक विकट परिस्थितियों का सामना करते हुए

अपने धर्म में वैसे ही अटल वने रहे। वड़े-से-वड़े संकट में हमारा धर्म ही हमें सत्य पर स्थिर रखता है। इहलोक और परलोक में सारी आशाओं का सवलतम आधार धर्म ही है। अन्य समस्त अवलम्वों को छोड़ कर केवल ईश्वर के ही, सत्य के ही प्रति श्रद्धा कायम रखने वाला यह धर्म ही है।...

...अत्यन्त निकट की, पर साथ ही अत्यन्त अधूरी, जिस वस्तु की तुलना मैं धर्म के साथ कर सकता हूं, वह विवाह है। विवाह एक ऐसा वन्धन है, जो किसी काल में नहीं टूट सकता। धर्म का सम्वन्ध इससे भी अधिक अविभाज्य है। पति पत्नी के प्रति और पत्नी पति के प्रति श्रद्धा रखती है, तो इसका कारण यह नहीं है कि अपनी पत्नी अथवा अपना पति तमाम स्त्रियों से अथवा तमाम पुरुषों से श्रेष्ठ जंचता है। इस श्रद्धा के मूल में जरूर कोई कल्पनातीत और अटूट आन्तरिक आकर्षण होता है। इसी प्रकार मनुष्य की अपने धर्म में ऐसी श्रद्धा होती है, जो किसी तरह दूर नहीं की जा सकती। ऐसी निष्ठा में मनुष्य को पूर्ण सन्तोष मिलता है। और जिस प्रकार किसी पति को अपनी पत्नी के प्रति श्रद्धा स्थायी रखने के लिए अन्य स्त्रियों को निम्न या हीन मानने की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही अपने धर्म पर अटल रहनेवाले लोगों के लिए अन्य धर्मों को अपने धर्म की अपेक्षा हीन मानने की जरूरत नहीं है।

इसी उपमा को और विस्तृत करते हुए कहा जा सकता है कि अपनी पत्नी के प्रति निष्ठा जताने के लिए जैसे उसके दोषों से अनजान रहने की आवश्यकता नहीं है, वैसे ही अपने धर्म के प्रति श्रद्धा दिखाने के लिए उसकी त्रुटियों से अनभिज्ञ रहने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही नहीं, यदि अन्धविश्वास के साथ अपने धर्म पर अटल न रहना हो और सच्ची आस्था रखनी हो तो अपने धर्म में व्याप्त दोषों का सम्पूर्ण ज्ञान होना चाहिए और उनको दूर करने के लिए सच्चे साधनों को ग्रहण करने की उतनी ही उत्कट इच्छा होनी चाहिए।

धर्म के विषय में मेरा ऐसा विश्वास होने के कारण, हिन्दू धर्म की किसी खास विशेषता की जांच करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। पाठक विश्वास रखें कि मैं जो अव तक हिन्दू वना हुआ हूं, वह मैंने इस धर्म की अनेक सुन्दरताओं को जाने विना ऐसा नहीं किया। सुन्दरताएं मेरे ही धर्म में हैं, अन्य धर्मों में नहीं हैं, ऐसा मैं नहीं देखता। अतः मैं अन्य धर्मों का अवलोकन आलोचक की दृष्टि नहीं वल्कि जिज्ञासु भक्त की दृष्टि से करता हूं। मैं अन्य धर्मों में अपने धर्म जैसी सुन्दरताएं देखने और अपने धर्म में जो सुन्दरता न हो, दूसरे धर्म में हो, तो उसे अपने शामिल करने की आशा से ही दूसरे धर्मो का अवलोकन करता हूं।

—ह० ज०। ह० से०, १८।८।१९३३]

- धर्म का रहस्य किसी सुख-सुविधा अथवा सामाजिक, आर्थिक स्थिति सुधारने में नहीं है।
- बड़े-से-बड़े संकट में हमारा धर्म ही हमें सत्य पर स्थिर करता है।
- इहलोक और परलोक में सारी आशाओं का सबलतम आधार धर्म ही है।
- विवाह एक ऐसा बन्धन है जो किसी काल में नहीं टूट सकता।
- धर्म के प्रति श्रद्धा दिखाने के लिए उसकी त्रुटियों से अनभिज्ञ रहने की आवश्यकता नहीं।
- अपने धर्म में व्याप्त दोषों का सम्पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।

४२. शुद्धि के लिए उपवास

हिन्दू धर्म में उपवास एक अत्यन्त साधारण चीज़ है। अन्य धर्मों में भी शुद्धि के लिए उपवास का मार्ग बताया गया है।
—ह० से०, ३।११।१९३३]

४३. ऋग्वेद का सन्देश

इतिहासकारों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि, संसार में जहां तक पता लगाया गया है, ऋग्वेद के मन्त्र ही सबसे प्राचीन हैं। उन मन्त्रों में यही उपदेश दिया गया है कि ईश्वर एक है, अद्वितीय है और सर्वोत्तम है। जीवात्मा उसी ईश्वर से उद्भूत हुई है और उसी में स्थित है।
—कराइकल, मद्रास, २०।२।१९३४। ह० से०, २।३।१९३४]

४४. सनातन धर्म-सिद्धान्त

उदारता एवं सहिष्णुता का भाव ही सदा से सनातन धर्म का सिद्धान्त रहा है।
—ह० से० ५।५।१९३४]

४५. हिन्दू-धर्म

...हिन्दू धर्म में सत्य का स्थान सबसे ऊंचा है।...कोई भी शास्त्री वेद, पुराण, इतिहास में कहीं भी धर्म-सिद्धान्त के विपरीत कोई बात नहीं बता सकता।

. . .हमारे धर्म में कई बातें ऐसी बताई गई हैं, जो और कहीं नहीं हैं। हमारे यहां जो वर्णाश्रम धर्म है, वह यदि लुप्त हो जाय तो हिन्दू धर्म का ही लोप हो जायगा।
—हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, १।८।१९३४। ह० से०, १०।८।१९३४]

४६. हिन्दू धर्म की मुख्य विशेषताएं

[तुलनात्मक धर्मशास्त्र की प्राध्यापिका एक अमरीकी महिला गांधी जी से मिलने आई थीं। उन्होंने गांधी जी से प्रश्न किया—

'आप मुझे संक्षेप में हिन्दू धर्म की सच्ची महत्ता बतायें।'

इसके उत्तर में गांधी जी ने जो उद्‌गार व्यक्त किये वे यहां संकलित किये जा रहे हैं।—सम्पा०]

हिन्दू धर्म की सच्ची महत्ता यह है कि वह मानता है कि जीवमात्र (केवल मनुष्य नहीं, सचेतन प्राणीमात्र) एक हैं, इनमें एक सर्वव्यापी मूल से उत्पन्न होने वाले जीवमात्र का समावेश हो जाता है—फिर उस मूल को अल्लाह कहें, गाड कहें या परमात्मा कहें। हिन्दू धर्म में 'विष्णु-सहस्र-नाम' नामक एक छोटा-सा स्तोत्र है। इसका अर्थ ईश्वर के सहस्रनाम इतना ही है। इसका अर्थ यह नहीं कि ईश्वर के नाम केवल इतने हैं, किन्तु इसका अर्थ यह है कि तुम उसके जितने नाम रख सको उतने उसके नाम हैं। तुम उसे जितने नाम देना चाहते हो, दे दो, केवल जिसका तुम नाम लेते हो वह ईश्वर एकमेवाद्वितीय होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वह अनाम भी है।

यह जीवमात्र की एकता हिन्दूधर्म की विशेषता है। हिन्दूधर्म कहता है कि मुक्ति केवल मनुष्यों को ही नहीं मिल सकती, वह ईश्वर के बनाये हुए सभी प्राणियों को मिल सकती है। सम्भव है कि मानव देह के अतिरिक्त दूसरी देहद्वारा मोक्ष न प्राप्त हो सकता हो, पर इससे मनुष्य सृष्टि का स्वामी नहीं बन जाता। इससे तो वह ईश्वर की सृष्टि का सेवक बनता है। अब, जब कि हम मानव-बन्धुत्व की बात करते हैं,तब यहां हम अटक जाते हैं और हमें लगता है कि दूसरे सब जीव मनुष्य के उपभोग के लिए बनाये गये हैं। पर हिन्दू धर्म ने इस उपभोग को त्याज्य माना है। जीवमात्र के साथ इस एकता का सम्पादन करने के लिए मनुष्य जितना भी त्याग करे कम है। यह आदर्श इतना विशाल है कि इससे मनुष्य की आवश्यकताओं पर अंकुश रखा जा सकता है। आप देखेंगी कि यह वस्तु आधुनिक सभ्यता से उलटी है। यह सभ्यता कहती है कि अपनी आवश्यकताएं बढ़ाओ। जो ऐसा विश्वास रखता है वह मानता है कि आवश्यकताएं बढ़ाने से ज्ञान बढ़ता है और हम उस ज्ञान-

द्वारा अनन्त ईश्वर को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं। इसके विपरीत हिन्दू-धर्म भोग-विलास और आवश्यकताएं बढ़ाने को त्याज्य समझता है, क्योंकि यह ईश्वर-प्राप्ति के लिए आवश्यक आत्म-विकास में बाधक रूप हो जाता है।
—ह० से०, ९।१ १९३७]

o वह (ईश्वर) अनाम भी है।

o जीवमात्र की एकता हिन्दू धर्म की विशेषता है।

o मुक्ति केवल मनुष्यों को ही नहीं मिल सकती; वह ईश्वर के बनाये हुए सभी प्राणियों को मिल सकती है।

४७. सोने की कुंजी

[त्रिवलन (त्रावणकोर) की सभा में दिये गये भाषण से]

हिन्दू धर्म का सार किसमें समाया हुआ है, और जिन अनेक साधु-सन्तों के विषय में हमारे पास ऐतिहासिक उल्लेख हैं उन सन्तों को प्रेरणा देनेवाली कौन सी वस्तु है, इस पर हम थोड़ा विचार कर लें। हिन्दू धर्म के भक्तों को सैकड़ों वर्ष से उत्साह दिलानेवाली हिन्दू-धर्म में ऐसी कौन सी वस्तु है कि वे हिन्दू-धर्म में अस्पृश्यता देखते और फिर भी उस पर निछावर हो जाते? अस्पृश्यता के विरुद्ध जो मैं लड़ रहा हूं इस लड़ाई के बीच कई कार्यकर्त्ताओं ने मुझसे पूछा है कि हिन्दू-धर्म का सार किसे कहा जा सकता है? उन्होंने कहा कि क्या इस्लाम की तरह कोई सादा कलमा हमारे पास नहीं है? तत्व का चिन्तन करने वाले तथा व्यवहार में लगे रहनेवाले दोनों ही प्रकार के हिन्दुओं को सन्तोष दे सकनेवाली कोई चीज हमारे पास है या नहीं? कुछ ने कहा, और वह सकारण है, कि गायत्री ऐसा मन्त्र है। गायत्री का अर्थ समझने के बाद मैंने उसका हजार बार जप किया है, पर मुझे लगता है कि यह मन्त्र मेरी आध्यात्मिक आकांक्षा को पूर्णतया सन्तोष नहीं दे सका। और आप जानते ही हैं कि मैं वर्षों से भगवद्गीता का भक्त बना हुआ हूं। और मैंने कहा है कि गीता मेरी समस्त कठिनाइयों का निवारण करती है, और शंका व उलझन के सैकड़ों प्रसंगों पर वह मेरी कामधेनु, मेरी मार्गदर्शिका, मेरे जीवन-पथ को प्रकाश देनेवाली और मेरा शब्दकोश बनी है। मुझे ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं आता, जब गीता ने मुझे सहायता न दी हो। पर यह पुस्तक ऐसी नहीं है कि मैं सारी सभा के आगे उसे रख सकूं। प्रार्थना-पूर्वक अध्ययन करने के बाद ही यह कामधेनु हमें अपने थनों में भरा हुआ ज्ञान-रूपी दूध देती है।

पर मैं एक मन्त्र आपको सुनाता हूं, जिसमें हिन्दू-धर्म का पूरा सार आ जाता है, ऐसा मैं मानता हूं। मुझे लगता है कि आप लोगों में से बहुत से ईशोपनिषद को जानते होंगे। मैंने कई वर्ष पहिले इसे अनुवाद और टीका के साथ पढ़ा था। मैंने इसे यरवदा जेल में कण्ठ कर लिया था। पर इधर कुछ महीनों से इस पर मैं जिस प्रकार मुग्ध हुआ हूं उस प्रकार उस समय नहीं हुआ था। अब तो मैं इस अन्तिम निर्णय पर पहुँचा हूं कि सारे उपनिषद् और दूसरे सब धर्मग्रन्थ अकस्मात् जलकर राख हो जायं और ईशोपनिषद् का केवल पहिला श्लोक ही हिन्दुओं की स्मृति में बना रह जाय, तो भी हिन्दू-धर्म चिरकाल तक जीवित बना रहेगा।

इस मन्त्र के चार भाग हैं। पहला भाग है 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।' इसका अर्थ मैं यह करता हूँ कि इस विशाल जगत् में हम जो कुछ देखते हैं वह सब ईश्वर-व्याप्त है। फिर दूसरे और तीसरे भाग को साथ लेते हैं—'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः।' मैं इन्हें दो भागों में बांटता हूं और उनका अर्थ इस प्रकार करता हूं—'इसे त्यागो और भोगो'। इसका एक अन्य अनुवाद भी है, यद्यपि उसका अर्थ भी यही है—'वह तुम्हें जो दे उसे भोगो।' इसके भी दो भाग तो किये ही जा सकते हैं। फिर अन्तिम और सबसे महत्वपूर्ण भाग आता है—'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।' इसका अर्थ यह है:'किसी के धन या स्वामित्व का लोभ न करो।' प्राचीन उपनिषद् के दूसरे सब मन्त्र इस पहिले मन्त्र की टीका हैं, या इसका सम्पूर्ण अर्थ देने के प्रयत्नरूप हैं। मैं गीता की दृष्टि से इस मन्त्र को पढ़ता हूं या इस मन्त्र की दृष्टि से गीता पढ़ता हूं, तो मुझे जान पड़ता है कि गीता इसके भाष्यरूप में अवतरित हुई है। मुझे लगता है कि यह मन्त्र समाजवादी तथा साम्यवादी, तत्वचिंतक तथा अर्थशास्त्री सबकी आकांक्षा को तृप्त करता है। जो धर्म से हिन्दू नहीं हैं उनसे मैं यह कहने का साहस करता हूं कि यह मन्त्र उनकी आकांक्षा भी तृप्त करता है। और अगर यह सच है—मैं तो सच मानता हूं—तो इस मन्त्र के अर्थ से असंगत या विरोधी जो कुछ भी हिन्दू-धर्म में हो उसे स्वीकार करने की आपको आवश्यकता नहीं। एक अद्वितीय ईश्वर और भूतमात्र का स्रष्टा और स्वामी अखिल विश्व के अणु-अणु में व्याप्त है, इससे अधिक सामान्य मनुष्य और क्या सीखना चाहेगा? इस मन्त्र के अन्य तीन भाग पहिले भाग से सीधे फलित होते हैं। ईश्वर ने जो कुछ रचा है उन सबमें वह व्याप्त है यदि तुम ऐसा मानो तो तुम्हें यह भी मानना चाहिए कि तुम ऐसी किसी वस्तु को भोग नहीं सकते जिसे उसने तुम्हें नहीं दिया है। और यह देखते हुए कि वह अपने अगणित बालकों का स्रष्टा है यह भी अर्थ निकलता है कि तुम किसी के धन का लोभ नहीं कर सकते। तुम उनकी अगणित सन्तति में से एक हो, ऐसा यदि मानते हो तो तुम्हारा यह धर्म है

कि तुम्हें सर्व वस्तुओं को त्यागकर उसके चरणों को पकड़ लेना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि सब वस्तुओं का त्याग, केवल शारीरिक या भौतिक त्याग नहीं, किन्तु तदीयत्व का, द्विजत्व का, नये जन्म का चिह्न है। यह विचारपूर्वक किया हुआ कर्म है, अज्ञानजनित कर्म नहीं। अत: यह पुनर्जन्म है। और जो देह धारण किये हुए हैं, उसे खाना पीना-पहिनना तो चाहिए ही, इसलिए जो कुछ भी चाहिए वह सब ईश्वर से माँग कर ही लेना चाहिए। यह सब उसे उसके त्याग से स्वाभाविक फलस्वरूप मिल जाता है। मानों इतना पर्याप्त नहीं है, इसलिए इस मन्त्र के अन्त में यह भव्य विचार रख दिया है: 'किसी के भी धन का लोभ न करो।' आप जिस क्षण इन उपदेशों को अमल में लायेंगे उस क्षण जगत् के ज्ञानवान नागरिक बन जायँगे और भूतमात्र के साथ मैत्रीपूर्वक रहने लगेंगे। यह मन्त्र मनुष्य को इहलोक तथा परलोक की ऊंची -से-ऊंची आकांक्षाओं को तृप्त करता है। जो मनुष्य ईश्वर को और उसके अद्वितीय निश्चल सम्राट् पद को नहीं मानता उसकी आकांक्षा इससे तृप्त नहीं होती।

——ह० ज०। ह० से० ६।२।१९३७]

- **गीता मेरी समस्त कठिनाइयों का निवारण करती है।**
- **यह मन्त्र (ईशोपनिषद का पहिला मन्त्र) समाजवादी तथा साम्य-वादी, तत्वचिन्तक तथा अर्थशास्त्री, सबकी, आकांक्षा तृप्त करता है।**
- **सब वस्तुओं का त्याग...तदीयत्व का, द्विजत्व का, नये जन्म का चिह्न है।**
- **वह (सब वस्तुओं का त्याग) पुनर्जन्म है।**

४८. हिन्दू-धर्म एकेश्वरवादी है

...यह कहा जाता है कि हिन्दू अनेक देवी-देवताओं को मानते हैं और मूर्ति-पूजक हैं। इसपर मैं सबसे पहिले आपत्ति करता हूं। हाँ, वे (हिन्दू) यह जरूर कहते हैं कि अनेक देवी-देवता हैं, पर वे यह भी तो स्पष्ट रूप से कहते हैं कि एक अद्वितीय ब्रह्म है, जो सब देवताओं का परमेश्वर है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं कि हिन्दू अनेक ईश्वर में विश्वास करते हैं। निस्संन्देह वे अनेक लोक को मानते हैं। जिस तरह मानव-प्राणियों से बसा हुआ लोक है और दूसरा लोक पशुओं का है, ठीक वैसे ही एक लोग देवता कहलानेवाले उच्च जीवात्माओं का भी है, जो हमारे दृष्टिपथ में नहीं आते, फिर भी जिनका अस्तित्व है। यह सारी बुराई देव या देवता के अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द से पैदा हुई, जिसके लिए...'गाड' (God,

से अच्छा कोई शब्द नहीं मिला पर गाड तो ईश्वर है, देवादिदेव है। अब आपने समझ लिया होगा कि इस गाड शब्द से विभिन्न दिव्यात्माओं का वर्णन किया जाता है और इसी से यह सारी गड़बड़ी पैदा हुई है। मैं मानता हूं कि मैं पूरा हिन्दू हूं, पर मैं अनेक ईश्वर में कभी विश्वास नहीं करता। मैंने अपने बचपन में भी कभी अपने हृदय में इस प्रकार के विश्वास को स्थान नहीं दिया और न किसी ने मुझे ऐसा करना सिखाया।

—ह० से०, १३।३।१९३७]

४९. मूर्तिपूजा

[एक ईसाई पादरी गांधी जी से मिलने आये थे। उन्होंने हिन्दू धर्म के बहु-देववाद और मूर्तिपूजा पर शंका व्यक्त की। गांधी जी ने बहु ववाद के सम्बन्ध में उन्हें जो समाधान दिया वह 'हिन्दू-धर्म एकेश्वरवादी है' शीर्षक लेख में संकलित किया गया है। मूर्ति-पूजा एवं तद्विषयक अन्य धार्मिक चर्चा का विवरण यहां प्रस्तुत किया जाता है।—सम्पा०]

गांधी जी—अब मूर्तिपूजा के विषय में। किसी-न-किसी प्रकार की मूर्तिपूजा के बिना मनुष्य का काम नहीं चलता। मुसलमान मस्जिद को अल्लाह का निवास-स्थान कहते हैं और उसकी रक्षा करने के लिए जान दे देते हैं, यह किसलिए? ईसाई गिरजे में किसलिए जाते हैं, और क्यों बाइबिल की शपथ लेते हैं? मुझे खुद तो इसमें कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती। आदमी मस्जिद और रौज़े बनाने के लिए जो हज़ारों लाखों रुपये देते हैं, यह मूर्तिपूजा नहीं तो क्या है और जब रोमन कैथोलिक ईसाई पाषाण-निर्मित या कपड़े या कांच पर चित्रित कुमारी मेरी तथा सन्तों की काल्पनिक प्रतिमाओं के आगे घुटने टेकते हैं, तब वे मूर्तिपूजा नहीं तो क्या करते हैं?

पादरी—मैं अपनी माता का चित्र अपने पास रखता हूं, और मातृ-भक्ति-भाव से उस चित्र को चूमता हूं, मगर चित्र की पूजा नहीं करता, इसी तरह सन्तों की भी पूजा नहीं करता। मैं जब ईश्वर को पूजता हूं,तब उसे जगत् का स्रष्टा और किसी भी मनुष्य से बड़ा मानता हूं।

गांधी जी—इसी प्रकार हम पत्थर को नहीं, किन्तु पत्थर या धातु की प्रतिमा में—चाहे वह कितनी ही बेढंगी हो—ईश्वर को पूजते हैं।

पादरी—पर गांवों के लोग तो पत्थर को ही ईश्वर मानकर पूजते हैं।

गांधी जी—नहीं, मैं कहता हूं कि वे ईश्वर को ही पूजते हैं, अन्य किसी को नहीं। आप जब कुमारी मेरी के आगे घुटने टेकते हैं, और उससे आशीर्वाद मांगते हैं, तब क्या करते हैं? आप उसके द्वारा ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं। इसी प्रकार हिन्दू उपासक पत्थर की मूर्ति के द्वारा ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं। मैं यह समझ सकता हूँ कि आप जब कुमारी मेरी से आशीर्वाद मांगते हैं, तब उसका यह अर्थ होता है कि वह ईश्वर के साथ आपका सम्बन्ध जोड़ दे। मुसलमान मस्जिद में जाते समय श्रद्धा और भक्ति का क्यों अनुभव करते हैं? क्या यह सारी दुनिया मस्जिद नहीं है? और हमारे मस्तक पर आकाश का जो भव्य छत्र तना हुआ है, वह क्या है? क्या वह मस्जिद से कुछ कम है? पर मैं मुसलमानों को समझ सकता हूं और उनके प्रति सहानुभूति रखता हूं। ईश्वर की उपासना करने का उनका यह तरीका है। परमात्मा को प्राप्त करने का हिन्दुओं का तरीका भिन्न है। हमारी साधना का मार्ग अलग है, पर इससे ईश्वर भिन्न-भिन्न नहीं बन जाता।

पादरी—लेकिन कैथोलिक मानते हैं कि ईश्वर ने उन्हें सच्चा मार्ग बताया है।

गांधीजी—आप यह कैसे कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा बाइबिल नाम की एक ही पुस्तक में प्रकट हुई है, और किसी दूसरी पुस्तक में नहीं? आप ईश्वर की शक्ति को मर्यादित किसलिए मानते हैं?

पादरी—ईसा ने चमत्कारों द्वारा यह सिद्ध किया है कि उसने ईश्वर की आवाज़ सुनी थी।

गांधीजी—मुहम्मद का भी यही दावा है। आप ईसाइयों का प्रमाण मानते हैं तो आपको मुसलमानों और हिन्दुओं का मानना ही चाहिए।

पादरी—पर मुहम्मद ने तो यह कहा था कि मैं चमत्कार नहीं कर सकता।

गांधी जी—नहीं। उन्होंने यह बता दिया था कि ईश्वर की हस्ती चमत्कारों द्वारा सिद्ध नहीं होती। पर वह यह तो कहते थे कि मेरे ऊपर खुदा के पैगाम आते हैं।

—ह० से० २०।३।१९३७]

५०. धर्म : एक आदर्श कल्पना

भावी समाज की नवरचना में जो धर्म संकुचित रहेगा और बुद्धि की कसौटी पर खरा नहीं उतरेगा, वह टिक न सकेगा क्योंकि उस नवनिर्माण में प्रत्येक वस्तु को

नये ढंग से ही आँका जायगा। मनुष्य की कीमत उसके चरित्र के कारण होगी, —धन, पदवी या कुल के कारण नहीं। मेरी कल्पना का हिन्दूधर्म केवल एक संकुचित संप्रदाय नहीं, वह एक महान और सतत् विकास का प्रतीक और काल की तरह ही सनातन है। उसमें जरथुस्त्र, मूसा, ईसा, मुहम्मद, नानक और ऐसे अन्य कई धर्म-संस्थापकों के उपदेशों का समावेश हो जाता है। उसकी व्याख्या इस प्रकार है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्युनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत् ॥१॥

अर्थात् जिस धर्म को राग-द्वेष-विहीन ज्ञानी सन्तों ने अपनाया है और जिसे हमारा हृदय और बुद्धि भी स्वीकार करती है, वही सद्धर्म है।

अगर धर्म ऐसा न हुआ तो वह बच नहीं सकता।

—सेवाग्राम, २।३।१९४२। ह० से० ८।३।१९४२]

५१. राम-नाम रामबाण

यह देखकर कि मैंने प्राकृतिक चिकित्साओं में राम-नाम को रोग मिटानेवाला माना है और इस सम्बन्ध में कुछ लिखा भी है, वैद्यराज श्री गणेशशास्त्री जोशी मुझसे कहते हैं कि इसके सम्बन्ध का और इससे मिलता-जलता साहित्य आयुर्वेद में ठीक-ठीक पाया जाता है। रोग मिटाने में प्राकृतिक चिकित्सा का अपना बड़ा स्थान है और उसमें भी राम नाम विशेष है। यह मानना चाहिए कि जिन दिनों चरक, वाग्भट आदि ने लिखा था, उन दिनों ईश्वर को राम-नाम के रूप में पहिचानने की रूढ़ि नहीं पड़ी थी। यह विष्णु के नाम की महिमा थी। मैंने तो बचपन से रामनाम के द्वारा ही ईश्वर का भजन किया है। लेकिन मैं जानता हूँ कि ईश्वर को 'ॐ' के नाम से भजो या संस्कृत, प्राकृत से लेकर इस देश की या दूसरे देश की किसी भी भाषा में (उच्चरित) नाम से उसको जपो, परिणाम एक ही होता है। ईश्वर को नाम की जरूरत नहीं। वह और उसका नियम दोनों एक ही हैं। इसलिए ईश्वरीय नियमों का पालन ही ईश्वर का जप है। अतएव केवल तात्विक दृष्टि से देखें तो जो ईश्वर की नीति के साथ तदाकार हो गया है, उसे जप की ज़रूरत नहीं। अथवा जिसके लिए जप या नाम का उच्चारण साँस-उसाँस की तरह स्वाभाविक हो गया है, वह ईश्वरमय बन चुका है, यानी ईश्वर की नीति को वह

सहज ही पहिचान लेता है और सहज भाव से उसका पालन करता है। जो इस तरह व्यवहार करता है, उसके लिए दूसरी दवा की क्या जरूरत?

—पूना, १०।३।१९४६; ह० व०। ह० से० २४।३।१९४६]

- ईश्वर को नाम की जरूरत नहीं।
- वह (ईश्वर) और उसका नियम दोनों एक ही हैं।

५२. राम कौन?

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—आप कहा करते हैं कि प्रार्थना में प्रयुक्त राम का आशय दशरथ के पुत्र राम से नहीं। आपका आशय जगन्नियन्ता से होता है। हमने भलीभाँति देखा है कि राम धुन में 'राजाराम सीताराम राजाराम सीताराम' का कीर्तन होता है। और जयकार भी 'सियापति रामचन्द्र की जय' का लगता है। मैं विनम्र भाव से पूछता हूँ कि यह 'सियापति राम' कौन हैं? यह 'राजाराम' कौन हैं? क्या यह दशरथ के सुपुत्र राम नहीं हैं? ऊपर की पंक्तियों का अर्थ तो स्पष्टतया यही लगता है कि प्रार्थना में आराध्य जानकी-पति दशरथ-पुत्र राम ही हैं।

उत्तर—ऐसे प्रश्न का उत्तर मैं दे चुका हूं, मगर इसमें कुछ नया भी है, जो उत्तर की अपेक्षा रखता है। रामधुन में राजाराम, सीताराम रटा जाता है, वह दशरथ-नन्दन राम नहीं तो कौन है? तुलसीदास जी ने तो इसका उत्तर दिया ही है, तो भी मुझे कहना चाहिए कि मेरी राय कैसे बनी है। राम से राम-नाम बड़ा है। हिन्दू धर्म महासागर है। उसमें अनेक रत्न भरे हैं। जितने गहरे पानी में जाओ, उतने अधिक रत्न मिलते हैं। हिन्दू-धर्म में ईश्वर के अनेक नाम हैं। सैकड़ों लोग राम-कृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति कहते हैं, और मानते हैं कि जो राम दशरथ के पुत्र माने जाते हैं, वही ईश्वर के रूप में पृथिवी पर आये और यह कि उनकी पूजा से आदमी मुक्ति पाता है। ऐसा ही कृष्ण के लिए है। इतिहास, कल्पना और शुद्ध सत्य आपस में इतने ओतप्रोत हैं कि उन्हें अलग करना लगभग असम्भव है। मैंने अपने लिए सब संज्ञाएं रखी हैं। और उन सब में मैं निराकार, सर्वज्ञ राम को ही देखता हूँ। मेरे लिए मेरा राम सीतापति दशरथ-नन्दन कहलाते हुए भी सर्व-शक्तिमान ईश्वर ही है, जिसका नाम हृदय में होने से सब दुःखों का नाश हो जाता है।

—२६।५।१९४६ ह० से० २।६।१९४६]

- हिन्दू-धर्म महासागर है। उसमें अनेक रत्न भरे हैं

५३. अमोघ मन्त्र

वह कौन सी जादुई चीज है, जो आपके . . . डर को भगा सकती है। वह राम-नाम का अमोघ मन्त्र है। शायद आप कहेंगे कि राम-नाम में आपको विश्वास नहीं। आप उसे नहीं जानते, लेकिन उसके विना आप एक साँस भी नहीं ले सकते। आप उसे चाहे ईश्वर कहिए, अल्लाह कहिए, गाड कहिए या अहुर मज्द कहिए। संसार में जितने मनुष्य हैं, उतने ही उसके असंख्य नाम हैं। विश्व में उसके जैसा अन्य कोई नहीं है। वही एक महान है, विभु है। संसार में उससे वड़ा कोई नहीं। वह अनादि, अनन्त, निरंजन, निराकार है। मेरा राम ऐसा है। केवल वही मेरा स्वामी और मालिक है।

. . . राम पवित्र लोगों के हृदय में हमेशा रहता है। जिस तरह वंगाल में श्री चैतन्य और श्री रामकृष्ण का नाम प्रसिद्ध है उसी प्रकार कश्मीर से कन्याकुमारी तक प्रत्येक हिन्दू घर जिनके नाम से परिचित है, उन भक्त शिरोमणि तुलसीदास ने अपने अमर महाकाव्य रामायण में हमको राम-नाम का मन्त्र दिया है। अगर आप राम-नाम से डरकर चलें तो आपको संसार में राजा या रंक किसी से डरने की ज़रूरत न रह जाय।

. . . खतरे का सामना करने के वजाय उससे दूर भागना उस श्रद्धा से इन्कार करना है, जो मनुष्य की मनुष्य पर, ईश्वर पर और स्वयं पर रहती है। अपनी श्रद्धा का इस प्रकार दिवाला निकलने से अच्छा यह है कि इंसान डूबकर मर जाय।

— लक्शम (पूर्वी वंगाल)। चामुहानी, १०।११।१९४६। ह० ज०। ह० से०, २४।११।१९४६]

५४. हिन्दू-धर्म का आध्यात्मिक सार

मेरी राय में 'ईशोपनिषद्' के पहिले श्लोक[1] में हिन्दू-धर्म की आध्यात्मिकता का सार समाया हुआ है। उस श्लोक का आशय यह है कि दुनिया में जो कुछ मौजूद है, उसमें भगवान समाया हुआ है और वह सव भगवान में समाया है। इसलिए कोई व्यक्ति किसी चीज़ पर अधिकार नहीं जता सकता। उसे अपना शरीर, मस्तिष्क और अपने पास की सभी चीज कण-कण में व्याप्त उस भगवान को

---

१. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीया मागृधः कस्यस्विद्धनम्॥

भेंट कर देनी चाहिए और उसकी कृपा से जो कुछ मिल जाय, उसी को काम में लाना चाहिए। इसका सार यह है कि हम किसी आदमी से उसका धन न छीनें-भले ही वह धन उसका प्राण, प्रतिष्ठा या धर्म के रूप में ही क्यों न हो।...इस सत्य को माननेवाला और इसके अनुसार चलनेवाला बिल्कुल निर्भय बन जाता है और पूरी शान्ति से रहता है।

—श्रीरामपुर, ४।१२।१९४६। ह० ज०। ह० से०। १२।१।१९४७]

५५. रामनाम

[सुश्री मनु बहिन गांधी को दिये गये उपदेश से]

राम ही सच्चा चिकित्सक है। जबतक राम मुझसे सेवा चाहेगा वह मुझे जीवित रखेगा; जब नहीं चाहेगा, तब वह मुझे अपने पास वापस बुला लेगा।

मैं आश्वस्त हूं कि यदि मेरे हृदय की गहराई में रामनाम प्रविष्ट हो गया है तो मैं रोग से नहीं मर सकता। हर एक आदमी को अपनी भूल के लिए कष्ट सहना पड़ता है और इसी कारण मुझे पीड़ा सहनी पड़ी। व्यक्ति की अन्तिम साँस तक उसके ओठों पर रामनाम होना चाहिए। किन्तु इसका उच्चारण तोते की तरह नहीं किया जाना चाहिए। इसे हृदय से निकलना चाहिए जैसा हनुमान के सम्बन्ध में था। जब सीता जी ने उन्हें एक मोतियों की माला भेंट की उन्होंने मोतियों को यह देखने के लिए तोड़ डाला कि उनमें रामनाम लिखा है या नहीं? हमें इस बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि यह घटना सचमुच हुई थी या नहीं। हम अपने शरीर को हनुमान जी के समान बलशाली बनाने में समर्थ नहीं हो सकते किन्तु हम अपनी आत्मा को निश्चय ही उनके समान श्रेष्ठ बना सकते हैं। कोई व्यक्ति हनुमान की भक्ति का अनुभव कर सकता है यदि वह उसके लिए उत्सुक हो। यदि वह उतनी ऊंचाई तक नहीं पहुँच सकता, तो यही बहुत है कि उसने निष्ठापूर्ण प्रयत्न किया। क्या गीता माता ने हमें नहीं सिखाया कि प्रत्येक प्रयत्न को और उसका फल भगवान के हाथ छोड़ दो। हमें इस शिक्षा का अनुकरण करने का पूरा प्रयास करना चाहिए।...समस्त संसार में केवल एक सर्व-रोग-नाशिनी औषधि है और वह है राम-नाम। किन्तु उसका नाम तभी प्रभावशाली हो सकता है जब उसके सम्बन्ध में (निश्चित) नियमों से दृढ़तापूर्वक चिपके रहा जाय।...

—३०।१।१९४७। अंग्रेज़ी से अनूदित। बापू—माई मदर। पृ० ३१-३२। न० जी० प्र० मं० संस्करण फरवरी १९४९]

५६. राम

राम किसी मनुष्य का नहीं, भगवान का ही नाम है।
—ह० से०, १६।३।१९४७]

५७. मेरा धर्म

[राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सदस्यों के समक्ष दिये गये भाषण के अंश]

मैं तो दक्षिण अफ्रीका से दावा करता आया हूं कि मैं सनातनी हिन्दू हूं। हिन्दू शब्द का वास्तविक मूल क्या है, यह बहुत कम लोग जानते हैं। हमें यह नाम दूसरों ने दिया और हमने इसे अपना लिया। धर्म के अनेक अभ्यासी कहते हैं कि हिन्दू-धर्म क्यों कहते हो। इसे आर्य-धर्म या सनातन-धर्म कहो। हिन्दू-धर्म की विशेषता उसकी सहिष्णुता और जिसके सम्पर्क में आये उसकी अच्छी चीजों को पचा लेने की शक्ति रही है।...

...मेरे हिन्दू धर्म में सब धर्म आ जाते हैं। हिन्दू धर्म में सब धर्मों का सार मिलता है। अगर हिन्दू-धर्म सबको पचा जाने का काम न करता तो वह इतना ऊंचा न उठ सकता।...

...मेरी रग-रग में हिन्दू-धर्म समाया हुआ है। मैं धर्म को जिस तरह समझता हूं उसी तरह उसकी और हिन्दुस्तान की सेवा पूरी ताकत से कर रहा हूं।

[भाषण के अन्त में गांधी जी द्वारा प्रश्न पूछने के लिए कहे जाने पर जो प्रश्न किया गया, वह उत्तर सहित यहां दिया जा रहा है।—सम्पा०]

प्रश्न—हिन्दू-धर्म में पापी को मारने की अनुमति है या नहीं?

उत्तर—है भी और नहीं भी। जो खुद पापी है, वह दूसरे पापी को कैसे सजा देगा? अगर सब काजी बन जायं तो न्याय किसको मिलेगा? इसलिए पापी को सजा देना शासन का काम है। आप शासन से कह दें कि यह आदमी पापी है, दग़ाबाज़ है। इसे सज़ा दीजिए। शासन अहिंसा को नहीं मानता। वह दगाबाज़ों को गोली से उड़ा देगा। लेकिन यह कह देना कि सारे मुसलमान दग़ा-बाज हैं, ठीक नहीं है। यह हिन्दू-धर्म नहीं है।
—१३।९।१९४७। ह० से० २८।९।१९४७]

५८. हिन्दू-धर्म

हिन्दू धर्म महासागर की तरह है। महासागर कभी गन्दा नहीं होता।
—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, १८।९।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २८।९। १९४७]

५९. मेरे धर्म की शिक्षा

मेरा हिन्दू धर्म मुझे सिखलाता है कि मैं सब धर्मों का आदर करूं।
—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, ७।१०।१९५७। ह० ज०। ह० से०। १९।१०।-१९४७]

६०. हिन्दू-धर्म

यों तो मैंने कई दफ़ा अपने को सनातनी हिन्दू कहा है, परन्तु इस मद्रास की मुसाफिरी में, छुआ-छूत के प्रश्न की चर्चा करते समय, मैंने पहिले से भी ज्यादह जोर और दावे के साथ कहा है कि मैं सनातनी हिन्दू हूं। परन्तु मैं देखता हूं कि लोग हिन्दू धर्म के नाम पर कितनी ही ऐसी बातें आमतौर पर करते हैं जिनका कायल मैं नहीं हूं। अगर मैं सनातनी हिन्दू नहीं हूं तो मैं नहीं चाहता कि सनातनी हिन्दू कहलाऊं। और यह अभिलाषा तो मुझे बिल्कुल ही नहीं है कि किसी महान धर्म-मत की ओट ले चुपके-चुपके कोई सुधार या बिगाड़ करूं।

अतएव यह मेरे लिए आवश्यक हो गया है कि मैं अपने सनातन हिन्दू-धर्म का मतलब एकबारगी साफ-साफ समझा दूं। सनातन शब्द का प्रयोग मैंने उसके स्वाभाविक अर्थ में ही किया है।

मैं नीचे-लिखे कारणों से अपने को सनातनी हिन्दू कहता हूं—

१. मैं वेदों को, उपनिषदों को, पुराणों को और उन सब वस्तुओं को मानता हूं जो हिन्दू शास्त्र के नाम से विख्यात हैं। इसलिए मैं अवतारों और पुनर्जन्म को भी मानता हूं।

२. मैं वर्णाश्रम-धर्म को मानता हूं—परन्तु अपनी समझ के अनुसार ठीक वैदिक अर्थ में, आजकल के प्रचलित और अपूर्ण अर्थ में नहीं।

३. मैं गो-रक्षा को मानता हूं, परन्तु वर्तमान प्रचलित अर्थ से बहुत ही व्यापक अर्थ में।

४. मैं मूर्तिपूजा में अविश्वास नहीं करता।

पाठक इस बात पर ध्यान रखें कि मैंने वेदों अथवा किसी शास्त्र के सम्बन्ध में अपौरुपेय शब्द का प्रयोग जान-बूझ कर नहीं किया है। क्योंकि मैं तो सिर्फ वेदों को ही अपौरुपेय नहीं मानता हूं। मैं तो बाइबिल, कुरान और जेन्दा-अवस्ता को भी, वेदों की तरह ही, ईश्वरी प्रेरणा का फल मानता हूं। हिन्दू धर्म-ग्रन्थों पर जो मेरी श्रद्धा है उसके लिए यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि मैं उनके प्रत्येक

शब्द और प्रत्येक श्लोक को अपौरुषेय मानूं। और न मैं इस बात का दावा ही रखता हूं कि इन अद्भुत ग्रन्थों का विशुद्ध ज्ञान मुझे है। परन्तु हां, मैं उन धर्म ग्रन्थों के अत्यन्त आवश्यक उपदेशों की सत्यता के ज्ञान का और उसको अनुभव करने का दावा जरूर करता हूं। मैं उस अर्थ को मानने के लिए तैयार नहीं जो तर्क और नीति के विरुद्ध हो, फिर वह चाहे कितना ही विद्वत्ता-पूर्ण क्यों न हो। और मैं बड़े जोर के साथ आजकल के इन शंकराचार्यों और शास्त्री पंडितों के इस दावे (अगर वे कोई ऐसा दावा पेश करें) के ख़िलाफ़ अपनी आवाज उठाता हूं कि हिन्दू धर्म-शास्त्रों का वास्तविक अर्थ वही है जो वे बताते हैं। बल्कि, इसके विपरीत, मेरा तो यह विश्वास है कि इन ग्रन्थों का जो ज्ञान इस समय लोगों को है, वह अत्यन्त अव्यवस्थित दशा में है। मैं हिन्दू-शास्त्र के इस वचन का सोलहो आना कायल हूं कि जिसने अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन नहीं किया और जिसने सम्पत्ति के अधिकार और उपार्जन का त्याग नहीं कर दिया है वह वस्तुतः शास्त्रों का मर्म नहीं समझ सकता। हां, मैं गुरु की प्रणाली को मानता हूं, परन्तु इस वर्तमान युग में तो लाखों लोगों को बिना गुरु के ही काम चलाना पड़ेगा, क्योंकि पूर्ण शुद्धता और पूर्ण विद्वत्ता का संयोग बहुत ही कम जगह पाया जाता है। परन्तु इससे किसी को यह समझकर निराश होने की जरूरत नहीं है कि हमारे धर्म का सत्य ज्ञान तो कभी होगा ही नहीं, क्योंकि हिन्दू-धर्म के मूलभूत सिद्धान्त तो, प्रत्येक महान धर्म की तरह त्रिकालबाधित हैं और आसानी से समझ में आ जाते हैं। प्रत्येक हिन्दू यह मानता है कि ईश्वर है और वह अद्वैत है। वह पुनर्जन्म और मुक्ति को भी मानता है। परन्तु हिन्दू-धर्म में और दूसरे धर्मों में अगर कोई भिन्नता-दर्शक बात है तो वह हिन्दू धर्म की गो-रक्षा है। वर्णाश्रम-व्यवस्था भी इतनी भिन्नता-दर्शक नहीं है।

मेरी राय में तो वर्णाश्रम-व्यवस्था मनुष्य की प्रकृति के लिए स्वाभाविक है। हिन्दू धर्म ने तो सिर्फ उसे एक शास्त्र के रूप में परिणत भर कर दिया है। जन्म के साथ उसका सम्बन्ध अवश्य ही है। कोई मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार अपना वर्ण नहीं बदल सकता। अपने वर्ण के अनुसार न चलना गोत्रत्व के नियम को न मानना है। हां, जो ये हजारों छोटी-छोटी जातियां बन गई हैं, यह तो उस सिद्धान्त का अनावश्यक और मनमाना व्यवहार करना है। सिर्फ चार वर्ण ही सब तरह से काफी हैं।

मैं इस बात को नहीं मानता कि सहभोज और अन्तर्विवाह से किसी मनुष्य का जन्म-जात दर्जा अवश्य ही छिन जाता है। ये चार विभाग मनुष्य के व्यवसाय के सूचक हैं। वे सामाजिक व्यवहार की मर्यादा नहीं बांधते या उसका नियम नहीं

बनाते। ये चार वर्ण तो कर्त्तव्य का निर्णय करते हैं, किसी को किसी तरह की रिआयत का अधिकार नहीं देते। मेरी राय में तो यह बात हिन्दू-धर्म के सनातन तत्व के विपरीत है कि एक को तो श्रेष्ठता दे दी जाय और दूसरे को कनिष्ठ बताया जाय। सब लोग ईश्वर की इस सृष्टि की सेवा करने के लिए उत्पन्न हुए हैं। ब्राह्मण अपने ज्ञान के द्वारा, क्षत्रिय अपने रक्षा-बल के द्वारा, वैश्य अपनी व्यापारिक योग्यता के द्वारा और शूद्र अपने शारीरिक परिश्रम के द्वारा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई ब्राह्मण शारीरिक श्रम या अपनी तथा दूसरे की रक्षा के कर्त्तव्य से मुक्त है। ब्राह्मण कुल में जन्म होने के कारण वह प्रधानतः ज्ञानशील है; आनुवंशिक रूप में तथा शिक्षा और अभ्यास के कारण वह दूसरों को ज्ञान देने के लिए सबसे अधिक पात्र है। पर ऐसी कोई बात नहीं है जो किसी शूद्र को यथेच्छ ज्ञान प्राप्त करने से रोक सके। बात सिर्फ यही है कि वह अपने शरीर के द्वारा उत्कृष्ट सेवा कर सकेगा और उसे दूसरों की सेवा करने के विशेष गुणों से ईर्ष्या करने की जरूरत नहीं। लेकिन जो ब्राह्मण अपने ज्ञान के अधिकार के बल पर अपने उच्च और श्रेष्ठ होने का दावा करता है उसका पतन हो जाता है और वह वास्तव में ज्ञानहीन ही है। और यही बात दूसरे लोगों पर भी घटती है जो अपने विशेष गुणों का घमण्ड दिखाते हैं। वर्णाश्रम का अर्थ है—आत्मसंयम और कार्य-शक्ति का सदव्यय तथा रक्षण।

इस प्रकार यद्यपि सहभोज और अन्तर्विवाह से वर्णाश्रम में बाधा नहीं होती तथापि हिन्दू-धर्म सहभोज और एक वर्ण के साथ दूसरे वर्ण के अन्तर्विवाह को रोकने का प्रयत्न करता है। हिन्दू-धर्म आत्म-संयम की चरम सीमा तक पहुँच गया है। इस धर्म का मूलाधार तो निस्सन्देह भौतिक बातों की निवृत्ति पर है, और उसका लक्ष्य है आत्म-स्वातन्त्र्य। हिन्दुओं के यहां तो पुत्र के साथ भोजन करना भी उनके कर्त्तव्य का अंग नहीं है। और अमुक ही जाति की कन्या से विवाह करने का नियम बनाकर हिन्दू लोग असाधारण आत्म-संयम का पालन करते हैं। हिन्दू-धर्म विवाहित अवस्था को किसी भी दशा में मुक्ति के लिए आवश्यक नहीं बताता। जन्म की तरह विवाह भी आत्मा का अधःपात ही है। मुक्ति का अर्थ है—जन्म से, अतएव मृत्यु से भी, छुटकारा पाना। अतएव अन्तर्विवाह का और सह-भोजन का निषेध आत्मा के द्रुत विकास के लिए परम आवश्यक है। परन्तु यह निवृत्ति या विरक्ति वर्ण की कसौटी नहीं है। ब्राह्मण ने यदि ज्ञान के द्वारा सेवा करने के अपने कर्त्तव्य का त्याग नहीं किया है तो, वह अपने शूद्र-भाई के साथ भोजन-पान करने पर भी, ब्राह्मण बना रह सकता है। अब तक मैंने जो कुछ कहा उससे यह नतीजा निकलता है कि भोजन-पान और विवाह के विषय में जो संयम

रखा गया है उसका आधार श्रेष्ठता या कनिष्ठता के भाव पर नहीं है। जो हिन्दू अपने को श्रेष्ठ समझकर किसी दूसरे के साथ भोजन-पान करने से इन्कार करता है वह अपने धर्म का आदर्श विल्कुल उलटा दिखाता है।

यह दुर्भाग्य की वात है कि आज हिन्दू-धर्म अकेले चूल्हे-चौके में ही माना जाता है। मैंने एक वार एक मुसलमान भाई के यहां कुछ खाया। यह देखकर एक धर्म-निष्ठ हिन्दू हैरान हो गये। मैंने मुसलमान भाई के दिये प्याले में दूध उँड़ेला। उन्हें देखकर वड़ा दुःख हुआ और जव उन्होंने देखा कि मैं मुसलमान की दी हुई डवलरोटी खाने लगा तव तो उनके दुःख की सीमा न रही। अगर हिन्दू धर्म केवल क्या खावें और किसके साथ खावें, इसके परिश्रम-साध्य नियमों के सम्वन्ध में ही मन्तव्य करने लगे तो उसके प्राणों के संकट में आ पड़ने का अन्देशा है। हां, मादक और पेय पदार्थों का तथा हर तरह के खाद्य पदार्थों का, विशेष करके मांस का, सेवन न करने से निस्सन्देह आत्मोन्नति में सहायता मिलती है, परन्तु केवल यही हमारा लक्ष्य किसी तरह नहीं। वहुत से मनुष्य ऐसे हैं जो मांस भोजन करते हैं और सव लोगों के साथ खाते-पीते हैं, परन्तु ईश्वर से डरते हैं। ऐसे लोग उस मनुष्य की अपेक्षा मुक्ति के अधिक नजदीक हैं जो धार्मिक दृष्टि से मद्य-मांस आदि का सेवन नहीं करता, परन्तु अपने हरएक कार्य के द्वारा ईश्वर का तिरस्कार करता है।

तथापि हिन्दू-धर्म का मध्यवर्ती प्रधान अंग है गो-रक्षा। मेरी दृष्टि में तो गो-रक्षा मनुष्य-जाति के विकास में एक अद्भुत चमत्कारपूर्ण घटना है। यह मनुष्य-प्राणी को उसकी स्वाभाविक मर्यादा के ऊपर ले जाती है। मुझे तो गाय मानो मनुष्य जाति से नीचे की सम्पूर्ण सृष्टि नजर आती है। गाय के द्वारा मनुष्य प्राणिमात्र के साथ अपने तादात्म्य के अनुभव का अधिकारी होता है। मुझे तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि गाय ही अकेली क्यों देवता मानी गई है। हिन्दुस्तान में गाय से वढ़कर मनुष्यों का साथी दूसरा कोई नहीं। उसने वहुतेरी वस्तुएं हमें दी हैं। उसने केवल हमें दूध ही नहीं दिया है, वल्कि हमारी खेती का भी सारा आधार उसी पर है। गाय तो एक मूर्तिमती करुणामयी कविता है। इस नम्र प्राणी में करुणा ही करुणा दिखाई देती है। भारत के लाखों मनुष्यों की वह माता है। गो-रक्षा का अर्थ है ईश्वर की सम्पूर्ण मूक-सृष्टि की रक्षा। लेकिन प्राचीन कवियों ने, फिर वे चाहे कोई हों, गाय से ही श्रीगणेश किया। सृष्टि की नीची श्रेणी के प्राणियों को वाक्शक्ति नहीं है। इसलिए उनकी अपील में सवसे अधिक वल है। गो-रक्षा संसार को हिन्दू-धर्म का दिया हुआ प्रसाद है। और तवतक हिन्दू धर्म वरावर जीवित रहेगा जवतक हिन्दू लोग गो-रक्षा करने के लिए मौजूद हैं।

गो-रक्षा करने का मार्ग है—उसके लिए स्वयं मर मिटना। हिन्दू-धर्म और अहिंसा यह आज्ञा नहीं देते कि गो-रक्षा के लिए किसी मनुष्य-प्राणी का वध करो। हिन्दुओं को तो तपस्या, आत्मशुद्धि और स्वार्थत्याग के द्वारा गो-रक्षा करने का आदेश दिया गया है। आजकल की इस गो-रक्षा ने मुसलमानों के साथ एक चिर-स्थायी शत्रुता का रूप धारण कर लिया है, हालांकि गो-रक्षा का अर्थ तो है मुसलमानों को प्रेम से अपने वशीभूत करना। एक मुसलमान मित्र ने कुछ समय पहिले, मुझे एक पुस्तक भेजी थी। उसमें सविस्तार यह बताया गया था कि हम लोग गाय के और उसकी सन्तान के साथ कैसा अमानुष व्यवहार करते हैं। हम किस बेरहमी के साथ खून टपकने तक उसे दुहते हैं—एक बूंद तक दूध उसके थन में नहीं रहने देते। किस तरह हम उसे भूखों मार-मारकर सुखा देते हैं। उसके बछड़ों के साथ कैसा दुर्व्यवहार करते हैं। किस तरह हम उसके हिस्से का दूध उसके पल्ले नहीं पड़ने देते। बैलों के साथ किस निष्ठुरता से पेश आते हैं। किस तरह हम उन्हें बधिया करते हैं। किस तरह हम उन्हें पीटते हैं। और कितना सारा बोझ उन पर लादते हैं। अगर उन्हें बोलने की शक्ति होती तो वे उनके प्रति किये हमारे अपराधों का बयान इस तरह अपने मुंह से करते कि सारी दुनिया दहल उठती। अपने चौपायों के प्रति अपने एक-एक निर्दयता-पूर्ण कार्य के द्वारा मानो हम ईश्वर का और हिन्दूधर्म का त्याग कर रहे हैं। इस अभागे भारतवर्ष में चौपायों की जितनी बुरी दशा है उतनी मैं नहीं जानता कि दुनिया के किसी दूसरे देश में होगी। हम अंग्रेजों को इसके लिए दोषी नहीं बता सकते। अपने इस अपराध के लिए हम दरिद्रता की दुहाई नहीं दे सकते। हमारे चौपायों की दुर्दशा का एक मात्र कारण है हमारी अक्षम्य लापरवाही। हां, हमारे पिंजरापोल हैं। वे हमारे दया-भाव की तृप्ति का साधन भी हैं, परन्तु हैं वे उन दयायुक्त कार्यों के बेढंगे प्रदर्शन ही। ये नमूना-रूप दुग्धशाला और महान लाभदायक राष्ट्रीय संस्था होने के बजाय केवल अपाहिज और निर्बल गायों का संग्रह-स्थान भर हैं।

हिन्दुओं की पहिचान न तो उनके तिलक से होगी, न उनके मन्त्रों के शुद्ध घोष से, न उनके तीर्थाटन से और न जाति बन्धन के नियमों के अत्यन्त शिष्टाचार-युक्त पालन से ही होगी। बल्कि उनकी पहिचान तो उनके गो-रक्षा के सामर्थ्य से होगी। हम गो-रक्षा को अपना धर्म मानने का दावा तो बड़ा करते हैं, लेकिन वास्तव में तो हमने गाय को और उसकी सन्तति को अपना गुलाम बना डाला है और खुद भी गुलाम हो गये हैं।

अब यह बात समझ में आ जायगी कि मैं क्यों अपने को सनातनी हिन्दू समझता हूं। गो के प्रति जो मेरी श्रद्धा है उसमें मैं किसी से हारनेवाला नहीं। मैंने खिलाफत

के कार्य को जो अपना कार्य बनाया है उसका सबब यही है कि उसकी रक्षा के द्वारा मुझे गाय की पूरी तरह रक्षा होने की सम्भावना दिखाई देती है। मैं मुसलमान भाइयों से यह नहीं कहता कि मेरी इस सेवा के खातिर वे गाय की रक्षा करें। मैं तो उस सर्वशक्तिमान परमात्मा से ही नित्य यह प्रार्थना करता हूं कि जिस कार्य को मैंने न्याय्य समझा है उसके निमित्त की गई मेरी सेवा तेरी इतनी प्रसन्नता का कारण हो कि जिससे तू मुसलमानों के हृदयों को बदल दे; उन्हें अपने हिन्दू भाइयों के प्रति दया-भाव से परिपूर्ण कर दे और उनके द्वारा उस प्राणी की रक्षा करा जिसे हिन्दू लोग अपने प्राणों की तरह प्यारा मानते हैं।

हिन्दू धर्म के प्रति मेरी जो भावना है उसका वर्णन मैं अपनी धर्मपत्नी के प्रति मेरी भावना से बढ़कर नहीं कर सकता। वह मेरे हृदय पर जितना अधिकार कर सकती हैं उतना दुनिया की कोई स्त्री नहीं कर सकती। इसका कारण यह नहीं कि वह निर्दोष है। मैं कह सकता हूं कि जितने दोष मैंने उसमें पाये हैं उससे भी अधिक दोष उसमें होंगे। लेकिन उसके हृदय में एक अटूट बन्धन की भावना है। इसी प्रकार हिन्दू-धर्म के लिए और उसके विषय में उसके तमाम दोषों और कमियों के होते हुए भी मेरे हृदय में प्रेम की भावना है। गीता और तुलसीदास की रामायण के संगीत से जो स्फूर्ति और उत्तेजना मुझे मिलती है वैसी और किसी से नहीं मिलती। हिन्दूधर्म में यही दो ग्रन्थ ऐसे हैं जिनके विषय में कहा जा सकता है कि मैंने देखे हैं। जब मैंने देखा था कि अब मेरे अन्त की घड़ी आ पहुंची है, बस एक मात्र गीता ही मेरी शान्ति का—सांत्वना का साधन थी। आज तमाम बड़े-बड़े हिन्दू धर्म -मन्दिरों में जो पापाचार हो रहा है उसे मैं जानता हूं, लेकिन उनकी इन अवर्णनीय त्रुटियों के होते हुए भी मेरा प्रेम उनपर है। उनके अन्दर मुझे एक ऐसी दिलचस्पी होती है जो और कहीं नहीं मिलती। मैं शुरू से अखीर तक सुधारक हूं। लेकिन यह मेरी उत्सुकता मुझसे यह नहीं कहती कि हिन्दू-धर्म की किसी भी आवश्यक बात को रद कर दो। मैं ऊपर कहीं कह चुका हूं कि मैं मूर्ति-पूजा में अविश्वास नहीं रखता। हां, किसी मूर्ति को देखकर मेरे हृदय में किसी प्रकार के आदर की भावना जाग्रत नहीं होती। लेकिन मेरा ख्याल है कि मूर्तिपूजा मानवी स्वभाव का एक अंग है। हमें स्थूल उपकरण का सहारा लेना पड़ता है। गिरजा में चित्त जितना एकाग्र हो जाता है उतना दूसरी जगह क्यों नहीं होता? क्या यह मूर्ति-पूजा ही का एक भेद नहीं है? प्रतिमाओं से पूजा-आराधना में सहायता मिलती है। कोई हिन्दू प्रतिमा को ही स्वयं ईश्वर नहीं मानता। मैं मूर्ति-पूजा को पाप नहीं समझता।

ऊपर की बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू-धर्म संकुचित धर्म नहीं है। उसमें संसार के समस्त पैगम्बरों की पूजा के लिए गुंजाइश है। यह कोई मिशनरी—

किसी धर्म मत का प्रचार करनेवाला—धर्म नहीं है। हां, इसमें कितनी ही भिन्न-भिन्न जातियों का समावेश हुआ है, परन्तु उनकी यह तद्रूपता विकासात्मक और अत्यन्त सूक्ष्म है। हिन्दू धर्म तो हरएक मनुष्य से यह कहता है कि तुम अपने विश्वास या धर्म के अनुसार ईश्वर का भजन-पूजन करो और, इस प्रकार वह दूसरे समस्त धर्मों के साथ मेल-जोल से रहता है।

हिन्दू-धर्म के सम्बन्ध में मेरा यह मत है। और इसीलिए छुआछूत के विषय में मेरा मत अनुकूल नहीं रहा है। मैं इसे सदा से एक आनवश्यक बात मानता आ रहा हूं। हां, यह सच है कि यह प्रथा हमारे यहां परम्परा से चली आ रही है। और दूसरी भी ऐसी कितनी ही प्रथाएँ आज तक प्रचलित हैं। बड़ी शरम की बात होगी अगर मैं यह ख्याल करने लगूं कि लड़कियों को वस्तुतः वेश्या-वृत्ति के लिए समर्पित कर देना हिन्दू-धर्म का एक अंग है। परन्तु मैं तो देखता हूं कि हिन्दुस्तान के कितने ही भागों के हिन्दुओं में यह बात प्रचलित है। काली को बकरे का बलि-दान करना मैं बिल्कुल अधर्म मानता हूं और इसे मैं हिन्दू धर्म का अंग नहीं मानता। हिन्दू धर्म तो कई युगों के विकास का फल है। हिन्दू धर्म नाम तो हिन्दुस्तान के रहनेवाले लोगों के धर्म का विदेशियों-द्वारा रखा हुआ नाम है। हां, इसमें कोई शक नहीं कि किसी जमाने में धर्म के नाम पर जीवों का बलिदान हुआ करता था। पर वह धर्म नहीं है और हिन्दू-धर्म तो और भी नहीं है। और इसी तरह मुझे तो यह भी जान पड़ता है कि जब हमारे पूर्वजों ने गो-रक्षा को एक अटल सिद्धान्त बना लिया तब जिन लोगों ने गोमांस खाना नहीं छोड़ा उनके साथ व्यवहार करना बन्द कर दिया गया। यह झगड़ा खूब ही बढ़ा होगा। जो लोग उस नियम को न मानते थे, न केवल उन्हीं का बहिष्कार किया गया, बल्कि उनके पाप का फल उनकी सन्तान को भी भोगना पड़ा। इस तरह यह क्रम जो कि बहुत करके अच्छे ही हेतु से शुरू हुआ था, जारी रहा और अन्त को प्रथा के रूप में दृढ़ हो गया —यहां तक कि हमारे धर्मग्रन्थों में भी ऐसे-ऐसे श्लोकों का प्रवेश हो गया जिनके बल पर यह प्रथा चिरस्थायी हो गई। पर वास्तव में यह योग्य नहीं था और समर्थ-नीय तो उससे भी कम था। मेरा यह अनुमान चाहे ठीक हो या न हो, अस्पृश्यता तर्क के और दया, करुणा और प्रेम भाव के विरुद्ध तो अवश्य है। जो धर्म गो-पूजा की स्थापना करता है वह भूलकर भी मनुष्य-प्राणी के निर्दयतापूर्ण और अमानुष बहिष्कार को न तो आवश्यक मान सकता है और न उसे जारी ही रख सकता है। और मैं तो अछूत जातियों को अपने से अलग रखने की अपेक्षा अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाने से अधिक सन्तुष्ट रहूंगा। अगर हिन्दू लोग अपने उच्च और उदात्त धर्म को, अस्पृश्यता के कलंक को कायम रखते हुए, निन्दनीय बनायेंगे

तो वे अवश्य ही कभी न तो स्वतन्त्रता के योग्य होंगे और न उसे प्राप्त ही कर सकेंगे। और चूंकि मैं हिन्दू धर्म को अपने प्राण से भी अधिक प्यार करता हूं, यह कलंक मेरे लिए एक असह्य भार हो गया है। अपनी जाति के पंचमांश मनुष्यों को वरावरी के साथ रहने-घरने का अधिकार देने से इन्कार करके हम ईश्वर से मुंह न मोड़ें।

—महात्मा गांधी संकलन, गांधी हिन्दी पुस्तक भण्डार, वम्वई, संस्करण पौष १९७८]

खंड
४
हिन्दू धर्म-
-व्यवस्थाएं

१. हिन्दू-धर्म

[जोहानिसबर्ग थियोसाफिकल लाज के मेसानिक टेम्पल में आयोजित गांधी जी के भाषण से।—सम्पा०]

बुद्ध के उपदेशों के प्रभाव से जो आन्तरिक सुधार हुए उनके बाद हिन्दू-धर्म मूर्तिपूजा का अत्यधिक अभ्यस्त हो गया। हिन्दू दार्शनिक ईश्वर को सरलता से शुद्धतम आत्मा के रूप में जानते और पूजते थे तथा अद्वैतवाद के आधार पर उच्चतम कल्पना तक पहुँच जाते थे। इसी भाँति अज्ञान जन-साधारण इससे निम्नतम अवस्था में गिर जाते थे। यदि बाल-बुद्धि ईश्वर का अनुभव निर्गुण आत्मा के रूप में नहीं कर पाती तो उसके विविध सगुण रूपों के माध्यम से उसको पूजने में उसको कोई कठिनाई नहीं होती। अनेक उसे सूर्य, चन्द्र और तारों के माध्यम से पूजते हैं और अनेक उसे लकड़ी-पत्थर के रूप में भी पूजते हैं। दर्शन-प्रधान हिन्दू-धर्म को सहिष्णु-भावना के कारण पूजा का यह प्रकार अंगीकार करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। इस प्रकार हिन्दू-जीवन का चक्र आनन्द से चलता रहा। किन्तु तभी अरब के मरुस्थल में एक ऐसी शक्ति उदित हुई जो विचारों में क्रान्ति उत्पन्न किये बिना और जीवन पर अपनी स्थायी छाप छोड़े बिना रह नहीं सकती थी। मुहम्मद बचपन से ही अपने आसपास के लोगों को मूर्तिपूजा, विलासपूर्ण असंयम और शराबखोरी में डूबा देखकर मन ही मन क्रोध से सुलगते रहते थे। उन्होंने मूसा और ईश्वर की ही तरह अनुभव किया कि उनके पास एक दिव्य सन्देश है। उन्होंने संसार को अपना सन्देश देने का निश्चय किया और पहिले अपने कुटुम्बी-जनों की को उसका पात्र चुना। वाशिंगटन इरविंग ने इस्लाम धर्म पर अपने ग्रन्थ में प्रश्न उठाया है, अपनी पहिली अवस्था में इस्लाम के पास तलवार चलानेवाले लोग कहां थे? उनके विचारों में इस्लाम की सफलता का कारण अधिकतर उसकी सादगी और मनुष्य की कमजोरियों की स्वीकृति है। मुहम्मद ने सिखाया कि ईश्वर एक और केवल एक है, और वह उसके पैगम्बर हैं। उन्होंने यह भी सिखाया कि आत्मोत्थानकारी प्रभाव के रूप में प्रार्थना नितान्त आवश्यक है। जो कर सकें ऐसे अपने समस्त अनुयायियों को उन्होंने, वर्ष में भले ही एक बार, इकट्ठा होने के लिए मक्का की यात्रा का विधान किया। और यह मानकर

कि लोग धन-संग्रह करेंगे, उन्होंने अपने अनुयायियों से अनुरोध किया कि वे उसका एक निश्चित अंश दान-कार्य के लिए धर्म-वृद्धि से अलग सुरक्षित कर दें। वहर-हाल इस्लाम की मुख्य ध्वनि उसकी समता की भावना थी। जो उसके दायरे में आये उसने उन सबको ऐसे भाव से समान व्यवहार प्रदान किया जैसे भाव से संसार के किसी और धर्म ने नहीं किया था। इसलिए जब ईसा के ९०० वर्ष बाद उसके अनुयायियों ने भारत पर चढ़ाई की, तब हिन्दू धर्म किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया। उसे ऐसा लगा कि इस्लाम को सफलता मिलकर रहेगी। जाति-भेद से त्रस्त जनता पर समता के सिद्धान्त का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। इस आन्तरिक शक्ति के साथ तलवार की ताकत भी जोड़ दी गई। वे कट्टर हमलावर, जो समय-समय भारत में आ घुसते थे, यदि समझा-बुझाकर सम्भव न होता तो तलवार के बलपर धर्म-परिवर्तन करने में हिचकते नहीं थे। मूर्तियों पर मूर्तियां तोड़ते हुए उन्होंने लगभग सारा देश रौंद डाला और यद्यपि राजपूती शौर्य हिन्दुत्व की ओर था, किन्तु वह इस्लाम के अचानक हमले से उसकी रक्षा करने में असमर्थ रहा। प्रारम्भ में हिन्दू-धर्म की भावना के अनुरूप दोनों धर्मों के समन्वय का प्रयत्न किया गया। वाराणसी में लगभग १३वीं शताब्दी में कबीर नाम के एक सन्त हुए जिन्होंने हिन्दू धर्म के प्रधान सिद्धान्तों को अक्षुण्ण रखकर और थोड़ा-बहुत इस्लाम से लेकर दोनों धर्मों के एकीकरण की चेष्टा की, किन्तु उनका वह प्रयत्न बहुत सफल नहीं हुआ। जहां से होकर मुसलमान विजेता भारत में बड़ी संख्या में घुसे और जिसने उनकी पहिली अनी को झेला, उस पंजाब ने सिख-धर्म के संस्थापक गुरु नानक को जन्म दिया। उन्होंने अपने धर्म के सिद्धान्त कबीर से लिये और उनमें लड़ाकू हिन्दू-तत्व को मिलाया। उन्होंने मुस्लिम भावनाओं का आदर करते हुए समझौते के लिए हाथ बढ़ाया, किन्तु यदि वह स्वी-कार नहीं किया गया तो वह इस्लाम के आक्रमण से हिन्दू-धर्म की रक्षा करने के लिए भी, उतने ही तैयार थे। और इस तरह सिख-धर्म इस्लाम का सीधा परिणाम था। यह सर्वविदित है कि सिख कैसा बहादुर होता है और उसने ब्रिटिश सत्ता की क्या सेवा की है। हिन्दू धर्म पर इस्लाम का यह प्रभाव हुआ कि उसने सिख धर्म को जन्म दिया और धर्म के एक प्रधान गुण अर्थात् सहिष्णुता को उसके सच्चे और पूर्ण रूप में व्यक्त किया। जिन दिनों कोई राजनीतिक प्रभाव काम नहीं करते होते थे तब बिना कठिनाई के हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे की भावना का आदर करते हुए और बिना किसी विघ्न-बाधा के अपना-अपना धर्म पालते हुए पूर्ण शान्ति और सद्भावना के साथ रहते थे। हिन्दू-धर्म ने ही इस्लाम को अकबर दिया, जिसने अपनी अचूक अन्तर्दृष्टि से सहिष्णुता की भावना को पहि-

चाना और भारत पर शासन करने में उसे स्वयं अपनाया। इसके सिवा हिन्दू-धर्म ने अपना लचीलापन इस तरह भी जाहिर किया कि भयानक संघर्ष के बाद भी विशिष्ट वर्गों और साधारण जनता का बहुत बड़ा भाग एकदम अप्रभावित रह गया और हिन्दू-धर्म संघर्ष में से ऐसा तरोताजा होकर निकला जैसे हम शीतल जल में से स्नान करने के बाद तेजस्वी होकर निकलते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पहिला धक्का जोर का लगा था, किन्तु जल्दी ही हिन्दू-धर्म ने दृढ़ता से अपने को फिर स्थापित कर लिया।

—जोहानिसबर्ग, ११।३।१९०५। अंग्रेजी से। स्टार, १८।३।१९०५। सं० गां० गां० खण्ड ४, पृष्ठ ४०२, ०३, ०४]

२. यज्ञोपवीत और तदनुकूल आचरण

[श्री मणिलाल गांधी को लिखे पत्र से।]

तुमने यज्ञोपवीत ले लिया है। मैं चाहता हूँ कि तुम उसके अनुरूप आचरण करो। ऐसा लगता है कि सूर्योदय के पहिले जागना विधिवत् सन्ध्या करने के लिए लगभग अनिवार्य है। इसलिए नियमित समय पर काम करने का प्रयत्न अवश्य करो। मैंने इस सम्बन्ध में बहुत विचार किया है। और कुछ पढ़ा भी है। मैं स्वामी जी[1] के प्रचार से सम्मानपूर्वक असहमति प्रकट करता हूँ। मेरे विचार से जिन्होंने युगों से यज्ञोपवीत छोड़ दिया है उसका यज्ञोपवीत ग्रहण करना भूल है। इस समय भी शूद्रों और अन्य वर्णो में बहुत कृत्रिम भेद है इसलिए यज्ञोपवीत आज सहायक होने की अपेक्षा बाधक अधिक है। मैं इस विचार पर अधिक विस्तृत चर्चा करना पसन्द करता, लेकिन इस समय नहीं कर रहा हूँ। मैं जानता हूं कि इन विचारों को ऐसे व्यक्ति के समक्ष प्रकट कर रहा हूँ, जिसने इस विषय के अध्ययन में सारा जीवन लगा दिया है। फिर भी, मैंने सोचा कि मैं जो कुछ सोचता रहा हूँ, वह स्वामी जी तक पहुँचा दूं। मैंने गायत्री-मन्त्र का अध्ययन किया है। मैं उसके शब्दों को पसन्द करता हूँ। मुझे स्वामी जी ने जो पुस्तक दी थी, वह भी मैंने पढ़ी है। इसके अध्ययन से मैंने बहुत लाभ उठाया है। इसने मुझे स्वामी दयानन्द के जीवन के सम्बन्ध में अधिक जिज्ञासु बना दिया है। मैं देखता हूँ कि उनका गायत्री और वाजसनेय उपनिषद् के कई मन्त्रों का अर्थ सनातनधर्मी विद्वानों

---

१. हिन्दू-धर्म के प्रचार हेतु सन १९०८-९ में दक्षिण अफ्रीका-भ्रमण करनेवाले स्वामी शंकरानन्द।

द्वारा किये अर्थ से विल्कुल भिन्न है। अब कौन-सा अर्थ सही है? मैं नहीं जानता। मैं स्वामी दयानन्द की सुझाई भाष्य की क्रान्तिकारी पद्धति को तुरन्त स्वीकार करने में हिचकिचाता हूँ।

—प्रिटोरिया जेल, ट्रांसवाल, २५।३।१९०९। सं० गां० वा०, खण्ड ९, पृ० २०५-०६]

३. दशहरे का सन्देश

दशहरे का उत्सव रावण पर राम की अर्थात् असत्य पर सत्य की विजय का उत्सव है।

—श्री एच० एस० एल० पोलक को लिखे पत्र से। लन्दन, २९।१०।१९०९]

४. कृष्णार्पण

[श्री छगनलाल गांधी को लिखे पत्र से]

यदि अपने आप सर्वस्व कृष्णार्पण कर दिया हो तो जिसका यह सब कुछ है वही उसको सम्हालेगा। यदि न सम्हाले तो इसमें तुम्हारी या मेरी क्या हानि है? देखना तो यह चाहिए कि हमने सब कृष्णार्पण कर दिया है या उसका कुछ अंश अपने लिये बचा लिया है।

—तालस्ताय फार्म, लाली स्टेशन, ट्रांसवाल, मार्गशीर्ष बदी ४, ९।१२।१९११। सं० गां० वां०, खण्ड ११, पृ० १९५]

५. ब्राह्मणों का सम्मान

[श्री जमनादास गांधी को लिखे गये पत्र से]

ब्राह्मणों को मान देने के लिए हमें अपनी आन्तरिक भावना वैसी ही बनानी चाहिए और उन पर कटाक्ष नहीं करना चाहिए, जिस प्रकार किसी कुलीन कुटुम्ब के मनुष्य को देखकर (किसी कारणवश) हमारे मन में उसके प्रति दया उत्पन्न होती है और सम्मान का भाव भी बना रहता है। वेश्या के पुत्र के प्रति हमारे मन में स्वाभाविक सम्मान का भाव नहीं होता। किन्तु मेरे कहने का अर्थ यह नहीं है कि ब्राह्मणों के दुराचार का समर्थन किया जाय। वे बेकार भीख माँगने निकलें तो उन्हें पढ़ते हुए उठकर चुटकी भर अन्न देना पढ़ाई का हर्ज करना है।

मैं इसमें ब्राह्मण का सम्मान हुआ नहीं मानूंगा। बल्कि इसे तुम्हारी भीरुता और विचारहीनता मानूंगा।...

—फाल्गुण सुदी ६, १४।३।१९१३। सं० गां० वा०, खण्ड ११, पृ० ४८३]

६. शास्त्रों का अर्थ

[श्री जमनादास गांधी को लिखे पत्र से]

शास्त्रों को सर्वथा सम्पूर्ण मानने की जरूरत नहीं। यदि हम नीति के अखण्ड नियम और शास्त्रों का अर्थ तथा उपयोग उन नियमों को ध्यान में रखकर करें तो फिर भूल होने की संभावना नहीं रहती।

—वैशाख वदी १०, ३०।५।१९१३। सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृ० ९०]

७. शास्त्र, ज्ञान और कृष्ण

[श्री जमनादास गांधी को लिखे पत्र का अंश]

हमारे सब शास्त्र विचारपूर्वक और ज्ञानपूर्वक लिखे गये हैं, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। चार्वाक-दर्शन भी शास्त्र माना गया है। जिसमें शुद्ध ज्ञान है, वही शास्त्र है, ऐसा अर्थ करें तो यह कहा जा सकता है कि समस्त शास्त्र ज्ञान-पूर्वक ही लिखे गये हैं। इस विचार के अनुसार जिन शास्त्रों में नरमेध आदि का उल्लेख हो, उन्हें अज्ञानपूर्ण मानना चाहिए। सम्भव है ऐसी बातें बाद में शुद्ध शास्त्रों में प्रक्षिप्त कर दी गई हों। यह सारी खोज करने की आत्मार्थी को कोई आवश्यकता नहीं है। यह तो इतिहास के पण्डितों के काम की चीज़ है। हमें तो लिखे या बोले गये शब्दों के सार की बात ग्रहण करनी है। सब शास्त्रों को शास्त्र मानकर अनर्थकारी बातों में ही अर्थ ढूंढ़ने की और उन्हें सिद्ध करने की झंझट में हम क्यों पड़ें?

भारत में और अन्यत्र ज्ञान और अज्ञान दोनों साथ-साथ चलते आये हैं। इसलिए हम देखते हैं, धर्म के नाम पर अन्याय-मूलक रिवाज चलते हैं, जैसे काली के सामने पशु-बलि आदि। इन अनिष्टकारी रिवाजों को दूर करने की खटपट में भी हम फिलहाल नहीं पड़ सकते। हमारा पहिला सूत्र है कि आत्मा को जानें। इतना पाठ पढ़ने और जानने के बाद बाकी सब कुछ हमारी समझ में अपने आप आता जायगा।

यदि विभीषण प्रभु रामचन्द्र के पास निःस्वार्थ बुद्धि से गये तो उनका ऐसा करना बिल्कुल ठीक था। अपने सगे भाई के दोष भी प्रभु से कौन छिपाना चाहेगा? और भाई के दोष दूर करने के लिए प्रभु की सहायता माँगना भी ठीक ही है।

तुमने भागवत का जो श्लोक उद्धृत किया है, हमें उसके शब्दार्थ का आग्रह नहीं करना चाहिए। कृष्ण की लीला तो कृष्ण ही जानते हैं। वे यदि कामना-पूर्वक भी कुछ करते हों तो भी हम स्थूल देहधारी प्राणी वैसा नहीं कर सकते। उनकी प्रभुता उन्हें (नियमों के बन्धन से) छूट देती है; हम ऐसी छूट नहीं ले सकते। इसके सिवा यह भी याद रखना चाहिए कि कृष्ण के विषय में भागवत्-कार ने अपने ज्ञान की सीमा के अनुसार ही तो लिखा है। कृष्ण के वास्तविक स्वरूप को कोई नहीं जानता।

—जोहानिसबर्ग। श्रावण सुदी ६, ७।८।१९१३। सं० वां० वां०, खण्ड १२ पृष्ठ १४८]

- **हमें . . . लिखे या बोले गये शब्दों से सार की बात ग्रहण करनी है।**
- **. . . ज्ञान और अज्ञान दोनों साथ-साथ चलते हैं।**
- **हमारा पहिला सूत्र है कि आत्मा को जानें; कृष्ण की लीला तो कृष्ण ही जानते हैं।**
- **कृष्ण के वास्तविक स्वरूप को कोई नहीं जानता।**

८. धर्म का अनुसरण

इस देश का धर्म हिन्दू-धर्म है। हिंसा से अर्थात् पशुओं तक के प्राण लेने से बचना, मेरा विश्वास है कि सही सिद्धान्त और सब धर्मों का मूल सिद्धान्त है। हिन्दू-धर्म के अनुसार बुरा करनेवाले से भी घृणा नहीं करनी चाहिए। वह कहता है, किसी को बुरा करनेवाले की भी हत्या करने का अधिकार नहीं है। . . .

. . . मैं अपने नौजवान दोस्तों को सलाह दूंगा कि वे निर्भय और सच्चे बनें तथा धर्म के सिद्धान्तों का अनुसरण करें। यदि उनके पास देश के लिए कोई कार्यक्रम है तो उन्हें चाहिए कि उसे खुलेआम जनता के सामने रखें। जो नौज-वान यहाँ उपस्थित हैं उनसे मैं इस अपील के साथ अपना भाषण समाप्त करता हूँ कि वे धार्मिक बनें और धर्म तथा नैतिकता की भावना से परिचालित हों।

— विद्यार्थी भवन, कलकत्ता में दिये भाषण से। ३१।३।१९१५। अमृत बाजार पत्रिका, १।४।१९१५। सं० गां० वां०, खण्ड १३, पृ० ४८]

९. धर्म एवं आस्था

आपको उस अनुपम ग्रन्थ रामायण के रावण और राम तथा इन्द्रजित और लक्ष्मण के दृष्टान्त स्मरण होंगे। लक्ष्मण और इन्द्रजित दोनों के गुण समान थे। दोनों ने तप किया था; दोनों ने एक सीमा तक आत्म-नियन्त्रण की शक्ति प्राप्त की थी। इसलिए इन्द्रजित को जीतना अत्यन्त कठिन कार्य था। किन्तु हम देखते हैं कि इन्द्रजित के पास जो कुछ था, वह निकम्मा साबित हुआ, जब कि लक्ष्मण के पास जो कुछ था, वह न केवल उनके लिए और वह जिस पक्ष से लड़ रहे थे उसके लिए, बल्कि हमारे लिए भी बड़े काम का साबित हुआ, क्योंकि वे हमारे लिए एक ऐसी निधि छोड़ गये हैं, जिसे हम सँजोकर रखते हैं; जिसके मूल्य को हम पहिचानते हैं। तब लक्ष्मण के पास कौन-सा अतिरिक्त गुण था? लक्ष्मण दैवी शक्ति की प्रेरणा पर चलते थे। उन्हें धर्म का बोध था। उनका जीवन सिद्धान्त से निर्देशित होता था; उनके जीवन का आधार धर्म था, जब कि इन्द्रजित के जीवन का आधार अधर्म था। इन्द्रजित नहीं जानता था कि वह कहाँ जा रहा है। धर्म-हीन जीवन का दूसरा नाम सिद्धान्त-हीन जीवन है, और बिना सिद्धान्त का जीवन बिना पतवार की नौका के समान है। जिस प्रकार बिना पतवार की नौका और उसका माँझी इधर-उधर भटकते फिरेंगे और उन्हें अपनी मंज़िल कभी नहीं मिलेगी, उसी प्रकार जिस व्यक्ति को धर्म का बल प्राप्त नहीं है; जिसकी धर्म में गहरी आस्था नहीं है, वह इस तूफानी संसार-सागर में इधर से उधर भटकता रह जायगा, किन्तु उसे अपनी मंज़िल कभी न मिल पायगी, अतः प्रत्येक समाज-सेवी को मेरा सुझाव है कि वह इस भ्रम में न रहे कि वह धर्म के बोध और दैवी प्रेरणा द्वारा शुद्धीकृत इन दो गुणों के बिना अपने देशभाइयों की सेवा कर सकेगा।

—सोशल सर्विस लीग, मद्रास की सभा में दिये गये भाषण से, १६।२।१९१६। अंग्रेजी से। हिन्दू, १७।२।१९१६। सं० गां० वां०, खण्ड १३, पृ० २३८]

० धर्म-हीन जीवन का दूसरा नाम सिद्धान्त-हीन जीवन है।

१०. चातुर्वर्ण : वर्णाश्रम

प्रश्न—चातुर्वर्ण के विषय में आपकी क्या सम्मति है?

उत्तर—यह संस्था बहुत अच्छी है। इसने देश का बड़ा उपकार किया है। इसका रहना बहुत ज़रूरी है।

प्रश्न—हिन्दू समाज में यदि चार ही वर्ण हैं और वे ऐसे ही रहेंगे तो अछूत जातियों को आप किस वर्ण में गिनते हैं।

उत्तर—अछूत जातियों का अस्तित्व चातुर्वर्ण की ज्यादती है। चातुर्वर्ण ने अनुचित रूप से ज्यादती करके इन जातियों को वहिष्कृत किया है। इनका स्थान चातुर्वर्ण के अन्दर ही है। ...

—लखनऊ में ली गई भेंट से, २९ से ३१ दिसम्वर १९१६ के लगभग। महात्मा गांधी। सं० गां० वां०, खण्ड १३, पृ० ३२६]

११. गोरक्षा : समस्या और समाधान

गोरक्षिणी सभा ने मुझे इस शहर में गोशाला का शिलान्यास करने का काम सौंपा है, इसके लिए मैं सभा का और आप सवका आभार मानता हूँ। हिन्दुओं की दृष्टि में यह कार्य वहुत पवित्र है। गाय की रक्षा करना हर भारतीय का मुख्य कार्य है। फिर भी यह महान् कार्य करने की हमारी जो पद्धति है, उसमें मैंने अनेक दोष पाये हैं। इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर मैंने थोड़ा-वहुत विचार किया है, आपकी इजाजत से मैं उसे आपके सामने रखना चाहता हूँ।

आजकल गोरक्षा के दो ही अर्थ रह गये हैं। एक तो यह कि वकरीद आदि के अवसरों पर गोमाता को अपने मुसलमान भाइयों के हाथों से छुड़ाना और दूसरा यह कि दुर्वल गायों के लिए गोशालाएँ वनवाना।

मुसलमान भाइयों के हाथों से गोमाता की रक्षा करने का हमारा तरीका ठीक नहीं है। उसका परिणाम यह हुआ है कि भारत की इन दो वड़ी जातियों के वीच हमेशा वैर-भाव और अविश्वास वना रहता है। और कहीं-कहीं तो इन दोनों के वीच मारपीट भी हो जाती है। अभी हाल में ही शाहावाद जिले में जो मारपीट हुई थी, वह मेरे इस कथन का समर्थन करती है। यह ऐसा प्रश्न है, जिस पर दोनों जातियों को गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। सैकड़ों हिन्दू भाइयों ने निरपराव मुसलमान भाइयों के घरवार लूटकर वड़ा उत्पात मचाया। इसमें पुण्य की तो गुंजाइश ही कैसे हो सकती है? वह घोर पाप का काम था।

वास्तव में गोरक्षिणी सभा के कार्यों से, गायों की रक्षा होने के वदले उनकी हानि ही अविक होती है। अहिंसा को हिन्दू-धर्म में मुख्य स्थान दिया गया है। गाय की रक्षा करने के लिए मुसलमान की हत्या करना विल्कुल अधर्म है। अगर हम चाहते हों कि उनके हाथों गाय की हत्या न हो, तो उनका हृदय-परिवर्तन करने

की जरूरत है। यह काम हम जोर-जबरदस्ती से नहीं कर सकते। हमें तो प्रार्थना और नम्रता के बल पर उनके हृदय में प्रवेश करना है। इस प्रकार उनके अन्तर के दयाभाव को जाग्रत करके हम यह कार्य सिद्ध कर सकते हैं। इस तरह काम करने के लिए हमें यह प्रतिज्ञा लेनी होगी कि मैं गोरक्षा के लिए काम करूँगा, और ऐसा करने में मुसलमान भाइयों के प्रति द्वेष या वैरभाव नहीं रखूँगा। इसी तरह उनपर क्रोध नहीं करूँगा और न उनके साथ मार-पीट करूँगा। ऐसा अभय-दान देने के बाद ही हम उनके साथ बात करने के अधिकारी हो सकते हैं। यह याद रखना है कि हम जिन बातों को पाप समझते हैं, उन्हें हमारे मुसलमान भाई पाप नहीं समझते। इतना ही नहीं, किसी-किसी अवसर पर तो गाय की हत्या करना वे पुण्य समझते हैं। अपने धर्म का पालन प्रत्येक मनुष्य के लिए जरूरी है। यदि इस्लाम का कोई ऐसा आदेश होता कि गाय की कुरबानी हर हालत में जरूरी है, तो भारत में वास्तविक शान्ति कभी न रह पाती। लेकिन मैं तो ऐसा समझता हूँ कि बकरीद आदि त्यौहारों में गाय का वध करना कोई धार्मिक कर्त्तव्य नहीं है। परन्तु जब हम जोर-जुलम करके गोवध रोकना चाहते हैं, तब मुसलमान भाई मान लेते हैं कि गोवध करना उनका धार्मिक कर्त्तव्य है। जो भी हो, मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि इस समस्या का समाधान केवल तपश्चर्या से हो सकता है। ऐसे अवसर पर गाय के लिए प्राण देना हमारी अन्तिम तपश्चर्या होगी।

ऐसी घोर तपश्चर्या करने का भी सब हिन्दुओं को अधिकार नहीं है। दूसरों को पापकर्म से विमुख करनेवालों को स्वयं पापकर्म से मुक्त होना चाहिए। हिन्दू-जगत् गाय और गो-वंश पर बहुत बड़ा अत्याचार कर रहा है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारी गायों की वर्तमान दशा है, जिनका रक्त-मांस सूख गया है; जिनकी चमड़ी के भीतर हड्डी का ढाँचा साफ नज़र आता है; जिन्हें पूरी खुराक नहीं मिलती; जिन पर मनमाना बोझ लाद दिया जाता है और जिन्हें पूँछ मरोड़कर या पैने मारकर हाँका जाता है। ऐसे हजारों बैलों को जब मैं देखता हूँ तो मेरा हृदय रोता है, मेरा शरीर काँपने लगता है और मैं सोचता हूँ कि जबतक हम ऐसी घोर हिंसा करने से बाज़ नहीं आते तबतक मुसलमान भाइयों से क्या कह सकते हैं? हमारी स्वार्थ-बुद्धि इतनी प्रबल है कि गाय का सारा दूध दुहते हुए हमें तनिक भी शर्म नहीं आती। कलकत्ते की डेरियों में तो बछड़ों को माँ के दूध के बिना ही रखा जाता है। वहाँ फूँके की क्रिया से गायों का सारा दूध निकाल दिया जाता है। इन डेरियों के मालिक और व्यवस्थापक सब हिन्दू ही होते हैं और दूध पीने-वालों में भी बड़ी संख्या हिन्दुओं की ही है। जबतक ऐसी डेरियां चलती हैं और वहाँ का दूध हम पीते हैं, तबतक हमें मुसलमान भाइयों से एक शब्द भी कहने

का क्या अधिकार है ? यह भी विचारने योग्य वात है कि सारे भारत के वड़े शहर कसाईखाने वन गये हैं। वहाँ हजारों गायों और वैलों का वध होता है। और अधिकांश अंग्रेज भाइयों को मांस वहीं से दिया जाता है। इस विषय में सारा हिन्दू-जगत् चुप है और उस हत्या को वन्द कराने में वह अपने-आपको असमर्थ मानता है।

जवतक हम ऐसे घोर हत्याकाण्ड को नहीं रोक पाते, तवतक मुसलमानों के दिलों पर असर डालना या उनसे गायों की रक्षा कराना मुझे असम्भव-सा मालूम होता है। इसलिए हमारा दूसरा काम अंग्रेज भाइयों के वीच आन्दोलन करना है। उसमें हम पशुवल का उपयोग नहीं कर सकते। अंग्रेज भाइयों को भी हमें अपनी तपश्चर्या और नम्रता से जीतना चाहिए। मांस का भक्षण उनके लिए कोई धार्मिक क्रिया नहीं है। उन्हें समझा पाना इस हद तक ज्यादा आसान होना चाहिए। जव हम उपर्युक्त हिंसा-दोष से मुक्त हो जायंगे और अंग्रेज भाइयों को गोमांस-भक्षण तथा गाय-वैलों की हत्या न करने की वात समझा सकेंगे, तभी हमें मुसलमान भाइयों से इस विषय में कुछ कहने का अधिकार प्राप्त हो सकेगा। और मैं विश्वास के साथ कहता हूँ कि जव हम अंग्रेज भाइयों को समझा लेंगे, तव हमारे मुसलमान भाई भी हम पर दया करके किसी दूसरी तरह की कुरवानी से अपनी धार्मिक रूढ़ि सम्पन्न कर लिया करेंगे। जव हम अपना हिंसा-दोप स्वीकार कर लेंगे, तव हमारी गोशालाओं का प्रवन्ध भी वदल जायगा। तव हम अपनी गोशालाओं में केवल कमजोर गायों को ही नहीं रखेंगे, वल्कि हृष्ट-पुष्ट गायों और वैलों को भी रखेंगे। वहाँ हम ढोरों की नस्ल सुधारने का प्रयत्न करेंगे और शुद्ध दूध-घी आदि भी पैदा कर सकेंगे। यह प्रश्न केवल धार्मिक ही नहीं है। इसमें हिन्दुस्तान की आर्थिक उन्नति की वात भी आ जाती है। अर्थ-शास्त्रियों ने अकाट्य आँकड़े देकर यह सिद्ध कर दिखाया है कि हिन्दुस्तान के वहुत से ढोर इतने कमजोर हैं कि कितने ही गाय-वैलों को रखने में जो खर्च पड़ता है उसकी तुलना में दूध वहुत कम मिलता है। हम अपनी गोशालाओं को अर्थ-शास्त्र के अध्ययन और इस वड़ी समस्या के माध्यम के केन्द्रों में परिणत कर दें। गोशालाओं में अभी जो अधिक खर्च आता है, उसे हमें जैसे-तैसे पूरा करना पड़ता है। मेरी कल्पना की गोशाला आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होगी। ऐसी गोशा-लाएँ शहर के भीतर नहीं होनी चाहिएं। शहर के वाहर सौ-दो सौ एकड़ जमीन लेकर वहाँ हम ऐसी गोशालाएँ स्थापित कर सकते हैं। उनमें गायों के लिए अनाज और हर प्रकार की घास आदि पैदा की जा सकती है। और उनके मल-मूत्र से जो क़ीमती खाद वनेगी, उसका हम सुन्दर उपयोग कर सकते हैं। आशा है,

आप सब मेरी बातों पर पूरा ध्यान देंगे। मोतीहारी की गोरक्षिणी सभा ने मेरी उपर्युक्त सलाह स्वीकार की है। अन्त में मेरी प्रार्थना है कि तदनुसार बेतिया और मोतीहारी की ये दोनों संस्थाएँ मिलकर इस महत् कार्य को अपने हाथों में ले लेंगी।

—बेतिया, ९।१०।१९१७। के लगभग। गुजराती से। गो-सेवा। सं० गां० वां० खण्ड, १४, पृ० २,३,४]

- **इस (गोवध की) समस्या का समाधान केवल तपश्चर्या से हो सकता है।**
- **गाय के लिए प्राण देना हमारी अन्तिम तपश्चर्या होगी।**
- **दूसरों को पापकर्म से विमुख करनेवालों को स्वयं पापकर्म से मुक्त होना चाहिए।**

१२. गोरक्षा का प्रश्न

[मुजफ्फरपुर में दिये गये भाषण से]

हिन्दू और मुसलमानों के बीच झगड़ा गोमाता को लेकर खड़ा हुआ है। यदि हमें गाय की रक्षा करनी है तो हमें उसे कसाईखाने से बचाना चाहिए। अंग्रेज बन्धुओं के लिए हर रोज कम से कम ३० हजार गाय और बछड़े कत्ल किये जाते हैं। और जबतक हम इस हत्या को रोक नहीं पाते तबतक मुसलमान भाइयों पर हाथ उठाने का हमें कोई अधिकार नहीं है। अपने हिन्दू भाइयों से मैं कहूँगा कि गोमाता को बचाने के लिए मुसलमान बन्धुओं का खून करना कोई धर्म नहीं है। हिन्दू-धर्म तो केवल एक मार्ग बताता है और वह है तपश्चर्या का मार्ग। तुलसीदास जी की वाणी में कहें तो 'दया धर्म को मूल है'। इसलिए हमें तो दया से ही काम लेना चाहिए। गाय की रक्षा तो मैं भी करना चाहता हूँ। पर गाय के लिए मैं अपने मुसलमान भाइयों से कहूँगा कि गाय को छुरा मारने के बदले आप मेरी गर्दन पर छुरी चलावें और मेरा खून करें। मुझे विश्वास है कि मेरी यह दीन वाणी मुसलमान-बन्धु अवश्य सुनेंगे। हम यदि अपनी स्वतन्त्रता चाहते हैं तो हमें दूसरों की स्वतन्त्रता छीन लेने का कोई अधिकार नहीं है। एक दूसरे की स्वतन्त्रता छीन लेने के प्रयास में ही झगड़े खड़े होते हैं। यदि कोई मुसलमान आदेश के स्वर में कहेगा कि कोई भी हिन्दू ढोल न बजाये तो हिन्दू कभी नहीं मानेगा, पर यदि अपने मुसलमान भाई नम्रतापूर्वक कहें कि आप ढोल न बजायें, हमारे धर्म-कार्य नमाज में खलल न डालें, और यदि आप ऐसा करेंगे तो हम अपने

ही खून की नदी वहा देंगे, तो मैं विश्वास करता हूँ कि कोई भी हिन्दू भाई इतना नासमझ नहीं मिलेगा जो इस प्रार्थना के विरुद्ध व्यवहार करेगा। परन्तु सच्ची वात तो यह है कि इस सम्वन्ध में हिन्दू और मुसलमान, किसी का भी मन साफ नहीं है। यदि हम मेल और प्रेम चाहते हैं तो वह मुहव्वत से ही हो सकेगा, भय दिखाकर तो कभी नहीं हो सकेगा; हम अपने दिल की वात कभी भी साफ-साफ नहीं कह पायेंगे।

— ११।११।१९१७। गुजराती। 'महात्मा गांधीनी विचारसृष्टि।' सं० गां० वां० खण्ड १४, पृ० ७८-७९]

○ एक दूसरे की स्वतन्त्रता छीन लेने के प्रयास में ही झगड़े खड़े होते हैं।

१३. आज वर्ण-धर्म कहाँ है ?

वर्ण की मेरी की हुई व्याख्या के अनुसार तो आज हिन्दू-धर्म में वर्ण-धर्म का पालन होता ही नहीं। ब्राह्मण नाम रखनेवाले विद्या पढ़ाना छोड़ वैठे हैं। वे दूसरे धन्धे करने लगे हैं। यही वात अन्य वर्णों के विषय में भी सच है।...

— गोधरा, ५।११।१९१७ के वाद। वापू और हरिजन। सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० ७३]

१४. धर्म का ह्रास

[श्री रणछोड़लाल पटवारी को लिखे पत्र से।]

वैष्णव-धर्म के नाम पर इस महा-पवित्र धर्म का लोप हो रहा है। गोरक्षा के नाम पर गाय की हत्या हो रही है। धर्म के नाम पर पाखण्ड का प्रसार हो रहा है। धार्मिक होने का ढोंग करनेवाले अधार्मिक लोग धर्म-सम्वन्धी नियमों का विधान करते हैं। मैं यह सव अनुभव करता हूँ तो फिर वैष्णव-धर्म की प्रतिष्ठा चाहनेवाले आप यह सव कैसे नहीं देख पाते? यह प्रश्न निरन्तर मेरे सम्मुख रहता है। भंगी का स्पर्श करने में कदापि पाप नहीं है। गाय के नाम पर मुसलमान का वध करने में कदापि पुण्य नहीं है; धर्म-पुस्तकों में कदापि असत्य का प्रतिपादन नहीं हो सकता; स्वेच्छाचारी के हाथ में धर्म की वागडोर कदापि नहीं दी जा सकती; ये सव वाक्य सूत्रों-जैसे हैं। इसमें मतभेद कैसे हो सकता है?...

— मोतीहारी कार्तिक सुदी ४, १८।११।१९१७। सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० ९०-९१]

१५. मन्दिर और पुरोहित

मन्दिरों को पवित्र रखें। पुरोहित को मूर्ख नहीं होना चाहिए। उसे ज्ञानशील होना चाहिए। संगीत के वाद्य-यन्त्र (पूजा-हेतु) कर्ण-मधुर होने चाहिए। मूर्ति के लिए वस्त्र शुद्ध खादी या अतलस का होना चाहिए।...

—२८।९।१९१९। मूल गुजराती। 'गुजराती', १२।१०।१९१९। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० १८८]

१६. धर्मान्तर आवश्यक नहीं

[सुश्री एडा वेस्ट को लिखे गये पत्र से]

दूसरे के धर्म के सौन्दर्य की प्रशंसा-हेतु किसी को अपना धर्म बदलने की आवश्यकता नहीं है। मेरा हिन्दू-धर्म मुझे ईसाई-धर्म की श्रेष्ठ बातें ग्रहण करने से नहीं रोकता, न यह मुझे व्यवहार में आई अपवित्रता की ओर से अन्धा ही बनाता है।...

—१३।१।१९२०। मूल अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० ४७६]

१७. मेरा हिन्दुत्व

[कुमारी एनी मेरी पीटर्सन को लिखे पत्र से]

मैं स्वयं को हिन्दुओं में पक्का हिन्दू समझता हूँ। मेरा विश्वास है कि मुझे हिन्दू-धर्म के सत्य का श्रेष्ठ बोध है। और मैंने इससे बहुमूल्य पाठ यह सीखा है कि मैं यह आशा न करूँ कि दूसरे लोग हिन्दू-धर्म स्वीकार कर लें, बल्कि यह कि वे अपने धर्म के श्रेष्ठ नमूने बन जायँ।

—१३।१।१९२०। मूल अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० ४७७।]

● मुझे हिन्दूधर्म के सत्य का श्रेष्ठ बोध है।

१८. जीवहत्या और गोहत्या

[श्रीआसफअलीको लिखे पत्र से]

मेरा विचार है कि ईश्वर ने पशु-सृष्टि की क्षुद्र कोटियों को इसलिए नहीं बनाया है, कि मनुष्य उनका जैसा चाहे इस्तेमाल करे। मनुष्य अपना मुख्य ध्येय

प्रवृत्ति नहीं, निवृत्ति-द्वारा प्राप्त करता है। मुझे पशु-सृष्टि का वध करने का कोई अधिकार नहीं है, यदि मैं वानस्पतिक सृष्टि पर रहकर स्वस्थ जीवन बिता सकता हूँ। मुझे समस्त पशु-सृष्टि के वध करने का इसलिए अधिकार नहीं मिल जाता कि मैं कुछ पशु-सृष्टि का वध करना जरूरी समझता हूँ। अतएव यदि मैं बकरी, मछली और मुर्ग पर भलीभाँति रह सकता हूँ तो अपने निर्वाह के लिए गाय का वध करना पाप होगा। और इसी प्रकार कुछ तर्क थे, जिनके कारण प्राचीन ऋषियों ने गाय को पवित्र माना। विशेष कर उन्होंने यह पाया कि गाय राष्ट्रीय जीवन में सबसे बड़ी आर्थिक निधि है। और मैं इस सीमा तक इस प्रकार सेवा-योग्य पशु की पूजा करने में कोई त्रुटि नहीं देखता जबतक वह अपने सृष्टा की समता नहीं करने लगता। मैं इस विचार की बहुत प्रशंसा करता हूँ, (पर इस्लाम में ज़ोर दिया गया है) कि विशेष पूजा हम सब के सृष्टा-हेतु सुरक्षित रखनी चाहिए। किन्तु मुझे गो-पूजा और गो-हत्या को मिला नहीं देना चाहिए। यदि आप इस प्रस्थापना को स्वीकार करते हैं कि जो मनुष्य जितना निवृत्तिशील है वह उतना ही अधिक मनुष्य है, तो आपको यह मानने में कठिनाई न होगी की नैतिक धरातल पर गोहत्या का बचाव नहीं किया जा सकता।...

— २५।१।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० ५०८-५०९]

१९. धर्म और नम्रता

सर अल्फ्रेड लायल अपनी एक पुस्तक में लिखते हैं कि वास्तविक धर्म इतने मूक भाव से फैलता है कि लोग यह जान भी नहीं पाते कि वह फैल रहा है। वर्तमान समय में आर्यसमाज केवल अनेक धार्मिक सम्प्रदायों में से एक है। यदि यह पूछा जाय कि धर्म किस प्रकार मौन भाव से फैल सकता है, तो प्रकृति इसका उत्तर देती है।

प्रकृति के चमत्कार की ओर देखिए। एक वृक्ष के विषय में सोचिए। क्या आप इसकी वृद्धि का निरीक्षण कर सकते हैं? आप अपने शरीर के अंगों को बढ़ता हुआ पाते हैं; आपको इसके बारे में कोई परेशानी नहीं उठानी पड़ती। धर्म ठीक इसी प्रकार फैलता है।

वास्तविक धर्म में असहिष्णुता के लिए स्थान नहीं है। हम धर्म की श्रेष्ठताएं और कहीं नहीं पा सकते। अन्य किसी धर्म ने हिंसा से दूर रहने और उसके संक्रमण से मुक्त रहने में वैसी सफलता नहीं पाई, जैसी कि हिन्दू धर्म ने। घृणा इसकी आत्मा

के लिए विजातीय है। हिन्दू-धर्म ने भी तलवार पर भरोसा किया है और युद्ध किया है, किन्तु अन्य धर्मों में इसको चरम सीमा पर पहुँचा दिया गया है।

ऋषियों और मुनियों के स्वभाव की ओर ध्यान दें और विचार करें। आप देखेंगे कि उन्होंने सत्य का उपदेश बिना उत्तेजित हुए और हृदय में शुद्धतम भावना रखकर अत्यन्त सज्जनता के साथ किया है। यहाँ तक कि जब कभी उन्होंने अमधुर बातें भी कही हैं, उनके शब्दों में मधुरता और सत्य निहित रहा है। आर्यसमाजी ईसाइयों में पाये जाने वाले प्रचार के तरीके को छोड़ कर अच्छा करेंगे। यह नकल के योग्य नहीं है।

—अहमदाबाद, १२।१।१९२०। आर्य समाज की सभा में दिये गये भाषण से। मूल गुजराती। २५।१।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृष्ठ ४७४-७५]

- वास्तविक धर्म में असहिष्णुता के लिए स्थान नहीं है।
- घृणा इसकी (हिन्दूधर्म की) आत्मा के लिए विजातीय है।

२०. गोरक्षा

गोरक्षा हिन्दूधर्म की एक मूलभूत आस्था है। अपनी पवित्रता के अतिरिक्त यह एक श्रेयस्करी धर्म-भावना है। किन्तु हम हिन्दू आज गाय और उसकी सन्तति के प्रति बहुत कम आदर-भाव रखते हैं।

—यं० इं०, ४।८।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी खण्ड १८, पृ० ११७]

२१. गोरक्षा : हिन्दू धर्म की सबसे महत्वपूर्ण बाह्य अभिव्यक्ति

गोरक्षा का उद्देश्य मेरे लिए अत्यन्त प्रिय है। यदि कोई मुझसे यह पूछे कि हिन्दू-धर्म की अत्यन्त महत्वपूर्ण बाह्य अभिव्यक्ति क्या है, तो मैं कहूँगा कि यह गोरक्षा का विचार है। मेरे समक्ष यह कई वर्ष पहिले स्पष्ट हो चुका है कि हमने इस कर्त्तव्य का त्याग कर दिया है।

—गुजराती। न० जी० ८।८।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १८, पृ० १२७]

- यदि कई मुझसे यह पूछे कि हिन्दूधर्म की अत्यन्त महत्वपूर्ण बाह्य अभिव्यक्ति क्या है तो मैं कहूँगा कि यह गोरक्षा का विचार है।

२२. हिन्दू-धर्म-रक्षा का उपाय

यदि हिन्दू अपने धर्म की रक्षा के लिए शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, तो इसे भी वे मुसलमानों की सहायता करके प्राप्त करेंगे, क्योंकि इसमें हिन्दुओं को निश्चय, साहस, सत्य, आत्म-बलिदान की क्षमता, एकता, संगठन-क्षमता आदि श्रेष्ठ गुण प्रदर्शित करने पड़ेंगे।

—गुजराती। न० जी०, २९।८।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १८, पृ० २०४]

२३. वैष्णवों से

वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड़ पराई जाणे रे!
परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।
सकल लोकमां सहुने वंदे, निन्दा न करे केनी रे;
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे!
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे,
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे।
मोहमाया व्यापे नहिं जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे;
रामनाम शुं ताली लागी, सकल तिरथ तेनां तनमां रे।
वणलोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे;
भणे नरसैंयो तेनुं दरसन करतां कुल एकोतेर तार्या रे॥

नरसी मेहता द्वारा वर्णित वैष्णव के लक्षण से हम देखते हैं कि यह वह व्यक्ति है जो—

१. पीड़ित व्यक्ति की सहायता के लिए सदैव सक्रिय रहता है।
२. ऐसा करने में अभिमान नहीं करता।
३. सबके प्रति आदर-भाव रखता है।
४. किसी को दुर्वचन नहीं कहता।
५. भाषण में,
६. आचरण में,
७. विचार में आत्म-नियन्त्रित है।
८. सबके प्रति समान आदर रखता है।
९. इच्छाओं का त्याग कर चुका है।

१०. एक स्त्री—अपनी पत्नी के प्रति सच्चा है।
११. सदैव सत्यपूर्ण है।
१२. अस्तेय के नियम का पालन करता है।
१३. माया की पहुँच से परे है।
१४. परिणामस्वरूप प्रत्येक इच्छा से मुक्त है।
१५. सदैव राम-नामोच्चारण में लीन है।
१६. परिणामतः पवित्र हो चुका है।
१७. किसी वस्तु की लालसा नहीं रखता।
१८. छल-कपट से,
१९. इच्छाओं के आवेग से और
२०. क्रोध से मुक्त है।

यहां, वैष्णवों में श्रेष्ठ नरसिंह ने अहिंसा को प्रथम स्थान का गर्व दिया है। इसका अर्थ यह कि जिस व्यक्ति में प्रेम नहीं वह वैष्णव नहीं है। वह व्यक्ति जो सत्य का अनुसरण नहीं करता और जिसने इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं प्राप्त किया है, वैष्णव नहीं है। वह अपने प्रभाती गान[1] में हमें सिखाते हैं कि केवल वेदाध्ययन से, वर्णाश्रम-नियमों के पालन से, तुलसी की माला पहिनने या तिलक लगाने से ही कोई वैष्णव नहीं हो जाता। ये सारी चीजें पाप का उद्गम हो सकती हैं। एक दंभी भी गुरियों की माला पहिन सकता है, तिलक लगा सकता है, वेद पढ़ सकता है या ओठों से राम-नाम उच्चारण कर सकता है। पर ऐसा व्यक्ति जीवन में सत्य का अनुसरण नहीं कर सकता और वह जबतक अपनी दांभिकता छोड़ न दे विपत्ति-ग्रस्त की सहायता नहीं कर सकता; न वह भाषण, आचरण और वाणी में आत्म-नियन्त्रित हो सकता है।...

—मूल गुजराती। न० जी०, ५।१२।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृ० ७२-७३]

२४. गोरक्षा

[बेतिया गोशाला में दिया गया भाषण]

गोरक्षा हिन्दू धर्म का बाह्य रूप है। मैं किसी व्यक्ति को हिन्दू मानने को तैयार नहीं हूँ, यदि वह इस प्रश्न पर अपना जीवन बलिदान करने को तैयार नहीं है।

---

१. प्रभात काल में भक्तजनों द्वारा गाये जानेवाले भजन।

यदि गोकुशी मुसलमानों के लिए नमाज पढ़ने की तरह धार्मिक कर्त्तव्य होती, तो मुझे उनसे स्पष्ट कह देना पड़ता कि मुझे उनसे लड़ना चाहिए। किन्तु यह उनके लिए धार्मिक कर्त्तव्य नहीं है। हमने अपने रुख के कारण उनके लिए उसे कर्त्तव्य बना दिया है।

गोरक्षा के लिए जो वास्तव में आवश्यक है, वह यह है कि हिन्दू स्वयं गाय की फिक्र करें क्योंकि वे भी उसे मारते हैं। दूध की आखिरी बूंद तक दुहने के लिए फूँका लगाने की बर्बर विधि, बैलों को कष्ट देना, जो कि गाय की सन्तान हैं, उन्हें आर चुभाना, और उनकी सामर्थ्य से अधिक भार ढोने को विवश करना—ये बातें गोहत्या के तुल्य हैं। यदि हम गोरक्षा के विषय में गम्भीर हैं, तो हमें अपना घर सुधारना चाहिए।

जबकि मुसलमान मांस के लिए कभी-कभी गोकुशी करता है, अंग्रेज इसके बिना एक दिन भी नहीं रह सकता। किन्तु हम गुलाम की तरह उनसे समझौता कर लेते हैं।. . .गोमाता की रक्षा करें और गोमाता आपकी रक्षा करेंगी।

—बेतिया, ८।१२।१९२०। मूल गुजराती। महादेव भाईनी डायरी, भाग ५, अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृ० ९१,-९२]

२५. शास्त्र का अर्थ और वैष्णव धर्म

मेरी राय में जिसे तर्क द्वारा समझा न जा सके, हृदय स्वीकार न करे, वह शास्त्र नहीं हो सकता, और मैं समझता हूं कि कोई भी व्यक्ति जो धर्म का उसके शुद्ध रूप में पालन करना चाहता है उसे इस सिद्धान्त को स्वीकार करना ही पड़ेगा। अगर हम ऐसा नहीं करते तो हमें अपने धर्म के उल्लंघन का जोखम उठाना पड़ेगा। मैंने गीता का अर्थ इस रूप में किये जाते हुए सुना है कि अगर हमारा कोई सम्बन्धी दुष्ट है तो हम उसे झुकाने के लिए शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं, निश्चय ही ऐसा करना हमारा धर्म है। चूंकि राम ने रावण का वध किया था, इसलिए क्या हमारा यह धर्म है कि हम जिसे रावण समझें उसका वध कर दें? मनुस्मृति मांस खाने की अनुमति देती है, इसलिए क्या एक वैष्णव को मांस खाने की स्वतन्त्रता है? मैंने यह बात शास्त्रियों और उन व्यक्तियों के मुँह से सुनी है जो संन्यासी होने का दावा करते हैं कि बीमार पड़ने पर, कोई गोमांस भी खा सकता है। यदि मैं शास्त्रों की ये सब व्याख्याएँ स्वीकार लेता तो कहाँ होता? मैंने अपने सम्बन्धियों को नष्ट कर डाला होता, अंग्रेजों को मारने की सलाह दी होती और बीमारी के दौरान

गोमांस खा लिया होता। ऐसे मौकों पर मैं बच गया क्योंकि मैंने केवल उसे ही धर्म माना, जिसे मेरे हृदय और तर्क ने इस रूप में स्वीकार किया। और मैंने हर व्यक्ति को उसी की सलाह दी।

इसीलिए तपश्चर्या करनेवाले पवित्र व्यक्तियों ने हमें बताया है कि जो वेद पढ़ लेते हैं पर आचरण में धर्म का पालन नहीं करते वे केवल विद्याभिमानी हैं। वे न तो स्वयं तैरकर पार जा सकते हैं न दूसरे को इसमें सहायता दे सकते हैं। यही कारण है कि मैं उन लोगों से कभी प्रभावित नहीं हुआ जिनकी जिह्वा पर वेद है या जिन्होंने भाष्य रट रखे हैं। और उनकी विद्वत्ता पर आश्चर्य प्रकट करने के बजाय मैं थोड़े ज्ञान को अधिक मूल्यवान समझता हूँ।...

मैं शास्त्र नहीं जानता, मुझे अनुभव नहीं है, मैं हठी हूँ—यह सब स्वीकार कर लेने से मैं वैष्णव होने के अयोग्य नहीं हो जाता। जबतक मैं यह मानता हूँ कि वैष्णवत्व की कसौटी नैतिक आचरण में निहित है वाद-विवाद, चातुर्यपूर्ण भाषण, या शास्त्रों का अर्थ निश्चित करने में नहीं, तबतक मैं अपना (वैष्णव होने का) दावा छोड़ने को इच्छुक नहीं हूँ।...

—मूल गुजराती। न० जी०, १२।१२।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृ० ९७-९९]

- जिसे तर्क द्वारा समझा न जा सके; हृदय स्वीकार न करे, वह शास्त्र नहीं हो सकता।
- जो वेद पढ़ते हैं पर आचरण में धर्म का पालन नहीं करते, वे केवल विद्याभिमानी हैं।
- मैं उनसे कभी प्रभावित नहीं हुआ जिनकी जिह्वा पर वेद है या जिन्होंने भाष्य रट रखे हैं।

२६. वेद का प्रमाण

...धर्मग्रन्थ विवेक और सत्य का उल्लंघन नहीं कर सकते। उनका उद्देश्य विवेक को पवित्र करना, सत्य को प्रकाशित करना है। मैं किसी बेदाग घोड़े को इसलिए नहीं जलाने जा रहा हूं कि वेदों ने (उसके) बलिदान की सम्मति, स्वीकृति, दी है या उसे सहन किया है—ऐसा विवरण मिलता है। मेरे लिए वेद ईश्वरीय और अलिखित हैं। शब्द मार डालता है...यह (शब्द का) भाव है जो प्रकाश

देता है। और वेदों का भाव पवित्रता, सत्य, सदाचार, नम्रता, सरलता, क्षमा, देवत्व और वह सब है जो एक स्त्री या पुरुष को वीर और श्रेष्ठ बनाता है।

—यं० इं०, १९।१।१९२१। मूल अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी खण्ड १९, पृ० २४३।]

० शब्द मार डालता है; यह (शब्द का) भाव है जो प्रकाश देता है

२७. गोरक्षा-धर्म का कैसे पालन हो?

आप मुसलमानों या अंग्रेजों को मारकर गाय को नहीं बचा सकते। आप उसे केवल अपनी प्रिय गर्दन की भेंट चढ़ाकर बचा सकते हैं। यदि आप गाय की रक्षा-हेतु अपनी गर्दन भेंट कर देते हैं, तो यमराज इसके लिए आपसे जबाव तलब नहीं करेंगे बल्कि अपने सिंहासन पर आपको स्थान ग्रहण करने को कहेंगे। दूसरी ओर यदि आप गाय को बचाने के लिए किसी की हत्या करेंगे तो यमराज निश्चित रूप से आपसे इस कृत्य का औचित्य सिद्ध करने को कहेंगे, क्योंकि आप भी आदमी हैं और (जिसे आपने मारा है) वह भी आदमी है। हम भगवान नहीं हैं जो कि हम गाय को बचाने के लिए दूसरे व्यक्ति को मार सकें। फिर भी हिन्दू-धर्म हम पर कर्त्तव्य-बन्धन लगाता है कि मैं गाय के लिए अपने गले की भेंट चढ़ा दूं। कितने हिन्दुओं ने इस प्रकार आचरण किया है।...वणिक के गणना-गुण से गाय को नहीं बचाया जा सकता। हिन्दू-धर्म की उदात्त परम्परा की माँग है कि आप अपने प्राणों का विचार न करें।

—वड़ताल, १९।१।१९२१। मूल गुजराती। न० जी० २७।१।१९२१। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृ० २५४।]

२८. हिन्दूधर्म का सन्देश

...हिन्दू धर्म किसी धर्म की अवहेलना नहीं करता। वह सबसे कहता है—स्वधर्म में ही श्रेय है।

—न० जी०। हिं० न० जी०, ४।५।१९२४]

२९. मूर्ति-पूजा

मैं मूर्ति-पूजक भी हूँ, और मूर्ति-भंजक भी हूँ, पर उस अर्थ में, जिसे मैं इन शब्दों का सही अर्थ मानता हूँ। मूर्ति-पूजा के अन्दर जो भाव है, उसका मैं आदर

करता हूँ। मनुष्य जाति के उत्थान में उससे अत्यन्त सहायता मिलती है। और मैं अपने अन्दर प्राण देकर भी उन हजारों पवित्र देवालयों की रक्षा करने की सामर्थ्य रखना पसन्द करूँगा, जो हमारी इस जननी-जन्मभूमि को पुनीत कर रहे हैं। मुसलमानों के साथ मेरी जो मित्रता है उसके अन्दर पहिले से ही यह बात स्वीकार की हुई है कि वे मेरी मूर्तियों और मेरे मन्दिरों के प्रति पूरी सहिष्णुता रखेंगे। और मैं मूर्तिभंजक इस अर्थ में हूँ कि मैं धर्मान्धता के रूप में छिपी उस सूक्ष्म मूर्ति-पूजा का सिर तोड़ देता हूँ, जो अपनी ईश्वर-पूजा की विधि के अलावा, दूसरे लोगों की पूजा-विधि में किसी गुण और अच्छाई को देखने से इन्कार करती है। इस प्रकार की सूक्ष्म मूर्ति-पूजा —बुतपरस्ती, अधिक घातक है, क्योंकि यह उस स्थूल और प्रत्यक्ष पूजा से, जिसमें एक पत्थर के टुकड़े—या सुवर्ण मूर्ति में ईश्वर की कल्पना कर ली जाती है, अधिक सूक्ष्म और धोखा देनेवाली है।

—यं० इं०। हि० न० जी०, ३१।८।१९२४]

० मैं मूर्त्तिपूजक भी हूँ और मूर्त्ति-भंजक भी।

३०. बाजे का प्रश्न और हिन्दू धर्म का दृष्टिकोण

हिन्दू धर्म की कोई भी विधि ऐसी नहीं है जो बिना बाजा बजाये हो सकती है। कितनी विधियाँ तो ऐसी हैं जिनमें शुरू से आखीर तक बाजा बजाना जरूरी है। हाँ, इसमें भी हिन्दुओं को इतनी चिन्ता जरूर रखनी चाहिए कि मुसलमानों का दिल न दुखने पाये। ...इस्लाम में ऐसा कोई फरमान नहीं है, जिससे दूसरों के बाजे को बन्द करना लाजिमी हो। इसलिए मस्जिद के सामने दूसरे विधर्मी के बाजा बजाने से इस्लाम को धक्का नहीं लगता।...

...विनय के सामने झुकना धर्म है; जोर-जबर्दस्ती के सामने झुकना अधर्म है। मार के डर से यदि हिन्दू बाजा बजाना छोड़ दें तो वे हिन्दू न रहेंगे।

—न० जी०। हि० न० जी०, १४।९।१९२४]

० विनय के सामने झुकना धर्म है; जोर-जबर्दस्ती के सामने झुकना अधर्म है।

३१. मेरा धर्म

जब मेरे शरीर और मन का एक-एक कण हिन्दू है, तो निश्चय ही हिन्दुओं के मन की बात जानने के लिए मुझे उनके बीच रहने की कोई जरूरत नहीं है। मेरा

हिन्दू धर्म अत्यन्त क्षुद्र वस्तु होगी, यदि वह अत्यन्त प्रतिकूल प्रभावों के अन्दर भी फल-फूल न सके। मैं सहज स्फुरण से ही जानता हूँ कि हिन्दू -धर्म के लिए किस वात की आवश्यकता है।. . .मेरा धर्म मुझे सिखाता है कि सव पर समान प्रेम रखो। ईश्वर उसमें मेरा सहायक हो।. . .
— यं० इं०। हि० न० जी०, २८।९।१९२४]

३२. तप की महिमा

हिन्दू-धर्म में तप कदम-क़दम पर है। पार्वती यदि शंकर को चाहे तो तप करे। शिव से भूल हुई हो तो उन्होंने तप किया। विश्वामित्र तो तप की मूर्ति ही थे। राम जव वन गये तो भरत ने योगारूढ़ होकर घोर तपश्चर्या की और शरीर को क्षीण कर दिया।

ईश्वर (तप के अतिरिक्त) अन्य प्रकार से मनुष्य की कसौटी कर ही नहीं सकता। यदि आत्मा देह से भिन्न है, तो देह को कष्ट देते हुए भी वह प्रसन्न रहती है। अन्न शरीर की खूराक है; ज्ञान और चिन्तन आत्मा की, यह वात प्रसंगोपात्त हर व्यक्ति को अपने लिए सिद्ध करनी पड़ती है।

परन्तु यदि तप आदि के साथ श्रद्धा, भक्ति, नम्रता न हो तो वह एक मिथ्या कष्ट है। वह दंभ भी हो सकता है। ऐसे तपस्वी से तो सरल हृदय भजन करने वाले ईश्वरभक्त हज़ार गुना श्रेष्ठ हैं।

अपने तप की व्यथा लिखने योग्य शक्ति आज मुझमें नहीं है। पर इतना कह देता हूं कि इस तप के विना मेरा जीना असम्भव था।
— दिल्ली आश्विन सुदी ११ वुधवार। न० जी०। हि० न० जी० १२।१०।१९२४]

- हिन्दू धर्म में तप कदम-कदम पर है।
- अन्न शरीर की खुराक है; ज्ञान और चिन्तन आत्मा की।
- यदि तप के साथ श्रद्धा, भक्ति, नम्रता न हो तो वह एक मिथ्या कष्ट है। वह दंभ भी हो सकता है।

३३. वलिदान, त्याग और यज्ञ

वलिदान का मर्म समझने की जरूरत है। यज्ञ करनेवाला मनुष्य दूसरे की दया का भूखा नहीं होता। उसकी स्थिति दयाजनक नहीं; वह तो स्तुत्य है। जो अनिच्छा या विषादपूर्वक किया जाता है, वह यज्ञ नहीं है; वलिदान के साथ

तो उल्लास, हर्ष और उत्साह होता है। बलिदान करनेवाला इच्छा करता है कि उसे अधिक त्याग की सामर्थ्य प्राप्त हो। वह त्याग से दुखी नहीं होता, क्योंकि उसके लिए त्याग में सुख है। उसे विश्वास होता है कि यद्यपि आज यह (त्याग) कष्ट-दायक दीखता है, तथापि अन्त में तो वह सुखदायी ही सिद्ध होगा।...जो अपनी गन्दगी दूर करता है, वह शुद्ध होता है। त्याज्य वस्तु का त्याग करना मानों सिर का बोझ हलका होना है।...मीराबाई राजभोग का त्याग कर नाचती थीं; राजभोग पर रोती थीं। हमारी दृष्टि में वह भारी बलिदान था। मीराबाई के लिए वह त्याग और भोग था। सुधन्वा उबलते हुए तेल के कड़ाह में भी नाचता हुआ नारायण का नाम लेता था, इसीलिए गुजराती कवि प्रीतम ने कहा है कि जो लोग किनारे पर खड़े हैं, उनका हृदय तो काँप रहा है. परन्तु जो मझधार में कूद पड़े हैं, वे बड़ा सुख मानते हैं। इसी कारण निष्कुलानन्द ने भी कहा है कि त्याग बिना वैराग्य के नहीं टिकता। जबतक किसी वस्तु के विषय में राग रहता है, तबतक उसका वास्तविक त्याग सम्भव नहीं। उड़ीसा के क्षुधा-पीड़ा से मरणासन्न कंगाल निराहारी त्यागी नहीं हैं। वे तो ज़बर्दस्ती भूखे रहे हैं। उनका राग तो ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। वे तो चौबीसों घण्टे भोजन करते हैं, क्योंकि उनकी नीयत भोजन में ही लगी रहती है।...जहां मन है, वहीं यदि शरीर है तो शरीरधारी का उद्धार सम्भव है, परन्तु जो शरीर और मन को अलग-अलग जगह रखता है, वह अपने को, संसार को और ईश्वर को धोखा देता है।

—न० जी०। हि० न० जी०, २३।११।१९२४]

- यज्ञ करनेवाला मनुष्य दूसरे की दया का भूखा नहीं होता।
- जो अनिच्छा या विषादपूर्वक किया जाता है, वह यज्ञ नहीं है।
- बलिदान के साथ तो उल्लास, हर्ष और उत्साह होता है।
- जबतक किसी वस्तु के विषय में राग रहता है, तबतक उसका वास्त-विक त्याग सम्भव नहीं।

३४. मेरा धर्म

मैं हिन्दू हूँ और चाहता हूँ कि गीता का एक श्लोक पढ़ते-पढ़ते मर जाऊँ और मोक्ष प्राप्त करूँ। मैं स्वर्ग नहीं चाहता, न विमान चाहता हूँ। पृथिवी पर चलने में भी अभिमान होता है। विमान पर चढ़ने से जाने कितना अभिमान होगा। मैं तुलसी और रामचन्द्र का भक्त हूँ और शुद्ध सनातनी होने का दावा करता हूँ।

—रावलपिण्डी, १०।१२।१९२४। न० जी०। हि० न० जी०, २१।१२।१९२४]

३५. धर्म-सेवी

जो हिन्दू अन्त्यज की सेवा करेगा वह हिन्दू धर्म का तारक होगा और अछूत भाई-बहिनों के हृदय का सम्राट बनेगा।
— हि० न० जी०, ८।१।१९२५]

३६. श्रद्धा

जब मैं जेल में था, मौलाना हसरत मोहानी ने एक पुस्तक मुझे दी थी। मैंने उसमें से एक शागिर्द की कहानी पढ़ी थी, जिसने हुक्का भरने-जैसे क्षुद्र काम को भी दस-बीस नहीं पचासों बार श्रद्धा से किया और उससे उसको लाभ हुआ।...इस श्रद्धा से काम करना होगा। काशी विश्वनाथ की भव्य मूर्ति मौलाना हसरत मोहानी के निकट एक पत्थर का टुकड़ा हो पर मेरे लिए तो वह ईश्वर की प्रतिमा है। मेरा हृदय उसका दर्शन करके द्रवित होता है। यह श्रद्धा की बात है। जब मैं गाय का दर्शन करता हूँ तब मुझे किसी भक्ष्य पशु का दर्शन नहीं होता; उसमें मुझे एक करुण काव्य दिखाई देता है। उसकी पूजा करूँगा और फिर करूँगा और यदि सारा जगत् मेरे खिलाफ उठ खड़ा हो तो उसका मुकाबला करूँगा। ईश्वर एक है। पर वह मुझे पत्थर की पूजा करने की श्रद्धा प्रदान करता है। वही मुझे पशु में, मेरे समक्ष की प्रत्येक वस्तु में, अंग्रेजों में, अधिक क्या देशद्रोही तक में अपने को —ईश्वर को —देखने की शक्ति देता है।...
— हि० न० जी०, ८।१।१९२५]

- जब मैं गाय का दर्शन करता हूँ तब मुझे किसी भक्ष्य पशु का दर्शन नहीं होता: उसमें मुझे एक करुण काव्य दिखाई देता है।
- ईश्वर एक है। पर वह मुझे पत्थर की पूजा करने की श्रद्धा प्रदान करता है।

३७. धर्म की शक्ति संख्या नहीं, गुण

किसी भी धर्म का आधार इसके अनुयायियों की संख्या पर अवलम्बित नहीं रहता। इस विचार से बढ़कर कोई पाखण्ड नहीं कि धर्म-बल का आधार संख्या है। यदि एक भी व्यक्ति सच्चा हिन्दू रहे तो हिन्दू धर्म का नाश नहीं हो सकता, पर

यदि करोड़ों हिन्दू पाखण्डी बनकर रहें तो इनसे हिन्दू धर्म सुरक्षित नहीं; उसका विनाश ही निश्चित समझिए।
—हि० न० जी०, १९।२।१९२५]

३८. गोरक्षा का अर्थ

गाय की रक्षा का अर्थ केवल गौ नामक पशु की रक्षा नहीं, बल्कि जीवमात्र की, प्राणिमात्र की रक्षा है। प्राणिमात्र में मनुष्य तो आ ही जाते हैं इसलिए गाय की रक्षा हेतु मुसलमानों या अंग्रेजों को मारना अधर्म है।
—न० जी०। हि० न० जी, ७।५।१९२५]

३९. वर्ण और जाति

वर्ण तो चार ही हैं, जाति चार हो या चालीस हज़ार। छोटी-छोटी जातियों का समागम स्वागत-योग्य है। छोटी जातियों से हिन्दू-धर्म को बड़ी हानि उठानी पड़ी है। जो वैश्य है, वह सारे हिन्दुस्तान की वैश्य जाति में कहीं भी सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न क्यों न करे? ब्राह्मणों में गुजरात के ब्राह्मण अपने लिए वर-कन्या क्यों न ढूंढ़ें? यदि इतना सुधार करने का भी साहस नहीं है, तो हिन्दू धर्म के अत्यन्त संकुचित हो जाने का भय है।...यदि वर्ण की रक्षा करनेवाले छोटी-छोटी जातियों की रक्षा करने का भी प्रयत्न करेंगे, तो छोटी जातियाँ गई ही हैं; उनके साथ सम्भव है कि वे वर्ण को भी खो बैठेंगे।...
—न० जी०। हि० न० जी०, १५।१०।१९२५]

४०. मन्दिर

मन्दिर के अस्तित्व को मैं पाप या अन्धविश्वास नहीं मानता। समान उपासना का कोई स्वरूप और उपासना का कोई सामान्य स्थान मनुष्य के लिए आवश्यक है। मन्दिरों में मूर्तियाँ होनी चाहिएं या नहीं, इसका आधार मनुष्य के स्वभाव और रुचि पर है। मैं हिन्दू मन्दिर को या रोमन कैथलिक चर्च को केवल इसीलिए आवश्यक रूप में बुरा या अन्धविश्वास का धाम नहीं मानता कि वहाँ मूर्तियाँ होती हैं, और न किसी मस्जिद या प्रोटेस्टेण्ट चर्च को इसलिए अच्छा या अन्धविश्वास से मुक्त समझता हूँ कि वहाँ मूर्तियाँ नहीं रखी गई हैं।

क्रास या पुस्तक-जैसा प्रतीक आसानी से मूर्ति का रूप ले सकता है। दूसरी ओर वालकृष्ण या कुमारी मेरी की मूर्ति की पूजा मनुष्य को ऊँचा उठानेवाली और सारे अन्धविश्वास से मुक्त हो सकती है। यह सब पूजा और उपासना करनेवाले भक्त के हृदय की वृत्ति पर निर्भर करता है।
—यं० इं०, ५।११।१९२५]

४१. तीन प्रश्न

एक महाशय ने बड़े ही विनम्र भाव से तीन प्रश्न पूछे हैं। उन्होंने प्रश्नों के साथ अपने उत्तर भी लिखे हैं लेकिन स्थानाभाव से मैं उन्हें यहाँ नहीं दे रहा हूँ। प्रश्न इस प्रकार हैं और उन्हीं के शब्दों में दिये गये हैं:—

"(१) आप वर्ण-भेद जन्मजात मानते हैं। किन्तु किसी आदमी को कोई भी कर्म करने में हर्ज नहीं तया किसी भी आदमी में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि द्विजों के गुण आ सकते हैं यह भी आपकी मान्यता है। ऐसी हालत में वर्ण या उपाधि की क्या जरूरत है? सिर्फ जन्म से नाम का आरोपण क्यों? जन्म को इतना महत्व क्यों?

(२) आप अद्वैततत्व मानते हैं और यह भी कहते हैं कि सृष्टि अनादि, अनन्त तया सत्य है। अद्वैततत्व सृष्टि के अस्तित्व का इन्कार करता है। आप द्वैती भी नहीं, क्योंकि आप जीवात्मा के स्वतन्त्र कर्तृत्व पर श्रद्धा रखते हैं। इसलिए आपको अनेकान्तवादी या स्याद्वादी कहना क्यों ठीक नहीं है?

(३) आपने कई वार लिखा है कि ईश्वर का अर्थ देहविरहित, वीतरागी, स्वतन्त्र और उपाधिरहित शुद्धात्मा है। अर्थात् ईश्वर ने सृष्टि नहीं पैदा की और वह पापपुण्य का हिसाव नहीं देने वैठता। तो भी आप ईश्वरेच्छा की वात वार-वार करते ही रहते हैं। उपाधिरहित ईश्वर को इच्छा कैसे हो सकती है और उसकी इच्छा के अधीन आप कैसे हो सकते हैं? आपकी आत्मा जो कुछ करना चाहती, कर सकती है। यदि एकदम न (कर) सकती हो तो उसी आत्मा का पूर्वसंचित कर्म ही उसका कारण है, न कि ईश्वर। आप सत्याग्रही होने के कारण सिर्फ मूढ़ात्माओं को समझाने के लिए यह असत्य वात नहीं कहते होंगे। तो फिर यह ईश्वरेच्छा का दैववाद क्यों?"

(१) वर्णभेद को मानने में मैं सृष्टि के नियमों का समर्थन करता हूँ। माता-पिता के कुछ गुण-दोषों को हमलोग जन्म से ही प्राप्त करते हैं। मनुष्य योनि में मनप्य ही पैदा होते हैं और यही जन्मानुसार वर्णो का सूचक है। और

जन्म से प्राप्त गुण-दोषों में हम लोग अमुक अंशों में परिवर्तन कर सकते हैं, इसलिए कर्म को भी स्थान है। एक ही जन्म में पूर्व-जन्म के फलों को सर्वथा मिटा देना शक्य नहीं है। इस अनुभव की दृष्टि से तो जो जन्म से ब्राह्मण है उसे ब्राह्मण मानने में ही सब प्रकार का लाभ है। विपरीत कर्म करने से ब्राह्मण यदि इसी जन्म में शूद्र बने तो भी संसार उसे ब्राह्मण ही माना करे तो उससे संसार को कोई हानि न होगी। यह सच है कि आज वर्णभेद का उल्टा अर्थ हो रहा है और इसलिए यह भी सच है कि वह छिन्नभिन्न हो गया है। फिर भी जिस नियम का मैं पग-पग पर अनुभव करता हूँ उससे कैसे इन्कार कर सकता हूँ ? मैं समझता हूँ कि यदि मैं उससे इन्कार करूँ तो बहुत-सी मुश्किलों से बच जाऊँगा। लेकिन यह दुर्बुद्धि का मार्ग है। मैंने तो यह स्पष्ट पुकारकर कहा है कि वर्ण की स्वीकृति-द्वारा मैं ऊँच-नीच के भेद को स्वीकार नहीं करता। जो सच्चा ब्राह्मण है वह तो सेवक का भी सेवक बनकर रहता है। ब्राह्मण में भी क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण रहते हैं। केवल उसमें ब्राह्मण गुण दूसरे गुणों की अपेक्षा अधिक होना चाहिए। लेकिन आज तो वर्ण भी चाक पर चढ़ा हुआ है और उसमें से क्या निकलेगा यह तो ईश्वर ही या ब्राह्मण ही जान सकते हैं।

(२) यह सच है कि मैं अपने को अद्वैतवादी मानता हूँ लेकिन मैं द्वैतवाद का भी समर्थन कर सकता हूँ। सृष्टि में प्रतिक्षण परिवर्तन होता है इसीलिए सृष्टि असत्य—अस्तित्वरहित—कही जाती है। लेकिन परिवर्तन होने पर भी उसका एक रूप ऐसा है, जिसे स्वरूप कह सकते हैं; उस रूप से वह है, यह भी हम लोग देख सकते हैं इसलिए वह सत्य भी है। उसे सत्यासत्य कहें तो भी मुझे कोई आपत्ति नहीं है। इसलिए यदि मुझे अनेकान्तवादी या स्याद्वादी माना जाय तो भी इसमें मेरी कोई हानि न होगी। जिस प्रकार मैं स्याद्वाद को जानता हूँ उसी प्रकार मैं उसे मानता हूँ, पंडित लोग जैसा मानना चाहें वैसा शायद नहीं मानता। वे मुझे वाद-विवाद करने के लिए बुलायें तो मैं हार जाऊँगा। मैंने अपने अनुभव से यह देखा है कि मैं अपनी दृष्टि में हमेशा ही सच्चा होता हूँ और मेरे प्रामाणिक टीकाकार की दृष्टि में मैं बहुत-सी बातों में भी गलती पर होता हूँ। मैं यह जानता हूँ कि अपनी-अपनी दृष्टि में हम दोनों ही सच्चे हैं। और इस ज्ञान के कारण मैं किसी को भी सहसा झूठा, कपटी इत्यादि नहीं मान सकता। सात अन्धों ने हाथी का सात प्रकार से वर्णन किया था और वे सब अपनी-अपनी दृष्टि में सच्चे थे; आपस में एक-दूसरे की दृष्टि में गलत थे और ज्ञानी की दृष्टि में सच्चे भी थे और गलत भी थे। मुझे यह अनेकान्तवाद बड़ा ही प्रिय है। उसमें से ही मैंने मुसलमान की दृष्टि से मुसलमान की और ईसाई की दृष्टि से ईसाई की परीक्षा

करना सीखा है। मेरे विचारों को जब कोई गलत समझता था तो पहिले मुझे उस पर बड़ा क्रोध होता था लेकिन अब मैं उसकी आंखों से उसका दृष्टि विन्दु भी देख सकता हूँ इसलिए मैं उस पर भी प्रेम कर सकता हूँ क्योंकि मैं संसार के प्रेम का भूखा हूँ। अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है।

(३) ईश्वर के जिस रूप को मैं मानता हूँ उसी का मैं वर्णन करता हूँ। झूठ-मूठ लोगों को समझाकर मैं अपना अध:पतन किसलिए होने दूँ ? मुझे उनसे कौन सा ईनाम लेना है ? मैं तो ईश्वर को कर्ता-अकर्त्ता मानता हूँ ; उसका भी मेरे स्याद्वाद से उद्भव होता है। जैनों के स्थान पर वैठ कर उसका अकर्तृत्व सिद्ध करता हूँ और रामानुज के स्थान पर वैठ कर उसका कर्तृत्व सिद्ध करता हूँ। हम सव अचिन्त्य का चिन्तन करते हैं; अवर्णनीय का वर्णन करते हैं और अज्ञेय को जानना चाहते हैं इसलिए हमारी भाषा तुतलाती है, अपूर्ण है और कभी-कभी तो वक्र भी होती है। इसीलिए तो ब्रह्म के लिए वेदों ने अलौकिक शब्दों की रचना की और उसका नेति के विशेषण से परिचय दिया। लेकिन यद्यपि वह यह नहीं है, फिर भी वह है। अस्ति सत्, सत्य ०, १, ११. . .यह कह सकते हैं। हम लोग हैं, हमें पैदा करनेवाले माता-पिता हैं और उनके भी पैदा करने वाले हैं. . .इसलिए सवको पैदा करनेवाला भी एक है, यह मानने में कोई पाप नहीं है लेकिन पुण्य है। यह मानना धर्म है। यदि वह नहीं है तो हम भी नहीं हो सकते हैं। इसीलिए हम सव उसे एक स्वर से परमात्मा, ईश्वर, शिव, विष्णु, राम, अल्लाह, खुदा, दादा होरमज, जिहोवा, गाड इत्यादि अनेक और अनन्त नामों से पुकारते हैं। वह एक है; अनेक है; अणु से भी छोटा और हिमालय से भी वड़ा है। वह समुद्र के एक विन्दु में भी समा सकता है और ऐसा भारी है कि सात समुद्र मिल कर भी उसे सहन नहीं कर सकते। उसे जानने के लिए वुद्धिवाद का उपयोग ही क्या हो सकता है ? वह तो वुद्धि से अतीत है। ईश्वर के अस्तित्व को मानने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है। मेरी वुद्धि अनेक तर्क-वितर्क कर सकती है। वड़े भारी नास्तिक के साथ विवाद करने में मैं हार सकता हूँ, फिर भी मेरी श्रद्धा वुद्धि से भी इतनी अधिक आगे दौड़ती है कि मैं समस्त संसार का विरोध होने पर भी यही कहूँगा कि ईश्वर है; वह अवश्य है।

लेकिन जिसे ईश्वर का इन्कार करना है उसे उसका इन्कार करने का भी अधिकार है। क्योंकि वह तो वड़ा दयालु है; रहीम है; रहमान है। वह मिट्टी का वना हुआ कोई राजा नहीं है कि उसे अपनी दुहाई कुवूल कराने के लिए सिपाही रखने पड़ें। वह तो हम लोगों को स्वतन्त्रता देता है फिर भी केवल अपनी दया के वल से हम लोगों को नमन करने के लिए विवश करता है। लेकिन हम लोगों

में से यदि कोई मनन न भी करे तो भी वह कहता है—खुशी से न करो, मेरा सूर्य तो तुम्हारे लिए भी रोशनी देगा, मेरा मेघ तो तुम्हारे लिए भी पानी बरसायेगा। अपना अधिकार चलाने के लिए मुझे तुम पर जबर्दस्ती करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो नादान है वह भले ही उसे न माने लेकिन मैं करोड़ों बुद्धिमानों में से एक हूँ, इसलिए उसको प्रणाम करने से कभी नहीं थकता।

—न० जी०। हि० न० जी०। २१।१।१९२६]

- आज वर्ण-भेद का उल्टा अर्थ हो रहा है. . .इसलिए वह छिन्न-भिन्न हो गया है।
- वर्ण की स्वीकृति-द्वारा मैं ऊँच-नीच के भेद को स्वीकार नहीं करता।
- जो सच्चा ब्राह्मण है वह तो सेवक का भी सेवक बनकर रहता है।
- मुझे. . .अनेकान्तवाद बड़ा प्रिय है।
- अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है।
- मैं ईश्वर को कर्ता-अकर्ता मानता हूँ।
- हम सब अचिन्त्य का चिन्तन करते हैं; अवर्णनीय का वर्णन करते हैं और अज्ञेय को जानना चाहते हैं।
- वह (ईश्वर) एक है; अनेक है; अणु से भी छोटा और हिमालय से भी बड़ा है।
- ईश्वर है; वह अवश्य है।
- वह (ईश्वर) बड़ा दयालु है, रहीम है, रहमान है।

४२. धर्म-सम्बन्धी कुछ प्रश्न

एक भाई ने धर्म-सम्बन्धी कुछ प्रश्न पूछे हैं। ऐसे प्रश्न अनेक बार पूछे जाते हैं। इनका उत्तर देने में हमेशा थोड़ा-बहुत संकोच बना रहता है। परन्तु (मैंने)ऐसे प्रश्नों पर विचार किया है, निर्णय किया, फिर है, भी उनका उत्तर न देना उचित नहीं मालूम देता। इसलिए निम्नलिखित प्रश्नों का यथामति उत्तर देता हूँ।

"प्राचीन समय में होने वाले यज्ञों के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं? इससे वायु-शुद्धि होती है या नहीं? आज ऐसे यज्ञों के लिए स्थान है? कुछ संस्थाएँ ऐसे यज्ञों का पुनरुद्धार करती हैं; इससे क्या लाभ होगा?"

यज्ञ शब्द सुन्दर है, शक्तिमान् है। जैसे-जैसे ज्ञान और अनुभव की वृद्धि होती है अथवा युग बदलता है वैसे ही उसके अर्थ का भी विस्तार हो सकता है

और वह वदल भी सकता है। यज्ञ का अर्थ पूजन, वलिदान, परमार्थिक कर्म हो सकता है। इस अर्थ में यज्ञ का हमेशा पुनरुद्धार होना ही उचित है। परन्तु शास्त्रों में यज्ञ के नाम से जो विभिन्न क्रियाएँ वर्णित की गई हैं उनका पुनरुद्धार इष्ट या सम्भव नहीं। कुछ क्रियाएं तो हानिकारक भी हैं। उन क्रियाओं का आज जो अर्थ किया जाता है, वह अर्थ वैदिक काल में रहा होगा या नहीं, इस विपय में भी सन्देह वना रहता है। सन्देह को स्थान हो या न हो परन्तु उसकी वहुत-सी क्रियाएं ऐसी हैं कि उनको आज हमारी वुद्धि या नीति स्वीकार नहीं कर सकती। शास्त्रज्ञ लोग कहते हैं कि पहिले नरमेध होता था। क्या आज वह हो सकता है? यदि कोई अश्वमेव करने वैठे, तो यह क्रिया हास्यजनक ही मालूम होगी। यज्ञ से हवा की शुद्धि होती है या नहीं, इस विचार के झमेले में पड़ना अनावश्यक है, क्योंकि वायु-शुद्धि-जैसा तुच्छ फल प्राप्त होगा या नहीं, यह विचार वार्मिक क्रिया के सम्वन्व में नहीं किया जा सकता। हवा की शुद्धि के लिए आज भौतिक-शास्त्र का आधुनिक ज्ञान हमारी वहुत सहायता कर सकता है। शास्त्र के सिद्धान्त भिन्न हैं और उन सिद्धान्तों पर रचित क्रियाएँ अलग चीज़ हैं। सिद्धान्त हर समय, हर जगह एक ही होता है। क्रियाएँ समय-समय पर स्थान-विशेष के अनुरूप वदलती रहती हैं।

"हम लोगों में साधारणतया यह वात कही जाती है कि मानव-जन्म वार-वार नहीं मिलता, इसलिए ईश्वर का भजन करो। यह मनुष्य-जन्म चूकोगे तो फिर चौरासी लाख योनियों में भटकना होगा। इसमें सत्य क्या है? कवीर भी एक भजन में कहते हैं—"कहे कवीर चेत अजहूं नहिं, फिर चौरासी जाई, पाय जनम शूकर कूकर को भोगेगा दुख भाई।" इसमें ग्रहण करने योग्य रहस्य क्या है?"

मैं इसे अक्षरशः मानता हूँ। अनेक योनियों में भ्रमण करने के वाद ही मनुष्य जन्म मिल सकता है और मोक्ष अथवा द्वन्द्वादि से मुक्ति भी मनुष्य-देह के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। यदि अन्त में आत्मा एक ही है तो उसके अनेक आत्मारूप से असंख्य योनियों में भ्रमण करना असम्भव या आश्चर्यजनक प्रतीत नहीं होना चाहिए। इसे वुद्धि भी स्वीकार करती है और कुछ लोग तो अपने पूर्व-जन्म का स्मरण भी कर सकते हैं।

"प्राणायाम से समाधि तक पहुँचनेवाला योगी और इन्द्रिय-संयमी इन दो मनुष्यों में कौन अपनी आत्मा का अधिक कल्याण करता होगा?"

इस प्रश्न में संयम और योग के विरोधी होने की कल्पना की गई है। लेकिन सच वात तो यह है कि पहिला दूसरे का कारण है अथवा पहिला दूसरे का सहायक है। संयम के विना समाधि कुम्भकर्ण की निद्रा हो जाती है। समाधि के विना

संयम होना कठिन है। यहाँ समाधि का व्यापक अर्थ लेना चाहिए, हठयोगी की समाधि नहीं। यह नहीं कि हठयोगी की समाधि इन्द्रिय-संयम के लिए आवश्यक है। यह समाधि भले ही सहायक हो सकती है, परन्तु अभी तो सामान्य समाधि ही इष्ट है। सामान्य समाधि का अर्थ है निश्चित की हुई वस्तु के लिए तन्मय हो जाने की शक्ति। स्मरण रखना चाहिए कि इन्द्रिय-संयम विना योग की साधना निरर्थक है।

"स्वाश्रयी मनुष्य स्वयं खेती करके अपने लिए अनाज पैदा करे; खेती के लिए आवश्यक औजार. हल आदि भी स्वयं बनाये; बढ़ई का काम भी खुद करे; कपड़े भी खुद ही बनाये; रहने के लिए मकान भी स्वयं बनाये—अर्थात् अपने लिए जिन चीजों की आवश्यकता हो, वह स्वयं बना ले; अपनी आवश्यकता के लिए दूसरे को न रखे। यदि स्वाश्रयी ऐसा करे तो, यह उचित कहा जायगा या अनुचित? आपने स्वाश्रयी की क्या व्याख्या की है?"

स्वाश्रय का अर्थ है किसी की सहायता विना सीधे खड़े रहने की शक्ति। इसका मतलब यह नहीं कि स्वाश्रयी दूसरों की सहायता के सम्बन्ध में लापरवाह हो जाय; उसका त्याग करे अथवा दूसरों की मदद न चाहे; न माँगे। परन्तु यदि दूसरों की मदद चाहने और माँगने पर भी न मिल सके तो भी जो मनुष्य स्वस्थ रह सकता है, स्वमान की रक्षा कर सकता है, वह स्वाश्रयी है। जो किसान दूसरे की सहायता उपलब्ध होने पर भी स्वयं ही हल जोते, अनाज बोये, फस्ल काटे; खेती के औजार तैयार करे; अपने वस्त्र स्वयं ही काते, बुने या सिले; अपने लिए अनाज भी स्वयं तैयार करे और घर भी खुद बनाये—वह बेवकूफ़, अभिमानी या जंगली होगा। स्वाश्रय में शरीर-यज्ञ तो आ ही जाता है—अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को अपनी आजीविका के लिए आवश्यक शारीरिक श्रम करना चाहिए। इसलिए जो मनुष्य आठ घण्टे खेती का काम करता है उसे जुलाहा, बढ़ई, लुहार आदि कारीगरों की मदद लेने का अधिकार है। उसका धर्म उनसे मदद लेना है और उसे वह सहज ही मिल सकती है। बढ़ई, लुहार आदि कारीगर-वर्ग किसान की मेहनत लेकर उससे अन्नादि प्राप्त कर सकते हैं। जो आँख हाथ की सहायता विना काम चला लेने का इरादा रखती है, वह स्वाश्रयी नहीं, अभिमानी है। जिस प्रकार हमारे शरीर में अवयव अपने कार्य के सम्बन्ध में स्वाश्रयी हैं, फिर भी एक दूसरे की सहायता करने में परोपकारी हैं और इस तरह परस्पर-सहायता लेने के कारण परावलम्बी हैं, उसी प्रकार हिन्दुस्तान रूपी शरीर के हम लोग तीस कोटि अवयव हैं। सबको अपने-अपने क्षेत्र में स्वाश्रयी बनने का धर्म पालन करना चाहिए और स्वयं को राष्ट्र का अंग सिद्ध करने के लिए एक दूसरे के साथ सहायता का विनिमय भी करना चाहिए।...

"आजकल लग्न की क्रिया, सन्ध्या, यज्ञ की क्रिया, ईश-प्रार्थना आदि क्रियाएँ संस्कृत मन्त्रों से कराई जाती हैं। करानेवाला मन्त्र बोलता है। और करनेवाला उसका रहस्य समझे बिना उसमें सम्मिलित होता है। अब संस्कृत मातृभाषा नहीं रही। बहुत-से पण्डित लोगों को ईश-प्रार्थना, सन्ध्या, यज्ञ आदि संस्कृत मन्त्रों से ही करने को कहते हैं। लोगों को उस भाषा का ज्ञान नहीं होता फिर वे उसमें एकचित्त कैसे हो सकते हैं? संस्कृत बड़ी कठिन भाषा है। इसलिए मैं मानता हूँ कि उसके मन्त्रों को रटने में और फिर उसके अर्थों को याद करने में दुगनी मेहनत होती है। जिस समय संस्कृत मातृभाषा थी, उन दिनों जन-समाज का समस्त कामकाज उसी के द्वारा चलता था और यह उचित ही था। परन्तु अब वैसी स्थिति नहीं है। हर एक व्यक्ति अपनी क्रियाएँ अपनी मातृभाषा के द्वारा ही करे, यह लाभप्रद होगा, लेकिन अभी तो उल्टा ही काम हो रहा है। जन-समाज में उपर्युक्त सब कर्म संस्कृत में ही कराये जाते हैं।"

मेरा अभिप्राय यह है कि सभी हिन्दू धार्मिक क्रियाओं में संस्कृत होनी ही चाहिए। अनुवाद कितना ही अच्छा क्यों न हो फिर भी मूल शब्दों की ध्वनि में जो रहस्य होता है, वह उसमें नहीं मिलता। हज़ारों वर्ष हुए, जो भाषा संस्कारी बनी है और जिसमें अमुक मन्त्र बोले जाते हैं, उनको प्राकृत में ले आने में और उतने से ही सन्तोष मान लेने में उसका गाम्भीर्य कम हो जाता है। मेरे मन में इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि जो मन्त्र जिसके लिए बोले जाते हैं और जो क्रिया होती है उनका अर्थ उसे उसकी भाषा में अवश्य ही समझाना चाहिए। लेकिन मेरा अभिप्राय यह है कि किसी भी हिन्दू की शिक्षा तबतक अपूर्ण ही रहती है, जबतक उसे संस्कृत भाषा के मूल तत्वों का ज्ञान नहीं कराया जाता। मैं बहुत बड़े परिमाण में संस्कृत-ज्ञान के बिना हिन्दू धर्म के अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकता। हम लोगों ने अपने शिक्षाक्रम के कारण ही भाषा को कठिन बना दिया है। वह वस्तुतः कठिन नहीं है। यदि कठिन भी हो तो धर्म का पालन तो उससे भी अधिक कठिन है। इसलिए जिन्हें धर्म का पालन करना है, उन्हें उसका पालन करने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता हो, वे कठिन हों तो भी उन्हें वे सरल ही मालूम होने चाहिए।

—न० जी०। हि० न० जी०, ८।४।१९२६]

- यज्ञ शब्द सुन्दर है, शक्तिमान है।
- यज्ञ का अर्थ पूजन, बलिदान, परमार्थिक वर्ग हो सकता है।
- सिद्धान्त हर समय, हर जगह एक ही होता है।

- संयम के विना समाधि कुम्भकर्ण की निद्रा हो जाती है।
- समाधि के विना संयम होना कठिन है।
- सामान्य समाधि का अर्थ है निश्चित की हुई वस्तु के लिए तन्मय हो जाने की शक्ति।
- स्वाश्रय का अर्थ है किसी की सहायता विना सीधे खड़े रहने की शक्ति।
- स्वाश्रय में शरीर यज्ञ...आ जाता है।
- सभी हिन्दू धार्मिक क्रियाओं में संस्कृत होनी ही चाहिए।
- मैं वहुत वड़े परिमाण में संस्कृत-ज्ञान के विना हिन्दू धर्म के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं कर सकता।

४३. श्राद्ध और सगर-आख्यान

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—श्राद्ध के सम्वन्ध में आपका क्या विचार है? क्या श्राद्ध करने से सद्गति होती है? मृत्यु हो जाने के वाद अस्थि किसी तीर्थ स्थान में ले जाते हैं। इसका क्या रहस्य है? राजा सगर के पुत्रों का उद्धार भगीरथ ने गंगाजल से किया था, इसका क्या रहस्य है? अजामिल अपने पुत्र का नाम रटते हुए मृत्यु को प्राप्त हुआ था, अर्थात् अपने पुत्र के प्रति ममत्व रखने पर भी वह केवल संयोग-वश पुत्र का नारायण नाम रखने (और उसका मृत्यु के समय उच्चारण करने) से मुक्त हुआ। क्या इस तरह मुक्त हुआ जा सकता है?

उत्तरः—मैं श्राद्ध के सम्वन्ध में उदासीन हूँ। उसकी कोई आध्यात्मिक उपयोगिता हो भी तो उसे मैं नहीं जानता। श्राद्ध से मृत मनुष्य की सद्गति होती है, यह भी मेरी समझ में नहीं आता। मृत देह की अस्थि ले जाकर गंगा जी में डालने से एक प्रकार के धार्मिक भावों में वृद्धि होती होगी, इसके अलावा कोई अन्य लाभ होता हो तो उसे मैं नहीं जानता।

मेरा अभिप्राय यह है कि राजा सगर की वात एक रूपक है; ऐतिहासिक नहीं। नारायण नाम के उच्चारण के सम्वन्ध में जो वात कही जाती है, वह केवल श्रद्धा वढ़ाने के लिए है। मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता कि उस मन्त्रोच्चार का अर्थ समझे विना ही जो मनुष्य अपने पुत्र का नाम होने के कारण मृत्यु के समय नारायण का उच्चार करता है, उसे भी मुक्ति मिल जाती है। लेकिन

जिसके हृदय में नारायण का वास है और जो इसलिए उस मन्त्र को रटता है, उसे मोक्ष अवश्य ही प्राप्त होता है।

—न० जी०। हि० न० जी०, १५।४।१९२६]

४४. मेरा हिन्दुत्व

मैं अपने को सनातनी हिन्दू इसलिए कहता हूँ कि मैं वेदों, उपनिषदों, पुराणों और पवित्र सुधारकों के लेखों में विश्वास रखता हूँ। इस विश्वास के लिए मुझे प्रत्येक वस्तु पर जो शास्त्र के नाम से अभिहित हो, आप्तवाक्य कह कर विश्वास करने की ज़रूरत नहीं है। जिन बातों से नीति के मूल सिद्धान्तों का विरोध होता है, मैं उन सभी का विरोध करता हूँ। मेरे लिए पण्डितों की सभी आज्ञाओं या उनके अर्थ में विश्वास करना आवश्यक नहीं है। इससे बड़ी बात यह है कि मैं अपने को सनातनी हिन्दू तभी तक कहता हूँ जब तक साधारण हिन्दू समाज मुझे इस रूप में स्वीकार करता है। स्थूल रूप से वह आदमी हिन्दू है जो ईश्वर में विश्वास करता है; आत्मा की अविनश्वरता, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और मोक्ष में विश्वास रखता है; अपने दैनिक जीवन में सत्य-अहिंसा का अभ्यास करने का प्रयत्न करता है और इसलिए अत्यन्त व्यापक अर्थ में गोरक्षा करता है; वर्णाश्रम धर्म को समझता है और उस पर चलने का प्रयत्न करता है।

—यं० इं०। हि० न० जी०, १४।१०।१९२६]

४५. गोरक्षा

...तर्क की दृष्टि से तो अगर कोई हिन्दू गाय की रक्षा करता है, तो उसे अन्य पशुओं की रक्षा भी करनी चाहिए। लेकिन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हम उसकी गोरक्षा पर केवल इसीलिए आपत्ति नहीं कर सकते कि वह अन्य पशुओं को नहीं बचाता। इसलिए केवल यही प्रश्न विचार के लिए रह जाता है कि गोरक्षा करके वह उचित करता है या अनुचित। अहिंसा में विश्वास करनेवाला गोरक्षा करने में तब ग़लत रास्ते पर नहीं है जब पशुओं को न मारना सामान्य रूप से कर्त्तव्य मान लिया जाय। इसलिए प्रत्येक धर्मारूढ़ हिन्दू..ऐसा करता है।

पशुओं को न मारना, सामान्य रूप से एक निर्विवाद बात मान ली जानी चाहिए। तब हिन्दू धर्म के लिए यह सराहनीय बात हो जायगी कि उसने गोरक्षा को कर्त्तव्य समझ कर हाथ में लिया है। गो तो उसका एक चिह्न -स्वरूप है और हिन्दू से आशा की जाती है कि वह कम-से-कम गो-रक्षा तो करेगा ही। लेकिन जैसा कि मैं अपने पिछले लेखों में बतला चुका हूँ, वह इस प्रारम्भिक कर्त्तव्य-पालन से भी च्युत हो रहा है।....

...जहाँ तक मुझे मालूम है यह हिन्दू धर्म का अंग नहीं कि गोरक्षा में विश्वास न रखने वालों को बलात् गोवध करने से रोका जाय।...

—यं० इं०। हिं० न० जी०, २।१२।१९२६]

४६. मेरी स्थिति

पर-धर्म का शुद्ध पक्ष लेने में मैं अपने धर्म की रक्षा ही करता हूँ। मैं हिन्दू धर्म का नाश नहीं चाहता। मैं नाश कर नहीं सकता क्योंकि मैं हिन्दू महासागर की केवल एक बूंद हूँ। मुसलमान मुझे काफिर कहें तो इससे क्या? उसका जवाब क्यों देना चाहिए? मेरा भांजा मेरे ही साथ रहता था। जब दूसरों को लगता था कि मैं उसके साथ पक्षपात कर रहा हूँ, उस समय मैंने और उसने भी समझा कि मैं उसके साथ न्याय नहीं करता था।.....मेरे तो चौबीस घण्टे श्रीकृष्ण भगवान को समर्पित हैं। वही मेरी रक्षा करते हैं और मैं दासानुदास श्रीकृष्ण, भगवान से सदा प्रार्थना करता हूँ, हे कृष्ण, मेरी ओर से जो उत्तर देना हो, जा, तूही दे आ।

—यं० इं०। हिं० न० जी०, ३।३।१९२७]

४७. वेद-वचन

.....वेद वचनों का जो अर्थ बुद्धि और हृदय को जँचनेवाला न हो, वह त्याज्य है।....बाह्याचार में धर्म का रहस्य निहित नहीं है, किन्तु यह प्रायः अन्तर की भावना प्रकट करता है।.....जहाँ आर्य-विद्या का अभ्यास चलता हो, वहाँ मैं प्राचीन आर्य ऋषियों की आर्य संस्कृति और सादगी देखने की आशा करता हूँ।......

—न० जी०। हिं० न० जी०, २५।८।१९२७]

४८. दीक्षा का अधिकार

[जावरा रियासत की गुलाब बाई नामक एक षोडशवर्षीया विवाहिता ने एक पत्रिका छपवाकर बटवाई थी। इससे ज्ञात होता था कि उक्त स्त्री के पति ने थोड़ी ही उम्र में घर त्याग कर दीक्षा लेने का निश्चय किया था, जो उस समय तक पूरा नहीं हो सका था। उक्त स्त्री और उसके पति के सम्बन्ध में पूछे जाने पर गांधी जी ने जो विचार व्यक्त किये, वे यहाँ संकलित किये जा रहे हैं।—सम्पा०]

मुझे आशा है कि इस युवक को कोई दीक्षा नहीं देगा; यही नहीं बल्कि यह स्वयं ही अपना धर्म समझेगा। छोटी अवस्था में बुद्ध या शंकराचार्य-जैसे दीक्षा लें, यह सम्भव है। किन्तु यदि हर एक जवान दीक्षा लेने लगे तो वह अपने धर्म को शोभा देने के बजाय उसे लजायेगा। आजकल ली जाने वाली दीक्षा में कायरता के सिवा कुछ दीख नहीं पड़ता और इसीलिए साधु लोग तेजस्वी होने के बदले हम लोगों-जैसे ही दीन और ज्ञान-हीन होते हैं। दीक्षा लेना पराक्रम का काम है। इसके पीछे पूर्वजन्म का प्रबल संस्कार या इस जन्म में अर्जित अनुभव-ज्ञान होना चाहिए। वृद्ध माता और तरुण पत्नी का तनिक भी विचार किये बिना, दीक्षा लेने-वाले को इतना वैराग्य होना चाहिए कि आस-पास का समाज उसे समझे बिना न रहे। ऐसी कोई सम्पत्ति इस युवक के पास देखने में नहीं आती।

दीक्षा लेने को उत्सुक जवान, इसका अधिक विस्तृत अर्थ क्यों नहीं कर सकता? अभी तो संसार-धर्म का पालन करने वाले भी बहुत कम देखने में आते है। घर में बैठ कर दीक्षा-प्राप्त जैसा जीवन बिताने में कम पराक्रम की आवश्यकता नहीं। असली कसौटी तो उसी में होती है। मैं बहुत-से दीक्षा लिये हुए व्यक्तियों को जानता हूँ। वे बेचारे सरलता से स्वीकार करते हैं कि उन्होंने न तो प्रमाद को जीता है, न पांच इन्द्रियों को। उन्होंने तो दीक्षा लेकर अपने खाने-पीने की और भी अधिक सुविधा कर ली है। सन्तोषपूर्वक पवित्र रह कर, सत्य का पालन करते हुए गृहस्थी चलाना, परस्त्री को माँ-बहिन जैसी जानना, अपनी स्त्री के साथ भी मर्यादा में रह कर ही भोग भोगना, शास्त्रादि का अभ्यास करना और यथाशक्ति देशसेवा करना—यह कोई साधारण दीक्षा नहीं है।' दीक्षा का अर्थ आत्मार्पण है। आत्म-समर्पण बाहरी आडम्बर से नहीं होता। यह मानसिक वस्तु है। और उसके साथ अनेक बाह्याचार आवश्यक हो जाते हैं। लेकिन वे तभी शोभा देंगे, जब वे आन्तरिक त्याग के बाह्य चिह्न मात्र हों। उसके बिना वे निर्जीव पदार्थ हैं।

—न० जी०। हि० न० जी०। १।९।१९२७]

- दीक्षा लेना पराक्रम का काम है।
- दीक्षा का अर्थ आत्म-समर्पण है।
- आत्म-समर्पण बाहरी आडम्बर से नहीं होता। यह मानसिक वस्तु है।

४९. प्रार्थना की विधि

[बंगलोर की प्रार्थना-सभा में किये गये प्रवचन से।—सम्पा०]

....मुझे तो आपके साथ प्रार्थना करने में आनन्द मिला है और उससे मेरी उन्नति हुई है। आप अब प्रार्थना करना न छोड़ें। संस्कृत श्लोक न जानते हों, भजन गाना न जानते हों, तो कोई चिन्ता की बात नहीं। हमारे प्राचीन ऋषियों ने हमारे लिए रामनाम का बड़ा सरल रास्ता दिखाया है।

मनुष्य-जीवन के दो विभाग हैं—एक व्यक्तिगत या स्वतन्त्र और दूसरा सामाजिक। मनुष्य के स्वतन्त्र जीवन-विभाग की स्वतन्त्र प्रार्थना भले ही चौबीस घण्टे चलती रहे किन्तु समाज के अंग की हैसियत से उसे सामुदायिक प्रार्थना भी करनी चाहिए।

इसलिए सुबह उठ कर और शाम को दिन की सारी प्रवृत्तियाँ पूरी होने पर सब लोग समाज में बैठकर प्रार्थना करें।

मेरा अनुभव तो यह है कि जब मैं अकेला होता हूँ, तब भगवान का नाम ले लिया करता हूँ, किन्तु जब कोई नहीं होता तब अच्छा नहीं लगता; एकाकीपन लगता है। आप लोग जो यहाँ आते हैं उन्हें मैं पहिचानता नहीं, फिर भी आप मेरे साथ प्रार्थना में सम्मिलित थे, इतना ही काफी है। आप मेरा समाज बन गये हैं। जब मैं यहाँ से जाऊँगा, तब मुझे अनेक प्रकार के दुःख होंगे। उनमें से एक दुःख प्रार्थना में सम्मिलित होनेवाले समाज का वियोग भी होगा।

.....यह प्रार्थना जारी रखें। यहाँ आकर इसी समाज में प्रार्थना करें, ऐसा नहीं किन्तु, आप अपना समाज अपने स्थान में तैयार कर लें। अधिक नहीं, तो आपके कुटुम्बी जन हैं ही, उन्हें ही समाज मान कर प्रार्थना करें, किन्तु इसे नहीं छोड़ें। प्रयत्न से भजन, गीता सीखेंगे तो अच्छा है। जितना अधिक हो उतना ही अच्छा होगा। आप कोई भी नाम लें और आत्मशुद्धि करें, यही मुख्य हेतु है।
—न० जी०। हि० न० जी०, १५।९।१९२७]

- ऋषियों ने हमारे लिए रामनाम का बड़ा सरल रास्ता दिखाया है।

५०. वर्णाश्रम धर्म : एक परिभाषा

....वर्णाश्रम धर्म में मेरा दृढ़ विश्वास है। वर्णाश्रम धर्म एक नियम है, जिसे हम-आप लाख इन्कार करने पर भी मिटा नहीं सकते। उस नियम को मानना, जीवन में जो एकमात्र काम करने को हम पैदा हुए हैं, उसे करने की स्वतन्त्रता पा लेना है। वर्णाश्रम धर्म नम्रता है। मैंने जब यह कहा कि सभी स्त्री-पुरुष समान हैं, तब मेरा मतलब यह नहीं था कि माता-पिता के गुण-दोष भी विरासत में नहीं मिलते। मेरा विश्वास है कि जिस प्रकार सबको एक विशेष प्रकार का शरीर मिलता है वैसे ही अपने माता-पिता के गुण-दोष भी मिलते हैं और इस बात को मानना अपनी शक्ति का संचय करना है। अगर कोई इस बात को स्पष्ट करके इसके अनुसार चले तो इससे उसकी भौतिक अभिलाषाओं पर लगाम लग जायगी और इस प्रकार आध्यात्मिक शोध और आध्यात्मिक विकास के लिए हमारी शक्तियाँ मुक्त हो जायँगी। मैंने सदैव वर्णाश्रम धर्म के इसी अर्थ को माना है। आप कह सकते हैं कि वर्णाश्रम का यह अर्थ आज नहीं समझा जाता। मैंने स्वयं अनेक बार कहा है कि आज जो वर्णाश्रम धर्म समझा और अमल किया जाता है वह असली वर्णाश्रम की अत्यन्त बुरी नकल है। इस तोड़-मरोड़ को दूर करने के लिए हमें असल को नहीं तोड़ देना चाहिए।....

—यं० इं०। हि० न० जी०, ६।१०।१९२७]

- **वर्णाश्रम धर्म एक नियम है, जिसे हम-आप लाख इन्कार करने पर भी मिटा नहीं सकते।**
- **वर्णाश्रम धर्म नम्रता है।**

५१. मेरा वर्णाश्रम धर्म

यह (वर्णाश्रम धर्म) तो सार्वदेशिक नियम है, जिसे हिन्दू धर्म में इतने शब्दों में कहा गया है। यह आध्यात्मिक अर्थशास्त्र का नियम है। पश्चिम के देशों और इस्लाम को अनजाने ही उसका पालन करना पड़ रहा है। इसमें बड़प्पन या छोटे-पन की कोई बात नहीं है। खान-पान और विवाह के रस्म वर्णाश्रम धर्म के आवश्यक अंग नहीं हैं। मेरे और आपके पूर्वज ऋषियों ने इसे ढूंढ़ा था। उन्होंने देखा कि अगर अपने जीवन का सबसे अच्छा भाग ईश्वर की सेवा में, संसार की सेवा में, लगाना है—अपनी सेवा में नहीं तो, उन्हें वंश-परम्परा का नियम मानना ही पड़ेगा। मनुष्य की शक्तियों को ऊंचे कामों में लगाने के लिए यह नियम बनाया गया है।.....मेरे वर्णाश्रम के अनुसार हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी जो भी

मुझे स्वच्छ भोजन दे सके, उसके साथ मैं खा सकता हूँ। मेरे वर्णाश्रम के अनुसार मेरे ही मकान में मेरी लड़की के तौर पर एक अन्त्यज बालिका के लिए जगह है। मेरे वर्णाश्रम में कई अछूत परिवारों को भी जगह है, जिनके साथ मैं खाना खाता हूँ—और उनके साथ खाना बड़ी बात है।

मेरा वर्णाश्रम संसार के बड़े-से-बड़े राजा के सामने सिर झुकाने से इन्कार करता है, लेकिन जहाँ मैं ज्ञान देखता हूं, पवित्रता पाता हूँ, जिस आदमी में ईश्वर के दर्शन होते हैं, वहाँ पर नम्रता से सिर झुकाने के लिए मेरा वर्णाश्रम मुझे विवश करता है......

— यं० इं०। हिं० न० जी० ६।१०।१९२७]

- यह (वर्णाश्रम धर्म) तो सार्वदेशिक नियम है।
- यह (वर्णाश्रम धर्म) आध्यात्मिक अर्थशास्त्र का नियम है।

५२. वर्ण और आश्रम

त्रिवेन्द्रम में दिये गये भाषण का अंश।—सम्पा०]

.....जहाँ तक मेरा हिन्दू धर्म से तनिक भी परिचय है, मेरी जानकारी में वर्ण का अर्थ अत्यन्त सहज है। इसका अर्थ है कि हम सब अपने वंश और परम्परागत काम को केवल जीविका के लिए ही, यदि वह नीति के मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध न हो तो, करें। अगर हम सभी धर्मों में बतलाये गये मनुष्य के लक्षण को मानें तो यह हमारे जीवन का नियम है। परमात्मा की समस्त सृष्टि में केवल मनुष्य ही ऐसा बनाया गया है कि उसे पहिचाने। इसलिए मानव-जीवन का उद्देश्य दिन-दिन अधिकाधिक धन जमा करना नहीं है बल्कि उसका प्रधान कार्य है दिनोदिन अपने सर्जनकर्ता के और भी निकट पहुँचना। और इसी परिभाषा से हमारे प्राचीन ऋषियों ने हमारे जीवन का यह नियम ढूंढ़ निकाला था। आप समझ सकेंगे कि अगर हम सब इस वर्ण-धर्म का पालन करें तो हमारी संसारिक अभिलाषाएं मर्यादित हो जायंगी। और हमारी शक्ति उस कार्य के लिए मुक्त हो जायगी, जिसके द्वारा हम परमात्मा की खोज कर सकते हैं। आप तत्काल देखेंगे कि आज हमारा ध्यान आकर्षित करनेवाले संसार में होने वाले कामों के, दस में से नौ हिस्सा का कोई अर्थ नहीं रहेगा। वे छूट जायंगे। तब आप कह सकेंगे कि आज जिस वर्ण-धर्म का हम पालन कर रहे हैं, वह मेरे बतलाये वर्णधर्म का अत्यन्त भ्रष्ट स्वरूप है। निस्सन्देह वह है, लेकिन जिस तरह असत्य को सत्य बन कर चलते देख हम सत्य से घृणा नहीं करने लगते, बल्कि असत्य में से सत्य को खोज निकालते हैं

और उस पर स्थिर रहते हैं, उसी तरह हम वर्ण-धर्म के नाम से प्रचलित उसके भ्रष्ट स्वरूप को नष्ट करके, हिन्दू समाज को इस बुरी स्थिति से शुद्ध कर सकते हैं।

मैंने आपको जो बतलाया है, उसमें आश्रम का धर्म जरूरी है। लेकिन आज अगर वर्ण-धर्म नष्ट हो गया है तो आश्रम-धर्म भी नष्ट हो गया है। आश्रम का अर्थ है मनुष्य-जीवन के चार विभाग।.....ब्रह्मचर्य आश्रम का नियम है कि दूसरे यानी गृहस्थाश्रम में वे प्रवेश कर सकते हैं, जिन्होंने कम से कम पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन किया हो। और चूँकि हिन्दू धर्म की सारी कल्पना ही मनुष्य को अच्छा बनाने की, उसे ईश्वर के निकट पहुँचाने की है, इसलिए ऋषियों ने गृहस्थाश्रम की भी एक मर्यादा बाँध दी और हम पर वानप्रस्थ और संन्यास का बन्धन रखा। लेकिन आज सारे हिन्दुस्तान में एक भी सच्चे ब्रह्मचारी, सच्चे गृहस्थ को खोज निकालना असम्भव है; वानप्रस्थ और संन्यासी की तो बात ही नहीं है। हम अपनी बुद्धिमत्ता में भले ही इस योजना पर हँस लें, लेकिन मुझे इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दू धर्म की सफलता का यही एक कारण है। हिन्दू सभ्यता के सामने ही मिश्र, असीरिया और बेबीलोनिया की सभ्यताएं मिट गईं। ईसाई सभ्यता तो अभी सिर्फ दो हजार वर्ष की है; इस्लामी सभ्यता अभी कल की है। दोनों महान हैं किन्तु मेरी नम्र सम्मति में, अभी बन ही रही हैं। ईसाई युरोप तनिक भी ईसाई नहीं है। वह अँधेरे में टटोल रहा है। मेरी राय में उसी तरह इस्लाम को अपने गुप्त रहस्य का पता नहीं चला है। आज इन तीनों धर्मों में एक प्रकार की बड़ी ही लाभदायक और साथ ही साथ हानिकारक होड़ चल रही है। ज्यों-ज्यों, साल पर साल बीतते जा रहे हैं, मेरा विश्वास बढ़ता जाता है कि वर्ण-धर्म ही मनुष्य का जीवन-धर्म है। यह ईसाई और इस्लाम धर्म के लिए भी उतना ही ज़रूरी है जितना कि हिन्दू धर्म के लिए, जिसकी रक्षा इसी से हुई है।

.....वर्णाश्रम और जाति में कोई मेल नहीं है। जाति ज़रूर ही हिन्दू धर्म पर एक बोझ है और जैसा कि मैंने बतलाया अस्पृश्यता वर्णाश्रम धर्म पर लगी हुई जंग है।....अगर मैं हिन्दू धर्म का ठीक अर्थ समझता हूँ तो सभी जीव समान हैं और एक हैं। इसलिए यह ब्राह्मणों की शेखी है कि वे अपने को अन्य तीनों वर्णों से ऊंचा मानते हैं।.....

—यं० इं०। हि० न० जी०, ३।११।१९२७]

- परमात्मा की समस्त सृष्टि में केवल मनुष्य ही ऐसा बनाया गया है कि उसे पहिचाने।
- ईसाई युरोप तनिक भी ईसाई नहीं है।
- इस्लाम को अपने गुप्त रहस्यों का पता नहीं चला है।

- वर्ण-धर्म ही मनुष्य का जीवन-धर्म है।
- जाति . . . हिन्दू धर्म पर एक बोझ है।
- अस्पृश्यता वर्णाश्रम धर्म पर लगी हुई जंग है।
- सभी जीव समान हैं और एक हैं।

५३. मैं हिन्दू क्यों हूं ?

एक अमरीकी वहिन, जो अपने को हिन्दुस्तान का आजीवन मित्र कहती हैं, लिखती हैं :—

"चूँकि हिन्दू धर्म पूर्व के मुख्य धर्मों में से एक है, और आपने ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म का अध्ययन साथ-साथ करके स्वयं अपने को हिन्दू घोषित किया है इसलिए मैं आपसे आपके हिन्दू धर्म पसन्द करने का कारण पूछने का साहस करती हूँ। हिन्दू और ईसाई दोनों ही मानते हैं कि मनुष्य की प्रधान आवश्यकता ईश्वर को जानना और भावना और सत्य में उसकी पूजा करना है। अमेरिका ने ईसा-मसीह को परमात्मा का प्रकाश मानते हुए अपने हजारों पुत्रों और पुत्रियों को भारतवासियों को उनके वारे में वतलाने के लिए भेजा है। क्या आप कृपा करके ईसा की शिक्षाओं के साथ-साथ हिन्दू धर्म का अपना अर्थ देंगे ? इस कृपा के लिए मैं आपका वहुत-वहुत उपकार मानूँगी।"

मैंने कई मिशनरी सभाओं में अंग्रेज और मिशनरियों से यह कहने का साहस किया है कि अगर वे ईसा के वारे में हिन्दुस्तान से कहने से वाज आते और केवल गिरि-शिखर-प्रवचन के अनुसार अपने जीवन का पालन करते तो हिन्दुस्तान उन पर शक करने के वजाय, उनकी कीमत समझता; उनसे लाभ उठाता। मैं ऐसा विचार रखते हुए वदले के रूप में अमेरिकन मित्रों को हिन्दू धर्म के वारे में कुछ कह नहीं सकता। दूसरों से अपने धर्म के वारे में, धर्म-परिवर्तन के लिए कहने में मेरा विश्वास नहीं है। श्रद्धा के लिए कहना नहीं पड़ता। उसके अनुसार जीवन वनाना पड़ता है और तव वह स्वयं प्रचार वन जाता है।

अपने जीवन के माध्यम के अतिरिक्त मैं स्वयं को हिन्दू-धर्म को समझाने के योग्य नहीं मानता। अगर मैं लिखकर हिन्दू-धर्म को नहीं समझा सकता, तो ईसाई धर्म से उसकी तुलना भी नहीं कर सकूँगा। इसलिए मैं तो सिर्फ इतना ही कह सकता हूँ कि मैं हिन्दू क्यों हूँ ?

वंशानुगत गुणों के प्रभाव पर विश्वास रखते हुए, हिन्दू परिवार में जन्म ग्रहण करके मैं हिन्दू वना हुआ हूँ। अगर मुझे यह अपनी नैतिक वृत्ति या आध्यात्मिक

उन्नति के विरुद्ध लगा तो मैं इसे छोड़ दूंगा। विचार करने पर मैंने इसे अपनी जानकारी में सभी धर्मों से अधिक सहनशील पाया है। इसमें स्थिर सिद्धान्तों का न होना मुझे बहुत आकर्षित करता है क्योंकि इस कारण इसके अनुयायी को आत्म-प्रकाश का अधिक से अधिक अवसर मिलता है। स्वयं सबसे अलग बँधा-बँधाया धर्म न होने के कारण, इसके अनुयायियों को न सिर्फ दूसरे धर्म का आदर करने की स्वतन्त्रता होती है, बल्कि वे सभी धर्मों की अच्छी बातों को अपना सकते हैं।.....हिन्दू धर्म न सिर्फ सभी मनुष्यों की एकात्मता में विश्वास करता है, बल्कि यह सभी प्राणियों के एकात्म्य इसलिए जीव की पवित्रता में इसके विश्वास का व्यावहारिक रूप है। भिन्न योनियों में जन्म लेने का महान् विश्वास, इसी श्रद्धा का प्रत्यक्ष परिणाम है। वर्णाश्रम धर्म के नियम का ज्ञान सत्य की निरन्तर खोज का अत्यन्त सुन्दर परिणाम है। ऊपर की बतलाई बातों की परिभाषा देकर मैं इस लेख को बड़ा नहीं कर सकता। मैं तो इतना ही कह सकता हूं कि गो-भक्ति और वर्णाश्रम के आज के विचार मेरी समझ में मूल गोभक्ति और वर्णाश्रम के उपहास मात्र हैं। जो चाहते हों वे इस पत्र के पिछले अंकों में वर्णाश्रम और गोभक्ति की परिभाषा देख सकते हैं। मैं निकट भविष्य में ही वर्णाश्रम पर कुछ कहने की आशा रखता हूँ। इस अत्यन्त संक्षिप्त रूपरेखा में तो मैंने सिर्फ हिन्दूधर्म की वे विशेषताएं बताई हैं, जो मुझे हिन्दू बनाये हुए हैं।

—यं० इं०। हि० न० जी० २७।१०।१९२७]

- **श्रद्धा के लिए कहना नहीं पड़ता। उसके अनुसार जीवन बनाना पड़ता है।**
- **वर्णाश्रम धर्म के नियम का ज्ञान सत्य की निरन्तर खोज का अत्यन्त सुन्दर परिणाम है।**

५४. वर्णाश्रम धर्म

[गांधी जी की भारत-यात्रा के दौरान, उनसे पूछे गये कुछ प्रश्न और उनके उत्तर। प्रस्तुति : महादेव ह० देसाई।—सम्पा०]

प्रश्न—आखिर आप वर्णधर्म पर इतना जोर क्यों देते हैं? क्या आप वर्तमान जाति-प्रथा का समर्थन कर सकते हैं? वर्ण की आप क्या परिभाषा करेंगे?

उत्तर—वर्ण का अर्थ है किसी आदमी के पेशे का पहिले से ही निश्चय हो जाना। वर्णधर्म यह है कि हर आदमी अपनी आजीविका के लिए अपने बाप का ही पेशा अख्तियार करे। हर लड़का स्वभाव से ही अपने बाप के ही वर्ण या रंग का होता है

और उसका ही पेशा चुनता है। इस तरह से वर्ण एक प्रकार से वंशानुक्रम का नियम है। वर्ण-धर्म कुछ हिन्दू धर्म पर ऊपर से लादा नहीं गया है बल्कि हिन्दू धर्म के रक्षक मुनियों ने इसे ढूंढ़ निकाला है। यह मनुष्य-द्वारा आविष्कृत चीज़ नहीं है बल्कि जैसे[1] न्यूटन साहब के पता लगाने के पहिले भी संसार के कण-कण में परस्पर आकर्पण जारी था और न्यूटन साहब ने केवल प्रकृति की इस प्रवृत्ति का पता भर लगाया था उसी तरह यह भी प्रकृति का एक नियम है जिसका हमें सिर्फ पता लगा है और जो गुरुत्वाकर्पण के नियम की तरह निरन्तर चालू है और पता लगने के पहिले भी चालू था। इसका पता लगाना हिन्दुओं के भाग्य में बदा था। प्रकृति के कुछ नियमों का पता लगाकर और उनका प्रयोग करके पश्चिमवालों ने सहज ही अपनी आर्थिक सम्पत्ति बढ़ा ली है। उसी तरह हिन्दुओं ने इस अबाध सामाजिक झुकाव का पता लगाकर आध्यात्मिक क्षेत्र में वह सफलता पाई है, जो दुनिया के किसी राष्ट्र के भाग्य में बदी नहीं थी।

वर्ण का जातिप्रथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। ठीक अस्पृश्यता के ही समान जातिप्रथा भी हिन्दू धर्म का एक विकार ही है। वे सभी विकार, जिन पर आज इतना जोर दिया जा रहा है, हिन्दू धर्म के अंग कभी नहीं थे। मगर क्या वैसे ही विकार इस्लाम और ईसाई-धर्म में भी नहीं मिलते?

आप से जितना हो सकें उनका विरोध कीजिए। वर्ण के नाम पर प्रचलित इस जाति-प्रथा के असुर का नाश कीजिए। वर्ण के इस भ्रष्ट स्वरूप ने ही हिन्दू धर्म और भारतवर्प को नीचे गिराया है। हमारी आर्थिक और आध्यात्मिक अवनति का मुख्य कारण वर्ण-धर्म का पालन न करना ही है। बेकारी और गरीबी की यही एक वजह है और अछूतपन और हमारे धर्म में भी हानि की जिम्मेवार यह जाति-प्रथा है।

मगर (आप) मूल नियम के इस भ्रष्ट स्वरूप और भ्रष्टाचार से जूझते हुए उस नियम से ही न जूझ पड़ें।

प्रश्न—वर्ण कितने होते हैं?

उत्तर—चार वर्ण होते हैं। चार विभाग होना कुछ वर्ण-धर्म का ही अंग नहीं है। निरन्तर प्रयास और शोध करने के बाद ऋपिगण इन चार विभागों पर यानी रोजी पैदा करने के चार तरीकों पर आये।

प्रश्न—तब तो तर्क के अनुसार जितने पेशे हैं, उतने ही वर्ण भी होने चाहिए।

---

१. सर आइज़क न्यूटन—धरती के गुरुत्वाकर्पण सिद्धान्त के अन्वेपक।

उत्तर—कोई जरूरी नहीं है। अलग-अलग पेशों को सहज ही इन चार विभागों में वाँटा जा सकता है—विद्यादान का, देश-रक्षा का, धनोत्पादन और सेवा का। जहाँ तक दुनिया से मतलव है, सवसे वड़ा-चढ़ा मुख्य विभाग है धन पैदाकरनेवालों का, जैसे कि सभी आश्रमों में मुख्य है गृहस्थाश्रम। सभी वर्णों का मध्यस्थ वैश्य है। अगर धन-सम्पत्ति न हो तो रक्षक चाहिए ही नहीं। पहिले और चौथे वर्ण भी इस तीसरे के लिए ही जरूरी हैं। पहिले वर्ण में जरूर ही वहुत कम आदमी होंगे क्योंकि उसमें वहुत कठिन संयम की जरूरत है और सुसंगठित समाज में दूसरे और चौथे वर्ण स्वाभाविक ही कम होंगे।

प्रश्न—अगर कोई आदमी ऐसा पेशा अख्तियार करता है जो उसका जन्मगत नहीं है तो वह किस वर्ण में गिना जायगा?

उत्तर—हिन्दू धर्म के अनुसार उसका वर्ण तो वही है जिसमें उसका जन्म हुआ है मगर अपने वर्ण का धर्म पालन नहीं करने से वह अपने प्रति अन्याय करता है और पतित हो जाता है।.....

प्रश्न—आप कहते रहे हैं कि वर्ण धर्म हमारी भौतिक इच्छाओं पर अंकुश रखता है। यह किस प्रकार होता है?

उत्तर—जव मैं अपने वाप का ही धन्धा करता हूं तो मुझे उसको सीखने के लिए स्कूल में जाने की भी जरूरत नहीं है और यों मेरी मानसिक शक्ति आध्यात्मिक खोजों के लिए मुक्त हो जाती है; क्योंकि मेरी रोज़ी निश्चित हो जाती है। जव मैं दूसरे धन्धों पर मन लगाता हूँ तो आत्म-प्राप्ति की अपनी शक्ति को वेच देता हूँ; एक कानी कौड़ी में अपनी आत्मा को वेच देता हूँ।

प्रश्न—आप आध्यात्मिक अभ्यासों के लिए शक्ति मुक्त कर देने की बात करते हैं। उधर जो लोग अपने वापदादों का धन्धा कर रहे हैं, उनमें कोई आध्यात्मिक संस्कृति है ही नहीं। उनका वर्ण ही उन्हें उसके अयोग्य वना डालता है।

उत्तर—हम वर्ण की विकृत भावनाओं को लेकर वातें कर रहे हैं। जव वर्ण-धर्म का पालन वास्तव में होता था, हमें अध्यात्मिक अभ्यासों के लिए काफी समय था। अव भी आप दूर के गाँवों में जाइए और देखिए कि शहरवालों की अपेक्षा उनमें कितनी अधिक आध्यात्मिक संस्कृति है। ये शहरवाले तो आत्मा का नाम भी नहीं जानते।.....

प्रश्न—वर्ण धर्म का सिद्धान्त जिस प्रकार आपने प्रतिपादित किया है, शास्त्रों में मिलता है या वह केवल आपका ही है?

उत्तर—मेरा नहीं है। मैंने इसे भगवद्गीता से लिया है।

प्रश्न—क्या आप मनुस्मृति में दिये गये सिद्धान्त को पसन्द करते हैं?

उत्तर—सिद्धान्त तो यहाँ ठीक है, मगर उसके प्रयोग मुझे पूरी तरह नहीं जँचते। ग्रन्थ के कई अंशों पर कई तरह की आपत्ति की जा सकती है। मैं आशा करता हूँ कि वे अंश बाद में जोड़ दिये गये होंगे।

प्रश्न—क्या मनुस्मृति में बहुत अन्याय नहीं है?

उत्तर—हाँ, स्त्रियों और नामधारी नीच जातियों के प्रति अन्याय है। शास्त्र के नाम से प्रचलित सभी कुछ शास्त्र नहीं है। इसलिए नामधारी शास्त्रों को खूब सम्हालकर पढ़ना चाहिए।

प्रश्न—मगर आप तो भगवद्गीता का आधार रखते हैं न? उसमें तो वर्ण को गुण और कर्म पर माना है। आप यहाँ जन्म को कहाँ से ला रखते हैं?

उत्तर—मैं भगवद्गीता का ही प्रमाण देता हूँ क्योंकि मैं इसे एकमात्र पुस्तक पाता हूँ, जिसके विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। यह सिर्फ सिद्धान्त निश्चित कर देती है और प्रयोग आप स्वयं खोज लीजिए। गीता में गुण और कर्म के अनुसार वर्ण का होना लिखा जरूर है, मगर गुण और कर्म जन्म से मिलते हैं। भगवान् कृष्ण ने कहा है,—"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं," यानी चारों वर्ण मैंने बनाये हैं, और मैं समझता हूँ कि वे जन्म से हैं। अगर वर्ण-धर्म जन्म पर निर्भर न हो तो है ही क्या?

प्रश्न—मगर वर्ण में कोई बड़प्पन, छुटपन तो नहीं है?

उत्तर—नहीं, जरा भी नहीं, अगर्चे मैं कहता हूँ कि ब्राह्मण दूसरे वर्णों का ऊपरी (भाग) है, जिस प्रकार शरीर का ऊपरी (भाग) सिर है। इसका अर्थ है ऊँची स्थिति। जिस समय ऊँची स्थिति का घमण्ड शुरू हो जाता है, यह पैरों तले कुचलने के योग्य बन जाता है।.....

प्रश्न—आज की चाल तो इतनी बिगड़ी हुई है कि क्या यह सब छोड़ कर नये सिरे से ही शुरू करना ठीक न होगा?

उत्तर—बेशक, अगर हम परमात्मा होते। हम कलम के सिर्फ एक झटके से हिन्दू जाति का स्वभाव नहीं बदल सकते। हम इस नियम का पालन करने का रास्ता खोज कर निकाल सकते हैं; इसे नष्ट करने का नहीं।

प्रश्न—जब शास्त्रकर्ताओं ने नई स्मृतियाँ बनाई हैं तो आप क्यों नहीं एक नई स्मृति बना सकते?

उत्तर—अगर मैं नई सृष्टि बना सकता; तब तो मेरी हालत विश्वामित्र से कहीं बिगड़ी हुई होगी और विश्वामित्र मुझसे कितने बड़े थे।

प्रश्न—बौद्ध धर्म हिन्दुस्तान से भगाया गया क्योंकि उससे ब्राह्मण दुखी हो गये। उसी तरह अगर हिन्दू धर्म से उनका मतलब न सधा तो उसे भी वे मार भगायेंगे।

उत्तर—(ऐसा) करने तो दीजिए। मगर मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि वौद्ध-धर्म हिन्दुस्तान से गया नहीं है। हिन्दुस्तान ही वह देश है, जिसने वुद्ध की शिक्षाएँ सवसे अधिक ग्रहण कीं। वौद्ध धर्म को वुद्ध के भावों से अलग ही गिनना होगा, उसी प्रकार जिस तरह कि ईसा की शिक्षाओं से ईसाई धर्म अलग है। वे वौद्ध धर्म को इसलिए भगा सके कि उन्होंने वुद्ध की मूल शिक्षा को अपने में समाहित कर लिया था।
—हि० न० जी० १।१२।१९२७]

- वर्ण का अर्थ है किसी आदमी के पेशे का पहिले से निश्चय हो जाना।
- वर्ण एक प्रकार से वंशानुक्रम का नियम है।
- वर्ण का जाति-प्रथा से कोई सम्बन्ध नहीं है।
- जाति-प्रथा हिन्दू-धर्म में एक विकार...है।
- सभी वर्णों का मध्यस्थ वैश्य है।
- शास्त्र नाम से प्रचलित सभी कुछ शास्त्र....नहीं है!
- नामधारी शास्त्रों को खूव सम्हाल कर पढ़ना चाहिए।
- हम क़लम के एक ही झटके से हिन्दू जाति का स्वभाव नहीं वदल सकते।
- हिन्दुस्तान ही वह देश है, जिसने वुद्ध की शिक्षाएं सवसे अधिक ग्रहण कीं।

५५. गौतमबुद्ध और हिन्दू शास्त्र

याद रखिए कि गौतमवुद्ध वड़े-से-वड़े हिन्दुओं में से एक थे। हिन्दू भावना, वैदिक भावना उनकी नस-नस में भीनी हुई थी। उनका जन्म ही हिन्दू वातावरण में हुआ था और आत्मा के लिए लाभदायक उसी वातावरण में वे पले थे। जहाँ तक मुझे पता है उन्होंने वेदों को कभी अस्वीकृत नहीं किया था। उन्होंने तो यही किया कि अपने चारों ओर मृत-प्राय पड़े हुए धर्म में जीवन्त सुधार को समाविष्ट किया। इसलिए मैं आपसे कहूँगा कि जवतक आप उन मूल ग्रन्थों को नहीं पढ़ लेते जिन्हें पढ़ कर उस महापुरुष ने ज्ञान प्राप्त किया था, यानी संस्कृत में हिन्दू शास्त्रों को नहीं पढ़ते, आपका वौद्ध धर्म का ज्ञान अधूरा ही कहा जायगा।
—हि० न० जी०, १५।१२।१९२७]

५६. लंका-निवासी हिन्दुओं से

[लंका यात्रा के दौरान, हिन्दुओं के समक्ष दिये गये भाषण का अंश। —सम्पा०]

आपको मालूम होगा कि मेरा दावा है कि मैं कट्टर हिन्दू हूँ। मगर दूसरे जो लोग अपने को कट्टर हिन्दू कहते हैं, वे मेरे इस दावे को नहीं मानते। मैं आपको

भ्रम में डालना नहीं चाहता। अगर कट्टर हिन्दुत्व का अर्थ हो—मुसलमान, ईसाइयों से वैर करना; अगर कट्टर हिन्दुत्व सिखलाता हो कि इस आदमी को छुओ, मगर उससे मत छुलाओ, उसका छुआ भोजन अपवित्र है, उसे मत खाओ तो मैं कहूँगा कि मैं कट्टर हिन्दू नहीं हूँ। लेकिन अगर कट्टर हिन्दू होने का अर्थ है, इसका सतत शोध करते रहना कि वास्तव में हिन्दू धर्म का सच्चा स्वरूप कौन-सा है, हिन्दूधर्म का जो सच्चा स्वरूप समझ में आवे, उसी के अनुकरण का यथाशक्ति पूरा प्रयत्न करना, तो मैं दावा करता हूँ कि मैं सच्चा कट्टर हिन्दू हूँ। इसके अलावा महर्षि व्यास के मतानुसार भी मैं कट्टर हिन्दू हूँ।......

विस्तृत हिन्दुत्व

अब अपना दावा साबित कर चुकने के बाद मैं आप से कहूँगा कि हिन्दू के रूप में आपका यहाँ क्या कर्तव्य होना चाहिए। सबसे पहिले तो आपको उनका ख्याल करना होगा, जिनकी बस्ती यहाँ सब से अधिक है। मैं आपको यह सुझाना चाहता हूँ कि वे आपके सहधर्मी हैं। वे अगर चाहें तो इस बात से इन्कार कर सकते हैं क्योंकि वे कहेंगे कि बौद्धधर्म हिन्दूधर्म का अंग नहीं है और बहुत अंशों में उनका कहना सही भी होगा। कितने हिन्दू भी यह नहीं मानेंगे कि बौद्धधर्म हिन्दूधर्म का अंग है। बल्कि वे तो इसी में अपना गौरव मानेंगे कि उन्होंने बौद्धधर्म को हिन्दुस्तान से मार भगाया। मगर बात दरअसल यह है कि स्वयं बुद्ध भी बड़े-से-बड़े हिन्दुओं में एक थे और उन्होंने हिन्दूधर्म को सुधारने की कोशिश की थी। इसमें उन्हें सफलता भी मिली थी। उस समय हिन्दूधर्म ने भी यही किया कि बुद्ध की शिक्षाओं में जो सबसे अच्छी और भली थीं, उन्हें अपने में समाहित कर लिया। इसीलिए मैं कहता हूँ कि हिन्दूधर्म का इस प्रकार बुद्ध की शिक्षाएँ अपने में समाहित कर लेने से विस्तार हुआ। हिन्दूधर्म ने काम इतना ही किया कि बुद्ध की शिक्षाओं के आसपास जो मैल आ जमी थी उसे साफ करके दूर कर दी। इसलिए यह बात आप बौद्धों को इसी तरह दिखला सकते हैं कि आप इस विस्तृत हिन्दूधर्म का पालन करें। बुद्ध ने जो एक बात सिखलाई थी वह यह थी कि परमात्मा कोई ऐसा जीव नहीं है जो निर्दोष प्राणियों की बलि से खुश हो। इसके उलटे उनका कहना था कि परमात्मा को खुश करने के लिए बलि-दान करनेवाले दुहरा पाप बटोरते हैं। इसलिए अगर आप अपने धर्म का सच्चा पालन करना चाहते हैं तो आपको एक भी मन्दिर में निर्दोष प्राणियों की बलि नहीं चढ़ानी होगी। मैं सारे भारतवर्ष के विरुद्ध यह कहने को तैयार हूँ कि चाहे जिस मतलब से हो, या परमात्मा को खुश करने के लिए ही क्यों न हो, एक भी जानवर की बलि चढ़ाना बुरा काम है; पाप है; गुनाह है।

मन्दिरों को सुधारो

जाफना के किसी मित्र ने मुझे लिखा है कि यहाँ हिन्दुओं के कुछ मन्दिरों में वेश्याओं का नाच कराया जाता है। अगर यह वात सच हो तो आप देवता के आवास मन्दिरों को वेश्याओं के अड्डे वना रहे हैं। अगर मन्दिर को पूजा-स्थान होना है, देवस्थान रहना है तो उसे कुछ मर्यादाओं का पालन करना होगा। मन्दिर में जाने का एक वेश्या को भी वही अधिकार है जो किसी सन्त को है। मगर वह अधिकार तो उसे तव है जव वह अपने पाप धोने जाती हो। मगर जव किसी मन्दिर के रक्षक धर्म या देवपूजन की आड़ में वेश्या को वहाँ ले जाते हैं तव वे देवस्थान को वदल कर दाल की मण्डी वनाते हैं। और जव आपके पास कोई आकर यह सावित करने की कोशिश करे कि आपके मन्दिरों में वेश्याओं को नाचने या किसी ऐसे ही काम के लिए वुलाना उचित है तो वह कितना ही वड़ा आदमी क्यों न हो आप उसकी वात से इन्कार करें, और मेरी ही वात पर अड़े रहें। अगर आप हिन्दू वनना चाहते हैं, अगर आपको परमात्मा की पूजा स्वीकार है, तो आप अपने मन्दिरों के दरवाजे अछूतों के लिए भी खोल दें। परमात्मा के दरवार में उसके भक्तों में कोई फर्क नहीं किया जाता। वह तो इन अछूतों और नाम-मात्र के अछूतों, सव की पूजा एक सी स्वीकार करता है। उसके यहाँ सिर्फ एक शर्त है—प्रार्थना सच्चे दिल से होनी चाहिए।.....

संस्कृत शिक्षा

अगर शिक्षा मंडल अपने कर्तव्य का पालन करे तो उसे आपकी पाठशालाओं में संस्कृत -शिक्षा को उत्तेजन देना चाहिए। संस्कृत का कुछ ज्ञान प्राप्त किये विना मैं किसी हिन्दू लड़के की शिक्षा अधूरी समझता हूँ। और जहाँ तक मुझे पता है, हिन्दूधर्म में श्रीमद्भगवद्गीता के समान कोई पुस्तक सर्वत्र सुलभ और सर्वग्राही नहीं है। इसलिए अगर आप अपने में और अपने लड़कों में हिन्दू भावना का समावेश करना चाहते हैं तो आपको गीता की शिक्षाओं का रहस्य समझने की कोशिश करनी होगी। आपको रामायण और महाभारत का भी सामान्य ज्ञान पैदा करना पड़ेगा। ......

—यं० इं०। हि० न० जी०, २२।१२।१९२७]

- मेरा दावा है कि मैं कट्टर हिन्दू हूँ।
- वुद्ध...वड़े से वड़े हिन्दुओं में एक थे।...उन्होंने हिन्दूधर्म को सुधारने की कोशिश की।

- परमात्मा कोई ऐसा जीव नहीं...जो निर्दोष प्राणियों की वलि से खुश हो।
- जानवर की वलि चढ़ाना बुरा काम है, पाप है, गुनाह है।
- हिन्दू धर्म में भगवद्गीता के समान कोई पुस्तक सर्वत्र सुलभ और सर्वग्राही नहीं है।

५७. मन्दिर कैसा हो?

[वरतेज में हरिजनों के लिए मन्दिर की आधारशिला रखते समय दिये गये भाषण का अंश।—सम्पा०]

मन्दिर कुछ ईंट या चूने का घर मात्र नहीं है; उसमें सिर्फ मूर्ति की स्थापना करने से ही वह मन्दिर नहीं वन जाता। मन्दिर तो वही कहा जाता है कि जिसमें प्राण-प्रतिष्ठा की गई हो। ब्राह्मण को वुलाकर हवन करके मन्दिर खोलने में पाखण्ड होना भी सम्भव है। सच्ची वात तो यह है कि जिन्होंने मन्दिर वनाने का निश्चय किया हो उन्हें संकल्प की ही घड़ी से अपना जीवन प्रायश्चित्त के कामों में व्यतीत किये हुए होना चाहिए और यह भी कि उन्होंने अपने सारे पुण्यों का भार उसी मन्दिर में डाला हो। मन्दिर के संचालक और पुजारी भी तपश्चर्यामय जीवनवाले हों और उस में घुसते ही जानेवाले का हृदय हिल जाय। आप समझ लें कि अगर यह मन्दिर ऐसा न वन सके, इसके पीछ इतनी आत्मशुद्धि और विचारशुद्धि न हो तो यह केवल मकान है, पृथिवी पर वोझ-रूप है। यह मन्दिर कहा जायगा और इसलिए कि उसका कोई उपयोग नहीं हो सकेगा, उतना भाग निरर्थक होगा। कदाचित् मन्दिर के नाम पर यह संस्था हानिकारक भी वन जाय; अपने पापों का धाम वन जाय। मैंने यह मान कर इसकी नींव रखी है कि ये दोप यहाँ पर नहीं हैं। इस वात में कोई सार नहीं है कि विचार हुआ नहीं कि मन्दिर वनना चाहिए और फिर नींव डलवाई और इस भरोसे वैठ रहे कि आगे कभी मन्दिर भी वन जायगा। उतावली से आम के पेड़ में फल नहीं लगते, इसी तरह उतावली से धर्म का पौधा नहीं उगता। इसके लिए सच्चा विश्वास चाहिए, उद्यम चाहिए, धैर्य चाहिए। —न० जी०। हि० न० जी०, १।२।१९२८]

- मन्दिर...वही कहा जायगा, जिसमें प्राण-प्रतिष्ठा की गई हो।
- उतावली से आम के पेड़ में फल नहीं लगते। उसी तरह उतावली से धर्म का पौधा नहीं उगता।

५८. एकभक्ति हनुमान

[हनुमत जयन्ती के दिन आश्रम की प्रार्थना में प्रकट किये गये उद्‌गार।—सम्पा०]

हनुमान के अनुकरण का पहिला पाठ यह है कि हम जो काम करते हों उसी में सभी इन्द्रियों को लगा दें। यह करने के लिए नेत्र निश्चल और सच्चे रखने चाहिए। आँखें सारे शरीर का दीपक हैं, और उन्हें आत्मा का भी दीपक कहें तो उचित होगा। जबतक शरीर में आत्मा है, तबतक आँख से उसकी परीक्षा हो सकती है। मनुष्य अपने वचन से शायद आडम्बर करके उसे छिपा ले मगर उसकी आँखें उसे जाहिर कर देंगी। उसकी आँख सीधी, निश्चल न हो तो अन्तर परख लिया जायगा। जिस तरह जीभ की परीक्षा करके हम शरीर के रोग परखते हैं; उसी भाँति आँख की परीक्षा करके आध्यात्मिक रोग परखे जा सकते हैं। इसलिए लड़कों को बचपन से ही आँखें निश्चल रखने की आदत डालनी चाहिए।

हनुमान की आँखें निश्चल थीं। वे सदा दिखलाती थीं कि राम का नाम जिस तरह उनके मुँह में था, उसी भाँति हृदय में भरा हुआ था; उनके रोम-रोम में व्याप्त था।

हम अखाड़ों में जो हनुमान की स्थापना करते हैं वह मुझे रुचती है। मगर इसका अर्थ यह नहीं है कि हम केवल शरीर से ही बलवान होना चाहते हैं या केवल हनुमान के शरीर-बल की ही अराधना करते हैं। शरीर से जरूर बलवान् बनें मगर उसके साथ यह भी जान लें कि हनुमान का शरीर राक्षसी न था। वे तो वायुपुत्र थे यानी उनका शरीर फूल के समान था, और फिर भी कसा हुआ था। किन्तु हनुमान की विशेषता उनके शरीरबल में न थी; उनकी भक्ति में थी। वे राम के अनन्य भक्त थे; उनके गुलाम थे। राम के दासत्व में ही उन्होंने सर्वस्व माना; और उन्हें जो भी काम सौंपा गया, उसे वायु-वेग से किया। इसलिए हम व्यायाम-शाला में हनुमान की जो स्थापना करते हैं, वह इस अर्थ में कि व्यायाम करके भी, हम दास बनेंगे—भारतवर्ष के दास, जगत् के दास और इसीलिए ईश्वर के दास बनेंगे। इस दासत्व में हमें परमेश्वर की झाँकी मिलेगी।

इसलिए यह भी मत कहो कि हम केवल हनुमान के ब्रह्मचर्य के लिए उनकी अराधना करते हैं। सेवक मात्र को ब्रह्मचर्य का पालक अवश्य होना पड़ेगा। जिसने सेवा का व्रत लिया, वह भला इन्द्रिय-विषयों का सेवन कैसे कर सकेगा? पिता-माता की सेवा-जैसी संकुचित सेवा के लिए भी पुत्र के संयमी बनने की आवश्यकता है। जैसा विषयी मैं बना था, वैसा बन कर वह सेवा नहीं की जा

सकती। उसी तरह जिसे आश्रम की सेवा करनी है, स्त्री-पुरुषों, बालक-बालिकाओं की सेवा करनी है उसके लिए विषय का सेवन करने से कैसे काम चल सकेगा ? और आश्रम की सेवा तो महज एक छोटी सी सेवा है, समुद्र में एक बिन्दु मात्र है। इसलिए जिसे जगत् की सेवा करनी है, वह विषय से भागता ही फिरेगा।

किन्तु विषयों से मन को हटा लेना हो तो यह काम केवल उपवास से या तपश्चर्या से ही नहीं होगा, किन्तु हनुमान-जैसी भक्ति से हो सकता है। यानी ब्रह्मचर्य और दूसरी सभी वस्तुओं की कुंजी भक्ति में है। हम रोज शाम को गाते हैं:—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

निराहारी की इन्द्रियाँ भले ही शान्त हों, किन्तु विषयों के लिए रस शान्त नहीं होता। इन्द्रियाँ जब शिथिल होती हैं, तब बहुत करके मन अधिक चंचल हो जाता है, विषयों की ओर अधिक दौड़ता है; यह रस भी राम जी के दर्शन से शान्त हो जाता है। यह हनुमान जी का कौल है अथवा हनुमान के जीवन से यह पदार्थ-पाठ सीखना है।

मैंने कल ब्रह्मचर्य के बारे में एक ऐसे विशेषण का प्रयोग किया है, जैसा कभी नहीं किया था। वह यह कि मैंने हनुमान के ब्रह्मचर्य को सात्विक ब्रह्मचर्य कहा। इस प्रकार ब्रह्मचर्य की स्तुति करते हुए उसके तीन भेद सात्विक, राजसी और तामसी दिखलाई पड़े। हनुमान का ब्रह्मचर्य सात्विक था, जब कि मेघनाद का ब्रह्मचर्य राक्षसी था। राक्षसी ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले में क्रोध होता है, अभिमान होता है। सात्विक में समर्पण होता है। दोनों ही शरीरबल में एक दूसरे से बढे-चढ़े हुए थे। किन्तु हनुमान मेघनाद को इसलिए हरा सके, कि वह अभिमानी था, जब कि हनुमान भक्ति-भीने थे, इसलिए उनका बल विशेष था।

इसलिए आँखें बिल्कुल सच्ची रखना, हाथ-पैर ठीक रखना, जीभ सच्ची रखना और इस प्रकार किसी अंश तक हनुमान का अनुकरण भी करने की शक्ति पैदा करनी चाहिए। ब्रह्मचर्य का पालन करके शरीर को सुदृढ़ अवश्य बनाना है किन्तु वह इस लिए कि हमें शरीर से भी राम की भक्ति करनी है, और भक्त बनकर जगत् के सेवक बन जाना है।

केवल बाह्य बातों को ही सम्हालने से अन्तर भी नहीं सम्हल जायगा। किन्तु हम यदि बाहर को भी सम्हालते जायेंगे और यह सब केवल बाह्याडम्बर न होगा तो किसी दिन मन भी स्थिर हो जायगा। और तब हम किसी दिन हनुमान की बराबरी कर सकेंगे।

—न० जी०। हि० न० जी० १२।४।१९२८]

- आँखें सारे शरीर का दीपक हैं।
- उन्हें (आँखों को) आत्मा का भी...दीपक कहें तो उचित होगा।
- आँख की परीक्षा करके आध्यात्मिक रोग परखे जा सकते हैं।
- हम भारतवर्ष के, जगत् के और इसीलिए ईश्वर के दास बनेंगे। इस दासत्व में हमें परमेश्वर की झाँकी मिलेगी।
- सेवक मात्र को ब्रह्मचर्य का पालक अवश्य होना चाहिए।
- जिसे जगत् की सेवा करनी है, वह विषय से भागता ही फिरेगा
- ब्रह्मचर्य और दूसरी वस्तुओं की कुंजी भक्ति में है।

५९. वृक्ष-पूजा

"यहाँ के स्त्री-पुरुष अन्य पूजाओं के साथ-साथ वृक्ष-पूजा भी करते हैं। मगर जब मैंने समाज-सेवकों की शिक्षित स्त्रियों को भी वृक्ष-पूजा करते देखा तो हैरान हो गया। परन्तु उन बहिनों और कुछ मित्रों का कहना है कि यदि यह पूजा किसी प्रकार की मान्यता के बिना की जाय तो इसे अन्धविश्वास नहीं कह सकते। हम तो पवित्र भाव से पूजा करते हैं। उन्होंने सावित्री और सत्यवान का उदाहरण दिया और कहा कि आज उनकी स्मृति का दिन है, इसीलिए हम यह पूजा करते हैं। किन्तु उनका यह तर्क मेरे गले नहीं उतरा। अतः आप से इस विषय पर प्रकाश डालने की प्रार्थना करता हूँ।"

यह प्रश्न अच्छा है। इसके गर्भ में मूर्तिपूजा का प्रश्न छिपा है। मैं मूर्तिपूजा का हामी भी हूँ और विरोधी भी। मूर्तिपूजा के कारण जो वहम पैदा हो जाते हैं उनका खण्डन या विरोध करना आवश्यक है। शेष मूर्तिपूजा तो मनुष्य मात्र किसी-न-किसी रूप में करता ही है। पुस्तक-पूजा भी मूर्तिपूजा है। मन्दिरों और मस्जिदों की पूजा का भी यही अर्थ है। मगर इनमें कोई बुराई नहीं। शरीरधारी इसके सिवा और कुछ कर ही नहीं सकता। इसलिए वह बड़ी अर्थपूर्ण और महाकाव्य का-सा महत्व रखनेवाली है। वृक्ष-पूजा का अर्थ वनस्पति-मात्र की पूजा है। वनस्पति में जो अद्भुत सौन्दर्य भरा पड़ा है, उससे हमें ईश्वर की महिमा का कुछ-कुछ ज्ञान होता है। वनस्पति के बिना हम एक क्षण भी जी नहीं सकते। जिस देश में वृक्षादि की कमी होती है, वहाँ की वृक्ष-पूजा में तो गम्भीर अर्थशास्त्र निहित है।

अतः मेरे विचार में वृक्ष-पूजा का विरोध करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वृक्ष-पूजा करनेवाली स्त्री पूजा करते समय किसी तत्वज्ञान का उपयोग नहीं करती। अगर उससे पूछा जाय कि वह पूजा क्यों करती है, तो कोई

कारण न बता सकेगी। एक-मात्र श्रद्धा ही उसकी पूजा का कारण है। उसकी वह श्रद्धा एक बड़ी और पवित्र शक्ति है। इस शक्ति का नाश किसी हालत में भी इष्ट नहीं ।

हाँ, निजी स्वार्थ के कारण जो मनौतियां की जाती हैं, वे अवश्य ही दोषमय हैं। मनौती मात्र सदोष है। वृक्षों की मनौती मानना जितना सदोष है, गिर्जों और मस्जिदों की मनौतियाँ भी उतनी ही दोषपूर्ण हैं। मनौती के साथ मूर्तिपूजा का या वृक्ष-पूजा का कोई भी अनिवार्य सम्बन्ध नहीं। जनता को मनौतियों के जाल में से छुड़ाना बहुत ही जरूरी है। परन्तु यह तो विषयान्तर हुआ। हम लोगों में वहम इतने जड़ पकड़ गये हैं कि सभी उनके जाल में फँस जाते हैं।

इसका कोई यह अर्थ न कर बैठे कि वृक्षादि की पूजा सबके लिए आवश्यक है। पूजा करने के लिए मैं वृक्षादि की पूजा का समर्थन नहीं करता, बल्कि इसलिए करता हूँ कि मेरे हृदय में ईश्वर की प्रत्येक वृत्ति के प्रति सहज ही आदर है।
—हि० न० जी० १५।८।१९२९]

- मैं मूर्ति-पूजा का हामी भी हूँ और विरोधी भी।
- पुस्तक-पूजा भी मूर्ति-पूजा है। मन्दिरों और मस्जिदों की पूजा का भी यही अर्थ है।
- वह (मूर्तिपूजा) बड़ी अर्थपूर्ण और महाकाव्य का-सा महत्व रखनेवाली है।
- वृक्ष-पूजा का अर्थ वनस्पति मात्र की पूजा है।
- मनौती मात्र सदोष है।
- मनौती के साथ मूर्ति-पूजा का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं।
- मेरे हृदय में ईश्वर की प्रत्येक वृत्ति के प्रति सहज ही आदर है।

६०. सरस्वती-वन्दना का अर्थ

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे दो पत्रों से]

फिर तुम्हारे ही पत्र के साथ आश्रम की चिट्ठियाँ शुरू करता हूँ। और वह भी प्रातःकालीन प्रार्थना के ठीक बाद में। पाँचवां[1] श्लोक यह है :—

---

१. या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेत पद्मासना
या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता।
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा॥

"जो मोगरे, चन्द्रमा या वर्फ के हार जैसी गौरवर्ण हैं, जो श्वेत वस्त्र पहिने हुए हैं; जिनके हाथ वीणा के सुन्दर दण्ड से सुशोभित हैं, जो सफेद कमल पर विराजमान हैं; ब्रह्मा, विष्णु और महेश से लेकर सभी देवता जिनकी नित्य स्तुति करते हैं, वह समस्त अज्ञान और जड़ता का नाश करनेवाली देवी सरस्वती मेरी रक्षा करें।"

मेरे लिए यह विचार बहुत सुन्दर है। विद्या का अर्थ अवश्य ही ज्ञान है। तीनों प्रकार की यानी वर्फ, चन्द्रमा और फूल की सफेदी का और सफेद पोशाक और श्वेतासन का आशय यह है कि सम्पूर्ण शुद्धि ज्ञान या विद्या का एक अनिवार्य अंग है। इन श्लोकों और ऐसे ही दूसरे श्लोकों के गहरे अर्थ की खोज करने पर तुम्हें पता चलेगा कि कोश के एक रूखे-सूखे शब्द के बजाय हरेक गुण को मूर्तरूप देकर सजीव सत्य बना दिया गया है। ये काल्पनिक देवता हमारी पांचों इन्द्रियों से देखे हुए और अनुभव किये जानेवाले तथाकथित सत्य पदार्थों से अधिक सत्य हैं। उदाहरण के लिए, जब मैं इस श्लोक का पाठ कराता हूँ तो मुझे कभी यह खयाल नहीं होता कि मैं किसी काल्पनिक चित्र से बात कर रहा हूँ। इसका पाठ एक आध्यात्मिक क्रिया है। जब मैं इस क्रिया का बुद्धि से विश्लेपण करता हूँ, तब मुझे मालूम होता है कि देवी कोई काल्पनिक प्राणी है। परन्तु इससे प्रार्थना के समय इस पाठ के महत्व में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता।

—१४।१।१९३१ और १८।१।१९३१। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० १२३, न० जी० प्र० मं०]

६१. वर्ण और वर्ण-संकर

मैं गीतामाता से अपनी सारी शंकाओं का समाधान कर लेता हूँ। गीता और साथ ही दूसरे सब शास्त्रों से मैंने यह सार निकाला है कि वर्ण-संकर तो विषय-वासना से होनेवाले सम्भोग का परिणाम है। गीता के पहिले अध्याय के अन्त में अर्जुन वर्णसंकर की बात करता है, तब उसके मन में इसके सिवा दूसरा कुछ नहीं था। वह समझता है कि पुरुषों का नाश हो जाने पर स्त्रियां हर तरह के व्यभिचार से अपने विषय को सन्तोष देंगी। किन्तु पुरुष और स्त्री किसी भी वर्ण के हों, तो भी केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए और मानव-जाति की सेवा करने की इच्छा से यानी शुद्ध प्रेम से सम्भोग करें तो इसमें संकर नहीं होता। वर्ण-व्यवस्था में शक्ति-दुर्व्यय रोकना हेतु है। हरएक आदमी को अपने बापदादा का धन्धा करना चाहिए। यहाँ मैं स्वीकार करता हूँ कि वर्ण जन्म से बनता है। परन्तु वर्ण का अर्थ अधिकार

नहीं होता। वर्ण का अर्थ है कर्त्तव्य, धर्म। ब्राह्मण के लिए यह जरूरी नहीं कि वह ब्राह्मण स्त्री के साथ ही विवाह करे। उसका कर्तव्य तो यह है कि वह अध्ययन और अध्यापन करे। मनुष्य मनुष्य के प्रति निहित मूल कर्त्तव्यों के साथ धर्म का सम्बन्ध है। मैं वेद के आध्यात्मिक भाग का ही विचार कर रहा हूँ, ऐतिहासिक भाग को नहीं। क्योंकि इतिहास तो बहुत अनिश्चित है और समय-समय पर अलग-अलग लिखा जा सकता है। किन्तु धर्म अलग-अलग नहीं हो सकता।

—५।१।१९३२। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १६]

- वर्णव्यवस्था में शक्ति का दुर्व्यय रोकना हेतु है।
- वर्ण का अर्थ है कर्तव्य, धर्म।
- मनुष्य मनुष्य के प्रति निहित मूल कर्त्तव्यों के साथ धर्म का सम्बन्ध है।
- धर्म अलग-अलग नहीं हो सकता।

६२. उदार हिन्दू-धर्म

मैंने कभी कहा ही नहीं कि हिन्दू-धर्म का उत्तम-से-उत्तम व्यक्ति ईसाई धर्म के उत्तमोत्तम व्यक्ति से बढ़कर हो सकता है। इसीलिए हिन्दू-धर्म में किसी के धर्म को नीचा समझने की और किसी से अपना धर्म छुड़वाने की बात नहीं है। ईसाई ईसा को भगवान मानते हैं और किसी भी मनुष्य की ईसा के साथ तुलना करना या किसी भी मनुष्य में ईसा के गुण मानना वे मूर्तिपूजा समझते हैं। मुसलमान मुहम्मद को ईश्वर नहीं मानते और किसी चीज़ या व्यक्ति में ईश्वर का आरोपण करना मूर्तिपूजा समझते हैं। यह बात सच होते हुए भी वे लोग पैगम्बर की मूर्ति-पूजा ही करते हैं। और जहाँ सचराचर उससे भरपूर है, वहाँ किसी वस्तु या व्यक्ति पर भगवान के आरोपण की बात कहाँ रही? व्यक्तिमात्र में ईश्वरीय अंश है, किसी में कम, किसी में ज्यादा।.....

—२७।३।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ४६-४७]

- व्यक्तिमात्र में ईश्वरीय अंश है।

६३. यज्ञोपवीत, माला एवं गो

[आश्रम-बालकों के प्रश्नों का उत्तर]

जनेऊ या माला पवित्रता सीखने में कुछ न कुछ मदद करती है। आजकल इसका बहुत उपयोग नहीं माना जाता। गाय इसलिए माता मानी जाती

है कि वह मां की तरह दूध देती है। और फिर माता तो अपने ही बच्चे को एक साल तक दूध देती है, मगर गाय सब को देती है। इसलिए वह सब की मां है। माता बच्चों से बहुत सेवा लेती है। गाय की कौन करता है? इसलिए गाय तो बड़ी मां है।

—२५।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ११८]

६४. क्षात्र-धर्म

क्षात्र-धर्म बहुत जबर्दस्त चीज़ है। सच्चा क्षत्रिय तो वह माना जाता है, जिसका व्यवहार ऐसे अनजान व्यक्ति के प्रति भी बिल्कुल शुद्ध रहे, जिसे मदद की ज़रूरत हो और जो उसका कुछ भी बदला न दे सकता हो—यहां तक कि धन्यवाद का एक शब्द भी न कह सके।

—६।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १३८]

६५. स्वामी रामकृष्ण परमहंस

[स्वामी रामकृष्ण परमहंस के बारे में कहा जाता है कि वे नींद में रुपये और सोने को छूते तो उन्हें वे आग की तरह लगते। वे किसी दुष्ट मनुष्य को छूते तो उन्हें सर्प-स्पर्श-जैसा लगता। इस सम्बन्ध में महादेव भाई देसाई के प्रश्न का गांधी जी द्वारा उत्तर।—सम्पा०]

यह स्वाभाविक है, मगर यह चीज़ तुम कहते हो वैसी आत्मशुद्धि की पराकाष्ठा बतानेवाली नहीं है। एक चीज़ के लिए इतना तिरस्कार पैदा किया जा सकता है कि नींद में भी उसका स्पर्श हो जाय तो मनुष्य चौंक पड़े। और खराब आदमी के छू जाने से भी वे चौंकते थे, यह बात मुझे विरोधी लगती है। क्योंकि वे तो सभी में भगवान को देखते थे। उन्हें बुरे मनुष्य के प्रति तिरस्कार तो हो ही नहीं सकता था। बात यह है कि हमें तो ऐसे महापुरुषों की महत्ता को स्वीकार करना चाहिए। उनके बारे में दूसरों को जो अनुभव हुए हों, वे सम्भव है हमें न भी हों। मगर हमारे लिए तो यह बात याद रखने और समझने लायक है कि उन्होंने अनेक का उद्धार किया।

—१।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १९१]

६६. मन्दिर, मूर्तिपूजा, वैष्णव-धर्म

मन्दिरों और चौराहों का उपयोग तो मशहूर है। उनके जरिए लोग जमा होते हैं, भजनादि और सभाएं वगैरह करते हैं। और यही उद्देश्य था।

मूर्तिपूजा की ज़रूरत है या नहीं, यह प्रश्न उठता ही नहीं। क्योंकि यह अनादि-काल से है और रहेगी। देहधारी मात्र मूर्तिपूजक होता है।

वैष्णव-धर्म की पूजा-विधि में फेर-बदल इष्ट हो सकता है। ईश्वर सब जगह है, इसलिए मूर्ति में भी है। मूर्तिपूजा का नाश मैं असम्भव मानता हूँ।

—२५।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २५०]

o यह (मूर्तिपूजा) अनादिकाल से है और रहेगी।

o देहधारीमात्र मूर्तिपूजक होता है।

o मूर्तिपूजा का नाश मैं असम्भव मानता हूँ।

६७. रामकृष्ण और विवेकानन्द

[श्री किशोरलाल भाई को लिखे पत्र से]

...मुझे यह नहीं लगा कि जितने भक्त रामकृष्ण थे, उतने विवेकानन्द भी थे। विवेकानन्द का प्रेम विस्तृत था; वे भावना से भरपूर थे और भावना में वह भी जाते थे। यह भावना उनके ज्ञान के लिए हिरण्मयपात्र थी। धर्म और राजनीति में उन्होंने जो भेद किया था, यह ठीक नहीं था। मगर इतने महान व्यक्ति की आलोचना कैसी? और आलोचना करने बैठ जायं तो कैसी भी आलोचना की जा सकती है। हमारा धर्म तो यह है कि ऐसे व्यक्तियों से जो कुछ लिया जा सके वह ले लें। तुलसीदास का जड़-चेतन वाला दोहा[1] मेरे जीवन में अच्छी तरह रम गया है, इसलिए आलोचना करना मुझे पसन्द ही नहीं आता। मगर मैं जानता हूं कि मेरे मन में भी कोई आलोचना रह गई हो, तो उसे जानने की तुम्हें इच्छा हो सकती है। इसीलिए मैंने इतना लिख दिया है। मेरे मन में शंका नहीं है कि विवेकानन्द महान सेवक थे। यह हमने प्रत्यक्ष देख लिया कि जिसे उन्होंने सत्य मान लिया, उसके लिए अपना शरीर गला डाला। सन् १९०१ में जब मैं बेलूर मठ देखने गया था, तब विवेकानन्द के भी दर्शन करने की बड़ी

---

१. जड़, चेतन, गुण-दोषमय, विश्व कीन्ह करतार।
सन्त हंसगुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥

इच्छा थी। मगर मठ में रहनेवाले स्वामी ने वताया कि वे तो बीमार हैं, शहर में हैं और उनसे कोई मिल नहीं सकता। इसलिए निराशा हुई थी। मुझमें जो पूज्य भाव (निहित) रहा है, उसके कारण मैं बहुत-सी आपत्तियों से बच गया हूं। उस समय कोई ऐसा प्रसिद्ध व्यक्ति नहीं था, जिससे मैं भावना के साथ मिलने दौड़ न जाता था। और ज्यादातर जगहों पर मैं कलकत्ते के लम्बे रास्तों में पैदल ही जाता था। इसमें भक्तिभाव था, रुपया बचाने की वृत्ति न थी।...

—१।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २६१-२६२]

- **विवेकानन्द का प्रेम विस्तृत था; वह भावना से भरपूर थे।**
- **आलोचना करना मुझे पसन्द ही नहीं आता।**
- **मुझमें जो पूज्यभाव रहा है, उसके कारण मैं बहुत-सी आपत्तियों से बच गया हूं।**

६८. यज्ञोपवीत, आर्य-अनार्य

[श्री सोनी राम जी को लिखे पत्र से]

जनेऊ के गूढ़ अर्थ मैंने बहुत सुने हैं, मगर ये सब अर्थ काल्पनिक हैं। जनेऊ की उत्पत्ति के समय ये सब भाव भरे थे, यह मैं नहीं मानता। मगर आर्य और अनार्य में भेद है, यह बताने के लिए जो अपने को आर्य मानते थे उन्होंने जनेऊ की निशानी अख्तियार की।...

—२४।७।१९३२। १, पृ० ३१८] ९। म० भाग १ पृ० ३१८]

६९. नाम-जप का प्रभाव

[सुश्री प्रेमा बहिन कंटक को लिखे पत्र से]

नाम-जप से पापाहरण अच्छी तरह होता है। शुद्ध भाव से नाम जपनेवाले को श्रद्धा होती ही है। वह इस निश्चय के साथ शुरू करता है कि नाम-जप से पाप दूर होते ही हैं। पाप दूर होना यानी आत्मशुद्धि होना। श्रद्धा के साथ नाम लेने वाला कभी थकता नहीं। इसलिए जो बात जीभ से होती है, वह अन्त में हृदय में उतरती है और उससे शुद्धि होती है। यह अनुभव निरपवाद है। मानसशास्त्री भी मानते हैं कि मनुष्य जैसा विचारता है, वैसा बन जाता है। राम-नाम की बात भी इसी के अनुसार है। नाम-जप पर मेरी श्रद्धा अटूट है। नाम-जप को खोजने-

वाला अनुभवी था। और मेरी पक्की राय है कि यह खोज बहुत ही महत्वपूर्ण है। बेपढ़ों के लिए भी शुद्धि का द्वार खुला होना चाहिए। यह काम नाम-जप से होता है (गीता,[1] ९।२२, १०।१०)। माला आदि एकाग्र होने और गिनती करने के साधन हैं।

—७।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३४६]

- नाम-जप से पाप-हरण अच्छी तरह होता है।
- श्रद्धा के साथ नाम लेनेवाला कभी थकता नहीं।
- मनुष्य जैसा विचारता है वैसा बन जाता है।
- नाम-जप पर मेरी श्रद्धा अटूट है।
- नाम-जप को खोजनेवाला अनुभवी था।
- यह (नाम-जप की) खोज बहुत ही महत्वपूर्ण है।

७०. नाम-जप

[श्री प्रभुदास को लिखे पत्र से]

नाम जपने के पीछे तू भूत की तरह पड़े रहना। कहीं से सहायता नहीं मिले, तब भी इससे जरूर मिलेगी।

—७।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३४५]

७१. वर्ण-धर्म

[श्री सतीशबाबू को लिखे पत्र से]

वर्ण का अर्थ धन्धा होता है। भोजन-व्यवहार और कन्या-व्यवहार के साथ उसका कोई वास्ता नहीं। चारों मुख्य धन्धों वाले लोग पहिले एक दूसरे के साथ खाते और शादियां भी करते थे। और ऐसा करने से स्वाभाविक रीति से ही उनके

---

१. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
गीता, ९।२२

तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
गीता, १०।१०

वर्ण को कोई आँच नहीं आती थी। भगवद्गीता में अलग-अलग वर्णों की जो व्याख्या दी गई है, उसके आधार पर यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य जब अपने बाप-दादे का धन्धा छोड़ देता है, तब वह वर्ण से पतित हो जाता है। आज तो हमारे लिए वर्ण-धर्म खोया हुआ धन है।...

—५।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २७२]

- हमारे लिए वर्ण-धर्म खोया हुआ धन है।

७२. शास्त्र

[एक पण्डित को लिखे पत्र का अंश]

बड़ी कठिनाई सत्यपथ पर चलनेवालों के लिए यह है कि शास्त्र किसको कहें? जब संस्कृत में लिखे हुए स्मृति इत्यादि नाम से प्रचलित अनेक ग्रन्थ मिलते हैं और उसके विरोधी वचन भी मिलते हैं, तब सादा और श्रद्धालु मनुष्य क्या करेगा? इसी कारण हिन्दू-धर्म का सर्वमान्य सिद्धान्त मैंने ग्रहण कर लिया है, सत्य और अहिंसा से जो आचार विरुद्ध है, वह निषिद्ध है और जो ग्रन्थ उसका विरोधी है, उसे शास्त्र न माना जाय।

—८।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १८२]

- सत्य और अहिंसा से जो आचार विरुद्ध है, वह निषिद्ध है।
- जो ग्रन्थ उसका (सत्य और अहिंसा का) विरोधी है, उसे शास्त्र न माना जाय।

७३. प्रार्थना का रूप

[एक बालक को लिखे पत्र से]

श्रीकृष्ण की प्रार्थना करने का सच्चा तरीक़ा यह है कि जो हमसे कम भाग्यशाली हैं, उनकी जो कुछ सेवा हो सके उसके नाम से करें। जब हम अपने दैनिक जीवन में सेवा की यह भावना प्रकट करेंगे, तब हमारे अश्रद्धालु पड़ोसी भी ईश्वर पर श्रद्धा करने लगेंगे।

—१४।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २०३]

७४. शास्त्र का अर्थ क्या है?

[अस्पृश्यता-निवारण-कार्य के लिए गांधी जी को जेल में पत्र-प्रतिनिधियों से मिलने और पत्र-व्यवहार करने की छूट दी गई थी। गांधी जी ने इस छूट के

वाद जो वयान जारी किये थे, उनमें से आठवें वयान का कुछ अंश यहां दिया जा रहा है।—सम्पा०]

वहुत से पत्र-लेखकों ने यह एक दूसरा सवाल पूछा है—'आप कहते हैं कि मैं शास्त्र को मानता हूं। शास्त्र का आप क्या अर्थ करते हैं, यह हम नहीं जानते। क्योंकि शास्त्रों ने जिसका समर्थन किया है, उसे आप मनमाने तौर पर अस्वीकार करते हैं। आप जिस गीता को मानते हैं, वह भी कहती है कि शास्त्र के अनुसार चलना चाहिए।'

मैंने पिछले एक लेख में जो कहा है, उसे यहां फिर कह देना चाहिए कि गीता के मुख्य सिद्धान्त से असंगत कोई चीज कहीं भी छपी हुई मिल जाय, तो वह मेरे विचार से शास्त्र नहीं है। मेरे कट्टर रूढ़िवादी मित्रों को आघात न पहुंचे, तो मैं अपना अर्थ अभी और स्पष्ट करना चाहता हूं। सदाचार के विश्वमान्य मूलतत्वों से असंगत किसी चीज को मैं शास्त्र-प्रमाण नहीं मानता। शास्त्रों का उद्देश्य मूल तत्वों को उखाड़ना नहीं, परन्तु उन्हें कायम रखना है। और गीता मेरे लिए सम्पूर्ण है, इसका कारण यह है कि वह इन मूलतत्वों का समर्थन ही नहीं करती, वल्कि उन पर हर हालत में डटे रहने के लिए हमें ठोस कारण देती है। मेरा वताया हुआ स्वर्ण-नियम न हो, तो परस्पर-विरोधी वचनों के जंगल में और सुन्दर ढंग से छपे हुए और उतनी ही खूबसूरत जिल्दोंवाले संस्कृत-ग्रन्थों के ढेर में, जिन्हें विरोधी पक्ष के पण्डित अपौरुपेय मानते हैं, मेरे-जैसे मामूली आदमी गोते ही खाते रहें। स्मृतियां अनेक हैं और उनमें से कुछ से तो, जिस छोटे से इलाके में थोड़े से लोग उन्हें मानते होंगे उस इलाके से वाहर, के लोगों का परिचय भी नहीं होता। उनका मूल या उनके वनने की तारीख कोई नहीं वता सकता। ऐसा एक ग्रन्थ मैंने दक्षिण में देखा था। इस ग्रन्थ के वारे में जव साक्षर मित्रों से पूछा, तो उन्होंने कहा कि उन्हें इसकी कुछ खवर नहीं है। आगमों की संख्या भी कुछ कम नहीं है। उनकी जाँच करने पर मालूम होता है कि वे परस्पर-विरोधी होते हैं और जिस छोटे क्षेत्र में वे स्वीकार किये गये होते हैं, उसके वाहर वे प्रमाण-भूत नहीं माने जाते। अगर ये सव ग्रन्थ हिन्दुओं के लिए प्रमाण माने जायं तो ऐसा कोई भी अनाचार नहीं जिसके लिए शास्त्र का आधार न मिले। और प्राचीन मनुस्मृति से भी शंकास्पद प्रमाणवाले श्लोक न निकाल दिये जायं, तो इस सारे महान ग्रन्थ में भी जो ऊंचे-ऊंचे नैतिक उपदेश जगह-जगह पर विखरे हुए हैं, उनके विरोधी वाक्य कितने ही मिल जायंगे। इसलिए भगवद्गीता में एक ही जगह जहां शास्त्र शब्द आता है, वहां मैंने उसका अर्थ यह नहीं किया कि वह गीता के वाहर का कोई ग्रन्थ या विधि-वाक्य है, वल्कि यह कि वह किसी

जीवन्त प्रमाणभूत व्यक्ति में मूर्तिमान हुआ सदाचार है। मैं जानता हूं कि इससे इस आलोचक को सन्तोप नहीं होगा। और साधारण मनुष्य की हैसियत से मैं किसी को रास्ता भी नहीं बता सकता, परन्तु यह बताकर कि शास्त्र का साफ़ अर्थ मैं क्या करता हूं, अपने आलोचकों को तृप्त कर सकता हूं।

ईश्वरीय प्रेरणा और अन्तर्नाद

एक और सवाल इतने ही आग्रह से बार-बार पूछा जाता है—'ईश्वरीय प्रेरणा और अन्तर्नाद का आप क्या अर्थ करते हैं? और अगर हर मनुष्य अपने लिए ऐसी ही प्रेरणा होने का दावा करे और हर व्यक्ति अपने पड़ोसियों से बिल्कुल अलग ही ढंग से बर्ताव करे, तो आपकी और दुनिया की क्या दशा हो?'

यह अच्छा सवाल है। ईश्वर ने अगर आत्मरक्षा के लिए सुविधा न कर रखी होती, तो हमारा बुरा हाल होता। इसलिए यह दावा भले ही सब करें, परन्तु इसे सच्चा साबित करके दिखलानेवाले तो थोड़े ही मनुष्य निकलेंगे। किसी सांसारिक राजा की आज्ञानुसार चलने का झूठा दावा करनेवाले की जितनी बुरी दशा हो सकती है, उससे भी बुरी दशा ईश्वर की प्रेरणा या अन्तर्नाद की आज्ञानुसार करने का झूठा दावा करनेवाले की होगी। पहिला पकड़ा गया तो शारीरिक सज़ा पाकर छूट जायगा, मगर दूसरा तो शरीर और आत्मा दोनों से नष्ट हो जायगा। उदार मनवाले आलोचक मुझ पर धोखे का आरोप नहीं करते, परन्तु कहते हैं कि सम्भव है मैं भारी भ्रम में पड़ा हुआ हूं। तो भी मेरे लिए इसका परिणाम मेरे झूठा दावा करने से बहुत भिन्न नहीं होगा। मेरे-जैसे नम्र शोधक होने का दावा करनेवाले को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए और मन का सन्तुलन कायम रखना चाहिए। ईश्वर प्रेरणा करे इससे पहिले उसे शून्यवत् बन जाना पड़ता है। इस चीज़ के बारे में मैं अधिक नहीं कहूंगा। मैंने जो दावा किया है, वह असाधारण नहीं है, और न अकेले मेरे लिए ही है। जो पूरी तरह ईश्वर की शरण में जाते हैं, उन सबके जीवन का यह नियामक बन जाता है। गीता की भाषा में जिन्होंने सम्पूर्ण अनासक्ति यानी आत्मविलोपन को साध लिया है, उनके ज़रिये ईश्वर अपना काम करता है। इसमें भ्रम का सवाल ही नहीं रहता। मैंने सरल शास्त्रीय सत्य पेश किया है। जिनमें यह योग्यता प्राप्त करने की इच्छा और धीरज हो, वे सब इसकी परीक्षा कर सकते हैं। यह योग्यता भी समझने में अत्यन्त सीधी और जहां निश्चय हो वहां प्राप्त करने में आसान है। अन्त में, मेरे दावे के बारे में किसी को चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं। मैं लोगों से जो करने को कहता हूं, वह बुद्धि की कसौटी पर कसा जा सकता है। मैं चला जाऊंगा

तब भी अस्पृश्यता को दूर करना ही होगा। उपवास की प्रेरणा ईश्वर ने की है या नहीं, इसकी फिक्र मेरे निकट के साथियों को भी करने की जरूरत नहीं। वे मेरे प्रति प्रेम के कारण इसके लिए दुगने उत्साह से काम करें, इसमें तो आपत्ति होगी ही नहीं, फिर भले ही ऐसा मालूम हो कि उपवास एक मनस्वी मित्र का बेवकूफी भरा कदम था। जिन्हें मेरे प्रति प्रेम या विश्वास नहीं होगा, उन पर उपवास का असर नहीं होगा। इसलिए मेरे सोचे हुए उपवास की या इस विषय में मेरे दावे की बात बार-बार करते रहने से जनता परेशान होती है और राष्ट्र के सामने जो महान कार्य पड़ा है उससे ध्यान हट जाता है।...

—१७।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २ (परिशिष्ट), पृ० ४०५, ४०६, ४०७]

७५. मूर्तिपूजा में श्रद्धा

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—आपको तो मूर्तिपूजा में श्रद्धा नहीं है, फिर हरिजनों को मूर्तिपूजा का अधिकार दिलवाने के लिए आप क्यों इतना श्रम उठा रहे हैं?

उत्तर—मुझे स्मरण नहीं आता कि मैंने कभी यह कहा हो कि मुझे मूर्ति-पूजा में श्रद्धा नहीं है। मुझे याद नहीं कि मैंने अपने लेखों में भी कभी कोई ऐसी बात कही हो। मैंने जो बार-बार कहा है, वह तो यह है कि मैं मूर्तिभंजक भी हूं और मूर्तिपूजक भी। यह बात ऐसा कहने से तो अलग हुई न कि मुझे मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं? लेकिन कोई यह कहे कि मैं शायद ही कभी मन्दिर में जाता हूं तो यह बात जरूर सच होगी। मैं क्यों नहीं जाता, इसके कारणों में मैं नहीं जाऊंगा। मगर मैं इतना कहूंगा कि मेरा धर्म इतना विशाल है कि मैं हिन्दुओं के मन्दिर में, मुसलमानों की मस्जिद में और ईसाई तथा यहूदी गिरजे में एक ही भक्ति-भाव से जाता हूं। इन सब में मैं नास्तिक या आलोचक के रूप में कभी नहीं गया, बल्कि सदा भक्तिभावपूर्वक ही गया हूं।

—२१।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २१८-२१९]

७६. राम-नाम और जप

[मेरठवासी श्री आनन्द-स्वरूप को लिखे पत्र से]

राम-नाम, और ऊँकार एक ही चीज़ है। तुलसीदास जी ने यह स्पष्ट बता भी दिया है। जप जपते हुए मन स्थिर नहीं रहता, इसीलिए तो तुलसीदास ने राम-

महिमा गाई है। यदि कोई व्यक्ति श्रद्धापूर्वक जप करेगा, तो अन्त में वह स्थिर-चित्त अवश्य होगा, ऐसी सब शास्त्रों की प्रतिज्ञा है, और ऐसा जप करनेवालों का अनुभव है। जप करते समय आंख मूंदना ही काफी होगा। भृकुटि में ध्यान रखा जाय, तो अवश्य अच्छा है।

—२६।११।१९३२। म०भा०डा०,भाग२, पृ० २३७]

७७. रुद्राक्ष-माला

एक समय था, जब मैं रुद्राक्ष की माला पहिनता था, मगर अब नहीं पहिनता। और इसके पहिनने के बारे में जबतक मुझे ईश्वर का आदेश न मिले, तबतक कैसे पहिन सकता हूं?

—२९।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २४४]

७८. वेदादि का प्रमाण

मुझे अपने ज्ञान का प्रदर्शन नहीं करना है। मगर शास्त्रों का मैंने जो कुछ अध्ययन किया है, उसके आधार पर बने हुए मेरे विचार, मैं मानता हूं, पूरी तरह शुद्ध हैं। मैं यह नहीं मानता कि वेदों का प्रत्येक शब्द ईश्वरप्रेरित है। कारण, आखिर तो वेद भी मनुष्य के मुख से ही उच्चरित हुए हैं। फिर हमारे पास तो वेदों के बहुत ही थोड़े भाग हैं। बाद के ग्रन्थों से उनकी पूर्ति की जा सकती है। इसलिए जो वेदों में न हो, ऐसी बातें कहने की भी मेरे लिए काफी गुंजाइश है।

—१३।१२।१९३२। म० मा० डा०, भाग २, पृ० २८१]

७९. हिन्दू धर्म की निषेधात्मक वृत्ति

मैं देख रहा हूं कि हिन्दू-धर्म के सामने सर्वनाश का भय पैदा हो गया है। हिन्दू-धर्म के लिए हजारों आदमी अपने प्राणों की बाजी लगाने को तैयार न हुए, तो उसका नाश निश्चित है। आजकल तो अलग-अलग धर्मों के बीच स्पर्धा हो रही है। अन्य सब धर्म सक्रिय और लड़नेवाले हैं। हिन्दू-धर्म निषेधात्मक बन गया है। इसने सब गुणों को भी नकारात्मक कर दिया है। ऐसी निषेधात्मक वृत्तिवाले हिन्दू धर्म से मैं इन्कार करता हूं।...

—५।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १५]

- हिन्दू धर्म के लिए हज़ारों आदमी अपने प्राणों की बाज़ी लगाने को तैयार न हुए तो उसका नाश निश्चित है।
- हिन्दू धर्म निषेधात्मक बन गया है।

८०. वर्णाश्रम-उद्धार

मेरी प्रवृत्ति मात्र वर्णाश्रम धर्म के पुनरुद्धार के लिए है। इसमें मुझे तनिक भी शंका नहीं है।

—९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ३०]

८१. हिन्दू-धर्म : मेरा आराध्य

[ए० पी० आई० से हुई भेंट-वार्ता का अंश]

हिन्दू-धर्म के द्वारा ही प्रकाश, आनन्द और शान्ति प्राप्त करने के सिवा इस दुनिया में मेरी कोई इच्छा नहीं है। इसी कारण मैं उसे विशुद्ध हुआ देखना चाहता हूं। हिन्दू धर्म मुझे सन्तोष देता है। क्योंकि उसे जिस तरह मैंने समझा है और जिस ढंग से मैं उसका आचरण कर रहा हूं, उसी तरह वह मुझे दूसरे तमाम धर्मों के प्रति पूरी तरह समभाव रखने की और दूसरे धर्मों के अनुयायियों को भी अपने सगे भाई-बहिन मानने की प्रेरणा देता है। गीता का, वेदों का, उपनिषदों का, भागवत और महाभारत का मेरे विचार का हिन्दू धर्म मुझे सिखाता है कि जीवमात्र एक हैं और ईश्वर के सामने न कोई ऊंचा है और न कोई नीचा। वाद-विवाद करने से मुझे अरुचि है, किन्तु असत्य और अशुद्धि से मुझे उससे भी ज्यादा अरुचि है।

—२७।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, (परिशिष्ट खण्ड) पृ० ३९७-३९८]

८२. वर्ण-धर्म बनाम वर्णाश्रम धर्म

वर्ण-धर्म स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, किन्तु वर्णाश्रम धर्म सच्ची वस्तु है।

—२।२।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १११]

८३. वर्णाश्रम धर्म

मेरा कहना यह है कि एक वर्ण के मनुष्य को दूसरे वर्ण के कर्म करने का अधिकार नहीं है, ऐसी बात नहीं है, लेकिन यह अनुचित है। मैं कहता हूं कि यह धर्म सबके लिए है। अनायास नहीं बल्कि सोच-समझकर इसका पालन होना चाहिए। जैसे हिन्दू पालें वैसे ही मुसलमान पालें। इसी अर्थ में मैंने कहा था कि यह हिन्दू-धर्म की मानव-जाति के लिए सबसे बड़ी भेंट है। इस धर्म के पालन से सारे समाज की रक्षा होगी, सारा समाज अजेय होगा।

—१८।२।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १५२]

८४. सती का माहात्म्य

[मदुरा के एक पण्डित और गांधी जी के बीच हुई वार्ता।]

पण्डित जी—मन्दिर तो स्त्रियों और शूद्रों के लिए ही हैं। शास्त्रों के अनुसार आज के दिन सिर्फ़ शूद्र ही मन्दिरों में जा सकते हैं, क्योंकि वे ही अब स्वधर्म अर्थात् सेवा का पालन कर रहे हैं। पतिव्रता स्त्रियों को भी ऐसा ही अधिकार है। दूसरों के लिए जो कर्म धर्म-विहित थे, उनका उन्होंने पालन करना छोड़ दिया और इसीलिए अब वे मन्दिरों में जाने के अधिकारी नहीं रहे।

गांधी जी—जब ब्राह्मण कर्म-चाण्डाल हो जाय तो उसकी सती स्त्री मन्दिर में जाने की अधिकारिणी बनी रह सकती है?

पण्डित जी—इसलिए कि उस स्त्री का सतीत्व उसके पति को पवित्र बना लेता है।

गांधी जी—तो यह कहना चाहिए कि जिसकी स्त्री सती है, वह मनुष्य उसी क्षण पवित्र हो जाता है, चाहे वह कैसा ही जीवन व्यतीत करता हो?

पण्डित जी—हां, उसकी स्त्री उसे बचा लेती है।

गांधी जी—कोई व्यक्ति, चाहे कितना ही पतित हो जाय, पर यदि उसकी स्त्री सती है, तो क्या इससे वह पवित्र हो जायगा?

पण्डित जी—हां, उसकी रक्षा वह सती कर लेगी। माना कि वह पाप करता है, पर उसके पाप, पाप न रहेंगे।

गांधी जी—यदि कोई मनुष्य अपने समस्त कर्म-फलों से मुक्त रहना चाहता है तो वह चाहे जो करता रहे, उसकी रक्षा के लिए सती स्त्री होनी चाहिए?

पण्डित जी—बिल्कुल ठीक।

गांधी जी—चूंकि हम भारत की एक भी सती स्त्री के चरित्र पर कलंक नहीं लगाने जा रहे हैं, क्योंकि हमें प्रत्येक स्त्री को पवित्र मानना ही चाहिए, जब तक वास्तव में वह स्वयं स्वीकार न कर ले कि वह असती है या वैसी मान ली गई है, अतः कहना चाहिए कि प्रत्येक विवाहित पुरुष पवित्र है। . . .

पण्डित जी—वह सच्ची पतिव्रता हो, वास्तविक सती हो, जैसी स्त्रियों का वर्णन हमारी रामायण-जैसी धार्मिक पुस्तकों में आया है।

गांधी जी—आप यह निश्चय कैसे करेंगे कि अमुक स्त्री पर उक्त परिभाषा ठीक बैठती है ?

पण्डित जी—अग्नि-परीक्षा। उसे अपने सतीत्व की परीक्षा अग्नि में प्रवेश करके देनी चाहिए, जिस प्रकार सीता दी थी।

गांधी जी—वह उस अग्नि-परीक्षा में से निष्कलंक न निकले तो क्या उसे असती कहना चाहिए ?

पण्डित जी—निश्चय ही।

गांधी जी—बस हो गया।

—हे० से०, २।३।१९३३]

८५. वर्ण-धर्म

. . .वर्ण का आजीविका के व्यवसाय के साथ निकट सम्बन्ध है। प्रत्येक व्यक्ति का व्यवसाय उसका स्वधर्म है। उसे छोड़ देने से वह वर्ण-भ्रष्ट होकर नष्ट हो जाता है। अर्थ यह कि उसकी आत्मा का हनन हो जाता है। वह व्यक्ति वर्ण-संकरता का दोषी है। उससे समाज को हानि पहुंचती है। जब सब लोग अपने-अपने वर्ण-धर्म का त्याग कर देते हैं, तब समाज की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है, अन्धेर होने लगता है और फिर समाज नष्ट हो जाता है। ब्राह्मण का धर्म अध्यापन है। उसे उसने छोड़ दिया कि उसका पतन हुआ। क्षत्रिय ने प्रजा-रक्षण का काम छोड़ा कि वह वर्ण-भ्रष्ट हुआ। वैश्य द्रव्योपार्जन का धर्म छोड़कर वर्णच्युत हो जाता है और शूद्र का पतन सेवा-धर्म छोड़ने से हो जाता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संशुद्धि लभते नरः।

स्वधर्म-त्याग को पतन का पर्याय ही समझना चाहिए। स्वधर्म का त्याग कर देनेवाले ब्राह्मण से स्वधर्म-पालन करनेवाला शूद्र श्रेष्ठ है।

इस वर्ण-व्यवस्था में अधिकार की बात नहीं। यहां केवल कर्त्तव्य की बात है। जहां सिर्फ़ कर्त्तव्य की बात हो, वहां उच्च-नीच-भाव के लिए स्थान ही कहां ?

आज-कल वर्ण-धर्म का लोप दिखाई दे रहा है। एक भी वर्ण अपना धर्म छोड़ देता है तो वर्ण-लोप हो जाता है। आज तो ब्राह्मण ने ब्राह्मणत्व का, क्षत्रिय ने क्षत्रियत्व का और वैश्य ने वैश्यत्व का त्याग कर दिया है। यदि इस पर यह कोई शंका करे कि द्रव्योपार्जन तो सभी लोग कर लेते हैं, तब यह क्यों माना जाय कि वैश्य-धर्म का लोप हो गया है—यह ठीक नहीं है—आजकल वैश्य स्वार्थ के लिए ही द्रव्योपार्जन करता है, अतएव वह गीता की भाषा में चोर ही है—'स्तेन एव सः'। वैश्य का धर्म तो यह है कि वह द्रव्योपार्जन करके अपनी आजीविका के लिए उसका उचित अंश रख ले और शेष समाज के हितार्थ दे दे। ऐसे वैश्य-धर्म का पालन तो शायद ही कोई करता हो। इसलिए उसका भी लोप ही हुआ समझें।

बाकी रहा शूद्रधर्म। कितने ऐसे शूद्र होंगे जो शुद्ध शूद्र-धर्म अर्थात् सेवा-धर्म का पालन करते हैं? अनिच्छावश की हुई मजदूरी सेवा नहीं है। धर्म में बलात्कार के लिए स्थान नहीं। धर्म समझ कर स्वेच्छा से समाज की उन्नति के लिए की गई मजदूरी ही सेवा कही जा सकती है। इसलिए दुःखपूर्वक यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वर्ण-धर्म का सर्वथा नाश हो गया है। शूद्र का अर्थ मजदूर करके शूद्र का अपमान किया गया है और हिन्दू-धर्म को हानि पहुंचाई गई है।

पर यह स्पष्ट है कि वर्ण-धर्म हर हिन्दू की रग-रग में समा गया है—भूल से चाहे रोटी-बेटी के व्यवहार को ही वर्ण-धर्म के लिए पर्याप्त समझ लिया गया हो। वर्ण-धर्म की कल्पना के बिना हिन्दू मात्र के हृदय को शान्ति नहीं। इसलिए वर्ण-धर्म का पुनरुद्धार सम्भव है। इसका एकमात्र साधन तप है। तप ही वह महाशक्ति है, जिससे धर्म की रक्षा और उसकी संस्थापना हो सकती है। ज्ञान-शून्य तप, तप नहीं; वह तो केवल शारीरिक क्लेश है। तप और ज्ञान का सम्मिश्रण ब्राह्मण धर्म में ही हो सकता है। जो ब्रह्मज्ञान के लिए शुद्ध परिश्रम करता है, वही ब्राह्मण होने योग्य है। अगर आज ऐसा परिश्रम किया जायगा तो किसी दिन हिन्दू-धर्म अर्थात् वर्ण-धर्म का उद्धार हो जायगा। सौभाग्य से आज ऐसा परिश्रम करनेवाला एक छोटा-सा समूह मौजूद है। इसलिए मेरी अचल श्रद्धा है कि हिन्दू-धर्म—शुद्ध सनातन धर्म—पुनः एक बार अपना तेज प्रकट करेगा और संसार को मार्ग दिखायेगा।

मेरा हिन्दू-धर्म सर्वव्यापक है। उसमें न तो किसी धर्म के प्रति द्वेष है, न अवगणना। समस्त धर्म एक-दूसरे के साथ ओत-प्रोत हैं। प्रत्येक धर्म में कई-कई विशेषताएँ हैं किन्तु एक धर्म दूसरे से श्रेष्ठ नहीं है। जो एक में है वह दूसरे में नहीं है। इसलिए एक धर्म दूसरे का पूरक है। अतः एक धर्म की विशेषता दूसरे की विशिष्टता के प्रतिकूल नहीं हो सकती; जगत् के सर्व-सामान्य सिद्धान्तों

की विरोधी नहीं हो सकती। इस दृष्टि से वर्ण-धर्म को देखें तो उसका वही अर्थ निकल सकता है, जो मैंने किया है। इतिहास सिद्ध करता है कि एक समय हिन्दू कहे जानेवाले सभी लोग ऐसे धर्म का स्वेच्छापूर्वक पालन करते थे।

इस वर्ण-धर्म का पालन पुनः होने लगे, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह स्वेच्छापूर्वक शूद्र-धर्म को स्वीकार कर ले। शूद्र मुख्यतया शारीरिक श्रम से सेवा करता है। यह धर्म सबके लिए सुलभ और सुसाध्य है। चूंकि आजकल शूद्र-वर्ण नीच-वर्ण माना जाता है, इसलिए सब अपने को शूद्र मानने लगें तो उच्च-नीच का भाव न रहेगा।

...जब सभी ज्ञानपूर्वक सेवा-धर्म का पालन करने लगेंगे और अपने को शूद्रों में गिनने लगेंगे, तब कोई ब्रह्म-विद्या नहीं सीखेगा—ऐसी बात नहीं है। अपनी रुचि के अनुसार कोई ब्रह्मविद्या सीखेगा और कोई सिखायेगा; कोई प्रजा-पालन करेगा; कोई द्रव्योपार्जन करेगा। सबके रहन-सहन का ढंग एक-सा होगा। करोड़पति और कौड़ीपति का भेद नहीं रहेगा। वैश्य का धन प्रजा का धन होगा। सब शूद्र होंगे। फिर कौन उच्च और कौन नीच रहेगा? ऐसे धर्म-पालन से ही वर्ण-धर्म का पुनरुद्धार होगा।

वर्ण-धर्म में वंश-परम्परा की प्रणाली अवश्य रही है। उसके बिना सुव्यवस्था असम्भव है। इसलिए अध्यापन करनेवालों की सन्तान उसी धर्म का पालन करेगी। एकाएक सब लोग ब्रह्मज्ञानी नहीं बन सकते। अगर बन सकें तो कोई आपत्ति नहीं क्योंकि ब्रह्मज्ञानी बनने का अर्थ सेवा की पराकाष्ठा पर पहुंचना है। उसमें अभिमान या स्वार्थ की गन्ध भी नहीं आ सकती। जब ऐसे ब्रह्मज्ञानी काफ़ी तादाद में पैदा होंगे, तब कहीं वर्ण-व्यवस्था का पुनरुद्धार शक्य है।...

...अगर हिन्दू-समाज वर्ण-व्यवस्था-सम्बन्धी मेरे विचार स्वीकार न करेगा, तो वे मेरे ही पास रहेंगे। मैं अपने विचार स्वीकार कराने के लिए किसी को विवश नहीं करूंगा; न मेरी ऐसा करने की इच्छा है। अगर ये विचार हिन्दू-धर्म के विरोधी होंगे तो मैं समाज से कंकड़-सा हटा दिया जाऊंगा।...मैं अपने वर्ण-व्यवस्था-सम्बन्धी विचार मात्र प्रकट कर देता हूं क्योंकि मैं किसी को धोखे में नहीं रखना चाहता।...धर्म के सम्बन्ध में व्यक्ति की कोई गणना नहीं। व्यक्ति आज है, कल नहीं; धर्म सनातन है और सनातन रहेगा। उसके बारे में नित्य नवीन कल्पनाएं होती आई हैं और होती रहेंगी। जैसे ईश्वर के गुण अनन्त हैं, वैसे ही धर्म की मर्यादा अनन्त है। धर्म को सम्यक् रूप से किसी ने नहीं जाना। इतना ही पर्याप्त है कि जिसका जितना धर्मज्ञान हो उसे वह उतना पालन करे। इतना होता रहेगा तो धर्म की प्रगति और जागृति होती रहेगी।

...धर्म का पालन करनेवाला ही उसे जान सकेगा। हर प्रकार के ज्ञान के लिए परिश्रम आवश्यक है। धर्म-संशोधन के लिए उसकी अधिक आवश्यकता है। इसलिए इस संशोधन के आरम्भ में ही अनुभवियों ने धर्म-नियमों के पालन की आवश्यकता बतलाई है।

—हृ० व०। हृ० से०, ३१।३।१९३३]

- प्रत्येक व्यक्ति का व्यवसाय उसका स्वधर्म है।
- स्वधर्म-त्याग को पतन का पर्याय समझना चाहिए।
- अनिच्छावश की हुई मजदूरी सेवा नहीं है।
- धर्म में बलात्कार के लिए स्थान नहीं।
- वर्ण-धर्म का पुनरुद्धार सम्भव है।
- ज्ञानशून्य तप, तप नहीं।
- मेरा हिन्दू-धर्म सर्वव्यापक है।
- समस्त धर्म एक दूसरे के साथ ओत-प्रोत हैं।
- एक धर्म दूसरे का पूरक है।
- ब्रह्मज्ञानी होने का अर्थ सेवा की पराकाष्ठा पर पहुँचना है।
- धर्म के सम्बन्ध में व्यक्ति की कोई गणना नहीं।
- धर्म सनातन है और सनातन रहेगा।

८६. ब्राह्मण और ब्राह्मण धर्म

मेरी दृष्टि में ब्राह्मण धर्म का दूसरा नाम हिन्दू धर्म है। ब्राह्मण धर्म का अर्थ है ब्रह्मज्ञान। इसलिए ब्राह्मण धर्म उस ज्ञान का नाम है, जिसके द्वारा मनुष्य को ईश्वर -दर्शन अथवा आत्म-दर्शन होता है। यदि मेरा यह आशय न होता तो मैं हिन्दू धर्म का आश्रयी कभी न रहता। लेकिन ब्राह्मण मात्र इस ब्राह्मण धर्म के प्रतिनिधि नहीं हैं। जैसे दूसरों में अपूर्ण लोग होते हैं, वैसे ही ब्राह्मणों में भी पाये जाते हैं। पर इसके साथ ही मैं यह भी मानता हूं कि दूसरों की अपेक्षा ब्राह्मणों में सच्चे ब्राह्मण अधिक संख्या में पाये जायंगे। मुझे हिन्दूधर्म के सिवा और किसी ऐसे धर्म का ज्ञान नहीं, जिसमें एक समस्त वर्ग स्वेच्छा से ग़रीब रखा गया हो और जिसका एकमात्र धर्म ब्रह्मज्ञान की खोज ही नियत कर दिया गया हो। ब्राह्मणों ने अपने लिए जो धर्म बना रखा था, उसका वे सभी पूर्णतया पालन न कर सके, तो यह उनका कोई विशेष दोष नहीं माना जाना चाहिए।...

....यदि ब्राह्मण वर्ग की ओर देखें तो वह गिरा हुआ दीखेगा। यदि उसका पतन न हुआ होता, यदि ब्राह्मणों ने अपना धर्म न छोड़ दिया होता तो हिन्दू धर्म की जो दशा आज देखी जाती है, वह कभी न होती। ऐसा कोई नहीं कह सकता कि यद्यपि ब्राह्मणों ने अपने कर्त्तव्य का पूरा पालन किया, फिर भी हिन्दू धर्म की दुर्दशा हो गई। यह कथन परस्पर-विरोधी होगा। हमें ब्राह्मणों ने ही सिखाया है कि जहां ब्रह्मज्ञान होता है वहां भय, दारिद्रय, ऊंच-नीच का भाव, लोभ, द्वेष, विग्रह, असत्य आदि नहीं रह सकते। ब्राह्मण धर्म का लोप हुआ, इसलिए उसके साथ अन्य हिन्दुओं का भी पतन हुआ। मुझे इसमें लेशमात्र शंका नहीं है कि यदि ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार न हुआ तो हिन्दू धर्म का नाश निश्चित है।...

किन्तु आज तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नाम मात्र के ही रह गये हैं। मैं कह चुका हूं कि आज वर्णों का संकर हो गया है; सभी ने अपना धर्म छोड़ दिया है। इसलिए अब यही अभीष्ट हो सकता है कि सब लोग अपने को शूद्र मानने लगें। यही राज-मार्ग है, जिसपर चल कर ब्राह्मण अपना ब्राह्मणत्व सिद्ध कर सकता है और वर्ण-धर्म का पुनरुद्धार हो सकता है।...

—ह० ज०। ह० से०, ७।४।१९३३]

- **ब्राह्मण धर्म का दूसरा नाम हिन्दू धर्म है।**
- **ब्राह्मण धर्म का अर्थ है ब्रह्मज्ञान।**
- **जहां ब्रह्मज्ञान होता है वहां भय, दारिद्रय, ऊंच-नीच का भाव, लोभ, द्वेष, विग्रह, असत्य आदि नहीं रह सकते।**
- **ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार न हुआ तो हिन्दू धर्म का नाश निश्चित है।**

८७. वर्ण-व्यवस्था

मेरा अभिप्राय यह है कि वर्ण-व्यवस्था वस्तुतः आज रह नहीं गई है। सभी वर्णों ने अपना धर्म छोड़ दिया है। शास्त्र कहता है और बुद्धि भी समर्थन करती है कि जब वर्ण के गुण छूट जाते हैं, तब वह लुप्त हो जाता है। आज वर्णों ने अपना धर्म छोड़ दिया है, इसलिए वर्णों का संकर, हो गया है। यदि कोई वर्ण थोड़ा बच गया तो वह शूद्र वर्ण है और उसी के अन्तर्गत समस्त स्पृश्य और अस्पृश्य को मानना चाहिए। यदि यह ठीक नहीं है तो सब लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार अपना वर्ण पसन्द कर लें। तात्पर्य यह कि वर्ण-धर्म नहीं रहा। धर्म में इस तरह पस-

न्दगी के लिए स्थान नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म अधिकार का विषय नहीं, वह केवल कर्त्तव्य का विषय है। धर्म में न कोई उच्च हो सकता है, न नीच।...
—ह० से०, ७।४।१९३३]

- धर्म अधिकार का विषय नहीं, वह केवल कर्त्तव्य का विषय है।
- धर्म में न कोई उच्च हो सकता है, न नीच।

८८. वर्ण-धर्म

[कुछ प्रश्न और उनके उत्तर]

प्रश्न—आजीविका के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कौन-से कार्य कर सकते हैं?

उत्तर—ब्राह्मण समाज को ब्रह्मज्ञान देगा। क्षत्रिय राष्ट्र की रक्षा करेगा। वैश्य व्यापारादि से धनोपार्जन करेगा। शूद्र परिचर्या करेगा। अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्म से ही सभी अपनी-अपनी जीविका उपार्जित करेंगे; बस, यह काफी है।

प्रश्न—सेवा के लिए चारों वर्ण क्या-क्या कार्य करें?

उत्तर—वर्ण वास्तव में धर्म है, अधिकार नहीं। इसलिए वर्ण का अस्तित्व केवल सेवा के लिए हो सकता है, स्वार्थ के लिए नहीं। इस कारण न तो कोई उच्च है न नीच। ज्ञानी होकर भी जो अपने को दूसरों से उच्च मानेगा, वह मूर्ख से भी बदतर है। उच्चता के अभिमान से वह वर्ण-च्युत हो जाता है। यहां यह भी समझ लेना आवश्यक है कि वर्ण-धर्म में ऐसी कोई बात नहीं है, कि शूद्र ज्ञान का संचय अथवा राष्ट्र की रक्षा न करे। हां, शूद्र अपने ज्ञान के विनिमय को अथवा राष्ट्र-रक्षा को अपनी आजीविका का साधन न बना ले। अथवा ब्राह्मण परिचर्या न करे, ऐसी बात भी नहीं है। परन्तु वह परिचर्या द्वारा अपनी जीविका न चलाये। यदि इस सहज स्वाभाविक धर्म का सर्वथा पालन किया जाय, तो समाज में आज जो उपद्रव हो रहे हैं; एक दूसरे के प्रति जो द्वेषपूर्ण प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है; धन इकट्ठा करने के जो कष्ट उठाये जा रहे हैं; असत्य का जो प्रचार हो रहा है और युद्ध के जो साधन तैयार किये जा रहे हैं वे सब शान्त हो जायं। इस नीति का पालन सारा संसार करे या न करे, हिन्दू लोग करें न करें, पर जितने लोग इस व्यवस्था पर चलेंगे, उतना लाभ संसार को होगा ही। मेरा यह विश्वास बढ़ता ही जाता है कि वर्ण-धर्म से ही जगत् का उद्धार होगा। वर्ण-धर्म का सच्चा अर्थ सेवा-धर्म है। जो कुछ किया जाय वह सेवा-भाव से ही किया जाय। सेवा में सौदा कहां?...

प्रश्न—आपने लिखा है, इस वर्ण-धर्म का पालन फिर से सम्भव करने के लिए सबके स्वेच्छा से शूद्र-धर्म स्वीकार करने की आवश्यकता है। यदि शूद्रेतर वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) शूद्र-धर्म को स्वीकार करेंगे, तो क्या उन्हें स्वधर्म छोड़कर अन्य धर्म स्वीकार करने का दोष न लगेगा?

उत्तर—यह प्रश्न करते समय प्रश्नकार कदाचित् भूल गये कि मेरा अभिप्राय यह है कि आज वर्ण-धर्म का प्रायः नाश हो गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बहुत पहिले से अपना वर्ण-धर्म छोड़ कर अधिकार ले बैठे हैं। दोष तो हो ही चुका है। अब स्वेच्छा से शूद्र-धर्म स्वीकार करके वर्ण-च्युत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य दोष-मुक्त होने का आरम्भ कर सकते हैं। उनका धर्म शूद्र को तुच्छ या नीच समझना कदापि नहीं था।

प्रश्न—आपने लिखा है, ब्रह्मज्ञान का प्रयत्न करनेवाला सद्भाग्य से आज एक छोटा-सा वर्ग मौजूद है जिससे कि शुद्ध सनातन धर्म फिर अपना तेज प्रकट करेगा और जगत् को कल्याण का मार्ग बतायेगा। वह वर्ग कौन-सा है?

उत्तर—जो लोग भागवत धर्म का हार्दिक पालन करते हैं, जो प्रभु-प्रीत्यर्थ केवल आजीविका प्राप्त करके सतत लोक-सेवा करते हैं, वे निस्सन्देह, अपने आचरण से संसार को ब्रह्मज्ञान देते हैं। उनमें विद्वान् भी हैं और अविद्वान् भी। वे अपना कार्य किसी को दिखाने के लिए नहीं करते। मैं उन सब का नाम नहीं जानता। लेकिन मेरा विश्वास है कि ऐसे लोग मौजूद हैं, यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम है।

—ह० से०, २१।४।१९३३]

○ वर्ण...धर्म है, अधिकार नहीं।

○ वर्ण-धर्म से ही जगत् का उद्धार होगा।

○ वर्ण-धर्म का सच्चा अर्थ सेवा-धर्म है।

८९. अनशन का आध्यात्मिक प्रयोजन

[दीनबन्धु ऐंडरूज़ ने गांधी जी को लम्बा पत्र लिखा, जिसमें गांधी जी के अनशनों के प्रति असहमति व्यक्त की गई थी। ऐंडरूज़ ने लिखा था कि उन्हें गांधी जी के अनशनों से नैतिक घृणा-सी हो गई है। उन्होंने अनशन के शुभकारी प्रभाव को भी विवादास्पद बताया था। इस पत्र के उत्तर में गांधी जी ने जो विचार व्यक्त किया, उसका आवश्यक अंश यहां दिया जा रहा है।—सम्पा०]

यद्यपि सनातनी लोग मेरे अनशन के कारण मुझे कोसते हैं, और मेरे अन्य हिन्दू सहयोगी भी इसके कारण चिन्तित रहते हैं, तथापि वे जानते हैं, कि अनशन आधुनिक हिन्दू-धर्म का एक आवश्यक अंग है। वे इसके नाम से ही सहम नहीं जाते। हिन्दू-शास्त्र अनशन के उदाहरणों से भरा पड़ा है। और आज भी सहस्रों हिन्दू ज़रा-ज़रा-सी वात पर उपवास कर डालते हैं। यही एक ऐसा कार्य है जिससे सव से थोड़ी हानि हो सकती है। निस्सन्देह वहुत-सी अच्छी चीजों की तरह अनशन का भी दुरुपयोग किया जाता है। ऐसा होना अवश्यम्भावी है। किन्तु लोग इसी कारण अच्छा काम करने से रुक नहीं जाते, कि इनकी आड़ में वुराई भी हो सकती है। लेकिन मेरी असल कठिनाई तो उन प्रोटेस्टेण्ट ईसाई मित्रों के साथ है, जिनकी संख्या वहुत है और जिनकी मित्रता की मैं वड़ी क़द्र करता हूं। मैं उनके प्रति यह वात स्वीकार करता हूं कि जव से उनके साथ मेरा समागम हुआ है तभी से मैं यह अच्छी तरह जानता हूं कि अनशन के प्रति उनको एक घृणा-सी रहती है, किन्तु उनकी इस मनोवृत्ति को मैं समझ नहीं सका हूं। सारे संसार में तितिक्षा को आध्यात्मिक उन्नति का अंग माना गया है। यदि उपवास का व्यापक अर्थ समझा जाय तो कहना होगा कि उपवास के विना कोई प्रार्थना नहीं हो सकती। पूर्ण उपवास का अर्थ है पूर्ण आत्म-त्याग। यही सवसे सच्ची प्रार्थना है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

ऐसे प्रार्थना-वाक्य केवल मौखिक और अलंकारिक उद्‌गार ही नहीं होने चाहिए। ऐसा आत्म-त्याग, परिणाम पर विचार किये विना ही, सहर्ष और किसी रुकावट के होना चाहिए। अन्न और जल को त्याग देना तो आत्म-त्याग का आरम्भ मात्र है और उसका एक छोटे-से-छोटा भाग है।

जव मैं इस लेख के लिए अपने विचारों का संकलन कर रहा था, तव ईसाई मित्रों की लिखी हुई एक छोटी-सी पुस्तिका मेरे हाथ लगी। इसमें एक अध्याय इसी विषय पर था, कि उपदेश की अपेक्षा उदाहरण वेहतर है। इसमें जोना (Jonah) के तीसरे अध्याय का एक उद्धरण था। पैगम्वर ने यह भविष्यवाणी की थी कि उसके प्रवेश के चालीसवें दिन ही निनेवा की वड़ी नगरी नष्ट हो जायगी।

इसलिए निनेवा-निवासियों ने ईश्वर पर श्रद्धा रखी और अनशन की एक घोषणा की गई। वड़े-से-वड़े और छोटे-से-छोटे आदमी ने काषाय वस्त्र पहिना। वहां के राजा के प्रति आकाशवाणी हुई। वह सिंहासन से उठ खड़ा हुआ। उसने अपनी राजसी पोशाक उतार कर भगवा-वस्त्र धारण कर लिया और धूनी रमा ली। राजा तथा उमरा के नाम पर उस नगरी में ढिंढोरा पिटवाया गया—

चाहे मनुष्य हो चाहे पशु, कोई न भोजन करे, न पानी पिये। क्या मनुष्य, क्या पशु सभी भगवा वस्त्र-धारी होकर ज़ोर-ज़ोर से ईश्वर की पुकार करें, प्रत्येक बुराई से बचें और हिंसा को छोड़ें। किसको पता है कि कदाचित् ईश्वर हमसे प्रसन्न होकर क्रोध वापस ले ले, जिससे हम सब नष्ट होने से बच जायं।

ईश्वर ने उनके कर्मों को देखा, कि वे लोग अपने बुरे मार्ग से हट गये हैं। ईश्वर ने जो दण्ड देने का संकल्प किया था उसे लौटा लिया और दण्ड नहीं दिया।

इन लोगों का यह कार्य मरणान्त अनशन नहीं तो क्या था? हर एक अनशन आत्म-घात नहीं होता। निनेवा के राजा और प्रजा का यह उपवास, दुःखों से छुटकारा पाने के लिए, ईश्वर से प्रार्थना करना ही तो था? इसके फल दो ही हो सकते थे, या तो मौत या संकट-मोचन। यदि मैं अपने उपवास की उस बाइबिल वाले उपवास के साथ तुलना करूं, तो मेरे उपवास का भी वही फल था। जोना के इस अध्याय में रामायण की-सी एक घटना का वर्णन है। यह उचित है, कि मेरे मित्रगण जान लें, कि मेरे सिद्धान्त के मूल में क्या है। मुझे अनशन के तरीके में पूर्ण श्रद्धा है; वह अनशन निजी हो, चाहे सार्वजनिक। यह मौक़ा किसी भी दिन, बिना किसी को सूचना दिये ही, उपस्थित हो सकता है; दूसरों को क्या चाहे स्वयं मुझे भी इसका पता न हो। यदि ऐसा मौक़ा आ गया, तो मैं, उसका वैसा ही स्वागत करूंगा, जैसे किसी बड़े अधिकार और आनन्द का।...
—ह० ज०। ह० से०, २८।४।१९३३]

- अनशन आधुनिक हिन्दू-धर्म का एक आवश्यक अंग है।
- हिन्दू-शास्त्र अनशन के उदाहरणों से भरा पड़ा है।
- तितिक्षा को आध्यात्मिक उन्नति का अंग माना गया है।
- उपवास के बिना कोई प्रार्थना नहीं हो सकती।
- पूर्ण उपवास का अर्थ है पूर्ण आत्मत्याग। यही सबसे सच्ची प्रार्थना है।
- अन्न और जल त्याग देना आत्मत्याग का आरम्भ मात्र है।
- हर एक अनशन आत्म-घात नहीं होता।
- मुझे अनशन के तरीके में पूर्ण श्रद्धा है।

९०. रोगी हिन्दू-धर्म

मैंने रोगग्रस्त हिन्दू-धर्म की नाड़ी अच्छी तरह देख ली है और दवा भी उपयुक्त बताई है। यदि उस दवा का भलीभांति उपयोग हो तो रोग का नाश

अवश्य होगा, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन रोगी उसका उपयोग ही न करे तो वैद्य बेचारा क्या कर सकता है ? वह अधिक-से-अधिक रोगी के सिरहाने बैठ कर अनशन कर सकता है।

—ह० ब०। ह० से०, २८।४।१९३३]

९१. वर्ण-धर्म : एक दृष्टिकोण

.... मैंने वर्ण-धर्म का जो अर्थ किया है, उसके अनुसार वह ऊँचे-से-ऊँचे मानसिक विकास के लिए किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है। अधिक कमाने के लिए पूर्वजों का धन्धा छोड़कर जैसी खराब और विनाशकारी प्रतिस्पर्धा आजकल चल रही है, जो जीवन के आनन्द और सुन्दरता का ह्रास कर रही है उसके समक्ष वर्ण-धर्म निस्सन्देह प्रतिबन्ध-रूप है। पर यह प्रतिबन्ध केवल धर्म की दृष्टि से रखा गया है।

— ह० ज०। ह० से०, ११। ८। १९३३]

९२. ब्राह्मण-धर्म और वर्ण-धर्म

....जो जन्म से ब्राह्मण है और ब्राह्मण-धर्म का पालन करता है, वह नौकरी क्यों तलाशता फिरता है ? ब्राह्मण होने का दावा करनेवाले को यही शोभा देता है कि वह संसार में ब्रह्मज्ञान का प्रचार करके अपनी आजीविका का प्रश्न धार्मिक मनोवृत्ति वाले यजमानों पर ही छोड़ दे। नौकरी खोजनेवाले ब्राह्मण के लिए सच्चा आश्वासन यही है कि वह अपने धर्म का पालन करे, तो उसके लिए निराशा का कोई कारण नहीं रह जाता।

वर्ण-धर्म का लोप हो गया है, यह कह कर भी मैं बाध्यतः वर्ण-धर्म का आश्रय क्यों लेता हूँ—इस पर मुझे आशा है, कोई मेरी टीका नहीं करेगा। वर्ण-धर्म के लोप होने का यह अर्थ नहीं है कि उसका पालन किसी को नहीं करना चाहिए। वर्ण-धर्म माननेवालों को अपने लिए उसका पूर्ण रूप से पालन करना ही उचित है।....

इस कठिन समय में भी ब्राह्मणों ने व्यक्तिगत रूप से देश की कम सेवा नहीं की है। दूसरों के मुक़ाबले ब्राह्मणों का त्याग अधिक है। उनका श्रेष्ठ त्याग नौकरी आदि अर्थमात्र का त्याग है। ब्राह्मण-धर्म की शोभा केवल परमार्थ से है।

ब्राह्मण यदि वर्ण-धर्म का मर्म समझकर उसके अनुसार आचरण करे तो अब भी वर्ण-धर्म का पुनरुद्धार आसानी से हो सकता है।

—ह० ब० । ह० से०, २२।९। १९३३]

० ब्राह्मण-धर्म की शोभा परमार्थ से है।

९३. भविष्य का वर्ण-धर्म

एक सनातनी सज्जन लिखते हैं :—

'हरिजन-बन्धु' के पिछले अंक में आपने हरिजनों के प्रति लिखा था—'मेरी दृष्टि में वर्ण-धर्म का लोप हो गया है, और धर्म का उद्धार तुम्हें वर्ण के बाहर रखकर नहीं हो सकता। पर अगर मेरे जीवन-काल में वर्ण-धर्म का उद्धार होना है, तो जो तुम्हारा वर्ण समझा जायगा वही मेरा भी मानना, कारण कि मैं अपने को स्वेच्छाकृत हरिजन ही मानता हूँ।' वर्ण-धर्म का लोप हो गया है, यह तो स्पष्ट ही देखा जा सकता है। रोटी-बेटी-व्यवहार के निषेध और छुआछूत के आग्रह से वर्ण-धर्म टिक नहीं सकता, यह बात भी मानी जा सकती है। पर सच्चे वर्ण-धर्म का उद्धार कैसे होगा, यह शंका तो मन में रहती ही है। पुनरुद्धार होने पर करोड़ों हिन्दुओं में से प्रत्येक का वर्ण कौन निश्चित करेगा? किन तत्त्वों के आधार पर वर्ण निश्चित किया जायगा? सैकड़ों जातियों और हजारों धन्धों में अमुक जाति और अमुक धन्धा अमुक वर्ण में माना जायगा, यह किन सिद्धान्तों पर कौन निश्चित करेगा?

"क्या आप सचमुच समझते हैं, कि वर्ण-व्यवस्था पुनः स्थापित करने के योग्य शक्ति और संगठन किसी समाज में आ जायगा?

"क्या आपकी धारणा है, कि रूस-जैसी राजशक्ति वर्ण-धर्म स्थापित करेगी? कृपा कर इस प्रश्न का तनिक विस्तार से जवाब दें, जिससे आपके हृदय की बात मेरे-जैसा सनातनी समझ सके।"

इस प्रकार के प्रश्नों का सीधा जवाब देना कठिन है। इनका उत्तर त्रिकाल-दर्शी ही दे सकता है। मेरे लिए तो वर्तमान का ज्ञान और उसके अनुसार आचरण ही पर्याप्त है। 'चूकै मति यह दाँव, कहा आगे की सोचै?' आस्तिक और नास्तिक दोनों ही इसे अन्तःकरण से गा सकते हैं। नास्तिक का भाग तो खाने-पीने और मौज उड़ाने में ही समाप्त हो जाता है। और आस्तिक का भगवद्भक्ति और उससे प्राप्त कर्तव्य-कार्य में तन्मय हो जाने में समाप्त होता है। मैं अपने को आस्तिक मानता हूं और वर्तमानकालिक कर्तव्य पूरा करने में अपने को कृतार्थ मानता हूं। आज जैसा करूंगा, भविष्य में वैसा भरूँगा, अर्थात्

यह निश्चित है कि वर्तमान के कर्मानुसार ही भविष्य बनेगा। इसीलिए वर्ण-धर्म के भविष्य के विषय में मुझे चिन्ता नहीं है। इन सनातनी सज्जन से भी मैं यही सिफारिश करूंगा कि वह भविष्य की चिन्ता में न पड़ें। मेरी तरह जो वर्ण-धर्म मानता है, और मेरी बताई व्याख्या के अनुसार ही अपने आचार-विचार रखता है, वह पूर्णतया अपना धर्म पालनेवाला समझा जायगा।

फिर एक दूसरी बात भी ध्यान में रखने योग्य है। किसी भी धर्म के मूल सिद्धान्त व्यापक बनने योग्य होने चाहिए। जिन सिद्धान्तों में ये गुण नहीं होते, वे सिद्धान्त नहीं कहे जा सकते। यदि वर्ण-धर्म का सिद्धान्त व्यापक न हो तो उसकी उत्पत्ति किसी विशेष काल, स्थान और संयोग में होनी चाहिए, और उनमें से एक के भी बदलते ही वर्ण-व्यवस्था भी बदल जायगी। वर्ण-व्यवस्था अगर इतनी क्षणजीवी वस्तु हो तो चाहे वह रहे या न रहे, उसके सम्बन्ध में कुछ भी विचार करने की जरूरत नहीं है। पर अपनी व्याख्यानुसार, मैं वर्ण-धर्म को सर्वव्यापक सिद्धान्त मानता हूं। उसके पालन पर जनसमाज के अस्तित्व का आधार है। यदि मेरे विश्वास में कुछ तथ्य है तो भविष्य में वर्ण-धर्म अवश्य व्यापक होगा, फिर वह चाहे जिस नाम से पुकारा जाय। वर्ण-धर्म का अभिप्राय है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी पैतृक आजीविका के साधन से सन्तुष्ट हो। इस योजना के मूल में अहिंसा है; ईश्वरीय नियम का ज्ञान है; शुद्ध अर्थशास्त्र है और मनुष्यत्त्व है। इस वर्ण-धर्म का पालन न हुआ तो अभूतपूर्व पारस्परिक संहार ही होगा। ज्यों-ज्यों करोड़ों में जागृति आती जायगी, सब धनी होना चाहेंगे, सब बड़े बनना चाहेंगे, नीच कहे जानेवाले धन्धे कोई नहीं करना चाहेगा, त्यों-त्यों ऊंच-नीच की भावना और-और अधिक बढ़ती जायगी। मुझे लगता है कि इसका परिणाम आपस की मार-काट के सिवा और कुछ न होगा।

पर मनुष्य के स्वभाव में ही आत्म-रक्षा का गुण मौजूद है। इसलिए वर्ण-धर्म का आश्रय लेकर मनुष्य बच जायगा। सब अपने-अपने पैतृक धन्धों में लगे रहेंगे; किसी धन्धे को ऊंच-नीच माने बिना ही सब अपना-अपना जीवन बितायेंगे। ऐसा होने पर अगर कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नामों से प्रसिद्ध न होकर, दूसरे नामों से प्रसिद्ध हो तो उसकी चिन्ता न करनी चाहिए। वर्ण चार के बजाय दो हो सकते हैं और चार से अधिक भी। इतना स्पष्ट है, कि वर्ण के महान् नियमों का पालन करने से हम पूंजीवाद और मजदूरवाद आदि के कलह से बच जायंगे।

इस व्यवस्था में एक ओर तो अति लोभ, अति धन, और अति मद न होगा, और दूसरी ओर लाचारी, दरिद्रता और दीनता न होगी। सब मिलकर प्रेम से रहेंगे; कोई किसी को ऊंच या नीच न मानेगा।

इतना लिखने के बाद अब मैं अपनी कल्पना के घोड़े पर सवार होकर कुछ सैर करूंगा। अगर कोई मुझे वर्ण-व्यवस्था ही की रचना करने दे और मैं भारत में होऊं, तो उसका श्रीगणेश ब्राह्मणों से ही करूं। वे निश्चित रूप से अनुभव-ज्ञान और उसके आधार पर रचे हुए आधार के रक्षक होते हैं, अतः उनके सामने दूसरे वर्ण स्वयं व्यवस्थित हो सकते हैं। कारण यह है कि उनका अनुभव स्वयं-सिद्ध और निःस्वार्थ होने के कारण सब सहज ही उनका अनुसरण करेंगे। उनमें विद्या भी होती है। कौन ब्राह्मण है, यह प्रश्न ही तब नहीं रहेगा। तथोक्त हरि-जन ब्राह्मण की तरह सर्वसम्मान्य होंगे और तथोक्त ब्राह्मण अपने को शूद्र कहे जाने में संकोच नहीं करेंगे। मेरे कल्पना-काल में कुछ अड़चन नहीं आयेगी, कारण कि उस समय ऊंच-नीच की भावना का सर्वथा उन्मूलन हो जायगा, और सब अपने-अपने गृह-कर्म में लग जायंगे, तथा सहज ही अपने-अपने स्थान में सुव्य-वस्थित हो जायंगे। कल्पना के घोड़े पर चढ़कर यात्रा का वर्णन करने में कुछ बाधा नहीं आती, इसलिए मार्ग-दर्शक के समान इतना ही वर्णन करके समाप्त करता हूं। पर इस लेख से इतना समझ लेना चाहिए, कि वर्ण-धर्म यहां अहिंसा-प्रधान माना गया है, अतः उसमें राजदण्ड अथवा बलात्कार के लिए स्थान नहीं है। मनुष्य-स्वभाव में यदि वर्ण-धर्म है, तो उसका उद्धार हो ही जायगा। वर्ण-धर्म यदि मानव-स्वभाव के विपरीत है, तो आज उसका लोप हो जाना ठीक ही है। मनुष्य पशुजाति का जन्तु-विशेष ही नहीं है, बल्कि वह ऐसा प्राणी है, जिसमें से पशुत्व दिन-दिन कम होता जाता है और जो संज्ञाहीन अवस्था से जागरित होकर आत्मवान् बनता जाता है। मनुष्य की रचना आत्मा को पहिचानने के लिए हुई है, बल्कि वह आत्मस्वरूप है। इसलिए वह किसी दिन ऊंच-नीच के मिथ्या प्रपंच से निकलकर, आत्मैक्य बढ़ानेवाली वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार करेगा।

—ह० ब०। ह० से०, ६।१०।१९३३]

- मनुष्य के स्वभाव में ही आत्मरक्षा का गुण मौजूद है।
- मनुष्य की रचना आत्मा को पहिचानने के लिए हुई है।

९४. वर्ण-व्यवस्था की धार्मिक बुनियाद

वर्ण-व्यवस्था की बुनियाद आर्थिक तो है ही, लेकिन उसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा मैं नहीं मानता। इससे उलटा मेरा मन्तव्य तो यह है कि

वर्ण-व्यवस्था के मार्फत शास्त्रकार ने अर्थ को धर्म के ढाँचे में रख दिया और स्वार्थ से बचा लिया।

—हिन्दी। वर्धा। श्री देवव्रत शास्त्री को लिखे निजी पत्र से। प्रतिलिपि प्रधान सम्पादक के पास संग्रहीत, १।११।१९३३]

९५. वर्ण, धर्म, ईश्वर

वर्ण के चार विभागों का आधार कर्त्तव्य है, अधिकार नहीं। धर्म अधिकारों का बँटवारा नहीं करता; वह सबके लिए मर्यादा, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व का निश्चय करता है।...ईश्वर चराचर जगत् का स्रष्टा है, अतः सभी प्राणी उसकी दृष्टि में एक हैं।...

—मोर्वी। ह० से०, १।१२।१९३३]

९६. मैं सनातनी हूँ

*मैं सनातनी होने का दावा करता हूँ, क्योंकि मेरा विश्वास है कि मेरा आच*रण शास्त्र एवं शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुकूल है।...मैंने शास्त्रों का यथाशक्ति अनुशीलन किया है।

—दिल्ली। ह० से०, २९।१२।१९३३]

९७. वर्ण-धर्म

वर्ण-धर्म किसी मनुष्य का बनाया कानून नहीं, जो उसकी इच्छा से किसी पर लगाया जा सके या हटाया जा सके। यह तो एक प्राकृतिक नियम है—मनुष्य भले ही उसकी चिन्ता न करे। इस नियम की मानने, न मानने की स्वतन्त्रता हर व्यक्ति को है। यह सत्य है कि भारत में वर्ण-व्यवस्था का आविष्कार हुआ था और लोगों ने सदियों तक न्यूनाधिक सचाई के साथ ज्ञानपूर्वक उसका पालन भी किया। आज भी अधिकांश जनता, अज्ञानपूर्वक—विवशता से ही सही, उस नियम का पालन कर रही है। उस नियम की दृष्टि में ब्राह्मण और भंगी बिल्कुल समान हैं। स्वेच्छा और सच्चाई से जो भंगी अपना धन्धा करता है, वह निःसन्देह ईश्वर का कृपा-पात्र है। और ब्राह्मण, चाहे वह कितना ही प्रकाण्ड विद्वान हो, यदि अपने धर्म का ईमानदारी से पालन नहीं करता तो वह निश्चय

ही, ईश्वर की अप्रसन्नता का पात्र है। वर्ण-व्यवस्था का अर्थ अधिकार नहीं, कर्त्तव्य है। हम उचित रीति से इस नियम का पालन करके ही वास्तविक प्रजा-तन्त्र को विकसित कर सकते हैं। मेरी राय में वर्ण-व्यवस्था में कोई बुराई नहीं। बुराई तो एक वर्ण को दूसरे वर्ण से ऊंचा समझने में है।
—कड़ाया। ह० से०, १९।१।१९३४]

९८. ब्राह्मण और ब्राह्मणत्व

ब्राह्मणत्त्व की पहिचान का कोई वाह्य चिह्न नहीं है। मैं जिन पवित्र शास्त्रों का शपथपूर्वक आदर करता हूं और जिनके संरक्षण के लिए मैं अपना प्राण तक दे देना पसन्द करूंगा, वे शास्त्र मुझे यह वतलाते हैं कि ब्राह्मण वही है, जो ब्रह्म को जानता है। जहां विनय, शील, आत्मोत्सर्ग और दया आदि गुण विद्यमान हैं, वहीं ब्राह्मणत्त्व है। हमारे पूर्वजों ने हमें जिन सात्त्विक गुणों का आदर करना सिखाया है, वे सारे गुण ब्राह्मण में होने ही चाहिए। जो शास्त्रों का जीवित भण्डार है अर्थात् जिसके समस्त आचरण शास्त्र-विहित हैं, वही ब्राह्मण है।
—ह० से०, २६।१।१९३४]

९९. ग़लत रास्ता

हरिजन-कार्य में रुचि रखनेवाले एक सज्जन ने सनातनियों के लेखों से लेकर कुछ कतरनों का एक संग्रह मेरे पास भेजा है। उनमें मेरे लेखों के कुछ ऐसे भी अंग-भंग अवतरण दिये गये हैं, जिनके द्वारा साधारण जनता मेरे विरुद्ध उभाड़ी जा सकती है। उक्त सज्जन ने इस अभियोग की सफ़ाई देने के लिए मुझे लिखा है। मेरे लिए यह कोई नई वात नहीं है। इनमें से कुछ वातों का जवाव मैं कई वार दे चुका हूं। मैं कोई भी सफ़ाई दूं, वे लोग तो सुनेंगे नहीं, जो पक्षपात से काम ले रहे हैं। और जो मेरे अनुकूल हैं, उनके ऊपर खासकर ऐसे वाहियात अभियोगों का कोई असर नहीं पड़ेगा। लेकिन क़ायल न होनेवाले आलोचकों और उन सम-र्थकों के वीच, जो किसी के फुसलाने में नहीं आते, हमेशा एक ऐसा मध्यम वर्ग रहता है, जो इधर या उधर किसी एक तरफ़ झुक सकता है। जिन सज्जन ने मेरे पास ये कतरनें भेजी हैं, शायद वह उसी मध्यम वर्ग के हैं। इसलिए उनके

पत्र का 'हरिजन' में उत्तर देना आवश्यक है। उनकी भेजी हुई कुछ कतरनों में लिखा है :—

१. महाभारत आदि से लेकर अन्त तक वाहियात कूड़े-कचरे का ढेर है।

२. श्रीकृष्ण को मैं अवतार नहीं, वल्कि एक मामूली, आदमी समझता हूं।

३. हिन्दू-मन्दिर वेश्यालय या चकले हैं।

४. सदाचार में मेरा विश्वास नहीं है। मैं मूर्तिभंजक हूं।

५. हिन्दुओं का धर्म शैतानी से भरा हुआ है। उनके शास्त्र निरीश्वरतापूर्ण और उनके ऋषि तथा मुनि शैतान हैं।

ये चिह्न सनातनियों के मौलिक लेखों में हैं। किसी भी उदाहरण के अन्त में यं० इं० अथवा न० जी० का कोई उल्लेख नहीं है। मेरे पास यं० इं० या न० जी० की फाइल नहीं है इसलिए मुझे यहां अपनी स्मृति से ही काम लेना है।

महाभारत के विषय में पहिले जो मैंने कहा है और आज भी मेरा जो विश्वास है, वह यह है कि यह महान् ग्रन्थ वहुमूल्य हीरों की खान है। उसे आप जितना ही गहरा खोदेंगे, उतने ही हीरे उसमें आपको मिलेंगे।

श्रीकृष्ण के विषय में जो पहिले था, आज भी मेरा वही विश्वास है, कि भगवान् के अनेक अवतारों में श्रीकृष्ण भी एक अवतार हैं।

हिन्दू-मन्दिरों को मैंने कभी वेश्यालय नहीं कहा। किन्तु मैंने यह अवश्य कहा है और अव भी कहता हूं कि हिन्दुओं के कुछ मन्दिर वेश्यालय के समान हैं।

मैं यह कभी नहीं कह सकता, कि सदाचार में मेरा विश्वास नहीं है, क्योंकि मेरी दृष्टि में धर्म और सदाचार दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। मेरे तमाम लेख इस वात का साक्ष्य देते हैं।

वास्तव में मैं मूर्ति-भंजक हूं, यद्यपि मैं मूर्ति-पूजक भी हूं। मैं झूठे देवताओं के सामने कभी अपना मस्तक नहीं झुकाता।

पांचवां अवतरण तो एक ऐसा कुफ्र है, जिसे मैं कभी मुंह से निकाल ही नहीं सकता। अगर मैंने हिन्दू-धर्म को शैतानी से भरा धर्म माना होता, तो उसका मैंने वहुत पहिले परित्याग कर दिया होता।

सनातनियों-द्वारा प्रकाशित पत्रों में ऐसे अंग-भंग या विकृत लेख छापने से सनातन-धर्म को कोई लाभ नहीं होगा।

—ह० ज०। ह० से०, २०।४।१९३४]

- **मेरी दृष्टि में धर्म और सदाचार दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।**
- **मैं झूठे देवताओं के सामने अपना मस्तक कभी नहीं झुकाता।**

१००. वर्णाश्रम धर्म

हमने अपने वर्णाश्रम धर्म को विकसित करने के वजाय उसे विल्कुल संकुचित वना दिया है। वर्णाश्रम के समान संस्था संसार में कहीं नहीं है। इस अनुपम संस्था में रहकर ही प्रत्येक मनुष्य अपने मन, वुद्धि और शरीर की शक्ति के अनुसार समाज-सेवा और समाज-संरक्षण की व्यवस्था कर सकता है।
—ह० से०, २४।८।१९३४]

१०१. वर्ण-धर्म की व्याख्या

वर्णाश्रम धर्म की रचना इसी उद्देश्य से हुई है कि मनुष्य की मानसिक, वौद्धिक और शारीरिक शक्ति का उपयोग समाज के हितार्थ हो। इस व्यवस्था का खान-पान या व्याह-शादी के प्रश्न से कोई सम्वन्ध नहीं।
—कानपुर। ह० से०, ३१।८।१९३४]

१०२. जाति और वर्ण

जातियां अनेक हैं। वे मनुष्य-कृत हैं। उनमें निरन्तर परिवर्तन हुआ करते हैं। पुरानी जातियों का नाश होता है; नई पैदा होती हैं।...इसका धर्म से कोई सम्वन्ध नहीं।

वर्ण अनेक नहीं किन्तु चार हैं। शास्त्रों में इस चातुर्वर्ण का प्रतिपादन है। जाने-अनजाने ये वर्ण समस्त जगत् में दीख पड़ते हैं।...यदि शुद्ध वर्ण-नीति का पुनरुद्धार हो जाय, ऊंच-नीच के भेद मिट जायं तो हिन्दू धर्म पुनः उज्जवल हो जाय; भारत का कल्याण हो और साथ ही साथ जगत् का भी कल्याण हो।
—वर्धा, २८।११।१९३५। ह० व०। ह० से०, २५।१।१९३६]

१०३. धर्म-परिवर्तन और शुद्धि

[किनेरी-परिषद् के अन्तिम दिन दिये गये गांधी जी के आम वक्तव्य का अंश।]

धर्म-परिवर्तन की धमकी को विचार करके हमें कुछ नहीं करना चाहिए। केवल धर्म-परिवर्तन को रोकने के विचार से आप कुछ करेंगे तो उसका कोई नतीजा

न होगा, यह निश्चित है।. . .चूंकि हम भी मनुष्य ही हैं, इसलिए धर्म-परिवर्तन की धमकी पर हमारे अन्दर यह प्रतिक्रिया तो होगी ही कि इसे रोकने के लिए हम भी कुछ करें; अतः हमें इस पर ध्यान रखना चाहिए। लेकिन इसके कारण कुछ नहीं करना चाहिए।. . .

[परिषद् में किये गये प्रश्नोत्तर का अंश।]

प्रश्न—जो लोग पुनः हिन्दू-धर्म में लौटना चाहें उनके प्रति हमारा क्या रुख हो?

उत्तर—हम उनसे सिर्फ यह कहेंगे—स्वागत है, आप आइए। लेकिन इसके लिए हमें उनको कोई प्रलोभन नहीं देना चाहिए।

प्रश्न—नहीं-नहीं, यह प्रश्न नहीं है। मैं तो सिर्फ यही जानना चाहता था कि क्या आप शुद्धि के किसी तरीक़े को पसन्द करते हैं?

उत्तर—नहीं, किसी शुद्धि-समारोह की ज़रूरत नहीं। अगर उन्होंने विना सोचे-विचारे धर्म बदला हो तो वे पश्चात्तापपूर्वक वापस आयेंगे। उस दशा में जो लोग उन्हें अपने में मिलायेंगे वे उनसे कुछ शुद्धि करने के लिए ज़रूर कहेंगे। मैं तो उनसे केवल सौ वार राम-नाम लेने के लिए कहूंगा।

—ह० से०, ११।७।१९३६]

१०४. गोसेवा-धर्म

हमारे धर्म-विरुद्ध आचरण में गो-सेवा का अभाव भी शामिल है। प्रत्येक हिन्दू मानता है कि गो की सेवा करना उसका विशेष धर्म है। लेकिन गो-सेवा के जो साधारण नियम हैं, उनका पालन करनेवाले मुट्ठी भर ही हिन्दू पाये जाते हैं।

—ह० से०, ३० १।१९[illegible]७]

१०५. गोसेवा और हमारा धर्म

मेरा दृढ़ विश्वास है कि मृत पशु के चमड़े का सदुपयोग करने से न धर्म की हानि होती है, न सनातनी हिन्दुओं को इससे दुःख होना चाहिए। मृत पशु के चमड़े का पूरा-पूरा उपयोग न करने से अवश्य धर्म-हानि होती है क्योंकि इससे गोवध बढ़ता है।. . .अगर हम गो-सेवा को हिन्दू-धर्म का अनिवार्य अंग समझ लें तो न हम चर्मकार के धन्धे को नीच मान सकते हैं, न चर्मकार को अछूत। गाय केवल

हमारे अज्ञान से मरती है। धर्म का नाम लेने से धर्म की रक्षा नहीं हो सकती। वह तो शास्त्र का रहस्य जान लेने और उसका पालन करने से ही हो सकती है। मैंने कई बार लिखा है कि यदि भारतवर्ष की गोशालाएं अपने धर्म को जान लें और उसका भलीभांति पालन करें तो गोवध नष्ट किया जा सकता है और सबको गाय का दूध सुलभ हो सकता है। मेरे इस वाक्य में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। गोधन प्रायः सब हिन्दुओं के हाथ में है। यदि वे गाय न बेचने के, जो गोवध का कारण है, धर्म का पालन करें तो गोवध नहीं हो सकता।...
—ह० से०, ३।४।१९३७]

१०६. उपनयन-संस्कार

[हुदली में गांधी-सेवा-संघ के अधिवेशन के अवसर पर कुछ बालकों का उपनयन-संस्कार किया गया था। इसके समक्ष प्रवचन करते हुए गांधी जी ने इन्हें उपनयन-संस्कार की महत्ता समझाई थी। गांधी जी का वह प्रवचन यहां दिया जा रहा है।—सम्पा०]

तुम यह तो जानते ही हो कि आज से तुम द्विज हुए—तुम्हारा यह दूसरी बार जन्म हुआ। आज तक तुम्हें जो ज्ञान नहीं था, वह आज होता है। तुम्हें शास्त्री जी ने बताया है कि तुम वेदाध्ययन के योग्य बनते हो। वेदाध्ययन तो है ही, पर वेदाध्ययन का व्यापक अर्थ है, धर्म-जीवन। अब तक तुम्हारा जीवन धर्माधर्म के भान के बिना था, अब उसे यह भान हो जाता है। विश्वामित्र ऋषि ने दुर्भिक्ष के समय भूख के मारे मांस चुराया था। मांस चुरा तो लिया, पर उसे खाने के पहिले उन्हें अनेक विधियां करनी थीं। स्नान-सन्ध्या बिना भोजन नहीं होता, इसलिए वे स्नान-सन्ध्या करने लगे। किन्तु स्नान-सन्ध्या का यह नित्य-नियम करते-करते उन्हें भान हुआ कि 'मेरा कितना पतन हुआ है, पेट के लिए मैंने चोरी की, और वह भी मांस की? कन्द मूल-फल खाकर तृप्त रहनेवाले मेरे-जैसे वानप्रस्थ ने पेट के लिए मांस पर बुरी नजर डाली।' यह विचार करते हुए उन्हें धर्म का भान हुआ। जिस खटिक के यहां से मांस चुराया था, उसके पास वह गये और उससे माफी मांगी। खटिक ऋषि की क्षमा-याचना से लज्जित हो गया और कहने लगा—ऋषिराज, यह दूकान तो आप ही की है, आपको अपनी भूख जितनी तृप्त करनी हो, उतनी करें। ऋषि पर इसका भारी असर हुआ। खटिक से उन्होने कहा कि आज से तू मेरा गुरु हुआ। इसके बाद उनके बीच लम्बा संवाद हुआ जो महाभारत में आया है। पर उससे तुम्हें मतलब नहीं।

यह बात तो मैंने तुमसे इसीलिए कही कि धर्म-जीवन क्या वस्तु है, इसका तुम्हें ज्ञान हो जाय। १२ वर्ष तक शुद्ध विचार और आचार रखकर, ब्रह्मचर्य का पालन करके तुमने विद्याभ्यास करने का व्रत तो लिया ही है, तुम आज से धर्म की दृष्टि से विचार करनेवाले हो जाते हो। आज से पहिले तुम जो भूलें करते थे उन भूलों को अब भुला देना चाहिए, क्योंकि तुम्हारा नया जीवन आज से शुरू होता है। कोई भी काम करते हुए तुम्हें अब यह विचार करना होगा कि मैं यह सत्य का अनुष्ठान कर रहा हूं या असत्य का? उपवीत का उपयोग इसी दृष्टि से है। द्विज का अर्थ ब्राह्मण है, ऐसा मानने की कोई जरूरत नहीं। ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म को जाने। उपवीत लेने के बाद यदि हम नया जन्म न लें, धर्म-जीवन का आरम्भ न करें, तो उपवीत लेना न लेना बराबर है, क्योंकि आज यह विधि केवल बाह्य विधि बन गई है। पर जिसे इस विधि में से धर्म का ज्ञान प्राप्त करना हो, वह अवश्य उपवीत ले।

--ह० से०, ८।५।१९३७]

- वेदाध्ययन का व्यापक अर्थ है, धर्म-जीवन।
- ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म को जाने।
- आज यह (यज्ञोपवीत) विधि केवल बाह्य विधि बन गई है।

१०७. धर्म-परिवर्तन और शुद्धि

एक सज्जन नीचे लिखे चार प्रश्न पूछते हैं:--

"१. जिन हिन्दुओं ने एक या दूसरे कारण से स्वधर्म का त्याग करके इस्लाम या ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था, वे अब हृदय से पछताते हैं और पुनः हिन्दू-धर्म में आना चाहते हैं। आप उन्हें फिर से हिन्दू-धर्म में लेंगे या नहीं? अपने लड़के हरिलाल का ही उदाहरण ले लें।

"२. आप जानते हैं कि दक्षिण भारत में लाखों हरिजन सामूहिक रूप से ईसाई-धर्म में शामिल हो गये हैं। जब से त्रावणकोर दरबार ने घोषणा की और वहां हरिजन-आन्दोलन लोकप्रिय हुआ तब से कुछ लोगों का दिल कहता है कि वे पुनः अपना धर्म ग्रहण कर लें। उन्हें आप लोग क्या सलाह देते हैं?

"३. एक हिन्दू को अमुक लोभ देकर दूसरे धर्म में मिला लिया जाता है। कुछ दिनों बाद उसकी आंखें खुलती हैं और वह हमारे यहां आकर हमारा दरवाजा खटखटाता है। हम उसका स्वागत करें या नहीं?

"४. छोटे-छोटे हिन्दू बालक-बालिकाओं को अक्सर पादरी लोग हथिया लेते हैं और उनका धर्म बदल देते हैं। कभी-कभी मुसलमान भी इस काम के लिए अपने यतीमखानों का उपयोग करते हैं। अगर ऐसे लड़के-लड़कियाँ अकेली या अपने अभिभावकों के साथ हमारे पास आकर अपनी शुद्धि कराना चाहें, तो उस वक्त हमें क्या करना चाहिए ?"

ये और इसी किस्म के दूसरे सवाल पहिले भी किसी न किसी रूप में पूछे गये हैं और उनका जवाब भी 'हरिजन' में दिया गया है। हर एक प्रश्न का जवाब अलग से देने की ज़रूरत नहीं। मेरी राय में ये धर्मान्तर सच्चे हृदय-परिवर्तन द्वारा किये गये नहीं हैं। अगर कोई आदमी डर से, जोर-ज़बर्दस्ती से, भूख से या कुछ रुपये-पैसे की लालच से दूसरे धर्म में चला जाता है तो उस धर्मान्तर को हृदय-परिवर्तन का नाम नहीं दिया जा सकता। हम जिन सामूहिक धर्मान्तरों के विषय में इधर दो वर्ष से सुनते आ रहे हैं, उनमें से अधिकांश तो मेरे विचार से खोटे सिक्के-जैसे हैं। सच्चा धर्मान्तर--सच्चा मत-परिवर्तन हृदय से—किसी अजनबी आदमी की प्रेरणा से नहीं, किन्तु ईश्वर की प्रेरणा से उद्भूत होता है। कौन आवाज़ मनुष्य की है और कौन ईश्वर की, इसे हमेशा पहिचान सकते हैं। मैं मानता हूं कि पत्र-लेखक ने जो काल्पनिक दृष्टान्त दिये हैं वे सच्चे मत-परिवर्तन के दृष्टान्त नहीं हैं। इसलिए मैं ऐसे पश्चात्ताप करनेवालों को बिना किसी हिचक या दिक्कत के हिन्दू-धर्म में फिर से ले लूंगा। (उनकी) शुद्धि तो निश्चय ही नहीं करूंगा। ऐसे मनुष्यों को शुद्धि की ज़रूरत नहीं। चूंकि मेरी मान्यता है कि इस जगत् के सभी महान धर्म समान हैं, मैं मानता हूं कि यदि कोई व्यक्ति वृक्ष की दूसरी डाल पर बैठ गया तो इससे वह अपवित्र या दूषित नहीं हो गया। वह अगर अपनी मूल डाल पर फिर से बैठना चाहता है तो उसका स्वागत होना चाहिए। यह कहना उचित नहीं कि जिस कुटुम्ब में वह पहिले था, उसे छोड़ कर चला गया तो उसने कोई पाप किया। जितने अंशों में उसकी ग़लती मानी जा सकती है, उतने अंशों में उसने उस गलती का पश्चात्ताप कर लिया और वह मूल धर्म में फिर से आ गया, यही उसकी भूल का प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त करके वह शुद्ध हो जाता है।

—ह० ज०, २५।९।१९३७। ह० से०, २।१०।१९३७]

○ धर्मान्तर, सच्चा मत-परिवर्तन हृदय से—किसी अजनबी आदमी की प्रेरणा से नहीं—किन्तु ईश्वर की प्रेरणा से उद्भूत होता है।

● इस जगत् के सभी महान् धर्म समान हैं।

१०८. हिन्दू धर्म की नित्य प्रदक्षिणा

.....हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा सत्य और अहिंसा पर निर्भर है। इस कारण हिन्दू धर्म किसी धर्म का विरोधी नहीं हो सकता। हिन्दू-धर्मी की नित्य प्रदक्षिणा यह होनी चाहिए कि जगत् के सभी प्रतिष्ठित धर्मों की और उसके द्वारा सारे संसार की उन्नति हो।.....

—दिल्ली, १८।३।१९३९। ह० से०, २५।३।१९३९]

१०९. गोसेवा

गोसेवा का काम बड़ा कठिन है। उसके लिए बड़े शुद्ध मनुष्य चाहिए, धीरज चाहिए। सहनशीलता चाहिए। उसका पूरा-पूरा ज्ञान चाहिए।

—वृन्दावन (चम्पारन, बिहार) २९।४।१९३९ से ६।५।१९३९ के बीच किसी दिन। बापू की छाया में, बलवन्त सिंह, पृ० २१३, संस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

११०. सनातनी कौन है ?

सनातनी वह है जो सनातनधर्म का पालन करे। महाभारत-शान्ति पर्व में सनातनधर्म की व्याख्या इस प्रकार की गई है :

> **सत्यं दानस्तपः शौचं संतोषो ह्रीः क्षमार्जवं,**
> **ज्ञानं शमोदया ध्यानमेषधर्मः सनातनः।**
> **अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा,**
> **अनुग्रहश्च दानं च सतांधर्मः सनातनः॥१॥**

चूँकि मैं इन नियमों पर यथाशक्ति चलने का प्रयत्न करता रहा हूँ, इसलिए मुझे अपने-आपको सनातनी कहने में संकोच नहीं होता। पर अस्पृश्यता-निवारण आन्दोलन के दिनों में मेरे विरोधियों को मेरा यह नाम बुरा लगा। वे अपने को ही सनातनी बताते थे। मैंने नाम पर उनसे झगड़ा नहीं किया। इसलिए मैंने विरोधियों को उसी नाम से पुकारा है, जो उन्होंने अपने लिए पसन्द कर लिया। अब मुझे सनातन धर्म प्रतिनिधि-सभा, पंजाब की तरफ से एक पत्र मिला है। इसमें इस बात पर नाराजगी ज़ाहिर की गई है कि मैं अपने विरोधियों को सनातनी

बताकर यह अर्थ क्यों निकलने देता हूँ कि सभी सनातनी अस्पृश्यता को मानते हैं और उन्हें बुरी-से-बुरी गालियाँ देने में आनन्द आता है। इस पत्र में आगे लिखा है :—

"सच पूछिए तो इससे हमें बड़ा दुःख हुआ और हमें अन्देशा है कि पंजाब में हमारे धार्मिक और सामाजिक कार्य को हानि पहुँचेगी।

"महात्माजी, आप दक्षिण के पास होने के कारण हम उत्तरवालों से दक्षिण के सनातनियों को ज्यादा जानते हैं। यहाँ पंजाब में हम लोग हरिजनों को मन्दिर-प्रवेश और दूसरी सहूलियतें देने की हिमायत करते रहे हैं। हमने इस तरह की व्यवस्थाएँ भी अखिल भारतीय सनातनधर्म महासभा की परिषद् से ले ली हैं। हमारा संगठन सनातनधर्म प्रतिनिधि-सभा, पंजाब, जिसकी ६०० शाखाएँ और ३०० महावीर दल हैं, खुद इसी दिशा में काम कर रही है। इस प्रान्त में बहुत कम मन्दिर ऐसे हैं जिनके महन्त या पुजारी लोग हरिजनों को देव-दर्शन का अधिकार देने से इन्कार करते हों।

"आप अच्छी तरह सोच सकते हैं कि आपके लेख का हमारे काम पर क्या असर हो सकता है। अपढ़ जनता एक तरह के सनातनी और दूसरी तरह के सनातनी में फर्क नहीं कर सकती, इसलिए उसने हमें अपना विरोधी समझ लिया है। हमारे वक्तव्यों और खंडनों से कोई लाभ नहीं। हमारे सैकड़ों व्याख्यानों से आप की बात का असर ज्यादा होता है। हमने पण्डित मदनमोहन जी मालवीय और गोस्वामी गणेशदत्त जी के नेतृत्व में हरिजन-उद्धार का काम किया है और अब भी कर रहे हैं।

"मेरी प्रार्थना है कि जो लोग हरिजन-आन्दोलन के विरोधी हैं उनके लिए कोई और शब्द निकालिए। सनातनी शब्द तो जँचता नहीं।"

लेखक का यह समझना ग़लत है कि मैं उत्तर के सनातनियों को नहीं जानता। अगर काशी को उत्तर में गिना जा सकता हो तो वहाँ से अत्यन्त हठी सुधार-विरोधी निकले हैं। लेखक भाई पंजाब के सनातनियों की ही बात करते तो अधिक हानि न होती। मगर मुझे यह खयाल नहीं आ सकता था कि मैं जिस सीमित अर्थ में वह शब्द इस्तेमाल कर रहा था उसे कोई नहीं समझ सकेगा। मुझे लगता है कि मेरे सुधार-विरोधियों को सनातनी बताने से जितना बिगाड़ हुआ है उससे लेखक ने ज्यादा समझ लिया है। अवश्य ही, पंजाब के सनातनियों को अपनी खुद की स्थिति साफ करने में तो कोई कठिनाई न होनी चाहिए। कुछ भी हो, वे इस लेख का प्रयोग अपने समर्थन में कर सकते हैं। असल में दक्षिण के भी सारे सनातनी सुधार के या मेरे विरोधी नहीं हैं। हरिजन-यात्रा में ही मुझे पता लग गया था कि

मैं कहीं भी गया तो वहाँ पर मेरे विरोधी आटे में नमक के बरावर ही थे। बाद के इन वर्षों में तो उनकी संख्या और भी घटी है। हिन्दुओं का भारी बहुमत पक्ष में न होता तो राजाजी का हरिजन-मन्दिर-प्रवेश क़ानून पास नहीं हो सकता था, न यह सम्भव था कि सनातनियों का विरोध तनिक भी व्यापक होता, तो दक्षिण के बड़े-बड़े मन्दिर हरिजनों के लिए खोल दिये जाते। इसलिए जब मैं सनातनियों के विरोध की बात करता हूँ, तो उसका मतलब उन मुठ्ठीभर लोगों से ही हो सकता है, जो सनातनी कहलाने में खुश होते हैं और जिनका धन्धा ही अस्पृश्यता के सुधार का विरोध करना और मुझे कोसना हो गया है। मैं यही प्रार्थना कर सकता हूं कि किसी दिन उनकी आँखें खुलें और वे भी उस सुधार के पक्ष में हो जाँय जो हिन्दू-धर्म को कम-से-कम अस्पृश्यता के कलंक से तो पवित्र करके ही छोड़ेगा।

—सेवाग्राम, १९।१२।१९३९। ह० से० २३।१२।१९३९]

१११. गो-सेवा

[गोपालन-विशेषज्ञों की सभा में दिया गया भाषण]

आजकल जिस तरह गो-सेवा का कार्य हो रहा है, दूसरी संस्थाएँ जो कुछ कर रही हैं, उसमें और गो-सेवा के काम में बड़ा अन्तर है। वह काम जनता के सामने नहीं आ रहा था। जमनालाल जी के इसमें पड़ जाने से वह सब की नजर में आ गया है। गोरक्षा का दावा करनेवालों को गोशाला और गोवंश की हालत का ज्ञान नहीं है। अपने को परम्परा से गो-भक्त माननेवाले लोग एक तरफ गो-सेवा के नाम पर पैसा देते हैं और दूसरी तरफ व्यापार में बैलों के साथ निर्दयता करते हैं। मैं किसी की टीका नहीं करता। सिर्फ यह बताना चाहता हूँ कि हममें असली उपाय के प्रति कितना अज्ञान भरा है। यही बात मैंने पिंजरापोलों में भी देखी। वहाँ भी विवेक, मर्यादा और ज्ञान की कमी पाई।

मुसलमानों से गोकुशी छुड़ाने के लिए उनका विरोध किया जाता है और गाय को बचाने में इंसानों का खून तक हो जाता है। लेकिन मैं बार-बार कहता हूँ कि मुसलमानों से लड़कर गाय नहीं बच सकती। इससे तो और भी ज्यादा गायें मारी जायँगी।

असली दोष तो हिन्दुओं का है। घी का सारा व्यापार हिन्दुओं के हाथ में है। लेकिन क्या घी-दूध शुद्ध मिलता है? दूध में मिलावट की जाती है, और जो पानी मिलाया जाता है, वह भी स्वच्छ नहीं होता। घी में दूसरे पशुओं का घी और जमाया वनस्पति मिलाया जाता है। फूंके से दूध निकाला जाता है। बाजार में

जो घी वेचा जाता है, उसे एक तरह से जहर कहें तो ज्यादा नहीं है। न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया या डेन्मार्क से विश्वस्त रूप में गाय का शुद्ध मक्खन मिल सकता है। लेकिन हिन्दुस्तान में जो घी मिलता है उसकी शुद्धता की कोई गारण्टी नहीं।

मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि हम भैंस के घी-दूव का कितना पक्षपात करते हैं। असल में हम निकट का स्वार्थ देखते हैं, दूर का लाभ नहीं सोचते। नहीं तो यह साफ है कि अन्त में तो गाय ही ज्यादा उपयोगी है। गाय के घी और मक्खन में एक खास तरह का पीला रंग होता है, जिसमें भैंस के मक्खन से कहीं अविक केरोटीन यानी 'ए' विटामिन रहता है। उसमें एक खास तरह का स्वाद भी है। मुझसे मिलने को आनेवाले विदेशी यात्री सेवाग्राम में गाय का शुद्ध दूव पीकर लट्टू हो जाते हैं। और युरोप में तो भैंस का मक्खन कोई जानता ही नहीं। हिन्दुस्तान ही ऐसा देश है, जहां भैंस का घी-दूव इतना पसन्द किया जाता है। इससे गाय की वरवादी हुई है और इसलिए मैं कहता हूँ कि हम सिर्फ गाय पर ही जोर न देंगे, तो वह नहीं वच सकती। यह वड़े दुःख की वात है कि सव गायें और भैंसें मिलकर भी हम चालीस करोड़ लोगों को पूरा दूव नहीं दे सकतीं। हमें यह विश्वास होना चाहिए कि गाय का महत्त्व इसलिए है कि वही काफी दूव, खेती और वोझा ढोने के लिए जानवर देनेवाली है। वह मरने पर भी मूल्यवान है, यदि उसके चमड़े, हड्डी, मांस और अँतड़ियाँ का भी हम उपयोग करें।

पिंजरापोलों का प्रश्न कठिन है। देश-भर में उनकी संख्या काफी है। शायद हर वड़े कस्वे में एक-एक वर्मार्थ गोशाला होगी। उनके पास रुपया भी वहुत जमा है। लेकिन वहुतों की व्यवस्था विगड़ी हुई है। उनका असली काम दूव का व्यवसाय करना नहीं है। हाँ, वे चाहें तो एक अलग दुग्वशाला या गोशाल-विभाग रख सकती हैं। लेकिन उनका मुख्य वर्म यही है कि वूढ़े और अपंग ढोरों का पालन करें और चर्मालय के लिए कच्चा माल भेजें। हर पिंजरापोल के साथ एक-एक सुसज्जित चर्मालय होना चाहिये। उन्हें उत्तम साँड़ भी रखने चाहिए, जो जनता के भी काम आ सकें। खेती और गोपालन की शिक्षा का भी प्रवन्व उनमें होना चाहिए।

गो-सेवा संघ ने अपने सदस्यों के लिए यह शर्त रखी है कि वे गाय का ही घी-दूव खायं और गाय-वैल का मुर्दार चमड़ा ही काम में लायें। इस नियम के पालन में वड़ी कठिनाई यह वताई जाती है कि जिनके यहाँ हम मेहमान वनते हैं, उनको वड़ी दिक्कत और परेशानी होती है। लेकिन इन कठिनाइयों को वहुत महत्त्व नहीं देना चाहिए। धर्म का पालन सदा कष्टदायी तो होता ही है। उससे भागने में न वहादुरी है, न जीव-दया।

आज तो गाय मृत्यु के किनारे खड़ी है। और मुझे भी यकीन नहीं है कि अन्त में हमारे प्रयत्न उसे वचा सकेंगे। लेकिन वह नष्ट हो गई, तो उसके साथ ही हम भी यानी हमारी सभ्यता भी नष्ट हो जायगी। मेरा मतलब हमारी अहिंसा-प्रधान और ग्रामीण संस्कृति से है। हमारा जीवन हमारे जानवरों के साथ ओतप्रोत है। हमारे अधिकांश देहाती अपने जानवरों के साथ ही रहते हैं और अक्सर एक ही घर में रात विताते हैं। दोनों साथ जीते हैं और साथ ही भूखों मरते हैं। लेकिन हमारा काम करने का ढंग सुधर जाय, तो हम दोनों वच सकते हैं।

हमारे सामने हल करने का प्रश्न तो आज अपनी भूख और दरिद्रता का है। हमारे ऋषियों ने हमें रामवाण-उपाय वता दिया है। वे कहते हैं कि गाय की रक्षा करो, सवकी रक्षा हो जायगी। ऋषि ज्ञान की कुंजी खोल गये हैं। उसे हमें वढ़ाना चाहिए, वरवाद नहीं करना चाहिए। हमने विशेषज्ञों को वुलाया है और हम उनकी सलाह से पूरा लाभ उठाने की कोशिश करेंगे।

— १।२।१९४२, 'वापू की छाया में,' बलवन्त सिंह, पृ० २४२-२४४। संस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

- धर्म का पालन सदा कष्टदायी...होता है। उससे भागने में न वहादुरी है, न जीवदया।
- हमारा जीवन हमारे जानवरों के साथ ओतप्रोत है।
- गाय की रक्षा करो, सवकी रक्षा हो जायगी।

११२. दशरथ-नन्दन राम

एक आर्यसमाजी भाई लिखते हैं :—

"जिन अविनाशी राम को आप ईश्वर-स्वरूप मानते हैं, वे दशरथ-नन्दन सीता-पति राम कैसे हो सकते हैं? इस दुविधा का मारा मैं आपकी प्रार्थना में वैठता तो हूं, लेकिन रामधुन में हिस्सा नहीं लेता। वह मुझे चुभता है। क्योंकि आपका कहना तो यह है कि सव हिस्सा लें, और यह ठीक भी है। तो क्या आप ऐसा कुछ नहीं कर सकते, जिससे सव हिस्सा ले सकें?"

सव के माने मैं वता चुका हूं। जो लोग दिल से हिस्सा ले सकें, जो एक सुर में गा सकें, वे ही हिस्सा लें, वाकी शान्त रहें। लेकिन यह तो छोटी वात हुई। वड़ी वात तो यह है कि दशरथ-नन्दन अविनाशी कैसे हो सकते हैं। यह सवाल स्वयं तुलसीदास जी ने उठाया था और उन्होंने ही इसका जवाव भी दिया था। ऐसे सवालों का जवाव वुद्धि से नहीं दिया जा सकता; वुद्धि को भी नहीं। यह दिल की

बात है। दिल की बात दिल ही जाने। शुरू में मैंने राम को सीता-पति के रूप में पाया। लेकिन जैसे-जैसे मेरा ज्ञान और अनुभव बढ़ता गया, वैसे-वैसे मेरा राम अविनाशी और सर्वव्यापी बना है, और है। इसका मतलब यह कि वह सीता-पति बना रहा है, और साथ ही सीता-पति का अर्थ भी विस्तृत हो गया। संसार ऐसे ही चलता है। जिसका राम दशरथ राजा का कुमार ही रहा, उसका राम सर्वव्यापी नहीं हो सकता, लेकिन सर्वव्यापी राम का बाप दशरथ भी सर्वव्यापी बन जाता है। कहा जा सकता है कि यह सब मनमानी है—'जैसी जिसकी भावना, वैसा उसको होय।' दूसरा कोई चारा मुझे नज़र नहीं आता। यदि अन्ततः सब धर्म एक हैं, तो हमें सबका एकीकरण करना है। अलग धर्म तो पड़े ही हैं, और उन्हें अलग मानकर हम एक दूसरे से लड़ते हैं। और जब थक जाते हैं, तो नास्तिक बन जाते हैं, और फिर सिवा "हम" के न ईश्वर रहता है, न कुछ और। लेकिन जब समझ जाते हैं, तो हम कुछ नहीं रह जाते, ईश्वर ही सब कुछ बन जाता है—वह दशरथ-नन्दन, सीता-पति, भरत व लक्ष्मण का भाई है भी और नहीं भी। जो दशरथ-नन्दन राम को न मानते हुए भी सब के साथ प्रार्थना में बैठते हैं, उनकी बलिहारी है। यह बुद्धिवाद नहीं। यहां मैं यह बता रहा हूं कि मैं क्या करता हूँ, और क्या मानता हूं।

—नई दिल्ली, १६।९।१९४६। ह० से०, २२।९।१९४६]

११३. मेरा हिन्दुत्व

मैंने एक हिन्दू के रूप में जन्म लिया है और एक हिन्दू—सनातनी हिन्दू के रूप में मरूँगा। मेरे लिए यदि मुक्ति है तो यह हिन्दू के रूप में है। हिन्दू-धर्म अन्य धर्मों की श्रेष्ठ बातों को समाहित कर लेता है और इसमें विस्तार के लिए क्षेत्र है।

—श्रीरामपुर। बृहस्पतिवार, ५।१२।१९४६। मूल अंग्रेजी से अनूदित। माई 'डेज़ विद गांधी', पृ० ९७]

११४. सहस्र नामधारी ईश्वर

हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों में ईश्वर के हज़ार नाम माने गये हैं। अगर उसके चालीस करोड़ नाम भी हों, तो क्या बिगड़ेगा। हर व्यक्ति को स्वतन्त्रता है कि वह

अपने आध्यात्मिक सन्तोष के लिए भगवान को जितने नामों से पुकारना चाहे, पुकारे।.....

—दिल्ली, प्रार्थना-सभा, ८।४।१९४७। ह० से०, २७।४।१९४७]

११५. गोरक्षा-धर्म

मैं गाय को माता मानता हूं और मेरे हृदय में उसकी पूजा के लिए स्थान है, क्योंकि वह मुझे दूध देती है। यदि मैं अपनी सुरक्षा करना चाहूं तो मुझे गाय की रक्षा करनी चाहिए। बिहार में भी गाय पूजी जाती है। लेकिन जैसा कि मैंने १९०८ में लिखा था, हम गो-रक्षक बनते हैं पर वस्तुतः हम गो-भक्षक हैं। इस पर कुछ हिन्दू मुझसे नाराज भी हुए थे। पर मैं अपनी बात पर क़ायम रहा।

गाय की हालत जैसी हिन्दुस्तान में है, वैसी दुनिया में कहीं नहीं है। हम गाय को जैसे रखते हैं उसे देखें, तो पता चलेगा कि हम कहते तो हैं कि हम गाय को पूजते हैं, लेकिन हमारे हृदय में उसके लिए कोई आदर नहीं है। हम उसके साथ कठोर-से-कठोर व्यवहार करते हैं। बैलों के स्वास्थ्य का कोई ध्यान नहीं रखा जाता; उनकी एक-एक हड्डी दिखाई पड़ती है।.....शास्त्रियों ने लिखा है कि या तो पशु हमें मार डालेंगे या फिर अपने को बचाने के लिए उनको मारना हमारा धर्म हो जायगा। ऐसा हुआ तो दुनिया हम पर हँसेगी कि ये लोग गाय के पुजारी होकर उसे मारते हैं।

हम गाय की सुरक्षा के लिए मरते नहीं; दूसरों को मारते हैं। मारें भी तो किसे? अंग्रेजों को? नहीं उन्हें कैसे मार सकते हैं? वे ताक़तवर हैं। यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम है, लेकिन उनके पास शासन और शस्त्र हैं। वे जितनी चाहते हैं, गाय खाते हैं, बीफ यानी गोमांस का व्यापार करते हैं। वे जितनी चाहते हैं, तन्दुरुस्त और अच्छी से अच्छी गायें हिन्दुस्तान से मारने के लिए ले जाते हैं। वे गायें मुसलमान नहीं बेचते, क्योंकि उनके पास इतनी गायें नहीं हैं। वे गायें आप ही देते हैं। फिर, वे बीफ़-टी बेचते और हम सब खाते हैं, क्योंकि डाक्टर लिख देता है कि उसे खाना चाहिए। मेरे एक वैष्णव-मित्र हैं। उन्होंने बीफ खाई और बताया कि डाक्टर ने कहा है कि उसके बगैर जिन्दा नहीं रह सकते, इसलिए खाना ही पड़ता है।

.....गाय को बचाना है, तो अपना धर्म समझिए। सच्ची दया, सच्चा धर्म क्या है, यह जानिए। जानवरों को कैसे पालना चाहिए, यह सीखिए।..... गाय की रक्षा करना हमारा धर्म है। बल्कि मैं तो कहूँगा कि यह हर इंसान का

धर्म है क्योंकि गाय का दूध और घी खाना सबके फायदे की चीज़ है।..... हमें गोरक्षा के लिए सबसे पहिले अपने को नम्र बनाने की कोशिश करनी चाहिए। हम किसी पर गुस्सा न करें बल्कि दूसरों को समझा-बुझाकर गोरक्षा का प्रयत्न करें। तभी हम सफल हो सकते हैं।

—बांकीपुर-मैदान (बिहार) प्रार्थना-सभा २५।४।१९४७। ह० से०, ११।५। १९४७]

११६. हिन्दुत्व का लक्षण

मैं खुद सनातनी हिन्दू होने का दावा करता हूं। लेकिन पवित्र हृदय और सहिष्णुता के बिना केवल यज्ञोपवीत पहिनने और चोटी रखने से कोई हिन्दू नहीं कहला सकता।

—प्रार्थना सभा, १।६।१९४७। नई दिल्ली, ३।६।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ८।६।१९४७]

११७. ईश्वर का रूप और उसका वास

ब्रह्मचर्य क्या है, यह बताते हुए मैंने लिखा था कि ब्रह्म यानी ईश्वर तक पहुँचने का जो आचार होना चाहिए वह ब्रह्मचर्य है। लेकिन इतना जान लेने से ईश्वर के रूप का पता नहीं चलता। अगर उसका ठीक पता चल जाय, तो हम ईश्वर की ओर जाने का ठीक रास्ता भी जान सकते हैं। ईश्वर मनुष्य नहीं है। इसलिए वह किसी मनुष्य में उतरता है या अवतार लेता है, ऐसा कहें तो यह पूरा सत्य नहीं है। एक तरह से, ईश्वर किसी खास मनुष्य में उतरता है, ऐसा कहने का अर्थ सिर्फ इतना ही हो सकता है कि वह मनुष्य ईश्वर के अधिक निकट है, उसमें अधिक ईश्वरत्व दिखाई देता है। ईश्वर तो सब जगह उपस्थित है। वह सबमें मौजूद है। इसलिए हम सब ईश्वर-अवतार हैं। मगर ऐसा कहने से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। राम, कृष्ण वगैरह को हम अवतार कहते हैं, क्योंकि उनमें लोगों ने ईश्वर के गुण देखे। आखिर तो राम, कृष्ण वगैरह मनुष्य के काल्पनिक संसार में बसते हैं और उसके काल्पनिक चित्र ही हैं। इतिहास में ऐसे लोग हो गये या नहीं, इसके साथ इन कल्पना की तसवीरों का कोई सम्बन्ध नहीं। कई बार हम इतिहास के राम और कृष्ण को ढूंढते हुए मुश्किल में पड़ जाते हैं और हमें कई तरह के तर्कों का सहारा लेना पड़ता है।

सच बात यह है कि ईश्वर एक शक्ति है, तत्त्व है, शुद्ध चैतन्य है, सर्वव्यापी है। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि ऐसा होते हुए भी सबको उसका सहारा या लाभ नहीं मिलता, या यों कहें कि सब जगह उसका सहारा नहीं पा सकते।

बिजली एक बड़ी ताक़त है। मगर सब उससे फ़ायदा नहीं उठा सकते। उसे पैदा करने का अटल क़ानून है। उसके अनुसार काम किया जाय तभी बिजली पैदा की जा सकती है। बिजली जड़ है, बेजान चीज़ है। उसके प्रयोग का नियम चेतन मनुष्य परिश्रम करके जान सकता है। जिस चेतनामय अत्यन्त बड़ी शक्ति को हम ईश्वर कहते हैं, उसके इस्तेमाल का भी नियम तो है ही। लेकिन यह बि कुल स्पष्ट है कि उस नियम को ढूंढ़ने के लिए बहुत अधिक परिश्रम की आवश्यकता है। उस नियम का छोटा-सा नाम है ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य-पालन का सीधा रास्ता राम-नाम है, यह मैं अपने अनुभव से कह सकता हूं। तुलसीदास-जैसे भक्त ऋषि-मुनियों ने तो वह रास्ता बताया ही है। कोई मेरे अनुभव का आवश्यकता से अधिक अर्थ न निकाले। राम-नाम सर्वव्यापी रामबाण औषधि है, यह शायद मैंने पहिले-पहल उरूलीकांचन में ही साफ-साफ जाना था। जो उसका पूरा प्रयोग जानता है, उसे जगत् में कम-से-कम बाहरी काम करना पड़ता है। फिर भी उसका काम बड़े-से-बड़ा होता है।

इस तरह विचार करते हुए मैं कह सकता हैं कि ब्रह्मचर्य की रक्षा के जो नियम माने जाते हैं, वे खेल ही हैं। सच्ची और अमर रक्षा तो राम-नाम ही है। राम जब जीभ से उतरकर हृदय में बस जाता है, तभी उसका पूरा चमत्कार दिखलाई देता है। यह अचूक साधन पाने के लिए एकादश व्रत तो है ही। मगर कई साधन ऐसे होते हैं कि उनमें से कौन-सा साधन और कौन-सा साध्य है, यह अन्तर करना मुश्किल हो जाता है। एकादश व्रत में से सत्य को ही लें, तो पूछा जा सकता है कि क्या सत्य साधन है और राम साध्य? या राम साधन है और सत्य साध्य है।

मगर मैं सीधी बात पर जाऊं। ब्रह्मचर्य का आज का माना हुआ अर्थ लें तो वह है—जननेन्द्रिय पर नियन्त्रण करना। इस संयम का सुनहला रास्ता और उसकी अमर रक्षा राम-नाम है। इस राम-नाम को सिद्ध करने के नियम तो हैं ही। इस बारे में हम कुछ महीनों पहिले विचार कर चुके हैं, तो भी आगे और सोचेंगे।

—नई दिल्ली, १४।६।१९४७। ह० ब०, २२।६।१९४७]

- ईश्वर एक शक्ति है, तत्त्व है, शुद्ध चैतन्य है, सर्वव्यापी है।
- ब्रह्मचर्य-पालन का सीधा रास्ता राम-नाम है।
- राम-नाम सर्वव्यापी रामबाण-औषधि है।

११८. हिन्दू-धर्म के प्राचीन लक्षण

प्रत्येक धर्म और उसके अनुयायियों को सहिष्णुता की दृष्टि से देखना और जिन धर्मों और संस्कृतियों का सम्पर्क हो उनकी अच्छी बातों को सीखना और पचाना यह प्राचीन काल से हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति का विशेष गुण रहा है।

—नई दिल्ली, १५।६।१९४७ ह० ज० । ह० से०, २२।६।१९४७]

११९. नाम-साधना की निशानियां

जिसके हृदय से राम-नाम निकलता है, उसकी पहचान क्या है? अगर हम इतना न समझ लें, तो राम-नाम की फजीहत हो सकती है। वैसे भी तो होती है। माला पहिन कर और तिलक लगाकर राम-नाम बड़बड़ाने वाले तो बहुत मिलते हैं। कहीं मैं उनकी संख्या को बढ़ा तो नहीं रहा हूँ? यह डर ऐसा-वैसा नहीं है। आजकल के मिथ्याचार में क्या करना चाहिए? क्या चुप रहना ही ठीक नहीं? हो सकता है। लेकिन बनावटी मौन से कोई लाभ नहीं है। जीते-जागते मौन के लिए बड़ी भारी साधना की ज़रूरत है। उसके अभाव में हृदयगत् राम-नाम की पहचान क्या है? हम इसपर गौर करें।

एक वाक्य में कहा जाय तो राम के भक्त और गीता के स्थितप्रज्ञ में कोई भेद नहीं है। ज्यादा गहरे उतरें तो हम देखेंगे कि राम-भक्त पंचमहाभूतों का सेवक होगा। वह प्रकृति के नियम पर चलेगा। इसलिए उसे किसी तरह की बीमारी नहीं होगी। होगी भी तो उसे पंचमहाभूतों की सहायता से अच्छा कर लेगा। किसी भी उपाय से भौतिक दुःख दूर कर लेना शरीरी का काम नहीं, शरीर का भले हो। इसलिए जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं, जिनकी दृष्टि में शरीर से अलग शरीरधारी आत्मा-जैसा कोई तत्त्व नहीं, वे तो शरीर को टिकाये रखने के लिए सारी दुनिया में भटकेंगे। लंका जायेंगे। इससे उलटे, जो यह मानता है कि आत्मा देह में रहते हुए भी देह से अलग है, हमेशा कायम रहनेवाला तत्त्व है, अनित्य शरीर में बसता है, शरीर की सम्हाल तो रखता है, पर शरीर के जाने से घबराता नहीं, दुःखी नहीं होता और सहज ही उसे छोड़ देता है, वह देहधारी डाक्टर-वैद्यों के पीछे नहीं भटकता। वह खुद ही अपना डाक्टर बन जाता है। सब काम करते हुए भी वह आत्मा का ही विचार करता है। वह मूर्च्छा में से जागे हुए की तरह बर्ताव करता है।

ऐसा इंसान हर साँस के साथ राम-नाम जपता रहता है। वह सोता है, तो भी उसका राम जागता है। खाते-पीते कुछ भी काम करते हुए राम उसके साथ ही रहेगा। इस साथी का खो जाना ही इंसान की सच्ची मृत्यु है।

इस राम को अपने पास रखने के लिए या अपने आपको राम के पास रखने के लिए वह पंचमहभूतों की मदद लेकर सन्तोप मानेगा। यानी वह मिट्टी, हवा पानी, सूरज की रोशनी और आकाश का सहज, साफ और व्यवस्थित तरीके से इस्तेमाल करके जो पा सकेगा, उसमें सन्तोप मानेगा। यह उपयोग राम-नाम का पूरक नहीं, राम-नाम की साधना की निशानी है। राम-नाम को इन मददगारों की जरूरत नहीं। लेकिन इसके वदले जो एक के वाद दूसरे वैद्य-हकीमों के पीछे दौड़े और राम-नाम का दावा करे, उसकी वात कुछ जँचती नहीं।

एक ज्ञानी ने तो मेरी वात पढ़कर यह लिखा कि राम-नाम ऐसा रसायन है जो शरीर को वदल डालता है। वीर्य को इकट्ठा करना छुपा कर रखे हुए धन के समान है। उसमें अमोघ शक्ति पैदा करनेवाला तो राम-नाम ही है। खाली संग्रह करने से तो घवराहट होती है। किसी भी समय उसका पतन हो सकता है। लेकिन जव राम-नाम के स्पर्श से वह वीर्य गतिमान होता है, ऊर्ध्वगामी वनता है, तव उसका पतन असम्भव हो जाता है। शरीर के पोषण के लिए शुद्ध खून जरूरी है। आत्मा के पोषण के लिए शुद्ध वीर्य-शक्ति की जरूरत है। इसे दिव्य शक्ति कह सकते हैं। यह शक्ति सारी इन्द्रियों की शिथिलता को मिटा सकती है। इसलिए कहा है कि राम-नाम हृदय में पैठ जाय, तो नई जिन्दगी शुरू होती है। यह कानून, जवान, वूढ़े, मर्द, औरत सव पर लागू होता है।

पश्चिम में भी यह खयाल पाया जाता है। क्रिश्चियन सायन्स नाम का सम्प्रदाय विलकुल यही नहीं, तो क़रीव-क़रीव इसी तरह की वात कहता है। राजकुमारी अमृतकौर ने 'सेवन्थ डे एडवेंटिस्ट' की पुस्तक में से इसी तरह के अवतरण 'हरिजन' के इस अंक में दिये हैं।

मैं मानता हूँ कि हिन्दुस्तान को ऐसे सहारे की ज़रूरत नहीं, क्योंकि यहां ऐसी दिव्य विद्या पुराने ज़माने से चली आ रही है।

—हरद्वार, २१।६।१९४७। ह० व०। ह० से०, २९।६।१९४७]

- वनावटी मौन से कोई लाभ नहीं।
- राम-भक्त पंचमहाभूतों का सेवक होगा।
- किसी भी उपाय से दुःख दूर कर लेना शरीरी का काम नहीं, शरीर का भले हो।
- राम-नाम हृदय में पैठ जाय तो नई जिन्दगी शुरू होती है।

१२०. धर्म की दृष्टि

शुद्ध हिन्दू-धर्म में छोटे-वड़े का कोई भेद नहीं है। भगवान की दृष्टि में सव समान हैं। संसार के सारे धर्मों की आज परीक्षा हो रही है। मैं चाहता हूं कि इस परीक्षा में हिन्दू-धर्म पूरे नम्वरों से पास हो।

—नई दिल्ली, प्रार्थना-सभा, १७।७।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २७।७।-१९४७]

१२१. गो-रक्षा

मैं हमेशा गो-पूजक रहा हूं, लेकिन कोई कारण नहीं है कि गो-वध हिन्दू-धर्म के विरुद्ध है, इसलिए मैं आपकी सरकार से कहूं कि वह उसे वन्द कर दे।.....

—नई दिल्ली, १९।७।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २७।७।१९४७]

१२२. उदार हिन्दू-धर्म

हिन्दू-धर्म ने कभी दूसरों का वहिष्कार नहीं किया। भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायियों ने हिन्दुस्तान को एक और अखण्ड राष्ट्र वनाया है।

—नई दिल्ली, २८।७।१९४७। ह० ज०। ह० से०, १०।८।१९४७]

१२३. गो-रक्षा का उपाय

हिन्दू-धर्म में और हिन्दुस्तानी जीवन की आर्थिक व्यवस्था में गाय का क्या स्थान है, इसके वारे में लोग वहुत ही कम जानते हैं। हिन्दुस्तान विदेशी हुकूमत से आज़ाद तो हो गया, लेकिन साथ ही देश के सारे दलों के एक मत से उसके दो टुकड़े भी हो गये हैं। इससे सामान्य जनता में ऐसा विश्वास पैदा हो गया है कि वे एक हिस्से को हिन्दू-हिन्दुस्तान और दूसरे को मुस्लिम-हिन्दुस्तान कहने लगे हैं। इस विश्वास का समर्थन नहीं किया जा सकता। फिर भी दूसरे सारे झूठे विश्वासों की तरह हिन्दू-हिन्दुस्तान और मुस्लिम-हिन्दुस्तान का यह विश्वास भी वड़ी कठिनाई से दूर होगा। सच वात तो यह है कि जो कोई अपने आपको इस देश की सन्तान कहते हैं और हैं, वे सव हिन्दुस्तानी संघ और पाकिस्तान के एक-से नागरिक हैं, फिर वे किसी भी धर्म या रंग के हों।

फिर भी, प्रभाववाले हिन्दू बहुत बड़ी तादाद में यह झूठा विश्वास करने लगे हैं कि हिन्दुस्तानी संघ हिन्दुओं का है और इसलिए उन्हें कानून के द्वारा अपने इस विश्वास को गैर-हिन्दुओं से भी बलात् मनवाना चाहिए। इसलिए यूनियन में गायों की हत्या को रोकने का कानून बनवाने के लिए सारे देश में जोश की एक लहर-सी फैल रही है।

ऐसी हालत में—जिसकी नींव मेरी राय में अज्ञान है—हिन्दुस्तान में दूसरों-जैसा ही गाय का भक्त और समझदार प्रेमी होने का दावा करते हुए मुझे अच्छे ढंग से लोगों के इस अज्ञान को दूर करने की कोशिश करनी चाहिए।

सबसे पहिले हम यह समझ लें कि धार्मिक अर्थों में गाय की पूजा बड़े पैमाने पर सिर्फ गुजरात, मारवाड़, यू० पी०[1] और बिहार में ही होती है। गुजराती और मारवाड़ी लोग साहसी व्यापारी होते हैं। इसलिए वे इस बारे में बड़ी-से-बड़ी आवाज़ उठाने में सफल हुए हैं। लेकिन गो-हत्या के खिलाफ़ आवाज़ उठाने के साथ-ही-साथ वे अपनी व्यापारी बुद्धि को हिन्दुस्तान के पशु-धन की रक्षा के अत्यन्त कठिन प्रश्न को हल करने में नहीं लगा रहे हैं।

अपने धर्म के आचार-विचार को कानून-द्वारा दूसरे धर्म के लोगों पर लादना बिल्कुल गलत चीज़ है।

अगर गो-रक्षा के सवाल को सिर्फ आर्थिक आवश्यकता की दृष्टि से देखा जाय, तो वह बड़ी आसानी से हल किया जा सकता है। लेकिन शर्त यही है कि उस पर केवल आर्थिक आधार पर ही विचार किया जाय। इस हालत में दूध न देनेवाले सारे मवेशी, अपने पालने के खर्च से भी कम दूध देनेवाली गायें और बूढ़े व बेकार जानवर बिना किसी हिचकिचाहट के मार डाले जाने चाहिए। इस निर्दय आर्थिक व्यवस्था के लिए हिन्दुस्तान में कोई जगह नहीं है, हालांकि आपसी विरोधवाले मतों के इस देश के लोग कभी कठोर काम करने के अपराधी हो सकते हैं और सचमुच हैं।

अब सवाल यह है कि, जब गाय अपने पालन-पोषण के खर्च से भी कम दूध देने लगती है या दूसरी तरह से नुकसान पहुँचानेवाला बोझ बन जाती है तो बिना मारे उसे कैसे बचाया जा सकता है? इस सवाल का जवाब थोड़े में इस तरह दिया जा सकता है :—

१. हिन्दू, गाय और उसकी सन्तान के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा करके उसे बचा सकते हैं। अगर वे ऐसा करें, तो हमारे जानवर हिन्दुस्तान और संसार के गौरव बन सकते हैं। आज इससे बिल्कुल उल्टा हो रहा है।

---

१. उत्तर प्रदेश।

२. जानवरों के पालन-पोषण का विज्ञान सीखकर गाय की रक्षा की जा सकती है। आज तो इस काम में पूरी अन्धाधुन्धी चलती है।

३. हिन्दुस्तान में आज जिस वेरहम तरीके से बैलों को बधिया बनाया जाता है, उसकी जगह पश्चिम के हमदर्दी-भरे और नरम तरीके काम में लाकर उसे बचाया जा सकता है।

४. हिन्दुस्तान के सारे पिंजरापोलों का पूरा-पूरा सुधार किया जाना चाहिए। आज तो हर जगह पिंजरापोल का इन्तजाम ऐसे लोग करते हैं जिनके पास न कोई योजना होती है और न वे अपने काम की जानकारी ही रखते हैं।

५. जब ये महत्त्व के काम कर लिये जायंगे,तो मुसलमान खुद दूसरे किसी कारण से नहीं तो अपने हिन्दू भाइयों के खातिर ही मांस या दूसरे मतलब के लिए गाय को न मारने की ज़रूरत को समझ लेंगे।

पाठक यह देखेंगे कि ऊपर बताई हुई ज़रूरतों के पीछे एक खास चीज़ है। वह है अहिंसा, जिसे दूसरे शब्दों में प्राणिमात्र पर दया कहा जाता है। अगर इस सबसे बड़े महत्त्व की बात को समझ लिया जाय, तो दूसरी सब बातें आसान बन जाती हैं। जहां अहिंसा है, वहां अपार धीरज, आन्तरिक शान्ति, भले-बुरे का ज्ञान, आत्म-त्याग और सच्ची जानकारी भी है। गो-रक्षा कोई आसान काम नहीं है। उसके नाम पर देश में बहुत पैसा बरबाद किया जाता है। फिर भी अहिंसा के न होने से हिन्दू गाय के रक्षक बनने के बजाय उसके नाश करनेवाले बन गये हैं। गो-रक्षा का काम हिन्दुस्तान से विदेशी हुकूमत को हटाने के काम से भी अधिक कठिन है।[1]

—कलकत्ता, २२।८।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ३१।८।१९४७]

१२४. हिन्दू-धर्म और पाकिस्तान

पाकिस्तान. हिन्दू-धर्म को कभी बरबाद नहीं कर सकेगा। सिर्फ हिन्दू ही स्वयं को और अपने धर्म को बरबाद कर सकते हैं। इसी तरह अगर पाकिस्तान

---

१. टिप्पणी—कहा जाता है कि हिन्दुस्तान की गाय रोजाना लगभग २ पौण्ड दूध देती है, जब न्यूजीलैण्ड की १४ पौण्ड, इंग्लैण्ड की १५ पौण्ड और हालैण्ड की गाय रोजाना २० पौण्ड दूध देती है। जैसे-जैसे दूध की पैदावार बढ़ती है, वैसे-वैसे तन्दुरुस्ती के आँकड़े भी बढ़ते हैं।

—२३।८।१९४७

बरबाद हुआ तो वह पाकिस्तान के मुसलमानों द्वारा ही होगा, हिन्दुस्तान के हिन्दुओं द्वारा नहीं।

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, २५।९।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ५।१०।१९४७।]

१२५. प्राण-प्रतिष्ठा

मूर्ति पत्थर की होती है, लोहे; सोने, चांदी या मिट्टी की होती है। लेकिन जबतक उसकी प्राण-प्रतिष्ठा नहीं होती, तबतक वह पूजा के योग्य नहीं होती। पवित्र हाथों से मूर्ति की प्रतिष्ठा और पूजा होनी चाहिए। तब उसमें प्राण आते हैं।.....

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, ३०।११।१९४७। ह० से०, ७।१२।१९४७]

१२६. हिन्दू-धर्म की व्याख्या

मैं अपने हिन्दू-धर्म की व्याख्या दे सकता हूं। वह यह है कि जो सब धर्मों को समान माने वही हिन्दू-धर्म है।

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, २३।१।१९४८। ह० से०, १।२।१९४८]

१२७. देव-मन्दिर

[फीनिक्स (नेटाल) में जिस जगह गांधी जी का आश्रम था वहां से ७ मील पर वेरूमल नामक एक प्रसिद्ध गांव है। वहां के हिन्दू-निवासियों ने वहां एक कृष्ण-मन्दिर निर्माण कराया था, जिसका द्वार महात्मा गांधी के हाथों खुलाया गया था। निश्चित समय पर हजारों मनुष्यों की उपस्थिति में महात्मा जी के हाथों में सोने की कुंजी दी गई। वे हँस पड़े। नियमानुसार मन्दिर का द्वारोद्‌घाटन कर चुकने पर उन्होंने हिन्दी में जो व्याख्यान दिया, वह इस प्रकार है।—सम्पा०]
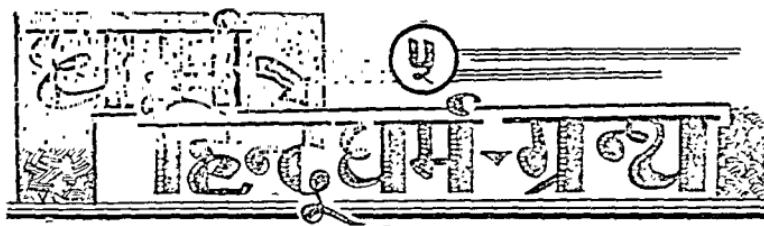
परमेश्वर का द्वार रात-दिन सर्वदा खुला ही रहता है। तिस पर भी जो मुझसे उसे खुलवाने का स्वांग कराया गया है उसे देख कर प्रभु हँसेंगे। मैं जानता हूँ कि ईश्वर का द्वार खोलने का अभिमान रखनेवाले मनुष्य को पापी समझना चाहिए। फिर भी जो इस स्थान पर मैंने उसे खोलने की रस्म पूरी की है उसका कारण केवल वह प्रेम है जो मन्दिर के कार्यकर्त्ताओं का मुझ पर है। उसके अतिरिक्त वर्तमान समय में मन्दिर का अर्थ दुराचार का प्रधान कार्यालय ही समझा जाने लगा है।

लोग उन्हें अहदीखाना ही समझते हैं। यदि कुछ काल के उपरान्त यह मन्दिर भी उसी अवस्था को पहुँच गया—ईश्वर के बदले दुराचार का आवास-स्थान बन गया-तो मैं पाप -भागी हूँगा और उसका मुझे प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। ईश्वर करे, ऐसा समय न आवे। मन्दिर के कार्यकर्त्ताओं से मैं परिचित हूं। उन पर मेरी श्रद्धा है। फिर भी मैं उनसे यह कहूंगा कि आप लोगों की लापरवाही से यदि यह मन्दिर ईश्वर का निवास-स्थान न रह कर शैतान का निवास-स्थान हो गया तो इसका कड़वा फल आपको जरूर चखना पड़ेगा। मन्दिर का ताला खोलने के लिए मुझे सोने की कुंजी दी गई है। इस सुनहले ताले और सुनहरी ताली ने मेरे मन में खलवली डाल दी है। इनको मैं किस मजबूत सन्दूक में रखूं? भारत में मेरे रहने के लिए झोपड़ी भी मिलेगी या नहीं, इसका कोई निश्चय नहीं है। फिर इस ताले-कुंजी को कहां छिपाऊं कि जहां से कोई चोर इन्हें न चुरा सके? मेरी समझ से यहां बुला कर आपने मेरा उपकार नहीं, किन्तु अपकार ही किया है।

और इस भगवद्गीता को देख कर तो हँसी के मारे मेरा बुरा हाल हुआ जाता है। इस पुस्तक की जिल्द चाँदी से मढ़ी गई है और उस पर सुनहले बेल-बूटे बनाये गये हैं। पवित्र गीता-पुस्तक सोने-रूपे में मढ़ी गई, इसलिए अपवित्र हो गई। आपकी यह भेंट लेकर मैं क्या करूंगा? जब-जब मैं आपकी दी हुई इस गीता का पाठ करने बैठूंगां तब-तब भगवान श्रीकृष्ण के निष्काम उपदेशों के और मेरे बीच यह सोना खड़ा होकर मेरा मन चंचल कर देगा। यह पुस्तक भेंट करने की अपेक्षा यदि आप सच्चे मन से मुझे यह आशीर्वाद देते कि मेरा तन-मन गीतामय हो जाय तो इससे मेरा अधिक उपकार होता। मेरी इस बड़ी टीका से आपके चित्त को दुःख न पहुँचना चाहिए। मुझ पर अपका जो प्रेम है उसके सामने आपकी छोटी-छोटी भूलें अदृश्य-प्राय हो जाती हैं, इसी से प्रेम-पूर्वक दी हुई आपकी भेंट सादर ग्रहण करता हूं।

—महात्मा गांधी, संकलन, गांधी हिन्दी पुस्तक भण्डार, बम्बई, संस्करण-पौष संवत् १९७८]

हिन्दू धर्म-ग्रन्थ

१. तुलसीकृत रामायण का सार

आजकल भारतीय प्रजा की सन्तान विदेश-यात्रा बहुत करती है। विदेश में अपने धर्म का ख़याल रखना सबके लिए कठिन होता है। परन्तु हिन्दुओं के लिए तो और भी कठिन है। लेखक का मत है कि सामान्य हिन्दू धर्म का रहस्य जानना केवल सब हिन्दुओं का ही नहीं सारे भारतीयों का काम है।

सामान्य हिन्दू-धर्म सबको मान्य होने योग्य है। उसका रहस्य नीति में समाया हुआ है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि सभी धर्म सच्चे और समान हैं, क्योंकि नीति से अलग कोई धर्म नहीं हो सकता।

बात जो भी हो, साधारण हिन्दू-धर्म का रूप रामायण से यथावत् देखा जा सकता है। मूल रामायण[1] संस्कृत में है। उसे थोड़े ही लोग पढ़ते हैं। उसका अनुवाद संसार की बहुत-सी भाषाओं में हुआ है। यह रचना भारत की सभी प्राकृत भाषाओं में भी उपलब्ध है। इन सभी अनुवादों को परखें तो तुलसीदास जी की रामायण के सामने कोई अनुवाद टिकने योग्य नहीं है। सच पूछा जाय तो तुलसीदास-जी की भक्ति ऐसी अनन्य थी कि उन्होंने अनुवाद करने के बजाय उसमें अपने ही भावों को गाया है। मद्रास के अलावा भारत का कोई भी भाग ऐसा नहीं है, जहां तुलसीकृत रामायण से कोई हिन्दू सर्वथा अनभिज्ञ निकले। ऐसी रामायण भी विदेशों में और स्वदेश में भी सभी लोग पूरी नहीं पढ़ते। पढ़ने का अवकाश नहीं मिलता। ऐसी पुस्तकें संक्षिप्त रूप में प्रकाशित की जायँ तो भारतीयों के लिए बड़ी कल्याण-कारी हों।.....

—गुजराती। इं० ओ०, १७।१०।१९०८। सं० गां० वां० खण्ड ९, पृष्ठ ९९]

२. रामायण, महाभारत

[श्री जमनादास गांधी को लिखे पत्र से]

रामायण और महाभारत में इतिहास कम और कल्पना अधिक है, इसमें सन्देह नहीं। ये दोनों ही धर्मग्रन्थ हैं। करोड़ों लोग उन्हें इतिहास से अधिक महत्व

---

१. वाल्मीकीय रामायण।

देते हैं। और यह उचित ही है। भरत-जैसा राम का भाई भले ही न हुआ हो, किन्तु वैसे भरत भारत में हुए हैं। तभी तो तुलसीदास उनकी कल्पना कर सके। जिन लोगों में रामायण में वर्णित गुण हैं, भारतवर्ष उनकी वन्दना करता है।
—चैत्र सुदी १२, २८।३।१९१५। सं० गां० वां०, खण्ड १३, पृ० ४५]

३. स्मृतियां

ईसाई आलोचक हमारी स्मृतियों की अपूर्णता बताकर उनको सामान्य ग्रन्थ सिद्ध करना चाहते हैं। मैं यह बताने का प्रयत्न करता हूं कि स्मृतियों की अपूर्णता का कारण या तो उनमें प्रक्षिप्त श्लोकों का मिलाया जाना है या हमारे अवःपतन के काल में मान्यताप्राप्त स्मृतिकारों द्वारा अपने-अपने श्लोकों का जोड़ा जाना है। इन श्लोकों को निकाल कर शेष स्मृतियों की अपूर्वता सिद्ध की जा सकती है। मिथ्याभिमान या अज्ञान से स्मृतियों में और हिन्दू-धर्म के अन्य सब ग्रन्थों में कोई भी दोष नहीं है, ऐसा मान कर और दूसरों से मनवाकर मैं हिन्दू-धर्म का लँगड़ा बचाव कदापि नहीं करना चाहता। मेरा दृढ़ विश्वास है कि ऐसा करने से हिन्दू-धर्म की उन्नति नहीं होती, बल्कि अवनति ही होती है। जिस धर्म में सत्य को उत्कृष्ट स्थान दिया गया है उसमें असत्य का समर्थन कदापि नहीं हो सकता।
—भगिनी समाज, बम्बई में दिये गए भाषण से, २०।२।१९१८। गुजराती। 'महात्मा गांधीनी विचार-सृष्टि।' सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० १९१]

४. गीता : धर्मों का सार

गीता कोई ऐतिहासिक कृति नहीं है। यह तो एक महान धर्म-ग्रन्थ है, जिसमें समस्त धर्मों की शिक्षाएं सार रूप में दी गई हैं।
—८।५।१९१९। सं० गां० वां०, खण्ड १५, पृ० २९७]

५. गीता की सार्वदेशिकता

हिन्दुओं में गीता सार्वदेशिक रूप में स्वीकार की जाती है।
—मूल गुजराती। नवजीवन, १२।१०।१९१९। अंग्रेज़ी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० २३१।]

६. दैनिक व्यवहार में गीता

सम्मत धर्म

.....मेरे कार्यक्षेत्र की मर्यादा बँधी हुई है। भगवान श्रीकृष्ण के गीता के उपदेशानुसार चलने का प्रयत्न करनेवाला मैं एक क्षुद्र मनुष्य हूं और मैं यह समझता हूँ कि मेरा अपना धर्म थोड़े से थोड़े में भी क्या है :—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

दूसरा धर्म चाहे जितना अच्छा लगता हो, पर मेरे लिए मेरा मर्यादित धर्म ही भला है, दूसरा भयावह है।

परधर्म-रक्षा ही स्वधर्म रक्षा है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न--आप मुसलमानों के लिए पक्षपात क्यों करते हैं? कितने मुसलमान नेता आपके ऊपर वैयक्तिक आक्षेप करते हैं। उनका आप जवाब भी नहीं देते। ऐसा क्यों?

उत्तर---पर-धर्म का शुद्ध पक्ष लेने में मैं अपने धर्म की रक्षा ही करता हूँ। मैं हिन्दू धर्म का नाश नहीं चाहता; मैं नाश कर नहीं सकता, क्योंकि मैं हिन्दू-महासागर की एक बूंद मात्र हूँ। मुसलमान मुझे काफिर कहें तो उससे क्या हुआ? उसका जवाब क्या देना है? मेरा भानजा मेरे साथ ही रहता था। जब दूसरों को लगा कि मैं उसका पक्षपात करता हूँ उस समय मैंने और उसने भी समझा कि मैं उसके साथ न्याय ही करता था। मुसलमान जब मुझ पर आक्षेप करते हैं तो इससे शायद यह मालूम होता है कि मैं उन्हें अभी पूरा न्याय न देता होऊँगा। मुझे जवाब देने की आवश्यकता क्यों हो? मेरे तो चौबीसो घण्टे श्रीकृष्ण भगवान को समर्पित हैं। वही मेरी रक्षा करते हैं और मैं दासानुदास श्रीकृष्णभगवान से सदा प्रार्थना करता हूँ कि, हे कृष्ण मेरी ओर से जो जवाब देना हो वह तू ही जाकर दे आ।

खिलाफत और गीतानुरूप आचरण

प्रश्नोत्तर

प्रश्न--आपने खिलाफ़त की लड़ाई जी-जान से लड़ी। उसी प्रकार आज हिन्दू-संगठन के लिए क्यों नहीं जुट जाते?

उत्तर---खिलाफत के लिए प्राण अर्पण करने की मेरी प्रतिज्ञा थी। परधर्मी के लिए मैंने जो भी हो सका, किया। मैं मानता था और अब भी मानता हूँ कि

मेरी इस सेवा से गोरक्षा होगी। आप पूछेंगे कि गोरक्षा हुई ? गोरक्षण नहीं हुआ, पर इससे मुझे क्या ? मैं तो प्रयत्न का अधिकारी था। फल के अधिकारी तो श्रीकृष्ण भगवान हैं। भगवान ने कहा कि मुहम्मद अली से मिल, शौकत अली से मिल, उनके साथ काम कर। मैंने वही किया। उन्हें जितनी मदद दी जा सकी, दी। इस काम के लिए मुझे तनिक भी पछतावा नहीं है। फिर ऐसा प्रसंग आये तो मैं यही करूँगा। लोग मेरी निन्दा करें, इसके उत्तर में मैं भी उनकी निन्दा और अपमान करनेवाला नहीं। मैं तो वह करूँगा जो करने का तुलसीदास जी ने उपदेश दिया है—यानी तपश्चर्या। मेरी प्रकृति ही ऐसी बनी है। मुझसे दूसरा क्या होगा ? गीता जी ने कहा है न कि सब जीव अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं, निग्रह क्या करेगा। इसलिए मुझे तो तपश्चर्या करनी रही। जब मुसलमानों के दिल में खुदा बसेंगे और जब एक दिन ऐसा आयेगा कि हिन्दुओं के समान वे भी गोरक्षा करेंगे, मैं भविष्यवाणी करता हूँ कि तब आप कहेंगे—यह गोरक्षा पुराने जमाने के किसी गांधी नाम के पागल की आभारी है।

मैं नहीं मानता की आज की तरह तबलीग, शुद्धि या धर्म-परिवर्तन करने की आज्ञा इस्लाम, हिन्दू-धर्म या ईसाई-धर्म में है। तब मैं शुद्धि में किस प्रकार हाथ बँटा सकता हूँ ? तुलसीदास और गीता तो मुझे सिखलाते हैं कि जब तुम्हारे ऊपर या तुम्हारे धर्म पर आक्रमण हो तो तुम आत्मशुद्धि कर लेना। और जो पिण्ड में है वह ब्रह्माण्ड में है। आत्मशुद्धि—तपश्चर्या करने का मेरा प्रयत्न चौबीसों घण्टे चल रहा है। पार्वती के भाग्य में अशुभ लक्षणोंवाला पति था। ऐसे लक्षण होने पर भी शुभंकर शिव जी ही थे। पार्वती ने उन्हें तपोबल से पाया। संकट के समय ऐसा ही तप हिन्दू-धर्म सिखलाता है। इस धर्म-ज्ञान का साक्षी हिमालय है—वही हिमालय, जिसके ऊपर हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए लाखों ऋषि-मुनियों ने अपने शरीर गला डाले हैं। वेद कुछ कागज़ पर लिखे अक्षर नहीं हैं। वेद तो अन्तर्यामी हैं और अन्तर्यामी ने मुझे बतलाया है कि यम-नियमादि का पालन करें और कृष्ण का नाम लें। मैं विनय के साथ परन्तु सत्यता से कहता हूँ कि हिन्दू-धर्म की सेवा, हिन्दू-धर्म की रक्षा के सिवा मेरी दूसरी प्रवृत्ति नहीं। हाँ, उसे करने की मेरी रीति भले ही निराली हो।

कार्यक्षेत्र मर्यादित रखें

मेरा कार्यक्षेत्र मर्यादित है। दुर्योधन ने भी अपने योद्धाओं की मर्यादा का वर्णन किया था। यथाभागमवस्थिताः सभी को अपने-अपने स्थान पर रहने को और अपने स्थान पर रह कर भीष्म की रक्षा करने को कहा था। गीता

का वर्णाश्रम धर्म यही कहता है। वह सबको अपनी-अपनी मर्यादा समझने को कहता है।

निर्भय रहें

.....मनुष्य से डरना न चाहिए, मनुष्य से धोखा खाने का भय भी नहीं रखना चाहिए। ईश्वर के ऊपर विश्वास रख कर कि लोग धोखा देंगे तो भी ईश्वर देख लेगा, स्वधर्म करना चाहिए।

—३।३।१९२१। गीता-माता, पृ० ५५०-५५५, स० सा० मं०, संस्करण १९५०]

- मेरे लिए मेरा मर्यादित धर्म ही भला है, दूसरा भयावह है।
- मैं हिन्दू-महासागर की एक बूंद मात्र हूं।
- जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है।
- संकट के समय...हिन्दू-धर्म तप सिखलाता है।
- वेद कुछ काग़ज़ पर लिखे अक्षर नहीं हैं; वेद तो अन्तर्यामी हैं।
- हिन्दू-धर्म की रक्षा के सिवा मेरी दूसरी प्रवृत्ति नहीं।
- गीता का वर्णाश्रम धर्म...सबको अपनी-अपनी मर्यादा समझने को कहता है।

७. रामायण का प्रभाव

मेरे परिवार में रामायण नियमित रूप से पढ़ी जाती थी। लाधा महाराज नामक एक ब्राह्मण इसे पढ़ा करते थे। वे कोढ़ से पीड़ित थे और उन्हें विश्वास था कि रामायण के नियमित पाठ से उनका कोढ़ अच्छा हो जायगा। निश्चय ही वे इससे स्वस्थ हो गये।

—अहमदाबाद, १३।४।१९२१। यं० इं०, २७।४।१९२१ और ४।५।१९२१। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृष्ठ ५७०-७१]

८. मेरा धर्म-ग्रन्थ-ज्ञान

मैंने सदैव सनातनी हिन्दू होने का दावा किया है। ऐसा नहीं है कि मैं धर्म-ग्रन्थों से बिल्कुल अनभिज्ञ हूं। मैंने वेदों और उपनिषदों का केवल अनुवाद

पढ़ा है। इसलिए स्वाभावतः मैंने उनका शास्त्रीय अध्ययन नहीं किया है। उनके सम्बन्ध में मेरा ज्ञान किसी प्रकार पर्याप्त नहीं है किन्तु मैंने उन्हें इस तरह पढ़ा है, जिस तरह एक हिन्दू के नाते पढ़ना चाहिए और मैं उनकी सही भावना को समझ लेने का दावा करता हूँ। जब मैं इक्कीस वर्ष का हुआ मैंने दूसरे धर्मों का भी अध्ययन किया।

एक समय ऐसा भी था जब मैं हिन्दू-धर्म और ईसाई-धर्म के बीच डांवाडोल था। जब मैंने अपना मानसिक नियन्त्रण फिर प्राप्त किया तो अनुभव हुआ कि मेरे लिए मुक्ति हिन्दू-धर्म के द्वारा ही सम्भव है। (तबसे) हिन्दू-धर्म के प्रति मेरी आस्था और भी गहरी तथा ज्ञानपूर्ण हो गई।

—अहमदाबाद, १३।४।१९२१। यं० इं०, २७।४।१९२१ और ४।५।१९२१। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृष्ठ ५७१]

९. वर्णाश्रम

मैं वर्णाश्रम धर्म में विश्वास करता हूं। पर उस नाम से हम आज जिसे जानते हैं वह और कुछ नहीं, इसका बदला हुआ हास्यजनक रूप है। वर्णाश्रम धर्म समानता का सबसे सही मार्ग है। यह धर्म आत्म-उच्छृंखलता का नहीं, आत्म-बलिदान का है। यह उद्दण्डता का नहीं, नम्रता का धर्म है।

—एल्लोर, ३।४।१९२१। यं० इं०, ११।५।१९२१। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १९ पृ० ५१३]

१०. कृष्ण और महाभारत

कृष्ण जो करना चाहते थे, उसमें महाभारतकार के अनुसार, वे असफल हुए। वे सर्वशक्तिमान थे। उन्हें उच्च पद से उतार कर घसीटना व्यर्थ है।..... यदि हम उनके विषय में उन्हें निरा मर्त्य मनुष्य मानकर विचार करें तो उनका पलड़ा ऊँचा उठ जायगा और उन्हें पीछे की तरफ आसन मिलेगा।

जैसा कि आमतौर पर कहा जाता है, महाभारत न तो उपन्यास है, न इतिहास; वह मानव-आत्मा का इतिहास है, जिसमें ईश्वर कृष्ण के रूप में मुख्य नायक हैं। उस महाकाव्य में ऐसी कितनी ही बातें हैं, जिनमें मेरी अल्प बुद्धि अवगाहन नहीं

कर पाती; अनेक बातें ऐसी हैं जो स्पष्टतः क्षेपक हैं। वह चुना हुआ खजाना नहीं, वह तो एक खान है, जिसे खोदने की जरूरत है; जिसमें गहरे पैठने की जरूरत है; तब कंकड़-पत्थर निकालने पर हीरे हाथ आते हैं।.....

—यं० इं०। हि० न० जी०, २१।५।१९२५]

○ वह (महाभारत) मानव-आत्मा का इतिहास है।

११. कृष्ण और महाभारत

.....मुझे पता नहीं कि महाभारत का कृष्ण कभी हुआ भी था। मेरे कृष्ण का किसी ऐतिहासिक व्यक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। जो कृष्ण अपनी मानहानि होने पर हत्या करने के लिए उतारू होता हुआ बतलाया जाता है और अहिन्दू जिसका वर्णन दुराचारी युवक के रूप में करते हैं, उसके आगे मेरा सिर न झुकेगा। मैं जिस कृष्ण को मानता हूँ वह पूर्णावतार है; पूर्ण निष्कलंक और गीता को तथा लाखों मानव-प्राणियों के जीवन को अनुप्राणित करनेवाला है।

यदि कोई मुझे यह समझा दे कि महाभारत भी वर्तमान इतिहास-पुस्तकों की तरह एक इतिहास-ग्रन्थ है; महाभारत का एक-एक शब्द प्रमाणयुक्त है और महाभारत के कृष्ण ने वे ही कार्य किये हैं, जो उनके लिए कहे जाते हैं, तो मैं उस कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानने के लिए तैयार न होऊँगा। फिर चाहे मैं इसके लिए हिन्दू समाज से बाहर ही क्यों न निकाल दिया जाऊँ। पर मेरे नज़दीक महाभारत एक गहन धार्मिक ग्रन्थ है। वह अधिकांश में एक रूपक है। इतिहास के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। उसमें तो उस शाश्वत युद्ध का वर्णन है, जो हमारे अन्दर निरन्तर होता रहता है। वह ऐसी सजीव भाषा में किया गया है, जिससे कुछ समय के लिए हमारा यह विचार हो जाता है कि उसमें वर्णित कृत्य सचमुच मनुष्यों-द्वारा ही किये गये हैं। मैं वर्तमान महाभारत को मूल ग्रन्थ की वास्तविक प्रतिलिपि भी नहीं मानता। इसके विपरीत मैं मानता हूँ कि मूल महाभारत में अब तक कई परिवर्तन हो चुके हैं।

—यं० इं०। हि० न० जी०, ८।१०।१९२५]

○ मैं जिस कृष्ण को मानता हूँ, वह पूर्णावतार है।

○ मेरे नजदीक महाभारत एक गहन धार्मिक ग्रन्थ है।

○ उस (महाभारत) में तो उस शाश्वत युद्ध का वर्णन है जो हमारे अन्दर निरन्तर होता रहता है।

१२. गीता का अर्थ

[एक मित्र ने गांधी जी से गीता के सम्बन्ध में चले आ रहे चिरन्तन वाद-विवाद का निर्णय पूछा था—'इसका सन्देश हिंसा है अथवा अहिंसा?' इसका उत्तर देते हुए गांधी जी ने गीता के सम्बन्ध में अपना बहुमूल्य विचार प्रकट किया था। उसका आवश्यक अंश यहाँ दिया जा रहा है।—सम्पा०]

.....मनुष्य वही करेगा जिसे उसका हृदय करने को कहेगा। प्रथम हृदय है, फिर बुद्धि; प्रथम सिद्धान्त फिर प्रमाण; पहिले स्फुरण है और फिर उसके अनुकूल तर्क; पहिले कर्म फिर बुद्धि। इसीलिए बुद्धि कर्मानुसारिणी कही गई है। मनुष्य जो करता है या करना चाहता है उसके समर्थन के लिए प्रमाण ढूंढ़ निकालता है।

इसलिए मैं समझता हूँ कि मेरा गीता का अर्थ सबके अनुकूल न होगा। ऐसी स्थिति में यदि मैं इतना ही कहूँ कि गीता के अपने अर्थ पर मैं कैसे पहुँचा और धर्म-शास्त्रों का अर्थ निकालने के लिए मैंने किन सिद्धान्तों को मान्यता दी है तो यही पर्याप्त होगा।.....

सन् १८८९ में गीता जी से मेरा प्रथम परिचय हुआ। उस समय मेरी उम्र २० साल की थी। उन दिनों मैं अहिंसा धर्म को बहुत थोड़ा ही समझता था।..... मुझे उसमें से जीव-दया की प्रेरणा नहीं मिली थी। इसके पहिले मैं देश में ही मांसाहार कर चुका था।....

अब दो अंग्रेजों से सम्बन्ध होने पर मुझे गीता पढ़नी पड़ी। पढ़नी पड़ी, इसलिए कहता हूं कि मुझे उसको पढ़ने की कोई विशेष इच्छा नहीं थी। लेकिन जब इन दो भाइयों ने मुझे अपने साथ गीता पढ़ने को कहा, तब मैं शर्मिन्दा हुआ। मुझे अपने धर्मशास्त्रों का तनिक भी ज्ञान नहीं है, इस विचार से मुझे बड़ा दुःख हुआ। लगता है, इस दुःख का कारण अभिमान था। मेरा संस्कृत-अध्ययन ऐसा नहीं था कि मैं गीता के समस्त श्लोकों का अर्थ किसी की सहायता बिना ठीक-ठीक समझ लूँ। ये दोनों भाई तो कुछ नहीं समझते थे। इन्होंने सर एडविन आर्नाल्ड[1] द्वारा किया गया गीता जी का उत्तमोत्तम काव्यानुवाद मेरे सामने रख दिया। मैंने शीघ्र ही उस पुस्तक को पढ़ डाला और उस पर मुग्ध हो गया। तब से लेकर आज तक दूसरे अध्याय के अन्तिम १९ श्लोक मेरे हृदय में अंकित हैं। मेरे लिए तो समस्त धर्म उसी में आ गया है। उसमें सारा ज्ञान है। उसमें कहे हुए सिद्धान्त अटल हैं।

---

१. अंग्रेज कवि, जो अपनी प्रसिद्ध काव्य-कृति "लाइट आफ़ एशिया" के लिए ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

उसमें बुद्धि का भी पूरा उपयोग किया गया है। लेकिन यह बुद्धि संस्कारी बुद्धि है। इसमें अनुभूत ज्ञान है।

इस परिचय के बाद मैंने बहुत-से अनुवाद पढ़े; बहुत-सी टीकाएं पढ़ीं; बहुत-से तर्क किये और सुने, लेकिन उसे पढ़ने से मुझ पर जो छाप पड़ी थी, वह दूर नहीं होती। ये श्लोक गीता जी का अर्थ समझने की कुंजी हैं। यदि इससे विरोधी अर्थवाले वचन मिलें तो मैं उनका त्याग करने की सलाह दूंगा। नम्र और विनयी मनुष्य को तो त्याग करने की भी ज़रूरत नहीं है। वह तो सिर्फ यही कह दे कि आज दूसरे श्लोकों का इसके साथ मेल नहीं बैठता, तो यह मेरी बुद्धि का दोष है; समय बीतने पर इनका और इन उन्नीस श्लोकों में कहे गये सिद्धान्तों का मेल मिल जायगा। अपने मन से और दूसरों से यह कह कर वह शान्त हो जायगा।

शास्त्रों का अर्थ करने के लिए संस्कार और अनुभव की आवश्यकता है। शूद्र को वेद का अध्ययन करने का अधिकार नहीं, यह वाक्य सर्वथा गलत नहीं है। शूद्र अर्थात् असंस्कारी, मूर्ख, अज्ञान। ये वेदादि का अध्ययन करके उनका अनर्थ करेंगे। बड़ी उम्र के भी सब लोग बीजगणित के कठिन प्रश्न स्वयं समझने के अधिकारी नहीं हैं। उनको समझाने के पहिले उन्हें कुछ प्राथमिक शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। क्या व्यभिचारी के मुंह से 'अहं ब्रह्मास्मि' शोभा देगा? उसका वह क्या अर्थ (या अनर्थ) करेगा?

शास्त्र का अर्थ करनेवाला 'यमादि' का पालन करनेवाला होना चाहिए। यमादि का शुष्क पालन जितना कठिन है उतना निरर्थक भी है। शास्त्रों ने गुरु का होना आवश्यक माना है, लेकिन इस जमाने में गुरुओं का तो लगभग लोप हो गया है। इसीलिए ज्ञानी लोग भक्तिप्रधान प्राकृत ग्रन्थों का पठनपाठन करने की शिक्षा देते हैं, किन्तु जिसमें भक्ति नहीं, श्रद्धा नहीं, वह शास्त्र का अर्थ करने का अधिकारी नहीं होता। विद्वान लोग उसमें से विद्वत्ता-पूर्ण अर्थ भले ही निकालें, लेकिन वह शास्त्र का अर्थ नहीं। शास्त्र का अर्थ अनुभवी ही कर सकता है।.....

शास्त्र का अर्थ करने में दूसरा नियम यह है कि उसके शब्दों को पकड़ कर नहीं बैठना चाहिए, वरन् उसकी ध्वनि देखनी चाहिए; उसका रहस्य समझना चाहिए। तुलसीदास जी की रामायण उत्तम ग्रन्थ है क्योंकि उसकी ध्वनि स्वच्छता है, दया है, भक्ति है। उसमें 'ढोल गंवार, शूद्र, पशु, नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी' लिखा है, इसलिए यदि कोई पुरुष अपनी स्त्री को मारे तो उसकी अधोगति होगी। रामचन्द्र जी ने सीता जी पर कभी प्रहार नहीं किया; यही नहीं, उन्हें कभी दुःख भी नहीं पहुँचाया। तुलसीदास जी ने केवल प्रचलित वाक्य लिख दिया। उन्हें इस बात का विचार तक न आया होगा कि इस वाक्य का आधार लेकर अपनी

अर्द्धांगिनी को मारनेवाले पशु भी निकल आयेंगे। यदि स्वयं तुलसीदास ने परम्परा के वशवर्ती होकर अपनी पत्नी को मारा हो तो इससे क्या? यह मारना अवश्य ही दोष है। फिर भी रामायण पत्नी के ताड़न के लिए नहीं लिखी गई है। यह तो पूर्ण पुरुष का दर्शन कराने के लिए, सती-शिरोमणि सीता का परिचय कराने के लिए और भरत की आदर्श भक्ति चित्रित करने के लिए लिखी गई है। उसमें जो दोषपूर्ण रिवाजों का चित्रण पाया जाता है, वह त्याज्य है। तुलसीदास जी ने भूगोल पढ़ाने के लिए अपना ग्रन्थ नहीं रचा, इसलिए उनके ग्रन्थ में यदि ग़लत भूगोल पाया जाय, तो उसका त्याग करना अपना धर्म है।

अब गीता जी को देखें। ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति और उसके साधन, यही गीता जी के विषय हैं। दो सेनाओं के बीच हुआ युद्ध निमित्त है। यह अवश्य कह सकते हैं कि कवि स्वयं युद्धादि को निषिद्ध नहीं मानते थे और इसलिए उन्होंने युद्ध का इस प्रकार उपयोग किया है। महाभारत पढ़ने के बाद मुझपर भिन्न प्रभाव पड़ा। व्यास जी ने इतने सुन्दर ग्रन्थ की रचना करके युद्ध के मिथ्यात्व का ही वर्णन किया है। कौरव हारे तो क्या और पाण्डव जीते तो क्या? विजयी कितने बचे? उनका क्या हुआ? कुन्ती माता का क्या हुआ? आज यादव कुल कहाँ है? .....

धृतराष्ट्र कौन थे, दुर्योधन, युधिष्ठिर और अर्जुन कौन थे, कृष्ण कौन थे। क्या ये सब ऐतिहासिक पुरुष थे। क्या गीता जी में उनके स्थूल व्यवहार का ही वर्णन किया गया है? अर्जुन सहसा प्रश्न करता है और कृष्ण सारी गीता पढ़ जाते हैं? इसी गीता को अर्जुन यह कहने के पश्चात् भी भूल जाता है कि उसका मोह नष्ट हो गया है। और वह दुबारा कृष्ण से अनुगीता कहलवाता है।

मैं तो दुर्योधनादि को आसुरी और अर्जुनादि को दैवी वृत्ति मानता हूँ। यह शरीर धर्मक्षेत्र है। उसमें द्वन्द्व चलता ही रहता है और अनुभवी ऋषि कवि उसका तादृश वर्णन करते हैं। कृष्ण तो अन्तर्यामी हैं और हमेशा शुद्ध चित्त में घड़ी की तरह टिक-टिक करते रहते हैं। यदि चित्त को शुद्धिरूप चाबी न दी गई हो, तो अन्तर्यामी वहाँ रहते तो हैं, पर उनका स्पन्दित होना अवश्य बन्द हो जाता है।

.....गीता यह भी कहती है कि कायर होने के कारण भाग कर हिंसा से नहीं बचा जा सकता। जो भागने का विचार करता है, उसे तो मारना या मरना चाहिए।

.....सर्वशक्तिमान् ईश्वर कर्त्ता-भर्त्ता और संहर्त्ता है और उसे ऐसा ही होना चाहिए। इस विषय में कोई शंका तो न होगी? जो उत्पन्न करता है, वह नाश करने का अधिकार भी अपने पास रखता है। वह किसी को नहीं मारता क्योंकि वह उत्पन्न भी नहीं करता। नियम यह है कि जिसने जन्म लिया है, उसने मरने के

लिए ही जन्म लिया है। ईश्वर भी इस नियम को नहीं तोड़ता। यह उसकी दया है। यदि ईश्वर ही स्वच्छन्द और स्वेच्छाचारी बन जाय तो हम सब कहाँ जायंगे।
—न० जी०। हि० न० जी०, १५।१०।१९२५]

- शास्त्रों का अर्थ करने के लिए संस्कार और अनुभव की आवश्यकता है।
- शास्त्र का अर्थ करनेवाला यमादि का पालन करनेवाला होना चाहिए।
- शास्त्र का अर्थ अनुभवी ही कर सकता है।
- यह शरीर धर्मक्षेत्र है।
- जिसने जन्म लिया है, उसने मरने के लिए ही जन्म लिया है।
- यदि चित्त को शुद्धिरूपी चाबी न दी गई हो, तो अन्तर्यामी वहाँ रहते तो हैं, पर उनका स्पन्दित होना अवश्य बन्द हो जाता है।

१३. गीता का सन्देश

.....गीता जिसकी मार्गदर्शिका बनी हुई है, उसे कभी निराश नहीं होना पड़ता, अथवा यों कहें कि उसे आशा कभी रखनी ही न चाहिए।.....निराशा से आरम्भ करने पर उसके फल बड़े मधुर होते है।.....निराशा भी मन की एक तरंग है इसलिए जो सावधान रहता है, उसे कभी निराशा नहीं होती, क्योंकि वह आशा को मन में कभी स्थान नहीं देता।
—न० जी०। हि० न० जी०, १९।११।१९२५]

१४. गीता का अर्थ

[आश्रम की प्रातःकालीन प्रार्थना-सभाओं में किये गये प्रवचनों के अंश।
—सम्पा०]

नवाँ अध्याय—यह तो हमारे जैसे अन्तर्व्यथा से व्यथित रोगियों के लिए मरहम-पट्टी-जैसा है। हम सभी विकार से भरे हुए हैं और यहाँ भगवान ने अपनी शरण में आनेवाले का विकार मिटाने का वचन दिया है। इस अध्याय से यह भी जान पड़ता है कि जिस समय गीता लिखी गई थी, उस समय वर्णाश्रम धर्म में ऊँच-नीच के भेदभाव घुस चुके थे और एक दूसरे को ऊँचा-नीचा गिना जाने लगा था। पर कौन ऊँचा है और कौन नीचा? जो सम्पूर्ण निर्विकारी हो, वह दूसरे पर उंगली उठाये और कहे, 'देखो लोगो, यह विकारी है।' यहाँ तो सबके सब

एक समान विकारी हैं, और उस विकार को दूर करने, मिटाने के लिए भगवान की शरण जाना, यही दवा बताई गई है। इससे यह न समझना चाहिए कि हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रह कर भगवान की शरण जाने से बिना प्रयत्न किये ही सब विकार धुल जायंगे। जिसकी इन्द्रियाँ उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे विषयों की ओर खींच ले जाती हैं और वह आँसू ढालता हुआ भगवान की शरण में दौड़ता है तो उसे वह जरूर विकार-मुक्त करते हैं।

इस अध्याय में पाप का प्रायश्चित्त भी आ जाता है। पाप का प्रायश्चित उपवास से नहीं, पर भक्ति और प्रपत्ति से होता है। मैं उपवास की उपयोगिता भलीभाँति समझता हूँ मगर उसकी भी मर्यादा है। पाप के लिए उपवास हो ही नहीं सकता; शायद आड़ हो उठेगा। पापी तो पाप करनेवाला हुआ, पर पाप-योनि तो पाप रूप योनि से जन्मा हुआ, और इसलिए वह महापापी हुआ। यह तो हम नहीं कह सकते कि इसमें इसकी क्या कल्पना है, मगर आश्वासन तो सभी को भगवत्प्राप्ति में मिला ही है। पाप का प्रायश्चित भक्ति ही है। कितनी बार भक्तिरस में डूबने के लिए उपवास जरूरी जान पड़ सकता है और उस समय, सभी अपने-अपने लिए निश्चय कर सकते हैं। पर साधना तो केवल भक्ति ही है और भक्ति है, शून्य हो जाना, अपने आपको, अपनी खुशी को नष्ट कर डालना। अगर यह हो गया तो चाहे लाख पाप हो चुके हों, सभी नष्ट हो जाते हैं, लगते नहीं। दुराचार जो कहा है, वह दूसरा कुछ नहीं है, हम ही हैं। हृदय के अनेक पाप करनेवाले, ऊपर से रंगे सियार बन कर फिरनेवाले हम सब पापी हैं और उनके लिए भगवान ने इस अध्याय में वचन दिया है।

ग्यारहवाँ और बारहवाँ अध्याय—ग्यारहवें अध्याय में भगवान के अनेकानेक रूपों का दर्शन कराके मनुष्य को भक्ति के लिए तैयार कराया है और इसके पश्चात् बारहवें में भक्ति का रहस्य बतलाया है, सच्चे भक्त का वर्णन किया है। यह अध्याय इतना छोटा है कि कोई व्यक्ति उसे सहज ही कण्ठ कर ले सकता है।

चौदहवाँ और पन्द्रहवाँ अध्याय—चौदहवें में तीन गुणों का वर्णन है और पन्द्रहवें में पुरुषोत्तम का वर्णन है। चौदहवें में मनुष्य का नियमन करने वाले तीन गुण बतलाये हैं। नियम तो अनेक हैं, मगर उनके सत्व, रजस और तमस्, तीन विभाग किये गये हैं। इनमें कोई आदमी ऐसा नहीं दिखलाई पड़ता जिसमें केवल एक ही गुण हो। सब में तीनों का ही कुछ-न-कुछ अंश रहता है। धीमे-धीमे चढ़ते हुए हम सात्विक बनें और अन्त में उसे भी पार करके पुरुषोत्तम को पायें। अपने अवगुण को पहाड़-जैसे देख कर भाप-जैसे पतले बनें, तभी सात्विकता आयगी। इस बात को समझाने के लिए पानी और भाप का दृष्टान्त बड़ा योग्य जान पड़ता है।

पानी जब बर्फ की दशा में होता है, तब उसकी गति नीचे की ओर होती है। वह धरती पर ही पड़ा रहता है। पर भाप बनना शुरू हुआ नहीं कि वह ऊपर चढ़ने लगा। बर्फ बन कर वह ऊपर चढ़ने की शक्ति खो बैठता है, वह शक्ति उसमें भाप बनने से आ जाती है। अन्त में वह बादल बनकर बरसता है और जगत् का कल्याण करता है। यह बात अलग है कि बर्फ का भी उपयोग है और सूर्य के बिना पानी भाप बन कर आकाश में उड़ कर बादल नहीं बन सकता,—इसे भी हम अभी अलग ही रखें। तात्पर्य यह है कि बादल मोक्ष की दशा बतलाते हैं, भाप सात्विक दशा बतलाती है, और पानी हमारी अपनी स्थिति दिखलाता है।

—न० जी०। हि० न० जी० १९।१।१९२७]

- पाप का प्रायश्चित्त उपवास से नहीं....भक्ति और प्रपत्ति से होता है।
- साधन केवल भक्ति ही है।
- भक्ति है शून्य हो जाना, अपने आपको, अपनी खुदी को नष्ट कर डालना।
- बादल मोक्ष की दशा बतलाते हैं, भाप सात्विक दशा बतलाती है, और पानी हमारी अपनी स्थिति दिखलाता है।

१५. गीता-दृष्टि

.....काम करने में जो गीता-दृष्टि हम चाहते हैं, वह पैदा करनी चाहिए। गीता-दृष्टि यह है कि सब काम सेवा-भाव से करें। सेवा-भाव से करें यानी ईश्वरार्पण करके करें। और जो ईश्वरार्पण करके करता है, उसमें यह भाव नहीं होता कि मैं करता हूँ। उसमें द्वेष नहीं होता। उसमें दूसरों के प्रति उदारता होती है।

—त्रिचनापल्ली, १९।७।१९२७। मौनवार। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, पृ० ४७ न० जी० प्र० मं०]

१६. हिन्दू विद्यार्थी और गीता

[मन्नारगुड़ी के विद्यार्थियों के समक्ष दिये गये भाषण का एक अंश। —सम्पा०]

तुम अपने मानपत्र में कहते हो कि तुम मेरी तरह रोज बाइबिल पढ़ते हो। मैं यह नहीं कह सकता कि मैं रोज बाइबिल पढ़ता हूँ लेकिन यह कह सकता हूँ कि मैंने नम्रता और भक्ति से बाइबिल पढ़ी है। और अगर तुम भी उसी भाव से

वाइविल पढ़ते हो तो अच्छा ही है। लेकिन मेरा अनुमान है कि तुममें से अधिकांश लड़के हिन्दू हो। कितना अच्छा होता अगर तुम कुछ कह सकते कि तुममें से हिन्दू लड़के आध्यात्मिकता पाने के लिए रोज गीता का पाठ करते हैं। क्योंकि मेरा विश्वास है कि संसार के सभी धर्म कमोवेश सच्चे हैं। मैं कमोवेश इसलिए कहता हूँ कि आदमी जो कुछ छूते हैं, उनकी अपूर्णता से वह अपूर्ण हो जाता है। पूर्णता केवल ईश्वर का ही गुण है और इसका वर्णन नहीं किया जा सकता; विश्लेपण नहीं किया जा सकता। मेरा विश्वास है कि हर एक आदमी के लिए ईश्वर-जैसा ही पूर्ण वन जाना सम्भव है। हम सवके लिए पूर्णता की उच्च अभिलाषा रखनी जरूरी है। लेकिन जव हम उस वन्य स्थिति पर पहुँच जाते हैं उसका वर्णन नहीं किया जा सकता; वह समझाई नहीं जा सकती। और इसलिए मैं पूरी नम्रता से मानता हूं कि वेद, कुरान और वाइविल ईश्वर के अपूर्ण शब्द हैं। और हम जिस प्रकार के अपूर्ण प्राणी हैं, अनेक विषयों में इधर-उधर घूमते रहते हैं, हमारे लिए ईश्वर का यह शब्द पूरा समझना भी असम्भव है। इसीलिए मैं हिन्दू लड़के से कहता हूं कि तुम जिस परम्परा में पले हो उसे उखाड़ मत फेंको; जिस तरह मैं मुसलमान और ईसाई वालकों से कहूँगा कि तुम अपनी परम्परा से सम्वन्ध न तोड़ लो। इसलिए जव मैं तुम्हारे कुरान या वाइविल पढ़ने का स्वागत करूंगा, मैं तुम सव हिन्दू लड़कों पर अगर जोर डाल सकता हूं तो गीता पढ़ने के लिए जोर डालूँगा। मेरा विश्वास है कि लड़कों में हम जो अपवित्रता पाते हैं, जीवन की आवश्यक वातों के वारे में उपेक्षा देखते हैं, जीवन के सवसे वड़े और परमावश्यक प्रश्नों पर वे जिस ढिलाई से विचार करते हैं, उसका कारण उनकी उस परम्परा का नष्ट हो जाना है जिससे उन्हें अव तक पोपण मिलता आया था।

लेकिन कोई ग़लतफ़हमी न होने पाये। मैं यह नहीं मानता कि केवल पुरानी होने से सभी पुरानी वातें अच्छी हैं। प्राचीन परम्परा के अनुसार ईश्वर की दी हुई तर्क-वुद्धि का त्याग करने को मैं नहीं कहता। कोई भी परम्परा हो, नीति-विरुद्ध होने पर त्याज्य है। अस्पृश्यता शायद पुरानी परम्परा मानी जाय; वाल-वैधव्य, वाल-विवाह और दूसरे कई वीभत्स विश्वास तथा भ्रम शायद पुरानी परम्परा में माने जायँ। मुझमें यदि शक्ति होती तो मैं उन्हें वो वहाता। तुम शायद अव समझ सकोगे कि मैं जव पुरानी परम्परा का आदर करने को कहता हूँ तो मेरा क्या आशय है। और चूँकि मैं उसी परमात्मा को भगवद्‌गीता में देखता हूँ जिसे वाइविल और कुरान में, मैं हिन्दू वालकों को गीता पढ़ने को कहता हूँ, क्योंकि गीता के साथ उनका मेल और किसी दूसरी पुस्तक से कहीं अधिक होगा।

—यं० इं०। हि० न० जी०, २९।९।१९२७]

- मेरा विश्वास है कि संसार के सभी धर्म कमोवेश सच्चे हैं।
- पूर्णता केवल ईश्वर का ही गुण है।
- वेद, कुरान और वाइविल ईश्वर के अपूर्ण शब्द हैं।
- कोई भी परम्परा हो, नीति-विरुद्ध होने पर वह त्याज्य है।

१७. गीता और रामायण

वहुत-से नौजवान कोशिश करते हुए भी पाप से वच नहीं पाते। वे हिम्मत खो वैठते हैं और फिर दिन-दिन पाप की गहराई में कदम वढ़ाते जाते हैं। वहुत-से तो वाद में पाप ही को पुण्य भी मानने लगते हैं। ऐसे लोगों को मैं कई वार गीता जी और रामायण पढ़ने और उन पर विचार करने की सलाह देता हूँ। लेकिन वे इस वात में दिलचस्पी नहीं ले सकते। इसी तरह के नौजवानों की सन्तुष्टि के लिए, उन्हें धीरज वँधाने की गरज से, एक नौजवान के पत्र का कुछ हिस्सा, जो इस विषय से सम्वन्ध रखता है, नीचे देता हूँ :—

"मन साधारणतः स्वस्थ है। लेकिन जव कुछ दिनों तक मन विल्कुल स्वस्थ रह चुकता है, और खुद इस वात का खयाल हो जाता है तो फिर पछाड़ खाती ही पड़ती है। विकार इतने प्रवल वन जाते हैं कि उनका विरोध करने में वुद्धिमानी नहीं मालूम पड़ती, लेकिन ऐसे समय प्रार्थना, गीता-पाठ और तुलसी-रामायण से वड़ी मदद मिलती है। रामायण को एक वार पढ़ चुका हूँ; दुवारा सती की कथा तक जा पहुँचा हूँ। एक समय था, जव रामायण का नाम सुनते ही जी घवराता था, लेकिन आज तो उसके पन्ने-पन्ने में रस पा रहा हूँ। एक ही पृष्ठ को पाँच-पाँच वार पढ़ता हूँ, फिर भी दिल नहीं ऊवता। कागभुशुण्डि जी की जिस कथा के कारण मेरे दिल में तुलसी-रामायण के प्रति घृणा पैदा हो गई थी, वह वुरी लगती थी, वही आज सवसे अच्छी मालूम होती है। उसमें मैं, गीता के ११ वें अध्याय से भी अधिक काव्य देख रहा हूँ। दो-चार साल पहिले आधे दिल से स्वच्छता पाने की कोशिश करने पर भी उसे न पाकर जो निराशा पैदा होती थी, आज उस निराशा का पता भी नहीं है, उल्टे मन में विचार आता है कि जो विकास अनन्तकाल वाद होनेवाला है उसे आज ही पा लेने का हठ करना कितनी मूर्खता है। पूरे दिन में कातते समय और रामायण का अभ्यास करते समय आराम मिलता है।"

इस पत्र के लेखक में जितनी निराशा और जितना अविश्वास था, शायद ही किसी दूसरे नौजवान में उतनी निराशा और उतना अविश्वास हो। दोषों ने उसके

शरीर में घर कर लिया था। लेकिन आज उसमें जिस श्रद्धा का उदय हुआ है, उससे नवयुवक-जगत् में आशा का संचार होना चाहिए। जो लोग अपनी इन्द्रियों को जीत सके हैं उनके अनुभव पर भरोसा करके लगन के साथ रामायण आदि का अभ्यास करनेवाले का दिल पिघले बिना रह ही नहीं सकता। मामूली विषयों के अभ्यास के लिए भी जब हमें अक्सर बरसों तक मेहनत करनी पड़ती है, कई तरकीबों से काम लेना पड़ता है, तो जिसमें सारी जिन्दगी का और उसके बाद की शान्ति का भी सवाल छुपा हुआ है, उस विषय के अभ्यास के लिए हममें कितनी लगन होनी चाहिए? उस पर भी जो लोग थोड़े में थोड़ा समय और ध्यान देकर रामायण तथा गीता में से रसपान करने की आशा रखते हैं उनके लिए क्या कहा जाय?

ऊपर के पत्र में लिखा है कि पत्र-लेखक को अपने स्वस्थ होने का विचार आते ही विकार फिर से चढ़ दौड़ते हैं। जो बात शरीर के लिए ठीक है वही मन के लिए भी ठीक है। जिसका शरीर बिलकुल चंगा है उसे अपने स्वस्थ होने का विचार कभी नहीं आता, न उसकी कोई जरूरत ही है, क्योंकि स्वास्थ्य तो शरीर का स्वभाव है। यही बात मन पर भी लागू होती है। ज़िस दिन मन की तन्दुरुस्ती का विचार आये, समझ लीजिए कि विकार पास आकर झाँक रहे हैं। अतः मन को हमेशा स्वस्थ बनाये रखने का एक-मात्र उपाय उसे हमेशा अच्छे विचारों में लगाये रखना है। इसी कारण राम-नाम आदि के जप की शोध हुई और वे गेय माने गये। जिसके हृदय में हर घड़ी राम का निवास हो उस पर विकार चढ़ाई नहीं कर सकते। सच तो यह है कि जो शुद्ध बुद्धि से राम-नाम का जप करता है, समय पाकर राम-नाम उसके हृदय में घर कर लेता है। इस तरह हृदय-प्रवेश होने के बाद रामनाम उस मनुष्य के लिए एक अभेद्य किला बन जाता है। बुराई का खयाल करते रहने से वह नहीं मिटेगी, हाँ, अच्छाई का विचार करने से बुराई जरूर मिट जाती है। लेकिन बहुत बार देखा गया है कि लोग सच्ची नीयत से उल्टी तरकीब काम में लाते हैं। यह कैसे आई, कहाँ से आई, वगैरह विचार करने से बुराई का ध्यान बढ़ता जाता है। बुराई को मेटने का यह उपाय हिंसक कहा जा सकता है। इसका सच्चा उपाय तो बुराई से असहयोग करना है। जब बुराई हम पर आक्रमण करे तो उससे 'भाग जा' कहने की कोई जरूरत नहीं; हमें तो यह समझ लेना चाहिए कि बुराई नाम की कोई चीज है ही नहीं और हमेशा स्वच्छता का, अच्छाई का विचार करते रहना चाहिए। 'भाग जा' कहने में डर का भाव है; उसका विचार तक न करने में निडरता है। हमें सदा यह विश्वास बढ़ाते रहना चाहिए कि बुराई मुझे छू तक नहीं सकती। अनुभव-द्वारा यह सब सिद्ध किया जा सकता है।

—न० जी०। हि० न० जी०, १८।४।१९२९]

- स्वास्थ्य तो शरीर का स्वभाव है।
- जो शुद्ध बुद्धि से राम-नाम का जप करता है....राम-नाम उसके हृदय में घर कर लेता है।
- राम-नाम......मनुष्य के लिए अभेद्य किला बन जाता है।
- बुराई का ख़याल करते रहने से वह नहीं मिटेगी......अच्छाई का विचार करने से बुराई जरूर मिट जाती है।

१८. गीता : परिचय एवं विश्लेषण

जिस प्रकार स्वामी आनन्द आदि मित्रों के प्रेम के वश होकर मैंने सत्य के प्रयोग मात्र के लिए आत्मकथा का लिखना आरम्भ किया था उसी प्रकार गीता का अनुवाद भी। स्वामी आनन्द ने असहयोग के जमाने में मुझसे कहा था, 'आप गीता का जो अर्थ करते हैं, वह अर्थ तभी समझ में आ सकता है जब आप एक बार समूची गीता का अनुवाद कर जायँ और उसके ऊपर जो टीका करनी हो वह करें और हम वह सम्पूर्ण एक बार पढ़ जायँ। फुटकर श्लोकों में से अहिंसादि का प्रतिपादन मुझे तो ठीक नहीं लगता है।' मुझे उनकी दलील में सार जान पड़ा। मैंने जवाब दिया—'अवकाश मिलने पर यह करूँगा।' फिर मैं जेल गया। वहाँ गीता का अध्ययन कुछ अधिक गहराई से करने का मौका मिला। लोकमान्य का ज्ञान का भण्डार पढ़ा। उन्होंने ही पहिले मुझे मराठी, हिन्दी और गुजराती-अनुवाद प्रेमपूर्वक भेजे थे और सिफारिश की थी कि मराठी न पढ़ सकूँ तो गुजराती अवश्य पढ़ूं। जेल के बाहर तो उसे पढ़ पाया, पर जेल में गुजराती अनुवाद पढ़ा। इसे पढ़ने के बाद गीता के सम्बन्ध में अधिक पढ़ने की इच्छा हुई और गीता-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ उलटे-पलटे।

गीता से परिचय और उसका अनुवाद

मुझे गीता का प्रथम परिचय एडविन आर्नाल्ड के पद्य-अनुवाद से सन् १८८८-८९ में प्राप्त हुआ। उससे गीता का गुजराती अनुवाद पढ़ने की तीव्र इच्छा हुई और जितने अनुवाद हाथ लगे उन्हें पढ़ गया, परन्तु ऐसी पढ़ाई मुझे अपना अनुवाद जनता के सामने रखने का बिल्कुल अधिकार नहीं देती। इसके सिवा मेरा संस्कृत-ज्ञान अल्प है, गुजराती का ज्ञान विद्वत्ता के विचार से कुछ नहीं है। तब मैंने अनुवाद करने की धृष्टता क्यों की ?

गीता को मैंने जिस प्रकार समझा है उस प्रकार उसका आचरण करने का मेरा और मेरे साथ रहनेवाले कई साथियों का बरावर प्रयत्न है। गीता हमारे लिए आध्यात्मिक निदान-ग्रन्थ है। उसके अनुसार आचरण में निष्फलता रोज आती है, पर वह निष्फलता हमारा प्रयत्न रहते हुए है। इस निष्फलता में सफलता की फूटती हुई किरणों की झलक दिखाई देती है। यह नन्हा-सा जन-समुदाय जिस अर्थ को आचार में परिणत करने का प्रयत्न करता है, वह इस अनुवाद में है।

इसके सिवा स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र-सरीखे जिन्हें अक्षर-ज्ञान थोड़ा ही है, जिन्हें मूल संस्कृत में गीता समझने का समय नहीं है, इच्छा नहीं है, परन्तु जिन्हें गीता रूपी सहारे की आवश्यकता है, उन्हीं के लिए इस अनुवाद की कल्पना है।[1] गुजराती भाषा का मेरा ज्ञान कम होने पर भी उसके द्वारा गुजरातियों को मेरे पास जो कुछ पूंजी हो वह दे जाने की मुझे सदा वड़ी अभिलाषा रही है। यह अवश्य चाहता हूँ कि आज जव कि गन्दे साहित्य का प्रवाह जोरों से जारी है, ऐसे समय हिन्दू-धर्म में अद्वितीय माने जानेवाले इस ग्रन्थ का सरल अनुवाद गुजराती जनता को मिले और उसमें से वह उस प्रवाह का सामना करने की शक्ति प्राप्त करे।

इस अभिलाषा में दूसरे गुजराती अनुवादों की अवहेलना नहीं है। उन सवका स्थान भले ही हो, पर उनके पीछे उनके अनुवादों का आचाररूपी अनुभव का दावा हो, ऐसी मेरी जानकारी में नहीं है। इस अनुवादक के पीछे अड़तीस वर्ष के आचार के प्रयत्न का दावा है। इसलिए मैं यह अवश्य चाहता हूँ कि प्रत्येक गुजराती भाई और वहिन, जिन्हें धर्म को आचरण में लाने की इच्छा है, इसे पढ़ें, विचारें और इसमें से शक्ति प्राप्त करें।

इस अनुवाद में मेरे साथियों की मेहनत मौजूद है। मेरा संस्कृत-ज्ञान वहुत अधूरा होने के कारण शव्दार्थ पर मुझे पूरा विश्वास नहीं हो सकता था, अतः केवल इतने के लिए इस अनुवाद को विनोवा, काका कालेलकर, महादेव देसाई और किशोर-लाल मशरूवाला ने देख लिया है।

ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं

अव गीता के अर्थ पर आता हूँ।

सन् १८८८-८९ में जव गीता का प्रथम दर्शन हुआ तभी मुझे ऐसा लगा कि यह ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, वरन् इसमें भौतिक युद्ध के वर्णन के वहाने प्रत्येक मनुष्य

---

१. गांधी जी का अनुवाद गुजराती में है। यह इस अनुवाद के हिन्दी रूपा तर की भूमिका है।

के हृदय के भीतर निरन्तर होते रहनेवाले द्वन्द्व-युद्ध का ही वर्णन है; मानुषी योद्धाओं की रचना हृदयगत युद्ध को रोचक बनाने के लिए गढ़ी हुई कल्पना है। यह प्राथमिक स्फुरणा धर्म का और गीता का विशेष विचार करने के बाद पक्की हो गई। महाभारत पढ़ने के बाद यह विचार और भी दृढ़ हो गया। महाभारत ग्रन्थ को मैं आधुनिक अर्थ में इतिहास नहीं मानता। इसके प्रबल प्रमाण आदिपर्व में ही हैं। पात्रों की अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्ति का वर्णन करके व्यास भगवान ने राजा-प्रजा के इतिहास को मिटा दिया है। उसमें वर्णित पात्र मूल में ऐतिहासिक भले ही हों, परन्तु महाभारत में तो उनका उपयोग व्यास भगवान ने केवल धर्म का दर्शन कराने के लिए ही किया है।

महाभारत

महाभारतकार ने भौतिक युद्ध की आवश्यकता नहीं, उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेता से रुदन कराया है, पश्चात्ताप कराया है और दुःख के सिवा और कुछ नहीं रहने दिया।

इस महाग्रन्थ में गीता शिरोमणि रूप से विराजती है। उसका दूसरा अध्याय भौतिक युद्ध-व्यवहार सिखाने के बदले स्थितप्रज्ञ के लक्षण सिखाता है। स्थितप्रज्ञ का ऐहिक युद्ध के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, यह बात उसके लक्षणों से ही मुझे प्रतीत हुई है। साधारण पारिवारिक झगड़ों के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करने के लिए गीता-जैसी पुस्तक की रचना सम्भव नहीं है।

गीता के कृष्ण

गीता के कृष्ण मूर्तिमान् शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञान हैं, परन्तु काल्पनिक हैं। यहाँ कृष्ण नाम के अवतारी पुरुष का निषेध नहीं है। केवल सम्पूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं; सम्पूर्णावतार का आरोपण पीछे से हुआ है।

अवतार की व्याख्या

अवतार से तात्पर्य है शरीरधारी पुरुष विशेष। जीवमात्र ईश्वर के अवतार हैं, परन्तु लौकिक भाषा में सबको हम अवतार नहीं कहते। जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान है, उसे भावी प्रजा अवतार-रूप से पूजती है। इसमें मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता। इसमें न तो ईश्वर के बड़प्पन में कमी आती है, न इसमें सत्य को आघात पहुँचता है। आदम खुदा नहीं, लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं। जिसमें धर्म-जागृति अपने युग में सबसे अधिक है वह विशेषावतार है।

इस विचार-श्रेणी से कृष्ण-रूपी सम्पूर्णावतार आज हिन्दू-धर्म में साम्राज्य भोग रहा है।

गीता में आत्मदर्शन

यह दृश्य मनुष्य की अन्तिम सदभिलाषा का सूचक है। मनुष्य को ईश्वर-रूप हुए विना चैन नहीं पड़ता; शान्ति नहीं मिलती। ईश्वर-रूप होने के प्रयत्न का नाम सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है और यही आत्मदर्शन है। यह आत्मदर्शन जैसे सब धर्म-ग्रन्थों का विषय है, वैसे ही गीता का भी है। पर गीताकार ने इस विषय का प्रतिपादन करने के लिए गीता नहीं रची वरं आत्मार्थी को आत्मदर्शन का एक अद्वितीय उपाय बतलाना गीता का आशय है। जो चीज हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों में छिट-फुट दिखाई देती है, उसे गीता ने अनेक रूपों, अनेक शब्दों में, पुनरुक्ति का दोष स्वीकार करके भी, अच्छी तरह स्थापित किया है।

निष्काम कर्म

वह अद्वितीय उपाय है कर्मफल-त्याग।

इस मध्यबिन्दु के चारों ओर गीता की सारी सजावट है। भक्ति, ज्ञान इत्यादि उसके आसपास तारामण्डल-रूप में सज गये हैं। जहाँ देह है वहाँ कर्म तो है ही। उससे कोई मुक्त नहीं है, तथापि देह को प्रभु का मन्दिर बनाकर उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, यह सब धर्मों ने प्रतिपदन किया है। परन्तु कर्ममात्र में कुछ दोष तो है ही, भक्ति तो निर्दोष की ही होती है। तब कर्म-बन्धन में से अर्थात् दोष-स्पर्श में से कैसे छुटकारा हो? इसका जवाब गीता जी ने निश्चयात्मक शब्दों में दिया है—निष्काम कर्म से, यज्ञार्थ कर्म करके, कर्म-फल त्याग करके, सब कर्मों को कृष्णार्पण करके, अर्थात् मन, वचन और काया को ईश्वर में होम करके।

ज्ञान, भक्ति और कर्म

पर निष्कामता, कर्मफल-त्याग कहने-भर से नहीं हो जाता। यह केवल बुद्धि का प्रयोग नहीं है। यह हृदय-मन्थन से ही उत्पन्न होता है। यह त्याग-शक्ति पैदा करने के लिए ज्ञान चाहिए। एक प्रकार का ज्ञान तो बहुतेरे पण्डित पाते हैं। वेदादि उन्हें कण्ठ होते हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश भोगादि में लगे-लिपटे रहते हैं। ज्ञान का अतिरेक शुष्क पाण्डित्य के रूप में न हो जाय, इस खयाल से गीताकार ने ज्ञान के साथ भक्ति को मिलाया और उसे प्रथम स्थान दिया। विना भक्ति का ज्ञान हानिकर है। इसलिए कहा गया, भक्ति करो तो ज्ञान मिल ही जायगा।

पर भक्ति तो सिर का सौदा है, इसलिए गीताकार ने भक्त के लक्षण स्थितप्रज्ञ के-से बतलाये हैं।

गीता में भक्ति

तात्पर्य, गीता की भक्ति बाह्याचारिता नहीं है; अन्ध-श्रद्धा नहीं है। गीता में बताये उपचार का बाह्य चेष्टा या क्रिया के साथ कम-से-कम सम्बन्ध है। माला, तिलक, अर्घ्यादि साधन भले ही भक्त बरते, पर वे भक्ति के लक्षण नहीं हैं। जो किसी से द्वेष नहीं करता; जो करुणा का भण्डार है और ममतारहित है, जो निरहंकार है; जिसे सुख-दुःख, शीत-उष्ण समान है; जो क्षमाशील है, जो सदा सन्तोषी है; जिसके निश्चय कभी बदलते नहीं; जिसने मन और बुद्धि ईश्वर को अर्पण कर दिये हैं, जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते; जो लोगों का भय नहीं रखता; जो हर्ष-क्षमा-भयादि से मुक्त है; जो पवित्र है; जो कार्यदक्ष होने पर भी तटस्थ है; जो शुभाशुभ का त्याग करनेवाला है, जो शत्रु-मित्र पर समभाव रखनेवाला है, जिसे मान-अपमान समान है, जिसे स्तुति से खुशी नहीं होती और निन्दा से ग्लानि नहीं होती; जो मौनधारी है, जिसे एकान्त प्रिय है; जो स्थिर-बुद्धि है, वह भक्त है। यह भक्ति आसक्त स्त्री-पुरुषों में सम्भव नहीं है।

आत्मदर्शन

इससे हम देखते हैं कि ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना ही आत्मदर्शन है। आत्मदर्शन उससे भिन्न वस्तु नहीं है। जैसे रुपये के बदले में जहर खरीदा जा सकता है और अमृत भी लाया जा सकता है, वैसे ज्ञान या भक्ति के बदले बन्धन भी लाया जा सके और मोक्ष भी, यह सम्भव नहीं है। यहाँ तो साधन और साध्य बिल्कुल एक नहीं तो लगभग एक ही वस्तु हैं, साधन की पराकाष्ठा जो है वही मोक्ष है और गीता के मोक्ष का अर्थ परम शान्ति है।

कर्म-अकर्म

किन्तु ऐसे ज्ञान और भक्ति को कर्मफल-त्याग की कसौटी पर चढ़ना ठहरा। लौकिक कल्पना में शुष्क पण्डित भी ज्ञानी मान लिया जाता है। उसे कुछ काम करने को नहीं रहता। हाथ से लोटा तक उठाना भी उसके लिये बन्धन है। यज्ञ-शून्य जहां ज्ञानी गिना जाय वहाँ लोटा उठाने-जैसी तुच्छ लौकिक क्रिया को स्थान ही कैसे मिल सकता है ?

लौकिक कल्पना में भक्त से मतलब है बाह्याचारी,[1] माला लेकर जप करनेवाला। सेवाकर्म करते भी उसकी माला में विक्षेप पड़ता है। इसलिए वह खाने-पीने आदि भोग भोगने के समय ही माल को हाथ से छोड़ता है, चक्की चलाने या रोगी की सेवा-शुश्रूषा करने के लिए कभी नहीं छोड़ता।

इन दोनों वर्गों को गीता ने साफ तौर से कह दिया, कर्म बिना किसी ने सिद्धि नहीं पाई। जनकादि भी कर्मद्वारा ज्ञानी हुए। यदि मैं भी आलस्य-रहित होकर कर्म न करता रहूँ तो इन लोगों का नाश हो जाय। तो फिर लोगों के लिए पूछना ही क्या रह जाता है?

गीता का निष्काम भाव

परन्तु एक ओर से कर्म-मात्र बन्धन है, यह निर्विवाद है। दूसरी ओर से देही इच्छा-अनिच्छा से भी कर्म करता रहता है। शारीरिक या मानसिक सभी चेष्टाएँ कर्म हैं। अब कर्म करते हुए भी मनुष्य बन्धनमुक्त कैसे रहें? जहाँ तक मुझे मालूम है, इस समस्या को गीता ने जिस तरह हल किया है वैसे दूसरे किसी भी धर्म-ग्रन्थ ने नहीं किया है। गीता का कहना है—फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो; आशा-रहित होकर कर्म करो; निष्काम होकर कर्म करो। यह गीता की वह ध्वनि है जो भुलाई नहीं जा सकती। जो कर्म छोड़ता है वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड़ता है वह चढ़ता है। फल-त्याग का यह अर्थ नहीं है कि परिणाम के सम्बन्ध में लापरवाही रहे। परिणाम और साधन का विचार और उसका ज्ञान अत्यावश्यक है। इतना होने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किये बिना साधन में तन्मय रहता है वह फल-त्यागी है।

कर्म-फल-त्याग

पर यहाँ फल-त्याग का कोई अर्थ न करे कि त्यागी को फल मिलता नहीं। गीता में ऐसे अर्थ को कहीं स्थान नहीं है। फल-त्याग से मतलब है फल के सम्बन्ध में आसक्ति का अभाव। वास्तव में देखा जाय तो फल-त्यागी को तो हजारगुना फल मिलता है। गीता के फल-त्याग में तो अपिरिमित श्रद्धा की परीक्षा है। जो मनुष्य परिणाम का ध्यान करता रहता है वह बहुत बार कर्म-कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता घेरती है; उसमें वह क्रोध के वश हो जाता है और फिर वह न करने

---

१. जो बाह्याचार में लीन रहता है और शुद्ध भाव से मानता है कि यही भक्ति है।

योग्य कर्म करने लग जाता है; एक कर्म से दूसरे में और दूसरेसे तीसरे में पड़ताजाता है। परिणाम की चिन्ता करनेवाले की स्थिति विषयान्ध-सी हो जाती है और अन्त में वह विषयी की भाँति सारासार का, नीति-अनीति का विवेक छोड़ देता है और फल प्राप्त करने के लिए हर किसी साधन से काम लेता है और उसे धर्म मानता है।

अनासक्ति

फलासक्ति के ऐसे कटु परिणामों में से गीताकार ने अनासक्ति का अर्थात् कर्मफल-त्याग का सिद्धान्त निकाला और संसार के सामने अत्यन्त आकर्षक भाषा में रखा। साधारणतः तो यह माना जाता है कि धर्म और अर्थ विरोधी वस्तु हैं; व्यापार इत्यादि लौकिक व्यवहार में धर्म नहीं बचाया जा सकता ; धर्म को जगह नहीं हो सकती; धर्म का उपयोग केवल मोक्ष के लिए किया जा सकता है। धर्म की जगह धर्म शोभा देता है और अर्थ की जगह अर्थ। हम बहुतों-द्वारा ऐसा कथन सुनते हैं। गीताकार ने इस भ्रम को दूर किया है। उसने मोक्ष और व्यवहार के बीच ऐसा भेद नहीं रखा है, वरं व्यवहार में धर्म को उतारा है। जो धर्म व्यवहार में न लाया जा सके, वह धर्म नहीं है, मेरी समझ से यह बात गीता में है। मतलब, गीता के मतानुसार जो कर्म ऐसे हैं कि आसक्ति के बिना हो ही न सकें वे सभी त्याज्य हैं। ऐसा सुवर्ण-नियम मनुष्य को अनेक धर्म-संकटों में से बचाता है। इस मत के अनुसार खून, झूठ, व्यभिचार इत्यादि कर्म अपने-आप त्याज्य हो जाते हैं; मानव-जीवन सरल बन जाता है और सरलता से शान्ति उत्पन्न होती है।

गीता का सार : सत्य-अहिंसा

इस विचार-श्रेणी के अनुसार मुझे ऐसा जान पड़ा है कि गीता की शिक्षा को व्यवहार में लानेवाले को अपने-आप सत्य और अहिंसा का पालन करना पड़ता है। फलासक्ति के बिना न तो मनुष्य को असत्य बोलने का लालच होता है, न हिंसा करने का। चाहे जिस हिंसा या असत्य के कार्य को हम लें, यह मालूम हो जायगा कि उसके पीछे परिणाम की इच्छा रहती है। गीता-काल के पहिले भी अहिंसा परमधर्म-रूप मानी जाती थी। पर गीता को तो अनासक्ति के सिद्धान्त का प्रति-पादन करना था। दूसरे अध्याय में ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

परन्तु यदि गीता को अहिंसा मान्य थी अथवा अनासक्ति में अहिंसा अपने-आप आ ही जाती है तो गीताकार ने भौतिक युद्ध को उदाहरण के रूप में भी क्यों लिया? गीता-युग में अहिंसा धर्म मानी जाने पर भी भौतिक युद्ध सर्वमान्य वस्तु

होने के कारण गीताकार को ऐसे युद्ध का उदाहरण लेते संकोच नहीं हुआ और न होना चाहिए था।

हिंसा की निष्फलता

परन्तु फल-त्याग के महत्त्व का अन्दाजा करते हुए गीताकार के मन में क्या विचार थे, उसने अहिंसा की मर्यादा कहाँ निश्चित की थी, इस पर हमें विचार करने को आवश्यकता नहीं रहती। कवि महत्त्व के सिद्धान्तों को संसार के सम्मुख उपस्थित करता है; इसके यह मानी नहीं होते कि वह सदा अपने उपस्थित किये हुए सिद्धान्तों का महत्त्व पूर्णरूप से पहिचानता है या पहिचानने के वाद समूचे को भापा में रख सकता है। इसमें काव्य की और कवि की महिमा है। कवि के अर्थ का अन्त ही नहीं है। जैसे मनुष्य का, उसी प्रकार महावाक्यों के अर्थ का विकास होता ही रहता है। भाषाओं के इतिहास से हमें मालूम होता है कि अनेक महान् शब्दों के अर्थ नित्य नये होते रहे हैं। यही वात गीता के अर्थ के सम्वन्ध में भी है। गीताकार ने स्वयं महान् रूढ़ शब्दों के अर्थ का विस्तार किया है। गीता को ऊपरी दृष्टि से देखने पर भी यह वात मालूम हो जाती है। गीता-युग के पहिले कदाचित् यज्ञ में पशु-हिंसा मान्य रही हो। गीता के यज्ञ में उसकी कहीं गन्ध तक नहीं है। उसमें तो जपयज्ञ यज्ञों का राजा है। तीसरा अध्याय वतलाता है कि यज्ञ का अर्थ है मुख्य रूप से परोपकार के लिए शरीर का उपयोग। तीसरा और चौथा अध्याय मिलाकर दूसरी व्याख्या भी निकाली जा सकती है, पर पशु-हिंसा नहीं निकाली जा सकती।

गीता में संन्यास

वही वात गीता के संन्यास के अर्थ के सम्वन्ध में है। कर्म-मात्र का त्याग गीता के संन्यास को भाता ही नहीं। गीता का संन्यासी अतिकर्मी है, तथापि अति-अकर्मी है। इस प्रकार गीताकार ने महान् शब्दों का व्यापक अर्थ करके अपनी भापा का भी व्यापक अर्थ करना हमें सिखाया है। गीताकार की भापा के अक्षरों से यह वात भले ही निकलती हो कि सम्पूर्ण कर्मफलत्यागी द्वारा भौतिक युद्ध हो सकता है, परन्तु गीता की शिक्षा को पूर्णरूप से अमल में लाने का ४० वर्ष तक सतत प्रयत्न करने पर मुझे तो नम्रतापूर्वक ऐसा जान पड़ा है कि सत्य और अहिंसा का पूर्णरूप से पालन किये विना सम्पूर्ण कर्मफल-त्याग मनुष्य के लिए असम्भव है।

धर्म-काव्य

गीता सूत्र-ग्रन्थ नहीं है। गीता एक महान् धर्म-काव्य है। उसमें जितना गहरे

उतरिए, उतने ही उसमें से नये और सुन्दर अर्थ लीजिए। गीता जन-समाज के लिए है; उसमें एक ही बात को अनेक प्रकार से कहा है। अतः गीता में आये हुए महाशब्दों का अर्थ युग-युग में बदलता और विस्तृत होता रहेगा। गीता का मूल मन्त्र कभी नहीं बदल सकता। वह मन्त्र जिस रीति से सिद्ध किया जा सके उस रीति से जिज्ञासु चाहे जो अर्थ कर सकता है।

गीता विधि-निषेध बतलानेवाली भी नहीं है। एक के लिए जो विहित होता है वही दूसरे के लिए निषिद्ध हो सकता है। एक काल या एक देश में जो विहित होता है, वह दूसरे काल में, दूसरे देश में निषिद्ध हो सकता है। निषिद्ध केवल फलासक्ति है, विहित है अनासक्ति।

गीता में ज्ञान की महिमा सुरक्षित है, तथापि गीता बुद्धिगम्य नहीं है, वह हृदय-गम्य है। अतः वह श्रद्धालु के लिए नहीं है। गीताकार ने कहा है —

"जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उससे यह (ज्ञान) तू कभी न कहना। १८।६७

"परन्तु यह परमगुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तों को देगा, वह मेरी परमभक्ति करने के कारण निःसन्देह मुझे ही पायेगा।

"और जो मनुष्य द्वेषरहित होकर श्रद्धापूर्वक केवल सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्यवान् जहाँ बसते हैं उस शुभ लोक को पायेगा। १८-७१

—कौसानी, सोमवार, आषाढ़ कृष्ण द्वितीया, संवत् १९८६। २४।६।१९२९]

- **जीवमात्र ईश्वर के अवतार हैं।**
- **कर्ममात्र में कुछ दोष तो है ही। मुक्ति तो निर्दोष की ही होती है।**
- **यह (कर्मफल-त्याग)....हृदय-मन्थन से ही उत्पन्न होता है।**
- **भक्ति तो सिर का सौदा है।**
- **माला, तिलक, अर्घ्यादि साधन भले ही भक्त बरते, पर वे भक्ति के लक्षण नहीं हैं।**
- **भक्ति आसक्त स्त्री-पुरुषों में सम्भव नहीं।**
- **ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना ही, आत्म-दर्शन है।**
- **साधन की पराकाष्ठा जो है, वही मोक्ष है।**
- **शारीरिक या मानसिक सभी चेष्टाएँ कर्म हैं।**
- **जो कर्म छोड़ता है वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड़ देता है वह चढ़ता है।**
- **फल-त्याग से मतलब है फल के सम्बन्ध में आसक्ति का अभाव।**
- **परिणाम की चिन्ता करनेवाले की स्थिति विषमान्ध-जैसी हो जाती है।**

- जो धर्म व्यवहार में न लाया जा सके, वह धर्म नहीं है।
- फलासक्ति के विना न तो मनुष्य को असत्य वोलने का लालच होता है, न हिंसा करने का।
- कवि के अर्थ का अन्त......नहीं है।
- जैसे मनुष्य का उसी प्रकार महावाक्यों के अर्थ का विकास होता ही रहता है।
- उसमें (गीता में) तो जपयज्ञ यज्ञों का राजा है।
- गीता एक महान धर्म-काव्य है।
- गीता जन-समाज के लिए है।
- निषिद्ध केवल फलासक्ति है, विहित है अनासक्ति।
- गीता वुद्धिगम्य नहीं है, वह हृदयगम्य है।
- वह (गीता) अश्रद्धालु के लिए नहीं है।

१९. भगवद्‌गीता अथवा अनासक्तियोग

गीता पढ़ते, विचारते और उसका अनुसरण करते हुए अव मुझे चालीस साल से ज्यादा हो चुके हैं। मित्रों ने यह इच्छा प्रकट की थी कि मैं जनता को वताऊं कि मैंने गीता को किस रूप में समझा है, फलतः मैंने अनुवाद[1] शुरू किया। विद्वान की दृष्टि से देखने वैठूं तो अनुवाद करने की मेरी अपनी योग्यता कुछ भी नहीं ठहरती। हाँ, आचरण करनेवाले की दृष्टि से ठीक मानी जा सकती है। यह अनुवाद अव छपा है। अनेक गीता के साथ संस्कृत भी होती है। (मैंने) इसमें जान-वूझ कर संस्कृत नहीं रखी। संस्कृत सव जानें-समझें तो मुझे अच्छा लगे, लेकिन सव संस्कृत कभी जानेंगे नहीं और संस्कृत के तो अनेक सस्ते संस्करण मिल सकते हैं।.....

मेरा लोभ तो यह है कि प्रत्येक हिन्दी भाषा-भाषी इस गीता को पढ़े, विचारे और वैसा आचरण करे। इसके विचार का सरल उपाय यह है कि संस्कृत का खयाल किये विना ही इसके अर्थ को समझने का प्रयत्न किया जाय और फिर तदनुसार आचरण किया जाय। उदाहरण के लिए जो यह कहते हैं कि गीता तो अपने-पराये का भेद रखे विना दुष्टों का संहार करने की शिक्षा देती है, उन्हें अपने दुष्ट माता-पिता या अन्य प्रियजनों का संहार शुरू कर देना चाहिए। पर वे ऐसा तो कर नहीं सकते। तो फिर जहाँ संहार की चर्चा आती है, वहाँ उसका कोई दूसरा अर्थ होना

---

१. यह अनुवाद "अनासक्तियोग" नाम से प्रकाशित हुआ है।

सम्भव है, यह बात पाठकों को सहज ही सूझेगी। अपने-पराये के बीच भेद न रखने की बात तो गीता के पन्ने-पन्ने में आती है। पर यह कैसे हो सकता है ? यों सोचते-सोचते हम इस निश्चय पर पहुँचेंगे कि अनासक्तिपूर्वक सब काम करना ही गीता की प्रधान ध्वनि है, क्योंकि पहिले ही अध्याय में अर्जुन के सामने अपने-पराये का झगड़ा खड़ा होता है। गीता के प्रत्येक अध्याय में यह बताया गया है कि ऐसा भेद मिथ्या और हानिकारक है।

गीता को मैंने अनासक्तियोग का नाम दिया है। यह क्या है, कैसे सिद्ध हो सकता है, अनासक्ति के लक्षण क्या हैं, आदि तमाम बातों का जवाब इस पुस्तक में हैं।.....

—२२।५।१९३०। गीता-माता, सं० सा० मं०, संस्करण १९५०]

- **संस्कृत सब जानें-समझें तो मुझे अच्छा लगे।**
- **अनासक्तिपूर्वक सब काम करना ही गीता की प्रधान ध्वनि है।**

२०. यज्ञ : व्याख्या—१

हम यज्ञ शब्द का व्यवहार बार-बार करते हैं.....इसलिए यज्ञ शब्द पर विचार कर लेना ज़रूरी है। इस लोक में या परलोक में कुछ भी बदला लिये या चाहे बिना, परार्थ किये हुए किसी भी कर्म को यज्ञ कहें। कर्म कायिक हो या मानसिक, चाहे वाचिक, कर्म का विशाल से विशाल अर्थ लेना चाहिए। परार्थ के लिए का मतलब केवल मनुष्य-वर्ग नहीं, बल्कि जीवनमात्र लेना चाहिए और अहिंसा की दृष्टि से भी मनुष्य जाति की सेवा के लिए भी, दूसरे जीवों को होमना या उनका नाश करना यज्ञ की गिनती में नहीं आ सकता। वेदादि में अश्व, गाय इत्यादि को होमने की जो बात आती है उसे हमने ग़लत माना है। वहाँ पशु-हिंसा का अर्थ लें तो सत्य और अहिंसा की तराजू पर ऐसे होम नहीं चढ़ सकते, इतने से हमने सन्तोष मान लिया है। जो वचन धर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं उनका ऐतिहासिक अर्थ करने में हम नहीं फँसते और वैसे अर्थों के अन्वेषण की अपनी अयोग्यता हम स्वीकार करते हैं। हम उस योग्यता की प्राप्ति का प्रयत्न भी नहीं करते, क्योंकि ऐतिहासिक अर्थ से जीव-हिंसा संगत भी ठहरे तो भी अहिंसा को सर्वोपरि धर्म मानने के कारण हमारे लिए अर्थ को रुचनेवाला आचार त्याज्य है।

उक्त व्याख्या के अनुसार विचारने पर हम देख सकते हैं कि जिस कर्म में अधिक-से-अधिक जीवों का अधिकाधिक क्षेत्र में कल्याण हो और जो अधिक-से-अधिक मनुष्य अधिकाधिक सरलता से कर सकें और जिसमें अधिक-से-अधिक सेवा होती हो

वह महायज्ञ या अच्छा यज्ञ है। अतः किसी की भी सेवा के निमित्त अन्य किसी का अकल्याण चाहना या करना यज्ञ-कार्य नहीं है और यज्ञ के अलावा किया हुआ कार्य बन्धनरूप है, यह हमें भगवद्गीता और अनुभव भी सिखाता है।

ऐसे यज्ञ के बिना यह संसार क्षण-भर भी नहीं टिक सकता।.....हम यज्ञ को जन्म से ही साथ लाये हैं। यहाँ तक कि हमें यह शरीर केवल परमार्थ के लिए मिला है और इसलिए जो यज्ञ किये बिना खाता है वह चोरी का खाता है, ऐसी सख्त बात गीताकार ने कह डाली। जो शुद्ध जीवन बिताना चाहता है उसके सब काम यज्ञ-रूप होते हैं। हमारे यज्ञ-सहित जन्म लेने का मतलब यह है कि हम हरदम के ऋणी या देनदार हैं। इसलिए हम संसार के सदा के गुलाम हैं। और जिस प्रकार स्वामी सेवक को सेवा के बदले में खाना-कपड़ा आदि देता है उसी प्रकार जगत् का स्वामी हमसे गुलामी लेने के लिए हमें जो अन्न-वस्त्रादि देता है, उसे कृतज्ञतापूर्वक लेना चाहिए। यह न समझना चाहिए कि जो मिलता है उतने का भी हमें हक है; न मिलने पर मालिक को दोष न दें। यह देह उसकी है, वह यदि चाहे तो रखे या न रखे। यह स्थिति दुःखद नहीं है, न दयनीय है। यदि हम अपना स्थान समझ लें तो यह स्वाभाविक है और इसलिए सुखद और चाहने योग्य है। ऐसे परम सुख के अनुभव के लिए अचल श्रद्धा तो अवश्य चाहिए। अपने लिए कोई चिन्ता न करना, सब परमेश्वर को सौंप देना—ऐसा आदेश तो मैंने सब धर्मों में पाया है।

पर इस वचन से किसी को डरना नहीं चाहिए। मन को स्वच्छ रख कर सेवा का आरम्भ करनेवाले को उसकी आवश्यकता दिन-प्रतिदिन स्पष्ट होती जाती है और वैसे ही उसकी श्रद्धा बढ़ती जाती है। जो स्वार्थ छोड़ने को तैयार नहीं, उसके लिए तो सेवा के सब मार्ग कठिन हैं। उसकी सेवा में स्वार्थ की गन्ध आती ही रहेगी। पर ऐसे स्वार्थी जगत् में कम ही मिलेंगे। कुछ-न-कुछ निःस्वार्थ सेवा हम सब जाने-अनजाने करते ही रहते हैं। यही चीज विचारपूर्वक करने से हमारी पारमार्थिक सेवा की वृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहेगी। उसमें हमारा सुख है और जगत् का कल्याण है।

—मंगल प्रभात, २१।१०।१९३० ।गीता-बोध, पृ० २६-२९।स० सा० मं०, दसवां संस्करण १९५४]

- इस लोक में या परलोक में कुछ भी बदला लिये या चाहे बिना, परार्थ किये हुए किसी भी कर्म को यज्ञ कहेंगे।
- दूसरे जीवों को होमना या उनका नाश करना यज्ञ की गिनती में नहीं आता।

- यज्ञ के बिना यह संसार क्षण-भर भी नहीं टिक सकता।
- हम यज्ञ को जन्म से ही साथ लाये हैं।
- हमें यह शरीर केवल पुरुषार्थ के लिए मिला है।
- अपने लिए कोई चिन्ता न करना, सब परमेश्वर को सौंप देना ऐसा आदेश मैंने सब धर्मों में पाया है।
- जो स्वार्थ छोड़ने को तैयार नहीं, उसके लिए सेवा के सब मार्ग कठिन हैं।

२१. गीता-द्वारा आत्मनियन्त्रण

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

मेरे खयाल से मानसिक नियन्त्रण सबसे कठिन है। इसके लिए उत्तम उपाय गीता का अभ्यास है। जब-जब मन को आघात लगता है, तभी अभ्यास में असफलता रहती है। अच्छी और बुरी खबर दोनों ही तुम्हारे ऊपर से इसी तरह गुजर जानी चाहिए, जैसे बतख की पीठ पर पानी। जब हम कोई समाचार सुनें तब हमारा कर्त्तव्य इतना ही पता लगा लेना है कि किसी कार्रवाई की जरूरत है या नहीं, और अगर है तो परिणाम से प्रभावित या उसके प्रति आसक्त हुए बिना प्रकृति के हाथों में साधन बनकर कर्म करें। अगर हम यह याद रखें कि किसी परिणाम को लाने में एक से अधिक साधन इस्तेमाल किये जाते हैं, तो इस अनासक्ति की वैज्ञानिक आवश्यकता प्रतीत होती है। यह कहने का साहस कौन करेगा कि मैंने किया है ? मैं जानता हूँ यह सब तुम्हें मालूम है। फिर भी मैं इस सत्य को जोर के साथ कहता हूँ, ताकि दिमाग से वह हृदय में उतर जाय। जबतक वह केवल दिमाग में रहता है, तबतक वह उस पर निरा बोझ बना रहता है। दिमाग की मानी हुई सचाई को फौरन दिल में उतार लेना चाहिए। जब ऐसा नहीं होता है तब वह बेकार जाती है और फिर वह जहरीली मवाद बनकर दिमाग में पड़ी रहती है। जो चीज दिमाग को जहरीला बनाती है, वह सारे शरीर को जहरीला कर देती है। इसलिए दिमाग को इस तरह इस्तेमाल करने की जरूरत है, मानो वह केवल डाक्टर है। जो उसमें आता है, वह या तो फौरन कार्रवाई के लिए दिल के लिए सुपुर्द कर दिया जाता है, या वहां भेजने के लिए अयोग्य समझा जाकर उसी वक्त फेंक दियाजाता है।

— १३।१२।१९३०। बापू के पत्र : मीरा के नाम, न०जी०प्र०म०]

२२. धर्म-ग्रन्थों का पारायण

[श्री सन्तराम महाराज की आज्ञा से सन्तराम मन्दिर में देश की शान्ति-हेतु गीता-रामायण आदि के पारायण शुरू किये गये थे। इस प्रसंग में लिखे गये गांधी जी के पत्र से।—सम्पा०]

. . . . .इस वारे में दो मत हो ही नहीं सकते कि ब्राह्मण पण्डित, सन्त पुरुष हों और लोगों में उपनिषदादि का प्रचार करें तो अच्छा है। विद्वत्ता और साधुता का मेल आजकल कम पाया जाता है। इसलिए ऐसी प्रवृत्तियों के वारे में उदासीनता जरूर रहती है।

गीता-रामायण के पूरे पारायण के वारे में ऊपर की-जैसी या उससे तनिक ज्यादा उदासीनता रहती है। अर्थ समझे विना या अर्थ समझते हुए भी केवल उच्चारण के लिए—यह मानकर कि मानो उच्चारण में ही पुण्य हो—या आडम्बर या कीर्ति के लिए जो लोग पाठ करते हैं, उनके पारायण का मेरी नजर में कोई मूल्य नहीं। इतना ही नहीं, वल्कि मैं यह जानता हूं कि इससे नुकसान होता है। अगर ऊपर के दोषों को दूर रखने के उपाय महाराज खोज सके हों और उसके अनुसार पारायण करा रहे हों, तो इसमें शक नहीं कि उससे भला होगा।

—८।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ८०-८१]

● विद्वत्ता और साधुता का मेल आजकल कम पाया जाता है।

२३. गीता की शिक्षा

गीता ने एक तरफ तो हमें जीवन का आदर्श वताया है और दूसरी तरफ यह वताया है कि उस आदर्श की तरफ जाते हुए जीवन किस प्रकार विताया जाय? एक वाक्य में वह यों है—आदर्श को ध्यान में रखते हुए जो कर्त्तव्य सामने आये, उसे पूरा करते चले जायं और फल की इच्छा न रखें।

—८।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १४१]

२४. गीता का पाठ

['गीता रोज पढ़ने से नीरस लगती है'—ऐसी शिकायत करनेवालों को उत्तर।—सम्पा०]

गीता को रोज पढ़ना नीरस इसलिए लगता है कि उसका मनन नहीं होता। उसे यह समझ कर पढ़े कि वह हमें रोज़ रास्ता वतानेवाली माता है, तो वह नीरस

नहीं लगेगी। हर रोज पाठ के बाद एक मिनट तक उस पर विचार कर लिया करें, तो रोज कुछ न कुछ नई बात मिलेगी। सिर्फ़ सम्पूर्ण मनुष्य को ही उससे कुछ नहीं मिलेगा। मगर जो यह समझ कर रोज पढ़ता है कि जिसके हाथों नित्य कोई-न-कोई दोष हो जाता है, उसका उद्धार करनेवाली यह गीता माता है, वह नित्य के वाचन से नहीं थकेगा।

—१६।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १५३-१५४]

२५. गीता का ध्यान

कल्पना का चित्र कुछ भी खींचा हो और उसका ध्यान किया हो तो इसमें दोष नहीं देखता। लेकिन गीतामाता के ध्यान से सन्तोष होता हो तो और क्या चाहिए? गीता का ध्यान दो तरह से हो सकता है—एक तो उसे माता के रूप में माना है। इसलिए सामने माता की तस्वीर की ज़रूरत रहती हो तो या तो अपनी मां में ही, यदि वह मर गई हो तो, कामधेनु का आरोपण करके गीता के रूप से मानकर उसका ध्यान करना चाहिए, या कोई भी काल्पनिक चित्र मन में खींच लिया जाय। उसे गोमाता का रूप दिया हो तो भी काम चल सकता है। दूसरी प्रकार हो सके, तो इसे मैं ज्यादा अच्छा समझता हूँ। हम हमेशा जो अध्याय बोलते हों, उसमें से या किसी भी अध्याय के किसी भी श्लोक या किसी शब्द का ध्यान धरना ही उसका चिन्तन करना है। गीता में जितने शब्द हैं, वही उसके आभूषण हैं और प्रियजनों के आभूषणों का ध्यान करना भी उन्हीं का ध्यान धरने के बराबर है। यही बात गीता की है। लेकिन इसके सिवा किसी को और कोई ढंग मिल जाय तो भले ही वह उस ढंग से ध्यान धरे। जितने दिमाग़ उतनी ही विविधता होती है। कोई दो व्यक्ति एक ही तरीके से एक ही चीज़ का ध्यान नहीं करते। दोनों के वर्णन और कल्पना में कुछ-न-कुछ अन्तर तो रहेगा ही।

छठे अध्याय के अनुसार तनिक-सी भी की हुई साधना बेकार नहीं जाती और जहां से रुक गई हो वहां से दूसरे जन्म में आगे चलती है। इसी तरह जिसमें कल्याण-मार्ग की ओर मुड़ने की इच्छा तो अवश्य हो पर अमल करने की ताकत न हो, उसे ऐसा मौका जरूर मिलेगा, जिससे दूसरे जन्म में उसकी यह इच्छा दृढ़ हो। इस बारे में मन मे कोई शंका नहीं है। पर इसका यह अर्थ न किया जाय कि तब तो हम इस जन्म में शिथिल रहें, तो भी काम चलेगा। ऐसी इच्छा इच्छा नहीं है, या वह बौद्धिक है, पर हार्दिक नहीं है। बौद्धिक इच्छा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। वह मरने के बाद नहीं रहती, पर जो इच्छा हृदय में बैठ जाती है उसके पीछे प्रयत्न

तो होना ही चाहिए। कई कारणों से और शरीर की निर्बलता से सम्भव है कि यह इच्छा इस जन्म में पूरी न हो। और इस तरह का अनुभव हमें रोज होता है। पर इस इच्छा को लेकर जीव देह को छोड़ता है और दूसरे जन्म में इस जन्म की उपाधियां कम होकर यह इच्छा फलती है या ज्यादा मजबूत तो होती ही है। इस तरह कल्याणकृत लगातार आगे ही बढ़ता रहता है।

ज्ञानेश्वर महाराज ने निवृत्तिनाथ के जीते हुए उनका ध्यान धरा हो तो भले ही धरा हो, लेकिन इतना होने पर भी मेरी पक्की राय है कि वह हमारे नकल करने लायक नहीं है। जिसका ध्यान करना है उसे पूर्णताप्राप्त व्यक्ति होना चाहिए। जीवित व्यक्ति के लिए इस तरह का खयाल करना बिल्कुल बेजा और ग़ैरज़रूरी है। किन्तु यह हो सकता है कि ज्ञानेश्वर महाराज ने शरीरधारी निवृत्तिनाथ का ध्यान किया हो। मगर हम इस झगड़े में क्यों पड़ें ? और जब जीवित मूर्ति का ध्यान करने का सवाल उठता है तब कल्पना की मूर्त्ति की गुंजाइश नहीं रहती। और इसका उल्लेख करके जवाब दिया हो तो इस जवाब से बुद्धिभ्रंश होना सम्भव है।

पहिले अध्याय में जो नाम दिये गये हैं, वे सब नाम, मेरी राय में, व्यक्तिवाचक होने के बजाय गुणवाचक ज्यादा हैं। दैवी और आसुरी वृत्तियों के मध्य लड़ाई का वर्णन करते हुए कवि ने वृत्तियों को मूर्त्तिमान बनाया है। इस कल्पना में इस बात से इन्कार नहीं किया गया है कि पाण्डवों और करवों के बीच हस्तिनापुर के पास सचमुच युद्ध हुआ होगा। मेरी ऐसी कल्पना है कि उस युग का दृष्टान्त लेकर कवि ने इस महान् ग्रन्थ की रचना की है। इसमें भूल हो सकती है, या ये सब नाम ऐतिहासिक हों तो ऐतिहासिक आरम्भ करने के लिए इन्हें देना अनुचित भी नहीं माना जा सकता। विषय-विचार के लिए पहिला अध्याय ज़रूरी है, इसलिए गीता-पाठ के समय उसे पढ़ लेना भी ज़रूरी है।

—१८।६।१९३२। महादेव भाईनी डायरी, पहिला भाग, पृ० २२३]

- गीता में जितने शब्द हैं, उतने ही उसके आभूषण हैं।
- तनिक-सी भी की हुई साधना बेकार नहीं जाती।
- कल्याणकृत लगातार आगे ही बढ़ता रहता है।
- जिसका ध्यान करना है उसे पूर्णताप्राप्त व्यक्ति होना चाहिए।

२६. धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन

[एक ऐसे व्यक्ति को लिखे गये पत्र का अंश, जिन्हें बहुत-सी धार्मिक पुस्तकें पढ़ने और बहुत अधिक विचार करने की आदत थी।—सम्पा०]

तुम्हें आश्चर्य होगा कि अभी तो पढ़ने में रायचन्द[1] भाई और गीता जी को भी छोड़ने की मेरी सिफारिश है। प्रार्थना के समय जितनी गीता जी और भजन आयें, उन्हें ही समझ कर मनन करना चाहिए। यह संयम कठिन है, मगर तुम उसका चमत्कारी असर देखोगे। अभी तो तुम्हारा पढ़ना ही तुम्हारा काम मालूम होता है। फुरसत हो तब जो उपयोगी काम पसन्द हो ले लेना; तर्क सब छोड़ देना। 'मेरे लिए एक क़दम काफ़ी है' का यही अर्थ है। जो साधन बन्धन बन जाय उसे छोड़ देना।

—१९।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २२९]

२७. गीता कण्ठ करें

गीता को कण्ठ करने के विषय में मैं बहुत बार लिख चुका हूं, कह चुका हूं। मेरे अपने किये यह न हो सका, इसलिए यह कहना मुझे शोभा नहीं देता। फिर भी इस बात को बार-बार कहते मुझे शर्म नहीं मालूम होती, इसलिए कि उसका लाभ मैं समझता हूं। मेरी गाड़ी ज्यों-त्यों चल गई है क्योंकि एक बार तो मैं तेरहवें अध्याय तक कण्ठ कर गया था और गीता का मनन तो वर्षों से चल रहा है। इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि उसकी छाया के नीचे मेरा कुछ निर्वाह हो गया, पर मैं उसे कण्ठ कर सका होता, अब भी उसमें अधिक गहराई में पैठ सका होता तो सम्भव है मैंने बहुत अधिक पाया होता; पर मेरा चाहे जो हुआ हो और हो मेरा समय बीता हुआ माना जा सकता है या मानना चाहिए। यद्यपि मुझे सहज ही इसका सुयोग मिल जाय तो गीता कण्ठ करने का प्रयत्न आरम्भ कर दूं।

यहां गीता का अर्थ थोड़ा विस्तृत करना चाहिए। गीता, अर्थात् हमारा आधाररूप ग्रन्थ। हममें से बहुतों का आधार गीता है, इसलिए मैंने गीता का नाम लिया है। पर अमतुल[2] प्रार्थना या कुरेशी गीता के बदले कुरान शरीफ़—पूरा या उसका कोई भाग कण्ठ कर सकते हैं। जिन्हें संस्कृत न आती हो, जो अब उसे सीख न सकते हों, वे गुजराती या हिन्दी में कण्ठ करें। जिन्हें गीता पर आस्था न हो और दूसरे किसी धर्म-ग्रन्थ पर हो, वे उसे कण्ठ करें।

और कण्ठ करने का अर्थ भी समझ लीजिए। जिस चीज़ को हम कण्ठ करें, उसके आदेशानुसार आचरण करने का हमारा आग्रह होना चाहिए। वह मूल सिद्धान्तों का घातक न होना चाहिए। उसका अर्थ हम समझ चुके हों।

---

१. श्रीमद् राजचन्द्र

२. बीबी अमतुस्सलाम—गांधी जी की एक प्रमुख शिष्या

इसका फल है। हमारे पास ग्रन्थ न हो, चोरी हो जाय, जल जाय, हमें भूल जाय, हमारी आँख चली जाय, हम वाक्शक्ति से रहित हो जायं, पर समझ बनी हो—ऐसे और भी दैवयोग सोचे जा सकते हैं—उस समय अगर अपना प्रिय आधाररूप ग्रन्थ कण्ठ हो तो वह हमारे लिए बड़ी शान्ति देनेवाला हो जायगा और मार्गदर्शक होगा; संकट का साथी होगा।

दुनिया का अनुभव भी यही है। हमारे पूर्वज हिन्दू, मुसलमान, ईसाई पारसी—कुछ विशेष पाठ कण्ठ किया करते थे। आज भी बहुतेरे करते हैं। इन सब के अमूल्य अनुभव को हम फेंक न दें। इसमें कुछ अंशों में हमारी श्रद्धा की परीक्षा है।

—३१।७।१९३२। आश्रमवासियों से]

● गीता अर्थात् हमारा आधाररूप ग्रन्थ।

२८. जीवमात्र का साम्य

प्राणिमात्र एक रूप हैं। सब ईश्वर से पैदा हुए हैं और उसी में विलीन हो जाने वाले हैं। भगवती गीतामाता के सिखाये हुए सनातन धर्म के अनुसार जीवन की सफलता बाह्य आचार और कर्मकाण्ड में नहीं, परन्तु सम्पूर्ण चित्तशुद्धि में, शरीर मन और आत्मा सहित समस्त व्यक्तित्व को परब्रह्म के साथ एकाकार कर देने में है। गीता के इस सन्देश को अपने जीवन में ओतप्रोत करके मैं करोड़ों के जनसमह के पास गया हूं। मुझे विश्वास है कि उन्होंने मेरी बात सुनी है, तो वह मेरे किसी राजनीतिक सयानेपन के कारण या मेरी भाषा की छटा के कारण नहीं, बल्कि मुझे हृदय से अपना और अपने धर्म का आदमी मान कर सुनी है। समय बीतने के साथ-साथ मेरी यह श्रद्धा अधिकाधिक दृढ़ होती गई है कि मैं सनातनधर्मी होने का दावा करूं तो वह ग़लत नहीं है, और ईश्वर की इच्छा होगी, तो वह मुझे इस दावे पर अपनी मृत्यु की मुहर लगाने देगा।

—४।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, (परिशिष्ट) पृ० ३८१]

२९. गीता

गीता हमें चित्त की समता बनाये रखना सिखाती है।

—६।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५०]

३०. गीता-माता

[सुश्री नर्मदा भुस्कुटे को लिखे पत्र से]

गीतामाता की प्रतिज्ञा है कि जो ईश्वर के भक्त हैं उनको भगवान सावन दे देगा।

—१५।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १२०]

३१. गीता का मनन

[श्री रामदास को लिखे पत्र से]

मनन से तेरे निश्चय को जरूर बल मिलता रहेगा। गीता को छान डालें और उसके मूल शब्दों का विचार करते रहें, तो उससे भी बहुत आवश्यक बल मिलता है। मुझे तो ऐसा ही होता है।

—२६।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५०]

३२. गीता और ईशोपनिषद्

.....गीता में बार-बार एक ही बातकही गई है—अनासक्ति, जब कि ईशोपनिषद् में तो एक-एक श्लोक में नई-नई बातें भरी हैं। ईश[1] के 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:' में गीता का सारा उपदेश आ जाता है। परन्तु दूसरे सब श्लोकों में से हर एक में नई चीजें भरी हैं क्योंकि वे सब मन्त्र हैं, जब कि गीता के हर श्लोक में नई चीज नहीं भरी हुई है।

—२।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १६५]

३३. गीता पर आस्था

फिर एक 'विशालबुद्धि' पुरुष—गीता का प्रणेता उत्पन्न हुआ। उसने हिन्दू-समाज को गहरे तत्वज्ञान से भरा और साथ ही हिन्दू-धर्म का ऐसा दोहन अर्पित किया जो मुग्ध जिज्ञासु को सहज ही समझ में आ सकता है। हिन्दू-धर्म का अध्ययन करने की इच्छा रखनेवाले प्रत्येक हिन्दू के लिए यह एकमात्र सुलभ ग्रन्थ है और यदि अन्य सभी धर्मशास्त्र जल कर भस्म हो जायं तब भी इस अमर ग्रन्थ के सात सौ

---

१. ईशोपनिषद्।

श्लोक यह बताने के लिए पर्याप्त होंगे कि हिन्दू धर्म क्या है और उसे जीवन में किस प्रकार उतारा जाय ? मैं सनातनी होने का दावा करता हूँ, क्योंकि मैं चालीस वर्षों से उस ग्रन्थ के उपदेशों को जीवन में अक्षरशः उतारने का प्रयत्न करता आया हूँ। गीता के मुख्य सिद्धान्त के विपरीत जो कुछ भी हो, उसे मैं हिन्दू धर्म का विरोधी मान कर अस्वीकार करता हूँ। गीता में किसी भी धर्म या धर्म-गुरु के प्रति द्वेष नहीं। मुझे यह कहते हुए बड़ा आनन्द होता है कि मैंने गीता के प्रति जितना पूज्यभाव रखा है, उतने ही पूज्यभाव से मैंने बाइबिल, कुरान, जेन्दअवेस्ता और संसार के अन्य धर्म-ग्रन्थ पढ़े हैं। इस वाचन ने गीता के प्रति मेरी श्रद्धा को दृढ़ बनाया है। उससे मेरी दृष्टि और मेरा हिन्दू-धर्म विशाल हुआ है। जैसे कि जरथुस्त्र, ईसा और मुहम्मद के जीवनचरित को मैंने समझा है, वैसे ही गीता के बहुत-से वचनों पर मैंने प्रकाश डाला है।

मैं अपने को हिन्दू कहने में गौरव मानता हूँ, क्योंकि मेरे मन में यह शब्द इतना विशाल है कि पृथिवी के चारों कोनों के पैगम्बरों के प्रति यह केवल सहिष्णुता ही नहीं रखता, वरं उन्हें आत्मसात् कर लेता है। इस जीवन-संहिता में कहीं भी अस्पृश्यता को स्थान हो, ऐसा मैं नहीं देखता। इसके विपरीत लौह-चुम्बक के समान चित्ताकर्षक वाणी में मेरी बुद्धि को स्पर्श करके और इसके भी आगे मेरे हृदय को पूर्णतया स्पर्श करके मेरे मन में यह आस्था उत्पन्न करती है कि भूतमात्र एकरूप हैं; वे सभी ईश्वर से आविर्भूत हैं और उसी में विलीन हो जायंगे। भगवती गीता माता-द्वारा उपदिष्ट सनातन धर्म के अनुसार जीवन का साफल्य बाह्य आचार और कर्मकाण्ड में नहीं वरं सम्पूर्ण चित्तशुद्धि में और शरीर, मन तथा आत्मा-सहित समग्र व्यक्तित्व को परब्रह्म के साथ एकाकार कर देने में है। गीता के इस सन्देश को अपने जीवन में ओतप्रोत करके मैं करोड़ों की मानवमेदिनी के पास गया हूँ और उन्होंने मेरी बातें सुनी हैं, सो मेरी राजनीतिज्ञता के कारण अथवा मेरी वाणी की छटा के कारण नहीं, बल्कि मेरा विश्वास है कि मुझे अपना, अपने धर्म का मान कर सुनी हैं। समय के साथ-साथ मेरी यह श्रद्धा अधिकाधिक दृढ़ होती गई है कि मैं सनातनधर्मी होने का दावा करूं, यह चीज़ ग़लत नहीं और यदि ईश्वर की इच्छा होगी तो वह मुझे मेरे इस दावे पर मेरी मृत्यु की मुहर लगा लेने देगा।

—४।११।१९३२। महादेव भाईनी डायरी, भाग २ पृष्ठ ४३५]

- मैं सनातनी होने का दावा करता हूं।
- गीता में किसी धर्म या गुरु के प्रति द्वेष नहीं।
- मैं अपने को हिन्दू कहने में गौरव मानता हूं।

- भूतमात्र एकरूप है; वे सभी ईश्वर से आविर्भूत हैं और उसी में विलीन हो जायंगे।

३४. गीता का अन्तिम श्लोक

[श्री रामदास को लिखे पत्र से]

.....अठारहवें अध्याय का आखिरी श्लोक गीता के अध्ययन का और उस पर ध्यानपूर्वक किये गये आचरण का फल है, यानी जहाँ श्रीकृष्ण हैं अर्थात् शुद्ध ज्ञान है और जहाँ अर्जुन है यानी ज्ञानपूर्वक कर्म है, वहाँ सब कुछ है। इन श्लोकों का मनन करने से तू देख सकेगा कि किसी भी तरह की चिन्ता करने की सख्त मनाही है। गीता का अभ्यास करने वाला कोई चिन्ता कर ही नहीं सकता। ऐसी आज्ञा है कि सब कुछ ईश्वर के अर्पण कर दो। सब कुछ यानी किसी भी अपवाद के बिना। और इस तरह जो सर्वार्पण करेगा, वह फिर चिन्ता की गठरी का भार क्यों उठाये?

—७।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १७९-१८०]

३५ गीता का विरोधी शास्त्र नहीं

गीता के मुख्य सिद्धान्त से असंगत कोई बात चाहे जहां भी लिखी हो, मेरा मन उसे शास्त्र नहीं मानता। मेरे रूढ़िग्रस्त मित्रों को आघात न लगे तो मैं अपना अर्थ और अधिक स्पष्ट करना चाहता हूँ। सदाचार के विश्वमान्य मूलतत्वों से असंगत किसी भी चीज को मैं शास्त्र-प्रामाण्य में नहीं मानता। शास्त्रों का उद्देश्य इन मूलतत्वों को उखाड़ फेंकना नहीं, वरं इन्हें टिकाये रखना है। और गीता मेरे लिए सम्पूर्ण है, इसका कारण यह है कि वह इन मूलतत्वों का समर्थन करती है। इतना ही नहीं, बल्कि वह किसी भी मूल्य पर इनसे चिपके रहने के लिए अचूक कारण बताती है।

—१७।११।१९३२। 'महादेव भाईनी डायरी' भाग २, पृ० ४६०]

- सदाचार के विश्वमान्य मूलतत्वों से असंगत किसी भी चीज को मैं शास्त्र-प्रामाण्य में नहीं मानता।

३६. गीता-सम्मत आचार

[एक सिन्धी डाक्टर को लिखे पत्र से]

गीता का अर्थ करने में हमारे बीच मतभेद है। लड्डू पूरा-का-पूरा रखें और खा भी लें, ये दोनों बातें नहीं हो सकतीं। लेकिन गीता को बात जाने दीजिए।

अगर आपको लोगों के भले के लिए नहीं, परन्तु अपनी कमाई के लिए अपने इलाज गुप्त रखने पड़ें, तो इसमें कुछ ईश्वरार्पण नहीं है और न अपने को शून्य बनाने की ही बात है। भंगियों को ही लीजिए। समाज के लिए वे गन्दा काम करके अपनी रोजी कमाते हैं। आपको अगर शून्य बन जाना है, तो स्वेच्छा से और आनन्दपूर्वक जिस प्रकार का काम भंगी करता है,उसी तरह का काम आपको भी करना चाहिए और साथ ही साथ अपनी डाक्टरी के ज्ञान का लाभ गरीबों और रोगियों को मुफ्त देना चाहिए। इस बात को अव्यावहारिक मत मानना। कितने ही लोगों ने सफलतापूर्वक ऐसा किया है।

—२९।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २४३]

३७. गीता

गीता के पास मैं नहीं गया, परन्तु गीता ही मेरे पास आ पहुँची। गीता मेरे लिए स्वतन्त्र आधार है, और अनेक टीकाओं की झंझट से बचने के लिए मैंने अपनी श्रद्धा, बुद्धि और भक्ति का आश्रय लिया।

—६।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २६२]

३८. महाभारत

महाभारत तो मनुष्य-जाति का सनातन इतिहास है। वह तो रत्नों की खान है। खान में तो रत्नों के साथ पत्थर भी मिलते हैं।

—२९।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ३२८]

३९. शास्त्र का प्रमाण

[पण्डित गिरिधर शास्त्री को लिखे पत्र से]

मैं शास्त्र को प्रमाण मानता हूँ। ग्रन्थों की गिनती तो मुझे कोई देता नहीं है, न दे सकते हैं, ऐसा अब तक तो प्रतीत हुआ है। इस कारण मैंने गीतामाता की शरण ली है। मैं जो करता हूँ उसमें विनय रखने की मेरी चेष्टा है। परन्तु अपने विनय को सत्य का विरोधी न होने देने का भी मैं बहुत प्रयत्न करता हूँ।

—९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० २९]

४०. कामधेनु गीता

मैं गीता-माता के सन्देश को हृदय में धारण करूँगा। वह विलक्षण माता है। मेरा ख़याल है, तुम जानती हो कि वह माता कहलाती है। गीता का अर्थ है गेय। वह शब्द विशेषण के रूप में उपनिषद के साथ प्रयुक्त होता है, जो स्त्रीलिंग है। गीता कामधेनु की भांति है, जो सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति करती है। इसलिए वह माता कहलाती है। अपने आध्यात्मिक जीवन को कायम रखने के लिए हमें जितने दूध की आवश्यकता है उसके लिए अगर हम याचक दुधमुँहे बच्चे की तरह माँग करें तो वह अमर माता हमें सम्पूर्ण दूध दे देती है। उसमें अपने लाखों बच्चों को अपने अजस्र थनों से दूध देने की क्षमता है।
—२४।२।१९२३। 'बापूज़ लेटर्स टू मीरा']

० वह (गीता) विलक्षण माता है।

० गीता कामधेनु की भांति है, जो सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति करती है।

४१. हिन्दू-धर्मग्रन्थों का प्रमाण

मैं वेद, उपनिषद्, स्मृतियों और पुराणों को मानता हूँ। पर मैं गीता को शास्त्र-ज्ञान की कुंजी मानता हूँ। गीता में हमें यह बात मिलती है कि हमारे जीवन या आचरण की रचना किन तत्वों के आधार पर होनी चाहिए? गीता में समस्त शास्त्रों का सार आ जाता है। इसलिए प्राकृत मनुष्यों को गीता के बाद किसी अन्य ग्रन्थ को देखने की आवश्यकता नहीं रह जाती। पर मैं तो इससे भी एक क़दम आगे बढ़ जाता हूँ। वेदों के नाम से जो चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, वही वेद नहीं हैं। इन ग्रन्थों में मूल वेद का अवशेष ही रह गया है। जो सत्य अविनश्वर है, नित्य है, सनातन है—वह इन छपे हुए ग्रन्थों में क्यों गड़ा या सीमित रहेगा? इसलिए मेरा विश्वास है कि वेद अनिर्वचनीय है और ग्रन्थमात्र से परे है। वेद का वास मनुष्य के हृदय में है। हमारे शास्त्रों ने बताया है कि हृदय में इस सत्य वेद का स्फुरण होने के लिए किस प्रकार की साधना और कैसा अभ्यास करना चाहिए। अतः मनुष्य के मौलिक अनुभव को इनके लिए प्रमाणरूप समझना चाहिए। ग्रन्थों की सहायता मनुष्य को मिलती है, पर इन ग्रन्थों का भी अर्थ करना पड़ता है और जब एक ही वचन के भिन्न-भिन्न अर्थ किये जाते हों, तब सत्य-शोधक को स्वयं ही अन्तिम निर्णय करना पड़ता है।
—ह० से०, २९।१२।१९३३]

- मैं गीता को ज्ञान की कुंजी मानता हूँ।
- गीता में समस्त शास्त्रों का सार आ जाता है।
- वेद अनिर्वचनीय है और ग्रन्थ-मात्र से परे है।
- वेद का वास मनुष्य के हृदय में है।
- सत्य-शोधक को स्वयं ही अन्तिम निर्णय करना पड़ता है।

४२. वेद यों पढ़ें !

आप वेद और उपनिषदों को नम्रतापूर्वक यथार्थ रीति से पढ़ें और उन उत्कृष्ट शास्त्रों का अर्थ लगाते समय अपनी प्रज्ञा की हत्या न करें, अपने रूढ़िगत विचारों की ओट न लें।

—त्रिवांकुर। २०।१।१९३४। ह० से० २।२।१९३४]

४३. मनुस्मृति

मैं मनुस्मृति को शास्त्रों का एक अंश मानता हूँ। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मैं मनुस्मृति के छपे हुए प्रत्येक श्लोक को प्रामाणिक समझता हूँ। मुद्रित मनुस्मृति में परस्पर-विरोधी इतनी बातें हैं कि यदि उसका एक अंश स्वीकार किया जाय तो अन्य अंश जो उससे संगति नहीं रखते, अवश्य ही अस्वीकृत करने पड़ेंगे। मनुस्मृति के उच्च विचारों के कारण मैं उसे एक धार्मिक ग्रन्थ मानता हूँ।..... इस बात का कोई भी प्रमाण नहीं है कि मनु नामक ऋषि कभी हुए भी हैं। किसी न किसी तरह महान् सत् सिद्धान्तों के रचयिताओं या प्रकाशकों को हिन्दू धर्म की प्रतिभा ने कुछ घिस-सा डाला है।.....

—ह० ज०। ह० से०, ६।४।१९३४]

४४. परिणाम-चिन्तन

गीता का अध्ययन करना और परिणाम का विचार करना, ये दोनों बातें कैसे हो सकती हैं? परिणाम जो होना हो सो हो। अच्छा दीखनेवाला बुरा हो सकता है और बुरा दीखनेवाला अच्छा हो सकता है। तब कैसे जानें? 'विपदो नैव विपदः' भी रोज गाते हैं।

—जोरहाट, आसाम, १८।४।१९३४। बापू के पत्र : सरदार वल्लभभाई के नाम, पृ० ९०, न० जी० प्र० मं०]

४५. मृत्यु-विजय : उपनिषद्-सन्देश

जबतक मृत्यु अजित है, तबतक मनुष्य जो कुछ करता है, सब बेकार है। इसीलिए ईशोपनिषद् का पहिला मन्त्र लिखा गया। वह ध्यान में है न ? शायद आपको याद होगा कि मैं यह उपनिषद् वहां रटता और रोज पढ़ता था। (आपके पास) न हो और चाहें तो भेज दूंगा। उसमें कुल अठारह मन्त्र हैं। इतने में ही सारा ज्ञान भर दिया गया है। इसमें और गीता में भेद नहीं है। जो इसमें बीजरूप में है, वह गीता में सुन्दर वृक्ष के रूप में दिया गया है।

— चम्पीपुरहाट, उत्कल, २२।५।१९३४। 'बापू के पत्र : सरदार वल्लभभाई के नाम, पृ० ९९, न० जी० प्र० मं०]

४६. गीता पर उपदेश

[गांधी जी ने हिन्दू विश्वविद्यालय की सभा में भाषण करते हुए आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव के अनुरोध पर गीता के सम्बन्ध में उपदेश किया था। इसके आवश्यक अंश संकलित किये जा रहे हैं।—सम्पा०]

.....मेरे-जैसे व्यक्ति पर गीता-माता का क्या प्रभाव पड़ा है, यह बतलाने के लिए कुछ कहता हूँ। ईसाई के लिए बाइबिल है, मुसलमान के लिए कुरान है पर हिन्दू किस (ग्रन्थ) को कहें ? वेद को कहें, स्मृति को कहें या पुराण को कहें ? मुझे बाईस-तेईस साल की उम्र में ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हुई। मालूम हुआ कि वेदों का अभ्यास करने में पन्द्रह वर्ष लगेंगे, पर मैं इसके लिए तैयार नहीं था। मुझे मालूम हुआ, मैंने कहीं पढ़ा कि गीता समस्त शास्त्रों का दोहन है, कामधेनु है। मुझे बतलाया गया कि उपनिषद आदि का सारांश सात सौ श्लोकों में आ गया है। थोड़ी संस्कृत की शिक्षा भी थी, मैंने सोचा कि यह तो सरल उपाय है। मैंने (गीता का)अध्ययन किया और वह मेरे लिए बाइबिल, कुरान, नहीं रही, माता बन गई। प्राकृतिक माता नही, ऐसी माता जो मेरे चले जाने पर भी रहेगी। उसके करोड़ों लड़के-लड़कियां पारस्परिक द्वेष के बिना उसका दुग्धपान कर सकते हैं। पीड़ा के समय वे माता की गोद में बैठ सकते हैं और पूछ सकते हैं कि यह संकट आ गया है, मैं क्या करूं, और माता ज्ञान बता देगी।.....कुछ लोग कहते हैं कि गीता-माता बहुत गूढ़ ग्रन्थ है। लोकमान्य तिलक के लिए वह भले ही गूढ़ ग्रन्थ हो, पर मेरे लिए तो इतना ही काफी है—पहिला, दूसरा और तीसरा अध्याय पढ़ लीजिए-शेष अंशों में तो केवल इन्हीं अध्यायों की बातें दोहराई गई हैं। इसमें भी थोड़े-से श्लोक में सभी बातों का समावेश है। और सबसे सरल गीतामाता में तीन जगह कहा गया

है कि जो सब चीजों को छोड़ कर मेरी गोद में बैठ जाते हैं, उनके लिए निराशा का स्थान नहीं, आनन्द ही आनन्द है।'

गीता-माता कहती है कि पुरुषार्थ करो, फल मुझे सौंप दो। ऐसी मोटी-मोटी बातें मैंने गीता माता से पाई। इसे भक्ति से पाना सम्भव है। मैं प्रतिदिन उससे कुछ-न-कुछ प्राप्त करता हूँ। इसलिए मुझे कभी निराशा नहीं होती।.....आप लोग प्रतिदिन सुबह गीता का पाठ करें। यह सर्वोपरि ग्रन्थ है। अठारह अध्याय कण्ठ करना अधिक परिश्रम की बात नहीं। वन या कारागार में चले जायं तो कण्ठ करने के कारण गीता साथ जायगी। प्राणान्त के समय जब आंख काम नहीं देती, केवल थोड़ी बुद्धि रह जाती है तो गीता से ही ब्रह्मनिर्वाण मिल सकता है।.....
—काशी, १।८।१९३४। ह० से०, १०।८।१९३४]

○ गीता समस्त शास्त्रों का दोहन है, कामधेनु है।
○ गीता से......ब्रह्मनिर्वाण मिल सकता है।

४७. रामचरित मानस

संसार के महान ग्रन्थों में तुलसीदास की रामायण ने मेरे हृदय में अग्रगण्य स्थान बना लिया है। जो चमत्कार तुलसीकृत रामायण में है वह न तो महाभारत में है न वाल्मीकी रामायण में। शायद जितने अंश और जिस अर्थ में तुलसीकृत रामायण धार्मिक ग्रन्थ कहा जाता है, उतने अंश और उस अर्थ में महाभारत नहीं कहा जाता।
—७।८।१९३४। ह० से०, २४।८।१९३४]

४८. गीता की एक शिक्षा

गीता माता हमें यह शिक्षा देती है कि कायाकृत दोषों से दूर रहते हुए भी मन में मलिनता का वास हो तो सारा जीवन दम्भमय और मिथ्याचारयुक्त हो जाता है। जिसके मन में विकार उठ रहा हो, उसके लिए यह आवश्यक है कि विकार को ढँककर, मूढ़ात्मा और मिथ्याचारी बनने के बजाय वह उसे स्वीकार कर ले। ऐसा न करेगा तो वह विकार का दोषी भी होगा, असत्य का भी दोष-भागी होगा।
—ह० से०, २४।८।१९३४]

४९. धर्मग्रन्थों का प्रमाण

स्मृति नामधारी वर्तमान ग्रन्थों में आज जो परस्पर-विरोधी सैकड़ों वाक्य मिलते हैं, वे सभी प्रमाण रूप नहीं माने जा सकते। ऐसी परस्पर-विरोधी बातें

या तो लेखक ने मूर्च्छित दशा में लिखी होंगी या बाद में उनमें क्षेपक जोड़ दिये गये हैं। मनु महाराज-जैसे तपस्वी स्मृतिकार मूर्च्छित दशा में नहीं हो सकते, इसलिए हमें उनके ग्रन्थों में असंगत लगनेवाली बातें निरुपयोगी समझनी चाहिए। लोगों ने जब तुलसीकृत रामायण में भी क्षेपक जोड़ दिये हैं, तब मनुस्मृति-जैसे प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा घोटाला हुआ हो तो क्या आश्चर्य ? मुझे मनु महाराज की सनातन धर्म की यह व्याख्या यथार्थ जान पड़ती है और हमें. . . . .सब वचनों को इसी कसौटी पर कसना चाहिए—

विद्वद्भिः [1]सेवितः सद्भिः नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातः एष धर्मः सनातनः॥

—ह० से० ३१।८।१९३४]

५०. गीता का उपदेश

गीता का उपदेश स्पष्ट, निश्चित है। जिसका मन एक बार ईश्वर में लग गया वह कोई पाप नहीं कर सकता। मैं उससे कितनी दूर हूँ, यह तो वही जानता है। ईश्वर को धन्यवाद है कि अपने महात्मापन की प्रसिद्धि से मैं कभी धोखे में नहीं पड़ा हूँ। . . . .गीता के सन्देश में सदा की तरह आज भी मेरा वैसा ही विश्वास है। उस विश्वास को ऐसे सुन्दर रूप में परिणत करने के लिए, जिनसे गिरावट का अनुभव ही न हो, लगातार अथक प्रयत्न की आवश्यकता है। लेकिन उसी गीता में इसके साथ ही असन्दिग्ध रूप से यह भी कहा गया है कि ईश्वरीय अनुग्रह बिना यह स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती। अगर विधाता ने इतनी गुंजाइश न रखी होती तो हमारे हाथ-पैर फूल गये होते और हम अकर्मण्य हो जाते।

—ह० ज०। ह० से०, २९।२।१९३६]

५१. कामधेनु गीता

[गांधी जी ने १९२२-२४ के बीच यरवदा-जेल में जो गीतापदार्थ-कोष (गीता के शब्दों के साथ स्थल-निर्देश) तैयार किया था, वह प्रकाशित हो गया

---

१. नित्य रागद्वेषविहीन, सद्विद्वानों द्वारा सेवित और हृदय-द्वारा अनुज्ञात यही सनातन धर्म है।

है। शब्दार्थ गुजराती भाषा और देवनागरी लिपि में छपा है। प्रस्तावना रूप में गांधी जी ने जो 'पाठकों से विनती' लिखी है उसे यहां संकलित किया जा रहा है।—सम्पा०]

जिन्हें मेरे नाम से प्रसिद्ध गीता के अनुवाद में तनिक भी रस है, उनके लिए यह कोष सहज ही आवश्यक है। सम्भव है कि दूसरे गीताभ्यासियों के लिए भी यह कोष उपयोगी हो। उनके लिए मेरी सूचना है कि यदि पदार्थकोष में दिया हुआ अर्थ उन्हें न रुचे और दूसरा अर्थ अधिक प्रिय मालूम हो, तो उसे वे उसी में नोट कर लें। ऐसा करने से उनकी अपनी मनोभिरुचि का कोष बहुत थोड़े परिश्रम से तैयार हो जायगा। और ऐसे गीताभ्यासी अगर अपना पसन्द किया हुआ अर्थ मुझे लिख भेजेंगे तो मैं उनका आभार मानूंगा।

ज्यों-ज्यों मैं गीता का अभ्यास करता हूँ, त्यों-त्यों मुझे उसकी अधिकाधिक अनुपमता मालूम होती जाती है। मेरे लिए गीता आध्यात्मिक कोष है। मैं जब कार्याकार्य की व्याकुलता में पड़ जाता हूँ, तब मैं इसी का आश्रय लेता हूं, और अबतक इसने मुझे कभी निराश नहीं किया। यह सच्ची कामधेनु है। हममें से कुछ लोग पहले नित्य एक श्लोक, फिर दो, फिर पाँच, फिर नित्य एक अध्याय, फिर चौदह दिन में पारायण, और इधर अन्त के कुछ वर्षों से सात दिन का पारायण करते आ रहे हैं, और उस-उस दिन उस-उस अध्याय का पाठ प्रातःकाल साढ़े चार बजे के लगभग सुनते हैं। कुछ लोगों ने—बहुत थोड़ों ने १८ अध्याय कण्ठ कर लिये हैं..... सवेरे की दैनिक प्रार्थना में यह क्रम चलता है—

शुक्रवार १, २
शनिवार ३, ४, ५
रविवार ६, ७, ८
सोमवार ९, १०, ११, १२
मंगलवार १३, १४, १५
बुधवार १६, १७
गुरुवार १८

इस प्रकार के विभाग के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि इसके पीछे एक विचार-श्रेणी निहित है। इस रीति से मनन करने में ठीक-ठीक अनुकूलता पड़ती है, ऐसा अनुभव है।

शुक्रवार से पारायण क्यों शुरू हुआ, यह प्रश्न हो सकता है। कारण इसका इतना ही है कि बहुत समय तक हमारा चौदह दिन का पारायण चलता रहा। यरवदा जेल में सात दिन के पारायण का विचार मेरे मन में आया और शुक्रवार

को वह विचार कार्यरूप में परिणत हुआ, इस प्रकार तब से पारायण-सप्ताह शुक्रवार को शुरू होता है।

.....पारायण की बात को यहां स्थान देने में दो हेतु हैं। एक तो यह बताने का कि गीताभक्ति आजकल हममें से कुछ लोगों को कहां तक ले गई है, और दूसरा हेतु है पाठ करनेवालों को अभ्यास के लिए प्रोत्साहन देने का मार्ग बताना।

पर गीता का गान करके ही हम निहाल होने के नहीं। गीता धर्मदर्शक कोष है; आत्मा की गुत्थियों को सुलझानेवाली एक प्रचण्ड शक्ति है; दुखियों का आधार है; मूर्च्छा से जगानेवाली है, ऐसा जो मानता है उसे गीता-गान सहायता देता है। बिना अर्थ किये गीता-ज्ञान स्वतन्त्र रीति से मनुष्य का कल्याण करता है, ऐसा कहने का मेरा यहां बिल्कुल आशय नहीं। उचित प्रयत्न से पाले हुए तोते को गीता अवश्य कण्ठ कराई जा सकती है, पर इससे तोते को या उसके शिक्षक को रत्तीभर भी पुण्य प्राप्त नहीं होगा।

गीता जीवित, जीवन देनेवाली, अमर माता है। दूध पिला-पिलाकर पालनेवाली माता किसी दिन दगा देकर चली जायगी। असंख्य माताएँ अपनी सन्तान को खतरों से बचाने में असमर्थ पाई जाती हैं, ऐसा हमारे देखने में आता है। किन्तु गीतामाता की शरण लेनेवाला भयंकर खतरे से बच जाता है। यह नित्य जाग्रत रहती है; कभी धोखा नहीं देती। पर जिस प्रकार बिना मांगे मां भी नहीं परोसती उसी तरह गीतामाता भी बिना मांगे कुछ नहीं देती। वह किसी को गोद में लेने से पहिले उसकी कड़ी परीक्षा लेती है; उससे पूर्ण भक्ति की अपेक्षा रखती है। शुष्क भक्ति भी काम आने की नहीं। वह तो अनन्य-भक्ति चाहती है। इसलिए जो उसे सर्वार्पण करने के लिए तैयार नहीं, उसे शरण देने से साफ़ इन्कार कर देती है।

एक-एक भौतिक विज्ञान का अभ्यासी उसके पीछे पागल हो जाता है, तब उसे उसका थोड़ा-सा दर्शन मिलता है। एम० ए० बी० ए० होने की इच्छा रखनेवाले दिन-रात पढ़ते ही रहते हैं; इसके पीछे पैसा भी खर्च करते हैं; शरीर भी खपाते हैं। इस तरह प्रयत्न करनेवालों में से थोड़े से ही विद्यार्थी पहली बार पास होते हैं। उत्तीर्ण न होनेवाले निराश नहीं होते और बार-बार प्रयत्न करते हैं। वे उत्तीर्ण होने पर ही शान्त होते हैं। और अन्त में.....?

गीतामृत का पान करने के लिए इन प्रयत्नों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रयत्न की आवश्यकता होनी चाहिए, और है ही। पर इस अमृतपान की इच्छा कितने लोगों को है? अगर इच्छा है तो तन-तोड़ प्रयत्न करने के लिए कितने तैयार होते हैं? हम यह जानते हैं कि मेरी बताई हुई इस दृष्टि से गीता की भक्ति करनेवालों की संख्या नहीं के बराबर है। तो भी यह सभी स्वीकार करते हैं कि गीता समस्त

उपनिषदों का दोहन है। किसी भी हिन्दू को उसके ज्ञान से वंचित नहीं होना चाहिए। पर आज तो धर्ममात्र की कीमत घट गई है। इसके कारणों में उतरने का यह प्रसंग नहीं। मैंने तो,गीता-पदार्थ कोप प्रकाशित हो रहा है इस निमित्त से, जिज्ञासुओं का ध्यान गीतारूपी रत्न की ओर खींचने का और यह बतलाने का प्रयत्न इस विनीतपत्र में किया है कि उसका सदुपयोग किस तरह हो सकता है। यह प्रयत्न सफल हो। —सेगांव, वर्धा २४।९।१९३६। ह० ज० ७।११।१९३६]

- गीता आध्यात्मिक कोष है।
- यह (गीता) सच्ची कामधेनु है।
- गीता धर्मदर्शक कोष है; आत्मा की गुत्थियों को सुलझाने वाली एक प्रचण्ड शक्ति है।
- गीता जीवित, जीवन देनेवाली, अमर माता है।
- गीता समस्त उपनिषदों का दोहन है।

५२. गीता, महाभारत, रामायण

.....गीता.....को लीजिए। उसने कर्म, संन्यास, यज्ञ आदि का बिल्कुल भिन्न अर्थ प्रतिपादित किया है। उसने हिन्दू धर्म में नया जीवन डाल दिया है; उसने आचार का एक मौलिक मार्ग बताया है। पर इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि गीता में जो कहा गया है, वह पुराने धर्म-ग्रन्थों से उपलब्ध नहीं हो सकता था। गीता ने सिर्फ उन भावों को भाषाबद्ध कर दिया है, जो उन ग्रन्थों में गर्भित थे। मैंने संसार के कई धर्मों का श्रद्धापूर्वक अध्ययन और मनन किया है, विशेषकर गीता-प्रतिपादित हिन्दू धर्म के पालन का शक्तिभर पूरा यत्न भी किया है। मैंने इसी श्रद्धा और अनुभव के आधार पर किसी प्रकार की खींचातानी किये बिना हिन्दूधर्म का एक व्यापक और विशाल स्वरूप जनता के सामने रखने का यत्न किया है—वह रूप नहीं जो असंख्य धर्म-ग्रन्थों में दबा पड़ा है।

मैंने हिन्दू धर्म का वह सजीव स्वरूप देश के सामने रखा है, जो अपने दुखी बालक को सान्त्वना देनेवाली माता के समान है। और मेरा यह दावा है कि इसमें मैंने कोई नई बात नहीं की; इसमें मैंने अपने पूर्व-पुरुषों के चरण-चिह्नों का ही अनुगमन किया है। हम जानते हैं कि एक समय हमारे पूर्वज क्रुद्ध देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए प्राणियों की बलि देते थे। उनके वंशजों ने, जो हमारे नजदीक पूर्वपुरुष थे, इस बलिदान में भिन्न अर्थ पाया। उन्होंने बताया कि बलिदान प्राणियों

का नहीं हमारे अवम विकारों का हो और वह क्रुद्ध देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नहीं, बल्कि अपने अन्तस्तल में विराजमान प्रभु को प्रसन्न करने के लिए हो। मेरा तो यही मत है कि गीता-धर्म की निश्चित शिक्षा यही है कि हम नव शान्ति की उपासना करें। इसके लिए हमें अपने प्राण भी अर्पित कर देने पड़ें, तो कोई चिन्ता की बात नहीं। यह मानवजाति की सर्वोच्च आकांक्षा है।

महाभारत और रामायण दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको करोड़ों हिन्दू जानते हैं और अपने मार्ग-दर्शन के लिए पढ़ते भी हैं। वे रूपक हैं, यह तो भीतरी प्रमाण से ही सिद्ध है। माना कि उनमें अधिकांशतः ऐतिहासिक व्यक्तियों का ही वर्णन है। फिर भी इससे मेरे पक्ष को कोई बाधा नहीं पहुँचती। प्रत्येक महाकाव्य में सत् और असत् शक्तियों के बीच चलनेवाले सनातन संघर्ष का वर्णन होता है। इसलिए मैं किसी भी दशा में यह स्वीकार नहीं कर सकता कि मैंने पहिले से अपने कुछ विचार बना लिये हैं और उनका समर्थन करने के उद्देश्य से मैं हिन्दू धर्म या गीता की खींचातानी करना चाहता हूँ। मैं तो कहता हूँ कि मेरे विचार वास्तव में गीता, रामायण, महाभारत और उपनिषदों के अध्ययन का परिणाम हैं।

—ह० ज०। ह० से०, ३।१०।१९३६]

५३. गीता-जयंती

पूना से केसरी[1] के श्री जी० वी० केतकर लिखते हैं :—

"इस वर्ष गीता-जयन्ती शुक्रवार २२ दिसम्बर को पड़ती है। जो प्रार्थना मैं कई साल से करता आया हूँ वही इस बार दुहराता हूँ कि आप हरिजन में गीता-जयन्ती पर लिखें। एक बात और भी पिछले वर्ष कही थी, वह फिर से कहता हूँ। गीता पर आपने अपने व्याख्यानों में एक जगह कहा है कि जिन्हें ७०० श्लोकों की पूरी गीता का पारायण करने का अवकाश नहीं उनके लिए दूसरा और तीसरा अध्याय पढ़ लेना काफ़ी है। आपने यह भी कहा है कि इन दो अध्यायों का भी सार किया जा सकता है। सम्भव हो तो आप समझाइए कि आप दूसरे और तीसरे अध्याय को क्यों आधारभूत मानते हैं। मैंने भी दूसरे और तीसरे अध्याय के श्लोक गीता-बीज के रूप में प्रकाशित करके यही विचार जनता के सामने रखने का प्रयत्न किया है। अवश्य ही आपके इस विषय पर लिखने का प्रभाव अधिक पड़ेगा।"

---

१. प्रमुख मराठी पत्र।

अब तक मैंने श्री केतकर की बात नहीं मानी थी। मैं नहीं जानता कि जिस उद्देश्य से ये जयन्तियाँ मनाई जाती हैं, वह इस तरह पूरा होता है। आध्यात्मिक विषयों में विज्ञापन के साधारण साधनों का स्थान नहीं होता। आध्यात्मिक वस्तुओं का उत्तम विज्ञापन तो उनके अनुरूप कर्म ही होता है। मेरा विश्वास है कि सभी आध्यात्मिक ग्रन्थों का प्रभाव दो बातें होने से पड़ता है। एक तो यह कि उनमें लेखकों के अनुभवों का सच्चा इतिहास हो और दूसरे उनके भक्तों का जीवन यथासम्भव उनके उपदेशों के अनुसार रहा हो। इस प्रकार ग्रन्थकार अपने ग्रन्थों में प्राण-संचार करते हैं और अनुयायी उनके अनुसार आचरण करके उनका पोषण करते हैं। मेरी सम्मति में करोड़ों पर गीता, तुलसीकृत रामायण आदि पुस्तकों के प्रभाव का यही रहस्य है।

श्री केतकर का आग्रह मानने में मैं यह आशा रखता हूं कि आगामी जयन्ती-उत्सव में भाग लेनेवाले उचित भावना से प्रेरित होंगे और गीता के पवित्र सन्देश के अनुसार अपना जीवन बनाने का दृढ़ निश्चय करेंगे। मैंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह सन्देश आसक्ति छोड़कर स्वधर्म-पालन करना ही है। मेरा यह मत रहा है कि गीता का मुख्य विषय दूसरे अध्याय में है और उसके अनुसार आचरण करने की विधि तीसरे अध्याय में बताई गई है। ऐसा कहने का यह अर्थ नहीं है कि दूसरे अध्यायों की महिमा कम है। वास्तव में एक-एक अध्याय का अपना महत्व अलग-अलग ही है। विनोबा ने गीता को गीताई अर्थात् गीता-माता कहकर पुकारा है। उन्होंने उसका बहुत ही सरल और ओजस्वी मराठी में पद्यानुवाद किया है। उसका छन्द भी वही रखा है जो मूल संस्कृत में है। हजारों के लिए गीता ही सच्ची माता है, क्योंकि वह कठिनाइयों में सान्त्वना-रूपी पौष्टिक दूध देती है। मैंने उसे अपना आध्यात्मिक कोष कहा है, क्योंकि दुःख में मैं उससे कभी निराश नहीं हुआ हूँ। इसके अतिरिक्त, यह ऐसी पुस्तक है जिसमें साम्प्रदायिकता और धार्मिक अधिकारवाद का नाम भी नहीं है। यह मनुष्यमात्र को प्रेरणा देती है। मैं गीता को क्लिष्ट पुस्तक नहीं मानता। निःसन्देह पण्डितों के हाथ में तो जो भी चीज़ पड़ जाय उसी में वे गहनता देख लेते हैं, परन्तु मेरी सम्मति में साधारण बुद्धि के मनुष्य को भी गीता के सरल सन्देश को समझ लेने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इसकी संस्कृत तो अत्यन्त सरल है। मैंने गीता के कई अंग्रेजी अनुवाद पढ़े हैं, परन्तु एडविन आर्नाल्ड के छन्दानुवाद की तुलना में एक भी नहीं है। इसका नाम स्वर्गीय गीत भी उन्होंने बहुत सुन्दर और उपयुक्त रखा है।

—११।१२।१९३९। गीता-माता, पृ० ५५७-५५९, स० सा० मं०, संस्करण १९५०]

- आध्यात्मिक वस्तुओं का उत्तम विज्ञापन तो उनके अनुरूप कर्म ही होता है।
- यह (गीता का) सन्देश आसक्ति छोड़ कर स्वधर्म-पालन करना ही है।
- हजारों के लिए गीता ही सच्ची माता है क्योंकि वह कठिनाइयों में सान्त्वना-रूपी पौष्टिक दूध देती है।
- यह (गीता) एक ऐसी पुस्तक है जिसमें साम्प्रदायिकता और अधिकारवाद का नाम नहीं है।
- यह (गीता) मनुष्य मात्र को प्रेरणा देती है।

५४. हिन्दू धर्म और धर्म-ग्रन्थ

हिन्दुओं के वेद हजारों वर्ष पुराने हैं। इतने ही पुराने उनके उपनिषद् हैं, मगर लोग उनको पूरी तरह नहीं जानते। इनमें से किसी भी धर्मग्रन्थ में जो खराबियां घुस आई हैं, वे उसके बहुत वर्ष बाद लिखे जाने के कारण हैं। हिन्दू-धर्म एक महान धर्म है। उसमें असीम सहिष्णुता और अन्य धर्मों को अपने में मिला लेने की शक्ति है।.....ईश्वर सर्वव्यापी है। वह मनुष्य के हृदय पर शासन करता है। वह केवल अनन्य भक्ति चाहता है, फिर वह भक्ति चाहे किसी रूप में और किसी भाषा में की जाय।

—दिल्ली, प्रार्थना-सभा ४।४।१९४७। ह० से० २०।४।१९४७]

५५. सनातन हिन्दू-धर्म

सनातन हिन्दू-धर्म ओछा नहीं है। यह बड़ा उदार धर्म है। यह कुएं के मेंढ़क की तरह कुएं को ही अपना देश नहीं मानता। यह इंसान का धर्म है। महाभारत के एक मलयाली टीकाकार ने कहा है कि यह मानव का इतिहास है। यही ठीक है। मगर ऐसा हो न हो, हिन्दू शब्द संस्कृत का नहीं है। सिन्धु के इस पार रहनेवालों को परदेसियों ने हिन्दू कहा और हमने वह शब्द पचा लिया। मनु किसी एक व्यक्ति का नाम नहीं है। उनका बनाया हुआ शास्त्र मानव-धर्म-शास्त्र कहा जाता है। यह शास्त्र मानव का है। इसमें वास्तविक श्लोक कौन हैं और बाद में कौन-से डाले गये हैं, यह कहना कठिन है।

बाबू भगवानदास कुछ (श्लोकों) को क्षेपक मानते हैं; आर्य समाज ने अन्य कुछ को क्षेपक माना है। मैं तो यह मानता हूं कि उसमें से जो विवकशील के हृदय और मस्तिष्क को जँचे, वही मानव-धर्म-शास्त्र है। इसमें सुधार और वृद्धि की हमेशा गुंजाइश रहती है। क्षेपक श्लोक भी भिन्न-भिन्न युगों के स्वयं को सुधारक माननेवालों के सफल या असफल प्रयत्न हैं।

ऐसा मानव-धर्म-शास्त्र सब मनुष्यों पर लागू होना चाहिए। उसमें जाति-पाँति का भेद नहीं हो सकता। उसके लिए कोई हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, नहीं, बल्कि सब इंसान हैं। ऐसे शास्त्र को माननेवाले किसी तरह का भेदभाव कैसे रख सकते हैं?

—कश्मीर जाते हुए रेलगाड़ी में, ३१।७।१९४७। ह० ज०। ह० से०, १०-८-१९४७]

५६. गीता-माता

गीता शास्त्रों का दोहन है। मैंने कहीं पढ़ा था कि सारे उपनिषदों का निचोड़ उसके ७०० श्लोकों में आ जाता है। इसलिए मैंने निश्चय किया कि कुछ न हो सके तो भी गीता का ज्ञान प्राप्त कर लूं। आज गीता मेरे लिए केवल बाइबिल नहीं है, केवल कुरान नहीं है, मेरे लिए वह माता हो गई है। मुझे जन्म देनेवाली माता तो चली गई, पर संकट के समय गीता-माता के पास जाना मैं सीख गया हूं। मैंने देखा है कि जो कोई इस माता की शरण जाता है, उसे वह ज्ञानामृत से तृप्त करती है।

कुछ लोग कहते हैं कि गीता तो अत्यन्त गूढ़ ग्रन्थ है। स्व० लोकमान्य तिलक ने अनेक ग्रन्थों का मनन करके पण्डित की दृष्टि से उसका अभ्यास किया और उसके गूढ़ अर्थों को वे प्रकाश में लाये। उन्होंने उस पर एक महाभाष्य की रचना भी की। तिलक महाराज के लिए यह गूढ़ ग्रन्थ था, पर हमारे-जैसे साधारण मनुष्य के लिए यह गूढ़ नहीं है। सारी गीता का वाचन आपको कठिन मालूम हो तो आप केवल पहिले तीन अध्याय पढ़ लें। गीता का सब सार इन तीन अध्यायों में आ जाता है। बाकी अध्यायों में वही बात अधिक विस्तार से और अनेक दृष्टियों से सिद्ध की गई है। यह भी किसी को कठिन मालूम हो तो इन तीन अध्यायों में से कुछ ऐसे श्लोक छाँटे जा सकते हैं[1] जिनमें गीता का निचोड़ आ जाता है। तीन जगहों पर तो गीता

---

१. गांधी जी ने स्वयं चुने हुए श्लोकों का एक संग्रह गीता-प्रवेशिका के नाम से किया था।

में यह भी आता है कि सब धर्मों को छोड़कर तू केवल मेरी ही शरण ले। इससे अधिक सरल और सादा उपदेश और क्या हो सकता है ? यदि मनुष्य गीता में से अपने लिए आश्वासन प्राप्त करना चाहे तो उसे उसमें से वह पूरा-पूरा मिल जाता है। जो मनुष्य गीता का भक्त होता है, उसके लिए निराशा की कोई जगह नहीं है, वह हमेशा आनन्द में रहता है।

पर इसके लिए बुद्धिवाद नहीं, बल्कि अव्यभिचारिणी भक्ति चाहिए। अबतक मैंने एक भी ऐसे आदमी को नहीं जाना, जिसने गीता का अव्यभिचारिणी भक्ति से सेवन किया हो और जिसे गीता से आश्वासन न मिला हो। तुम विद्यार्थी लोग कहीं परीक्षा में फेल हो जाते हो तो निराशा के सागर में डूब जाते हो। गीता निराश होनेवालों को पुरुषार्थ सिखाती है; आलस्य और व्यभिचार का त्याग बताती है। एक वस्तु का ध्यान करना, दूसरी चीज बोलना और तीसरी को सुनना, इसको व्यभिचार कहते हैं। गीता सिखाती है कि पास हों या फेल, दोनों चीजें समान हैं। मनुष्य को केवल प्रयत्न करने का अधिकार है, फल पर कोई अधिकार नहीं। यह आश्वासन मुझे कोई नहीं दे सकता, वह तो अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होता है। सत्याग्रही की हैसियत से मैं कह सकता हूँ कि इसमें से नित्य ही मुझे कुछ-न-कुछ नई वस्तु मिलती रहती है। कोई मुझे कहेगा कि यह तुम्हारी मूर्खता है तो मैं उसे कहूँगा कि मैं अपनी इस मूर्खता पर अटल रहूँगा। इसलिए सब विद्यार्थियों से मैं कहूँगा कि सवेरे उठकर तुम इसका अभ्यास करो। तुलसीदास का मैं भक्त हूँ पर तुम लोगों को इस समय मैं तुलसीदास नहीं सुझाता हूँ। विद्यार्थी की हैसियत से तो तुम गीता का ही अभ्यास करो, पर द्वेष-भाव से नहीं, भक्ति-भाव से। तुम उसमें भक्तिपूर्वक प्रवेश करोगे तो जो तुम्हें चाहिए वह उसमें से मिलेगा। अठारहों अध्याय कण्ठ करना कोई खेल नहीं है, पर करने जैसी चीज़ तो है ही। तुम एक बार उसका आश्रय लोगे तो देखोगे कि दिनों-दिन उसमें तुम्हारा अनुराग बढ़ेगा। फिर तुम कारागृह में हो या जंगल में, आकाश में हो या अँधेरी कोठरी में, गीता की रटन तो निरन्तर तुम्हारे हृदय में चलती ही रहेगी और उसमें से तुम्हें आश्वासन मिलेगा। तुमसे यह आधार तो कोई छीन ही नहीं सकता। इसकी रटन में जिसका प्राण जायगा उसके लिए तो वह सर्वस्व ही है; केवल निर्वाण नहीं, बल्कि ब्रह्म-निर्वाण है।

—गीता माता, पृ० ५२९–३१, संस्करण जनवरी १९५०]

- गीता मेरे लिए केवल बाइबिल नहीं है, केवल कुरान नहीं है, मेरे लिए वह माता हो गई है।
- जो मनुष्य गीता का भक्त होता है, उसके लिए निराशा की कोई जगह नहीं है।

● मनुष्य को केवल प्रयत्न करने का अधिकार है, फल पर कोई अधिकार नहीं।

५७. गीता से प्रथम परिचय

विलायत में रहते हुए कोई एक साल हुआ होगा, इस बीच दो थियोसॉफिस्ट मित्रों से मुलाकात हुई। दोनों सगे भाई थे और अविवाहित थे। उन्होंने मुझसे गीता की वात चलाई। उन दिनों ये एडविन आर्नाल्ड-कृत गीता का अंग्रेजी अनुवाद पढ़ रहे थे, पर मुझे उन्होंने अपने साथ संस्कृत में गीता पढ़ने के लिए कहा। मैं लज्जित हुआ, क्योंकि मैंने तो गीता न संस्कृत में, न भाषा में ही पढ़ी थी। मुझे उनसे यह वात झेंपते हुए कहनी पड़ी, पर साथ ही यह भी कहा कि मैं आपके साथ पढ़ने को लिए तैयार हूँ। यों तो मेरा संस्कृत-ज्ञान नहीं के वरावर है, फिर भी मैं इतना समझ सकूँगा कि अनुवाद कहीं गड़वड़ होगा तो उसे वता सकूं। इस तरह इन भाइयों के साथ मेरा गीता-वाचन आरम्भ हुआ। दूसरे अध्याय के अन्तिम श्लोकों में :

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

इन श्लोकों का मेरे दिल पर गहरा असर हुआ। वस कानों में उनकी ध्वनि दिनरात गूँजा करती। तव मुझे प्रतीत हुआ कि भगवद्गीता तो अमूल्य ग्रन्थ है। यह धारणा दिन-दिन अधिक दृढ़ होती गई, और अव तो तत्त्वज्ञान के लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ। निराशा के समय इस ग्रन्थ ने मेरी अमूल्य सहायता की है। यों इसके लगभग तमाम अंग्रेजी अनुवाद मैं पढ़ गया हूँ, परन्तु एडविन आर्नाल्ड का अनुवाद सवमें श्रेष्ठ मालूम होता है। उन्होंने मूल ग्रन्थ के भावों की अच्छी रक्षा की है और तिस पर भी वह अनुवाद-जैसा नहीं मालूम होता। फिर भी यह नहीं कह सकते कि इस समय मैंने भगवद्गीता का अच्छा अध्ययन कर लिया है। उसका दैनिक पाठ तो वर्षो वाद शुरू हुआ।

—आत्मकथा, अध्याय २०, वारहवाँ संस्करण; पृ० ८९]

● भगवद्गीता......अमूल्य ग्रन्थ है।

● तत्त्वज्ञान के लिए मैं उसे (गीता को) अमूल्य ग्रन्थ मानता हूँ।

५८. धर्म-निरीक्षण का परिणाम

सन् १८९३ में जब मैं ईसाई मित्रों के निकट सम्पर्क में आया, तब मैं केवल जिज्ञासु था। ईसाई मित्र मुझे बाइबिल का सन्देश सुनाने, समझाने और मुझसे उसको स्वीकार कराने का प्रयत्न करते थे। मैं नम्रतापूर्वक तटस्थ भाव से उनके उपदेश सुन-समझ रहा था। इस निमित्त मैंने हिन्दू-धर्म का यथाशक्ति अध्ययन किया और दूसरे धर्मों को समझने की कोशिश की।

अब १९०३ में स्थिति थोड़ी बदल गई। थियॉसाफिस्ट मित्र मुझे अपने मण्डल में सम्मिलित करने की इच्छा जरूर रखते थे। पर उनका हेतु हिन्दू के नाते मुझसे कुछ पाना था। थियॉसफी की पुस्तकों में हिन्दू-धर्म की छाया और उसका प्रभाव तो काफी है ही। इसलिए इन भाइयों ने मान लिया कि मैं उनकी सहायता कर सकूंगा। मैंने उन्हें समझाया कि मेरा संस्कृत का अध्ययन नहीं के बराबर है; मैंने उसके प्राचीन धर्म-ग्रन्थ संस्कृत में नहीं पढ़े हैं। अनुवादों के द्वारा भी मेरी पढ़ाई कम ही हुई है। फिर भी चूंकि वे संस्कार और पुनर्जन्म को मानते थे, इसलिए उन्होंने समझा कि मुझसे थोड़ी-बहुत सहायता तो मिलेगी ही और मैं 'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते'[1]—जैसी स्थिति में आ पड़ा। किसी के साथ मैंने स्वामी विवेकानन्द का तो किसी के साथ मणिलाल नभुभाई का राजयोग पढ़ना शुरू किया। एक मित्र के साथ पातंजल योगदर्शन पढ़ना पड़ा। बहुतों के साथ गीता का अभ्यास शुरू हुआ। जिज्ञासु-मण्डल के नाम से एक छोटा-सा मण्डल भी स्थापित किया और नियमित अभ्यास होने लगा। गीता जी पर मुझे प्रेम और श्रद्धा तो थी ही। अब उसकी गहराई में उतरने की आवश्यकता प्रतीत हुई। मेरे पास एक-दो अनुवाद थे। उनकी सहायता से मैंने मूल संस्कृत समझ लेने का प्रयास किया और नित्य एक-दो श्लोक कण्ठ करने का निश्चय किया।

.....इस गीता-पाठ का प्रभाव मेरे साथ पढ़नेवालों पर क्या पड़ा उसे वे जानें, परन्तु मेरे लिए तो वह पुस्तक आचार की एक प्रौढ़ पथ-प्रदर्शिका बन गई। वह मेरे लिए धार्मिक कोश का काम देने लगी। जिस प्रकार नये अंग्रेजी शब्दों के हिज्जे या उनके अर्थ के लिए मैं अंग्रेजी शब्दकोश देखता था, उसी प्रकार आचार-सम्बन्धी कठिनाइयों और उसकी समस्याएँ गीता से हल करता था। उसके अपरिग्रह, समभाव आदि शब्दों ने मुझे पकड़ लिया। समभाव का विकास कैसे हो, उसकी रक्षा किस प्रकार की जाय? अपमान करनेवाले अधिकारी रिश्वत

---

१. जहाँ कोई वृक्ष नहीं वहाँ एरण्ड (रेंड) ही वृक्ष बन जाता है।

लेनेवाले अधिकारी, व्यर्थ विरोध करनेवाले कल के साथी इत्यादि, और जिन्होंने बड़े-बड़े उपकार किये हैं, ऐसे सज्जनों के बीच भेद न करने का क्या अर्थ है? अपरिग्रह किस प्रकार पाला जाता होगा ? देह का होना ही कौन कम परिग्रह है ? स्त्री-पुत्रादि परिग्रह नहीं तो और क्या है ? ढेरों पुस्तकों से भरी इन आलमारियों को क्या जला डालूँ ? घर जलाकर तीर्थ करने जाऊँ ? तुरन्त ही उत्तर मिला कि घर जलाये बिना तीर्थ किया ही नहीं जा सकता। यहाँ अंग्रेजी ने मेरी मदद की। स्नेल की कानूनी सिद्धान्तों की चर्चा याद आई। गीता के अध्ययन के फलस्वरूप ट्रस्टी शब्द का अर्थ विशेषरूप से समझ में आया। कानून-शास्त्र के प्रति मेरा आदर बढ़ा। मुझे उसमें भी धर्म के दर्शन हुए। ट्रस्टी के पास करोड़ों रुपयों के रहते हुए भी उसमें से एक भी पाई उसकी नहीं होती। मुमुक्षु को ऐसा ही बर्ताव करना चाहिए। यह बात मैंने गीता से समझी। मुझे यह दीपक की तरह स्पष्ट दिखाई दिया कि अपरिग्रही बनने में, समभावी होने में हेतु का, हृदय का परिवर्तन जरूरी है। मैंने रेवाशंकर भाई को लिखा कि मेरे बीमे की पालिसी बन्द करदें। कुछ रकम वापस मिले तो ले लें, न मिले तो भरे हुए पैसे को गया हुआ मान लें। बच्चों की और स्त्री की रक्षा उन्हें और हमें पैदा करनेवाला करेगा। पितृ-तुल्य भाई को लिखा—आज तक तो मेरे पास जो बचा वह मैंने आपको अर्पण किया। अब आप मेरी आशा छोड़ दीजिए। अब जो बचेगा, वह यहीं हिन्दुस्तानी समाज के हित में खर्च होगा।....

—आत्मकथा, भाग ४, अध्याय ५]

१. सूफी-सम्प्रदाय

सूफी सम्प्रदाय के उपदेशों के अनुसार कोई भी धर्म जिसमें नीति हो, बुरा नहीं होता।

—गुजराती से। इं० ओ०, १५।६।१९०७]

२. थियॉसफी

[डा० प्राणजीवन मेहता को लिखे पत्र से]

थियॉसफी के विषय में आपके जो विचार हैं, वैसे मेरे १८९९ से रहे हैं। उस समय मुझसे सोसायटी में शामिल होने का बहुत आग्रह किया गया था, किन्तु मैंने साफ़ इन्कार कर दिया था और कहा था कि सोसायटी का भाईचारे वाला सिद्धान्त मुझे पसन्द है, किन्तु मैं सूक्ष्म शक्तियों की खोज करने तथा उन्हें प्राप्त करने के प्रयत्न के विरुद्ध हूँ।...इसके बावजूद थियॉसफी में से मुझे जो सार लेने योग्य लगा वह मैंने लिया है।...थियॉसफी के कारण अनेक हिन्दू अपने धर्म की खोज करने के लिए प्रेरित हुए हैं। जो प्रयोजन ईसाई-धर्म ने पूरा किया है, वही थियॉसफी ने भी पूरा किया है। इसके सिवा हम जिन मूल सिद्धान्तों को मानते हैं, उन्हें थियॉसफी भी मानती है, इसलिए उसके अनुयायियों में भले आदमी आसानी से मिल जाते हैं। वैष्णवों आदि के सम्प्रदायों में ऊपर से नीचे तक धूर्तों की कमी नहीं है, फिर भी उनमें नरसी[1] मेहता, भोजा भगत[2] आदि हीरे भी मिलते हैं। रिच भी थियॉसफिस्ट थे। उन्होंने मुझसे सोसायटी का सदस्य होने का आग्रह किया। मैं तो उसका सदस्य नहीं हुआ; साथ ही उनको उसके ढोंग से मुक्त होने में मैंने सहायता दी। पोलक थियॉसफिस्ट हैं, किन्तु थियॉसफिस्टों के कर्मकाण्ड से तथा उनकी पुस्तकों से वह बहुत दूर रहते हैं। ऐसा ही कैलेनबैक के विषय में कहा जा सकता है।...कार्डिज फीनिक्स में हैं। वह पक्के थियॉसफिस्ट हैं। उन्हें

---

१. गुजराती सन्त कवि।

२. मध्ययुगीन गुजराती भक्त कवि।

मैं अभी थियॉसफी के व्यसन से मुक्त नहीं कर सका हूँ। उनका मन निर्मल प्रतीत होता है। इस समय वे आग्रहपूर्वक अडयार गये हुए हैं। वे ईमानदार हैं, इसलिए यदि चक्कर में न आये तो वहाँ का ढोंग वे समझ लेंगे और उसे छोड़ देंगे। अडयार में यह ढोंग किस हद तक है या ऐसा कहिए कि श्रीमती बेसेंट की सज्जनता के कारण वह किस हद तक ढका है, यह सब जानने योग्य है। श्रीमती बेसेंट मास्टर (गुरु) के रूप में प्रसिद्ध होना चाहती हैं, यह बात समझ में आती है। जो व्यक्ति (गूढ़) शक्तियों की खोज में भटकता है उसे इस प्रकार का नशा चढ़े बिना नहीं रहता। मैं समझता हूँ कि यही कारण है कि हमारे सभी शास्त्रों में शक्तियों और सिद्धियों को वर्ज्य कहा गया है और इसीलिए हठयोग की तुलना में भक्ति-योग को अधिक अच्छा माना गया है।

—तालस्ताय फार्म, वैशाख सुदी १०, ८।५।१९११। सं० गां० वां०, खण्ड ११, पृ० ६३-६४]

- हमारे सभी शास्त्रों में सिद्धियों और शक्तियों को वर्ज्य कहा गया है।
- हठयोग की तुलना में भक्तियोग को अधिक अच्छा माना गया है।

३. इस्लाम की उन्नति क्यों हुई?

[श्री शंकरलाल को लिखे पत्र से]

मेरी धारणा है कि इस्लाम धर्म की उन्नति का कारण मुसलमानों की तलवारें नहीं, किन्तु मुसलमान फ़कीरों की आत्माहुति ही है।

—२।९।१९१७। सं० गां० वां०, खण्ड १३, पृ० ५२७]

४. ईसा मसीह

[रेवरेण्ड एम० वेल्स ब्रांच को लिखे गए पत्र से]

मेरी धारणा है कि ईसामसीह संसार के महत्तम शिक्षकों में से एक थे। अवतार शब्द के हिन्दू-अर्थ में मैं उन्हें अवतार मानता हूँ। जिस अर्थ में कट्टर ईसाई-धर्म उन्हें संसार का त्राता समझता है उस अर्थ में मैं उन्हें संसार का त्राता नहीं मानता। परन्तु वे उस अर्थ में एक त्राता अवश्य थे, जिसमें बुद्ध, जरथुस्त्र,

---

१. मद्रास के निकट एक स्थान, जहाँ थियॉसफिकल सोसायटी का प्रधान कार्यालय है।

मुहम्मद तथा अन्य अनेक महान व्यक्ति थे। दूसरे शब्दों में मैं यह नहीं मानता कि समस्त संसार में केवल ईसा ही देवत्व से विभूषित थे।

—लैबर्नम रोड, गाम देवी, बम्बई, १२।५।१९१९। सं० गां० वां०, खण्ड १५, पृ० ३१३]

५. इस्लाम की प्रवृत्ति

इस्लाम धर्म-निरपेक्ष और धार्मिक में कोई भेद नहीं करता।

—अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड, १६, पृ० १०५। मूल गुजराती। नवजीवन, ७।९।१९१९]

६. ईसाइयों को सन्देश

[रेवरेण्ड ई० स्टैनली जोंस से भेंट के दौरान गांधी जी ने उनसे ईसाइयों को भारत में क्या करना चाहिए, इस विषय में कुछ सूत्र बताये थे। रेवरेण्ड जोंस ने उन्हें गांधी जी की अनुमति से प्रचारित किया। यहाँ वे सन्देश-रूप में प्रस्तुत हैं।—सम्पा०]

१. समस्त ईसाई, नेतागण और सभी, अधिकतर ईसा की तरह रहना प्रारम्भ करें।

२. आप ईसाई-धर्म का पालन उसे भ्रष्ट या नीचे गिराये बिना करें।

३. आप अपने केन्द्र-सिद्धान्त प्रेम पर अधिक बल दें।

४ आप अधिक सहानुभूति के साथ ईसाई-धर्म से इतर धर्मों का अध्ययन करें और उनकी अच्छी बातें खोजने का प्रयत्न करें।

—दिल्ली, ३।११।१९१९ से पूर्व। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० २८०]

७. बाइबिल : मेरी पथ-प्रदर्शिका

[श्री एस० डब्ल्यू० क्लीमेंस से भेंट-वार्ता के मध्य व्यक्त विचार]

बहुत बार ऐसे अवतार आये हैं कि मुझे ज्ञात नहीं हो सका कि किधर मुड़ना चाहिए। किन्तु मैंने बाइबिल पढ़ी, विशेषकर 'नया करार' देखा और इसके सन्देश से मैंने शक्ति प्राप्त की।

—मेरठ, २२।१।१९२०। यं० इं०, २५।२।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। [कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृष्ठ ४९६]

८. इस्लाम की धार्मिक आस्था

मुस्लिम इतिहास कहता है कि इस्लाम की धवलता तलवार के वल पर स्थित नहीं रही। इस्लाम की तलवार ने उसकी रक्षा भले की हो, पर इस्लाम ने इंसाफ़ और ग़ैर-इंसाफ़ का फ़ैसला तलवार के वल पर नहीं किया। संसार में आजतक कोई धर्म केवल तलवार के वल जीवित नहीं रह पाया। जव-तव तलवार खींच लेने की आदत ख़राव है, धर्म का नाश करनेवाली है।...इस्लाम को उसके फ़कीरों, सूफ़ियों और तत्त्वज्ञानियों ने उज्ज्वल किया है। उन्होंने अपनी या अपने धर्म की रक्षा तलवार के वल पर नहीं, वल्कि आत्मिक शक्ति के बूते की है। इस्लाम का इतिहास यही सिद्ध करता है।

—न० जी०। हि० न० जी० ४।५।१९२४]

९. धार्मिक की कसौटी

धार्मिकों की कसौटी उनकी पवित्रता के द्वारा ही होगी। धर्म की रक्षा आप गुण्डों के हाथों जाने देंगे तो इस्लाम को भारी नुक़सान पहुँचायेंगे।

—न० जी०। हि० न० जी०, १५।९।१९२४]

१०. ईश्वर एक है

पिछले गुरुवार की रात पहिले से समय तय करके कुछ मुसलमान मित्र मुझसे मिलने आये थे। उनमें मुझे सरगर्मी और सच्चाई दीख पड़ती थी।... उन्होंने कहा, 'हम वेदों की अपौरुपेयता को मानते हैं। हम श्रीकृष्ण जी महाराज और श्रीरामचन्द्र जी महाराज (विशेपण उन्हीं के हैं) को भी मानते हैं। फिर हिन्दू क्यों कुरान को अपौरुपेय मान कर हमारे साथ नहीं कहते—'ला इलाहि-लिल्लाह मुहम्मदरसूलिल्लाह' (अर्थात् सव देवों में खुदा एक है और मुहम्मद उसका नवी है।) हमारा मजहव संकुचित-विवर्जक नहीं है, उल्टे वह तो खास कर समावेशक—व्यापक है।'

मैंने उनसे कहा कि आपका उपाय उतना आसान नहीं है, जितना कि आप वताते हैं। आपका यह सूत्र चाहे कुछ सुशिक्षित लोगों के लिए ठीक हो, पर राह चलते लोगों के लिए वह काम न देगा। क्योंकि हिन्दुओं की सृष्टि में गो-रक्षा और हरिकीर्तन, जिसमें वाजे के साथ वेरोकटोक संगीत करते हुए, मस्जिद के

सामने होकर भी जाना हो तो जाना हिन्दू धर्म का सार है और मुसलमानों के ख़याल में गो-वध और बाजा बजाने की रोक इस्लाम का सार-सर्वस्व है।...

मैं...यहां उन मुसलमान मित्रों के बताये आकर्षक सूत्र पर विचार करना चाहता हूँ कि उसमें से कम-से-कम मैं क्या मान सकता हूँ? मेरा सहज स्वभाव हिन्दू है। और इसलिए मैं जानता हूँ कि इस पर मैं जो कहूँगा वह हिन्दुओं के बहु जन-समाज को भी पसन्द होगा।

सच पूछिए तो सामान्य रूप से मुसलमान ही वेदों की तथा दूसरे हिन्दू धर्म-ग्रन्थों की अपौरुषेयता को या कृष्ण अथवा राम के पैग़म्बर, अवतार या देवता होने की बात कबूल न करेंगे। हिन्दुओं के लिए तो कुरान-शरीफ़ या पैग़म्बर साहब को भला-बुरा कहने का यह नया तरीका निकला है। मैंने हिन्दुओं के समुदाय में पैग़म्बर साहब के प्रति आदर भाव देखा है। यहाँ तक कि हिन्दुओं के गीतों में इस्लाम की तारीफ़ पाई जाती है।

अब सूत्र के पहिले भाग को लीजिए। ईश्वर वस्तुतः एक है। वह अगम, अगोचर और मानव-जाति के, बहु जन-समाज के लिए अज्ञात है। वह सर्वव्यापी है। वह बिना आँख देखता है, बिना कानों सुनता है। वह निराकार, अभेद और अजन्मा है। उसके माता है, न पिता, न सन्तान, फिर भी वह पिता, माता, पत्नी या सन्तान के रूप में पूजा ग्रहण करता है। यहाँ तक कि वह काष्ठ, पाषाण के रूप में भी पूजा-अर्चा अंगीकार करता है, यद्यपि वह न तो काष्ठ है, न पाषाण आदि। वह हाथ नहीं आता। चकमा देकर निकल जाता है। अगर हम उसे पहिचान लें तो वह हमारे बिल्कुल निकट है। पर अगर हम उसकी सर्वव्यापकता का अनुभव न करना चाहें तो वह हमसे अत्यन्त दूर है। वेद में अनेक देवता हैं। दूसरे धर्मग्रन्थ उन्हें देव-दूत या नबी कहते हैं। पर वेद तो एक ही ईश्वर का गुण-गान करते हैं।

मुझे कुरान को ईश्वर-प्रेरित मानने में कोई संकोच नहीं होता, जिस प्रकार बाइबिल, जेन्दावेस्ता या ग्रन्थसाहब तथा दूसरे पवित्र धर्म-ग्रन्थों को मानने में नहीं होता। ईश्वरीय प्रकाश किसी एक ही राष्ट्र या जाति की सम्पत्ति नहीं है। यदि मुझे हिन्दू-धर्म का कुछ भी ज्ञान है तो वह समावेशक, व्यापक, सतत-वर्धमान और परिस्थिति के अनुरूप नवीन रूप धारण करनेवाला है। उसके यहाँ कल्पना, तर्कना और तर्क के लिए पूरा-पूरा अवकाश है। मैंने कुरान और पैग़म्बर साहब के प्रति आदर-भाव उत्पन्न करने में हिन्दुओं के नजदीक तनिक भी दिक्कत महसूस नहीं की। पर हाँ, मुसलमानों के अन्दर वेदों के और अवतारों के प्रति वही आदर-भाव उत्पन्न करने में मैंने अवश्य दिक़्क़त महसूस की है।...भगवद्गीता

और तुलसीदास की रामायण से मुझे अजहद शान्ति मिलती है। मैं खुल कर स्वीकार करता हूँ कि कुरान, बाइबिल और संसार के अन्यान्य धर्मों के प्रति मेरा अति आदर-भाव होते हुए भी मेरे हृदय पर उनका उतना प्रभाव नहीं होता, जितना श्रीकृष्ण की गीता और तुलसीदास की रामायण का होता है।...

मैं जस्टिस अमीर अली के इस विचार से सहमत हूँ कि 'हारूं-उल-रशीद' और 'मामू' के जमाने में इस्लाम दुनिया के तमाम मजहबों में सबसे ज्यादा सहिष्णु था। पर आगे चलकर उनके जमाने के धर्म-गुरुओं की प्रतिपादित उदारवृत्ति के खिलाफ़ प्रत्याघात शुरू हुए। इन प्रतिगामियों में भी बड़े विद्वान और प्रभावशाली लोग थे और उन्होंने इस्लाम के उदार और सहिष्णु धर्मगुरुओं और तत्ववेत्ताओं को प्रायः दाब लिया था। उस प्रत्याघात के प्रभाव से आज भी हम भारत में दुःख पा रहे हैं। लेकिन इस बात में तिल मात्र सन्देह नहीं है कि इस्लाम के अन्दर इस अनुदारता और असहिष्णुता को निकाल डालने की पूरी क्षमता है। हम बड़ी तेजी से उस काल के निकट पहुँच रहे हैं जब कि इन मित्रों का सुझाया सूत्र सारी मनुष्य-जाति को मान्य हो जायगा। इस समय आवश्यकता इस बात की नहीं है कि सबका धर्म एक बना दिया जाय बल्कि इस बात की है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायी और प्रेमी परस्पर आदर-भाव और सहिष्णुता रखें।

हम सब धर्मों को मृतवत् एक सतह पर लाना नहीं चाहते, बल्कि विविधता में एकता चाहते हैं। पूर्व-परम्परा तथा आनुवंशिक संस्कार, जलवायु और दूसरी आसपास की बातों के प्रभाव को उन्मूलित करने का प्रयत्न केवल असफल ही नहीं अधर्म भी होगा। आत्मा सब धर्मों की एक है—हाँ, वह विभिन्न आकृतियों में मूर्तिमान् होती है। और यह बात कालान्त तक बनी रहेगी। इसलिए जो बुद्धिमान हैं, समझदार हैं, वे तो ऊपरी कलेवर पर ध्यान देकर विभिन्न आकृतियों में उसी एक आत्मा का दर्शन करेंगे। हिन्दुओं के लिए यह आशा करना कि इस्लाम ईसाई-धर्म और पारसी-धर्म को हिन्दुस्तान से निकाल दिया जा सकेगा, एक निरर्थक स्वप्न है। इसी तरह मुसलमानों का भी यह आशा करना कि किसी दिन सिर्फ उनके कल्पनागत इस्लाम का राज्य सारी दुनिया में हो जायगा, कोरा स्वप्न है। पर अगर इस्लाम के लिए एक ही खुदा को और उसके पैग़म्बरों की अनन्त परम्परा को मानना काफ़ी होता हो तो हम सब मुसलमान हैं। इसी तरह हम सब हिन्दू और ईसाई भी हैं। सत्य किसी एक ही धर्म-ग्रन्थ की ऐकान्तिक सम्पत्ति नहीं है।

—१९।९।१९२४। यं० इं०। हि० न० जी०, २८।९।१९२४]

११. ईसा का कष्ट-सहन

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—ईसा मसीह ने जो दूसरों के दुःखों का भार अपने सिर उठाया और सबको तारा (मुक्ति दी), इसके विषय में आपकी क्या धारणा है?

उत्तर—मुझ पर इस विचार का ज्यादा असर नहीं हुआ।

प्रश्न—आपको आघात पहुँचा?

उत्तर—नहीं, आघात भी नहीं पहुँचा। हिन्दुओं में भी ऐसी कुछ बातें हैं। परन्तु बाइबिल के कितने ही अंश—जोन की वार्ता के कितने ही सुपरिचित अंश—का अर्थ मैं कुछ दूसरी तरह करता हूँ। मैं यह नहीं मानता कि कोई किसी के पाप धो सकता है और किसी को मुक्त कर सकता है। परन्तु यह बात मानस-शास्त्र-सिद्ध है कि एक के दुःख अथवा पाप से दूसरा दुखी हो सकता है और इस खयाल से कि दूसरे को दुःख हो रहा है, पहिले की उन्नति होती है। परन्तु मुझे यह बात नहीं जँचती कि एक मनुष्य करोड़ों के लिए मर सकता है और उनको तार सकता है।

—न० जी०। हि० न० जी०, ७।१०।१९२४]

१२. ईसाई धर्म से सम्पर्क

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि ईसाई धर्म से मेरा पहिला परिचय किस तरह हुआ और मुझे अपने धर्म-ग्रन्थों के प्रति अनुराग किस तरह पैदा हुआ? मैं तो यह समझता था कि ईसाई होने के मानी हैं गोश्त खाना और शराब पीना। राजकोट में एक व्यक्ति ईसाई हुआ था। लोग कहते थे कि वह ऐसा ही करता है। मेरा उससे पहिला परिचय इस तरह हुआ। इसी विचार को लेकर मैं लन्दन गया था। दो अंग्रेजों ने मुझसे कहा—चलो हम साथ-साथ भगवद्गीता पढ़ें। मुझे तो उस समय भगवद्गीता का भी ज्ञान नहीं था। मैंने आर्नल्ड[1] का अनुवाद लिया। मेरे मन पर उसकी बड़ी छाप पड़ी। मैंने देखा कि उसने ग्रन्थ का हार्ट (तत्त्व) समझ कर अपने हृदय के उद्गार

---

१. श्री एडविन आर्नल्ड, प्रसिद्ध अंग्रेज कवि और भारतीय संस्कृति के अध्येता। इनकी कृति 'लाइट आफ़ एशिया' महात्मा बुद्ध के जीवन पर लिखित एक प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ है।

प्रकाशित किये हैं। फिर तो मैं उस पर मुग्ध हो गया। मैं सायंकाल की प्रार्थना में जिन श्लोकों का पाठ करता हूँ वे मेरे रात-दिन के साथी हो गये। इसके बाद एक शाकाहारवाले उपाहार-गृह में एक मित्र से भेंट हुई। उन्होंने मुझे बाइबिल दी। मैं पुराने इकरार[1] के काण्ड एक के बाद एक पढ़ता गया और मेरी रूह काँपने लगी। मन में सवाल उठा, क्या ईसाई धर्म यही है? पर मैं उन मित्र को वचन दे चुका था कि मैं बाइबिल आदि से अन्त तक पढ़ जाऊँगा। इसलिए मैं सिर नीचा किये पढ़ता ही चला गया। वचन का पालन करने के मेरे आग्रह ने मुझे बचाया। अन्त में गिरि-प्रवचन[2] आया और मैंने आनन्द से उच्छ्वास किया। उससे मुझे परम शान्ति और आश्वासन मिला।
—न० जी०। हि० न० जी०, ७।१०।१९२४]

१३. धर्मान्तरण धर्म-सेवा नहीं

[ख्वाजा हसन निजामी ने गांधी जी से मुलाकात के दौरान उन्हें अब्दुल-क़ादिर जीलानी हज़रत गौस की एक दृष्टान्त-कथा सुनाई। कथा यों है—हज़रत गौस का एक पड़ोसी उनकी नमाज़ के वक्त बाजे बजाता और शोरगुल करता। हज़रत के मुरीद उस पर बिगड़ते और उसकी शिकायत करते। किन्तु सहिष्णु हज़रत यह कह कर टाल देते कि हम क्यों उसका ख़याल करें। हम नमाज़ में मन लगायें न कि उसके शोरगुल में।

एक दिन पड़ोसी का शोरगुल बन्द हो गया तो हज़रत का कुतूहल जगा। पूछने पर मालूम हुआ कि पड़ोसी गिरफ्तार हो गया है और उस पर मुकदमा चल रहा है। हज़रत हाकिम के पास गये और बोले, "यह मेरा पड़ोसी है। मुझे इसकी लाज रखनी चाहिए। अगर इसे माफ़ करने से दूसरे को नुकसान पहुँचता हो तो इसे सज़ा दीजिए, अगर इसका कुसूर ऐसा हो कि इस पर जुर्माना करके छोड़ा जा सके तो इसे छोड़ने की मिहरबानी करें। जुर्माने की रक़म मैं अदा कर दूँगा।" इस पर हाकिम ने उसे छोड़ दिया। पड़ोसी हज़रत के उपकार से दब गया; अपने किये पर शर्मिन्दा हुआ और उसने इस्लाम स्वीकार कर लिया।

गांधी जी ने इस कहानी पर ख्वाजा साहब से जो प्रतिक्रिया व्यक्त की उसे हम यहाँ दे रहे हैं।—सम्पा०]

---

१. ओल्ड टेस्टामेण्ट।

२. सरमन आन द माउण्ट।

ऐसी तो कितनी ही मिसालें इस्लाम में भरी पड़ी हैं। पर आपका इन उदाहरणों को हिन्दुओं के सामने पेश करना ठीक नहीं। क्या सिर्फ इस्लाम में ही मिसालें मिलती हैं? हिन्दू-धर्म में भी ऐसे दृष्टान्त पग-पग पर मिलते हैं। परन्तु जिस प्रकार ऐसे उदाहरणों से किसी को अपना धर्म छोड़कर हिन्दू बनने की ज़रूरत नहीं, उसी प्रकार अब्दुल क़ादिर की मिसाल से किसी को इस्लाम स्वीकार करने की ज़रूरत नहीं। इस्लाम में अब्दुल क़ादिर-जैसे बहुत से व्यक्ति हों और उन्हें देखकर सारा हिन्दुस्तान मुसलमान हो जाय तो मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं। परन्तु जिस प्रकार हिन्दुओं में श्रेष्ठ और दुष्ट व्यक्ति हो गये हैं उसी प्रकार इस्लाम में भी बुरे लोग हैं। मैं नहीं चाहता कि आप अब्दुल क़ादिर की मिसाल इस्लाम कुबूल करवाने के लिए पेश करें। आप तो हिन्दुओं से दूसरी बात कह सकते हैं। आप भंगी-चमारों को मुसलमान बन जाने के लिए क्यों कहते हैं? आप हिन्दुओं से कह सकते हैं कि आपके यहाँ तो बड़े-बड़े उदार-चरित व्यक्ति हो गये हैं। आप तो प्राणिमात्र में अभेद-भाव मानते हैं, आप मनुष्य को अस्पृश्य किस तरह मान सकते हैं? इंसान को अछूत बनाये रखने में आपको शर्म नहीं आती? इस प्रकार आप हिन्दू-धर्म की सेवा कर सकते हैं।

मैं अब्दुल क़ादिर साहब की मिसाल पेश कर मुसलमानों से कह सकता हूँ कि आपके मजहब में ऐसे सत्य-प्रेमी, खामोशी-पसन्द, दुश्मन को माफ़ करनेवाले साधु पुरुष हो गये हैं। आप उनकी बदनामी किस तरह कर सकते हैं? ऐसा कह कर मैं इस्लाम की सेवा करूँगा। फिर यदि हम अपने धर्म को इतना स्वच्छ कर लें, जिससे दूसरों को स्वयं ही उसमें आने की इच्छा हो तो उसे कौन रोक सकता है?

पर किसी की ग़रीबी से फ़ायदा उठा कर यदि कोई किसी से कहे,–"ले मैं तुझे इतना रुपया देता हूँ, तेरा कर्ज उतार दूंगा, तेरे धर्मवाले मुझे दिक करते हैं, तू हमारे मज़हब में आ जा" तो यह बुरी बात है। इस हालत में वह इस्लाम को चाह कर नहीं आता, बल्कि पैसे को देख कर आता है। मुहम्मद साहब के पास जो लोग आते थे उन्हें क्या बढ़िया-बढ़िया खाना मिलता था? (उन्हें) खजूर और पानी और अगर वह भी न मिले तो फाका (मिलता था)। फिर भी उनके व्यक्तित्व से आकर्षित होकर, उनकी रूहानी ताक़त से प्रेरित होकर बहुत-से लोग उनके पास जाते और मुसलमान बनते थे। यदि कोई मुहम्मद साहब पैदा हो और उनके प्रभाव से सारा संसार मुसलमान हो जाय तो मुझे तनिक भी अफ़सोस न हो।

—न० जी०। हि० न० जी०, २६।१०।१९२४]

१४. धर्म-ग्रन्थों का प्रचार प्रमाण नहीं

'एक हितचिन्तक' ने मेरे चिन्तन के लिए नीचे लिखी पंक्तियाँ भेजी हैं:—

"बाइबिल को लोग ५६६ भाषाओं में पढ़ सकते हैं, पर उपनिषदों और गीता को कितनी भाषाओं में पढ़ सकते हैं? पादरियों ने कितने कुष्ठालय और दलित-पीड़ित लोगों के लिए कितनी संस्थाएँ खोल रखी हैं? आपने कितनी खोली हैं?"

ऐसे टेढ़े प्रश्न मुझसे सामान्यतः हमेशा पूछे जाते हैं। 'एक हितचिन्तक' को जवाब देने की ज़रूरत नहीं है। पादरियों के उत्साह, उमंग और त्याग के प्रति मेरे मन में बड़ा आदर-भाव है। पर मैं उन्हें यह बताने में कभी नहीं हिचका कि उनकी ये दोनों चीजें बहुधा अस्थानीय हुआ करती हैं। यदि बाइबिल का अनुवाद संसार की प्रत्येक भाषा में हो जाय तो उससे क्या? पेटेण्ट दवाओं का विज्ञापन बहुत-सी भाषाओं में किया जाता है, इसलिए क्या उसकी महत्ता उपनिषदों से बढ़ सकती है? कोई भूल अपने बहु-प्रचार के कारण सत्य का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती। और सत्य इस कारण मिथ्या नहीं हो सकता कि उस पर किसी की दृष्टि नहीं पड़ी।

बाइबिल का उपदेश जिन दिनों पूर्वकालीन ईसाई-उपदेशकों द्वारा किया जाता था, उन दिनों उसका सामर्थ्य आज से कहीं अधिक था। 'एक हितचिन्तक' अगर यह समझते हों कि उपनिषदों की अपेक्षा बाइबिल का अधिक भाषाओं में अनुवाद होना उसकी श्रेष्ठता की कसौटी है, तो कहना पड़ेगा कि उनको पता नहीं हैं कि सत्य किस तरह काम करता है। सत्य का फल तभी हो सकता है जब तदनुसार आचरण किया जाय। किन्तु यदि मेरा उत्तर पाने से 'एक हितचिन्तक' को कुछ सन्तोष हो सकता है तो मैं उनसे प्रसन्नता के साथ कहूँगा कि हाँ, बाइबिल की अपेक्षा उपनिषदों और गीता का अनुवाद बहुत कम भाषाओं में हुआ है। मुझे कभी इस बात की जिज्ञासा नहीं हुई कि उनके अनुवाद कितनी भाषाओं में हुए हैं।

दूसरे प्रश्न के विषय में भी मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि पादरियों ने कुष्ट-चिकित्सालय तथा अन्य संस्थाएँ बहुत-सी खोली हैं; मैंने एक भी नहीं। फिर भी मेरी स्थिति अटल है। ऐसी बातों में मैं पादरियों अथवा अन्य किन्हीं लोगों की प्रतिस्पर्धा नहीं कर रहा हूँ। मैं तो जिस प्रकार ईश्वर मार्ग दिखलाता है उसी प्रकार मनुष्य-जाति की सेवा करने की कोशिश कर रहा हूँ। कुष्ठालय आदि खोलना मनुष्य-जाति की सेवा का एक साधन है, वह भी शायद सर्वोत्तम

नहीं। परन्तु ऐसी उच्च सेवाओं की उच्चता भी उस अवस्था में बहुत घट जाती है, जब उसका प्रेरक-हेतु धर्मान्तरण करना होता है। वही सेवा सर्वोच्च होती है जो केवल सेवा के लिए की जाती है। यहां मेरे आशय को कोई गलत न समझे। जो पादरी निःस्वार्थ भाव से ऐसे कुष्ठालय में सेवा करते हैं, वे मेरे आदर के अधिकारी हैं। मुझे यह स्वीकार करते हुए बड़ी लज्जा का अनुभव होता है कि हिन्दू लोग इतने निष्ठुर हो गये हैं कि संसार की बात तो दूर, अपने देश के ही दलित-पतित लोगों की बहुत कम चिन्ता करते हैं।

—न० जी०। हि० न० जी०, २६।२।१९२५]

- कोई भूल अपने बहु प्रचार के कारण सत्य का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती।
- सत्य इस कारण मिथ्या नहीं हो सकता कि उस पर किसी की दृष्टि नहीं पड़ी।
- वही सेवा सर्वोच्च होती है जो केवल सेवा करने के लिए की जाती है।

१५. इस्लाम : कुछ विचार

किसी कार्य का चाहे पैग़म्बर के व्यवहार से समर्थन किया जाता हो या इस्लामी दुनिया के सामुदायिक निर्णय से किया जाता हो, लेकिन जबतक वह इस्लाम का एक अंग माना जाता है, तबतक मेरे-जैसे बाहर के आदमी के लिए उसमें कोई फर्क नहीं हो सकता। मैं अपने मुसलमान मित्रों से यह चाहता हूँ कि वे ऐसे कार्यों की, जिसे संसार के बुद्धिमान पुरुष दया-धर्म के खिलाफ मानते हैं, बिना किसी हिचकिचाहट के निन्दा करें, फिर चाहे उसका मूल कहीं भी क्यों न हो।..... इस्लाम के नाम से जिन कार्यों का समर्थन किया जाता है, उनके बारे में यदि मैं प्रामाणिक राय जाहिर करूँ और वह (मेरी) इज्जत नष्ट हो जाय तो वह एक दिन की खरीद के लायक भी नहीं है। सच बात तो यह है कि मुझे इज्जत की दरकार नहीं है। यह तो राजा-महाराजाओं के दरबार की वस्तु है। मैं तो जिस तरह हिन्दुओं का सेवक हूँ, उसी तरह मुसलमान, पारसी, यहूदी इत्यादि का भी सेवक हूँ .....

मेरी स्थिति स्पष्ट है। इस्लाम के बारे में लिखते समय मैं उसकी इज्जत का उतना ही ख़याल रखता हूँ, जितना हिन्दू-धर्म की प्रतिष्ठा का ध्यान रखता हूँ। दोनों का अर्थ करने की मेरी पद्धति भी एक है। शास्त्र में उक्त बात लिखी है— यह प्रमाण देकर मैं हिन्दू-धर्म की किसी बात का समर्थन नहीं करता। उसी प्रकार कुरान में लिखी होने के कारण मैं किसी बात का समर्थन नहीं कर सकता। सभी

बातों की आलोचना विवेक-दृष्टि से होनी चाहिए। लोगों की विवेक-बुद्धि को इस्लाम जँचता है, तभी वह उन्हें पसन्द आता है। कालान्तर में यह मालूम हो जायगा कि दूसरे किसी तरीके से उसकी आलोचना करने पर बड़ी मुश्किलें पेश आयेंगी। निस्सन्देह संसार में ऐसे पदार्थ भी हैं जो बुद्धि से परे हैं। यह बात नहीं कि हम बुद्धि की कसौटी पर उनकी परीक्षा नहीं करना चाहते, लेकिन वे स्वयं ही उसकी मर्यादा में नहीं आते। वे अपने सहज रूप के कारण बुद्धि को थका देते हैं। ईश्वर के अस्तित्व का रहस्य ऐसा ही है। वह बुद्धि के विरुद्ध नहीं है; उससे परे है।.....धर्म त्याग का व्यापक अर्थ लिया जाय तो उसका अर्थ अपने धर्म का त्याग होता है। क्या यह बहुत बड़ा अपराध है कि इसकी सजा मौत होनी चाहिए? यदि है, तो वह हिन्दू जो मुसलमान हो गया है, अगर फिर हिन्दू-धर्म में आ जाय तो उसका, यह कार्य उसी प्रकार का एक अपराध होगा, जिसकी बहुत बड़ी सजा होनी चाहिए।
—यं० इं०। हि० न० जी०, २।४।१९२५]

● वह (ईश्वर) बुद्धि के विरुद्ध नहीं है; उससे परे है।

१६. इस्लाम शस्त्र-धर्म नहीं

मुझे यह कहना ठीक नहीं मालूम होता कि इस्लाम तलवार का धर्म है। इतिहास ऐसा नहीं बतलाता।
—न० जी०। हि० न० जी०, २७।८।१९२५]

१७. इस्लाम, शान्ति का धर्म

.....मैं इस्लाम को उसी अर्थ में शान्ति-धर्म मानता हूँ, जिसमें ईसाई, बौद्ध या हिन्दू-धर्म को मानता हूँ। निस्सन्देह शान्ति की मात्रा में अन्तर है, मगर उन धर्मों का उद्देश्य शान्ति है। मैं कुरान के वे वाक्य जानता हूँ, जो इसके विरुद्ध प्रस्तुत किये जा सकते हैं, लेकिन वेदों से भी तो ऐसे ही वाक्य निकालना उतना ही सम्भव है। अनार्यों के विरुद्ध वचनों का और क्या अर्थ लगेगा? अवश्य ही इस युग में उनका दूसरा अर्थ है, किन्तु किसी समय उनका रूप भयंकर अवश्य था। हम हिन्दुओं का अछूत के साथ किये जानेवाले व्यवहार का और क्या अर्थ है? चलनी भला सूप पर क्यों हँसे? बात यह है कि हम सबका विकास हो रहा है। मैंने अपना मत प्रकट कर दिया है। इस्लाम के अनुयायियों की तलवार और छुरी बात-बात में निकला करती है। लेकिन यह कुरान की शिक्षा के कारण नहीं है।

मेरे विचार से उसका कारण वह स्थिति है, जिसमें इस्लाम का जन्म हुआ था। ईसाई-धर्म का इतिहास खून-खराबी से भरा पड़ा है, लेकिन इसका कारण ईसा की त्रुटि नहीं। इसका कारण यह है कि ईसा की उच्च शिक्षा का जिस स्थिति में प्रचार हुआ वह उसे ग्रहण करने योग्य न थी।

ये दोनों—इस्लाम और ईसाई-धर्म—अभी कल के धर्म हैं। अभी उनका अर्थ लगाया ही जा रहा है। मौलवियों के इस अधिकार को कि वे मुहम्मद की शिक्षाओं का अन्तिम अर्थ लगा सकते हैं, मैं उसी प्रकार इन्कार करता हूं, जिस प्रकार ईसा की शिक्षाओं का अर्थ करने के पादरियों का। दोनों का अर्थ उन दोनों के जीवन में लगता है, जो उनका पालन अपने जीवन में पूरी शान्ति और आत्म-बलिदान के साथ कर रहे हैं। शोर-गुल कोई धर्म नहीं है; बड़ी बुद्धि में ही विशाल विद्या नहीं होती; धर्म का स्थान हृदय है। हम हिन्दुओं, ईसाइयों, मुसलमानों और अन्य धर्मावलम्बियों को अपने धर्म का भाष्य अपने हृदय के रक्त से लिखना होगा; और किसी प्रकार नहीं।

—यं० इं०। हि० न० जी०, २०।१।१९२७]

- धर्मों का उद्देश्य शान्ति है।
- शोर-गुल कोई धर्म नहीं है।
- बड़ी बुद्धि में ही विशाल विद्या नहीं होती।
- धर्म का स्थान हृदय है।
- हिन्दुओं, ईसाइयों, मुसलमानों और अन्य धर्मावलम्बियों को अपने धर्म का भाष्य अपने रक्त से लिखना होगा।

१८. दिगम्बर-श्वेताम्बर

[उदयपुर राज्य में जैनों के दो सम्प्रदाय दिगम्बर और श्वेताम्बर के बीच हुए झगड़े पर गांधी जी की प्रतिक्रिया।—सम्पा०]

.....असल बात तो यह है कि हम धर्म को भूल गये हैं। हर व्यक्ति अपनी ही बात को कायम रखना चाहता है। किसी को यह जानने की इच्छा भी नहीं है कि धर्म क्या है; वह कहां है; उसे कैसे पहिचाना जा सकता है और उसकी रक्षा किस तरह हो सकती है।

पर जैनों से इससे ज्यादा अच्छी बातों की कल्पना की जानी चाहिए। वे तो स्याद्वाद के पुजारी हैं; दया-धर्मके ठीकेदार हैं। उनमें सहिष्णुता होनी चाहिए। अर्थात् मतभेद रखनेवाले प्रतिपक्षी के प्रति उनसे उदारता की आशा की जाती है।

उनको यह मानना चाहिए कि उन्हें स्वयं अपना सत्य जितना प्रिय है उतना ही प्रिय प्रतिपक्षी को भी उसका सत्य जरूर होगा। जहाँ विरोधी भूल करता दीखे, वहाँ भी उन्हें रोप छोड़ कर दया-भाव से काम लेना चाहिए।

परन्तु इन लेखों को पढ़ कर मुझे ऐसा आभास होने लगा मानो स्याद्वाद और दया-धर्म तो केवल जैन-घरों और जैन-मन्दिरों की पोथियों में ही शोभा देता है। मुझे इसका यत्र-तत्र अनुभव होता रहता है। यदि कहीं दया-धर्म का पालन होता है तो उसकी सीमा चींटियों को चून देने और मछलियों को बचाने में समाप्त हो जाती है। यदि इस धर्म का पालन करने में मनुष्य के साथ कहीं क्रूरता हो रही हो, तो वह धर्म समझी जाती है।

रायचन्द भाई कहते थे कि जब से जैन-धर्म बनियों के यहाँ गया, उसका व्यवहार भी बनियों का-सा हो गया है। ज्ञान और वीरता का, जो दया के लक्षण होने चाहिए, प्रायः लोप हो गया और दया तथा भीरुता एकार्थवाची होकर दया का पतन हो गया।

धर्म और धन एक-दूसरे के कट्टर शत्रु हैं। फिर भी जैन-मन्दिरों में लक्ष्मी-देवी जा बसीं। अर्थात् धार्मिक सिद्धान्तों का निर्णय तपस्या से नहीं, बल्कि अदालतों में वकीलों के तर्कों से होने लगा। फलतः यह दशा हो गई है कि जो अधिक धन देता, वही धर्म का निर्णय अपने अनुकूल करा लेता।

.....मैं जैनों को जानता हूँ। वैष्णव-सम्प्रदाय और वैष्णवों से मेरा जितना परिचय है, लगभग उतना ही परिचय जैनों और जैन-सिद्धान्तों से है। अनेक व्यक्ति मुझे द्वेष-भाव से जैन समझते हैं और अनेक प्रेमपूर्वक चाहते हैं कि मैं जैन हो जाऊँ। अनेक लोग मेरा जैनों के प्रति पक्षपात देख कर मुझ पर प्रसन्न भी होते हैं। मैंने जैनों के ग्रन्थों से बहुत-कुछ सीखा है। अनेक जैन-मित्रों का सत्संग मेरे लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ है। इसीलिए उपर्युक्त बातें कहकर उन लोगों को जाग्रत करने की इच्छा हुई, जिन्हें जैन-धर्म प्रिय है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर में शत्रुता क्यों हो? दोनों के सिद्धान्त एक ही हैं। थोड़ा-सा भेद है। वह ऐसा नहीं जो असह्य हो, बल्कि ऐसा है, जिससे दोनों शान्ति और समाधानपूर्वक अपने-अपने धर्म का पालन कर सकते हैं—जैसे द्वैत और अद्वैत।

जैनों में साधु और साध्वियाँ बहुत होती हैं। उन्हें समय भी बहुत मिलता है। वे सच्ची तपश्चर्या क्यों न करें? क्यों वे शुद्ध ज्ञान न प्राप्त करें? क्यों अपना अनुभूत ज्ञान समाज को न दें?

.....मैं जैन और हिन्दू-धर्म को अलग नहीं मानता। स्याद्वाद की सहायता से ही मैं हिन्दू अर्थात् वैदिक-धर्म और जैन-धर्म का ऐक्य-साधन कर सकता हूँ।

मैंने तो उसकी सहायता से अपने लिए बहुत पहिले धर्मों का ऐक्य-साधन कर लिया है। श्वेताम्बर-दिगम्बर के झगड़ों का न्याय अखबारों और अदालतों से नहीं प्राप्त हो सकता। वह तभी प्राप्त हो सकता है जब दोनों या एक ही, दोनों के लिए प्रायश्चित्त करे और शुद्ध हो जाय। जिससे यह भी न बन पड़े वह धर्म का नाम छोड़ कर नम्रतापूर्वक मौन धारण कर ले।

—न० जी०। हि० न० जी०, २३।६।१९२७]

- हम धर्म को भूल गये हैं।
- धर्म और धन एक दूसरे के कट्टर शत्रु हैं।
- मैं जैन और हिन्दू-धर्म को अलग नहीं मानता।

१९. बौद्ध-धर्म

मैंने अनेक बार लोगों को यह कहते हुए सुना है और बौद्ध धर्म का मर्म प्रकट करने का दावा करनेवाली पुस्तकों में पढ़ा भी है कि बुद्ध ईश्वर को नहीं मानते थे। मेरी नम्र राय में इस प्रकार की मान्यता बुद्ध की शिक्षा के केन्द्रीय तत्त्व के ही विरुद्ध है।...यह गड़बड़ इसलिए पैदा हुई कि बुद्ध ने अपने जमाने में ईश्वर के नाम पर चलनेवाली तमाम बुराइयों को अस्वीकार कर दिया था और यह ठीक ही था। उन्होंने बेशक इस खयाल को मानने से इन्कार कर दिया था कि ईश्वर नामधारी प्राणी द्वेष से काम लेता है; अपने कर्मों पर पश्चात्ताप कर सकता है और सांसारिक राजाओं की भाँति प्रलोभनों में फँस सकता है और उसके कोई विशेष कृपा-पात्र भी हो सकते हैं। उन्होंने इस मान्यता का प्रबल विरोध किया कि ईश्वर नामधारी प्राणी को अपने सन्तोष के लिए पशुओं का ताजा रक्त चाहिए, ताकि वह खुश हो सके—उन पशुओं का जो उसकी अपनी ही सृष्टि हैं। इसलिए उन्होंने ईश्वर को फिर से ठीक स्थान पर आसीन किया और उस शुभ्र सिंहासन को हड़प करके बैठे हुए अनधिकारी को वहाँ से च्युत कर दिया। उन्होंने इस विश्व के नैतिक शासन के चिरस्थायी और अटल अस्तित्त्व पर जोर दिया और उसकी फिर से घोषणा की। उन्होंने निस्संकोच कहा कि धर्म ही ईश्वर है।

ईश्वर के नियम शाश्वत और नित्य होते हैं। उन्हें ईश्वर से अलग नहीं किया जा सकता। ईश्वर की पूर्णता की यह अनिवार्य शर्त है। इसीलिए यह भ्रान्ति हुई है कि बुद्ध का ईश्वर में विश्वास नहीं था और वे केवल नैतिक धर्म को मानते थे। और स्वयं ईश्वर के सम्बन्ध में इस गड़बड़ के कारण निर्वाण-जैसे महान शब्द को ठीक तरह समझने के बारे में भी गड़बड़ हुई। अवश्य ही निर्वाण का अर्थ

सर्वथा नाश नहीं है। जहाँ तक मैं बुद्ध के जीवन के केन्द्रीय तथ्य को समझ सका हूँ, निर्वाण हमारे अन्दर की सारी नीचता, सारी बुराई और सारी अधमता का ही सर्वनाश है। निर्वाण कब्र की काली और मृत शान्ति नहीं है, परन्तु ऐसी आत्मा की सजीव शान्ति और सजीव सुख है जिसे स्वयं अपना भान है, और जिसे अविनाशी परम सत्ता के हृदय में अपना स्थान प्राप्त कर लेने का भी भान है।
—यं० इं०, २४।११।१९२७]

- **धर्म ही ईश्वर है।**
- **ईश्वर के नियम शाश्वत और नित्य होते हैं।**
- **निर्वाण हमारे अन्दर की सारी नीचता, सारी बुराई और सारी अधमता का ही सर्वनाश है।**

२०. बाइबिल : मेरी नज़र में

न्यू टेस्टामेण्ट से मुझे शान्ति मिली और अपार हर्ष हुआ; वह ओल्ड टेस्टामेण्ट के कुछ हिस्सों से उत्पन्न हुई अरुचि के बाद मेरे पढ़ने में आया। मान लीजिए, आज मुझसे गीता छीन ली जाय और उसकी सब बातें मैं भूल जाऊं, परन्तु मुझे 'गिरि-शिखर-प्रवचन' (दि सर्मन ऑन दि माउण्ट) की पुस्तिका मिल जाय, तो मुझे उससे वही आनन्द प्राप्त होगा जो गीता से होता है।
—यं० इं०, २२।१२।१९२७]

२१. ईसाई-मिशनरी और धर्मान्तरण

मैं मानता हूँ कि भूतदया की आड़ में किया गया धर्मान्तर और कुछ नहीं तो आरोग्यनाशक अवश्य है। इस देश के निवासियों को स्वभाव से ही इस बात पर चिढ़ है। धर्म एक अत्यन्त गहन वस्तु है; वह हृदय की गुफा को छूनेवाली है। ईसाई-धर्म माननेवाले किसी डाक्टर ने मेरे रोग का इलाज करके मुझे स्वस्थ किया, सिर्फ इसीलिए मुझे अपना धर्म क्यों बदलना चाहिए? अथवा जब मैं ऐसे डाक्टर का इलाज कराता होऊं, उन दिनों ऐसे परिवर्तन की आशा या सूचना क्यों करनी चाहिए? डाक्टरी सेवा ही क्या अपने काम का पुरस्कार और सन्तोष का विषय नहीं है? मैं पादरियों के मदरसे में पढ़ रहा होऊँ, तो उन दिनों मुझ पर ईसाई-धर्म की शिक्षा का भार क्यों डाला जाय? . . .धर्म पार्थिव वस्तुओं की तरह दान की वस्तु नहीं है। वह तो हृदय की भाषा-द्वारा दिया जाता है। जिस मनुष्य

के अन्दर धर्म-भावना सजीव है वह गुलाब के फूल की तरह अपनी सुगन्धि चारों ओर फैलाये बिना नहीं रहता। आँखों से अगोचर होने के कारण पुष्प-पंखुरियों के रंग की प्रकट शोभा की अपेक्षा उसका प्रभाव कहीं अधिक व्याप्त होता है।

. . . मैं धर्मान्तर का विरोधी नहीं हूँ, परन्तु उसकी वर्तमान रीति का विरोधी हूँ। धर्मान्तर ने आज दूसरी चीजों की तरह व्यापार का रूप ग्रहण कर लिया है। . . .

. . . मैं यह जरूर कहता हूँ कि भारतवर्ष के लिए उसके महान धर्म पर्याप्त हैं। ईसाई और यहूदी-धर्म के अतिरिक्त हिन्दू-धर्म और उसकी शाखाएँ, इस्लाम और पारसी धर्म, ये सब जीवित धर्म हैं। कोई भी धर्म एकाकी सम्पूर्ण नहीं। सब धर्म अपने अनुयायियों के समान रूप से प्रीति-पात्र हैं। आज इस बात की जरूरत नहीं है कि हर कौम अपने धर्म को दूसरे सभी धर्मों से अच्छा सिद्ध करने का निरर्थक प्रयास करे। सच्ची जरूरत तो जगत् के महान् धर्मों के अनुयायियों में मैत्री-भाव उत्पन्न करने की है। इस प्रकार के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध से हम सब अपने-अपने धर्मों की त्रुटियों और गन्दगी को दूर करेंगे।

मेरी उपर्युक्त बात से यह सिद्ध होता है कि मेरे विचार से हिन्दुस्तान को ऐसे धर्मान्तर की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। आत्मशुद्धि, आत्म-साक्षात्कार के अर्थ में धर्मान्तर इस जमाने की बड़ी-से-बड़ी आवश्यकता है। पर यह, वह चीज कदापि नहीं, जिसका अर्थ सदा भ्रष्टता किया जाता रहा है। जो लोग भारतवर्ष का धर्म बदलना चाहते हैं, उनसे कहा जा सकता है, हकीम जी, आप अपना ही इलाज कीजिए।

—न० जी०। हि० न० जी०, ३०।४।१९३१]

- भूतदया की आड़ में किया गया धर्मान्तर. . . . . .आरोग्यनाशक. . है।
- धर्म एक अत्यन्त गहन वस्तु है; वह हृदय की गुफा को छूनेवाला है।
- धर्म पार्थिव वस्तुओं की तरह दान की वस्तु नहीं है। वह तो हृदय की भाषा-द्वारा दिया जाता है।
- धर्मान्तर ने आज दूसरी चीजों की तरह व्यापार का रूप ग्रहण कर लिया है।
- भारतवर्ष के लिए उसके महान धर्म पर्याप्त हैं।
- कोई भी धर्म एकाकी सम्पूर्ण नहीं।
- सब धर्म अपने अनुयायियों के समान रूप से प्रीति-पात्र हैं।
- हिन्दुस्तान को. . . . . .धर्मान्तर की तनिक भी आवश्यकता नहीं।

२२. दिगम्बर साधु

नग्नावस्था के बारे में मैंने जो कुछ लिखा है, उस पर मेरे पास उचित टीकाएँ आई हैं। किसी-किसी (टीका) भेजनेवाले ने क्रोध भी प्रकट किया है। कुछ लोगों की यह भी सूचना है कि चूँकि दिगम्बर-जैन भाइयों की भावना को चोट पहुँची है, इसलिए मुझे अपना लेख वापस ले लेना चाहिए।

मैंने अपना लेख केवल धर्म-भाव से लिखा था। ऐसे लेख मित्रों का दुःख दूर करने के लिए भी वापस नहीं लिये जा सकते। यदि वापस किया जाय, तो धर्म की मधुर चर्चा न हो सके। मेरा कहना है कि सरदार की बात क़ानून नहीं है। स्वराज्य मिलने पर जैसा लोक-मत कहेगा, तदनुसार ही होगा। धार्मिक भावना किसे कहा जाय, यह हमेशा विचारणीय होगा। इसका विचार भी अदालतें ही करेंगी। मुझ-जैसे तो चर्चा करके सिर्फ लोक-मत तैयार कर सकते हैं। इसलिए मैं दिगम्बर-जैन भाइयों से प्रार्थना करता हूँ कि वे इस विषय की चर्चा तटस्थ भाव से करें और दूसरों को करने दें।

जैन-मत के प्रति मेरा इतना अधिक पक्षपात है, कि बहुतों ने मुझे जैन ही माना है। अपरिचित जैनमण्डली में जब मुझे अनुचित सम्मान का त्याग करने की इच्छा से यह कहना पड़ा है कि मैं जैन नहीं हूँ, तब मेरे आसपास स्थित जन-समाज को आश्चर्य हुआ है, और चोट पहुँची है। मुझे दिगम्बर-मत के लिए आदर-भाव है। मैंने कुछ दिगम्बर-ग्रन्थ पढ़े हैं। आदर्श-रूप में मुझे नग्नावस्था प्यारी है। अपने बालकों को मैंने विचारतः नंगा रक्खा है। इसलिए सबको यह मान लेना उचित है कि मेरी सम्मति मित्रतापूर्ण और धर्म-रक्षा के लिए ही होती है। सम्भव है कि मैं विचार-दोष करता होऊँ। इस कारण जिसकी बुद्धि को मेरी राय पसन्द न पड़े, वह अवश्य उसका त्याग करे। लेकिन मुझ पर गुस्सा न हो। रोष या क्रोध धर्म-सम्बन्धी या अन्य विचारों के समझने में विघ्न पैदा करता है, इसलिए त्याज्य है।

...दिगम्बर साधु का निर्विकार होना बिल्कुल सम्भव है। लेकिन मैं यह बात स्वीकार नहींसकता कर कि उन सब को निर्विकार होना ही चाहिए। मैं मानता हूँ कि साधुता[1] का दावा नहीं किया जा सकता। साधुता स्वयंसिद्ध होती है। सबूत और दावे की अपेक्षा रखनेवाली साधुता, साधुता नहीं। ऐसी साधुता की रक्षा की आवश्यकता नहीं होती। दिगम्बर साधुता, साधुता की पराकाष्ठा होनी चाहिए। उसे अवलम्बन किसका हो? ऐसी दिगम्बरता को क़ानून या अदालत की रक्षा की आवश्यकता नहीं होती। जो स्वभावतः निर्विकार है, वह

किसी का ध्यान आकर्षित करे, और यदि यह आश्चर्य की बात न हो, तो मानना चाहिए कि ऐसे साधु को कचहरी में जाने या जेल जाने से दिगम्बरता की उत्कृष्टता बताने का अनायास अवसर मिलता है।

साधु सच्चे भी होते हैं और बनावटी भी। बनावटी साधुओं की संख्या असीम है। दोनों का भेद कौन करेगा? या चाहे जो नंगा घूमे, उसे रोकना न चाहिए ? ऐसा करने से अनर्थ न होगा ? यह कहना ठीक नहीं कि विकारी नग्न रह ही नहीं सकता। मर्यादा का त्याग करने के बाद विकारी लज्जा क्यों न छोड़ेगा ? विकारी स्थिति में भी नग्न रहने से वह क्षुब्ध क्यों होगा ? साधारणतः नग्नावस्था के हिमायती यह मानते हैं कि विकारी स्थिति में भी स्त्री पुरुष नग्न हों, तो हानि नहीं। वे साथ ही यह भी मानते हैं कि विकार ही मनुष्य की सामान्य स्थिति है, इसलिए नग्नावस्था से विकार वृद्धि हो, तो उसमें दोष समझने का कोई कारण नहीं। विकार साधारण बात है, तो उसकी तृप्ति भी साधारण ही हो सकती है। इस प्रकार यह भोग-प्रिय, भोग को धर्म माननेवाला सम्प्रदाय मानता है कि नग्नावस्था में कहीं भी दोष नहीं है। मर्यादाशील, संयमी दिगम्बर-जैन इस भोग-धर्म का समर्थन करने को तैयार है ? वे समाज को विषावत बना हुआ देखने को तैयार हैं ? ऐसी स्थिति के लिए वे जिम्मेवार बनेंगे ? मुझे विश्वास है कि इसे पढ़ते समय ही उन्हें कँपकँपी छूटेगी। इसलिए अगर वे गहरे पैठेंगे तो देखेंगे कि इस ज़माने में गुह्येन्द्रिय को ढकने की जो प्रथा है, उसकी रक्षा करना धर्म है। इसीलिए, भले लौकिक मर्यादा के लिए ही, दिगम्बर-साधु थोड़े समय के लिए लँगोटी धारण करें, या नग्न विचरते हुए जो कष्ट पड़ें, उन्हें सह लें, लेकिन जैनेतर हम उनकी नग्नावस्था को व्यवहार में नहीं उतार सकते। अपवाद मानने से संकट का सामना करना पड़ता है, इसलिए हम अपवाद न मानें।

लेकिन बालक नग्न रहता है, उसका क्या ? उसे कौन रोकता है ? यह उपमा बहुत दोषपूर्ण है। बालक स्वभाव से निर्विकार है। साधु, करोड़ों में कोई, अत्यन्त अभ्यास के बाद, निर्विकारिता प्राप्त करता है। अखिल विश्व में बालक नग्न रहता है। साधु में नग्नावस्था अपवाद-रूप है। बालक में विकार सम्भव नहीं, और, साधु मात्र में विकार असम्भव नहीं। बालक को अन्धे भी पहचान सकते हैं। साधु को देखकर विरले ही परख सकते हैं। इसलिए बालक की नग्नावस्था का उदाहरण निर्णय तक पहुँचने में हमारी सहायता नहीं करता। उल्टे, इनसे यह ध्वनि निकलती है कि बाल्यकाल में जो नग्नावस्था शोभा देती है, वह उस काल के बीतने पर शोभा नहीं देती, बल्कि मनुष्य को लजाती है। इसलिए मैं शुद्ध साधु की नग्नावस्था की पूजा करते हुए भी यह मानता हूँ कि दिगम्बर-आचार्य

यदि गहरा विचार करके समाज में विचरण करनेवाले साधु के लिए गुह्येन्द्रिय ढकने का मार्ग ढूंढ़ निकालें, तो उसमें धर्म की रक्षा है, साधु की शोभा है। वैसा न हो सके, तो भी उसकी सार्वजनिक रूप से चर्चा करना हानिकर है।
—न० जी०। हि० न० जी०, ९।७।१९३१]

- आदर्श-रूप में मुझे नग्नता प्यारी है।
- रोष या क्रोध धर्म-सम्बन्धी या अन्य विचारों को समझने में विघ्न पैदा करता है, इसलिए त्याज्य है।
- साधुता का दावा नहीं किया जा सकता।
- साधुता स्वयंसिद्ध होती है।
- सबूत और दावे की अपेक्षा रखनेवाली साधुता, साधुता नहीं।
- दिगम्बर-साधुता, साधुता की पराकाष्ठा होनी चाहिए।
- हम नग्नावस्था को व्यवहार में नहीं उतार सकते।

२३. पैग़म्बरों और अवतारों का अनुकरण

...मेरे खयाल से यह कहना ठीक नहीं कि पैग़म्बर साहब ने जो-जो काम किये, वे सब काम पैग़म्बर साहब के अनुयायियों को करना चाहिए या करना उचित है। महान पुरुष जो कुछ करते हैं, वह सभी को करने का अधिकार हो—यह बात नहीं है। हमने यह भी देख लिया है कि ऐसा करने से बुरा नतीजा होता है। मगर हिन्दू, मुसलमान और दूसरे धर्मोंवाले इस सुनहरे कानून पर सदा अमल करते नहीं पाये जाते। इतना ही नहीं, वे यह मान कर व्यवहार करते हैं कि अवतारों ने अमुक बातें की हैं, इसलिए हमें भी ऐसा करने का अधिकार है।...
—२।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १३१-१३२]

२४. पारसी-धर्म का आधार : वेद

[दरबारी साधु के सम्बन्धियों को लिखे पत्र से]

जरथुस्त्र का आधार वेद है। जहाँ तक मुझे याद है वेन्दीदाद के अनुवादक ने जेन्द और संस्कृत के बीच बहुत साम्य बताया है। इसलिए आज जो चीज़ पारसी-धर्मग्रन्थों में न पाई जाय, उस कमी को वेदों और उपनिषदों से पूरा कर लेने में पारसी-धर्म या पारसीपन को कुछ भी बट्टा नहीं लगता। असल में तो अपने धर्म पर कायम रहकर किसी भी दूसरे धर्म में जो विशेषता दिखे, उसे ले लेने का

हमारा अधिकार है। इतना ही नहीं, ऐसा करना हमारा धर्म है। दूसरे धर्मों से कुछ भी न लिया जा सके, इसी का नाम धर्मान्धता है।...
—२५।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १७०]

● दूसरे धर्मों से कुछ भी न लिया जा सके, इसी का नाम धर्मान्धता है।

२५. इस्लाम की शक्ति : श्रद्धा

इस्लाम की ताक़त न उसके एकेश्वरवाद में है और न उसकी बन्धुत्व-वृत्ति में—क्योंकि उसका बन्धुत्व झूठा है—मगर उसकी ताक़त तो उसकी धर्म-सम्बन्धी श्रद्धा में है। मुसलमान-मात्र को अपने धर्म के बारे में एक प्रकार की अटल श्रद्धा है। इसका बल इसी में है।
—५।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २७०]

२६. धर्म-ग्रन्थ

[बीबी अमतुस्सलाम को लिखे पत्र से]

तुमने कुरान के बारे में ठीक पूछा है। मैं किसी किताब के लिए यह नहीं मानता कि उसे फ़रिश्तों ने किसी को खुदा की तरफ से दिया। लेकिन पैग़म्बरों को अन्दरूनी आवाज़ आई। हमारे लिए इतना काफी होना चाहिए। कुरान के माने अच्छी तरह समझ लेने का तुम्हारा इरादा अच्छा ही है। दीनी (धार्मिक) किताबें पढ़ने का मतलब तो यह है कि हमें पता चले कि उनमें क्या लिखा है और हमारे दिल पर उसका क्या असर होता है?
—२१।८।१९३२। बापू के पत्र : बीबी अमतुस्सलाम के नाम, पृ० २१, न० जी० प्र० मं०]

२७. ईश्वर सभी धर्मों में है

[एक हिन्दुस्तानी ईसाई श्रीमती सत्यवती चिदम्बर को लिखे पत्र से।—सम्पा०]

आप यह क्यों मानती हैं कि जिस ढंग से आप ईसा को मानती हैं, उसी तरह मानने में ही सत्य भरा है? और किसलिए यह मानती हैं कि गिरि-प्रवचन के सिद्धान्तों को सनातनी हिन्दू पालन नहीं कर सकता? आपको यह विश्वास है

कि आप सनातनी हिन्दू का अर्थ अच्छी तरह जानती हैं? इससे भी आगे बढ़कर पूछता हूँ कि ईसा और उनके उपदेशों के अर्थ के बारे में क्या आपको पूरा यक़ीन है? आपके उत्साह की मैं जरूर क़द्र करता हूं, मगर आपके ज्ञान के बारे में आपको बधाई नहीं दे सकता। पैंतालीस साल की प्रार्थना और चिन्तन से मुझमें तो वह भरोसा पैदा नहीं हुआ जैसा आप में है।[1] मैं तो पहिले से ज्यादा नम्र बना हूँ। मेरी प्रार्थना का मुझे तो साफ़ और जोरदार जवाब यह मिला है कि ईश्वर ऐसी तिजोरी में बन्द किया हुआ नहीं है, जिसमें किये हुए एक ही छोटे-से छेद में से ही वह दिखाई दे सकता हो। वह तो ऐसा है जो नम्र और शुद्ध हृदयवालों को करोड़ों द्वारों से दिखाई दे सकता है। आप जिस शिखर पर बैठी हैं और जहां आपके सिवा और किसी के खड़े रहने की गुंजाइश नहीं है, वहां से मैं आपको उतरने की सलाह देता हूँ।

—४।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३९१-३९२]

● ईश्वर ऐसी तिजोरी में बन्द किया हुआ नहीं है, जिसमें किये हुए एक ही छोटे-से छेद में से ही वह दिखाई दे सकता हो।

२८. ईसा और मुहम्मद

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

मुझे लगता है कि ईसा और मुहम्मद के बीच तूने जो तुलना[2] की है वह, आकर्षक है मगर अंशतः ही सही है। तूने यह कहावत तो सुनी ही है कि तुलनाएं अरुचि-

---

१. श्रीमती सत्यवती चिदम्बर के पत्र का एक अंश यों है:—

"आप अगर ईसा को स्वीकार करें और सच्चे ईसाई बनने की कोशिश करें तो जितने बड़े आप हैं उससे ज्यादा बड़े बन जायं। जिस हिन्दुस्तान को आप चाहते हैं उसी की खातिर मैं आपसे अपने हृदय और जीवन में ईसा के स्थान देने की अपील करती हूं। ईसा तो हाथ फैला कर हिन्दुस्तान को अपनाने के लिए खड़े हैं। यह नहीं हो सकता कि आप सनातनी हिन्दू बने रहें और ईसा के गिरि-प्रवचन के सिद्धान्तों पर चल सकें। एक ईसा ही दुनिया के तारनहार हैं।"

२. सुश्री मीरा बहिन ने ईसा और मुहम्मद साहब के विषय में अपने पत्र में ये विचार व्यक्त किये थे—"ऐसा लगता है कि पैग़म्बर को जिन ईसाइयों से काम पड़ा था वे ईसाई अपने धर्म का बहुत संकुचित विचार करते थे। पैगम्बर साहब को यह अच्छा नहीं लगता था। ईसा मसीह

कर होती हैं। मेरी राय में सभी क्रान्तिकारी सुधारक होते हैं और सभी सुधारक क्रान्तिकारी होते हैं। दोनों महान धर्मगुरु थे और अपने जमाने और जरूरत के अनुरूप थे। दोनों ने मानव-प्रगति में अपना अनन्य भाग दिया है। जगद्‌गुरुओं में दोनों का स्थान बराबर है। तूने अपने को आश्रमवासिनी वर्णन किया है, सो बिल्कुल ठीक है। तू ईसा का इन्कार नहीं करती, परन्तु अपने को आश्रमवासिनी कहती है, जो किसी भी धर्मगुरु का इन्कार नहीं करता। अलग-अलग गुरुओं के उपदेशों के अर्थों से हमें कोई वास्ता नहीं है। जिसे जो अनुकूल पड़े वह अर्थ कर ले।
— ३।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १६६—१६७]

- सभी क्रान्तिकारी सुधारक होते हैं और सभी सुधारक क्रान्तिकारी होते हैं।
- दोनों (ईसा और मुहम्मद) महान धर्मगुरु थे और अपने जमाने और जरूरत के अनुरूप थे।

२९. मेरी दृष्टि में इस्लाम

मैं संसार के धर्मों का विद्यार्थी हूँ। मैंने संसार के महान धर्मों का अध्ययन उनके अनुयायियों की ही आँखों से किया है और मुझे यह कहने में कठिनाई नहीं होती कि इस्लाम में भ्रातृत्व की भावना ओत-प्रोत है। मेरी इच्छा है कि अगर यह भ्रातृत्व मुसलमानों तक ही सीमित न होता तो अच्छा था, जैसा कि कुछ लोगों ने किया भी है। जब मैंने कुरान पढ़ा तो मुझे ऐसा लगा कि यह तो सारी मानव-जाति को अपने दायरे में ले लेता है।
— खामगांव। ह० से०, २४।११।१९३३]

३०. इस्लाम और हजरत मुहम्मद साहब

[बारेवफाद के अवसर पर पूना में अंजुमने फ़िदाये इस्लाम-द्वारा आयोजित विशाल मुस्लिम-सभा में गांधी जी द्वारा किये गये भाषण का आवश्यक अंश।
—सम्पा०]

के लिए उन्हें बहुत ज्यादा आदर था। मैंने अपने अज्ञान में यह नहीं समझा था कि जिन शास्त्रों पर ईसाई-धर्म रचा गया है, उन्हीं शास्त्रों पर अल इस्लाम की बुनियाद है। मुझे ऐसा लगता है कि मुहम्मद ने इन शास्त्रों का उपयोग एक सुधारक के रूप में किया, जब कि ईसा ने एक क्रान्तिकारी के रूप में।"

. . . मेरे लिए केवल वेदादि ही धर्मशास्त्र नहीं हैं बल्कि कुरान और बाइ-बिल आदि भी उसी तरह धर्मशास्त्र हैं। मैं जिस प्रकार गीता और उपनिषद् आदि को मानता हूँ, उसी प्रकार दूसरे धर्मग्रन्थों का भी आदर करता हूँ। मेरा विश्वास है कि मुहम्मद साहब संसार के एक महान पैग़म्बर थे। इसी प्रकार महात्मा ईसा भी हो गये हैं। इन ग्रन्थों को देखने से मेरे ऊपर यह असर पड़ा है कि पैगम्बर साहब एक सच्चे और खुदापरस्त पुरुष थे। मैं यह कोई काल्पनिक बात नहीं बतला रहा हूँ। मेरे दिल पर पैग़म्बर साहब के जीवन चरित का जो थोड़ा-बहुत असर पड़ा है, उसे मैं आपको बता रहा हूँ। उन्होंने मुसीबतें झेलने में कुछ उठा नहीं रखा था। वे एक बहादुर आदमी थे। वे किसी मनुष्य से नहीं, सिर्फ खुदा से डरते थे। वे जो सत्य समझते थे वही करते थे। उनकी कथनी और करनी एक थी। उन्होंने जिस समय जिस चीज़ को सत्य समझा, अविकार समझा, उसे अमल में लाते हुए अन्य सब चीज़ों को तुच्छ गिना। ऐसा नहीं कि (उन्होंने) कहा कुछ (हो) और किया कुछ हो, आज जो ठीक जँचा उसके अनुसार किया कल यदि उसके प्रति विश्वास में अन्तर हुआ तो लोकनिन्दा या विरोध की चिन्ता न करते हुए उसी के अनुसार आचरण किया। इसमें कुछ टीकाकारों को विरोध दीख पड़ता है। मगर सत्य का पुजारी अन्यथा आचरण नहीं कर सकता। वह उसी का आचरण करेगा, जो जिस समय उसे सत्य प्रतीत होगा।

उनका रहन-सहन फकीरों का था; वे त्याग के रंग में रँगे हुए थे। उनके पास काफी दौलत आती थी, फिर भी उन्होंने अपने भोग के लिए कभी उसका उपयोग नहीं किया। जब मैंने यह पढ़ा कि वे अपने साथियों और कबीले को लेकर किसी तरह मस्जिद में ही गुज़र किया करते थे, तो मेरी आँखें आनन्द के आँसुओं से छलछला आईं। जिसके दिल में हमेशा खुदा की रटन लगी हो, खुदा का डर समाया हो, दुनिया के लिए अगम-अपार दया भरी हो, उसे मेरे-जैसा सत्याग्रही न पूजे, यह कैसे हो सकता है?

आप सब लोग कुरान का पाठ करते हैं। मैं भी कुरान पढ़ा करता हूँ। मैं आपकी ही आँखों कुरान पढ़ता हूँ। लेकिन आप लोगों का एक बहुत बड़ा हिस्सा कुरान का पाठ तो करता है, पर उसकी शिक्षा को अमल में नहीं लाता। आप शायद यह कहें कि हिन्दू भी तो गीता का पारायण करते हैं, लेकिन उस पर चलते कब हैं? यह ठीक है। . . .

—पूना, २३।६।१९३४। ह० से०, १३।७।१९३४]

● मुहम्मद साहब संसार के एक महान पैग़म्बर थे।

३१. धर्मान्तर के विषय में

उस दिन फेडरेशन आफ़ इण्टरनेशनल फेलोशिप के सदस्य श्री ए० ए० पाल ने मुझे लिखा था, अच्छा हो, अगर धर्मान्तर के विषय में आप 'हरिजन' में अपनी विचार-स्थिति साफ़-साफ़ बतला दें। इस पर मैंने उनसे यह कहा कि जिन बातों का आप मुझसे उत्तर चाहते हों उन्हें कृपा कर प्रश्न के रूप में लिख भेजें। परिणामस्वरूप, उनका यह पत्र, सिद्धान्त-सूची के साथ, आया है।

"आपको याद होगा कि एक महीने से कुछ ऊपर हुआ, जब मैंने आपको यह लिखा था कि क्या आप अपने धर्मान्तर-विषयक विचारों को एक वक्तव्य के रूप में प्रकाशित कर देंगे। आपने मेरे पत्र के जवाब में यह लिखा था कि मेरे लिए यह अधिक आसान होगा, अगर आप अपने विचारों को प्रश्नों या सिद्धान्तों के रूप में लिख भेजें। मद्रास-इण्टरनेशनल फेलोशिप की कार्यकारिणी समिति के अनुरोध पर हमारे एक ईसाई बन्धु ने यह सिद्धान्त-सूची तैयार कर दी है, और समिति ने इस प्रार्थना के साथ आपके पास इसे भेज देने के लिए मुझसे कहा है कि आप कृपाकर 'हरिजन' में इन प्रश्नों का उत्तर प्रकाशित कर दें। इसमें सन्देह नहीं कि ये सिद्धान्त ईसाई धर्म की दृष्टि से ही तैयार किये गये हैं, पर हमारी समिति का विचार है कि उन अन्य मिशनरी धर्मों पर भी ये सिद्धान्त उतने ही लागू हो सकते हैं, जो आज धर्मान्तर के कार्यक्रम में लगे हुए हैं। तो क्या मैं यह आशा करूँ कि इन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में आप अपनी विचार-स्थिति स्पष्ट कर देंगे?

सिद्धान्त

१. हृदय का, पाप से ईश्वर के प्रति, परिवर्तन ही धर्मान्तर है। यह ईश्वर का कार्य है। पाप का अर्थ है ईश्वर से बिलगाव।

२. ईसाई यह मानते हैं कि मानवजाति के कल्याणार्थ ईसा पूर्णावतार के रूप में प्रकट हुआ था, ईश्वर का वह पूर्ण इलहाम है। वह पापों से हमारा उद्धार करता है। पापी को एक वही ईश्वर की शरण में ले जानेवाला है, और वही उसका जिलानेवाला है।

३. जिस ईसाई ने ईसा मसीह के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, वह ईसा के सम्बन्ध में बोलना, और जिस वस्तु को मुक्तहस्त से देने के लिए ईसा ने पृथिवी पर अवतार धारण किया था उस वस्तु की घोषणा करना अपना सौभाग्य और धर्म समझता है।

४. यदि इस सन्देह को सुनकर किसी मनुष्य का हृदय इतना अधिक प्रभावित हो जाय कि वह अपने पापों लिए पश्चात्ताप करके ईसा के शिष्य के रूप में नया जीवन बिताना चाहे, तो उसे ईसा के अनुयायियों के सम्प्रदाय में—ईसाई धर्मसंघ में—दाखिल कर लेना ईसाई उचित समझता है।

५. ईसाई ऐसे सभी मामलों में, उस मनुष्य की श्रद्धा सच्ची है या नहीं, इस बात की थाह लेने का भरसक प्रयत्न करेगा, और जितना उससे हो सकेगा उसे धर्म-परिवर्तन के परिणाम समझायेगा और अपने कुटुम्ब के प्रति उस मनुष्य का क्या कर्तव्य है, इस पर वह खास जोर देगा।

६. ईसाई खुद अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए, जहां तक उससे हो सकेगा, किसी मनुष्य का धर्म-परिवर्तन नहीं करेगा, और यह ध्यान रखेगा कि वह मनुष्य रुपये-पैसे की लालच में पड़कर तो ईसाई नहीं बन रहा है।

७. चूंकि ईसा पूर्ण जीवन का दान देने के लिए पृथिवी पर उतरे थे और यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि ईसाई धर्म में आने से अनेक का जीवन ऊंचा उठ गया है, इसलिए यदि ईसाई धर्म में आने से किसी मनुष्य की सामाजिक उन्नति हो जाती है तो ईसाई धर्म की दीक्षा देनेवाले किसी ईसाई पर यह दोषारोपण नहीं करना चाहिए कि उसने उस मनुष्य को रुपये-पैसे का लोभ देकर ईसाई बनाया है। क्योंकि किसी को धर्म में मिलाने के लिए तो प्रलोभन दिया ही नहीं जाता।

८. सच्ची श्रद्धा से जो ईसाई धर्म में आ जाता है उसकी देह, उसकी आत्मा और उसके मन की सार-सम्हाल रखना ईसाई अपना जो कर्त्तव्य समझता है वह ठीक ही करता है।

९. ईसाइयों पर यह दोष लगाना ही नहीं चाहिए कि वे रुपये-पैसे का प्रलोभन देते हैं। हिन्दुओं के सामाजिक सिद्धान्तों में कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिनपर ईसाइयों का कोई काबू नहीं, और जो खुद ही हरिजनों के हक में प्रलोभनस्वरूप हो जाते हैं। (किन्तु इस विषय में सिद्धान्त नं० ५ और ६ देखिए)।

इन सिद्धान्तों की भूमिका समझने के लिए पाठकों को यह जान लेना चाहिए कि दक्षिण भारत का एक समूचा गांव ही जिसमें हरिजनों की पूरी या अधिकांश आबादी थी, ईसाई बना डाला गया है। इस विषय पर मेरी श्री ए० ए० पाल के साथ जो चर्चा चल रही थी, उसी से यह मुख्य प्रश्न उठा। इस धर्मान्तर के सम्बन्ध में पाठकों को शायद और भी अधिक पढ़ने को मिले। फिलहाल इतना समझ लेना उनके लिए काफी होगा कि ऊपर जो ये सिद्धान्त दिये हैं, उन्हें सामूहिक धर्मान्तर की कसौटी पर ही कसना है। नवां सिद्धान्त तो करीब-करीब यही बात बतला भी रहा है।

मैंने कई बार इन सिद्धान्तों को पढ़ा, और जितना ही अधिक मैं उन्हें पढ़ता हूँ उतना ही मुझे लगता है कि ये सिर्फ व्यक्तियों के सम्बन्ध में ही लागू हो सकते हैं, साधारण जनसमूह के विषय में तो ये कभी लागू हो ही नहीं सकते। पहिले ही सिद्धान्त को लीजिए। पाप की व्याख्या की गई है: ईश्वर से बिलगाव। हृदय का, पाप से ईश्वर के प्रति, परिवर्त्तन ही धर्मान्तर है। यह धर्मान्तर ईश्वर का कार्य है। ऐसा सिद्धान्तकार का कथन है। अगर धर्मान्तर ईश्वर का कार्य है तो वह कार्य उससे क्यों छीना जाय? और मनुष्य ईश्वर से कोई चीज छीन लेनेवाला कौन होता है? वह तो ईश्वर के हाथ का एक विनम्र साधन या यन्त्र ही बन सकता है। इसी तरह वह दूसरों के हृदय का निर्णायक भी नहीं हो सकता। दूसरों के हृदय की बात तो दूर रही, मुझे तो इसी में अक्सर शंका रहती है कि क्या हम खुद अपने साथ सदा सच्चा न्याय ही करते हैं; क्या हम सही अर्थ में स्वयं अपने हृदय के सच्चे निर्णायक हैं? 'ओ मनुष्य, तू अपने आप को जान'—यह अन्तर्ध्वनि किसी निराश हृदय से ही निकली होगी। और अगर हम स्वयं अपने विषय में इतना कम जानते हैं, तो हमें अपने उन पड़ोसियों और दूर के अजनबियों के बारे में कितना कम ज्ञात होगा, जिन का हमारे साथ बीसियों चीज़ों में, और कई अत्यन्त महत्व की चीज़ों में, मतभेद हो सकता है? दूसरे प्रश्न में, ईसाइयों की उस श्रद्धा की बात आती है, जिसे वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी मानते चले आ रहे हैं, किन्तु जिसकी सचाई को हजारों-लाखों जन्मजात ईसाइयों ने खुद अपने आप पर कभी नहीं कसा। और यह ठीक ही है। जिन लोगों का जन्म और पालन-पोषण एक भिन्न ही धर्म में हुआ है, उनके आगे इस तरह की श्रद्धा की बात रखना सचमुच एक खतरनाक चीज है। किसी अन्य धर्म के अनुयायी के सामने मैं अपनी अनपरखी श्रद्धा की बात रखता हूँ तो यह मेरी धृष्टता ही होगी, क्योंकि मैं जानता हूँ कि उसका धर्म भी उतना ही सच्चा हो सकता है जितना कि मेरा है। सबसे उत्तम तो यह है कि मेरी धर्म-श्रद्धा मेरे लिए अच्छी है, और उसकी उसके लिए। पृथिवी के शीतप्रधान देश के निवासियों के लिए एक मोटा ऊनी लबादा जितना उपयुक्त है, विषुवत् रेखा के समीपस्थ देश में रहनेवालों के लिए उतनी ही उपयुक्त लँगोटी का एक छोटा-सा टुकड़ा है।

तीसरे सिद्धान्त का भी, पहिले की ही तरह, धर्म के गूढ़ रहस्यों से सम्बन्ध है। साधारण लोग उन रहस्यों को यद्यपि समझते नहीं हैं, तो भी उन्हें वे श्रद्धा-पूर्वक मानते हैं। वे परम्परागत श्रद्धा के अनुयायी के लिए बहुत अच्छी तरह काम दे सकते हैं। पर जिन्हें बचपन से किसी दूसरी ही वस्तु में श्रद्धा करना सिखाया गया है उन्हें तो वे गूढ़ रहस्य अटपटे से मालूम होंगे।

इसके आगे के पांच सिद्धान्तों का सम्बन्ध मिशनरियों-द्वारा उन लोगों के प्रति किये जानेवाले व्यवहार से है, जिन्हें कि वे अपने धर्म की दीक्षा देना चाहते हैं। इनका व्यवहार में लाना मुझे लगभग असम्भव मालूम होता है। जहां आरम्भ ही ग़लत हो, वहां बाद में जो भी किया जायगा, वह सब गलत ही होगा। अपने श्रोताओं की आन्तरिक श्रद्धा की सच्चाई का पता कोई ईसाई कैसे लगा सकेगा? उनके हाथ उठाने से, उनके साथ खुद बात करने से, या किसी क्षणिक परीक्षा से? ऐसी कोई भी परीक्षा, जिसकी कि कल्पना की जा सकती है, तर्कों के द्वारा निर्णयात्मक होने पर भी, असफल ही रहेगी। मनुष्य के अन्तर की बात एक अन्तर्यामी ईश्वर के सिवा और कोई नहीं जानता। क्या किसी ईसाई को अपने तन, अपने मन और अपनी आत्मा के प्रामाणिक या शुद्ध होने का इतना अधिक भरोसा है कि वह आसानी से यह अनुभव कर सके कि ईसाई धर्म में दीक्षित मनुष्य की देह, आत्मा और मन की सार-सम्हाल रखना उसका कर्त्तव्य है?

अन्तिम सिद्धान्त तो पहिले के सब सिद्धान्तों से बढ़-चढ़ जाता है। उसे पढ़कर स्तब्ध ही हो जाना पड़ता है, क्योंकि उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे आठों सिद्धान्तों का प्रयोग बेचारे हरिजनों पर होना है। और अभी तो पहिला ही सिद्धान्त आज के युग के बड़े-बड़े बुद्धिमानों और तत्ववेताओं को भी चक्कर में डाले हुए है। कौन जानता है कि जन्मजात पाप किस प्रकार का होता है? ईश्वर से विलगाव का क्या अर्थ है? ईश्वर के साथ ऐक्य-साधन करने का क्या मतलब है। जिसने ईश्वर के साथ ऐक्य कर लिया उस मनुष्य के क्या लक्षण हैं? जो ईसा के सन्देश का उपदेश करने का साहस करते हैं, क्या उन सब का यह विश्वास है कि उनका ईश्वर के साथ ऐक्य हो गया है? यदि नहीं, तो हरिजनों के इन गम्भीर विषयों के ज्ञान की परीक्षा कौन लेगा?

ऊपर के सिद्धान्त पढ़कर मेरे मन में जो विचार आये हैं वे ये हैं। मुझे आशा है कि मेरे इन विचारों को पढ़कर किसी ईसाई का दिल दुखेगा नहीं। इन नौ सिद्धान्तों के सम्बन्ध में यदि मैं अपनी सच्ची स्थिति अपने अनेक ईसाई मित्रों को न बतलाता, तो मुझे ऐसा लगता कि मैं उनके साथ असत्य व्यवहार कर रहा हूँ।

अब मैं अपनी निजी राय थोड़े में दे दूं। मेरा विश्वास है कि आज धर्मान्तर जिस अर्थ में लिया जाता है, उस अर्थ में एक धर्म से दूसरे धर्म में मनुष्य जा ही नहीं सकता। यह तो मनुष्य और ईश्वर के बीच की एक व्यक्तिगत बात है। मुझे अपने पड़ोसी के धर्म के प्रति कोई बुरी नीयत नहीं रखनी चाहिए। मुझे उसके

धर्म का उतना ही आदर करना चाहिए जितना कि मैं अपने धर्म का करता हूँ। कारण यह है कि जितना सच्चा मेरा धर्म मेरे लिए है, उतने ही सच्चे दुनिया के तमाम महान् धर्म उन धर्मों के अनुयायियों के लिए हैं। संसार के धर्मग्रन्थों का आदरपूर्वक अध्ययन करने से मुझे उन सब में सौन्दर्य देखने में तनिक भी कठिनाई मालूम नहीं पड़ती। जिस तरह मैं अपना धर्म बदलने का विचार नहीं करता, उसी तरह किसी ईसाई, मुसलमान, पारसी या यहूदी से यह कहने की कल्पना भी नहीं करता कि वह अपना धर्म बदल दे। इससे यह होता है कि अपने धर्म के अनुयायियों की अनेक बड़ी-बड़ी त्रुटियों के विषय में मैं जितना दुर्लक्ष्य करता हूँ उससे अधिक दुर्लक्ष्य उन धर्मों के अनुयायियों की त्रुटियों के सम्बन्ध में नहीं करता। और यह देखते हुए, कि मेरी सारी साधनशक्ति तो अपने आचरण को अपने धर्म के आदर्श तक ले जाने का प्रयत्न करने में और अपने सहधर्मियों को उसके अनुसार उपदेश देने में ही खर्च हो जाती है, मैं दूसरे धर्मानुयायियों को उपदेश देने की स्वप्न में भी कल्पना नहीं करता। दूसरों के न्यायाधीश न बनना, नहीं तो तुम भी न्यायतुला पर तोले जाओगे—यह मनुष्य के आचरण के लिए अत्यन्त सुन्दर नियम है। मेरी यह धारणा दिन-दिन बढ़ती ही जा रही है कि अगर महान् और समृद्ध ईसाई पादरी भारत को या कम-से-कम उसके सीधे-सादे ग्रामनिवासियों को ईसाई धर्म में मिलाने, और इस तरह उनके सामाजिक ढांचे को नष्ट करने का भीतरी इरादा छोड़कर शुद्ध दयाभाव से मानव सेवा करने तक ही अपने कार्यों को सीमित रखने का निश्चय कर लें, तो वे भारत की सच्ची सेवा करेंगे। हमारे यहां की समाज-रचना में यद्यपि अनेक त्रुटियां हैं, अनेक दोष हैं, और उस पर भीतर और बाहर से कितने ही हमले हुए हैं, तो भी अनेक युगों से वह आजतक वैसी ही अडिग खड़ी हुई है। ये मिशनरी और हम चाहें या न चाहें, तो भी हिन्दूधर्म में जो सत्य है, वह हमेशा रहेगा, और जो असत्य है वह खण्ड-खण्ड होकर नष्ट हो जायगा। प्रत्येक जीवित धर्म के अन्दर, अगर उसे दुनिया में जीवित रहना है, पुनर्यौवन-संचार की शक्ति होनी ही चाहिए।

—हि० ज०। ह० से०, ५।१०।१९३५]

- मनुष्य के अन्तर की बात एक अन्तर्यामी ईश्वर के सिवा और कोई नहीं जानता।
- यह (धर्म) तो मनुष्य और ईश्वर के बीच की एक व्यक्तिगत बात है।
- प्रत्येक जीवित धर्म के अन्दर. . .पुनर्यौवन-संचार की शक्ति होनी ही चाहिए।

३२. ईसा की शरण

[एक ईसाई भाई ने गांधी जी को एक लम्बा पत्र लिखा था, जिसके कुछ अंश यहां दिये जा रहे हैं:—

"...अपने प्रारम्भिक जीवन में आपने जो पाप किया है उसे आपका समस्त आत्म-दमन, उपवास, प्रार्थना और सुकृत भी नहीं पखार सकते।...उस समय का हर एक दिन, हर एक घण्टा ऐसा है जो आपको धिक्कारता ही है।...

"यदि हम जो भी पाप करते हैं वह सब परमेश्वर के प्रति किया हुआ पाप है, तो उसको क्षमा करने का भी उसे ही अधिकार है। यदि उसका न्यायपूर्ण निर्णय जाति की ओर से स्वयं अपने को ही प्राण-दण्ड देना हो (क्योंकि ईसा के रूप में ईश्वर ने संसार का दोष अपने सिर लिया था, दुनिया के लोगों पर उसके लिए दोषारोपण नहीं किया था) और यदि जैसा फलिप्पियों का विश्वास था, उसके अनुसार परमपिता परमात्मा के रूप में स्वर्ग और पृथिवी पर ईसा को जगत् का उद्धारक स्वीकार किया है तो हम (या आप) उस महान मुक्ति की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं?

"अगर, जैसा कि आप अपना विश्वास बतलाते हैं, ईसामसीह परमात्मा के अनेक अवतारों में से एक और सबसे अन्तिम अवतार हैं, तो फिर या तो आपको उसके ईश्वर-प्रभव होने के आश्चर्यजनक दावों को स्वीकार करना चाहिए या उन सबको भूल-चूक करनेवाले साधारण मनुष्य का मान कर छोड़ देना चाहिए। और जब ईसामसीह कहता है, जैसा कि उसने अपने समय के यहूदियों से कहा था, 'अगर तुम यह विश्वास नहीं करते कि मैं परमेश्वर हूँ तो तुम अपने पापों में सड़ते हुए मर जाओगे' या 'स्रोत, सत्य और जीवन मैं ही हूँ। मेरी कृपा के बिना ईश्वर के पास कोई नहीं पहुँचता,' तो आप या तो उसे धोखे में पड़ा हुआ मानें या जानबूझकर झूठ बोलनेवाला कहें। इसके सिवा मुझे और कोई उपाय नहीं दीखता। मैं नित्य यह प्रार्थना करता हूँ कि प्रभु ईसा आपके अन्दर उसी प्रकार ईश्वरीय दिव्य सन्देश उतारें जैसा उन्होंने 'टारसस के साल' के साथ किया था, ताकि इस सांसारिक पाप से मुक्त होने के पहिले आप भारत के करोड़ों व्यक्तियों को उसके मूल्यवान रक्त के बलिदान की क्षमता या अमोघता बता सकें।"

इस पत्र का गांधी जी द्वारा दिया गया उत्तर यहां संकलित किया जा रहा है।—सम्पा०]

.....बाइबिल में यह स्पष्ट उल्लेख किये जाने पर भी कि तत्व को शब्द नष्ट कर देता है और अर्थ उसमें प्राण डाल देता है उसके हर एक उद्धरण का

शाब्दिक अर्थ किया जाता है। मैंने जब पहिली बार बाइबिल पढ़ी तो मुझे मालूम हो गया कि यदि मैं उसकी बहुत-सी बातों का शब्दशः अर्थ करूं या उसके हर एक वाक्य को ब्रह्मवाक्य मानूं, तो मैं उसके अनेक अंश से सहमत नहीं हो सकता। जैसे-जैसे मैं विभिन्न धर्मों के ग्रन्थों का अध्ययन करता गया, मुझे लगा कि उन सबको—यहां तक कि वेदों और उपनिषदों को भी—हम इसी रूप में ग्रहण कर सकते हैं। इसलिए मैंने ईसा के निर्दोष कुमारी कन्या के गर्भ से उत्पन्न होने की कथा को रहस्य-पूर्ण मानकर अपने मन को समझा लिया। ईसा के जन्म-सम्बन्धी पद्यों को उनके शाब्दिक अर्थ में ग्रहण करना मेरे लिए कठिन ही है। अगर मैं उन पद्यों का शब्दशः अर्थ लगाऊं तो उससे ईसा के प्रति मेरा श्रद्धा-भाव नहीं बढ़ेगा। इसका अर्थ यह नहीं कि बाइबिल लिखनेवाले झूठ-मूठ बातें गढ़नेवाले थे। हां, उन्होंने भक्तिवश बढ़ाकर लिखा है। मैंने अपनी युवावस्था से शास्त्रों के बारे में यह तय किया है कि उनमें नैतिक शिक्षा की जो बात हो उसे ही मानना चाहिए। उसमें वर्णित चमत्कारों में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं है। ईसा के बारे में जिन नैतिक चमत्कारों का किया जाना बताया जाता है उनके कारण मैं बाइबिल के ऐसे किसी उपदेश को नहीं मान सकता जो नैतिक न हो। कुछ भी हो, मेरे लिए और मैं समझता हूँ मेरी ही तरह लाखों के लिए, धर्म-शिक्षकों के शब्दों में एक जीती-जागती शक्ति है, जो साधारण मनुष्यों -द्वारा कहे गये वैसे ही शब्दों में नहीं होती।

ईसा, मेरे लिए, दूसरों के समान संसार के एक महान धर्म-शिक्षक हुए हैं। वह अपने समय के लोगों के लिए निश्चय ही एकमात्र ईश्वर-प्रभव पुत्र थे। पर उन लोगों का जो विश्वास था वही मेरा भी हो, यह ज़रूरी नहीं है। मेरे जीवन पर ईसा का कुछ कम प्रभाव नहीं है, क्योंकि मैं उन्हें अनेक ईश्वर-प्रभव पुत्रों में से एक मानता हूँ। मेरे लिए 'प्रभव' विशेषण का उसके शब्दार्थ की अपेक्षा कहीं गहरा और सम्भवतः विशाल अर्थ है। मैं इसका अर्थ 'आध्यात्मिक पुनर्जन्म' करता हूँ अर्थात् अपने समय में वही ईश्वर के सबसे निकट थे।

जो लोग उनकी शिक्षाओं को स्वीकार करते थे उनके पाप-निवारणार्थ ईसा ने अपने को निर्दोष बनाकर उनके सामने अपना उदाहरण रखा। लेकिन उनके लिए उस उदाहरण का कोई मूल्य नहीं, जिन्होंने उनके सहारे अपने जीवन को उन्नत करने का कभी कष्ट नहीं किया। किन्तु जिस प्रकार सुवर्ण तपाने से उसका मूल दोष दूर हो जाता है, उसी प्रकार इस दिशा में नये सिरे से कोशिश की जाय, तो मूल का धब्बा भी मिट सकता है।

मैं अपने अनेक पापों को स्पष्टतम रूप में स्वीकार कर चुका हूं। लेकिन मैं हमेशा अपने कन्धों पर उनका बोझ नहीं लादे फिरता। यदि मैं—जैसा कि

मैं समझता हूं—ईश्वर की ओर जा रहा हूँ तो सुरक्षित हूँ, क्योंकि उसकी उपस्थिति के प्रखर प्रकाश का अनुभव करता हूँ। मैं जानता हूँ कि आत्मसुधार के लिए यदि मैं आत्म-दमन, उपवास और प्रार्थना पर ही निर्भर रहूं तो कोई लाभ न होगा। लेकिन अगर, जैसी कि मुझे उम्मीद है, ये बातें अपने सिरजनहार की गोद में अपना चिन्ताकुल सिर रखने सम्बन्धी आत्मा की आकांक्षा को व्यक्त करती है, तो इनका भी मूल्य है।

मेरे लिए गीता ही संसार के समस्त धर्मग्रन्थों की कुंजी हो गई है। संसार के धर्म-ग्रन्थों में जो गहरे-से-गहरे रहस्य भरे हुए हैं, यह मेरे लिए उन सबको खोल कर रख देती है। उन धर्म-ग्रन्थों को मैं हिन्दू-धर्मशास्त्रों की ही तरह आदर-भाव से देखता हूँ। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी आदि नाम तो सुविधा के लिए रख लिये गये हैं। जब मैं इन नामों को सामने से हटा देता हूँ तो मेरे लिए सब एक हैं। हम सब उसी परमात्मा की सन्तान हैं। संसार के सभी महान् धर्म-शिक्षकों ने शब्दों के हेर-फेर के साथ यही बात कही है कि 'वह व्यक्ति सचमुच स्वर्ग में प्रवेश नहीं करेगा जो प्रभु-प्रभु कह कर मुझे पुकारता रहता है, बल्कि जो परमपिता परमेश्वर की इच्छा का पालन करेगा वही स्वर्ग में प्रवेश पायगा।'

—ह० ज०। ह० से०, ८।४।१९३६]

- धर्म-शिक्षकों के शब्दों में एक जीती-जागती शक्ति है।
- वह (ईसा) अपने समय के लोगों के लिए निश्चय ही एकमात्र ईश्वर-प्रभव पुत्र थे।
- यदि मैं...ईश्वर की ओर जा रहा हूँ तो सुरक्षित हूँ।
- मेरे लिए गीता ही संसार के समस्त धर्म-ग्रन्थों की कुंजी ...है।

३३. मेरा विद्रोह

.....आज मैं रूढ़िचुस्त ईसाई धर्म के विरुद्ध विद्रोह कर रहा हूँ, क्योंकि मेरा विश्वास है कि इस धर्म ने ईसा के सन्देश को तोड़-मरोड़ कर विकृत बना डाला है। ईसा एशिया के निवासी थे। उनका सन्देश अनेक माध्यमों से यूरोप पहुँचा। जब उसे रोमन बादशाहों का पृष्ठपोषण मिला तब वह साम्राज्यवादी पन्थ बन गया और वह आज तक उसी रूप में चला जा रहा है। निस्सन्देह, उसमें एण्ड्रूज या एल्विन-जैसे ऊंचे विरल व्यक्ति भी हैं, पर उसका सामान्य झुकाव वही है, जो मैंने बताया है।

कुछ दिन पूर्व बम्बई में सर्व-धर्म-सभा हुई थी। अभी इस प्रकार की वास्तविक सभा होने में स्पष्ट रुकावट यह है कि न तो हम सब धर्मों की समता स्वीकार करते हैं, न हमारे हृदय में एक दूसरे के धर्म के प्रति आदर-भाव है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह धर्मों की सभा थी, थोड़े-से धर्मबुद्धिवाले मनुष्यों की सभा नहीं। मैं पूछता हूं, उस सभा में क्या ईसाई धर्म अन्य धर्मों के साथ समता का भाव लेकर उपस्थित हुआ था ? खुल कर नहीं तो चुपके-चुपके वे हमारे अनेक देवी-देवताओं की टीका करते रहते हैं, पर वे यह भूल जाते हैं कि उनके भी तो अनेक देवी-देवता हैं। —ह० ज०। ह० से०, १३।६।१९३६]

३४. धर्म-समन्वय और ईसाई मिशनरी

[अन्तर्राष्ट्रीय सेवा-सेना के अध्यक्ष डा० पीअर सेरेसोल दो ईसाई मिशनरी महिलाओं के साथ गांधी जी से मिलने आये। गांधी जी के साथ हुई इन तीनों की वार्ता के आवश्यक अंश यहां दिये जा रहे हैं।—सम्पा०]

डा० सेरेसोल—मैं भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों के बीच किसी प्रकार का धार्मिक आत्मैक्य चाहता हूं।

गांधी जी—अगर मन में कोई दुःख न हो तो यह सर्वथा सम्भव है।

डा० सेरेसोल—लेकिन मेरे एक मित्र का, जो मानवजाति के महान सेवक हैं, विश्वास है कि केवल लोगों को ईसाई धर्म में प्रविष्ट करने के लिए वे मिशन का काम हाथ में नहीं लेते। उनका कहना है कि ईसा के साथ तादात्म्य होने से ही उन्हें जीवन-शक्ति मिलती है, क्योंकि ईसा सदैव परमेश्वर के सम्पर्क में रहते थे।

गांधी जी—हमारी सबसे बड़ी कठिनाई यह नहीं है कि ईसाई मिशनरी अपने निज के अनुभव पर निर्भर करते हैं, बल्कि यह कि वे हिन्दू भगवद्भक्तों की साक्षी पर वाद-विवाद करने लगते हैं। उन्हें यह समझना चाहिए कि जिस तरह उन्हें आध्यात्मिक अनुभव और तादात्म्य का आनन्द प्राप्त होता है उसी तरह हिन्दुओं को भी होता है।.....

मिशनरी महिला—मेरे पास लोगों को ईसाई बनाने का समय नहीं है; कभी इच्छा भी नहीं हुई है। अगर हमारे अस्पतालों के द्वारा अधिक लोग ईसाई जीवन की ओर चले जायं, तो हमारे देश के चर्च को इससे प्रसन्नता ही होगी।

गांधी जी—पर, जहां आप लोग दवा-दारू की सहायता देते हैं, वहां इस रूप में प्रतिफल की आशा करते हैं कि आपके मरीज ईसाई हो जायं।

मिशनरी महिला—हां, हम प्रतिफल की आशा जरूर रखते हैं अन्यथा संसार में ऐसे अनेक स्थान हैं जहां हमारी सेवाओं की जरूरत है। पर, वहां जाने के बजाय हम हिन्दुस्तान आते हैं।

गांधी जी—यही तो वक्रता है। आप लोगों के मन में शुद्ध, निष्काम सेवा नहीं है, बल्कि आप सेवा का फल इस रूप में चाहते हैं कि बहुत-से लोग ईसाई धर्म स्वीकार कर लें।

मिशनरी महिला—मेरे अपने काम में कोई छिपा हेतु नहीं है। मैं लोगों की सार-सम्हाल करती हूं, दुःख-दर्द का भार हल्का करती हूं क्योंकि मैं कुछ दूसरा नहीं कर सकती। इसका मूल है ईसा के प्रति मेरी दृढ़ भक्ति, जिसने पीड़ित मानवता की सेवा की थी। मैं स्वीकार करती हूं कि मेरे मन में अवश्य यह इच्छा है कि ईसा की भक्ति में जो आनन्द मुझे मिलता है, वही दूसरे लोगों को मिले। इसमें वक्रता की बात कहां है?

गांधी जी—चर्च में है, जिसका विचार है कि कुछ ऐसे लोग हैं जिनमें कुछ चीजों की कमी है और आप उन्हें वे चीजें जरूर देंगे, चाहे उन्हें उसकी जरूरत हो या न हो। अगर आप अपने मरीजों से सिर्फ यह कहें, 'मैंने तुम्हें जो दवा दी उसका तुमने सेवन किया है। ईश्वर की कृपा है कि तुम्हें स्वस्थ कर दिया। अब यहां न आना।' तो आपने अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया लेकिन इसके साथ अगर आप यह भी कहती हैं, 'कितना अच्छा होता अगर ईसाई धर्म में आपकी वैसी ही श्रद्धा होती, जैसी मेरी है।' तो आप अपने मिशन को निष्काम सेवा-दान का साधन नहीं बनातीं।

मिशनरी महिला—लेकिन अगर मुझे ऐसा महसूस होता हो कि मेरे पास कुछ दवादारू और आध्यात्मिक वस्तु है, जिसे मैं दे सकती हूं तो मैं इसे कैसे रोक सकती हूं?

गांधी जी—यह कठिनाई इस प्रकार हल हो सकती है। आपको यह अनुभव तो होना ही चाहिए कि आपके पास जो अच्छी चीज है उसे आपका रोगी भी प्राप्त करे। किन्तु वह इसे भिन्न मार्ग से प्राप्त करे। आप कहें, मैं इस मार्ग से आई हूं, तुम दूसरे मार्ग से आओ। वह आपके ही विश्वविद्यालय से पास हो, दूसरे नहीं—ऐसी इच्छा आप क्यों करती हैं?

मिशनरी महिला—क्योंकि अपनी दयालु माता के लिए मेरे हृदय में पक्षपात है।

गांधी जी—मेरे लिए यही कठिनाई है। आप अपनी माता को पूजती हैं इसलिए आप यह इच्छा नहीं कर सकतीं कि दूसरे लोग भी आपकी माता की सन्तान हो जायं।

मिशनरी महिला—यह भौतिक दृष्टि से असम्भव है।

गांधी जी—तब यह भी आध्यात्मिक असम्भाव्यता है। समस्त मानव-जाति एक ही सृजनकर्त्ता की सन्तान है। फिर मैं किस तरह अपनी अल्प-बुद्धि से ईश्वर की महिमा को मर्यादित कर दूँ, और यह कहूँ कि बस, यही एकमात्र मार्ग है ?

मिशनरी महिला—मैं यह नहीं कहती कि यही एकमात्र मार्ग है। सम्भव है कोई श्रेष्ठतर मार्ग भी हो।

गांधी जी—अगर आप यह स्वीकार करती हैं कि श्रेष्ठतर मार्ग भी हो सकता है, तो आप अपना तर्क समाप्त कर देती हैं ।

मिशनरी महिला—आप कहते हैं कि मुझे अपना ठीक रास्ता मिल गया है तो मुझे आपका धर्म बदलने की अधिक व्याकुलता नहीं है। तब तो मैं कीच में फँसे किसी मनुष्य के पास जाऊंगी।

गांधी जी—आप न्यायाधीश बनेंगी ? क्या आपके यहाँ के लोग कीच में नहीं फँसे हैं ? आप अपनी ही छाप का सत्य सबको क्यों देने जाती हैं ?

मिशनरी महिला—जो दवा मुझे मालूम हो उसे देना ही चाहिए।

गांधी जी—तो आप उससे यह कहें, क्या तुम अपने डाक्टर से मिले हो ? आप उसे उसके डाक्टर के पास भेज देंगी और उस मनुष्य की सार-सम्हाल रखने के लिए डाक्टर से कह देंगी। आप शायद उस डाक्टर से सलाह करेंगी, उससे उस रोगी के इलाज की चर्चा करेंगी और या तो आप अपनी बात उसके गले उतार देंगी या उसकी बात खुद समझ जायँगी। पर वहां तो आप तुच्छ शारीरिक रोग का इलाज कर रही होंगी। और यहां आप आध्यात्मिक वस्तु की चर्चा कर रही हैं, जहां आप यह सब आवश्यक शोध नहीं कर सकतीं। इसीलिए मैं कहता हूँ कि आप दयावृत्ति से काम लें। आप यह दावा तो नहीं करतीं कि ईसाई-समाज में दम्भ नहीं है ?

डा० सेरेसोल—हममें से अधिकांश लोग अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उन्हें इस बात की तनिक भी कल्पना नहीं होती कि दूसरे धर्मों ने अपने अनुयायियों को क्या ज्ञान दिया है ? डाक्टर. . .ने हिन्दू धर्मशास्त्रों का ठीक से अनुशीलन किया है और उन्होंने यह समझ लिया है कि हिन्दू धर्म हिन्दुओं को क्या देता है ?

गांधी जी—मैं कहता हूँ कि गीता या कुरान का पढ़ना ही उनके लिए काफी नहीं है। जिस तरह वे यह आशा रखते होंगे कि मैं एक ईसाई की दृष्टि से बाइबिल पढ़ूँ, उसी तरह उन्हें कुरान को मुसलमान की दृष्टि से और गीता को हिन्दू की दृष्टि से पढ़ना चाहिए। मैं उनसे पूछूंगा, जिस पूज्य भाव से मैंने गीता को पढ़ा है क्या आपने उतने ही पूज्य भाव से उसे पढ़ा है ? मैं आपसे कहता हूँ कि मैंने ईसाई

धर्म-सम्बन्धी जितनी पुस्तकें पढ़ी हैं उतनी हिन्दू धर्म-सम्बन्धी नहीं पढ़ीं। फिर भी मैं इस परिणाम पर नहीं पहुंचा कि ईसाई धर्म या हिन्दू धर्म ही सत्य के साक्षात्कार का एकमात्र मार्ग है।

[इसके पश्चात् गांधी जी ने मि० स्टोक्स की चर्चा की, जिन्होंने बाद में अपना नाम सत्यानन्द रख लिया था और कहा—]

मि० स्टोक्स जब हिन्दुस्तान आये तो प्रारम्भ में पठानों को ईसाई धर्म का उपदेश करते हुए उनके प्राण जाते-जाते बचे। पर उन्होंने एक सच्चे ईसाई की तरह अपने आक्रमणकारी को हत्या के दण्ड से बचा लिया। बाद में उन्होंने सोचा कि ईसा पर तो मेरी सदा की ही भांति अगाध श्रद्धा है, पर मैं स्वयं हिन्दू हुए बिना ईसा का सन्देश हिन्दुओं तक नहीं पहुँचा सकता। जबतक हिन्दू और भी अच्छे हिन्दू न बन जायं, तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि मैं अपने प्रभु की सच्ची सेवा कर रहा हूँ।

मिशनरियों का दृष्टिकोण

मिशनरी महिला—तो मिशनरियों का कैसा रुख रहना चाहिए?

गांधी जी—मेरा खयाल है कि इसे मैं समझा चुका हूँ, पर दोबारा दूसरे शब्दों में कहे देता हूँ। आप लोग यह भूल जायं कि हम धर्मशून्य नास्तिकों के देश में आये हैं। आप ऐसा विचार रखें कि ये लोग भी हमारी ही तरह ईश्वर की खोज में हैं; यह महसूस करें कि हम इन लोगों के देश में अपने धर्म का दान करने नहीं जा रहे हैं, पर आपके पास सांसारिक सुख-सम्पत्ति का जो अच्छा खजाना है, उसमें से आप इन्हें भी हिस्सा देंगे। तब आप लोग अपने मनमें कोई छिपाव रखे बिना अपना काम करेंगे और इस तरह आपके पास जो आध्यात्मिक धन होगा, उसमें से आप इन लोगों को हिस्सा देंगे। आपके मन में यह दुराव है—यही ज्ञान आपके और मेरे बीच भेद की दीवार खड़ी कर रहा है।.....

मिशनरी महिला—...आज तो मैं जिस मार्ग का अनुसरण कर रही हूँ उससे अच्छा एक भी मार्ग नहीं।

गांधी जी—यही तो मैं कहता हूँ कि यह अधिक मान लेना हुआ। आपने सब धर्मों के विश्वासों को नहीं परखा। परखा भी हो तो आप नहीं कह सकतीं कि आपसे कभी गल्ती नहीं हो सकती। आपको तमाम लोगों का ज्ञान है—ऐसा आप मान लेती हैं। आप यह तभी मान सकती हैं जब आप ईश्वर हों। मैं आपको समझा देना चाहता हूँ कि आप दोहरे भ्रम में पड़ी हुई हैं। एक तो यह कि आप जिस चीज को सर्वश्रेष्ठ मानती हैं, वह वास्तव में श्रेष्ठ है, और दूसरा यह कि

आप जिसे, अपने लिए श्रेष्ठ मानती हैं, वह सारे संसार के लिए श्रेष्ठ है। इसके मूल में आपका दावा है कि आप सर्वज्ञ हैं और कभी भूल नहीं कर सकतीं। मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप तनिक नम्र बनें।

—ह० ज० १८।७।१९३६, ह० से० २५।७।१९३६]

३५. ईसाइयत और अन्य धर्म

[प्रसिद्ध अमरीकी पादरी डा० क्रेन गांधी जी से मिलने सेगांव आये। वे युद्ध के कट्टर विरोधी थे और उसे ईसाई धर्म की मान्यताओं के खिलाफ़ समझते थे। उन्होंने भारत का भ्रमण किया था और यहां की धार्मिक असहिष्णुता और चमत्कारों के विषय में देख-सुन चुके थे। वे जानना चाहते थे कि गांधी जी का ईसाई-धर्म के प्रति क्या दृष्टिकोण है। उनके इस प्रश्न और परवर्ती वार्तालाप के उत्तर में गांधी जी ने जो उद्‌गार व्यक्त किये, वे यहां संकलित किये जा रहे हैं।
—सम्पा०]

गांधी जी—ईसाई-धर्म का मुझ पर जो असर पड़ा है, उसे मैं आपको जरूर सुनाऊंगा। जब मैं सिर्फ १८ साल का था, तभी मैं लन्दन में अच्छे ईसाइयों के सम्पर्क में आया। उससे पहिले मैं उस ईसाई-धर्म को जानता था जिसे मैं उन दिनों शराब और गोमांस-भक्षक ईसाई-धर्म कहा करता था। ईसाई होनेवाले आदमियों में ये गुण अनिवार्यतः आवश्यक होते थे। पर एक बात और थी, यानी यूरोपियन ढंग का पहनावा। उस समय के ईसाई सन्त पाल के 'किसी चीज़ को नापाक न कहो'—इन वचनों की दुहाई देकर अपनी स्वच्छन्दता का समर्थन किया करते थे। मैं ईसाई-धर्म के प्रति इस तरह के विचार लेकर लन्दन पहुंचा। पर वहां मैं सज्जन ईसाइयों के सम्पर्क में आया और उन्होंने मुझसे बाइबिल पढ़ने की सिफ़ारिश की। उसके बाद तो मैं दक्षिण अफ्रीका में कई ईसाइयों से मिला, और तब से मेरा यह खयाल बन गया है कि ईसाई-धर्म भी उतना ही अच्छा है जितना कि मेरा अपना धर्म। कुछ समय तक जरूर मेरे दिल में यह संघर्ष होता रहा कि मेरे परिचित धर्मों में से कौन-सा धर्म सच्चा है? अन्त में विचार करने पर मैं इसी निश्चित परिणाम पर पहुंचा कि ऐसी कोई बात नहीं हो सकती कि कोई विशेष धर्म ही सच्चा हो और दूसरे सब झूठे हों। एक भी धर्म ऐसा नहीं जो सब दृष्टि से पूर्ण हो। न्यूनाधिक परिणाम में सब अपूर्ण या यों कहें कि पूर्ण हैं। इसलिए मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि ईसाई-धर्म भी उतना ही अच्छा और सच्चा धर्म है जितना

मेरा धर्म। यही बात मुसलमानों, पारसियों तथा यहूदियों के धर्म के विषय में भी कही जा सकती है।

इसलिए इस वचन को मैं अक्षरशः सत्य नहीं मानता कि केवल ईसा ही परमात्मा का बेटा है। परमात्मा किसी खास एक ही बेटे का बाप नहीं हो सकता और न मैं केवल ईसा को ही दिव्यत्व प्रदान कर सकता हूं। वह उतना ही दिव्य है जितने कि राम, कृष्ण, मुहम्मद या जरथुस्त्र। इसी प्रकार मैं यह भी नहीं मानता कि बाइबिल का अक्षर-अक्षर ईश्वरीय प्रेरणा से लिखा गया है। यही बात मैं वेदों और कुरान के विषय में भी मानता हूं। हां, इन धर्मग्रन्थों को सम्पूर्ण रूप से लिया जाय तो जरूर वे अपौरुषेय कहे जा सकते हैं। पर अगर प्रत्येक वचन की अलग-अलग जांच करें तो बहुत से वचनों में मुझे वह प्रेरणा नहीं दिखाई देती। बाइबिल को मैं उसी तरह एक धर्मग्रन्थ मानता हूं जिस तरह गीता या कुरान को।

[इतना कहकर गांधी जी डा० क्रेन को कुरान के दो-तीन संस्करण दिखाये जो उनके सामनेवाली बांस की खुली अलमारी पर रखे थे। बाइबिल की भी एक प्रति थी। वे बाइबिल की बहुत-सी टीकाएं पढ़ चुके थे। पर कुरान पर उन्होंने इतनी टीकाएं नहीं पढ़ी थीं। इसलिए इसके अनेक संस्करण उनके पास रखे हुए थे। इसके पश्चात् वह बोले।]

इसलिए मैं आपको ईसाई-धर्म से हिन्दू-धर्म में नहीं लेना चाहता। पर साथ ही अगर आप मुझे ईसाई बनाने के इरादे से आये हों तो मैं आपका प्रतिकार भी नहीं करूंगा। लेकिन मैं आपके इस दावे का जरूर खण्डन करूंगा कि केवल ईसाइयत ही एकमात्र सच्चा धर्म है। हां, मैं यह मान लूंगा कि वह भी एक सच्चा और महान धर्म है; उसने भी अन्य धर्मों के साथ-साथ मनुष्य-जाति को नैतिक दृष्टि से ऊंचा उठाने का काम किया है। पर अभी तो उसके सामने और भी अधिक काम पड़ा हुआ है। आखिर किसी धर्म के इतिहास में २००० वर्ष अधिक तो नहीं हो गये। आज तो तरसती हुई मानव-जाति के सामने ईसाइयत बिगड़े रूप में पेश हो रही है। जरा कल्पना कीजिए कि जब बिशप-जैसे बड़े-बड़े पादरी ईसाई-धर्म के नाम पर हत्याकाण्डों का समर्थन करें, तब उसे क्या कहा जाय?

परस्पर-विरोधी शिक्षाएं

डा० क्रेन—आप कहते हैं कि सब धर्म सच्चे हैं, लेकिन जब उनकी शिक्षाएं परस्पर-विरोधी होती हैं तब आप क्या करते हैं?

गांधी जी—सत्य को ढूंढ़ने में मुझे कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि मैं कुछ मौलिक सिद्धान्तों के आधार पर चलता हूं। मैं सत्य को सर्वोपरि मानता हूं।

इससे विपरीत जो कुछ भी हो, मैं उसे छोड़ देता हूँ। इसी प्रकार अहिंसा के विपरीत जो हो उसे भी छोड़ देना चाहिए। इसी तरह बुद्धिगम्य बातों में जो बातें बुद्धि के विपरीत हों उन्हें भी त्याग देना चाहिए।

डा० क्रेन—बुद्धिगम्य बातों में?

गांधी जी—हाँ, कुछ ऐसे विषय हैं जिनमें बुद्धि हमें बहुत दूर नहीं ले जा सकती। हमें उन्हें श्रद्धापूर्वक मानना पड़ता है। ऐसी जगह श्रद्धा बुद्धि की विरोधिनी नहीं होती। वह बुद्धि से परे होती है। इस प्रकार हम श्रद्धा को छठी इन्द्रिय भी कह सकते हैं, जो उन मामलों में निर्णय देती है, जो बुद्धि के क्षेत्र से बाहर हैं। अतएव इन तीन कसौटियों के मिल जाने पर मुझे धर्म के पक्ष में पेश किये गये किसी भी दावे की जाँच करने में कोई कठिनाई नहीं होती। इस तरह यह दावा कि ईसा परमात्मा का एकमात्र औरस पुत्र है, मुझे बुद्धि के विपरीत मालूम होता है, क्योंकि परमात्मा शादी करके बच्चे नहीं पैदा कर सकता। इसलिए वहाँ बेटा या पुत्र शब्द तो आलंकारिक भाषा में ही प्रयुक्त हो सकता है। और उस अर्थ में ऐसा हर व्यक्ति जो ईसा की तुलना में खड़ा हो सकता है, औरस पुत्र कहला सकता है। अगर कोई आध्यात्मिक दृष्टि से हमसे कोसों आगे बढ़ा हुआ हो तो हम उसके विषय में कह सकते हैं कि वह एक विशेष अर्थ में परमात्मा का बेटा है। यों तो हम सभी उसके बच्चे हैं। पर हम जहाँ अपने जीवन में इस सम्बन्ध का खण्डन करते रहते हैं, वहाँ उसका जीवन इस सम्बन्ध का प्रत्यक्ष उदाहरण और प्रमाण होता है।

दिव्यता का परिमाण

डा० क्रेन—तब तो दिव्यता के परिमाण को मानते हैं। क्या आप यह नहीं मानेंगे कि ईसा सबसे अधिक दिव्य था?

गांधी जी—नहीं, और इसका एक ही सीधा कारण है कि हमारे पास यह कहने का कोई प्रमाण नहीं है। इतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो हमारे पास मुहम्मद के विषय में इन सबकी अपेक्षा अधिक प्रमाण हैं, क्योंकि वे सबसे अधिक आधुनिक हैं। ईसा के लिए उससे कम प्रमाण हैं। बुद्ध, राम, कृष्ण के विषय में और भी कम हैं। फिर जब हम उनके विषय में इतना कम जानते हैं, तो यह कहना क्या दुःसाहस नहीं होगा कि उनमें से एक दूसरे की अपेक्षा अधिक ऊँचा और दिव्य है? बात यह है कि अगर कहीं बहुत से प्रमाण मिल भी जायं तो कोई निर्णायक उनको जाँच करके अपना निर्णय देने की जिम्मेवारी नहीं लेगा। क्योंकि अन्य कारणों की ओर ध्यान न भी दें तो भी यह एक कारण तो है ही कि ऐसे महापुरुषों की दिव्यता और उच्चता को तौलने के लिए निर्णायक का आध्यात्मिक दृष्टि से कितना अधिक उच्च होना

जरूरी है। यह कहना कि ईसा ९९ प्रतिशत दिव्य था, मुहम्मद ५० प्रतिशत और कृष्ण १० प्रतिशत, अपने सिर एक ऐसा काम लेना है जो वास्तव में मनुष्य की शक्ति से बाहर है।

डा० क्रेन—पर, हम एक विवादास्पद प्रश्न को लें। मान लीजिए, मैं इस बात पर बहस कर रहा हूं कि हिंसा धर्म है या नहीं? तब इस्लाम एक बात कहेगा और ईसाई-धर्म दूसरी।

गांधी जी—तब मुझे उन कसौटियों पर इसकी जांच करनी चाहिए जिन्हें मैं पहिले बता चुका हूं।

डा० क्रेन—पर क्या कुछ परिस्थितियों में मुहम्मद तलवार पकड़ने की सिफारिश नहीं करते?

गांधी जी—हां, इस बात को बहुत से मुसलमान स्वीकार करेंगे। पर मैं धर्म को दूसरी दृष्टि से देखता हूं। खानसाहब अब्दुलगफ्फार खां कुरान से अहिंसा की शिक्षा ग्रहण करते हैं। उधर लन्दन के बिशप बाइबिल में हिंसा का उपदेश पाते हैं। स्वयं मैं गीता से अहिंसा-धर्म ग्रहण करता हूं, वहीं दूसरे अनेक लोग ऐसे हैं जो गीता में हिंसा का दर्शन करते हैं। जो कुछ भी हो। हम बुरी-से-बुरी बात सोच लें। अगर मैं इस नतीजे पर पहुंच जाऊं कि कुरान हिंसा की ही शिक्षा देता है, तो भी मैं हिंसा का त्याग ही करूंगा। फिर भी मैं यह नहीं कहूंगा कि बाइबिल कुरान से श्रेष्ठ है या मुहम्मद ईसा से कनिष्ठ हैं, क्योंकि ईसा और मुहम्मद को तौलना मेरा काम नहीं है। फिर भी इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि अन्य किसी प्रकार के ग्रन्थ का जनता में इतना आदर नहीं है जितना धर्म-ग्रन्थों का। मार्कट्वेन[1] की अपेक्षा, अथवा अधिक उपयुक्त उदाहरण लें तो इमर्सन[2] की अपेक्षा, उनका मुझ पर अधिक असर पड़ा है। ईसा और मुहम्मद एक अर्थ में पूरी तरह से क्रियाशील थे, जैसा कि इमर्सन कभी नहीं हो सकता। पर उनकी शक्ति ईश्वर में उनकी श्रद्धा से उत्पन्न हुई थी।

डा० क्रेन—मैं अपनी बात एक उदाहरण देकर तनिक स्पष्ट कर दूं। पिछले सोमवार को मुझे बड़ा आघात पहुंचा। मुसलमानों ने सैंतीस गायों को खुलेआम सड़कों पर काटा और हिन्दुओं के दिल को चोट पहुंचाई। मेरे साथ जो हिन्दू भाई सफ़र कर रहे थे उनसे मैंने पूछा, कि मुसलमानों ने ऐसा क्यों किया? उन्होंने कहा, यह उनके धर्म का अंग है। तब मैंने उनसे पूछा, कि क्या यह उनके धार्मिक और

---

१. प्रसिद्ध अंग्रेजी हास्य-व्यंग-लेखक।

२. प्रसिद्ध अंग्रेजी निबन्धकार।

आध्यात्मिक विकास के लिए ज़रूरी है ? उन्होंने कहा, हाँ ! फिर मैं एक मुसलमान से मिला। उसने कहा, यह तो एक पन्थ दो काज है। हम भी खुश होते हैं और खुदा को भी खुश करते हैं। अब यह मुसलमान ऐसी रँगरेलियां करता है जिससे आपको और मुझे भी चोट पहुँचती है। क्या आपका खयाल है कि यह कुरान की आज्ञाओं के खिलाफ है ?

गांधी जी—ज़रूर, मेरा यही खयाल है। हिन्दुओं के अन्दर भी इसी प्रकार की अनेक बुराइयां हैं। उदाहरण के लिए छुआछूत को लीजिए। यह हिन्दूधर्म का अंग नहीं है। मैं कहता हूँ कि गो-हत्या इस्लाम का अंग नहीं है। फिर भी जो मानते हैं कि इस्लाम की शिक्षा यही है, उनसे मैं कुश्ती नहीं लड़ता।

धर्मान्तर

डा० क्रेन—धर्मान्तरों के प्रयत्नों के विषय में आप क्या कहेंगे ?

गांधी जी—इन अत्यन्त अज्ञानी लोगों से धर्मान्तर करने के विषय में जो आग्रह किया जा रहा है उसे देखकर मुझे बड़ा रोष आता है। अगर कोई आकर मुझसे ऐसी बातें करे—और करते भी हैं—तो उसे मैं समझ सकता हूँ, क्योंकि मैं उनसे दलील कर सकता हूँ और वे भी मुझसे दलीलें कर सकते हैं पर जब हरिजनों से कोई ऐसी बातें करता है तो मुझे ज़रूर बुरा मालूम होता है। जब कोई ईसाई प्रचारक किसी हरिजन से जाकर कहता है कि ईसा खुदा का औरस बेटा था, तो वह आश्चर्य से देखता ही रह जाता है। फिर ये प्रचारक उसके सामने तरह-तरह के प्रलोभन भी रखते हैं।

डा० क्रेन—क्या आपका यह मतलब है कि हरिजन में विचार-शक्ति नहीं होती ?

गांधी जी—होती तो है। उदाहरण के लिए अगर आप बगैर मजूरी दिये उससे काम लेना चाहेंगे तो वह नहीं करेगा। वह नीति-अनीति भी समझ सकता है। पर जब आप उससे ईश्वर-सम्बन्धी विश्वासों की बातें करेंगे और सिद्धान्त प्रस्थापित करेंगे तो वह कुछ भी नहीं समझेगा। मैं तो १७ वर्ष की अवस्था में, जब कि मुझे कुछ शिक्षा भी मिल गई थी, कुछ नहीं समझता था। कट्टर हिन्दुओं ने हरिजनों को इतनी बुरी लापरवाही से रखा है कि यही आश्चर्य हो रहा है कि वे हिन्दू-धर्म को अभी तक कैसे पकड़े हुए हैं। इसलिए अब मैं कहता हूं कि उनकी श्रद्धा को अगर दूसरे विचलित करेंगे तो यह भारी अन्याय होगा।

डा० क्रेन—आप ऐसे आदमी के विषय में क्या कहेंगे जो कहता है कि उसे तो ईश्वर ने ऐसा करने की आज्ञा दी है ?

गांधी जी—वहां आप उसके ईश्वर के मुकाबले में दूसरे ईश्वर को खड़ा न कीजिए। आप उसके धर्म को न छेड़िए। उसकी बुद्धि को, विचार-शक्ति को, जागरित कीजिए।

डा० क्रेन—लेकिन हिटलर का उदाहरण लीजिए। वह कहता है कि मैं जो यहूदियों को सताता हूं और अपने दुश्मनों की हत्या करता हूं, यह तो ईश्वर की आज्ञानुसार कर रहा हूं।

गांधी जी—आप ईश्वर के एक वचन के विरुद्ध दूसरा शब्द न कहें। आप तो उसकी विचार-शक्ति को जागरित करके उसे कायल कीजिए। उसके लिए आपको एक चमत्कार करना पड़ेगा। यह तभी होगा जब ईसाई लोग बगैर मारे उस सिद्धान्त के लिए मरना सीखेंगे जो उन्हें धर्म से भी प्यारा होगा। पर इस तरह तो हम सवाल-जवाब करते ही जायेंगे और इसका कोई अन्त नहीं आयगा। फिर मैं आपको यह भी याद दिला दूं कि आपका समय हो चुका है।

गांधी जी का धर्म

डा० क्रेन—एक बात और। तब क्या आप यह कहेंगे कि आपका धर्म सर्वधर्म-समन्वय है?

गांधी जी—हां, आप यही कह सकते हैं। पर मैं उस सर्वधर्म-समन्वय को हिन्दू-धर्म कहूंगा। और आपके लिए यह समन्वय ईसाई-धर्म होगा। अगर मैं ऐसा न करूं तो आप हमेशा मुझसे दरखास्त करते रहेंगे, जैसे कि अभी भी कई ईसाई कर ही रहे हैं। वे कहते हैं, क्या ही अच्छा हो अगर गांधी ईसाई बन जाय। मुसलमान भी यही करने लगेंगे और कहेंगे, कितना अच्छा हो अगर गांधी इस्लाम पर ईमान लाये। पर यह कहते ही आपके और मेरे बीच में दीवार खड़ी हो जाती है।

जाति और वर्ण

डा० क्रेन—सिर्फ एक प्रश्न और रह गया है। आपने अपनी हिन्दू-धर्म की परिभाषा में क्या वर्ण और जाति को भी स्थान दिया है?

गांधी जी—नहीं, हिन्दू-धर्म में जातियों के लिए स्थान नहीं है। मैं तो उन्हें एकदम मिटा देना चाहता हूं। पर वर्णाश्रम को मैं मानता हूं। वह हमारा अपना धर्म है। मैं मानता हूं कि कुछ लोग ज्ञान देने के लिए, कुछ समाज की रक्षा करने के लिए, कुछ व्यापार-व्यवसाय और खेती करने के लिए पैदा होते हैं और कुछ केवल शरीर-श्रम करने के लिए ही आते हैं। यहां तक कि आगे चलकर ये पेशे वंश-परम्परागत

हो जाते हैं। वर्ण-धर्म शुद्ध शक्ति-संचय का कानून है। अगर मैं मेहतर हूँ तो मेरा लड़का मेहतर क्यों न बने ?

डा० क्रेन—सचमुच ! क्या आप यहाँ तक मानते हैं ?

गांधी जी—हाँ ? क्योंकि मैं तो मेहतर के धन्धे को किसी धर्माधिकारी के धन्धे से किसी प्रकार छोटा नहीं समझता।

डा० क्रेन—मैं मानता हूँ, पर क्या लिंकन[1] को अमेरिका का राष्ट्रपति होने के बजाय लकड़ी चीरने का काम करना चाहिए था ?

गांधी जी—पर एक लकड़ी चीरनेवाला ही राष्ट्रपति क्यों न हो ? ग्लैडस्टन[2] लकड़ी नहीं काटता था ?

डा० क्रेन—लेकिन उसे वह अपना पेशा नहीं मानता था।

गांधी जी—अगर मानता भी तो उसका कुछ नहीं बिगड़ता। मेरा मतलब यह है कि जो मेहतर के यहां पैदा हो उसे वही काम करके अपनी आजीविका कमानी चाहिए। उसे करने के बाद वह जो चाहे कर सकता है, क्योंकि मेहतर को अपनी रोजी कमाने का उतना ही हक है जितना कि एक वकील या आपके राष्ट्रपति को। मेरी समझ से हिन्दू-धर्म की यही शिक्षा है। संसार में इससे बढ़कर साम्यवाद हो ही नहीं सकता। इसे मैंने उपनिषदों के एक मन्त्र से स्पष्ट कर दिया है, जिसका अर्थ है—परमात्मा सम्पूर्ण चराचर में व्याप्त है, इसलिए अपने सर्वस्व का त्याग करके उसे परमात्मा के चरणों में रख दो और इस तरह अपना जीवन-निर्वाह करो। इस तरह जीवन-निर्वाह का अधिकार त्याग से प्राप्त होता है। वह यही नहीं कहता कि जब सब अपने-अपने हिस्से का काम करेंगे तब मैं भी अपना करूंगा। वह तो कहता है कि दूसरों की चिन्ता में न पड़ो। अपना काम पहिले करो, और शेष ईश्वर पर छोड़ दो। वर्णाश्रम गुरुत्वाकर्षण की तरह एक सनातन नियम है। दिन-ब-दिन,

---

१. संयुक्त राज्य अमेरिका के एक भूतपूर्व राष्ट्रपति। वह बचपन में लकड़ी चीरने का धन्धा करते थे। और अपने अध्यवसाय के बल पर राष्ट्रपति बने। उनके समय में हब्शियों को गुलाम बनाने के प्रश्न पर संयुक्त राज्य अमेरिका के उत्तरी और दक्षिणी राज्यों के बीच गृह-युद्ध हुआ। लिंकन हब्शियों को गुलाम बनाये जाने के विरुद्ध थे और उन्होंने दृढ़तापूर्वक इस अमानवीय प्रथा के समर्थक दक्षिणी राज्यों से युद्ध कर विजय प्राप्त की। बाद में उनके एक अन्ध विरोधी ने, जो अभिनेता था, एक थियेटर में नाटक देखते समय गोली मार कर उनकी हत्या कर दी।

२. इंग्लैण्ड के एक भूतपूर्व प्रधान मन्त्री।

उत्तरोत्तर, अधिक-अधिक ऊंची उड़ान लगाकर मैं गुरुत्वाकर्षण के नियम को टाल नहीं सकता। यह प्रयत्न व्यर्थ है। उसी प्रकार एक-दूसरे को दबाना भी है। वर्ण-धर्म तो प्रतिस्पर्धा की बुराई का उत्तर और रामबाण औषधि है। प्रतिस्पर्धा मारक है।.....

—हु० ज०। हु० से०, ६।३।१९३७]

- एक भी धर्म ऐसा नहीं जो सब दृष्टि से पूर्ण हो।
- मैं सत्य को सर्वोपरि मानता हूँ।
- मैं...सर्वधर्म-समन्वय को हिन्दू-धर्म कहूंगा।
- वर्ण-धर्म शुद्ध शक्ति-संचय का क़ानून है।
- वर्णाश्रम गुरुत्वाकर्षण की तरह एक सनातन नियम है।

३६. ईसाई-धर्म-प्रचार : एक वार्ता

[भारतीय ईसाइयों ने एक संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किया था, जिसमें उन्होंने अपने धर्म-प्रचार और सामूहिक धर्म-परिवर्तन का औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। गांधी जी ने उक्त वक्तव्य की विशद और युक्तिपूर्ण आलोचना प्रकाशित की थी। इस सम्बन्ध में गांधी जी से मिलने के लिए आये एक ईसाई पादरी से विस्तृत चर्चा हुई। इस चर्चा के आवश्यक अंश यहां दिये जा रहे हैं। —सम्पा०]

पादरी—ईसाई-धर्म के प्रचार-कार्य पर आपने इस आधार पर एतराज उठाया है कि हरिजन अशिक्षित और अज्ञान हैं। पर अगर हरिजनेतर लोगों में प्रचार-कार्य किया जाय, तो आप क्या कहेंगे?

गांधी जी—यही आपत्ति वहाँ भी उठाऊँगा, क्योंकि हिन्दुस्तान की जन-संख्या का बहुत बड़ा भाग ईसाई-धर्म की पक्ष और विपक्ष की बातों को, जितना एक गाय समझती है उससे अधिक अच्छी तरह नहीं समझता। मेरी इस उपमा पर आपत्ति उठाई गई है, तो भी मैं उसे फिर दोहराता हूँ। जब मैं यह कहता हूँ कि मैं घातप्रमापक (लोगारिथ्म) के सिद्धान्त को जितना मेरी गाय समझती है, उससे अधिक नहीं समझता, तब इसका यह मतलब नहीं कि मैं अपनी बुद्धि का कोई अपमान करता हूँ। मैं आपको सेगांव ले चलूंगा और वहां आपको दिखाऊँगा कि जहां तक ऐसी बातों को समझने की योग्यता का सम्बन्ध है, वहां तक हरिजनों और हरिजनेतरों में कोई अन्तर नहीं है। आप मेरी स्त्री को ईसाई-धर्म के सिद्धान्त का उपदेश देने का प्रयत्न

कीजिए। मेरी गाय जितना समझेगी उससे अधिक अच्छी तरह वह उन सिद्धान्तों को नहीं समझ सकेगी। हाँ, मैं समझ सकता हूँ, क्योंकि मैंने वैसी शिक्षा पाई है।

पादरी—लेकिन हम किसी आध्यात्मिक सिद्धान्त का उपदेश तो देते नहीं। हम तो उनसे केवल ईसा के जीवन के विषय में कहते हैं, और उन्हें बताते हैं कि ईसा का जीवन और ईसा के उपदेश हमारे लिए कितने शान्तिदायक हैं। हम कहते हैं कि वह हमारा सदा मार्गदर्शक रहा है, और दूसरों से भी हम यही कहते हैं कि वे भी उसे अपना मार्गदर्शक बना लें।

गांधी जी—हाँ, आप यही कहते हैं। पर जब आप कहते हैं कि रामकृष्ण परमहंस की अपेक्षा मुझे ईसा को ही अपना मार्गदर्शक मानना चाहिए, तब आपको ज़रा गहरे पानी में उतरना होगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि आपको जो कुछ कहना हो उसे स्वयं आपका जीवन हमसे कहे। गुलाब के फूल को कभी बोलने की जरूरत पड़ती है? वह तो बस अपनी सुगन्ध फैला देता है? गुलाब की सुगन्ध से तो अन्धा मनुष्य भी अवगत हो जाता है। यही गुलाब के सुन्दर सन्देश का रहस्य है। किन्तु ईसा ने जिस शुभ सन्देश का प्रचार किया वह गुलाब के सरस सन्देश से कहीं अधिक सूक्ष्म और सुगन्धित है। अगर गुलाब को किसी एजेंट की जरूरत नहीं, तो ईसा के सन्देश के लिए तो और भी किसी एजेंट की जरूरत नहीं पड़नी चाहिए।

छिपा हुआ हेतु

पादरी—पर ईसाइयों के प्रचार-कार्य पर आपको यह आपत्ति भी है कि उसमें व्यापारी दृष्टि है। हरेक सच्चा ईसाई इस बात को मानता है कि किसी को कोई प्रलोभन नहीं देना चाहिए।

गांधी जी—तब ईसाई-धर्म का जिस रूप में आजकल प्रचार हो रहा है वह क्या है? जबतक आप अपनी शिक्षण-संस्थाओं और अस्पतालों में से यह धर्मान्तर की दृष्टि अलग नहीं करेंगे, तबतक उनका कोई मूल्य नहीं। मिशन स्कूलों और कालेजों में पढ़नेवाले विद्यार्थी बाइबिल पढ़ने के लिए क्यों मजबूर किये जायं, या उनसे यह आशा भी क्यों रखी जाय? अगर उन्हें ईसा का सन्देश समझना ही चाहिए, तो फिर बुद्ध, जरथुस्त्र और मुहम्मद का क्यों नहीं?

पादरी—यह तो पुराना तरीक़ा था, अब यह बात नहीं है।

गांधी जी—मैं आपके सामने इस तरह के यथेच्छ आधुनिक उदाहरण रख सकता हूं। डोर्नाकल के बिशप क्या आधुनिक नहीं हैं? उन्होंने हिन्दुस्तान के दलित वर्गों के नाम जो खुली चिट्ठी लिखी है उसके बारे में आप क्या कहते हैं? तनिक उनकी वह चिट्ठी देखिए, वह कितने प्रलोभनों से भरी हुई है।

पादरी—ईसाई-धर्म के जिस नमूने का प्रतिनिधित्व वे करते हैं, उसे मैं पसन्द नहीं करता। लेकिन जहां बाइबिल का पढ़ना अनिवार्य नहीं है, और केवल शिक्षा ही दी जाती है, उन मिशन स्कूलों व कालेजों में विद्यार्थी पढ़ें तो इसमें आपको क्या एतराज है?

गांधी जी—जब आप यह आशा रखते हैं कि विद्यार्थी बाइबिल पढ़ें तब इसमें ईसाइयत के प्रचार का एक सूक्ष्म प्रकार तो रहता ही है।

पादरी—अस्पतालों के बारे में, मेरा ख़याल है कि बग़ैर किसी धार्मिक उपदेश की शक्ति के लोकोपकारी कार्य सफल नहीं होते।

गांधी जी—तब आप अपने दान का क्रय-विक्रय करते हैं। क्योंकि आपके मन में यह भावना है कि चूंकि आप सेवा-दान देते हैं, इसलिए किसी-न-किसी दिन आपका दान ग्रहण करनेवाले ईसा को अपना मार्गदर्शक या उद्धारक मान लेंगे। आपकी सेवा ही उसका पुरस्कार क्यों न हो?

पादरी—ख़ैर, इन बातों को छोड़िए। मेरा ख़याल है कि मैं बहुत ऊंचे दर्जे के ईसाइयों के नाम गिना सकता हूँ, जो अपने जीवन का उदाहरण रखकर लोगों को आकर्षित करते हैं।

गांधी जी—मैं भी ऐसे नाम गिना सकता हूँ। एण्डरूज़ ऐसे ही आदमी हैं। पर वे सब अपवाद-रूप हैं।

पादरी—पर ईसाई-धर्म की जाँच, उसकी अच्छाई-बुराई का विवेचन आपको उसके अच्छे-से-अच्छे अनुयायियों के आधार पर करना चाहिए, न कि उसके बुरे-से-बुरे अनुयायियों के आधार पर।

गांधी जी—मैं यहां क्रिश्चियेनिटी का गुणदोष-विवेचन एक धर्म के रूप में नहीं कर रहा हूँ। मैं तो उस तरीके के बारे में बात कर रहा हूँ, जिस तरीके से उसका प्रचार किया जा रहा है। और जिस तरह आप ऊंची कोटि के थोड़े-से अंग्रेज़ों से ब्रिटिश राज्य-प्रणाली को जाँच नहीं सकते, उसी तरह अपवाद-रूप ईसाइयों का उदाहरण सामने रखकर आप ईसाइयत पर अपनी कोई राय नहीं बना सकते। हमें तो आपके प्रचारकों के उस बहुत बड़े भाग को लेना चाहिए, जो ईसाई-धर्म का प्रचार आज कर रहे हैं। क्या वे अपने जीवन की सुगन्ध फैला रहे हैं? मेरे लिए तो यही एकमात्र कसौटी है। मैं उनसे केवल यही चाहता हूँ कि वे ईसा के अनुयायियों के लिए उपयुक्त जीवन बितायें। मैं उनकी टीका-टिप्पणी नहीं करना चाहता। कठिन और प्रार्थनापूर्ण शोध के बाद मैं इस अभिप्राय पर पहुँचा हूँ और मुझे यह कहते ख़ुशी होती है कि मेरे इस मत को माननेवाले ईसाइयों की संख्या बराबर बढ़ रही है।

ईसा का व्यक्तित्त्व

पादरी—ईसा के व्यक्तित्त्व के प्रति आपका जो भाव है उसे आपके ही मुख से सुनकर मैं आपका आभारी होऊंगा।

गांधी जी—इसे तो मैंने अनेक वार स्पष्ट किया है। ईसा को मैं मानव-जाति का एक महान गुरु मानता हूं, पर मैं उन्हें आपकी तरह ईश्वर द्वारा उत्पन्न हुआ एकमात्र पुत्र नहीं मानता। यह विशेषण उनकी स्थूल व्याख्या में विल्कुल ही अमान्य है। रूपक के रूप में तो हम सभी ईश्वर-जनित पुत्र हैं, पर हममें से प्रत्येक के लिए एक विशेष अर्थ में भिन्न-भिन्न ईश्वर-पुत्र हो सकते हैं। जैसे, मैं अपने लिए चैतन्य को एकमात्र ईश्वर-जनित पुत्र मान सकता हूं।

पादरी—क्या आप मानव-प्रकृति के पूर्णत्त्व में विश्वास नहीं करते? और क्या आपका इस वात में विश्वास नहीं है कि ईसा ने उस पूर्णत्त्व को प्राप्त कर लिया था?

गांधी जी—मैं मानव-प्रकृति के परिपूर्णत्त्व में विश्वास करता हूं। ईसा जितना सम्भव था, उतना पूर्णत्त्व के समीप पहुंचे। पर यह कहना कि वह पूर्णतया परिपूर्ण थे, इस वात से इन्कार करना है कि ईश्वर मनुष्य से श्रेष्ठ है। और फिर इस सम्बन्ध में मेरा अपना एक सिद्धान्त है। जवतक हम शरीर-वन्धन से जकड़े हुए हैं तवतक परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते। यह तो शरीर-विनाश के वाद ही सम्भव है। इसलिए परिपूर्ण तो एकमात्र ईश्वर ही है। जव वह पृथिवी पर अवतीर्ण होता है, तव वह स्वयं अपनी इच्छा से अपने को सीमित कर लेता है। सूली पर ईसा की मृत्यु इसलिए हुई, क्योंकि वह शरीर-वन्धन से वंधे हुए थे। गुरु के रूप में ईसा की महत्ता कायम करने के लिए मुझे न तो उनकी भविष्यवाणियों की ज़रूरत है, और न उनके चमत्कारों की। उनके तीन वर्ष के धर्माचरण से वढ़कर चमत्कार और क्या हो सकता है? इस कथा में कोई चमत्कार की वात नहीं है कि उन्होंने मुट्ठी-भर पाव रोटियों से एक वड़े जन-समूह को खिलाया। ऐसा इन्द्रजाल तो जादूगर दिखला सकता है। लानत है उस दिन पर, जिन दिन हम किसी जादूगर को मानव-जाति का मुक्तिदाता कहें। और ईसा की इन चमत्कार-जनक कहानियों के सम्वन्ध में कि उसने मुर्दे को जिला दिया था, मुझे शंका है कि जिन आदमियों को उसने जिला दिया था वे क्या सममुच मर गये थे? मैंने अपने एक रिश्तेदार की एक छोटी-सी लड़की को कल्पित मृत्यु के मुख से लौटा लिया था, पर वात असल में यह थी कि वह लड़की मरी नहीं थी। और अगर मैं वहां पहुंच न जाता, तो लोग उसे स्मशान में ले जाकर जला देते। पर मैंने देखा कि उसके प्राण निकले नहीं थे।

मैंने उसे एनीमा दिया और उसमें जान आ गई। इसमें कोई चमत्कार नहीं था। मैं इससे इन्कार नहीं करता कि ईसा के पास कुछ आध्यात्मिक शक्तियां थीं। निस्सन्देह, उनके अन्तर में मानव-प्रेम लवालव भरा हुआ था। लेकिन उन्होंने मरे हुए मनुष्यों को नहीं, वल्कि उन्हें जिला दिया था, जिन्हें कि लोगों ने उस वक्त मरा हुआ मान लिया था। प्रकृति के नियम अपरिवर्तनशील हैं; वे वदले नहीं जा सकते। और कुदरत के कानूनों का उल्लंघन या भंग होता है, इस अर्थ में यदि हम चमत्कारों को लेते हैं, तो ऐसे चमत्कार सम्भव नहीं। किन्तु हम मर्यादित मानवप्राणी तमाम चीज़ों की कल्पना करते हैं, और अपनी क्षुद्र मर्यादाओं का आरोप ईश्वर पर करते हैं। हम भले ईश्वर की नकल करें, पर वह हमारी नकल थोड़े ही करता है। हम उसे काल में विभक्त न करें; उसके लिए तो काल का अर्थ नित्यता है; अनन्तता है। यह भूत, वर्तमान और भविष्य का पचड़ा तो हमारे लिए है। उस काल की अनन्तता के एक परमाणु से भी क्षुद्र मनुष्य का सौ वर्ष का जीवन है।

—ह० ज०। ह० से०, २४।४।१९३७]

३७. मेरी दृष्टि में इस्लाम

मैं इस्लाम को अवश्य एक ईश्वर-प्रणीत धर्म मानता हूं, इसलिए कुरान शरीफ को भी ईश्वर-दत्त मानता हूं; इसी तरह मुहम्मद साहव को भी एक पैगम्वर मानता हूं। हिन्दू-धर्म, ईसाई-धर्म और पारसी-धर्म के वारे में भी मेरी यही मान्यता है। पैगम्वर अनेक हो चुके हैं और उन्होंने अनेक धर्म चलाये थे। आज उनमें से अनेक का नामोनिशान भी नहीं रह गया, क्योंकि वे खरे धर्म और पैगम्वर अपने-अपने समय के लिए थे। अनेक मुख्य धर्म आज मौजूद हैं। मैं विविध धर्मों का यथासम्भव अध्ययन करने के वाद इस निर्णय पर पहुँचा हूं कि यदि समस्त धर्मों का एकीकरण उचित और आवश्यक है, तो इन सब की एक गुरु-कुंजी होनी चाहिए। यह चावी सत्य और अहिंसा है। मैं जब इस चावी से किसी धर्म की पेटी खोलता हूँ, तो मुझे किसी धर्म के साथ दूसरे धर्म का ऐक्य करने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती। वृक्ष के पत्रों की तरह यद्यपि सब धर्म अलग-अलग नजर आते हैं, मगर जड़ को देखा जाय तो सब एक ही दीख पड़ते हैं। यदि हम इतना समझ सकें तो धर्म के नाम पर जो लड़ाइयां होती हैं और हो रही हैं, वे वन्द हो जायँ। ऐसी लड़ाइयाँ सिर्फ हिन्दू-मुसलमान के वीच होती हों—यह वात नहीं है। हिन्दू, ईसाई और इस्लाम धर्म सभी में इतिहास के पन्ने ऐसी लड़ाइयों के वर्णन से भरे हैं। धर्म की रक्षा

धर्मानुयायियों की पवित्रता और उनके सत्कर्मों से होती है, विधर्मियों के साथ झगड़ा करने से नहीं।

—गुजराती से, ७।७।१९४०। ह० से०, १३।७।१९४०]

३८. महात्मा ईसा

ईसा ने ईश्वरीय भावना और इच्छा को जिस तरह प्रकट किया उस तरह और कोई नहीं कर सका। इसी अर्थ में मैं उन्हें ईश्वर-पुत्र के रूप में देखता और मानता हूँ। और चूंकि ईसा के जीवन में यह महत्त्व और अलौकिकता है, इसलिए मेरा विश्वास है कि वे केवल ईसाई-जगत् के ही नहीं, परन्तु सारे संसार के हैं, सभी जातियों और लोगों के हैं—भले वे किसी भी झण्डे, नाम या सिद्धान्त के मातहत काम करें, किसी भी ऐसे धर्म को मानें या ऐसे ईश्वर की पूजा करें जो उन्हें बाप-दादों से विरासत में मिला हो।

—'दि माडर्न रिव्यू', अक्तूबर १९४१, पृ० ४०६]

३९. अफ्रीकावासियों का धर्म

[पश्चिमी अफ्रीका के हब्शी सिपाहियों का एक दल गांधी जी से मिलने आया। इस दल के सदस्यों में अफ्रीका का जागरण और अधिकारों के प्रति उसकी सजगता स्पष्ट प्रतिभासित हो रही थी। सदस्यों ने गांधी जी से विभिन्न समस्याओं पर प्रश्न किये। उनका धर्म-सम्बन्धी प्रश्न गांधी जी के उत्तर-सहित यहाँ दिया जा रहा है।—सम्पा०]

प्रश्न—दुनिया में कई धर्म हैं। मगर वे सब विदेशों में पैदा हुए हैं। अफ्रीका-वाले उनमें से किस धर्म को मानें? क्या वे अपने लिए किसी धर्म का आविष्कार करें? अगर हाँ, तो किस तरह?

उत्तर—यह कहना गलत है कि सारे धर्म विदेशों में पैदा हुए हैं। जुलू और बण्टू लोगों के साथ मेरा बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। मैंने देखा कि अफ्रीकियों का अपना धर्म है। हाँ, यह हो सकता है कि उन्होंने उस धर्म को तर्क की कसौटी पर न कसा हो। मैं अफ्रीकी जातियों में पाये जानेवाले रीति-रिवाजों और अन्ध-विश्वासों का जिक्र नहीं करता, मेरा आशय उस धर्म से है जो एक सर्व-शक्तिमान परमात्मा को मानता है। आप लोग इस ईश्वर की प्रार्थना करते हैं। सम्प्रदाय तो बहुत हैं, मगर धर्म एक ही है। आप लोगों को उसी धर्म पर चलना चाहिए।

विदेशी आपके सामने ईसाई-धर्म पेश करेंगे, किन्तु युरोप और अमरीका में आज जो ईसाई-धर्म पाया जाता है, वह ईसा के उपदेशों से बिल्कुल मेल नहीं खाता। फिर, हिन्दू-धर्म, इस्लाम और जरथुस्त्र का पारसी-धर्म आदि कुछ और धर्म हैं। प्रत्येक धर्म में कुछ-न-कुछ अच्छी बातें है। आपको अपनी रुचि को सीमित न रखते हुए इन अच्छी बातों को अपना लेना चाहिए और अपने धर्म का रूप निश्चित कर लेना चाहिए।

—सेवाग्राम, ८।२।१९४६। ह० ज०। ह० से०, २४।४।१९४६]

४०. यह इस्लाम की सेवा नहीं है

अगर एक हिन्दू अपनी राज़ी-खुशी से और सच्चे दिल से कलमा पढ़े, तो मुझे उसमें कोई आपत्ति नहीं होगी। लेकिन अगर वह अपनी जान गँवाने या सम्पत्ति खोने के डर से ऐसा करता है, तो वह व्यर्थ ही भगवान का नाम लेता है, क्योंकि उस समय उसके मुंह से निकलनेवाली आवाज़ शैतान की आवाज़ होती है। मैं इस्लाम को जिस रूप में समझता हूँ, उस रूप में वह कभी और ज़बर्दस्ती से नहीं बढ़ा, न बढ़ सकता है। जो आदमी इस तरीके से इस्लाम की सेवा करने का दावा करता है, वह उस श्रेष्ठ धर्म को हानि पहुँचाता है।

—श्रीरामपुर, ४।१२।१९४६। ह० ज०। ह० से०, १२।१।१९४७]

४१. कुरान की शिक्षा

एक मित्र ने यह सिद्ध करने के लिए मेरे पास कुछ साहित्य भेजा है कि कुरान काफ़िरों[1] का कत्ल करना सिखाता है। मैं जीवन-भर मुसलमानों के बीच रहा हूँ। लेकिन किसी ने यह कभी नहीं सुझाया कि काफ़िर होने के नाते मुझे कत्ल कर दिया जाय। मैं नोआखाली में मौलवियों के बीच रहा हूँ। विद्वान मुसलमानों ने मुझ से कहा कि कुरान की इस खास आयत का मतलब यह है कि खुदा नामधारी काफ़िर यानी इस्लाम को न माननेवाले को सज़ा देता है। लेकिन वह तो मुसलमानों के साथ भी यही करेगा। वह इंसानों की जाँच उनके काम से करता है, न कि उनके शब्दों से। भागवत, मनुस्मृति और वेदों में भयानक दण्डों का वर्णन आता है। फिर भी हिन्दू-धर्म की विशेष सीख है—दया सारे धर्मों का निचोड़ है। मैं

---

१. इस्लाम को न माननेवाले।

चाहता हूँ कि आप लोग तुलसीदास के इस वचन का ध्यान रखें —अच्छे-बुरे सभी व्यक्ति भगवान के उत्पन्न किये हुए हैं। भगवान का भक्त बुराई को छोड़कर अच्छाई को उसी प्रकार ग्रहण करता है जिस प्रकार हंस दूध और पानी के मिश्रण से दूध पी जाता है और पानी को छोड़ देता है।[1]

—प्रार्थना सभा, ३०।५।१९४७। नई दिल्ली, ३।६।१९४७। ह० ज०। ह० से० ८।६।१९४७]

४२. थियॉसफ़ी

मैं थियॉससाफ़िकल सोसायटीवाले मित्रों का बहुत ऋणी हूँ। उनमें मेरे अनेक मित्र हैं। श्रीमती ब्लेवेट्स्की, कर्नल आलकाट या डाक्टर बेसेण्ट के ख़िलाफ़ आलोचक कुछ भी कहें, मानव-सभ्यता की प्रगति में इनका योग सदा ऊंचे दर्जे का माना जायगा। इस समाज में मेरे शरीक होने में उसका गुप्त पहलू भी बाधक हुआ है। उसकी गुप्त-विद्या (अकल्टिज़्म) मुझे कभी नहीं जंची।

—दिस वाज़ बापू-ले० आर० के० प्रभु, संस्करण १९५४]

४३. ईसा : सूली की सेज पर

[रोम में सूली पर चढ़े हुए ईसा का चित्र देखकर प्रकट किये गये उद्गार]

पोप के महल में सूली पर चढ़े हुए ईसा की सजीव मूर्ति के सामने सिर झुका सकने के लिए मैं क्या नहीं दे डालता? जीतीजागती करुणा के इस दृश्य से अलग होते हुए मुझे बड़ी पीड़ा हुई। इस दृश्य को देखते हुए मैंने मुहूर्त-मात्र में समझ लिया कि व्यक्तियों की भांति राष्ट्र भी सूली की यातना सह कर ही बनाये जा सकते हैं, और किसी तरह नहीं। आनन्द दूसरों को पीड़ा पहुँचाने से नहीं मिलता, परन्तु खुशी से स्वयं कष्ट भोगने से मिलता है।

—दिस वाज़ बापू, पृ० २९, संस्करण १९५४]

---

१. जड़ चेतन गुण - दोषमय, सृष्टि कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥

धर्म विविध

१. धर्म पर व्याख्यान

[जोहानिसबर्ग की थिऑसफिकल सोसायटी ने श्री गांधी को हिन्दू धर्म पर भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया और उस पर उन्होंने मेसानिक टेम्पल में चार भाषण दिये। यहां 'इण्डियन ओपीनियन' में प्रकाशित उनके भाषण का संक्षिप्त सार दिया जा रहा है।—सम्पा०]

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों का अपमान

थियॉसफिकल सोसायटी ने मुझे भाषण करने के लिए बुलाया तब मैंने दो बातें सोचकर वह आमन्त्रण स्वीकार किया। मुझे दक्षिण अफ्रीका में बसे हुए बारह वर्ष होने को आये। यहां मेरे देशवासियों पर जो तकलीफें आती हैं, उनकी खबर सबको है। लोग उनके रंग को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। मैं ऐसा मानता हूँ कि यह सब गलतफहमी से होता है और यह गलतफहमी दूर करने में मुझसे जितनी बने, उतनी मदद करने के हेतु मैं दक्षिण अफ्रीका में पड़ा हूँ। इसलिए मुझे लगा कि यदि मैं सोसायटी का आमन्त्रण स्वीकार करूँ तो जो मेरा कर्त्तव्य है उसमें एक हद तक मदद मिलेगी, और यदि मैं आपको इन भाषणों से भारतीयों के प्रति थोड़ा भी अच्छा खयाल करा सका तो अपना धन्य भाग्य समझूंगा। मुझे आपको बताना तो हिन्दुओं ही के विषय में है, किन्तु हिन्दू और अन्य जो भारतीय हैं उनकी बहुत-सी रीति एक ही है। सारे भारतीयों के गुण-दोष समान हैं और सारे एक ही शाखा से निकले हैं। निमन्त्रण स्वीकार करने का दूसरा कारण यह था कि थियॉसफिकल सोसाइटी के उद्देश्यों में से एक उद्देश्य विभिन्न धर्मों की तुलना करके उनका तत्त्व खोजकर लोगों को यह बताना है कि वास्तव में देखा जाय तो सारे धर्म ईश्वर को पहिचानने के अलग-अलग मार्ग हैं और कोई धर्म खराब है, ऐसा कहते हुए हिचक होनी चाहिए। मैंने सोचा कि यदि मैं हिन्दू धर्म के बारे में दो बातें कहूँगा तो थोड़ा-बहुत यह हेतु भी सिद्ध होगा।

हिन्दू

हिन्दू वास्तव में हिन्दुस्तान के रहनेवाले नहीं माने जाते। पश्चिम के विद्वान् कहते हैं कि हिन्दू और यूरोप के अधिकांश लोग एक समय मध्य एशिया में निवास

करते थे। वहां से अलग होकर कुछ लोग युरोप गये और कुछ हिन्दुस्तान में पंजाव के रास्ते से पहुँचे और वहां आर्यधर्म का प्रसार हुआ। हिन्दुओं की संख्या २० करोड़ से ऊपर है। उनका नाम हिन्दू इसलिए पड़ा कि वे सिन्धु नदी के पार वसते थे। उनकी प्राचीनतम पवित्र पुस्तकें वेद हैं। वहुत से श्रद्धालु हिन्दू ऐसा मानते हैं कि वेद ईश्वरकृत और अनादि हैं। पश्चिम के विद्वानों की मान्यता है कि ईसा से २,०००वर्ष पहिले वेद रचे गये। पूना के प्रख्यात विद्वान् श्री तिलक ने वताया है कि वेद कम-से-कम १०,०००वर्ष पुराने हैं। हिन्दुओं की प्रधान विशेषता है उनका सर्वव्यापक व्रह्म में विश्वास। पृथिवी पर प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य होना चाहिए मोक्ष प्राप्त करना, और मोक्ष का अर्थ है जन्म-मरण के भय से छूटना और व्रह्म में लीन हो जाना। उनकी नीति में मृदुता और समदृष्टि मुख्य गुण हैं और उनके लौकिक व्यवहार में जाति-भेद सर्वोपरि है।

हिन्दू धर्म की पहिली कसौटी जव वुद्धदेव ने जन्म लिया, तव हुई। वुद्धदेव स्वयं एक राजा के पुत्र थे। उनका जन्म ईसा से ६०० वर्ष पहिले हुआ वताया जाता है। उस समय हिन्दू ऊपर के दिखावे पर मोहित हो रहे थे और व्राह्मण स्वार्थ के कारण हिन्दू-धर्म की रक्षा का अपना कर्त्तव्य भूल गये थे। जव वुद्ध की दृष्टि में यह सव आया तो उन्हें अपने धर्म की ऐसी दशा देखकर दया आई। उन्होंने संसार छोड़कर तपस्या को अपना लिया, कितने ही वर्ष ईश्वर-भक्ति में लीन रहकर व्यतीत किये। अन्त में उन्होंने हिन्दू-धर्म में सुधार सूचित किये। उनकी पवित्रता का व्राह्मणों पर असर हुआ और वहुत हद तक यज्ञ के लिए प्राणियों का वध वन्द हो गया। इस तरह वुद्धदेव ने नया धर्म स्थापित किया, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर अशोक ने वौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भिन्न-भिन्न देशों में लोग (प्रचारक) भेजे, और लंका, चीन, व्रह्मदेश आदि मुल्कों में वौद्ध धर्म को फैलाया। इस समय हिन्दू धर्म की यह खूवी प्रकट हुई कि किसी को जवर्दस्ती वौद्ध नहीं वनाया गया। केवल वादविवाद-द्वारा तर्क करके और प्रधान रूप से अपने शुद्ध चालचलन से प्रचारकों ने लोगों के मन पर छाप डाली थी। ऐसा कह सकते हैं कि वौद्ध धर्म और हिन्दू-धर्म भारत में तो एक ही थे और आज भी दोनों के मूल तत्व एक ही हैं।

मुहम्मद पैगम्वर का जन्म

आपने देखा कि हिन्दू-धर्म पर वौद्ध धर्म का असर अच्छा हुआ और उससे हिन्दू धर्म के रक्षक जाग्रत हुए। आज से १,००० वर्ष पहिले हिन्दू धर्म एक अन्य धर्म के सम्पर्क में आया जो ज्यादा जोरदार था। हजरत मुहम्मद अव से १,३००

वर्ष पहिले जन्मे। उन्होंने अरबस्तान में बहुत अत्याचार देखा। यहूदीधर्म तब गोते खा रहा था। ईसाई-धर्म वहां पांव नहीं धर पाता था और लोग विषयी और स्वच्छन्द हो गये थे। यह सब मुहम्मद को ठीक नहीं लगा। उनका मन सुलगने लगा और उन्होंने ईश्वर का नाम लेकर अपने देशवासियों को होश में लाने का निश्चय किया। उनकी लगन इतनी तीव्र थी कि आस-पास के लोगों पर उनके हार्दिक जोश की छाप तुरन्त पड़ी और बड़ी तेजी से इस्लाम का प्रचार हुआ। जोश इस्लाम की जबर्दस्त खूबी है। इससे कई अच्छे काम हुए और कई बार बहुत बुरे काम भी हुए। १,००० वर्ष पूर्व इस्लाम फैलाने के लिए भारत पर गजनी की सेना बढ़ आई। हिन्दू मूर्तियों का खण्डन शुरू हुआ और हमलावर सोमनाथ तक गये। इस तरह एक तरफ से जबर्दस्ती हो चली और दूसरी तरफ से इस्लामी फकीर उसकी वास्तविक खूबी बताने लगे। जो इस्लाम में आते हैं वे सब बराबर हैं, इस बात का असर नीचे वर्ण के लोगों पर बहुत अच्छा पड़ा और लाखों हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। इससे हिन्दुओं में बड़ी खलबली मची।

बनारस में कबीर पैदा हुए। उन्होंने सोचा कि हिन्दू विचार के अनुसार हिन्दू-मुसलमान में भेद नहीं है। अगर दोनों अच्छा काम करें तो स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं। मूर्तिपूजा हिन्दू-धर्म का आवश्यक तत्व नहीं है—यह सोचकर उन्होंने इस्लाम और हिन्दू धर्म को एक करना शुरू किया। किन्तु उसका बहुत असर नहीं हुआ और वह एक अलग पन्थ होकर रह गया जो अभी तक देखने में आता है। कुछ बरसों बाद पंजाब में गुरु नानक हुए। उन्होंने वही कबीर का तर्क मानकर, दोनों धर्मों को एक करने का विचार पसन्द किया, किन्तु उसके साथ-साथ उनका खयाल यह भी था कि जरूरत पड़े तो इस्लाम का तलवार से मुकाबला करके हिन्दू धर्म की रक्षा की जाय। इसी में से सिखधर्म उत्पन्न हुआ और लड़नेवाले सिख तैयार हुए। इस सबका नतीजा यह हुआ है कि भले ही इन दिनों भारत में हिन्दू और मुसलमान ऐसे दो मुख्यधर्म हैं, फिर भी दोनों कौमें हिल-मिलकर रहती हैं और दोनों, एक-दूसरे की भावना को चोट न पहुँचे, ऐसा बर्ताव करती हैं। हां, राजनीतिक संघर्ष और उत्तेजना से खटास उत्पन्न होती है। हिन्दू योगी अथवा मुस्लिम फ़कीर के बीच बहुत थोड़ा अन्तर देखने में आता है।

पैगम्बर ईशु ख्रीस्त

इस तरह जब इस्लाम और हिन्दू-धर्म में प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी उसी बीच लगभग ५०० वर्ष पहिले ईसाई गोवा के बन्दरगाह में उतरे और हिन्दुओं को

ईसाई बनाने लगे। उन्होंने भी कुछ बलपूर्वक और कुछ समझाकर काम लेने की पद्धति अपनाई। उनमें कई पादरी अत्यन्त कोमल और दयालु थे। उनको सन्त कहें तो भी गलत नहीं होगा। उनका असर फ़कीरों की तरह हिन्दू जाति के निचले वर्णों पर बहुत हुआ। परन्तु बाद में जब ईसाई-धर्म और पश्चिमी सभ्यता का गठबन्धन किया गया तब हिन्दुओं ने ईसाईधर्म को पसन्द नहीं किया। और आज हम देखते हैं कि उनके ऊपर एक बहुत बड़ी ईसाई-शक्ति का राज्य होने पर भी विरला ही हिन्दू ईसाई-धर्म स्वीकार करता है। फिर भी ईसाई-धर्म का असर हिन्दू-धर्म पर बहुत अधिक हुआ है। उन पादरियों ने ऊँचे प्रकार का शिक्षण दिया, हिन्दू-धर्म की बड़ी-बड़ी कमियां बताईं और परिणाम यह हुआ कि कबीर-जैसे दूसरे हिन्दू शिक्षक पैदा हुए और उन्होंने ईसाई-धर्म में जो अच्छा था उसे सीखना शुरू किया और हिन्दुओं की कमियाँ दूर करने का आन्दोलन चलाया। राजा राममोहनराय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन ऐसे ही व्यक्ति थे। पश्चिम भारत में दयानन्द सरस्वती हुए और वर्तमानकाल में भारत में ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज बने। यह निश्चय ही ईसाई-धर्म का असर है। फिर श्रीमती ब्लेवेट्स्की[1] ने भारत में आकर हिन्दू-मुसलमान दोनों को पश्चिमी सभ्यता के दोषों से परिचित कराया और उन्हें समझाया कि उसपर आसक्त नहीं होना चाहिए।

हिन्दू धर्म के तत्व

इस तरह आपने देखा कि हिन्दू-धर्म पर तीन आक्रमण —बौद्ध, इस्लाम और ईसाई-धर्म के हुए। किन्तु कुल मिलाकर देखें तो हिन्दू धर्म उनसे उबरकर निकला है। हरएक धर्म में जो अच्छाई थी उसे उसने ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। इस धर्म के लोग क्या मानते हैं, यह जान लेना चाहिए। ईश्वर है। वह अनादि है। निर्गुण है। निराकार है। सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान है। उसका मूलस्वरूप ब्रह्म है। वह करता नहीं है, कराता नहीं है। यह सत्ता नहीं चलाता। वह आनन्द-रूप है और उसके द्वारा ही सारी सृष्टि का पालन होता है। आत्मा है, वह देह से पृथक् है। वह भी अनादि है, अजन्मा है। उसके मूलस्वरूप और ब्रह्म में भेद नहीं है। किन्तु कर्मवश या मायावश वह समय-समय पर देह धारण करती रहती है और अच्छे या बुरे कर्मों से अच्छी या बुरी योनियों में जनमती रहती है। जन्म-मरण के चक्र के बन्धन से छूटना और ब्रह्म में लीन होना मोक्ष है। मोक्ष पाने का साधन बहुत अच्छे काम करना, जीवमात्र पर दया करना और सत्यमय होकर रहना

---

१. थिऑसफिकल सोसायटी की संस्थापिका।

है। इस ऊँचाई तक पहुंचने पर भी मोक्ष नहीं मिलता, क्योंकि ऐसे अच्छे कामों के फल-भोग के लिए भी शरीर मिलता ही है। इसलिए इससे भी एक कदम आगे बढ़ना जरूरी है। कर्म करना तो अनिवार्य है ही, पर उसमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। उन्हें करने के लिए करें किन्तु उनके परिणाम पर नजर न रखें। थोड़े में, सब ईश्वर को अर्पण करें। हम कुछ कर रहे हैं या कर सकते हैं, स्वप्न में भी ऐसा गुमान नहीं रखना चाहिए। सबको समान-भाव से देखना चाहिए। ये हैं हिन्दू धर्म के तत्व। हिन्दुओं में अनेक सम्प्रदाय हैं, फिर लौकिक आचारों को लेकर कुछ फिरके बन गये हैं। उन सबका विचार इस प्रसंग पर करना जरूरी नहीं है।

परिसमाप्ति : सुनने वालों से प्रार्थना

यदि आपमें से किसी पर भी यह सब सुनकर अच्छा असर हुआ हो और यदि आपको ऐसा लगा हो कि हिन्दू या भारतीय, जिनके देश में ऐसा धर्म प्रचलित है वे एकदम नीची प्रजाति के लोग नहीं होंगे, तो आप राजनीति के मामलों में बिना उलझे मेरे देशवासियों की सेवा कर सकते हैं।

हम सबको प्रेम से रहना है, यह सारे धर्म सिखाते हैं। मेरा हेतु आपको धर्म का उपदेश देना नहीं था। मैं वैसा करने योग्य हूँ भी नहीं। मेरा इरादा भी नहीं है। फिर भी यदि आपके मन पर कोई अच्छा असर पड़ा हो तो उसका लाभ मेरे भाइयों को देने की कृपा करें। जब उनकी निन्दा हो तो उनका पक्ष लें जो अंग्रेज जाति को शोभा देता है।

—गुजराती से। इण्डियन ओपीनियन, १५।४।१९०५। सं० गां० वां०, भाग ४, पृष्ठ, ४३५, ३६, ३७, ३८]

- हम सब को प्रेम से रहना है, यह सारे धर्म सिखाते हैं।
- पृथिवी पर प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य होना चाहिए मोक्ष प्राप्त करना।
- मोक्ष का अर्थ है जन्म-मरण के भय से छूटना और ब्रह्म में लीन हो जाना।

२. श्री गांधी का स्पष्टीकरण

...भारत में हिन्दू धर्म का क्या रूप है इसका चित्र उपस्थित करने का निमन्त्रण[1] मुझे मिला था। उसको मैंने स्वीकार कर लिया। उस विषय का विवे-

---

१. जोहानिसबर्ग, थियॉसफिकल सोसायटी के तत्वावधान में आयोजित अपने एक भाषण में गांधी जी ने कहा था कि इस्लाम-धर्म को अधिकतर हिन्दुओं

चन करते हुए दूसरे धर्मों से तुलना करना आवश्यक हो गया। किन्तु उसमें मेरा एक ही इरादा यह था कि मैं, जहां तक बने, हर धर्म की अच्छी बातें बताकर गोरों के मन पर अच्छी छाप डालूं। मैंने जो-जो तथ्य बताये वे सब उस इतिहास से लिये गये हैं जिसे हम बचपन से पाठशाला में पढ़ते आये हैं। इस्लाम का प्रचार जोर-जबरदस्ती से हुआ, यह बात इतिहास बताता है। किन्तु उसके साथ मैंने बताया कि इस्लाम के प्रचार का प्रबल कारण है—उसकी सादगी और सबको समान समझने की खूबी। निम्नवर्गीय हिन्दू ज्यादातर मुसलमान हुए, यह बात भी सिद्ध होने योग्य है और मेरी समझ में इसमें कोई बुराई नहीं है। मेरे अपने मन में ब्राह्मण और भंगी के बीच कोई भेद नहीं है और मैं उसमें इस्लान धर्म की श्रेष्ठता मानता हूँ कि जो लोग हिन्दू धर्म के भेदभाव से असन्तुष्ट हुए उन्होंने इस्लाम को स्वीकार करके अपनी स्थिति सुधारी है। फिर मैंने यह भी नहीं कहा कि जितने हिन्दू मुसलमान हुए वे सब निम्नवर्ण के थे और निम्नवर्ण में केवल ढेढ़ ही आते हैं ऐसा तो मुझे खयाल तक नहीं है। ऊंचे वर्ण के हिन्दू अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय भी मुसलमान हुए हैं मैं यह स्वीकार करता हूँ, किन्तु उसमें अधिक भाग उनका नहीं था, यह जगत्-प्रसिद्ध बात है। परन्तु मुझे मुख्य जोर इस बात पर देना है कि नीचे वर्ण के हिन्दू मुसलमान हुए, इसमें इस्लाम धर्म की तनिक भी हीनता नहीं है। उलटे यह बात उसकी खूबी बताती है और मुसलमानों को इसका गर्व होना चाहिए।

जुनून (जोश) के बारे में मेरा मत जैसा मैंने बताया है वैसा ही है। मैंने जुनून शब्द का सारार्थ लिया है और मैंने स्पष्ट कहा है कि यह इस्लाम की एक शक्ति है। सच्चे जुनून के सिवा कोई अच्छा काम नहीं हो सकता। तुर्क जब सच्चे जुनून से जान की बाजी लगाकर लड़े तभी वे रूस और ग्रीस के साथ टक्कर ले सके और आज सब लोग तुर्क सिपाहियों से भय खाते हैं। जबतक राजपूत लोग जुनून से लड़े तबतक कोई राजपूताने को हाथ भी नहीं लगा सका; जुनून से जपान जूझता है तभी तो वह पोर्ट[1] आर्थर का किला सर कर सकता है। जिस तरह युद्ध में

के निम्न वर्गों ने अपनाया। उन्होंने यह भी कहा कि जोश, या जुनून इस्लाम की एक बड़ी विशेषता है, जिससे कई अच्छे और बुरे काम हुए हैं। इस कथन से भारतीय मुसलमानों में असन्तोष फैला और उन्होंने 'इण्डियन ओपीनियन' के सम्पादक को पत्र लिखे।

१. रूस-जपान युद्ध में जपानियों द्वारा पोर्ट आर्थर में रूसी जहाजी-बेड़े को पराजित किया गया था।

उसी तरह दूसरे कामों में भी जुनून की जरूरत है और वह अच्छा गुण है। जुनून से एडीसन[1] बड़ी-बड़ी खोजें करता है। जुनून से ही वाट[2] ने रेल की खोज की और संसार में यात्रा को सरल बनाया। और यही जुनून हुआ तो हम इकट्ठे होकर गोरों के साथ संघर्ष में जीतकर अपनी शिकायतें दूर करा सकेंगे। यह जुनून इस्लाम का खास गुण है। ऐसा ही जुनून दूसरे कामों में भी बरता जाये तो बड़ा लाभ हो।

अब मेरे कहने के लिए अधिक नहीं रहता। मैंने जो सच समझा है, वह कहा है। वैसा कहने में मेरा इरादा एक भी व्यक्ति की भावना को ठेस पहुँचाने का नहीं था और मेरे मन में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई के बीच कोई भेद नहीं है। ऐसा मैं कई बार कह चुका हूँ और मुझे लगता है कि मैंने उसी के अनुसार आचरण किया है। मेरा आग्रह है कि हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण या भंगी के बीच कोई भी भेदभाव रखे बिना सबके प्रति समदृष्टि रखनी चाहिए। हिन्दू धर्म की शिक्षा यही है और यही मेरा धर्म है।

—गुजराती से। इण्डियन ओपीनियन, २०।५।१९०५। सं० गां० वां०, भाग ४, पृ० ४६०—६१]

३. भारत का धर्म

भारत का धर्म बहुत प्राचीन है। उसके पास देने के लिए बहुत कुछ है।

—इं० ओ०, २६।८।१९०५]

४. ईश्वरीय नियम

. . . खुदाई क़ानून के सामने झुकनेवाला इस दुनिया में और दूसरी दुनिया में सुख भोगेगा। वह खुदाई क़ानून कौन-सा है? वह है, सुख भोगने के पहिले दुःख भोगना और चूंकि परमार्थ में स्वार्थ है, इसलिए हम दूसरे के लिए आत्मबलिदान करें, दुःख उठायें। . . .

—गुजराती से। इं० ओ०, २७।७।१९०७]

---

१. टामस एल्वा एडीसन, दूर-वार्ता और ग्रामोफ़ोन आदि का आविष्कारक।

२. जेम्स वाट।

५. हिन्दू-मुसलमान कैदियों के लिए धर्मोपदेश

आजकल पश्चिमी देशों में सभी जगह कैदियों को धार्मिक शिक्षा देने का रिवाज देखा जाता है। इसलिए जोहानिसवर्ग की जेल में कैदियों के लिए विशेष गिरजाघर है। यह गिरजाघर ईसाइयों के लिए है। वहां केवल गोरे कैदियों को ही जाने दिया जाता है। मैंने श्री फोर्तोएन के लिए तथा अपने लिए विशेष रूप से माँग की, किन्तु गवर्नर ने कहा कि उस गिरजाघर में केवल गोरे ईसाई कैदी ही जा सकते हैं। प्रत्येक रविवार को इस गिरजाघर में गोरे कैदी जाते हैं और वहाँ अलग-अलग पादरी आकर धर्म की शिक्षा देते हैं। वतनियों के लिए भी विशेष अनुमति लेकर कुछ पादरी आया करते हैं। वतनियों के लिए देवालय नहीं हैं। अतएव वे जेल के मैदान में इकट्ठे होते हैं। यहूदियों के लिए उनके पुरोहित आते हैं।

किन्तु हिन्दू और मुसलमानों के लिए वैसा कुछ भी नहीं है। वास्तव में भारतीय कैदी अधिक नहीं होते, फिर भी उनके धर्म के (शिक्षण) के लिए जेल में कोई व्यवस्था नहीं है, इससे भारतीय समाज की हीनता सूचित होती है। इस विपय में दोनों समाजों के नेताओं को, दोनों धर्मों के शिक्षण के प्रवन्ध का विचार, एक कैदी हो तो भी, करना चाहिए। इस काम के लिए मौलवी तथा हिन्दू-धर्मोपदेशक स्वच्छ हृदयवाले होने चाहिए, नहीं तो शिक्षण कंटक वन सकता है।

—गुजराती से। इं० ओ०, २८।३।१९०८]

६. देशप्रेम और धर्म

मैं देश-प्रेम को अपने धर्म का ही एक भाग मानता हूँ। उसमें सारा धर्म नहीं आता, यह वात सही है। लेकिन देश-प्रेम के विना धर्म का पालन पूरा हुआ नहीं कहा जा सकता। धर्म के पालन में स्त्री-पुत्र आदि का वियोग सहन करना पड़े, तो वह भी करना चाहिए। (प्रसंगवश) उन्हें खो देने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। यही नहीं कि इसमें कोई निर्दयता की वात नहीं है, वल्कि यही हमारा कर्त्तव्य है।

—गुजराती। इं० ओ०, ३०।१।१९०९]

७. मेरा धर्म

राजद्रोह से दूर रहना मेरे धर्म का अंग है।

— लार्ड एम्टहिल को लिखे पत्र से। लन्दन, २९।७।१९०९]

८. अपने धर्म की रक्षा

यदि मैं स्वयं अपने धर्म की रक्षा के योग्य न होऊं तो दूसरे धर्म का अनुयायी उसकी रक्षा कैसे करेगा ?

—गुजराती। स्वामी शंकरानन्द को लिखे पत्र से। लन्दन, ३०।८।१९०९]

९. धर्महीन सभ्यता

सभ्यता के हिमायती साफ़ कहते हैं कि उनका काम लोगों को धर्म सिखाना नहीं है; कुछ लोग मानते हैं कि धर्म तो ढोंग है। अन्य कुछ लोग धर्म का दम्भ करते हैं, नीति की भी बात करते हैं। फिर भी मैं बीस वर्ष के अनुभव के आधार पर कहता हूँ कि नीति के नाम पर अनीति सिखाई जाती है।...

यह सभ्यता तो अधर्म है और यह युरोप में इस सीमा तक फैल गई है कि वहाँ के लोग अर्द्धविक्षिप्त दिखाई देते हैं। उनमें सच्ची शक्ति नहीं है; अपनी शक्ति के नशे के बल पर कायम रहते हैं। वे एकान्त में नहीं बैठ सकते। स्त्रियों को, जिन्हें घर की रानियाँ होना चाहिए, गलियों में भटकना पड़ता है, या मजदूरी के लिए जाना पड़ता है। इंग्लैण्ड में ही चालीस लाख रंक अबलाएं पेट के लिए कठोर मजदूरी करती हैं और इस कारण इस समय सफ्रेजेट (मताधिकार) का अन्दोलन चल रहा है।

यदि हम धैर्यपूर्वक सोचें तो समझ में आयगा कि यह ऐसी सभ्यता है कि इसकी लपेट में पड़े हुए लोग अपनी ही सुलगाई अग्नि में जल मरेंगे। पैग़म्बर मुहम्मद की शिक्षा के अनुसार इसे शैतानी राज्य कहा जा सकता है हिन्दू-धर्म इसे घोर कलियुग कहता है।...

—हिन्द स्वराज्य, अध्याय ६ सभ्यता। इं० ओ०, ११।१२।१९०९]

१०. बुद्धि का उपयोग

मनुष्य की सीमा ईश्वर ने उसकी शारीरिक रचना से ही बाँध दी, तो मनुष्य ने उस सीमा का उल्लंघन करने के उपाय खोज निकाले। मनुष्य को बुद्धि इसलिए दी गई है कि वह उससे ईश्वर को पहिचाने, परन्तु मनुष्य ने उसका उपयोग उसे भूलने में किया।

—हिन्द स्वराज्य, अध्याय १०, भारत की दशा, हिन्दू मुसलमान। इं० ओ० ११।१२।१९०९]

११. ब्रह्मचर्य का मार्ग

[श्री मगनलाल गांधी को लिखे पत्र से]

ब्रह्मचर्य का व्रत लेने के पहिले अच्छी तरह विचार कर लेना। सन्तोक[1] की सम्मति लोगे तो और भी अच्छा होगा। कवि[2] ने अपनी रचनाओं में ब्रह्मचर्य-पालन की जो शर्त्तें बताई हैं उनमें से कुछ ग़ौर करने योग्य हैं। यह एक अत्यन्त कठिन व्रत है। (इसका पालन करने में) शिव जी भी भटक गये। इसलिए यदि हम इसका निरन्तर ध्यान रखें तो पार उतर सकते हैं। लेकिन जब मैं एक विवाहित व्यक्ति द्वारा अपनी ही पत्नी के सम्बन्ध में ऐसा व्रत लेने की बात सोचता हूँ और विशेष कर अपने सम्बन्ध में, तो मेरा दिमाग़ काम नहीं करता। इस सम्बन्ध में मेरा भाग्य प्रबल रहा है। मुझे मजबूरन बा से अलग रहना पड़ता है; इसी कारण मैं बहुत बच गया हूँ। यदि हम सन् १९०० से आज तक साथ-साथ रहते होते तो मैं बच पाया होता, यह कह सकना कठिन है। मेरी इच्छा है कि मेरे अनुभव का पूरा लाभ तुमको मिले।

—गुरुवार, २०।१।१९१०। सं० गां० वां०, खण्ड १०, पृ० १३९]

१२. भक्ति की परीक्षा

...इस कठिन समय में भक्ति को प्रधान पद मिला है। भक्ति करने के लिए भी यम-नियम आदि तो चाहिए ही। वे हमारी शिक्षा के मूल हैं। उनके बिना सारी चतुराई व्यर्थ है। मैं तो इसका अनुभव क्षण-क्षण कर रहा हूँ।

—श्री मगनलाल गांधी को लिखे पत्र से। टाल्सटाय फार्म, कार्तिक सुदी २, ४।११।१९१०। सं० गां० वां०, खण्ड १०, पृ० ३६९]

१३. पुण्य-भूमि या अधर्मभूमि

हमने भारत को, जो पुण्य-भूमि है, धर्म का ग़लत अर्थ लगाकर या धर्म को पूर्णतया छोड़कर, अधर्म-भूमि बना दिया है।

—श्री मगनलाल गांधी को लिखे पत्र से। टाल्सटाय फार्म कार्तिक सुदी १३, १५।११।१९१०। सं० गां० वां०, खण्ड १०, पृ० ३८१]

---

१. श्री मगनलाल गांधी की पत्नी।

२. श्रीमद् राजचन्द्र।

१४. धर्मक्षेत्र भारत

भारत धर्म-क्षेत्र है, यह बात सही है। किन्तु यहाँ पाप-क्षेत्र भी है। इस प्रकार दूसरे स्थानों में पाप-क्षेत्र होते हुए भी कहीं-कहीं धर्म-क्षेत्र रूपी हरियाली भी देखने में आती है।

—श्री मगनलाल गांधी को लिखे पत्र से। सोमवार की रात, १७।७।१९११।
सं० गां० वां०, खण्ड ११, पृष्ठ १२३]

१५. श्रीकृष्ण

[श्री मगनलाल गांधी को लिखे पत्र से]

श्रीकृष्ण को तो मैं परमात्मा के रूप में देखता हूँ। वे अर्जुन के सारथी और सुदामा के मित्र थे तथा नरसिंह मेहता के रणछोड़ जी। उनके सम्बन्ध में टीका करने का स्वप्न में भी विचार नहीं था। मेरे पत्र के कारण तुम्हारे मन में जिस सीमा तक यह भाव आया उस सीमा तक मैं पाप का भागी हूँ। इस विषय में मुझसे एक अक्षर भी कैसे छूट गया, यह सोचकर मैं थर्रा जाता हूँ।

—भाद्रपद बदी १, ९।९।१९११। सं० गां० वां०, खण्ड ११, पृ० १५१]

१६. एक ही धर्म आवश्यक नहीं

[श्री जमनादास गांधी को लिखे गये पत्र से]

सारी दुनिया के लिए एक ही धर्म न तो कभी हो सकता है और न उसकी आवश्यकता है। मुझे तो ऐसा ही लगता है।

—वैशाख बदी १०, ३०।५।१९१३। सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृ० ९०]

१७. भक्ति, ज्ञान और धर्म-साधना

ईश्वर है भी और नहीं भी। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से वह नहीं है। जिस आत्मा को मोक्ष प्राप्त हो गया है, वह ईश्वर है और इसलिए उसे सम्पूर्ण ज्ञान है। भक्ति का सच्चा अर्थ तो आत्मा की खोज है। जिस समय आत्मा अपने को पहिचान लेती है, उस समय भक्ति का लय हो जाता है और उसके स्थान पर ज्ञान प्रकट होता है।

नरसी[1] आदि भक्तों ने आत्मा की ऐसी ही भक्ति-पूर्ण खोज की थी। कृष्ण, राम आदि अवतार थे किन्तु यदि हमारे पुण्य भी उसी कोटि के हों, तो हम भी उन–जैसे हो सकते हैं। जो आत्मा मोक्ष-प्राप्ति की सीमा पर पहुँच गई है, वह अवतार रूप है। किन्तु यह मानने का कोई कारण नहीं है कि उसने अपने उसी जन्म में सम्पूर्णता प्राप्त कर ली है।

कृष्ण, राम, वुद्ध, ईसा आदि में वड़े कौन हैं, यह कहना कठिन है। हर एक का कार्य भिन्न था और हरएक ने अपना कार्य एक भिन्न काल में और भिन्न परि-स्थितियों में किया। केवल चरित्र का विचार करें तो शायद वुद्ध इन सवसे वड़े थे। लेकिन कैसे कहें ? उनका वर्णन भक्तों ने अपनी-अपनी वुद्धि के अनुसार किया है। कृष्ण को वैष्णवों ने पूरी कलाओं से युक्त माना है और मानना ही चाहिए। उनके विना अनन्य भक्ति नहीं उपजती। ईसा के विपय में भी ईसाई लोग ऐसा ही मानते हैं। हिन्दुस्तान में (अवतारों में) कृष्ण अन्तिम थे। इसलिए उनकी विशेप महिमा मानी गई।

ईश्वर नहीं है, ऐसा कहने वाले लोगों के मार्ग भ्रष्ट हो जाने का भय है क्योंकि तव उन्हें यह भी कहना पड़ेगा कि आत्मा नहीं है। अवतार की आवश्यकता है और हमेशा रहेगी। ऐसा माना जाता है कि जव लोगों में वहुत निराशा फैल जाती है और अनीति का प्रसार होता है, तव अवतार होता है। दुष्ट लोगों के समाज में सर्वसामान्य नीति का पालन करनेवाले थोड़े-से लोग अपने लिए (भगवान से) सहायता की याचना करते हैं। ऐसे समय में नीति का पालन करनेवाला ऐसा कोई वलवान व्यक्ति , जो दुष्टों से दवता नहीं, वल्कि दुष्ट ही जिससे दवते हैं, अपने जीवन-काल में या मृत्यु के वाद अवतार-रूप मान लिया जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने को जन्मना माने, यह वात अधिकांशतः सम्भव नहीं मालूम देती।

धर्मों की तुलना करना अनावश्यक है। हमें अपने धर्म को प्रौढ़ मानकर दूसरे धर्मों को समझने की कोशिश करनी चाहिए। साधारणतः धर्मों की तुलना करने में दया-धर्म को मापदण्ड माना जा सकता है। जिस धर्म में दया को अधिक स्थान दिया गया है, वहाँ धर्म अधिक है। दया धर्म को मूल है—धर्म की वात सवको सम-झाने के लिए यह पहिला सूत्र है। ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या यह दूसरा सूत्र है। जो सवको भा जाय, ऐसा एक भी सूत्र मिलना कठिन है। किन्तु ऐसा लगता है कि आत्मा की शोध में लगे व्यक्ति को उचित समय पर ऐसा कोई उपयुक्त वचन सहज ही मिल जाता है। . . .

---

१. गुजरात के सन्त कवि नरसी मेहता।

सच पूछिए तो जितने मनुष्य हैं उतने ही धर्म हैं। जबतक मनुष्यों के मन में भेद हैं, तबतक धर्म भिन्न-भिन्न रहेंगे ही। जो व्यक्ति अपनी और दूसरे की आत्मा में ऐक्य देखता है, वह विभिन्न धर्मों में भी ऐक्य देखेगा।

आत्मा जब शरीर के बन्धन से मुक्त हो जाय तब कहा जा सकता है कि उसे मोक्ष प्राप्त हो गया। मोक्ष की स्थिति कैसी होती है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह इन्द्रियगम्य नहीं है। वह केवल अनुभव की जा सकती है। प्रेत आदि योनियों का अर्थ है दुष्ट योनियां और जो दुष्ट कार्य करते हैं, वे उन योनियों में जाते हैं।

—गुजराती। महात्मा गांधीजीना पत्रो। ज्येष्ठ वदी १४, १९६९, २।७।१९१३ सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृष्ठ १२१—१२२]

- ईश्वर है भी और नहीं भी।
- जिस आत्मा को मोक्ष प्राप्त हो गया है वह ईश्वर है।
- भक्ति का सच्चा अर्थ. . .आत्मा की खोज है।
- जिस समय आत्मा अपने को पहिचान लेती है, उस समय भक्ति का लोप हो जाता है।
- धर्मों की तुलना करने में दया-धर्म को मापदण्ड माना जा सकता है।
- जितने मनुष्य हैं, उतने ही धर्म हैं।
- मोक्ष की स्थिति. . .इन्द्रियगम्य नहीं है।

१८. धर्म और राजनीति

भारतीय राजनीति को धर्म से अलग नहीं कर सकते।

—अंग्रेजी। रैंड डेली मेल, १७।७।१९१४। सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृ० ४८९]

१९. हिन्दू-धर्म और ईसाई मिशनरी

चूंकि वह (हिन्दू-धर्म) धर्मान्तरण की नीति में विश्वास नहीं करता इसलिए वह सबसे ज्यादा सहिष्णु है, और आज भी वह अपना विस्तार करने में उतना ही समर्थ है, जितना भूतकाल में था। कहा जाता है कि उसने बौद्ध-धर्म को खदेड़कर भारत से बाहर कर दिया। यह ठीक नहीं है। उसने उसे आत्मसात् कर लिया। स्वदेशी की भावना के कारण हिन्दू अपने धर्म का परिवर्तन करने से इन्कार करता

है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानता है। कारण यह है कि वह जानता है कि उसमें नये सुधारों का समावेश करके उसे पूर्ण बनाया जा सकता है। और मैंने हिन्दुत्व के विषय में जो-कुछ कहा है, वह मेरे विचार से संसार के सभी बड़े-बड़े धर्मों पर लागू है। हाँ, हिन्दूधर्म के बारे में यह विशेष रूप से सही है। यहाँ वह बात आ जाती है जिसे कहने की मैं कोशिश कर रहा हूँ। भारत में काम करनेवाली बड़ी-बड़ी मिशनरी संस्थाओं ने भारत के लिए बहुत कुछ किया है और अब भी कर रही हैं, और भारत इसके लिए उनका ऋणी है। किन्तु मैंने जो कुछ कहा है, उसमें यदि कोई सार हो तो क्या यह ज्यादा अच्छा न होगा कि वे परोपकार का अपना काम जारी रखते हुए धर्मान्तरण का काम बन्द कर दें ? क्या ईसाइयत की भावना के पोषण की दृष्टि से यह अधिक अच्छी बात न होगी ? मैं आशा करता हूँ कि आप मेरे इस कथन को अशिष्टता नहीं मानेंगे। मैंने हृदयपूर्वक और विनम्रता से यह सुझाव सामने रखा है। इसके सिवा आप मेरी बात ध्यान से सुनें, इसका मुझे कुछ अधिकार भी है। मैंने बाइबिल को समझने का प्रयत्न किया है। मैं उसे अपने धर्मशास्त्रों में गिनता हूँ। मेरे हृदय पर जितना अधिकार 'भगवद्गीता' का है, लगभग उतना ही अधिकार 'सरमन आन द माउंट' का भी है। "लीड, काइंडली लाइट" तथा अन्य अनेक प्रेरणा-स्फूर्ति प्रार्थना-गीत मैं किसी ईसाई धर्मावलम्बी से कम भक्ति के साथ नहीं गाता हूँ। मैं विभिन्न सम्प्रदायों के प्रसिद्ध ईसाई मिशनरियों के सम्पर्क में आया हूँ और उनसे प्रभावित भी हुआ हूँ। उनमें से अनेक आज भी मेरे मित्र हैं। इसलिए आप कदाचित् स्वीकार करेंगे कि मैंने यह सुझाव किसी पूर्वग्रह-ग्रस्त हिन्दू की तरह नहीं दिया है, बल्कि धर्म के एक ऐसे विनम्र और निष्पक्ष विद्यार्थी होने के नाते दिया है, जिसका ईसाइयत की ओर बड़ा झुकाव है। क्या यह सम्भव नहीं है कि 'सारी दुनिया में जाओ'—इस सन्देश की वास्तविक भावना को समझे बिना उसका संकीर्ण अर्थ किया गया है ? मैं अपने अनुभव से कहता हूँ कि इससे कोई इन्कार नहीं करेगा कि ज्यादातर धर्म-परिवर्तन का तो धर्म से नाम-मात्र का ही सम्बन्ध होता है। कुछ तो हृदय की बजाय पेट की खातिर इस ओर प्रेरित होते हैं। और हर धर्मान्तरण के कारण कुछ-न-कुछ कटुता पैदा होती ही है, जो मेरी समझ में टाली जा सकती है। मैं फिर अनुभव के बल पर कहता हूँ कि जिसे नया जन्म (न्यू बर्थ) कहा जाता है, हृदय-परिवर्तन की वह घटना हर महान धर्म में सम्भव है। मैं जानता हूँ कि मैं एक बड़ी नाजुक-सी बात कह रहा हूँ। फिर भी मैं अपने भाषण के इस भाग के अन्त में हिम्मत के साथ यह कहना चाहता हूँ कि इस समय युरोप में जो भयानक काण्ड चल रहा है, उससे तो यही प्रकट होता है कि शान्ति के पुत्र,

नजरथ के ईशु के सन्देश पर युरोप में लगभग किसी ने कान नहीं दिया और सम्भव है कि अब उस पर पूर्व से प्रकाश डालना पड़े।

मैंने धार्मिक बातों में आपसे सहायता की प्रार्थना की है और एक विशिष्ट अर्थ में आप ही यह सहायता दे सकते हैं। किन्तु मैं आपसे राजनीति क्षेत्र में भी सहयोग की प्रार्थना करता हूँ। मैं यह नहीं मानता कि धर्म का राजनीति से कोई वास्ता नहीं है। धर्म-रहित राजनीति शव के समान है, जिसे दफना देना ही उचित है। सच तो यह है कि आप अपने तरीके से चुपचाप राजनीति को काफी प्रभावित करते हैं। और मुझे ऐसा लगता है कि यदि राजनीति को धर्म से विच्छिन्न कर देने का प्रयत्न नहीं किया गया होता, जैसा कि आज भी किया जा रहा है, तो जिस हद तक राजनीति का पतन हुआ दिखाई पड़ रहा है, वह उस हद तक न गिरती।

—मद्रास में दिये गये भाषण से, १४।२।१९१६। अंग्रेजी। हिन्दू २८।२।१९१६। सं० गां० वां०, खण्ड १३, पृ० २२२–२३]

● धर्म-रहित राजनीति शव के समान है।

२०. ईश्वर से डरें

ईश्वर से डरो, मनुष्य से नहीं, फिर वह मनुष्य चाहे राजा हो, चाहे पुरोहित, चाहे मौलवी।

— २६।२।१९१६। अंग्रेजी से। हिन्दू २९।२।१९१६]

२१. भारत : धर्म-भूमि

भारतवर्ष प्रधानतः धर्म-भूमि है। उसे धर्म-भूमि बनाये रखना भारतवासियों का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है। उन्हें अपनी आत्मा से, ईश्वर से, बल ग्रहण करना चाहिए।

— इलाहाबाद में दिये गये भाषण से, २३।१२।१९१६। लीडर, २७।१२।१९१६। महात्मा गांधी : हिज लाइफ़, राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज़]

२२. ईश्वर पर विश्वास

[सुश्री एस्थर फेरिंग को लिखे पत्र से]

मेरा काम अत्यन्त कठिन है। लेकिन मेरा भरोसा ईश्वर में है। हम तो कर्म ही कर सकते हैं, उसके वाद हमें कोई चिन्ता नहीं रहती।

—मोतीहारी, चम्पारन, १५।४।१९१७। अंग्रेजी से। 'माई डियर चाइल्ड।' सं० गां० वां० खण्ड १३, पृ० ३६६]

२३. राम और रावण

रामचन्द्र और रावण, आत्मा और अनात्मा-सूचक संज्ञाएँ हैं। रावण की अतुलित शारीरिक शक्ति रामचन्द्र की आत्मिक शक्ति के निकट किसी गिनती में ही नहीं है। रावण के दस मस्तक रामचन्द्र के सामने तृणवत् हैं। रामचन्द्र योगी पुरुष हैं, वे संयमी हैं, निराभिमानी हैं, 'समभाव सदा वैभव विपदा' तथा 'नहिं राग न लोभ न मान मदा' इत्यादि उनके गुण हैं।

—२।९।१९१७ के लगभग। सं० गां० वां० खण्ड १३, पृ० ५३१]

२४. राजनीतिक प्रश्न और धार्मिक वृत्ति

धार्मिक वृत्ति से हम राजनीतिक सवालों को जिस तरह हल कर सकते हैं उस तरह धर्मवृत्ति को छोड़कर नहीं कर सकते; धर्मवृत्ति को छोड़कर हम जो फल प्राप्त करेंगे वह और ढंग का होगा।

—प्रथम गुजरात राजनीतिक परिषद् में दिये गये भाषण से। गोधरा, ३।११। १९१७। गुजराती। 'महात्मा गांधीनी विचारसृष्टि।' सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० ६४]

२५. गोरक्षा-धर्म

मैंने यह वताया था कि जवतक हिन्दू लोग स्वयं ही, अपने हिन्दू मालिकों के हाथों भयंकर दुर्व्यवहार झेलते हुए हजारों गाय-वैलों को तिल-तिल कर मारने और कलकत्ते की अमानवीय गोशालाओं की गौओं से प्राप्त दूध का पान करने में भागीदार हैं, और जवतक वे शान्तिपूर्वक भारत के युरोपीय तथा ईसाई निवासियों

को गो-मांस उपलब्ध कराने के लिए भारत के कसाईखानों में हजारों गायों का वध होते देखते रहते हैं, तबतक उन्हें अपने मुसलमान भाइयों—द्वारा धार्मिक विश्वास के कारण गोकुशी पर क्षुब्ध होने का कोई अधिकार नहीं है। मैंने यह कहा था कि गौओं के लिए पूर्ण संरक्षण प्राप्त करने का पहिला उपाय यह है कि हिन्दू लोग स्वयं हिन्दुओं के द्वारा गौओं के साथ किये जाने वाले दुर्व्यवहार से उन्हें पूरी मुक्ति दिलाकर अपने-आपको सुधारें, और तब युरोपीयों से भारत में रहते हुए गोमांस न खाने या कम-से-कम उसे भारत के बाहर से मँगाने का अनुरोध करें। मैंने यह भी कहा था कि यदि हमें गोरक्षा के प्रचार को धार्मिक विश्वास पर आधारित करना है, तो गौओं की जान बचाने के लिए मुसलमानों के वध को किसी प्रकार भी सहन नहीं किया जा सकता, और मुसलमानों तथा ईसाइयों से भी गौओं के लिए पूर्ण संरक्षण प्राप्त करने का पहिला उपाय यह है कि हिन्दू लोग स्वयं हिन्दुओं के द्वारा गौओं के साथ किये जाने वाले दुर्व्यवहार से उन्हें पूरी मुक्ति दिलाकर अपने आपको सुधारें, और तब युरोपीयों से भारत में रहते हुए गोमांस न खाने या कम से कम उसे भारत के बाहर से मँगाने का अनुरोध करें। और मुसलमानों तथा ईसाइयों से भी गौओं के लिए संरक्षण प्राप्त करने का धार्मिक तरीका यह है कि वे उनकी करुणा की भावना को जगाने के लिए खुशी-खुशी स्वयं अपना बलिदान करने के लिए तैयार हो जायं। चाहे उचित हो या अनुचित गो-पूजा हिन्दुओं के स्वभाव में रम गई है, और मेरी समझ में इस प्रश्न पर हिन्दुओं और ईसाइयों तथा मुसलमानों के बीच कट्टरतम तथा घोर हिंसापूर्ण संघर्ष से बचने का इसके सिवा और कोई रास्ता दिखाई नहीं देता कि अहिंसा-धर्म को पूर्ण रूप से स्वीकार करके उस पर आचरण करें। और इसी धर्म के प्रचार को मुझे स्वेच्छया अपने जीवन का नम्र उद्देश्य बनाना है। सत्य से मुँह नहीं मोड़ना है। यह नहीं मान लेना चाहिए कि युरोपीयों के लिए जो गो-वध हो रहा है, उसके बारे में हिन्दू कुछ भी महसूस नहीं करते। मैं जानता हूँ कि आज उनका क्रोध उनके मन पर अंग्रेजी शासन का जो रोब छाया है, उसके कारण दबा हुआ है। किन्तु सारे भारत में कोई भी हिन्दू ऐसा नहीं है जो एक दिन अपने देश को गो-वध से मुक्ति दिलाने की आशा नहीं लगाये हुए है। किन्तु, हिन्दूधर्म को मैं जिस रूप में जानता हूँ उसकी प्रवृत्ति के प्रतिकूल वह लोगों को —चाहे वे ईसाई हों या मुसलमान—तलवार के जोर पर गो-वध बन्द करने के लिए मजबूर करने को बुरा नहीं समझता। मैं ऐसे अनर्थ को रोकने के लिए अपनी विनम्र भूमिका निभाना चाहता हूँ, और मैं श्री इर्विन को धन्यवाद देना चाहता हूँ कि उन्होंने मुझे आपके पाठकों को तथा स्वयं श्री इर्विन को भी अपने कठिन प्रयत्न से सहायता देने के लिए आमन्त्रित करने

का अवसर दिया। हो सकता है, यह प्रयत्न गोवध रोकने में सफल न हो। किन्तु कोई कारण नहीं कि धैर्यपूर्वक उद्योगरत रहने तथा उसके अनुसार निरन्तर आचरण करते रहने पर लोगों को अपने साथी पशु को बचाने के लिए साथी मानव को मारने के अपराध में निहित भूल, बेवकूफी और अमानवीयता का अनुभव कराने में भी सफलता न मिले।

—मोतीहारी, १६।१।१९१८। अंग्रेजी से। स्टेट्समैन, १९।१।१९१८। सं० गां० वां० खण्ड १४, पृ० १३८-१३९]

● गो-पूजा हिन्दुओं के स्वभाव में रम गई है।

२६. धर्म और राजनीति

शुद्ध धर्म-मार्ग पर चलनेवाला कोई भी भारतवासी राजनीतिक कार्यों में भाग लिये बिना नहीं रह सकता। दूसरे शब्दों में कहें तो शुद्ध धर्ममार्गी लोक-सेवा को अपनाये बिना नहीं रह सकता। और राजतन्त्र के जाल में हम सब इतने अधिक जकड़ हुए हैं कि उसमें पड़े बिना लोकसेवा सम्भव नहीं है। जो किसान पुराने समय में राज्याधिकारी कौन है, यह जाने बिना ही अपना सरल जीवन निर्भयतापूर्वक बिता सकते थे, उनकी भी अब वैसी निराली स्थिति नहीं रह गई है। ऐसी दशा में उन्हें धर्माचरण के निर्णय में राजनीतिक परिस्थिति का विचार करना ही होगा। इस बड़ी बात को यदि हमारे साधु, ऋषि, मुनि, मौलवी और पादरी स्वीकार करें, तो जगह-जगह भारत-सेवक-समाज खड़ा हो जाय और हिन्दुस्तान में धर्मवृत्ति इतनी व्यापक बन जाय कि आज का अप्रिय और अरुचिकर मालूम होनेवाला राजतन्त्र शुद्ध हो जाय; हिन्दुस्तान में किसी समय जो धार्मिक साम्राज्य फैला हुआ था उसकी पुनः स्थापना हो जाय।...

—१९।२।१९१८ के पूर्व। गुजराती। 'गोपाल कृष्ण गोखलेना व्याख्यानो' खण्ड १। सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० १८९]

२७. शास्त्र

शास्त्र बुद्धि और नीति से परे नहीं हो सकते। यदि बुद्धि और नीति का त्याग कर दिया जाय तो किसी भी पाखण्ड का धर्म के नाम पर बचाव किया जा सकता है।

—नडियाद, चैत्र सुदी ७, १९७४, १७।४।१९१८। गुजराती। अन्त्यजस्तोत्र। सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० १२७]

२८. धार्मिक उपचार

[श्री एन० एम० समर्थ को लिखे पत्र से]

निश्चय ही धार्मिक उपचारों में मेरा विश्वास है। मैंने ज्यादातर इसी का आश्रय लिया है।

—२०।८।१९१८। अंग्रेजी से। सं० गां० वां०, खण्ड १५, पृ० ३०]

२९. ईश्वर का नियम

[श्री सी० एफ० ऐण्डरूज को लिखे गये पत्र से।]

...ईश्वर जिसे अपना साधन बनाना चाहता है, खासतौर पर जो किसी विरोध के बिना उसे अपना पथ-प्रदर्शन करने देता है, उसकी वह रक्षा भी करता ही है।

—१०।१।१९१९। अंग्रेजी से। सं० गां० वां०, खण्ड १५, पृ० ७५]

३०. वीरता और धर्म-रक्षा

वीरता के बिना अपने धर्म की रक्षा नहीं हो सकती।

—अहमदाबाद, १४।४।१९१९। सं० गां० वां०, खण्ड १५, पृ० २३०]

३१. धर्म एवं राजनीति

[श्री जी० एस० अरुण्डेल को लिखे पत्र से]

मेरा सुझाव राजनीतिक नहीं धार्मिक है और मैं राजनीति में इसलिए भाग लेता हूँ क्योंकि मैं अनुभव करता हूँ कि जीवन का कोई विभाग ऐसा नहीं है, जिसका धर्म से सम्बन्ध-विच्छेद किया जा सके।...

—लैबर्नमरोड, बम्बई, ४।८।१९१९। इं० इं०, ६।८।१९१९। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० ५।]

३२. धर्म-पालन

निस्सन्देह हमने धर्म त्याग दिया है किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में, इसकी स्थापना अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि अत्यधिक अभाव और कष्ट की स्थिति में मनुष्य का धर्म-पालन करना अत्यन्त कठिन है। कोई विरल आत्मा ही ऐसा कर सकती है। मैं ऐसे व्यक्ति को योगी कहता हूँ। सभी व्यक्ति योगी नहीं बन सकते। अतएव आत्मा की पवित्रता के लिए शरीर की पवित्रता भी आवश्यक है। पवित्र आत्मा केवल पवित्र शरीर में वास करती है।...

—पूना, ८।८।१९१९। मूल गुजराती। अंग्रेज़ी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० २०।]

- पवित्र आत्मा केवल पवित्र शरीर में वास करती है।

३३. शास्त्रों का कथन

प्रत्येक शास्त्र कहता है कि केवल हमारा अपना धर्म हमारी रक्षा कर सकता है।

—बम्बई, ७।९।१९१९, गुजराती से। गुजरात मित्र अणे गुजरात दर्पण, १४।९।१९१९। अंग्रेज़ी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० ११२।]

३४. भारत में धर्म

भारत में धर्म उदार भावना से साँस लेते हैं।

—२८।९।१९१९। मूल गुजराती। 'गुजराती', १२।१०।१९१९। अंग्रेज़ी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० १८८।]

३५. मुक्ति का मार्ग

स्वर्ग जाने के लिए आपको गीता, कुरान, और जेन्दअवेस्ता पढ़ना पड़ेगा।

—दिल्ली, २४।११।१९१९। 'बाम्बे क्रानिकल', ६।१२।१९१९। अंग्रेज़ी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० ३११।]

३६. ईसाई आश्रमवासी को धर्म-निर्देश

[सुश्री एस्थर फेरिंग को लिखे गये पत्र से]

जैसा कि मैं पहिले ही तुमसे कह चुका हूँ, तुम आश्रम में ईसाइयत छोड़ने नहीं वल्कि उसे पूर्ण करने आई हो।

यदि तुम प्रार्थना-सभाओं में प्रभु की उपस्थिति का अनुभव नहीं करती, तो स्मरण करो कि राम और कृष्ण के नाम का वही महत्व है जैसा तुम्हारे लिए ईसा का है।

तुम्हें दृढ़ निश्चय के साथ इन सभाओं में सम्मिलित नहीं होना चाहिए और अपने निजी कक्ष में प्रार्थना करनी चाहिए। प्रार्थना-सभाओं का उद्देश्य किसी को वलात् एक स्थिति में लाना नहीं है। वे स्वतन्त्र स्त्री-पुरुषों के लिए हैं। बच्चों को इनमें अवश्य जाना चाहिए। जो केवल आलस्य के कारण इससे कतराते हैं उन्हें इसमें अवश्य शामिल होना चाहिए। लेकिन तुम्हारी अनुपस्थिति को कोई ग़लत नहीं समझ सकता। इसलिए तुम कृपया वही करो जो तुम्हें महत् शान्ति दे सके। यदि आश्रम तुम्हें दिनानुदिन प्रभु की अधिकाधिक अनुभूति करने में समर्थ नहीं वनाता, तो वह कुछ नहीं है। यदि तुम रविवार या अन्य दिनों को चर्च जाना चाहो तो तुम अवश्य वहाँ जा सकती हो।

सत्य समस्त धर्मों में समान है, यद्यपि किरण-वक्रता के कारण कुछ देर के लिए यह विभिन्न रंग का लगता है, जिस प्रकार घनप्रिज्म पर प्रकाश पड़ने (इन्द्र-धनुष) से होता है।

— लाहौर, ७।१२।१९१९। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० ३३३]

३७. सत्याचरण धर्म है

यदि सत्य का आचरण लोगों की भावनाओं को ठेस पहुँचाता है, तो यह धर्म है कि उन्हें ठेस पहुँचाई जाय। मैं या कोई अन्य इस धर्म से विमुख कैसे हो सकते हैं?

— मूल गुजराती। न० जी०, २५।१।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० ५०५।]

३८. बुद्धिहीन धार्मिक सिद्धान्त

मैं उन धार्मिक सिद्धान्तों को अस्वीकार करता हूँ जो बुद्धि को अपील नहीं करते और जो नैतिकता के विरोधी हैं। मैं उस धार्मिक भावना को जो तर्कसंगत नहीं हैं, अनैतिक न होने पर सहन कर लेता हूँ।

—यं० इं०, २१।७।१९२०। मूल अंग्रेजी से अनूदित।]

३९. गोरक्षा का उपाय

['भारतमित्र' के प्रतिनिधि और गांधी जी के बीच हुआ प्रश्नोत्तर।—सम्पा०]

प्रश्न—गोरक्षा इस समय कैसे हो सकती है और गोरक्षा-धर्म पालन करने के लिए हिन्दुओं को क्या करना चाहिए ?

उत्तर—गोरक्षा करने के लिए मुसलमान भाइयों से मुहव्वत करनी चाहिए और मुहव्वत तभी हो सकती है कि जब जिसके साथ हम मुहव्वत करना चाहते हैं उसके लिए कुर्वानी करें। और कुर्वानी का अर्थ यह है कि जिसके लिए हम कुर्वानी करते हैं उससे कुछ नहीं माँगना। अगरचे हम वदला नहीं माँगते हैं उसका अर्थ यह नहीं है कि हमको वदला नहीं मिलेगा। लेकिन उस वदले की आशा हम इंसान के पास से नहीं रखते, ईश्वर से रखते हैं। इसको ही मैं निष्काम कर्म कहता हूँ। इसी सवव से मैं कुछ भी शर्त्त न करता हुआ मुसलमानों को मदद देता हूँ। इस तरह से मदद देना निष्काम कर्म करना है । इसमें एक दूसरी शर्त्त का भी स्वीकार आ जाता है कि जैसा हमारा ध्येय, वैसे ही हमारे साधन पवित्र होने चाहिए। मुसलमानों का ध्येय शान्तियुक्त असहयोग पवित्र है। इसलिए हम अन्तकाल तक उनका साथ दे सकते हैं। और स्वार्थदृष्टि से भी उनका सहाय होना हमारा कर्त्तव्य है।

प्रश्न—गो-वंश पर जो इस समय संकट है वह हमारे धर्म पर संकट है और इस धर्म-संकट में हमारा क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—गोरक्षा का जो अर्थ आजकल हम करते हैं उसको ही सोचकर मैंने उत्तर दिया है, क्योंकि मुसलमानों के हाथ से गौओं को वचाना इसी को प्रायः हमने अपना ध्येय मान लिया है। मेरी दृष्टि से तो हिन्दू ही अत्याचार कर रहे हैं। हिन्दू के हाथों गो की और गो के वंश की जितनी हत्या हो रही है उतनी दूसरों से नहीं होती और मेरा मन्तव्य है कि जवतक हिन्दुओं ने गो का पालन करना शुरू नहीं किया है तवतक मैं हिन्दुस्तान की सच्ची उन्नति को असम्भवित समझता

हूँ। और हिन्दू के ही हाथ से गो को बचाने में हम किससे सहायता की आशा रख सकते हैं ? हिन्दू ही गाय अमेरिका भेज रहे हैं। हिन्दू ही गाय और उसके वंश को पूरा खाना नहीं देते हैं। हिन्दू ही फूंके से जितना दूध मिल सकता है उतना दूध खून से भी मिश्रित खींच लेते हैं। हिन्दू ही बैल से असह्य बोझ खिंचवाते हैं और जब बैल नहीं चलता तब हिन्दू ही उनके शरीर में कीलें भोंकते हैं। इन सब अत्याचारों का मैं साक्षी हूँ, यह कहते हुए भी मुझको शर्म आती है। यदि हम हिन्दू धर्म की रक्षा करना चाहते हैं तो हमारा प्रथम कर्त्तव्य अपने ही सहधर्मियों से गो की रक्षा करना है। उसके पश्चात् या उसके साथ-साथ अंग्रेजों से गो की रक्षा करनी चाहिए। जबतक अंग्रेज अमलदार और वायसराय भी गोमांस खाते हैं तबतक गो की रक्षा के नाम से मुसलमानों पर टूट पड़ना मैं द्विगुणित पाप समझता हूँ।

प्रश्न—इसका कार्यतः प्रतिकार करने का ठीक उपाय क्या है ?

उत्तर—पहली बात इसमें यही है कि हमारी दृष्टि गोरक्षा की तरफ पूरे तौर पर खिंच जानी चाहिए और जब हम इसी बात को अपना प्रथम कर्त्तव्य मानेंगे तब हमको क्रिया करने का ढंग भी मालूम हो जायगा।

— १०।९।१९२०, महात्मा गांधी संकलन]

४०. स्वतन्त्रता, ब्रिटिश शासन और धर्म

...जिसने स्वतन्त्रता खो दी उसने धर्म-सहित सभी चीजें खो दीं। मुझे विश्वास नहीं है कि ब्रिटिश शासन में हम अपने धर्म का पालन पूर्ण स्वतन्त्रता से कर सकते हैं और मुसलमानों के शासन में भी ऐसा नहीं था। मैं जानता हूँ कि मुस्लिम शासन दमनकारी था और वह अभिमानपूर्ण था। किन्तु ब्रिटिश शासन ईश्वर का इन्कार करता है। यह धर्म के प्रति सम्मान नहीं रखता। यह हमारे धर्म के अस्तित्व के लिए खतरा है।

— अहमदाबाद, २९।९।१९२०। गुजराती। न० जी०, ३।१०।१९२०। अंग्रेज़ी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १८, पृ० ३१४]

४१. धर्म की मूलभूत आवश्यकताएँ

सत्य और अहिंसा का आचरण धर्म की प्रारम्भिक आवश्यकताएँ हैं। यहाँ तक कि पारिवारिक जीवन स्वीकार करनेवालों के लिए भी ब्रह्मचर्य धर्म है। ब्रह्मचर्य पाँचों इन्द्रियों —श्रवण, दृश्य, गन्ध, स्वाद और स्पर्श के नियन्त्रण में है।

यह धर्म केवल संन्यासियों के लिए नहीं, बल्कि सभी सद्गृहस्थों के लिए है। वह व्यक्ति जो इन सामान्य नियमों का पालन नहीं करता वैसा नहीं है। अतएव यदि हम ठीक तरह से रहना चाहते हैं, स्वतन्त्र रहना चाहते हैं और किसी के गुलाम नहीं होना चाहते तो चाहे हम हिन्दू समाज में हों या मुसलमान समाज में, यह हमारा पहिला कर्त्तव्य है।

—डाकोर, २७।१०।१९२०। गुजराती। न० जी०, ३।११।१९२०। अंग्रेज़ी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १८, पृ० ३८५]

४२. धर्म बनाम देश

मैं धर्म के लिए देश का भी वलिदान करने को प्रस्तुत रहूँगा; मेरी देशभक्ति मेरे धर्म के प्रति लगाव के अन्तर्गत है। इसलिए यदि देश-हित धर्म-हित से टकराता है तो मैं पहिले के वलिदान के लिए प्रस्तुत रहूँगा।

—मूल गुजराती। न० जी०, १९।१२।१९२०। अंग्रेज़ी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृ० १४२]

४३. धर्म-राज्य की स्थापना

हर एक को यह अनुभव करना चाहिए कि पश्चिम की नकल करके हम भारत में धर्मराज्य की स्थापना नहीं कर सकते। पश्चिम में आचरित आत्मनियन्त्रण सामयिक आवश्यकता या नीति पर आधारित है। पूर्व में आत्मनियन्त्रण स्वयं में एक उद्देश्य है। धर्म की शिक्षा यह नहीं है कि कोई सत्य इसलिए बोले कि यह लाभदायक है। प्रत्येक धर्म में अपने विश्वास की घोषणा है कि सत्य स्वयं ईश्वर है। नमाज से एक व्यक्ति का व्यायाम होता है; पर कोई भी मुसलमान व्यायाम के लिए नमाज़ नहीं पढ़ता। वे सब इसे धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में पढ़ते हैं।...

—मूल गुजराती। न० जी०, २७।१।१९२१। अंग्रेज़ी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृ० २८६]

- पूर्व में आत्म-नियन्त्रण स्वयं में एक उद्देश्य है।

४४. आध्यात्मिक विधियों का पालन

जो व्यक्ति उचित भावना से प्रतिदिन नमाज़ पढ़ता है या गायत्री जप करता है उसे कभी बीमार नहीं पड़ना चाहिए। पवित्र आत्मा शरीर को अवश्य पवित्र

करती है। मैं आश्वस्त हूँ कि धार्मिक आचरण के मुख्य नियम आत्मा और शरीर दोनों की रक्षा करते हैं।

—दिल्ली, १३।२।१९२१। दि दाम्बे क्रानिकल, १५।२।१९२१। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ़ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृ० ३५७।]

४५. ईश्वर का दर्शन

ईश्वर की इच्छा का मुझे कोई साक्षात्कार नहीं हुआ है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि ईश्वर प्रत्येक मानव को दिन-रात अपना साक्षात्कार कराया ही करता है, परन्तु हम अपनी अन्तरात्मा की सूक्ष्म आवाज के लिए अपने कान बन्द कर लेते हैं। हम अपने सामने दिखाई देने वाले स्पष्ट ईश्वरीय संकेत के प्रति अपनी आँख बन्द कर लेते हैं। मैं सर्वत्र ईश्वर की सर्वव्यापकता का अनुभव करता हूँ।

—यं० इं०, २५।५।१९२१]

४६. धर्म-त्याग

दूसरों ने अपना धर्म छोड़ दिया, इसलिए (अपना) धर्म छोड़ देने से क्या शान्ति मिल सकती है?

—न० जी०। हि० न० जी०, ३०।३।१९२४]

४७. ब्रह्मचर्य

इस विषय पर लिखना आसान नहीं। पर मेरा वैयक्तिक अनुभव इतना विशाल है कि उसके कुछ बिन्दु पाठकों को अर्पण करने की इच्छा बनी रहती है। मेरे नाम आये अनेक पत्रों ने इस इच्छा को और बढ़ा दिया है।

एक सज्जन पूछते हैं, ब्रह्मचर्य का अर्थ क्या है। क्या उसका पूर्णतया पालन सम्भव है? यदि (यह) सच है तो क्या आप उसका पालन करते हैं?

ब्रह्मचर्य का पूरा और वास्तविक अर्थ है ब्रह्म की खोज। ब्रह्म सब में व्याप्त है। अतएव उसकी खोज अन्तर्ध्यान और उससे उत्पन्न अन्तर्ज्ञान से होती है। यह अन्तर्ज्ञान इन्द्रियों के पूर्ण संयम के बिना अशक्य है। अतएव समस्त इन्द्रियों के तन-मन और वचन से सब समय और सभी क्षेत्र में संयम करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

ऐसे ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन करनेवाली स्त्री या पुरुष बिल्कुल निर्विकार होता है। इस कारण ऐसे निर्विकार स्त्री-पुरुष ईश्वर के निकट रहते हैं। वे ईश्वरवत् हैं।

ऐसे ब्रह्मचर्य का तन, मन और वचन से पालन किया जा सकता है। इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है। मुझे कहते हुए दुःख होता है कि मैं अभी ब्रह्मचर्य की इस पूर्ण अवस्था तक नहीं पहुँच पाया हूँ; पहुँचने का प्रयत्न निरन्तर कर रहा हूँ। मैंने इसी शरीर-द्वारा इस स्थिति तक पहुँचने की आशा छोड़ नहीं दी है। मैंने शरीर पर अपना नियन्त्रण कर लिया है और जागरित अवस्था में सावधान रह सकता हूँ। मैं वाचा के संयम का पालन करना भी ठीक-ठीक जान गया हूँ। विचार पर नियन्त्रण करने के सम्बन्ध में मुझे अब भी बहुत कुछ करना बाकी है। जिस समय, जिस बात का विचार करना हो, उस समय उसके अलावा दूसरे विचार भी आते हैं। इसलिए विचारों में परस्पर द्वन्द्व हुआ करता है।

फिर भी मैं जाग्रत अवस्था में विचारों के परस्पर टकराव को रोक सकता हूँ। गन्दे विचार नहीं आ सकते। मेरी यह स्थिति कही जा सकती है। परन्तु निद्रावस्था में विचारों पर मेरा नियन्त्रण कम रहता है। नींद में अनेक प्रकार के विचार आते हैं, अकल्पित सपने भी आते हैं और कभी इसी देह में की हुई बातों की वासना भी जागरित होती है। जब विचार गन्दे होते हैं, तब स्वप्नदोष भी होता है। यह स्थिति विकारवान जीव की ही हो सकती है। पर मेरे वैचारिक विकार क्षीण होते जा रहे हैं। हाँ, उनका नाश नहीं हो पाया है। यदि मैं विचारों पर भी साम्राज्य स्थापित कर सका होता तो पिछले दस वर्षों में जो तीन रोग पसली की सूजन, पेचिश और अपेण्डिक्स[1] की सूजन हुए, वे कभी न होते। मैं मानता हूँ कि नीरोग आत्मा का शरीर भी नीरोग होता है। अर्थात् जैसे-जैसे आत्मा नीरोग निर्विकार होती जाती है वैसे ही शरीर भी नीरोग होता जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि नीरोग-शरीर का अर्थ बलवान शरीर है। बलवान आत्मा क्षीण शरीर में ही वास करती है। ज्यों-ज्यों आत्मबल बढ़ता है त्यों-त्यों शरीर-क्षीणता बढ़ती है। पूर्ण नीरोगी शरीर बहुत क्षीण हो सकता है। बलवान शरीर में अनेकांश में रोग रहते हैं; रोग न हों तो भी वह शरीर संक्रामक रोगों का शिकार तुरन्त हो जाता है, परन्तु पूर्ण नीरोग शरीर पर उसका प्रभाव नहीं हो सकता। शुद्ध रक्त में ऐसे कीटाणुओं को दूर रखने का गुण होता है।

---

१. आन्त्रपुच्छ।

ऐसी अद्भुत अवस्था दुर्लभ अवश्य है। अन्यथा मैं अब तक वहाँ पहुँच गया होता। मेरी आत्मा कहती है कि ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिए जिन उपायों से काम लेने की आवश्यकता है उनसे मैं मुँह नहीं मोड़ता। ऐसी कोई बाह्य वस्तु नहीं है जो मुझे उससे दूर रखने में समर्थ हो। परन्तु पूर्व संस्कारों को धोना सबके लिए सरल नहीं होता। इसलिए देर हो रही है। फिर भी मैं बिल्कुल निराश नहीं हुआ हूँ क्योंकि मैं निर्विकार अवस्था की कल्पना कर सकता हूँ; उसकी धुंधली झलक देख सकता हूँ और मैंने अब तक जो प्रगति की है वह मुझे निराश करने के बजाय आशावान बनाती है। यदि मेरी आशा पूर्ण हुए बिना ही मेरा शरीरपात हो जाय तो मैं अपने को विफल नहीं मानूँगा। मुझे जितना विश्वास इस देह के अस्तित्व पर है, उतना ही पुनर्जन्म पर है। अतएव मैं जानता हूँ कि थोड़ा भी प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता।

इतने आत्मानुभव के वर्णन का कारण यह है कि जिन लोगों ने मुझे पत्र लिखे हैं, उनको तथा उनके समान दूसरों को धैर्य रहे और आत्मविश्वास बढ़े। सबकी आत्मा एक है, आत्मशक्ति एक-सी है। बहुत-से लोगों की शक्ति प्रकट हो गई है, बहुतों की शेष है। प्रयत्न करने से उन्हें भी यह अनुभव अवश्य प्राप्त होगा।

अभी तक मैंने व्यापक अर्थ में ब्रह्मचर्य का विवेचन किया। ब्रह्मचर्य का लौकिक अथवा प्रचलित अर्थ तो विषयेन्द्रिय का मन, वचन और शरीर के द्वारा संयम ही माना जाता है। यह अर्थ वास्तविक है। क्योंकि इसका पालन बहुत कठिन माना गया है। स्वादेन्द्रिय के संयम पर उतना जोर नहीं दिया गया है। इसीलिए विषयेन्द्रिय का संयम इतना मुश्किल, प्राय: अशक्य हो गया है। रोग से अशक्त शरीर में हमेशा विषय-वासना अधिक रहती है, यह वैद्यों का अनुभव है, इसलिए इस रोगग्रस्त समाज को ब्रह्मचर्य कठिन मालूम होता है।

ऊपर मैं क्षीण किन्तु नीरोग शरीर के विषय में लिख चुका हूँ। उसका अर्थ यह न करना चाहिए कि शरीर-बल प्राप्त न किया जाय। मैंने सूक्ष्मतम ब्रह्मचर्य की बात अति-प्राकृत भाषा में लिखी है। इससे शायद ग़लतफहमी हो। जो समस्त इन्द्रियों के पूर्ण संयम का पालन करना चाहता है उसे अन्त में शरीर-क्षीणता का अभिनन्दन अवश्य करना पड़ेगा। जब शरीर का मोह और ममत्व क्षीण हो जायगा तब शरीर-बल की इच्छा नहीं रह सकती। परन्तु विषयेन्द्रिय को जीतनेवाले ब्रह्मचारी का शरीर अतीव तेजस्वी और बलवान होना ही उचित है। यह ब्रह्मचर्य लौकिक है। जिसकी विषयेन्द्रिय को स्वप्नावस्था में भी विकार न हो, वह जगद्वन्द-नीय है। निस्सन्देह, उसके लिए दूसरा संयम सहज है।

इस ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में एक महाशय लिखते हैं—"मेरी दशा दयाजनक है। दफ़्तर में, रास्ते में, रात को, पढ़ते समय, काम करते समय, ईश्वर का नाम लेते समय वही विचार आते हैं। मन के विकारों को किस तरह नियन्त्रण में रखें, स्त्रियों के प्रति मातृभाव कैसे उत्पन्न हो, आँख से शुद्ध वात्सल्य की ही किरणें किस प्रकार निकलें, दुष्ट विचार किस प्रकार निर्मूल हों ? मैंने ब्रह्मचर्य-विषयक आपका लेख अपने पास रख छोड़ा है, परन्तु इस जगह वह विल्कुल उपयोगी नहीं होता।"

स्थिति हृदय-द्रावक है। यह स्थिति बहुतों की होती है। परन्तु जबतक मन उन विचारों के साथ लड़ता रहता है, तबतक भयभीत होने का कोई कारण नहीं। आँख यदि बुरा काम करती हो तो उसे बन्द कर लेना चाहिए; कान यदि बुरे विचार सुनते हों तो उनमें रूई भर लेनी चाहिए। आँख को हमेशा नीची रख-कर चलने की रीति अच्छी है। इससे उसे दूसरी बातें देखने का अवसर नहीं मिलता जहाँ गन्दी बातें की जाती हों अथवा गन्दा गाना गाया जाता हो, वहाँ से उठ जाना चाहिए। स्वादेन्द्रिय पर बहुत नियन्त्रण रखना चाहिए।

मेरा अनुभव यह है कि जिसने स्वाद को नहीं जीता वह विषय को नहीं जीत सकता। स्वाद को जीतना बहुत कठिन है। परन्तु इस विजय के साथ ही दूसरी विजय की सम्भावना है।.....

विषय जीतने का सुवर्ण नियम राम-नाम अथवा इसी प्रकार का दूसरा कोई मन्त्र है। द्वादश मन्त्र भी यही काम देता है। अपनी-अपनी भावना के अनुसार मन्त्र का जप करना चाहिए। मन्त्र जपते समय दूसरे विचार आयें तो चिन्ता नहीं, यदि श्रद्धा रख कर मन्त्र का जप करते रहेंगे तो अन्त में सफलता अवश्य प्राप्त होगी मुझे तनिक भी सन्देह नहीं। यह मन्त्र उसका जीवन-डोर होगा; उसे समस्त संकटों से बचायेगा। ऐसे पवित्र मन्त्र का उपयोग किसी को आर्थिक लाभ के लिए कदापि नहीं करना चाहिए। मन्त्र का चमत्कार हमारी नीति को सुरक्षित रखने में है, यह अनुभव साधक को थोड़े ही समय में प्राप्त होगा। हाँ, इतना स्मरण रखें कि तोते की तरह मन्त्र न पढ़ें। इसमें अपनी आत्मा लगा देनी चाहिए। तोते यन्त्र की तरह ऐसे मन्त्र पढ़ते हैं, हमें ज्ञानपूर्वक अवांछनीय विचारों के निवारण की भावना रख कर और ऐसा करने की मन्त्र-शक्ति में विश्वास रख कर इन्हें पढ़ना चाहिए

—न० जी०। हि० न० जी०, २५।५।१९२४]

- ब्रह्मचर्य का अर्थ है, ब्रह्म की खोज।
- अन्तर्ज्ञान इन्द्रियों के पूर्ण संयम के बिना अशक्य है।
- नीरोग आत्मा का शरीर भी नीरोग होता है।
- बलवान आत्मा क्षीण शरीर में ही वास करती है।

- पूर्व संस्कारों को धोना सबके लिए सरल नहीं होता।
- मुझे जितना विश्वास इस देह के अस्तित्व पर है, उतना ही पुनर्जन्म पर है।
- सबकी आत्मा एक है, आत्म-शक्ति एक-सी है।
- ब्रह्मचर्य का लौकिक अर्थ...मन, वचन और शरीर के द्वारा संयम...माना जाता है।
- अशक्त शरीर में विषय-वासना अधिक रहती है।
- रोगग्रस्त समाज को ब्रह्मचर्य कठिन मालूम होता है।
- जो समस्त इन्द्रियों के पूर्ण संयम का पालन करना चाहता है, उसे अन्त में शरीर-क्षीणता का अभिनन्दन अवश्य करना पड़ेगा।
- जिसने स्वाद को नहीं जीता वह विषय को नहीं जीत सकता।
- विषय जीतने का सुवर्ण नियम राम-नाम अथवा इसी प्रकार का दूसरा कोई मन्त्र है।
- तोते की तरह मन्त्र न पढ़ें।

४८. सभी धर्मों में सत्य है

मेरी हिन्दू प्रकृति मुझे बताती है कि थोड़े-बहुत, सब धर्म सच्चे हैं। सबका स्रोत एक ही ईश्वर है। परन्तु सब अपूर्ण हैं, क्योंकि वे हमारे पास मानव के अपूर्ण माध्यम-द्वारा आये हैं।

—यं० इं०, २९।५।१९२४]

४९. फल का अधिकार

[श्री घनश्यामदास बिड़ला को लिखे पत्र से]

फल का अधिकार हमको नहीं है; यह ईश्वर के ही हाथ में है।

—२०।७।१९२४। 'गांधी जी की छत्रछाया में', पृ० ३३]

५०. एक धर्म होना सम्भव नहीं

मैं इस विश्वास से सहमत नहीं हूँ कि पृथिवी पर एक धर्म हो सकता है या होगा। इसलिए विविध धर्मों में पाया जानेवाला सहिष्णुता का भाव रखें। इस बात को पैदा करने की मैं कोशिश कर रहा हूँ।

—यं० इं०, ३१।७।१९२४]

५१. मेरी श्रद्धा

.....मुझे तो, अपने धर्म पर इतनी श्रद्धा है कि मुझे उसी में जीना और उसी में मरना है

—हि० न० जी०, ७।९।१९२४]

५२. धर्म-परिवर्तन क्यों नहीं ?

एक मुसलमान भाई लिखते हैं:—"आपका दावा है कि आप सत्य-प्रेमी, सत्य-शोधक और सत्य-ग्राहक हैं। साथ ही आपने यह भी लिखा है कि इस्लाम मिथ्या धर्म नहीं है। खुदा का खास फरमान है कि दुनिया के हर शख्स को इस्लाम कबूल करना चाहिए। फिर भी आप मुसलमान क्यों नहीं होते ? मैंने जब हिन्दू नेता का ध्यान इस ओर खींचा तो उन्होंने कहा कि यह तो गांधी जी ने मुसलमानों को खुश करने के लिए लिख दिया है। गांधी जी के दिल में इस्लामी मुहब्बत नहीं है।"

इन भाई ने आग्रहपूर्वक जवाब माँगा है। (मैंने) यह धर्म कहीं नहीं सुना कि जितनी बातें मिथ्या न हों, उन्हें हर आदमी को करना चाहिए। मैं जिस तरह इस्लाम को मिथ्या नहीं मानता, उसी तरह ईसाई, पारसी और यहूदी धर्म को भी मिथ्या नहीं मानता। तो मैं किस धर्म को स्वीकार करूँ ? फिर मैं हिन्दू धर्म को भी मिथ्या नहीं मानता। ऐसी अवस्था में मेरे-जैसे सत्य-शोधक को क्या करना चाहिए ? मुझे तो इस्लाम में खूबियाँ दिखाई दीं, इसलिए मैंने कहा कि वह धर्म मिथ्या नहीं है। यह कहने की जरूरत इसलिए हुई कि इस्लाम पर हमले होते हैं और मैं मुसलमान भाइयों के साथ मित्रता रखना चाहता हूँ, अतएव मैंने उनके धर्म का बचाव किया। सबको अपना-अपना धर्म दूसरों (के धर्म) से श्रेष्ठ मालूम होता है। इसीलिए वे उसमें (स्थित) रहते हैं। इसी न्याय के अनुसार मुझे हिन्दू धर्म मिथ्या नहीं मालूम होता। इतना ही नहीं, बल्कि सबसे श्रेष्ठ मालूम होता है। इसलिए मैं हिन्दू धर्म का पल्ला पकड़ कर बैठा हूँ—जिस तरह बालक माँ के साथ रहते हैं। परन्तु बालक जिस प्रकार पर-माता का तिरस्कार नहीं करता, उसी प्रकार मैं भी पर-धर्म का तिरस्कार नहीं करता। अपने धर्म के प्रति मेरा जो प्रेम है, वह मुझे शिक्षा देता है कि दूसरों का अपने धर्म के प्रति जो प्रेम है, उसकी भी कद्र करनी चाहिए। और मेरी यह प्रार्थना ईश्वर के दरबार में हमेशा पहुँचती रहती है कि यह बात हर एक हिन्दू-मुसलमान सीख ले।

—न० जी०। हि० न० जी०, २१।९।१९२४]

- सबको अपना-अपना धर्म दूसरों (के धर्म) से श्रेष्ठ मालूम होता है।
- बालक जिस प्रकार पर-माता का तिरस्कार नहीं करता, उसी प्रकार मैं भी पर-धर्म का तिरस्कार नहीं करता।

५३. यह धर्म-विमुखता, ईश्वर-विमुखता है

एक दूसरे के धर्म को गालियाँ देना, अन्धाधुन्ध वक्तव्य प्रकाशित करना, असत्य बोलना, निर्दोष लोगों के सिर फोड़ना, मन्दिरों या मस्जिदों को तोड़ना अवश्य ईश्वर को न मानना है।.....धर्म का लक्षण, फिर उसे आप किसी भी नाम से पुकारिए, यह नहीं है।

—यं० इं०। हि० न० जी०, २८।९।१९२४]

५४. धर्मद्रोह

हम लोग यदि केवल अपने धर्म के मूलतत्वों के अनुसार ही काम करें तो हम समझ जायँगे कि.....हममें से कितने ही लोग धर्मद्रोही और ईश्वरद्रोही बने हैं। एक दूसरे पर अधिकार करने के लिए बलात्कार करके हम स्वयं अपनी आत्मा के साथ जबर्दस्ती कर रहे हैं। दोनों कौमें अपना कर्तव्य करने के बजाय, अपने कर्त्तव्य का पालन करके अधिकार प्राप्त करने के बजाय, केवल अधिकार पर ही जोर दे रही हैं। वे कर्त्तव्य करना भूल गई हैं।

भारतवर्ष एक पक्षी है। हिन्दू और मुसलमान उसके दो पंख हैं। आज ये दोनों पंख अपंग हो गये हैं और पक्षी आसमान में उड़ कर स्वतन्त्रता की आरोग्यप्रद शुद्ध हवा लेने में असमर्थ है। इस प्रकार देश को अशक्त-असमर्थ बना देना न हिन्दुत्व का सिद्धान्त है, न इस्लाम का। क्या मुसलमानों को दुर्बल बना देना हिन्दुओं का धर्म है? क्या हिन्दुओं को दुर्बल बना देना मुसलमानों का धर्म है? क्या हिन्दुओं की मदद न करना मुसलमानों का और मुसलमानों की मदद न करना हिन्दुओं का धर्म है? क्या धर्म प्राणपालक होकर प्राणनाशक, स्वातन्त्र्यनाशक और मनुष्यत्वनाशक बनेगा?

—मौलाना मुहम्मद अली द्वारा प्रकाशित कामरेड पत्र से। हि० न० जी०, २।११।१९२४]

- भारतवर्ष एक पक्षी है। हिन्दू और मुसलमान उसके दो पंख हैं।

५५. धर्म और राजनीति

मैं देश की आँख में धूल न झोंकूँगा। मेरे नजदीक धर्म-विहीन राजनीति कोई चीज नहीं है। धर्म का अर्थ वहम और गतानुगतिकत्व का धर्म नहीं, द्वेष करनेवाला और लड़नेवाला धर्म नहीं, बल्कि विश्वव्यापी सहिष्णुता का धर्म है। नीति-शून्य राजनीति सर्वथा त्याज्य है।

— साबरमती, २६।११।१९२४। यं० इं०। हि० न० जी०, ३०।११।१९२४]

● नीति-शून्य राजनीति सर्वथा त्याज्य है।

५६. पैगम्बरों का प्रमाण

संसार के बड़े पैगम्बरों या धर्म-प्रचारकों का उदाहरण पेश करने में सदा जोखिम रहता है।.....

—यं० इं०। हि० न० जी०, ७।१२।१९२४]

५७. धर्म के लिए युद्ध कब और कैसे ?

पाण्डवों ने क्या किया था ? उन्होंने हस्तिनापुरी न माँगी, इन्द्रप्रस्थ न माँगा, सिर्फ पाँच गाँव ही माँगे थे। दुर्योधन ने कहा कि ये भी न मिलेंगे, इनके लिए भी लड़ना पड़ेगा, इसलिए वे (पाण्डव) लड़े।.....अगर लड़ने की बात है तो आपका धर्म है अपनी बहिनों की रक्षा करना। आपकी क्षत्रियता है न दैन्यं न पलायनम्। क्षत्रियत्व का अर्थ मारने की शक्ति नहीं, पीठ न दिखाने की शक्ति है। यदि मुसलमान कहें कि तुम लोग गो-पूजा नहीं कर सकोगे। हम उस पूजा में रुकावट डालेंगे। यदि वे कहें, काशी विश्वनाथ एक पत्थर का टुकड़ा है और तुम बुतपरस्तों से हमें नफ़रत होती है। तो आप उनसे दिल खोल कर लड़ें। आप उनसे कहें कि गो तो हमारे लिए पूज्य है; पत्थर की मूर्ति में हमें ईश्वर के दर्शन होते हैं; हमारी कौम ने हजारों वर्ष से इसी के सामने अपने पापों का प्रायश्चित्त किया है; हमें उसके प्रति उतना ही आदर है जितना आपको काबा शरीफ़ के प्रति है। ये बातें ऐसी हैं कि इन्हें (हम) छोड़ नहीं सकते।

—रावलपिण्डी, १०।१२।२४। न० जी०। हि० न० जी०, २१।१२।१९२४]

५८. ईश्वर ही नियन्ता है

मैं भविष्य को नहीं जानना चाहता। वर्तमान को सम्हाल लूं, इतना ही मैं अपना कर्त्तव्य मानता हूं। भगवान ने मुझे दूसरे क्षण का भी नियन्त्रण करने की शक्ति कहाँ दी है?

—यं० इं०, २६।१२।१९२४]

५९. रामराज्य

राम ने एक धोबी की बात सुनकर प्रजा को सन्तुष्ट करने के लिए प्राण के समान प्रिय जगद्वन्द्य सती-शिरोमणि, साक्षात् करुणामूर्ति सीता जी का त्याग किया। राम ने कुत्ते के साथ भी न्याय किया। उन्होंने सत्य-पालन के लिए राज-पाट छोड़कर वनवास भोगा और संसार के तमाम राजाओं को उच्च कोटि के सदाचार-पालन का पदार्थ-पाठ पढ़ाया। राम ने अखण्ड एक-पत्नीव्रत का पालन करके राजा-प्रजा सब को यह दिखाया कि गृहस्थाश्रम में भी संयम-धर्म का पालन किस तरह किया जा सकता है। उन्होंने राज्यासन को सुशोभित करके राज्य-पद्धति को लोक-प्रिय बनाकर यह सिद्ध कर दिया कि रामराज्य स्वराज्य की परि-सीमा है। राम को लोकमत जानने के लिए आधुनिक अति-अधूरे साधनों की जरूरत न थी, क्योंकि वे प्रजा के हृदय के स्वामी बन बैठे थे। राजा प्रजा-मत को आँख के इशारे से समझ लेता था। प्रजा रामराज्य में आनन्द-सागर में हिलोरें लेती थी।

ऐसा रामराज्य आज भी हो सकता है। राम का वंश लुप्त नहीं हुआ है। यह कह सकते हैं कि आधुनिक युग में पहिले खलीफ़ाओं ने भी रामराज्य स्थापित किया था। हज़रत अबूबकर और हज़रत उमर करोड़ों से कर वसूल करते थे, फिर भी खुद फ़कीर थे। वे सार्वजनिक कोष से एक कौड़ी भी नहीं लेते थे। वे यह देखने को सदा जागरूक रहते थे कि प्रजा के साथ न्याय होता है या नहीं। उनका सिद्धान्त था कि दुश्मन को भी दग़ा न देनी चाहिए; उसके साथ भी शुद्ध न्याय करना चाहिए।

—हि० न० जी०, ८।१।१९२५]

● रामराज्य स्वराज्य की परिसीमा है।

६०. ईश्वरीय विधान

हम शरीर-रूपी अद्वितीय यन्त्र को छोड़ मूढ़ यन्त्र से काम लेकर (उस शरीर-यन्त्र) का नाश कर रहे हैं। शरीर से पूरा-पूरा काम लेना ईश्वरीय क़ानून है। इसे हम भूल नहीं सकते।

—हि० न० जी०, ८।१।१९२५]

६१. मेरी ब्रह्मचर्य की कल्पना

मुझे सेवा-धर्म प्रिय है।.....मैं सच्चा संन्यासी हूँ या नहीं, यह भी नहीं जानता। पर संन्यास मुझे पसन्द है। ब्रह्मचर्य मुझे प्रिय है, पर मैं नहीं जानता कि मैं सच्चा ब्रह्मचारी हूँ या नहीं। क्योंकि ब्रह्मचारी के मन में यदि दूषित विचार आते हों, वह सपने में भी व्यभिचार करने का विचार करता हो तो मैं कहूँगा कि वह ब्रह्मचारी नहीं। मेरे मुँह से यदि गुस्से में एक भी शब्द निकले, द्वेष से प्रेरित होकर कोई काम हो, जिसे लोग मेरा कट्टर-से-कट्टर दुश्मन मानते हों, उसके खिलाफ़ भी यदि क्रोध में कोई वचन कहूँ, तो मैं अपने को ब्रह्मचारी नहीं कह सकता। इसलिए मैं पूर्ण संन्यासी हूँ कि नहीं, यह नहीं जानता। पर हाँ, मैं इतना अवश्य कहूँगा कि मेरे जीवन का प्रवाह इसी दिशा में वह रहा है।

—हि० न० जी०, १५।१।१९२५]

६२. आध्यात्मिक ऐकान्तिकता उचित नहीं

वह आध्यात्मिक स्थिति, जिसकी रक्षा के लिए चारों ओर से वन्द रहना पड़ता है, वड़ी कमजोर होनी चाहिए। इसके अलावा वे दिन भी गये जव मनुष्य सदा एकान्त में रहकर अपने गुणों की रक्षा करता था।

—यं० इं०। हि० न० जी०, ५।२।१९२५]

६३. राम का न्याय

राम का न्याय यह है कि जो राम का सेवक है, उसका दास है, उसे वह दुःख दिया ही करता है और इस तरह उसकी परीक्षा लेता है।

—न० जी०। हि० न० जी०, ५।२।१९२५]

६४. ब्रह्मचर्य

[भादरण मुक़ाम पर एक अभिनन्दन-पत्र का उत्तर देते हुए लोगों के अनुरोध से गांधी जी ने ब्रह्मचर्य पर लम्बा प्रवचन किया। उसका सार यहां दिया जाता है।—सम्पा०]

आप चाहते हैं कि ब्रह्मचर्य के विषय पर कुछ कहूँ। कितने ही विषय ऐसे हैं कि जिन पर मैं 'नवजीवन' में प्रसंगोपात्त ही लिखता हूँ और उन पर व्याख्यान तो शायद ही देता हूँ। क्योंकि यह विषय ही ऐसा है कि कहकर नहीं समझाया जा सकता। आप तो मामूली ब्रह्मचर्य के विषय में सुनना चाहते हैं; समस्त इन्द्रियों का संयम, यह विस्तृत व्याख्या जिस ब्रह्मचर्य की है उसके विषय में नहीं। इस साधारण ब्रह्मचर्य को भी शास्त्रकारों ने बड़ा कठिन बताया है। यह बात ९९ फीसदी सच है; एक फीसदी इसमें कमी है। इसका पालन इसलिए कठिन मालूम होता है कि हम इन्द्रियों को संयम में नहीं रखते। उनमें मुख्य है रसनेन्द्रिय। जो अपनी जिह्वा को कब्जे में रख सकता है उसके लिए ब्रह्मचर्य सुगम हो जाता है। प्राणिशास्त्र के ज्ञाताओं का कथन है कि पशु जिस दरजे तक ब्रह्मचर्य का पालन करता है उस दरजे तक मनुष्य नहीं करता। यह सच है। इसका कारण देखने पर मालूम होगा कि पशु अपनी जिह्वेन्द्रिय पर पूरा-पूरा निग्रह रखते हैं—इच्छापूर्वक नहीं, स्वभावतः ही। वे केवल चारे पर अपनी गुजर करते हैं, सो भी महज पेट भरने लायक ही खाते हैं। वे जीने के लिए खाते हैं; खाने के लिए नहीं जीते हैं। पर हम तो इसके बिल्कुल विपरीत करते हैं। माँ बच्चे को तरह-तरह के सुस्वादु भोजन कराती है। वह मानती है कि बालक के साथ प्रेम दिखाने का यही सर्वोत्तम रास्ता है। ऐसा करते हुए हम उन चीज़ों में स्वाद डालते नहीं, बल्कि ले लेते हैं। स्वाद तो रहता है भूख में। भूख के वक्त सूखी रोटी भी मीठी लगती है और बिना भूख आदमी को लड्डू भी फीके और अस्वादु मालूम होंगे। पर हम तो अनेक चीजों को खा-खाकर पेट को ठसाठस भरते हैं और फिर कहते हैं कि ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो पाता। जो आँखें हमें ईश्वर ने देखने के लिए दी हैं उनको हम मलिन करते हैं और देखने की वस्तुओं को देखना नहीं सीखते। माता को क्यों गायत्री न पढ़ना चाहिए और बालकों को वह क्यों गायत्री न सिखाये? इसकी छानबीन करने की अपेक्षा उसके तत्त्व—सूर्योपासना—को समझकर सूर्योपासना कराये तो क्या अच्छा हो! सूर्य की उपासना तो सनातनी और आर्यसमाजी, दोनों कर सकते हैं। यह तो मैंने स्थूल अर्थ आपके सामने उपस्थित किया। इस उपासना के मानी क्या हैं? अपना सिर ऊंचा रख कर, सूर्यनारायण के दर्शन करके, आंख की शुद्धि करना। गायत्री

के रचयिता ऋषि थे, द्रष्टा थे। उन्होंने कहा कि सूर्योदय में जो नाटक है, जो सौन्दर्य है, जो लीला है, वह और कहीं नहीं दिखाई दे सकती। ईश्वर के जैसा सुन्दर सूत्रधार अन्यत्र नहीं मिल सकता, और आकाश से वढ़कर भव्य रंग-भूमि कहीं पर नहीं मिल सकती। पर कौन माता आज वालक की आँखें धो कर उसे आकाश-दर्शन कराती है ? वल्कि माता के भावों में तो अनेक प्रपंच रहते हैं। वड़े-वड़े घरों में जो शिक्षा मिलती है उसके फलस्वरूप तो लड़का शायद वड़ा अधिकारी होगा; पर इस वात का कौन विचार करता है कि घर में जाने-वे-जाने जो शिक्षा वच्चों को मिलती है उससे कितनी वातें वह ग्रहण कर लेता है। माँ-वाप हमारे शरीर को ढकते हैं, सजाते हैं, पर इससे कहीं शोभा वढ़ सकती है ? कपड़े वदन को ढकने के लिए हैं, सर्दी-गर्मी से रक्षा करने के लिए हैं; सजाने के लिए नहीं। जाड़े से ठिठुरते हुए लड़के को जव हम अंगीठी के पास धकेलेंगे, अथवा मुहल्ले में खेलने-कूदने भेज देंगे अथवा खेत में काम पर छोड़ देंगे, तभी उसका शरीर वज्र की तरह होगा। जिसने व्रह्मचर्य का पालन किया है उसका शरीर वज्र की तरह जरूर होना चाहिए। हम तो वच्चों के शरीर का नाश कर डालते हैं। हम उसे घर में रखकर गरमाना चाहते हैं। उससे तो उसकी चमड़ी में इस तरह की गर्मी आती है जिसे हम छाजन की उपमा दे सकते हैं। हमने शरीर को दुलरा कर उसे विगाड़ डाला है।

यह तो हुई कपड़े की वात। फिर घर में तरह-तरह की वातें करके हम उनके मन पर वुरा प्रभाव डालते हैं। उसकी शादी की वातें किया करते हैं, और इसी किस्म की चीजें और दृश्य भी उसे दिखाये जाते हैं। मुझे तो आश्चर्य होता है कि हम केवल जंगली ही क्यों न हो गये ? मर्यादा तोड़ने के अनेक साधनों के होते हुए भी मर्यादा की रक्षा हो जाती है। ईश्वर ने मनुष्य की रचना इस तरह से की है कि पतन के अनेक अवसर आते हुए भी वह वच जाता है। उसकी लीला ऐसी गहन है। यदि व्रह्मचर्य के रास्ते से सव विघ्न हम दूर कर दें तो उसका पालन वहुत आसान हो जाय।

ऐसी हालत होते हुए भी हम दुनिया के साथ शारीरिक मुकावला करना चाहते हैं। उसके दो रास्ते हैं: एक आसुरी और दूसरा दैवी। आसुरी मार्ग है—शरीर-वल प्राप्त करने के लिए हर किस्म के उपायों से काम लेना; हर तरह की चीजें खाना; शारीरिक मुकावले करना; गो-मांस खाना इत्यादि। मेरे लड़कपन में मेरा एक मित्र मुझसे कहा करता कि मांसाहार हमें अवश्य करना चाहिए, नहीं तो अंग्रेजों की तरह हट्टे-कट्टे हम न हो सकेंगे। जपान को भी जव दूसरे देश के साथ मुकावला करने का समय आया तव वहाँ गो-मांस-भक्षण को स्थान मिला। सो यदि आसुरी प्रकार से शरीर को तैयार करने की इच्छा हो तो इन चीजों का सेवन करना होगा।

परन्तु यदि दैवी साधन से शरीर तैयार करना हो तो ब्रह्मचर्य ही उसका एक उपाय है। जब मुझे कोई नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहता है तब मुझे अपने पर दया आती है। इस अभिनन्दन-पत्र में मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा गया है। सो मुझे कहना चाहिए कि जिन्होंने इस अभिनन्दन-पत्र का मज़मून तैयार किया है उन्हें पता नहीं कि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य किस चीज का नाम है। और जिसके बाल-बच्चे हुए हैं उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कैसे कह सकते हैं? नैष्ठिक ब्रह्मचारी को न तो कभी बुखार आता है, न कभी सिर दर्द करता है, न कभी खाँसी होती है, न कभी अपेंडिसाइटिस होता है। डाक्टर लोग कहते हैं कि नारंगी का बीज आँत में रह जाने से भी अपेंडिसाइटिस होता है। परन्तु जिसका शरीर स्वच्छ और नीरोग होता है उस में ये बीज टिक ही नहीं सकते। जब आँतें शिथिल पड़ जाती हैं तब वे ऐसी चीजों को अपने-आप बाहर नहीं निकाल सकतीं। मेरी भी आँतें शिथिल हो गई होंगी। इसी से मैं ऐसी कोई चीज हजम न कर सका हूंगा। बच्चे ऐसी अनेक चीजें खा जाते हैं। माता इसका कहाँ ध्यान रखती है? पर उसकी आँत में इतनी शक्ति स्वाभाविक तौर पर ही होती है। इसीलिए मैं चाहता हूं कि मुझपर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के पालन का आरोपण करके कोई मिथ्यावादी न हो। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का तेज तो मुझ से अनेकगुना अधिक होना चाहिए। मैं आदर्श ब्रह्मचारी नहीं। हाँ, यह सच है कि मैं वैसा बनना चाहता हूँ। मैंने तो आपके सामने अपने अनुभव की कुछ बातें पेश की हैं, जो ब्रह्मचर्य की सीमा बताती हैं। ब्रह्मचारी रहने का अर्थ यह नहीं कि मैं किसी स्त्री को स्पर्श न करूँ; अपनी बहिन का स्पर्श न करूँ। पर ब्रह्मचारी होने का अर्थ यह है कि स्त्री का स्पर्श करने से किसी प्रकार का विकार न उत्पन्न हो, जिस तरह कि कागज को स्पर्श करने से नहीं होता। मेरी बहिन बीमार हो और उसकी सेवा करते हुए, उसका स्पर्श करते हुए ब्रह्मचर्य के कारण मुझे हिचकना पड़े तो वह ब्रह्मचर्य तीन कौड़ी का है। जिस निर्विकार दशा का अनुभव हम मृत शरीर को स्पर्श करके करते हैं उसी का अनुभव जब हम किसी बड़ी सुन्दरी युवती का स्पर्श करके कर सकें तभी हम ब्रह्मचारी हैं। यदि आप यह चाहते हों कि बालक ऐसे ब्रह्मचर्य को प्राप्त करे, तो इसका अभ्यास-क्रम आप नहीं बना सकते, मुझ-जैसा अधूरा भी क्यों न हो, पर ब्रह्मचारी ही बना सकता है।

ब्रह्मचारी स्वाभाविक संन्यासी होता है। ब्रह्मचर्याश्रम संन्यासाश्रम से भी बढ़कर है। पर उसे हमने गिरा दिया है। इससे हमारा गृहस्थाश्रम भी बिगड़ा है, वानप्रस्थाश्रम भी बिगड़ा है और संन्यास का तो नाम भी नहीं रह गया है। ऐसी हमारी असहाय अवस्था हो गई है।

ऊपर जो आसुरी मार्ग बताया गया है उसका अनुकरण करके तो आप पाँच सौ वर्षों तक भी पठानों का मुकाबला न कर सकेंगे। दैवी मार्ग का अनुकरण

यदि आज हो तो आज ही पठानों का मुकाबला हो सकता है। क्योंकि दैवी साधन से आवश्यक मानसिक परिवर्तन एक क्षण में हो सकता है। पर शारीरिक परिवर्तन करते हुए युग बीत जाते हैं। इस दैवी मार्ग का अनुकरण तभी हमसे होगा जब हमारे पल्ले पूर्व जन्म का पुण्य होगा, और माता-पिता हमारे लिए उचित सामग्री पैदा करेंगे।

—हि० न० जी०, २६।२।१९२५]

- वे (पशु) जीने के लिए खाते हैं, खाने के लिए नहीं जीते हैं।
- स्वाद तो रहता है भूख में।
- सूर्योदय में जो नाटक है, जो सौन्दर्य है, जो लीला है, वह और कहीं नहीं दिखाई दे सकती।
- जिस निर्विकार दशा का अनुभव हम मृत शरीर का स्पर्श कर करते हैं उसी का अनुभव जब हम बड़ी सुन्दरी युवती का स्पर्श करके कर सकें तभी हम ब्रह्मचारी हैं।
- ब्रह्मचारी स्वाभाविक संन्यासी होता है।

६५. महासभा और ईश्वर

[एक मित्र ने गांधी जी को पत्र लिखकर सूचित किया था कि महासभा के स्वयंसेवकों के लिए जो प्रतिज्ञापत्र निर्धारित किया गया है, वह उपयुक्त नहीं है। उसमें जो प्रतिज्ञा करनी पड़ती है उसका प्रारम्भ 'ईश्वर को साक्षी रख कर.....' ऐसे वाक्य-विन्यास से होता है। जैन, बौद्ध या ऐसे लोग जो ईश्वर को नहीं मानते, यह प्रतिज्ञा कैसे ले सकते हैं? ईश्वर और धर्म के नाम पर अतीत काल से ही मानवता और प्राणि-जगत् को अनेक कष्ट दिये गये हैं। फिर गांधी जी ने स्वयं एक बार आश्वासन दिया था कि इस राष्ट्रीय कार्य-कलाप में लोगों-द्वारा अपने धार्मिक विश्वास व्यक्त करना जरूरी नहीं है।

मित्र महोदय ने अनुरोध किया था कि चूंकि गांधी जी महासभा के प्रमुख और इस प्रतिज्ञा-पत्र के रचयिता हैं, इसलिए वे इसमें वांछित सुधार कर दें। वे ईश्वर के नाम से प्रतिज्ञा कराने के बजाय अन्तरात्मा को साक्षी रखकर प्रतिज्ञा का विधान कर दें। ईश्वर के नाम के बिना भी प्रतिज्ञा ली जा सके, ऐसी व्यवस्था बहुत जरूरी है।

गांधी जी ने मित्र को उत्तर देने के लिए जो लेख लिखा, वह यहाँ दिया जा रहा है।—सम्पा०]

जहाँ तक अन्तःकरण के उज्र से सम्बन्ध है, यदि ज़रूरत हुई तो महासभा के प्रतिज्ञा-पत्र में से, जिसे तैयार करने का मुझे अभिमान है, ईश्वर का नाम निकाल दिया जा सकता है। यदि उज्र उसी समय पेश किया गया होता तो मैं फ़ौरन स्वीकार कर लेता। हिन्दुस्तान-जैसे स्थान में ऐसे उज्र के लिए मैं ज़रा भी तैयार न था। यद्यपि शास्त्रों में "चार्वाक" मत भी मान लिया गया है, तथापि मैं यह नहीं जानता कि उसके माननेवाले भी हैं। मैं यह नहीं मानता कि बौद्ध और जैन लोग अज्ञेयवादी या नास्तिक हैं। वे अज्ञेयवादी तो हरगिज नहीं हो सकते। जो लोग आत्मा को शरीर से भिन्न मानते हैं और शरीर के नष्ट हो जाने पर भी उसकी स्वतन्त्र हस्ती रहना स्वीकार करते हैं वे नास्तिक नहीं कहे जा सकते। हम सब ईश्वर की जुदी-जुदी व्याख्याएँ करते हैं। हम सब यदि ईश्वर की व्याख्याएँ अपनी मरजी के मुताबिक करें तो उसकी उतनी ही व्याख्याएँ होंगी जितने कि स्त्री या पुरुष होंगे। लेकिन इन जुदी-जुदी व्याख्याओं के मूल में भी एक किस्म का अभ्रान्त सादृश्य होगा, क्योंकि मूल तो सब का एक ही है। ईश्वर तो वह अनिर्वचनीय (ला-कलाम) वस्तु है कि जिसका हम सब अनुभव तो करते हैं, लेकिन जिसे हम जानते नहीं। बेशक चार्ल्स ब्रेडला ने अपने को नास्तिक कहा है, लेकिन बहुतेरे ईसाइयों ने उन्हें ऐसा नहीं माना है। मुख से अपने को ईसाई कहनेवाले बहुत-से लोगों के मुकाबले में उन्हें ब्रेडला में अपने तईं अधिक समानता मालूम हुई थी। भारतवर्ष के उस भले मित्र की अन्त्येष्ठि-क्रिया के समय मौजूद रहने का मुझे भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय मैंने बहुत-से पादरियों को वहाँ देखा। उनके जनाज़े के साथ मुसलमान और बहुतेरे हिन्दू भी थे। वे सब ईश्वर को माननेवाले थे। ब्रेडला ने वैसे ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार किया था जैसा कि वे जानते थे कि उसका वर्णन किया जाता है। उस समय जो शास्त्रीय विचार प्रचलित थे उनके तथा आचार और विचार के भयंकर भेद के खिलाफ उनका पाण्डित्यपूर्ण और तेज विरोध था। मेरा ईश्वर तो मेरा सत्य और प्रेम है। नीति और सदाचार ईश्वर है। निर्भयता ईश्वर है। ईश्वर जीवन और प्रकाश का मूल है। और फिर भी वह इन सबसे परे है। ईश्वर अन्तरात्मा ही है। वह तो नास्तिकों की नास्तिकता भी है। क्योंकि वह अपने अमर्यादित प्रेम से उन्हें भी जिन्दा रहने देता है। वह हृदय को देखनेवाला है। वह बुद्धि और वाणी से परे है। हम स्वयं जितना अपने को जानते हैं उससे कहीं अधिक वह हमें और हमारे दिलों को जानता है। जैसा हम कहते हैं वैसा ही वह हमें नहीं समझता। क्योंकि वह जानता है कि जो हम जबान से कहते हैं अक्सर वही हमारा भाव नहीं होता और यह कुछ लोग तो जानकर करते हैं तो कुछ अनजान में। ईश्वर उन लोगों के लिए एक व्यक्ति ही है जो उसे व्यक्ति-रूप में

हाजिर देखना चाहते हैं। जो उसका स्पर्श करना चाहते हैं उनके लिए वह शरीर धारण करता है। वह पवित्र-से-पवित्र तत्त्व है। जिन्हें उसमें श्रद्धा है उन्हीं के लिए उसका अस्तित्त्व है। सब लोगों के लिए वह सभी चीज है। वह हममें व्याप्त है और फिर भी हम से परे है। ईश्वर शब्द महासभा के प्रतिज्ञा-पत्र से निकाल दिया जा सकता है; लेकिन खुद ईश्वर को तो कोई कहीं से नहीं निकाल सकता। ईश्वर के नाम पर ली गई प्रतिज्ञा और केवल प्रतिज्ञा यदि एक वस्तु नहीं है तो फिर प्रतिज्ञा होगी क्या चीज ? अन्तरात्मा तो निश्चय ही ईश्वर शब्द का ही एक खींचातानी अर्थ है। उसके नाम पर भयंकर अनीतियुक्त काम किये गये हैं और अमानुष अत्याचार भी हुए हैं, लेकिन इससे कुछ उसका अस्तित्व नहीं मिट सकता। वह बड़ा सहनशील है, वह बड़ा धैर्यवान् है; लेकिन वह बड़ा भयंकर भी है। उसका व्यक्तित्त्व इस दुनिया में और भविष्य की दुनिया में भी सबसे अधिक काम करानेवाली ताकत है। जैसा हम अपने पड़ोसी—मनुष्य और पशु दोनों—के साथ बर्ताव करते हैं वैसा ही बर्ताव वह हमारे साथ भी करता है। उसके सामने अज्ञान की दलील नहीं चल सकती। लेकिन यह सब होने पर भी वह बड़ा रहमदिल है, क्योंकि वह हमें पश्चात्ताप करने के लिए मौका देता है। दुनिया में सबसे बड़ा प्रजातन्त्रवादी वही है, क्योंकि वह बुरे-भले को पसन्द करने के लिए हमें स्वतन्त्र छोड़ देता है। वह सब से बड़ा जालिम है, क्योंकि वह अक्सर हमारे मुँह तक आये हुए कौर को छीन लेता है और इच्छा-स्वातन्त्र्य की ओट में हमें इतनी कम छूट देता है कि हमारी मजबूरी के कारण उससे सिर्फ उसी को आनन्द मिलता है। यह सब हिन्दू-धर्म के अनुसार उसकी लीला है; उसकी माया है। हम कुछ नहीं हैं, सिर्फ वही है। अगर हम हों, तो हमें सदा उसके गुणों का गान करना चाहिए और उसकी इच्छा के अनुसार चलना चाहिए। आइए, उसकी वंशी के नाम पर हम नाचें; सब अच्छा ही होगा।

लेखक ने मेरी एक पुस्तिका 'नीति-धर्म' का भी जिक्र किया है। सो पाठकों का ध्यान इस बात की ओर खींचना जरूरी है कि लेखक ने जिसका उल्लेख किया है वह अंग्रेजी पुस्तक है। मूल पुस्तक गुजराती में लिखी गई है। और गुजराती पुस्तिका की भूमिका में यह बात साफ तौर पर कही गई है कि यह मौलिक पुस्तक नहीं है। बल्कि अमेरिका में प्रकाशित 'नैतिक धर्म' नामक एक पुस्तक के आधार पर लिखी गई है। यह अनुवाद यरवदा जेल में मेरी नजरों से गुजरा और मुझे यह देखकर अफसोस हुआ कि उसमें मूल पुस्तक का कहीं उल्लेख नहीं है। मुझे मालूम हुआ है कि खुद अनुवादक ने भी गुजराती नहीं, बल्कि उसके हिन्दी-अनुवाद का अनुवाद किया है। इस तरह अंग्रेजी-अनुवाद को एक द्राविड़ी प्राणायाम ही समझिए। उस मूल अमेरिकन पुस्तक के प्रति यह खुलासा देना मुझे जरूरी था। और खुशी

की बात है कि इन पत्र-लेखक ने मुझे उसकी याद दिलाकर उसके ऋण को अदा करने का अवसर दिया।

—यं० इं०, ५।३।१९२५]

● ईश्वर तो वह अनिर्वचनीय वस्तु है जिसका हम सब अनुभव तो करते हैं, लेकिन जिसे हम जानते नहीं।

● मेरा ईश्वर तो मेरा सत्य और प्रेम है। नीति और सदाचार ईश्वर है। निर्भयता ईश्वर है। ईश्वर जीवन और प्रकाश का मूल है। और फिर भी वह इन सबसे परे है।

६६. धर्मान्तर का प्रश्न

मैं स्वयं तो यही पसन्द करूँगा कि धर्म-परिवर्तन और शुद्धि सब बन्द कर दिये जायँ। किसी भी व्यक्ति के धर्म का सम्बन्ध स्वयं उसी के साथ होता है। वयस्क अवस्था के स्त्री-पुरुष जब या जितनी बार चाहें अपना धर्म बदल सकते हैं। यदि मेरा वस चलता तो मैं इसके अतिरिक्त कि मनुष्य अपने चरित्र से दूसरे पर प्रभाव डाले, और सब प्रकार के (धर्म) प्रचार-कार्य बन्द करा देता। धर्मान्तर का सम्बन्ध हृदय और विवेक-बुद्धि से है और चारित्र्य से ही उन पर प्रभाव डाला जा सकता है।.....

—हिं० न० जी०, २६।३।१९२५]

६७. संन्यास-धर्म और राजनीति

[एक सज्जन ने गांधी जी को पत्र लिखकर पूछा था कि उनके विचार से वह संन्यास-धर्म का उपदेश करते हैं, किन्तु दूसरी ओर वह भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। संन्यासी प्रवृत्ति से आत्ममार्गी, निवृत्ति-मार्गी और मोक्षमार्गी होता है, इसलिए उसे सांसारिक संघर्षों में नहीं पड़ना चाहिए। इस प्रकार गांधी जी के आदर्शों में विरोधाभास लक्षित होता है। गांधी-जी ने इन सज्जन को जो उत्तर दिया, उसके आवश्यक अंश संकलित किये जा रहे हैं।—सम्पा०]

.....मुझे पता नहीं कि मैंने मनुष्य के सामने संन्यासी का आदर्श रखा है। मैंने तो भारतवर्ष के सामने स्वराज्य का आदर्श रखा है। हां, ऐसा करते हुए मैंने सादगी का उपदेश जरूर किया है। मैंने सदाचार का भी उपदेश किया है। किन्तु

सादगी, सदाचार और ऐसे गुण केवल संन्यासियों की सम्पत्ति या सौभाग्य नहीं हैं। फिर मैं तनिक देर के लिए भी यह नहीं मानता कि संन्यासी एकान्तवासी हो, जिसे संसार की कोई चिन्ता न हो। संन्यासी तो वह है जो अपने लिए किसी बात की चिन्ता न करता हो, चौबीसों घण्टे दूसरों की चिन्ता करता हो। वह सभी स्वार्थों से मुक्त हो जाता है, पर निःस्वार्थ कामों में लगा रहता है; जिस प्रकार ईश्वर निःस्वार्थ भाव से लगा रहता है, सोता तक नहीं। इसलिए संन्यासी तभी सच्चा त्यागी, विरक्त कहा जायगा, जब वह अपने लिए नहीं, (क्योंक उसे तो वह प्राप्त ही है) बल्कि दूसरों के लिए वह स्वराज्य की चिन्ता करे। उसे अपने लिए कोई सांसारिक महत्वाकांक्षा नहीं होती। पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह दूसरों को संसार में उनका स्थान जानने में सहायता न दे। यदि प्राचीन काल के संन्यासी समाज के राजनीतिक जीवन में दिमाग लड़ाते हुए नहीं देखे गये, तो उसका कारण यह है कि उस काल की समाज-रचना भिन्न प्रकार की थी।....संन्यासी के नैतिक जीवन पर राज्य का प्रभाव पड़ा है। इसलिए समाज का सबसे बड़ा हितैषी होने के कारण संन्यासी का सम्बन्ध राजा-प्रजा—सम्बन्ध से हुए बिना नहीं रह सकता।.....

संन्यासी तो स्वयं स्वराज्य-प्राप्त होता है, इसलिए उसका मार्ग दिखाने के लिए वही सबसे योग्य पुरुष होता है। संन्यासी संसार में रहता है, पर वह सांसारिक नहीं होता। जीवन के तमाम महत्त्वपूर्ण कार्यों में उसका आचरण साधारण मनुष्यों-जैसा होता है; केवल उसकी दृष्टि भिन्न होती है। जिन बातों को हम राग के साथ करते हैं, उन्हें वह विराग के साथ करता है। हम सबों के लिए विराग प्राप्त करना ईश्वरीय प्रसाद है। निश्चय ही यह हर व्यक्ति के लिए एक उच्च आकांक्षा है।

—यं० इं०। हि० न० जी०, २१।५।१९२५]

- सादगी, सदाचार और ऐसे गुण केवल संन्यासियों की सम्पत्ति या सौभाग्य नहीं हैं।
- संन्यासी संसार में रहता है, पर वह सांसारिक नहीं होता।
- विराग प्राप्त करना ईश्वरीय प्रसाद है। यह हर व्यक्ति के लिए एक उच्च आकांक्षा है।

६८. धर्म की अभिवृद्धि

धर्म का पालन जितना कठिन है उतना ही सरल है। जिस प्रकार हर एक संघ (जाति) धर्म की वृद्धि कर सकता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति भी कर सकता है।

—न० जी०। हि० न० जी०, ११।६।१९२५]

६९. अर्थ का अविरोधी-धर्म

मैं ऐसा मानता हूँ कि धर्म-मात्र में धार्मिक, राजनीतिक आदि बातों का समावेश है। जो धर्म शुद्ध अर्थ का विरोधी है, वह धर्म नहीं है; जो धर्म शुद्ध राजनीति का विरोधी है वह धर्म नहीं है। धर्म-रहित अर्थ त्याज्य है; धर्म-रहित राजसत्ता राक्षसी है। अर्थ आदि से निराली धर्म नाम की कोई वस्तु नहीं है। व्यक्ति अथवा समाज धर्म से जीवित रहते हैं और अधर्म से नष्ट होते हैं।

—न० जी०। हि० न० जी०, १०।९।१९२५]

● धर्म-रहित अर्थ त्याज्य है; धर्म रहित राजसत्ता राक्षसी है।

७०. राम-नाम का प्रचार

एक पुराने 'जोगी' इस प्रकार लिखते हैं:—

"आपका कार्य राम-नाम के प्रचार बिना अपूर्ण और रूखा मालूम होता है। स्वराज्य की अपेक्षा राम-नाम पर ही अधिक जोर देना चाहिए। तुलसीदास जी की रामायण में बालकाण्ड की आरम्भिक प्रस्तावना, कथा-भाग का पूर्व-भाग बार-बार पढ़ने पर मुझे यह विश्वास हो गया है कि बिना जप किये मन की शुद्धि होना कठिन है। बहुत-से लोग जब प्रेम में विभोर हो एक साथ मिलकर राम-नाम का शोर करते हैं तब जो शक्ति उत्पन्न होती है उसके सामने कोई दूसरी शक्ति ठहर नहीं सकती। अर्थशास्त्र के द्वारा खादी का प्रचार नहीं हो सकता। उससे न स्वराज्य मिल सकता है और न ऐक्य हो सकता है।

"विद्वानों को संसार में कोई नहीं समझा सका है। भक्तों को समझा सकते हैं। आपको तो मोह हो गया है। श्रीराम और श्रीकृष्ण ने विद्वानों के साथ माथा-पच्ची नहीं की थी। विद्वान लोग तो जो घटनाएँ होती हैं, उन पर चर्चा करते हैं और उस घटना में कौन-से कारण सहायक थे, इसका ही निर्णय करते हैं। लेकिन घटनाओं के घटित कराने में भगवान और उनके भक्तों (गोपी और वानरों) का ही हाथ होता है। अर्जुन विद्वत्ता दिखाने चला, इसलिए उसे अनार्य, अस्वर्ग्य, अकीर्तिकर, क्लीव, क्षुद्र और दुर्बल-हृदय का कहा गया, लेकिन जब वह भक्त बना तब उसका मोह नष्ट हो गया। भगवान स्वयं ही अपने भक्त हैं और संसार को भक्ति करना सिखाते हैं। आप भी अब शान्ति से एक जगह बैठें, भटकना छोड़ दें और जो कर्तव्य है उसे ही करें, अर्थात् राम-नाम का जप और कर्त्तव्य-कर्म की स्थापना करें।

"लिखने का दिल बहुत होता है और बहुत दिनों से हो रहा है। मेरा यह पत्र आपके पास पहुँचे या शायद न पहुँचे। आपके पास पहुँचने से पहिले वह आपके बहुत-से पार्षदों के हाथ से गुजरेगा। फिर भी इस बार यह पत्र लिखा है। इसमें दोष न निकालिएगा। इसमें से जो ग्रहण करने योग्य हो उसे ग्रहण कर लीजिएगा।"

यह पत्र दो महीने से मेरे पास पड़ा हुआ है। मैंने सोचा था कि कुछ अवकाश मिलने पर मैं उसे 'नवजीवन' के पाठकों के सामने पेश करूँगा। आज वह फुर्सत मिली है अथवा यह कहें कि मैंने ही उसके लिए थोड़ा अवकाश निकाला है।

पत्र-लेखक ने मुझे दोष न देखने की सलाह दी है। आज मैं यदि उनके पत्र पर टीका कर रहा हूँ तो इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं उसके दोषों को ही देख रहा हूं। इसका हेतु तो उस पत्र को 'नवजीवन' में कहीं-न-कहीं स्थान देकर राम-नाम की महिमा प्रकट करना है। पत्र-लेखक महाशय और दूसरे लोग भी इस बात का यकीन रखें कि जो ग्रहण करने योग्य है, उसे मैं अवश्य ही ग्रहण करता हूँ। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि राम-नाम-महिमा के सम्बन्ध में मुझे अब कुछ नया सीखना बाकी नहीं है, क्योंकि मुझे उसका अनुभव-ज्ञान है। और इसीलिए मेरा अभिप्राय यह है कि खादी और स्वराज्य के प्रचार की तरह राम-नाम का प्रचार नहीं हो सकता। इस कठिन समय में राम-नाम का उल्टा जाप होता है। अर्थात् बहुत-से स्थानों में केवल आडम्बर के लिए, कुछ स्थानों में स्वार्थ के लिए और कुछ जगहों में व्यभिचार के लिए मैंने इसका जप होते देखा है। यदि केवल इसके अक्षरों का उल्टा जप हो तो इसमें मुझे कुछ नहीं कहना है। हमने यह पढ़ा है कि शुद्ध हृदय लोगों ने उल्टा जप करके मुक्ति प्राप्त की है और इसे हम मान भी सकते हैं। लेकिन यदि शुद्ध उच्चारण करनेवाले पापी पाप की पुष्टि के लिए राम-नाम मन्त्र का जप करें तो इसे क्या कहेंगे ? इसीलिए मैं राम-नाम-प्रचार से डरता हूँ। जो लोग यह मानते हैं कि भजन-मण्डली में बैठकर नाम की रट लगाने, शोर करने से ही भूत, भविष्य और वर्तमान के सब पाप नष्ट हो जायँगे और कुछ करना बच नहीं रहेगा, उन्हें तो दूर से ही नमस्कार करना चाहिए। उनका अनुकरण नहीं किया जा सकता। राम-नाम जपने की योग्यता प्राप्त करने के लिए मैं तो पहिले खादी-प्रचार आदि की योग्यता की ही अपेक्षा रखूँगा। राम-नाम-जप से ही खादी-प्रचार के लिए वायु-मण्डल तैयार होगा, ऐसा मुझे कहीं भी नहीं दिखाई दे रहा है।

विद्वानों को संसार में कोई भी नहीं समझ सका है—यह वाक्य जो राम के दास हैं वे किस प्रकार लिख सकते हैं ? मुझे यह नहीं मालूम होता कि मुझको तनिक भी मोह हुआ है। विद्वान भी तो राम के संसार में ही रहते हैं। बहुत-से विद्वान राम का नाम लेकर तर भी गये हैं। सच बात तो यह है कि विद्वानों को भक्त के अतिरिक्त

दूसरा कोई समझा नहीं सकता। भक्त होने की अभिलाषा रखनेवाला मैं विद्वानों को समझाने का प्रयत्न भी कर रहा हूँ। मुझे मोह नहीं है, इसलिए जो लोग नहीं समझते, उन पर मुझे क्रोध नहीं होता; परन्तु अपनी भक्ति में ही न्यूनता होने के कारण मुझे स्वयं पर ही क्रोध होता है। मेरे हृदय में राम सर्वदा निवास करें, इसके लिए अधिक हृदय-शुद्धि की आवश्यकता है—यह उपदेश पाने के लिए मैं सदा लालायित रहता हूँ और मैं अपने को सदा यही उपदेश देता रहता हूँ। यदि भक्ति में रस न पैदा कर सके तो यह भक्त का दोष है, श्रोता का नहीं। रस होगा तो श्रोता उसे अवश्य ही लूटेंगे। लेकिन यदि रस ही न हो तो श्रोताओं का क्या दोष? कृष्ण की वंशी फूटी होती, उससे कर्कश शब्द निकलता होता और उसे सुनकर भयभीत हो गोपियाँ भाग जातीं तो उससे गोपियों की नहीं, कृष्ण की ही निन्दा होती। बेचारा अर्जुन यह थोड़े ही जानता था कि वह पढ़ा हुआ मूर्ख है और अपनी विद्वत्ता दिखाने में गड़बड़ी कर रहा है। लेकिन कृष्ण की शुद्धता ने अर्जुन को शुद्ध कर दिया और उसका मोह दूर कर दिया। इसलिए जो राम-नाम का प्रचार करना चाहता है, उसे स्वयं अपने हृदय में ही उसका प्रचार करके उसे शुद्ध कर लेना चाहिए। उस पर राम का साम्राज्य स्थापित करके उसका प्रचार करना चाहिए। तब उसे संसार भी ग्रहण करेगा और लोग भी राम-नाम का जप करने लगेंगे। लेकिन चाहे जिस स्थान पर राम-नाम का जैसा-तैसा जप कराना पाखंड की वृद्धि करना और नास्तिकता के प्रवाह का वेग बढ़ाना है।

एक जगह बैठने से मनुष्य स्थिर नहीं हो सकता। जिसका मन सदा करोड़ों योजन की यात्रा करता है और जो शरीर को बाँध कर बैठता है, उसके पास राम भी कैसे पहुँच सकेंगे। लेकिन जो दमयन्ती की तरह जंगल-जंगल भटकता है और पेड़ों, वन्य-पशुओं से भी राम-रूपी नल का समाचार पूछता रहता है, उसे भटकता कहेंगे या स्थिर? यह क्यों न कहें कि जो बैठे हुए को भटकता हुआ देखता है और भटकते हुए को स्थिर देखता है, वही ठीक देखता है। कर्त्तव्य-कर्म की स्थापना कैसे की जा सकती है? यह तो कर्म करने से ही होगी। यदि ऐसा है तो मैं संसार जीत चुका हूँ, क्योंकि मैं जिसे न करूँगा उसे कभी न कहूँगा।.....

—न० जी०। हि० न० जी०, १९।११।१९२५]

- मुझे इस (राम-नाम) का अनुभव-ज्ञान है।
- राम-नाम का प्रचार नहीं हो सकता।
- विद्वानों को भक्त के अतिरिक्त दूसरा कोई समझा नहीं सकता।
- यदि भक्ति में रस न पैदा कर सके तो यह भक्त का दोष है, श्रोता का नहीं।

- राम-नाम का जैसा-तैसा जप करना पाखण्ड की वृद्धि करना. . .है।
- कर्तव्य-कर्म की स्थापना कैसे की जा सकती है ? यह तो कर्म करने से ही होगी।

७१. भूत-प्रेतादि

एक गृहस्थ ने एक लम्बा पत्र लिखकर उसका सार दिया है। उस सार का भी सार इस प्रकार है :—

(१) यदि आप प्रेतादिक को मानते हों तो उनके निवारण का उपाय क्या है ?

(२) यदि आप उन्हें असत्य मानते हों तो जो दृष्टान्त मैंने दिये हैं उसका जवाव देकर आप मेरे मन का समाधान करेंगे ?

मैं एक सुधरा हुआ मनुष्य हूँ। प्रेतादिक को नहीं मानता। लेकिन मेरे घर में ही वहुत वर्षों से उसका उपद्रव हो रहा है, इसलिए आखिर थककर, सच वात क्या है, यह जानने के लिए आपको लिखा है।

फिर इस लेखक ने अपने को और अपने लोगों को हुई पीड़ा के कई दृष्टन्त दिये हैं, लेकिन उन्हें यहाँ प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं मालूम होती।

भूत-प्रेतादिक हैं या नहीं, इसका निर्णय मैं नहीं दे सकता। मैं यही कह सकता हूँ कि कितने ही वर्ष हुए, वे नहीं हैं, यह मानकर ही मैं अपना जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। जो लोग उसकी हस्ती को नहीं मानते उन्हें उससे कुछ भी हानि हुई हो, यह मैंने कभी नहीं सुना। मैंने यह भी अनुभव किया है कि जो लोग उसकी हस्ती को मानते हैं उन्हें इससे पीड़ा पहुँचती है, ही इसलिए 'मंशा भूत और शंका डाकिन' की कहावत का आदर करना ही उचित है।

लेकिन थोड़ी देर के लिए यही मान लें कि भूत-प्रेतादिक हैं, तो भी वे सव ईश्वर की ही माया हैं। जिस ईश्वर के कव्जे में हम लोग हैं उसी ने भूत-प्रेतादि को भी उत्पन्न किया है। और एक ईश्वर को माननेवाला कभी दूसरे की आरावना न करेगा। जो ईश्वर का वन्दा वनता है वह दूसरे की गुलामी कभी नहीं करेगा। इसलिए जैसे मनुष्यों की तरफ से दुःख प्राप्त होने पर ईश्वरवादी के लिए राम ही रामवाण औषधि है उसी प्रकार भूतादि के सम्वन्ध में भी है। लिखनेवाले और उसके सगे-सम्वन्वी यदि श्रद्धापूर्वक राम-नाम का जप करेंगे तो भूतादिक भाग जायंगे। संसार में करोड़ों मनुष्य भूत-प्रेतादिक को नहीं मानते और उनका वे कुछ भी नहीं कर सकते। लेखक अपना अनुभव लिखते हुए यह लिखते हैं कि भूतादि उनके पिताजी

को बड़ी पीड़ा देते हैं, लेकिन जब वे स्वयं पिताजी से दूर रहते हैं उस समय उन्हें कोई पीड़ा नहीं होती। उपाय भी इसी में छिपा है। उनके पिताजी भूत-प्रेतादि से डरते हैं, इसलिए उन्हें वे डराते हैं, जैसे दण्ड से डरनेवाले को ही राजा दण्ड दे सकता है, उसी प्रकार। जो दण्ड से डरता ही नहीं उसके सम्बन्ध में राजदण्ड का क्या उपयोग होगा ? जो भूत से डरे ही नहीं, उसका भूत क्या करेगा ?
—न० जी०। हि० न० जी०, १४।१।१९२६]

- एक ईश्वर को माननेवाला कभी दूसरे की आराधना न करेगा।
- ईश्वरवादी के लिए राम ही रामबाण औषधि है।
- जो भूत से डरे ही नहीं, भूत उसका क्या करेगा ?

७२. ब्रह्मचर्य का दावा

[श्री महादेव ह० देसाई को पत्र लिखते हुए एक मित्र ने विचार व्यक्त किया कि गांधी जी की इस स्वीकारोक्ति से उनके ब्रह्मचर्य-व्रत पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है कि उन्हें अबतक स्वप्नदोष होते हैं। वह इस बात से निराश हुए हैं कि यदि गांधी-जी जैसे ब्रह्मचर्य के एकनिष्ठ साधक पूर्णत्व को प्राप्त नहीं कर सके तो उन-जैसे सामान्य साधक का क्या भविष्य होगा ? गांधी जी ने उक्त सज्जन को जो उत्तर दिया, उसके आवश्यक अंश संकलित किये जा रहे हैं।—सम्पा०]

मुझसे ग़लती हो और यदि वह मालूम हो जाय तो उससे लोगों को हानि के बदले लाभ ही होगा। मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि ग़लतियों के सम्बन्ध में मेरे शीघ्र स्वीकार कर लेने से जनता को लाभ ही हुआ है। मैंने अपने सम्बन्ध में तो यह अनुभव किया है कि उससे अवश्य लाभ हुआ है।

मेरे दूषित स्वप्नों के सम्बन्ध में भी यही समझना चाहिए। यदि मैं पूर्ण ब्रह्मचारी न होने पर भी, वैसा होने का दावा करूँ तो उससे ब्रह्मचर्य कलंकित होगा; सत्य का सूर्य म्लान हो जायगा। मैं ब्रह्मचर्य का मिथ्या दावा करके उसका मूल्य क्यों घटा दूं ? आज तो मैं यह स्पष्ट देख सकता हूँ कि ब्रह्मचर्य-पालन के लिए मैं जो उपाय बतलाता हूँ वे सम्पूर्ण नहीं हैं। वे सब लोगों के लिए पूर्णतया सफल नहीं होते, क्योंकि मैं स्वयं पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं हूँ। यदि संसार यह माने कि मैं पूर्ण ब्रह्मचारी हूँ और मैं उसको जड़ी-बूटी न दिखा सकूं तो कितनी बड़ी त्रुटि गिनी जायगी ?

मैं सच्चा साधक हूँ; सदा जागरित रहता हूँ। मेरा प्रयत्न दृढ़ है, इतना ही पर्याप्त क्यों न माना जाय ? इसी बात से दूसरों को मदद क्यों न मिले ? यदि मैं

स्वयं वैचारिक विकारों से दूर नहीं रह सकता तो दूसरों का कहना ही क्या; ऐसा ग़लत हिसाब करने के बदले यह सीधा हिसाब क्यों न किया जाय कि जो व्यक्ति एक समय व्यभिचारी और विकारी था वह यदि आज अपनी पत्नी के साथ भी अविकारी मित्रता रख सकता है और रम्भा-जैसी युवती के साथ भी अपनी लड़की या बहिन-जैसा भाव रखकर रह सकता है, तो हम लोग भी इतना क्यों न करेंगे? हमारे स्वप्नदोषों को, विचार-विकारों को तो ईश्वर अवश्य दूर करेगा। यह सीधा हिसाब है।

लेखक के वे मित्र जो मेरे स्वप्नदोष की स्वीकृति के बाद पीछे हटे हैं, कभी आगे बढ़े ही न थे। उन्हें झूठा नशा था; वह उतर गया। ब्रह्मचर्य आदि महाव्रतों की सत्यता या सिद्धि मुझ-जैसे किसी भी व्यक्ति पर अवलम्बन नहीं रखती। उसके पीछे लाखों मनुष्यों ने तेजस्वी तपश्चर्या की है और कुछ लोगों ने तो पूर्ण विजय भी प्राप्त की है।

जब मुझे उन चक्रवर्तियों की पंक्ति में खड़े होने का अधिकार प्राप्त होगा, तब मेरी भाषा में आज की अपेक्षा अधिक निश्चय दीख पड़ेगा। जिसके विचार में विकार नहीं है, जिसकी निद्रा का भंग नहीं होता, जो निद्रित होने पर भी जागरित रह सकता है, वह नीरोग होता है। उसे कुनैन के सेवन की आवश्यकता नहीं होती। उसके निर्विकार रक्त में ऐसी शुद्धि होती है कि मलेरिया आदि के कीटाणु उसे कभी दुःख नहीं पहुँचा सकते। मैं यह स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। इसमें हारने की कोई बात नहीं है। इस प्रयत्न में लेखक को, उनके श्रद्धाहीन मित्रों को और अन्य पाठकों को मैं अपना साथ देने के लिए निमन्त्रित करता हूँ और चाहता हूँ कि वे मुझसे भी अधिक तीव्र वेग से आगे बढ़ें। जो पीछे रह गये हों, वे मुझ-जैसों के दृष्टान्त से आत्म-विश्वासी बनें। मुझे जो कुछ सफलता प्राप्त हो सकी है उसे मैं निर्बल होने पर भी, विकारवश होने पर भी, प्रयत्न करने से, श्रद्धा से और ईश्वर-कृपा से प्राप्त कर सका हूँ।

इसलिए किसी के निराश होने का कोई कारण नहीं है। मेरा माहात्म्य मिथ्या उच्चार है। वह तो मुझे मेरी बाह्य प्रवृत्ति के, मेरे राजनीतिक कार्य के कारण प्राप्त है। वह क्षणिक है। मेरा सत्य का, हिंसा का और ब्रह्मचर्यादि का आग्रह ही मेरा अविभाज्य और सबसे अधिक मूल्यवान अंग है। मुझे उसमें जो कुछ ईश्वर-दत्त प्राप्त हुआ है, उसकी कोई भूल कर भी अवज्ञा न करे। उसमें मेरा सर्वस्व है। उसमें दीख पड़नेवाली निष्फलता सफलता की सीढ़ियाँ हैं। इसलिए मुझे निष्फलता भी प्रिय है।

—न० जी०। हि० न० जी०, १८।२।१९२६]

- मेरा माहात्म्य मिथ्या उच्चार है।...वह क्षणिक है। मेरा सत्य का, अहिंसा का और ब्रह्मचर्यादि का आग्रह ही मेरा अविभाज्य और सबसे अधिक मूल्यवान अंग है।...उसमें मेरा सर्वस्व है।

७३. मांसाहार : एक धर्म-संकट

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—एक मुसलमान युवक है। संस्कार-बल से उसे मांसाहार के प्रति बड़ी अरुचि है। उसने स्वाद के बिना बहुत दिनों तक मांसाहार किया, परन्तु अब उसका त्याग कर दिया है। परन्तु माता, जिसका प्रेम अगाध है, उसके मांस-त्याग को सहन नहीं कर सकती और उसे बड़ी चिन्ता होती है। माता को नाराज करने में बड़ा पाप मालूम होता है और मांस खाने से आत्मा दुखी होती है। उसे अब क्या करना चाहिए?

उत्तर—आपको जो धर्म-संकट है, उसका आप ही निर्णय कर सकते हैं। यदि आपको मांसाहार का त्याग धर्म-रूप मालूम होता हो तो (आपको) दृढ़तापूर्वक माता के प्रेम के वश नहीं होना चाहिए और मांसाहार-त्याग केवल एक प्रयोग हो, तो माता को दुखी करना पाप गिना जा सकता है।

—न० जी०। हि० न० जी०, ८।४।१९२६]

७४. गुरु की शोध

सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा के भाग २ के प्रथम अध्याय में लिखे मेरे इस वाक्य के उत्तर में कि मैं अब भी गुरु की तलाश में हूँ, कई हिन्दू, मुसलमान, ईसाई महाशयों ने मुझे बहुत लम्बे पत्र लिखे हैं और मुझे यह बताने का प्रयत्न किया है कि गुरु की प्राप्ति कैसे हो? और भी पत्र आ रहे हैं। कुछ लोगों ने तो मुझे कहाँ जाना चाहिए और किससे मिलना चाहिए, इत्यादि बातें भी लिखी हैं। कुछ लोग मुझे अमुक किताबें पढ़ने के लिए लिखते हैं। मैं इन पत्र-लेखकों का, जिन्हें मेरे श्रेय के लिए इतनी चिन्ता है, बड़ा ही उपकार मानता हूँ। परन्तु उन्हें और दूसरे लोगों को भी यह जान लेना चाहिए कि मेरी कठिनाई तो सैद्धान्तिक है। उसका मुझे दुःख भी नहीं है। वह सैद्धान्तिक है, क्योंकि गुरु के सम्बन्ध में मेरा आदर्श कोई साधारण आदर्श नहीं है। बिना सम्पूर्णता के मुझे किसी से भी सन्तोष न होगा। मैं तो ऐसे गुरु की तलाश में हूँ जो देहधारी होने पर भी अविकारी है; जो विकारों

से निर्लिप्त है; स्त्री-पुरुष -भाव से मुक्त है और जो सत्य और अहिंसा का पूर्ण अवतार है और इसलिए वह न किसी से डरता है और न कोई उससे ही डरता है। प्रत्येक मनुष्य को, जैसे गुरु के लिए वह प्रयत्न करता है और जिसके कि वह योग्य है, वैसा गुरु मिलता है। मुझे जैसे गुरु की चाह है वैसा गुरु प्राप्त करने की कठिनाई तो स्पष्ट ही है। परन्तु उसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि मैंने ऊपर जो बात कही है, उसका स्वाभाविक परिणाम यही हो सकता है कि मुझे देहधारी गुरु प्राप्त करने के लिए खुद सम्पूर्ण बनने का प्रयत्न करना चाहिए। अभी तो मुझे केवल ऐसे गुरु के आदर्श की ही चिन्ता करनी चाहिए। सत्य के लिए सतत और नम्र प्रयत्न करने में ही मुझे मेरी सफलता दिखाई देती है। मैं अपना मार्ग जानता हूँ। वह मार्ग सीधा और सँकरा है। वह तलवार की धार के समान है। मुझे उस पर चलने में आनन्द मिलता है। मैं कभी यदि उस पर से फिसल जाता हूँ तो रोता हूँ। जो प्रयत्न करता है उसका कभी नाश नहीं होता, इस वचन पर मुझे अटल श्रद्धा है। इसलिए अपनी दुर्बलता के कारण मैं चाहे हजार बार असफल क्यों न होऊँ, मैं अपनी इस श्रद्धा का त्याग न करूँगा। परन्तु मैं यही आशा करूँगा कि जब मेरी देह का सम्पूर्ण दमन होगा, जैसा कि एक दिन उसे होना ही चाहिए, तब मुझे प्रकाश के दर्शन होंगे। क्या अब मेरे कृपालु पत्र-लेखक महाशय मेरी स्थिति को समझ जायँगे और मेरी कुछ भी चिन्ता न करेंगे, परन्तु उसे ढूंढ़ने में तबतक मेरा साथ देंगे जबतक कि उन्हें यह सन्तोष न हो कि वह प्राप्त हो गया ?

—हि० न० जी०, १७।६।१९२६]

- **गुरु के सम्बन्ध में मेरा आदर्श कोई साधारण आदर्श नहीं है। बिना सम्पूर्णता के मुझे किसी से भी सन्तोष न होगा।**
- **जो प्रयत्न करता है उसका कभी नाश नहीं होता, इस वचन पर मुझे अटल श्रद्धा है।**

७५. सहवर्ती धर्मों का अध्ययन

[कई पत्र-प्रेषकों ने गांधी जी से प्रश्न किया था कि वह गुजरात विद्यापीठ में विद्यार्थियों को बाइबिल पढ़ाकर क्या उन्हें प्रकारान्तर से ईसाई हो जाने की ओर आकृष्ट नहीं कर रहे हैं? इसका उत्तर गांधी जी ने 'बाइबिल पढ़ने का गुनाह' शीर्षक लेख में दिया। इसके आवश्यक अंश यहाँ दिये जाते हैं।—सम्पा०]

.....मेरा विश्वास है कि प्रत्येक सुशिक्षित स्त्री-पुरुष का यह कर्त्तव्य है सारे संसार के धर्म-ग्रन्थों को सहानुभूति के साथ पढ़ डाले। यदि हम दूसरों के धर्मों

का उतना ही आदर करना चाहते हैं, जितना कि हम कहते हैं कि वे हमारे धर्म का करें, तो संसार के सभी मतों का प्रेम भाव से अध्ययन कर लेना एक पवित्र कर्त्तव्य हो जाता है। हमको इस बात से तनिक भी डरने की जरूरत नहीं है कि दूसरे धर्म हमारे सयाने बालकों पर अपना प्रभाव डाल देंगे।

संसार में जो कुछ स्वच्छ है, उसका अध्ययन भेदभाव बिना करने के लिए बालकों को उत्साहित करके हम जीवन के प्रति उनके भावों को उदार बनाते हैं। हाँ, भय का अवसर तब है, जब वे (धर्म-शिक्षक) नवयुवकों को अपने ही धर्म की पुस्तकें गुप्त या प्रकट रूप से अपने धर्म में मिला लेने की नीयत से सुनायें। ऐसी स्थिति में उनके हृदय में अपने धर्म के लिए पक्षपात अवश्य होगा। मेरी बात तो यह है कि मैं बाइबिल, कुरान या किसी दूसरे धर्म-ग्रन्थ का अध्ययन करना या उसके प्रति श्रद्धा रखना अपने पक्के सनातनी हिन्दू होने के साथ संगत मानता हूँ।

जो मनुष्य संकुचित विचारोंवाला तथा धर्मान्ध है और जो किसी बुरी बात को केवल इसलिए अच्छी ठहराता है कि वह प्राचीन काल से चली आ रही है या उसका समर्थन किसी संस्कृत पुस्तक में किया गया है, वह कदापि सनातनी हिन्दू नहीं है। मैं पक्का सनातनी हिन्दू होने का दावा इसलिए करता हूँ कि यद्यपि मैं उन बातों को, जो मेरी नैतिक भावना के प्रतिकूल होती हैं, नहीं मानता, तथापि मुझे हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में आत्मा की प्रत्येक आवश्यकता पूरी करने का सामान मिल जाता है। मैंने दूसरे धर्मों का आदरपूर्वक अध्ययन कर लिया है, इसका अर्थ यह नहीं कि हिन्दू-धर्मग्रन्थों के प्रति मेरी श्रद्धा कम हो गई है या विश्वास घट गया है। अवश्य ही, मेरे हिन्दू धर्मग्रन्थों के समझने में उनका बड़ा हाथ है। उन्होंने जीवन के प्रति मेरी दृष्टि व्यापक बना दी है। उनकी सहायता से मैं हिन्दू धर्म-ग्रन्थों के गूढ़ अंश को कहीं-कहीं अधिक अच्छी तरह समझ सका हूँ।

मेरे गुप्त रूप से ईसाई होने का आरोप कुछ नया नहीं है। वह अपकीर्ति के रूप में है और अभिवादन के रूप में भी। अपकीर्ति इसलिए कि कुछ लोग ऐसे हैं, जो समझते हैं कि मैं गुप्त रूप से कुछ भी हो सकता हूँ, यानी वह हो सकता हूँ, जिसे प्रकट रूप से होने में मैं डरता हूँ। जिस क्षण ईसाई या अन्य किसी धर्म की सत्यता मेरी समझ में आ जाय, मुझे जिस धर्म की आवश्यकता प्रतीत हो जाय, उसी क्षण उसको अंगीकार करने में बाधा डाल सकनेवाली कोई भी वस्तु संसार में नहीं है। यह अभिवादन-सूचक इसलिए है कि मेरी ईसाई मत की खूबियों को समझने की क्षमता को लोग (अनिच्छा से ही) स्वीकार करते हैं। हाँ, एक बात मैं स्वीकार करता हूँ। यदि मैं बाइबिल या कुरान को अपने मन के अनुसार समझकर स्वयं को ईसाई या मुसलमान कह सकता हूँ तो मुझे इसमें तनिक भी संकोच न होगा क्योंकि

उस स्थिति में हिन्दू, ईसाई और मुसलमान शब्द पर्याय हो जायंगे। मेरा यह विश्वास तो है ही कि परलोक में कोई हिन्दू, ईसाई या मुसलमान नहीं है; वहाँ सब लोग अपने कृत्यों से ही जाँचे जाते हैं, पेशों या नाम से नहीं। जबतक हम इस संसार में रहते हैं, तबतक हमारे नाम आदि अवश्य रहेंगे। इसलिए मुझे यह पसन्द है कि जहाँतक मेरे पूर्वजों का मत मेरी उन्नति को नहीं रोकता और जहाँतक वह मुझे अन्यत्र से अच्छी चीजें अंगीभूत करने में रुकावट नहीं डालता, वहाँतक मैं अपने पूर्वजों का ही धर्म मानता रहूँ।.....

—यं० इं०। हि० न० जी०, २।९।१९२६]

- संसार के सभी मतों का प्रेम-भाव से अध्ययन कर लेना एक पवित्र कर्त्तव्य हो जाता है।
- मुझे हिन्दू धर्मग्रन्थों में आत्मा की प्रत्येक आवश्यकता पूरी करने का सामान मिल जाता है।
- परलोक में कोई हिन्दू, ईसाई या मुसलमान नहीं है।
- वहाँ (परलोक में) सब लोग अपने कृत्यों से ही जाँचे जाते हैं, पेशों या नाम से नहीं।

७६. प्रभु की साक्षी

मैं छाती पर हाथ रख कर कह सकता हूँ कि मैं भगवान को एक मिनट के लिए नहीं भूलता। गत वीस वर्षों से मैंने सभी काम उसी प्रकार किये हैं जैसे मेरे समक्ष साक्षात् ईश्वर खड़े हों।.....चूँकि परमात्मा में मेरा विश्वास है, एक क्षण के लिए भी उसमें मेरी श्रद्धा कम नहीं होती; मेरे लिए वह जो दुःख या सुख लिखता है, उसी में सन्तोष मानता हूँ, इसलिए मैं विवश भले हुआ होऊँ, किन्तु निराश नहीं होता।

—य० इं०। हि० न० जी०, १०।२।१९२७]

७७. मेरा धर्म

मैं एक अपूर्ण मनुष्य हूँ। समग्र सर्वशक्तिमान तो केवल ईश्वर है।..... भगवान श्रीकृष्ण की गीता के उपदेशानुसार चलने का प्रयत्न करनेवाला मैं एक अल्प मनुष्य हूँ। मैं समझता हूँ कि मेरा अपना धर्म थोड़े-से-थोड़े में क्या है —

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥१॥

दूसरा धर्म चाहे जितना अच्छा लगता हो, पर मेरे लिए मेरा मर्यादित धर्म ही श्रेष्ठ है, दूसरा भयावह है।

—न० जी०। हि० न० जी०, ३।३।१९२७]

७८. प्रार्थना की विधि

[बंगलौर में किये गये प्रवचन का अंश।—सम्पा०]

.....आप चाहे किसी धर्म के अनुयायी हों, यहाँ आकर प्रार्थना में सम्मिलित हो सकते हैं। पर इसके लिए एक-दो शर्तें हैं। पहिली शर्त यह कि आपको ऐसी वृत्ति, ऐसा हृदय और ऐसी मनोदशा लेकर यहाँ आना चाहिए जो प्रार्थनामय हो, प्रार्थना के योग्य हो। प्रत्येक हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या अन्य किसी भी धर्म का अनुयायी प्रार्थना में शामिल हो सकता है। गीता के श्लोक बोलने के बाद 'रघुपति राघव राजाराम, पतित पावन सीताराम' कहते हैं। इसमें भी वे सब शामिल हो सकते हैं जिनकी आवाज अच्छी है, ताकि हमारी प्रार्थना में शक्ति उत्पन्न हो और वह परमात्मा के कानों तक—अगर हमारी प्रार्थनाओं को सुननेवाला परमात्मा कहीं हो—तो पहुँच सके। एक शर्त और है। क्या आप जानते हैं कि पतित-पावन सीताराम का अर्थ क्या है? इन शब्दों-द्वारा हम उस परमात्मा को याद करते हैं, जो पतित और दलित का उद्धार करता है।.....

यह ऐसी प्रार्थना है, जिसमें हिन्दू, मुसलमान ईसाई आदि सब शामिल हो सकते हैं, क्योंकि यह किसी राजा की नहीं, राजाधिराज की, देवाधिदेव की प्रार्थना है, जिसकी हम सब पूजा करते हैं।

—ह० से०, २३।६।१९२७]

७९. राम-नाम

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

.....और राम-नाम! अगर वह तुम्हारे लिए जीवित सत्य बन गया है, तो बेशक बड़ी बात हुई।

—१२।९।१९२७। बापू के पत्र : मीरा के नाम, न० जी० प्र० मं०]

८०. धर्म का आदेश

धर्म तो यह कहता है कि जबतक मनुष्य अपने मैल को जमा करता है तबतक वह अपवित्र है; ईश्वर के पास खड़ा होने लायक नहीं है। इसलिए तुम्हारा पहिला काम तो यह है कि जिसमें मैल हो, वह उसे प्रकट करके धो डाले।

— २६।९।१९२७। क्वार सुदी १ सम्वत् १९८३। बापू के पत्र: आश्रम की बहिनों को, न० जी० प्र० मं०]

८१. धर्मग्रन्थ पढ़ने की शर्तें

धार्मिक अध्ययन के लिए हिन्दू-धर्म में कुछ खास शर्तें रखी गई हैं। वे सभी धर्मों पर लागू हैं। जो मनुष्य धार्मिक अध्ययन करना चाहता था, उसे इन शर्तों के अनुसार पाँच यमों का पहिले पालन करना पड़ता था। वे पाँच यम हैं आत्मसंयम के पाँच नियम। पहला यम है ब्रह्मचर्य; दूसरा है सत्य; तीसरा है अहिंसा यानी बिल्कुल निर्दोषता, एक चींटी को भी कष्ट नहीं पहुँचाना; चौथा है अस्तेय या चोरी न करना, पर इसका अर्थ केवल सांसारिक अर्थ में चोरी से बचना मात्र नहीं है बल्कि वह है दूसरे की चीजों पर लालच की नजर भी नहीं डालना। और पाँचवाँ है अपरिग्रह। जो आदमी सांसारिक धन-दौलत की आकांक्षा रखता है वह कभी बुद्ध भगवान की शिक्षाएँ समझने के योग्य नहीं हो सकता। जबतक आप खुद इन यमों का पालन करके उनकी शिक्षा को समझने का प्रयत्न नहीं करते उसे नहीं समझ पायेंगे। .....हिन्दू धर्म के आलोचकों ने क्या उसकी मिट्टी कम पलीद की है? ईसाई धर्म का कितने ही हिन्दुओं ने बहुत-सा गलत अर्थ नहीं लगाया? हिन्दुओं ने ही क्यों, अंग्रेजों ने ही क्या नास्तिकता के जोश में बाइबिल का उल्टा अर्थ लगाकर बहुत खराबी नहीं की है? इसलिए मैं चाहता हूँ कि आप धर्म का अध्ययन करके संसार के आगे नया जीवन्त धर्म रखिए, न कि वही पुराना धर्म, जिसे संसार स्वीकार करने को तैयार नहीं है।

—हि० न० जी०, १५।१२।१९२७]

८२. जीवन-कण

[गांधी जी के अंग्रेजी, और गुजराती लेखों और भाषणों में से चुने हुए उद्गारों के कुछ सारानुवाद।—सम्पा०]

वसुधैव कुटुम्बकम्

मैं चाहता हूँ कि सिर्फ हिन्दुस्तान के ही नहीं बल्कि सारे दुनिया के भिन्न-भिन्न धर्मों के माननेवाले पारस्परिक सम्पर्क से अच्छे बनें और जब यह हो जायगा तब दुनिया आज से कहीं अच्छी, रहने योग्य जगह, बन जायगी। मैं अत्यन्त उदार, सहिष्णुता का आचार चाहता हूँ और इसके लिए काम कर रहा हूँ कि मेरे स्वप्न के आदर्श भारत में केवल एक ही धर्म नहीं रहेगा, यानी वह सम्पूर्णतः हिन्दू, ईसाई या मुसलमान नहीं बन जायगा बल्कि मैं तो चाहता हूँ कि वह सम्पूर्णतः उदार और सहिष्णु बने, और ये धर्म साथ चलें।

गीता और बाइबिल

मुझे बाइबिल में 'गिरि-शिखर प्रवचन' पढ़ने पर उसमें कोई नई बात नहीं मालूम हुई थी। मैंने बचपन में जो सीखा था वही उसमें साफ-साफ कहा गया था—उपकारी के प्रति उपकार करने में, पानी पिलानेवाले को पानी पिलाने में कोई खास खूबी नहीं है। परन्तु पुण्य तो है अपकारी का उपकार करने में, अपना बुरा चेतनेवाले का भला चेतने में। मैं तो बाइबिल में गिरि-शिखर के इन उपदेशों और गीता में कोई फर्क नहीं देखता। गिरि-शिखर-प्रवचन में जो कुछ सुन्दर भाषा में कहा गया है, वही बात शास्त्रीय या वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में गीता में प्रतिपादित हुई है। वैज्ञानिक रीति के आज के सर्वमान्य अर्थ में गीता भले ही वैज्ञानिक ग्रन्थ न हो, लेकिन उसमें प्रेम के नियम का, त्याग के नियम का वैज्ञानिक रीति से विवेचन किया गया है। वही बात आश्चर्यजनक भाषा में गिरि-शिखर-प्रवचन में कही गई है। आज यदि मान लें कि मेरे पास से गीता छीन ली जाय और मैं उसे सारी-की-सारी भूल जाऊँ, परन्तु मेरे पास गिरि-शिखर-प्रवचन की एक प्रति रहे, तो मुझे उससे वही सान्त्वना मिलेगी जो गीता से मिल सकती थी। आप जानते होंगे कि मेरी आदत है कि मैं हर एक वस्तु की सुन्दरता ही देखना चाहता हूँ, कदर्यता नहीं। इसलिए मैं किसी धर्म के किसी महान् ग्रन्थ से सान्त्वना पा सकता हूँ। शायद मैं गीता का एक भी श्लोक, गिरि-शिखर-प्रवचन का एक भी वाक्य न दुहरा सकूँ और हिन्दू या ईसाई लड़कों को गीता और बाइबिल मेरी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह याद हो, मगर इस कारण श्री गीता जी के और गिरि-शिखर पर उपदेश के अध्ययन और मनन से मैंने जो सीखा है, वह मुझसे कोई नहीं छीन सकता।

वकालत का पेशा

आपने यह सवाल पूछकर बहुत अच्छा किया कि वकालत को कैसे धार्मिक बनाया जा सकता है ? अगर मैं इस सवाल पर भी प्रामाणिकता से न बोल सकूँ

तो और किस पर बोलूंगा ? अपनी सारी वकालत के दौरान मैं एक बार भी सत्य और ईमानदारी के सीधे और सँकरे रास्ते से अलग नहीं गया। अब अगर आप कानून या वकालत के पेशे को धार्मिक बनाना चाहते हैं तो आपके लिए यह आवश्यक है कि आप अपने इस पेशे को धन बटोरने का नहीं, बल्कि देश-सेवा का एक साधन मानिए। सभी देशों में ऐसे बहुत ही योग्य वकीलों के उदाहरण मिलेंगे जिन्होंने बहुत बड़े स्वार्थ-त्याग का जीवन बिताया; अपने कानून-ज्ञान को देश-सेवा में लगाया यद्यपि इससे उनके पल्ले गरीबी ही गरीबी पड़ी। दूसरे देशों में क्यों जायँ, अपने हिन्दुस्तान में ही स्वर्गीय श्रीयुत् मनमोहन घोष का उदाहरण है। उन्होंने अपने मुवक्किलों के लिए निलहे गोरों से लोहा लिया और इसमें मेहनत की। उनका स्वास्थ्य खराब हुआ सो हुआ, मगर उनकी जान का भी खतरा था। और इस पर भी उन्होंने फीस में एक फूटी कौड़ी न ली। ऐसे ही उदाहरण आपको अपने सामने रखने चाहिए। रस्किन ने कहा है—'कोई वकील क्यों दो-दो सौ रुपये अपना मेहनताना लेगा जब कि बढ़ई को उतने पैसे भी नहीं मिलते ?' वकीलों की फीस उनके काम के हिसाब से नहीं होती। मैंने भी बड़ी-बड़ी फीसें ली हैं। मगर इतना तो कहना ही चाहिए कि वकालत करते समय भी उसके कारण मेरा कोई सार्वजनिक काम नहीं रुका।

मगर एक बात और है। दक्षिण अफ्रिका में, इंगलैण्ड में, बल्कि सभी जगह, मैंने देखा कि चाहे जानबूझ कर या अनजाने वकीलों को अपने मुवक्किलों की खातिर झूठ बोलना पड़ता है। एक प्रसिद्ध अंग्रेज वकील ने तो यहाँ तक लिख मारा है कि अपने मुवक्किल को अपराधी जान कर भी उसका बचाव करना वकील का धर्म है, कर्त्तव्य है। मेरा मत दूसरा है। वकील का काम यह है कि वह हमेशा जजों के आगे सच्ची बातें रख दे; सच की तह में पहुँचने में मदद करे। मगर अपराधी को निर्दोष साबित करना उसका काम कभी नहीं है। अगर आप अपने कर्त्तव्यों में चूके तो दूसरे पेशों का क्या हाल होगा ? तुम नवयुवकों का दावा है कि कल देश के कर्त्ता-धर्त्ता हमीं होंगे। अब तुम्हें तो देश का सार पदार्थ, देश का रत्न होना चाहिए। लेकिन अगर रत्नों की ही चमक जाती रहे, तो फिर उन्हें कौन चमकायेगा ?
—हिं० न० जी० २९।१२।१९२७]

८३. धर्म का रहस्य और धर्म-परिवर्तन

[१२ जनवरी से १९ जनवरी १९२८ के बीच आश्रम में 'इण्टरनेशनल फेलोशिप के सभ्यों ने अपना वार्षिकोत्सव मनाया। उनके बीच दिये गये गांधी जी के भाषण के कुछ अंश ये हैं।—सम्पा०]

अगर इस संघ को सफल बनना है तो इसके सदस्यों का प्रत्येक कार्य धार्मिक और त्यागपूर्ण होना चाहिए। मैं इस निष्कर्ष पर बहुत दिनों पहिले ही, पर्याप्त विचार, मनन और जितने लोगों से मिला सब के साथ बातें करके, पहुँच गया था कि सभी धर्म सच्चे हैं; साथ ही सभी में कुछ-न-कुछ दोष या त्रुटियाँ अवश्य हैं। मुझे अपने धर्म पर दृढ़ रहते हुए भी अन्य धर्मों को हिन्दू धर्म-जैसा ही प्रिय मानना चाहिए।.....अगर हम हिन्दू हैं तो हमें यह प्रार्थना नहीं करनी चाहिए कि कोई ईसाई हिन्दू हो जाय। अगर हम मुसलमान हैं तो हमें यह दुआ नहीं करनी चाहिए कि हिन्दू लोग मुसलमान हो जायं। हमें तो एकान्त में भी यह प्रार्थना नहीं करनी चाहिए कि किसी का धर्म-परिवर्तन हो, बल्कि हमारी आन्तरिक प्रार्थना यह होनी चाहिए कि जो हिन्दू है वह और अच्छा, और सच्चा हिन्दू बने; जो ईसाई है वह और सच्चा ईसाई बने; जो जिस धर्म में है वह उसी धर्म का और भी अच्छा अनुयायी बने। बन्धुता का यही मूल मन्त्र है।.....अगर आपके मन में यह शंका हो कि केवल एक ही धर्म सच्चा हो सकता है और दूसरे सब झूठे ही होंगे तो आपको मेरे बतलाये बन्धुता के आदर्श का त्याग करना पड़ेगा। तब तो हमें निरन्तर एक दूसरे को छाँटते ही जाना पड़ेगा, हमारी बन्धुता की नींव परस्पर बहिष्कार पर रखी जायगी।...इसका अर्थ यह नहीं कि हर बुरे मनवाले को आप अपने पास बुलाया करें या झूठे धर्म को सहन करें। मैं सच्चा धर्म उसे कहता हूँ, जिसकी समस्त शक्तियों का सारा प्रभाव उसके अनुयायियों के लिए हितकर हो। और झूठा धर्म वह है जिसमें अधिकांश झूठ-ही-झूठ भरा हो। इसलिए अगर आपको यह लगे कि कुल मिलाकर हिन्दू धर्म से हिन्दुओं का और संसार का अहित ही हुआ है तो आपको उसे झूठा धर्म मानकर अवश्य ही छोड़ना पड़ेगा।

[गांधी जी ने इस बात पर जोर दिया कि संघ का कोई सदस्य धर्मान्तर की प्रवृत्ति न रखे। इस पर वाद-विवाद छिड़ गया। तब गांधी जी ने अपनी स्थिति और स्पष्ट करते हुए निम्नलिखित विचार व्यक्त किये।]

मैं केवल दूसरे का धर्म-परिवर्तन न करने की कोशिश ही न करूँगा, बल्कि गुप्त रूप से भी यह नहीं कहूँगा कि वह अपना धर्म छोड़कर मेरा धर्म स्वीकार करे। मेरी परमात्मा से सदैव यही प्रार्थना रहेगी कि इमाम साहब अच्छे मुसलमान बनें या श्रेष्ठतम मनुष्य बनें। अहिंसा के सन्देश से परिपूर्ण हिन्दू धर्म मेरी दृष्टि में सबसे सुन्दर, सबसे बड़ा, सबसे महिमामय धर्म है, जैसे मेरी दृष्टि में मेरी धर्मपत्नी सबसे सुन्दर रमणी है। पर दूसरों को भी अपने धर्म के विषय में यही गर्व हो सकता है। वास्तविक धर्म-परिवर्तन के भी उदाहरण मिलने सम्भव हैं। अगर कुछ लोग अपने आन्तरिक सन्तोष और विकास के लिए धर्म-परिवर्तन करना चाहें, तो वे भले

ही करें। मुझे जंगलियों और आदिम निवासियों के पास अपने धर्म का सन्देश पहुँचाने का शौक नहीं है।.....धर्म-परिवर्तन और सेवा, दोनों, का साथ भली प्रकार नहीं निभता।

[दूसरे दिन बड़े तड़के संघ के सदस्य गांधी जी से मिले। इस दौरान धर्म के सम्बन्ध में कुछ प्रश्नोत्तर हुए, जिनके आवश्यक अंश संकलित किये जा रहे हैं। —सम्पा०]

प्रश्न—क्या धर्म-प्रचार की इच्छा परमात्मा की प्रेरणा नहीं है?

उत्तर—मुझे इसमें शंका है। कुछ हिन्दुओं का विश्वास है कि सभी इच्छाएँ परमात्मा की ही प्रेरणा होती हैं, परन्तु उन्होंने हमें भले-बुरे को समझने की शक्ति, उसका विवेक भी तो दिया है। भगवान कहेंगे कि मैंने तुम्हें बहुत-सी प्राकृतिक स्फुरणाएँ दी हैं, ताकि प्रलोभन का सामना करने की तुम्हारी शक्ति की परीक्षा हो जाय।

प्रश्न—मगर आप आर्थिक संगठन के बारे में उपदेश देने को अवश्य ही अच्छा समझते होंगे।

उत्तर—हाँ, उसी प्रकार जिस प्रकार मैं स्वास्थ्य के नियमों को बतलाना अच्छा समझता हूँ।

प्रश्न—तब यही नियम धार्मिक मामलों में भी क्यों न काम में लाया जाय?

उत्तर—यह सवाल ठीक है। मगर आप यह न भूलें कि यह चर्चा इस सिद्धान्त को मान कर की गई है कि सभी धर्म सच्चे हैं। अगर भिन्न-भिन्न समाजों के लिए अलग-अलग परन्तु स्वास्थ्य के सच्चे नियम प्रचलित होते तो मैं कुछ को सही और कुछ को गलत कहने में हिचकता।.....

फिर, आध्यात्मिक विषयों में संस्कारिक या भौतिक दृष्टान्त भी बहुत दूर तक काम में नहीं लाये जा सकते। जब आप बाह्य प्रकृति से कोई दृष्टान्त चुनते हैं, तब उसका उपयोग भी किसी विशेष सीमा तक ही हो सकता है। मैं एक प्रकृति-सम्बन्धी उदाहरण देकर अपनी बात समझाने की कोशिश करूँगा। अगर मैं आपको गुलाब का एक फूल दूँ तो उसके लिए मुझे अपना हाथ हिलाना ही पड़ेगा, लेकिन उसकी सुगन्ध देने के लिए मुझे कुछ नहीं करना पड़ेगा। वह स्वयं ही आपके पास पहुँच जाती है। हम एक क़दम और आगे बढ़ें तब समझ सकेंगे कि आध्यात्मिक अनुभवों का असर स्वयं ही होने लगता है। इसलिए स्वच्छता आदि नियम सिखलाने का दृष्टान्त यहाँ काम नहीं देगा। अगर हमें अध्यात्मज्ञान है तो वह स्वयं ही दूसरों तक पहुँच जायगा। आप आध्यात्मिक अनुभवों के परमानन्द की बात करते हैं और कहते हैं कि उसमें दूसरों को भी हिस्सा दिये बिना नहीं रह सकते। अगर यह सच्चा

आनन्द है, परमानन्द है तो स्वयं ही, बोले बिना, फैल जायगा। आध्यात्मिक विषयों में हमें सिर्फ रास्ते से तनिक-सा हट जाना पड़ता है। हम रास्ता नहीं रोकते। परमात्मा को अपना काम करने दीजिए। अगर हम बीच में हस्तक्षेप करते हैं, तो उससे हानि भी हो सकती है। परमात्मा का प्रभाव स्वयं होता है। पाप के अपना पैर नहीं होता, पर पुण्य के होता है। पाप तो नास्ति मात्र है। उसे पहिले पुण्य का वेश मिलना चाहिए, तब कहीं वह आगे बढ़ सकता है।

प्रश्न—खुद ईसा ने क्या लोगों को सिखलाया नहीं था, उपदेश नहीं दिया था?

उत्तर—यहाँ बहुत बड़ी सावधानी चाहिए। आप चाहते हैं कि मैं बतलाऊँ कि ईसा के जीवन का मैं क्या स्वरूप समझता हूँ। खैर, मैं इतना तो कहूँगा कि बाइबिल के हर शब्द को मैं ऐतिहासिक सत्य नहीं मानता; यह नहीं मानता कि उसमें लिखी एक-एक बात किसी समय अवश्य घटी होगी, फिर यह भी याद रखना चाहिए कि वे अपने देशबन्धुओं के बीच काम कर रहे थे। वे नाश करने नहीं, पूरा करने आये थे।.....

—यं० इं०। हि० न० जी०, २६।१।१९२८]

- सभी धर्म सच्चे हैं, साथ ही सभी में कुछ-न-कुछ दोष या त्रुटियाँ अवश्य हैं।
- अहिंसा के सन्देश से परिपूर्ण हिन्दू धर्म मेरी दृष्टि में सबसे सुन्दर, सबसे बड़ा, सबसे महिमामय धर्म है।
- धर्म-परिवर्तन और सेवा, दोनों, का साथ भली प्रकार नहीं निभता।
- आध्यात्मिक अनुभवों का असर स्वयं ही होने लगता है।
- पाप के...पैर नहीं होता...पुण्य के होता है।
- पाप तो नास्ति मात्र है।
- बाइबिल के हर शब्द को मैं ऐतिहासिक सत्य नहीं मानता।

८४. धर्म-परिवर्तन या आत्म-परिवर्तन

[श्री आयरलैंड नामक कैंब्रिज मिशन के पादरी कुछ दिन पहिले आश्रम में आये थे। आश्रम में अन्तर्राष्ट्रीय बन्धुत्व संघ की बैठक हुई तो उन्होंने यं० इं० में उसके विवरण पढ़े। गांधी जी के धर्म-परिवर्तन-सम्बन्धी विचारों पर उन्होंने अनेक शंकाएँ प्रस्तुत करते हुए एक लम्बा पत्र लिखा। उस पत्र का सारांश और गांधी जी का उत्तर यहाँ संकलित किया जा रहा है।—सम्पा०]

१. "सभी धर्म सच्चे हैं और सभी धर्मों में सत्य है, इन दो बातों में अन्तर है। सत्य सभी धर्मों में होता है सही, मगर क्या वहम और भूत-प्रेत की पूजा के आधार पर बने धर्म और हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई धर्म-जैसे महाधर्म, सभी अच्छे हैं? मुझे तो लगता है कि धर्म की बात अलग कर दें तब भी वनवासी जनता के हित के लिए हम उन्हें उनकी वर्तमान स्थिति में नहीं छोड़ सकते।

२. "इसलिए सच्ची बात तो यह है कि सभी धर्मों में सत्य है और उसके साथ असत्य भी मिला हुआ है। हममें से हर एक को प्रभु के बतलाये रास्ते पर, असत्य को अलग कर सत्य के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करना चाहिए। और अगर हम ऐसा कर सकें तो दूसरों को भी ऐसा करने का अधिकार होना चाहिए।

३. "आपने गुलाब के फूल का जो सुन्दर दृष्टान्त दिया है, वह मुझे बहुत पसन्द है। जिस तरह गुलाब की सुगन्ध अपने-आप ही फैलती है, उसी तरह हर आदमी की धार्मिकता की सुवास अपने-आप ही फैलनी चाहिए। मगर इससे क्या यह सच साबित होता है कि किसी दूसरे तरीके से हम अपनी सुवास नहीं फैला सकते?

४. "ईसाई धर्म का अर्थ आज कुछ खास प्रथाएँ और मान्यताएँ हो गया है। और ईसाई बनाना भी तबलीग या शुद्धि-जैसी चीज़ माना जाता है। किन्तु अगर किसी आदमी को ईसा की जीवन-लीला में सत्य और प्रेम का ऐसा दर्शन हो जैसा दूसरी किसी जगह न हो, और उस दर्शन के कारण वह ईसा का बन्दा बन जाय तो वह क्या उसे प्रकट किये बिना रह सकता है या उसका लाभ लूटने के लिए दूसरों को भी निमन्त्रण दिये बिना रह सकता है?

५. "ईसा की शरणागति स्वीकार करने से कुटुम्ब और परिजन से अलग होना ही पड़ता है और यह सब को अत्यन्त दुःखद लगता है। किन्तु इस दुःख के कारण मुख्यतः वे कुटुम्बीजन ही होते हैं।

"ईसा तो सब की भवपीर हरने की, हमारा भार उठाने और अपने पन्थ पर चलने की पुकार करते हैं। आप जिस तरह यह हो सके, करें। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपना संघ बढ़ाने, अपने अधिकारों को बढ़ाने के प्रयत्न करें। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि हम अपने आसपास अपनी सुवास फैलायें। यह तो आप जानते ही हैं, और हम भी जानते हैं कि ऐसा करने में हमें कितनी कम सफलता मिली है। किन्तु इसमें शंका नहीं कि ईसा हमसे इसी प्रकार का धर्म-प्रचार चाहते हैं।"

मैंने बन्धुत्वप्रचारकों की परिषद् में स्पष्ट किया ही था कि मैं जगत् के मुख्य धर्मों की बात करता हूँ। और मेरे कहने का अर्थ यह था कि ये सभी मुख्य धर्म थोड़े-बहुत सच्चे हैं किन्तु अपूर्ण तो सभी हैं। इसलिए इस बात में और मि०

आयरलैण्ड के कथन में कोई भेद नहीं है। किन्तु मि० आयरलैण्ड के पत्र से यह छाप पड़ती है कि धर्म-परिवर्तन के बारे में उनके और मेरे विचारों में तात्विक भेद हैं। यों तो रूपक मात्र सदोष होते हैं किन्तु हम गुलाब की सुवास के रूपक को जरा और आगे ले चलें। गुलाब अपनी सुवास अनेक तरह से नहीं, एक ही तरह से फैलाता है। जिसे नाक ही न हो, उसे यह सुगन्ध मिलने से रही। यह सुवास जीभ, कान, त्वचा से तो नहीं ली जा सकती। इसके लिए केवल घ्राणेन्द्रिय चाहिए। आध्यात्मिकता की सुवास भी आध्यात्मिक इन्द्रिय के द्वारा ही ली जा सकती है। इसलिए सभी धर्मों ने इस इन्द्रिय को जागरित करने की आवश्यकता स्वीकार की है। यह जागृति एक तरह का पुनर्जन्म है। अतिशय आध्यात्मिकता-वाला ऐसे आदमी के भी हृदय को बिना हिले-डुले, बिना एक शब्द भी कहे, इशारा किये या कुछ भी किये स्पर्श कर सकता है, जिसे न उसने कभी देखा हो, और जिसने भी उसे कभी न देखा हो, जब कि आध्यात्मिकतारहित किन्तु अत्यन्त वाक्पटु प्रचारक उसके हृदय को स्पर्श नहीं कर सकेगा। इसलिए मेरी नम्र मान्यता है कि आजकल के बहुत से मिशनों का प्रयत्न व्यर्थ है, बल्कि अनेक बार तो हानिकारक भी होता है।

इसके अलावा इन मिशनों के मूल में एक दूसरी वस्तु भी गृहीत होती है। वह यह कि मेरी मान्यता महज मेरे ही लिए नहीं बल्कि सारे संसार के लिए सच्ची है। जब कि सच्ची बात यह है कि परमात्मा हजारों-लाखों अदृश्य और अज्ञात कलाओं से हमारे पास आया करता है। इसलिए मिशनरियों के प्रयत्न में सच्ची नम्रता, सच्चा विनय नहीं होता। सच्चा विनय उसे कहते हैं, जिसमें मानव-मर्यादाएं सहज ही स्वीकार की जायें और ईश्वर की अमर्याद शक्ति का भान हो। मुझे यह ख्याल कभी नहीं होता कि मैं जंगली कहे जानेवाले लोगों से आध्यात्मिकता में अवश्य ही बढ़ा-चढ़ा हूँ। और ऐसा विचार खतरनाक भी होता है। आध्यात्मिक-कता इन्द्रियग्राह्य, पृथक्करणीय और सिद्ध की जाने योग्य वस्तु नहीं है। अगर वह मुझ में वर्त्तमान हो तो दुनिया में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो उसे मुझ से छीन सके। और उसका असर अपने समय पर हुए बिना नहीं रह सकता।

इससे उलटा वैद्यक या दूसरे शास्त्रों का ज्ञान ऐसी वस्तु है जिनमें मैं दूसरों से अधिक जानकार हो सकता हूँ और अगर मुझे अपने मानव बन्धुओं से प्रेम हो तो उन्हें इसका लाभ दे सकता हूँ। किन्तु आध्यात्मिक बातें तो ईश्वरपर ही छोड़ूंगा और ऐसा करके ही अपने मानव-बन्धुओं तथा अपने बीच का सम्बन्ध पवित्र,सच्चा और मर्यादित रखूंगा। किन्तु मैं इस तर्क को और आगे बढ़ाने में कोई सार नहीं देखता। यह वस्तु ही ऐसी है कि जिसका अन्तिम निर्णय तर्क से नहीं हो सकता।

खासकर अपनी जो वृत्ति मैंने यहाँ प्रकट की है, उसको ध्यान में रखते हुए, मेरी ओर से तो हो ही नहीं सकता ।

— यं० इं० । हि० न० नी०, २९।३।१९२८]

- सभी मुख्य धर्म थोड़े-बहुत सच्चे हैं, पर अपूर्ण तो सभी हैं।
- आध्यात्मिकता की सुवास आध्यात्मिक इन्द्रिय द्वारा ही ली जा सकती है।
- परमात्मा हजारों-लाखों अदृश्य और अज्ञात कलाओं से हमारे पास आया करता है।
- सच्चा विनय उसे कहते हैं, जिसमें मानव-मर्यादाएँ सहज ही स्वीकार की जायं और ईश्वर की अमर्याद शक्ति का भान हो।
- आध्यात्मिकता इन्द्रियग्राह्य, पृथक्करणीय और सिद्ध की जाने योग्य वस्तु नहीं है।

८५. धार्मिक शिक्षण का पाठ्यक्रम

धार्मिक शिक्षण के पाठ्यक्रम में अपने निजी धार्मिक विश्वासों के अतिरिक्त अन्य धर्मों के सिद्धान्तों के अध्ययन का समावेश होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विद्यार्थियों को आदरपूर्ण भावना तथा उदार सहिष्णुता की दृष्टि से संसार के विभिन्न महान् धर्मों के सिद्धान्तों को समझने तथा उनका मूल्यांकन करने के हेतु प्रशिक्षण-द्वारा उनके स्वभाव का संस्कार किया जाना चाहिए।

—मूल अंग्रेजी से अनूदित। यं० इं० १२।१२।१९२८]

८६. श्रद्धा

श्रद्धा का काम तो वहीं पड़ेगा न, जहाँ बुद्धि काम न दे ।

—यरवदा मन्दिर, १२।९।१९३०। बापू के पत्र : कुसुम बहिन देसाई के नाम, न० जी० प्र० मं०]

८७. रामनाम हर समय चलता रहे

वास्तव में राम-नाम जाने-अनजाने हमेशा ही होना चाहिए, जैसे संगीत में तम्बूरा। पर हाथ जो काम करते हों उसमें हम एक ध्यान न हो सकें तो भी रामनाम का इच्छापूर्वक रटन होना चाहिए।

—१३।१०।१९३०। गीता-बोध, पृ० ३५ स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

८८. कर्मयोग : आचरण की वस्तु

इस योग पर अमल करनेवाले को कभी नुकसान नहीं होता। इसमें तर्क की बात नहीं है, आचरण की है, करके अनुभव पाने की बात है। और यह तो प्रसिद्ध अनुभव है कि हजारों मन तर्क की अपेक्षा तोला भर आचरण की कीमत अधिक है। इस आचरण में भी यदि अच्छे-बुरे परिणाम का तर्क आ घुसे तो फिर वह दूषित हो जाता है। परिणाम के विचार से ही बुद्धि मलिन हो जाती है।.....वास्तव में मनुष्य का धर्म फल का विचार छोड़कर कर्त्तव्य-कर्म करते रहना है।

—सोमप्रभात, १७।११।१९३०। गीता-बोध स० सा० मं०, संस्करण, १९५४]

८९. श्लोक-स्मरण

श्लोक हमारी प्रार्थना के अंग हैं, इसलिए उनका स्मरण करना चाहिए। श्रद्धा उत्पन्न हो तो हम प्रयत्न से उनमें तल्लीन हो सकते हैं। न हो सकें तो उससे हारना नहीं है। जो लोग गाते हैं वे सब तल्लीन नहीं होते। परन्तु श्रद्धा से गाते-गाते किसी दिन तल्लीनता अपने-आप आ जाती है। श्लोकों के अर्थ में जो रहस्य भरा है वह तो है ही। उसका मनन करने से भी तल्लीनता पैदा होने में मदद मिलती है।

— २२।११।१९३०। बापू के पत्र : कुसुम बहिन देसाई के नाम, पृ० ४०, न० जी० प्र० मं०]

९०. संन्यासी और योगी

कर्मफल त्याग कर कर्त्तव्य-कर्म करनेवाला मनुष्य संन्यासी कहलाता है और योगी भी कहलाता है।

—मंगल प्रभात, १६।१२।१९३०। गीता-बोध स० सा० मं०, दसवां संस्करण १९५४]

९१. योगी

योगी उसका नाम है, जिसे ज्ञान है, अनुभव है, जो अविचल है, जिसने इन्द्रियों पर विजय पाई और जिसके लिए सोना, मिट्टी या पत्थर समान है। वह शत्रु-मित्र, साधु-असाधु इत्यादि के प्रति समभाव रखता है।.....

योगी तो सदैव स्थिरचित्त होता है और वह कामना मात्र का अनायास त्याग किये रहता है। ऐसे योगी की स्थिति निर्वात स्थान के दीपक की भाँति स्थिर रहती है। उसे संसार के खेल अथवा अपने मन में उठनेवाले विकारों की लहरें डाँवाडोल नहीं कर सकतीं। धीरे-धीरे किन्तु दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करने से यह योग सध सकता है।

—मंगल प्रभात, १६।१२।१९३०। गीता-बोध, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

९२. अन्ते मतिः सा गतिः

मनुष्य को पहिले ही तैयारी करनी चाहिए कि मृत्यु के समय मन चलायमान न हो, भक्ति में लीन रहे, प्राण को स्थिर रखे और सर्वज्ञ, पुरातन, नियन्ता, सूक्ष्म होते हुए भी सबके पालन की शक्ति रखनेवाले सूर्य के समान अन्धकार-अज्ञान मिटानेवाले परमात्मा का ही स्मरण करे।

—सोमप्रभात, २९।१२।१९३०। गीता-बोध, स० सा० मं०, दसवां संस्करण १९५४]

९३. ईश्वर ही रक्षक है

मेरी रक्षा करने की कोशिश न करें। महाप्रभु सदा हम सबको बचाने के लिए मौजूद हैं। विश्वास रखिए कि जब मेरा समय पूरा हो जायगा, तो संसार का बड़े-से-बड़ा पुरुष भी मेरे और उसके बीच में खड़ा नहीं रह सकेगा।

—यं० इं०, २।४।१९३१]

९४. दैव-चिन्तन

सोचा हुआ तो ईश्वर का ही होता है और इसी में भलाई है।

—न० जी। हि० न० जी०, २०।८।१९३१]

९५. ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण करें

मुझे तो ईश्वर को ही अपना एकमात्र, पथप्रदर्शक मानकर चलना होगा। वह ईर्ष्यालु प्रभु है; वह किसी को अपनी सत्ता में हिस्सेदार नहीं बनने देता।

इसलिए हमें उसके सामने अपनी सारी दुर्बलताओं के साथ, खाली हाथ और सम्पूर्ण समर्पण की भावना से, खड़े होना चाहिए। हम ऐसा करें तभी वह हमें सारे संसार के सामने खड़े होने की शक्ति देगा और तमाम आपत्तियों से बचायेगा।

—यं० इं०, ३।९।१९३१]

९६. तपश्चर्या और पवित्रता

तपश्चर्या में तो बाहरी त्याग, सहनशीलता और आडम्बर भी हो सकता है। मगर पवित्रता तो भीतरी गुण है। मेरी माता के आन्तरिक जीवन की परछाई उसकी तपश्चर्या में पड़ती थी। मुझमें जो कुछ भी पवित्रता देखते हो, वह मेरे पिता की नहीं, किन्तु मेरी मां की है।

—३१।३।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ६६]

९७. आध्यात्मिक चिकित्सा

[एक अमरीकी भाई के पत्र के लिखित उत्तर से]

मैंने बचपन से ही यह सीखा है और मुझे अनुभव से इस सचाई का विश्वास हुआ है कि आध्यात्मिक शक्तियों या सिद्धियों का उपयोग शारीरिक रोग मिटाने के लिए नहीं करना चाहिए। वैसे मैं यह भी मानता हूँ कि दवाओं वगैरह से इंसान को परहेज रखना चाहिए। मगर यह बात सिर्फ आरोग्य-रक्षा की दृष्टि से है। और फिर मैं भगवान पर पूरी तरह निर्भर रहने में विश्वास करता हूँ। इस आशा से नहीं कि वह मुझे अच्छा करे, बल्कि, उसकी इच्छा के अधीन होने और गरीबों के दुःख में भागीदार बनने के लिए ही—उन गरीबों के दुःख में जिन्हें बहुत इच्छा होने पर भी शास्त्रीय-डाक्टरी सहायता नहीं मिल सकती। मगर मुझे अफ़सोस के साथ कहना चाहिए कि मैं अपने इस विश्वास पर सदा अमल नहीं कर पाता। बेशक मेरा प्रयत्न हमेशा इसी तरफ रहता है, मगर अनेक लालचों के मारे मैं पूरी तरह उस पर अमल नहीं कर सकता।

—४।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ७१]

९८. उपनिषदों का अर्थ

[प्रेमा बहिन को लिखे पत्र से]

उपनिषद् मुझे पसन्द हैं। उनका अर्थ लिखने जितनी मैं अपनी योग्यता नहीं मानता।

—४।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ७२]

९९. प्रेम

[प्रेमा बहिन को लिखे पत्र से]

जो प्रेमीजनों से अपने दोष पूछे, परिणाम में उसे तारीफ सुननी पड़ती है, क्योंकि प्रेम दोष पर पर्दा डाल देता है या दोष को गुण के रूप में देखता है। प्रसंगोपात्त दोष बताये, यह प्रेम का स्वभाव है और वह सम्पूर्णता देखने के लिए होता है।...

—४।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ७२]

१००. अन्त समय राम-नाम

अन्त समय मुंह से राम-नाम निकलने के लिए और मरते वक्त खुश होने के लिए जीवन भी तो वैसा ही होना चाहिए। वह कहां से लाया जाय ?

—६।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १३६]

१०१. धर्म-द्वेष

[सुश्री रेहाना तय्यब जी को लिखे पत्र से]

मैं समझ ही नहीं सकता कि धर्म के नाम पर इंसान इंसान के साथ कैसे लड़ सकता है।

—२१।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १६४]

१०२. ईश्वर पर श्रद्धा

[श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार ने गांधी जी को पत्र लिखा। इसमें पूछा गया था कि गांधी जी के जीवन में ऐसे कौन से प्रसंग आये जब उनकी श्रद्धा ईश्वर पर बहुत बढ़ गई। इस पत्र के उत्तर में लिखे गांधी जी के पत्र का अंश।—सम्पा०]

मुझे ऐसा कोई प्रसंग याद नहीं, जब ईश्वर के लिए श्रद्धा खास तौर पर बढ़ गई हो। एक समय श्रद्धा न थी, लेकिन धर्म-विचार और चिन्तन से आने लगी और तब से बढ़ती ही गई। ज्यों-ज्यों यह ज्ञान बढ़ता गया कि ईश्वर का निवास हृदय में है त्यों-त्यों श्रद्धा बढ़ती गई। मगर ये सवाल तुम क्यों पूछ रहे हो ? क्या आगे चल कर 'कल्याण'[1] में छापने के लिए ? तो यह बेकार है। और अगर खुद अपने लिए पूछते

---

१. गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित सुप्रसिद्ध सांस्कृतिक, धार्मिक मासिक पत्र। श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार बहुत समय से इसका सम्पादन कर रहे हैं।

हो, तो मुझे कहना चाहिए कि इस मामले में पराया अनुभव काम नहीं देता। ईश्वर के लिए श्रद्धा के साथ लगातार कोशिश करने पर ही श्रद्धा बढ़ती है।
—२३।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १६७]

१०३. धर्म : मेरी मान्यता

मैं धर्म को इंसान की अनेक प्रवृत्तियों में से एक नहीं मानता। एक ही प्रवृत्ति धर्म-वृत्ति से भी हो सकती है और अधर्म से भी हो सकती है।....मेरा तो हर काम, छोटी से छोटी प्रवृत्ति भी, जिसे मैं अपना धर्म मानता हूँ, उसी से नियन्त्रित होती है।
—३०।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १८५-१८६]

१०४. ईश्वर

[कुमारी पीटर्सन को लिखे गये पत्र से]

अगर ईश्वर है तो मुझे क्यों चिन्ता हो ? हमारी अचूक सम्हाल करनेवाला वह बैठा है। उसे हमारी इतनी फिक्र होते हुए भी जो चिन्ता करता है, वह मूर्ख है।
—४।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १९८]

१०५. जनसाधारण और आध्यात्मिक प्रश्न

[श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार ने गांधी जी से पूछा था कि वह अपने जीवन की कोई खास घटना बतायें, जब उनकी आस्था एवं श्रद्धा ईश्वर पर विशेष रूप से बढ़ गई हो। इस पर गांधी जी ने अपने पत्र में पूछा था कि श्री पोद्दार यह प्रश्न वैयक्तिक जिज्ञासा के कारण पूछ रहे हैं या 'कल्याण' में प्रकाशनार्थ। श्री पोद्दार ने इसका उत्तर दिया कि वे 'कल्याण' में प्रकाशनार्थ प्रश्न पूछ रहे थे। इस पर गांधी जी ने उन्हें निम्नलिखित उत्तर दिया।—सम्पा०]

किसी व्यक्ति को सामने रख कर तो आध्यात्मिक प्रश्नों का उत्तर देने में मुझे सुविधा रहती है। अखबारों के लिए लिखने में कष्ट होता है। अब यह ज्ञात हुआ कि जो प्रश्न मुझे (मुझसे) पूछे (गये) थे वह (वे) 'कल्याण' के लिए ही थे, तो ऐसा समझो कि मेरी बुद्धि जड़-सी बन गई है। इसका यह मतलब नहीं है कि

अखवारों में कुछ लिखा जाय, तो उससे जनता को लाभ नहीं होता। मैं तो अपनी प्रकृति का खयाल दे रहा हूँ। इसी कारण मैंने यं० इं० में वहुत वार लिखा है। मेरी दृष्टि से वह कोई अखवार नहीं था, परन्तु मित्रों को मेरा साप्ताहिक पत्र था। और जो कुछ आध्यात्मिक वातें (विवेचन) उसमें और 'नवजीवन' में पाई जाती है, वे करीव-करीव किसी-न-किसी व्यक्ति को सामने रख कर ही लिखी गई हैं। इसका कारण भी है। मैं शास्त्रज्ञ नहीं हूँ, तो भी मैं वुद्धि का काफी उपयोग कर लेता हूँ। परन्तु जो कुछ (मैं) वोलता और लिखता हूँ, वह वुद्धि से नहीं पैदा होता। उसका मूल हृदय में रहता है और हृदय की वात निवन्ध के रूप में नहीं आ सकती।

— २१।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २३७]

- **हृदय की वात निवन्ध के रूप में नहीं आ सकती।**

१०६. पापी

[एक पत्रांश]

पापी मनुष्य पाप को ही पुण्य मान लेता है, क्योंकि उसका हृदय मलिन है।

— १४।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३५६]

१०७. जप-यज्ञ का अर्थ

[एक पत्रांश]

जहां तक मैं समझ पाया हूं, जप-यज्ञ का अर्थ नाम-स्मरण है।

— १५।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३६०]

१०८. क्रोध

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

जैसे हम हैं, वैसे ही सव हैं। सव में एक हो जीव-आत्मा है। इसलिए किसी और पर क्रोध करना अपने ऊपर ही क्रोध करने के समान है . . . . . जिसके अन्दर जीवमात्र की सेवा-वृत्ति की लगन पैदा होती है, उसमें दोष रह ही नहीं सकते।

—यरवदा मन्दिर, २०।८।१९३२। वापू के पत्र: वजाज परिवार के नाम, पृ० ३३२, अ० भा० स० से० सं०]

१०९. भगवान का स्ववर्णन अहंकार नहीं

गीता में भगवान ने अपना वर्णन किया है, यानी गीताकार ने भगवान के मुंह में ऐसा वर्णन रख दिया है। वैसे, भगवान तो अरूप हैं, बोलते चालते नहीं। तब यह प्रश्न रह जाता है कि भगवान के मुंह में ऐसे वचन रखे जा सकते हैं या नहीं ? मेरा खयाल है जरूर रखे जा सकते हैं। भगवान का अर्थ है सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ। सर्वज्ञ के मुंह से जो बात निकलती है, वह केवल सत्य ही होती है, इसलिए वह बड़ाई में शुमार नहीं होती। मनुष्य अपनी शक्ति का हिसाब नहीं लगा सकता, इसलिए उसके मुंह से वह बात शोभा नहीं देती। मगर सवाल पैदा होने पर कोई आदमी अपनी ऊंचाई सच-सच बता दे तो इसमें बड़प्पन नहीं, सचाई है। पांच गज ऊंचा अपने को चार गज बताये तो इसमें नम्रता नहीं, घोर अज्ञान है या फिर दंभ है।

— २८।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३८२-३८३]

● भगवान का अर्थ है सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ।

११०. प्राणायाम : एक योग-क्रिया

[श्री मथुरादास को लिखे पत्र से]

संगीत में जैसे पद-पद पर समय का ध्यान रखना पड़ता है, वैसे ही प्राणायाम में भी है। श्वास की गति नियमबद्ध चलनी ही चाहिए। इसका अभ्यास हो जाने पर फेफड़ों को बहुत कम काम करना पड़ता है और वे बाहर से प्राणवायु ज्यादा खींचते हैं। और जैसे-जैसे प्राणवायु ज्यादा खींचते हैं वैसे ही अपानवायु भी ज्यादा निकालते हैं।

— ८।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १२]

१११. पूर्ण ब्रह्मचारी

[एक पत्रांश]

सब इन्द्रियां जिसके वश में हैं, वह पूर्ण ब्रह्मचारी है। यह स्थिति शरीर रहते हुए सम्भावित है। खुराक का संयम आवश्यक है। ब्रह्मचर्य-पालन में उसका हिस्सा कम है। असंयम अवश्य घातक है। दूध-घी औषधि की मात्रा में लेने से हानिकर नहीं है—ऐसी कुछ मेरी प्रतीति है।

— ११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १६]

● असंयम अवश्य घातक है।

११२. प्रार्थना में विश्वास

[श्रीमती कामकोटी नटराजन को लिखे पत्र से]

...प्रार्थना में तुम्हारा विश्वास क्यों नहीं? विश्वास या तो प्राप्त किया जाता है या अन्दर से पैदा होता है। हर एक देश में और हर एक काल में जो सन्त और ऋषि-मुनि हो गये हैं, उन्होंने निरपवाद रूप से जिस बात की गवाही दी है, उससे तुम्हें यह विश्वास मिलना चाहिए। सच्ची प्रार्थना केवल मुंह के वचनों से नहीं होती। वह कभी झूठी नहीं पड़ती। निःस्वार्थ सेवा भी प्रार्थना ही है। तुम्हें यह तो हर्गिज़ न कहना चाहिए कि—'मुझे प्रार्थना में श्रद्धा नहीं है।'
— १४।९।१९३२। म० भा० डा, भाग २, पृ० २४।]

- **सच्ची प्रार्थना केवल.....वचनों से नहीं होती।**
- **वह (प्रार्थना) कभी झूठी नहीं पड़ती।**
- **निःस्वार्थ सेवा भी प्रार्थना ही है।**

११३. उपवास : आध्यात्मिक प्रयोजन

प्रकाश और प्रायश्चित्त के लिए उपवास करने की प्रथा बहुत पुरानी है। मैंने उसे ईसाई-धर्म में और इस्लाम में भी देखा है।

शुद्धि और प्रायश्चित्त के लिए किये गये उपवास के उदाहरण तो हिन्दू धर्म में अपार हैं। वह जिस तरह कर्त्तव्य है, उसी तरह अधिकार भी है। और अपनी समझ के अनुसार तो मैंने उसका शास्त्र बना दिया है।
— १५।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २ (परिशिष्ट), पृ० ३५७]

११४. यज्ञ का प्रारम्भ

[सुश्री नानी बहिन ज़वेरी को लिखे पत्र से]

...यज्ञ का आरम्भ करते समय तो बड़े-से-बड़े वैरी को भी माफ़ी दी जाय, तभी यज्ञ सफल होता है।
— १९।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ४४]

११५. निष्काम भाव

[श्री रामेश्वरदास को लिखे पत्र से]

मेरे यज्ञ[1] का सुनकर नाचो और राम-नाम पर अधिक विश्वास रखो। देखो वह क्या करता है। अनशन मेरा नहीं, राम का है। चिन्ता मुझे नहीं, उसको है। यदि निष्फल हुआ तो निन्दा उसकी होगी, मेरी नहीं। सफल हुआ तो, उसे स्तुति नहीं चाहिए, इसलिए उसके द्वार पर पड़ा हुआ भिखारी, मैं ले लूंगा।

—१९।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ४७]

११६. मूर्ति और मन्दिर

[श्री हरिभाऊ फाटक को लिखे पत्र से]

हम सब किसी न किसी तरह की मूर्तियों को मानते हैं। मैं तो मानता ही हूँ। साधारण मन्दिर का मुझे स्वयं कोई आकर्षण नहीं है। लेकिन उसका आध्यात्मिक मूल्य बहुत है।

— ६।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ९४]

११७. मन्दिर और मूर्तिपूजा

[एक पत्रांश]

मूर्तिपूजा को हम प्रोत्साहन नहीं देते। मगर हम उसकी मनाही भी नहीं करते। जब तक हिन्दू-धर्म है, किसी-न-किसी तरह से मन्दिर रहेंगे।

—१०।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १०७]

११८. राम-नाम

[श्री बालकोबा भावे को लिखे पत्र से]

राम-नाम का उपयोग तो जाने-अनजाने रोज ही होता है। लेकिन हर संकट के समय वह ज्ञानपूर्वक होता है और मेरी याद के मुताबिक मुझे उससे हमेशा शान्ति मिली है।

—१५।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १२०]

---

१. साम्प्रदायिक निर्णय के विरुद्ध अनशन

११९. बौद्ध धर्म और हिन्दू-धर्म

[डा० हरिसिंह गौड़ ने गांधी जी को लिखे पत्र में ये विचार व्यक्त किये थे कि बौद्ध धर्म ही हिन्दू-धर्म का शुद्ध स्वरूप है। शंकराचार्य ने ब्राह्मण की उच्चता के खयाल पर बनाया हुआ धर्म चलाया और हिन्दू-धर्म पर होनेवाले अनेक हमलों को अवकाश दिया। अब एकीकरण के लिए बौद्ध सिद्धान्त पर बनाये हुए हिन्दू-धर्म के पुनर्जीवन की ज़रूरत है। इस कथन पर विचार व्यक्त करते हुए गांधी जी ने डा० गौड़ को निम्नलिखित उत्तर भेजा।—सम्पा०]

मैं स्वीकार करता हूँ कि आपको जैसी प्रेरणा होती है, वैसी मुझे नहीं होती। क्योंकि ब्राह्मणों के प्रभाव के बारे में आपके जो विचार हैं, उनसे मैं सहमत नहीं हूँ। बहुत-सी बातों के लिए ब्राह्मणों को ज़रूर ही ज़िम्मेदार माना जा सकता है मगर मुझे विश्वास है कि वे जितने दोषपात्र हैं, उससे कहीं अधिक दोष उन्हें दिये गये हैं। हर एक धर्म ने अपने-अपने ब्राह्मण पैदा किये हैं। वे इस नाम से पुकारे नहीं गये, इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। मेरे विचार से दूसरे धर्मों के ब्राह्मणों के मुक़ाबले में हिन्दू-धर्म के ब्राह्मण अच्छे हैं। इसके साथ ही मुझे कहना चाहिए कि तरह-तरह के अज्ञानमय बन्धनोंवाली जाति-व्यवस्था पर मैं फ़िदा नहीं हूँ। वर्णाश्रम कोमैं ज़रूर मानता हूँ। . . . विवेकानन्द की तरह मैं मानता हूँ कि शंकराचार्यने हिन्दुस्तानसेबौद्ध धर्म कोनहींखदेड़ा क्योंकिशंकराचार्यखुदप्रच्छन्न बौद्ध थे। उन्होंने तो सिर्फ उसमें प्रविष्ट भ्रष्टाचार को दूर किया और उसे हिन्दू-धर्म से अलग पड़ जाने से रोका। मेरी राय यह है कि बुद्ध के उपदेशों का स्थायी प्रभाव हिन्दुस्तान के समान और कहीं नहीं पड़ा। इतना होने पर भी यह कहने में मैं आपसे पूरी तरह सहमत हूँ कि हिन्दू-धर्म में हमें जड़-मूल से सफ़ाई करने की ज़रूरत है।

—२७।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, १५१-१५२]

- वे (ब्राह्मण) जितने दोषपात्र हैं, उससे कहीं अधिक दोष उन्हें दिये गये हैं।
- हर धर्म ने अपने-अपने ब्राह्मण पैदा किये हैं।
- अज्ञानमय बन्धनोंवाली जाति-व्यवस्था पर मैं फिदा नहीं हूँ।
- हिन्दू-धर्म में हमें जड़-मूल से सफ़ाई करने की ज़रूरत है।

१२०. गुप्त विद्या

[स्विटजरलैण्ड-निवासिनी एक अंग्रेज़ महिला के प्रश्न के उत्तर में व्यक्त विचार]

गुप्त विद्याओं के बारे में आपने मेरी राय पूछी है। मुझे उनमें दिलचस्पी नहीं। जीवन की पुस्तक सादी से सादी बुद्धि के लिए भी खुली है, और ऐसा ही होना भी चाहिए। ईश्वर की योजना में कुछ भी गुह्य या गुप्त नहीं। गुह्य और गुप्त चीजों से मुझे कभी आकर्षण नहीं हुआ। सत्य के लिए कुछ भी गुप्त नहीं है। सत्य ही ईश्वर है।

— ३०।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५७]

- जीवन की पुस्तक सादी से सादी बुद्धि के लिए भी खुली है।
- ईश्वर की योजना में कुछ भी गुह्य या गुप्त नहीं।
- सत्य के लिए कुछ भी गुप्त नहीं है।

१२१. भजन का गान मधुर हो

दूसरों के लिए यह सच हो तो कौन जाने, मगर मेरे बारे में तो यह सही है कि अच्छी तरह न गाया जाय, तो कितना ही अच्छा भजन या काव्य क्यों न हो, मेरे लिए निरर्थक हो जाता है।

— ३०।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५७-१५८]

१२२. उपवास : ईश्वरेच्छा

[एक पत्रांश]

उपवास करना या न करना मेरे हाथ में नहीं है। ईश्वर ने जो सोचा वही होगा।

— १।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १६२]

१२३. धर्म में ऊंच-नीच नहीं होते

[श्री सतीश बाबू को लिखे पत्र से]

धर्म में कोई ऊंच या कोई नीच नहीं।

—५।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १७२]

१२४. धर्म-त्याग

किसी की धमकी के कारण मनुष्य धर्म नहीं छोड़ सकता।
— १०।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १८६]

१२५. पूजागृहों का प्रयोजन

[श्री चमन को लिखे पत्र से]

जहां मस्जिद, मन्दिर और गिरजे का सैकड़ों पाखण्डियों ने अवश्य दुरुपयोग किया है, वहां करोड़ों ने उनका सदुपयोग भी किया है। इस कथन की सचाई की परीक्षा करनी हो, तो अपनी सुन्दर कल्पना-शक्ति का उपयोग करो और कल्पना में यह चित्र खींचो : एक-एक गिरजे, एक-एक मन्दिर और एक-एक मस्जिद को कोई सुधारक एक दिन के अन्दर जमींदोज कर दे, तो विचार करो कि उन करोड़ों भोले-भाले मनुष्यों का, जिन्हें इस संसार में रोज इन मन्दिरों और मस्जिदों से सन्तोष मिलता था, यह जानकर क्या हाल होगा कि वे एकदम बन्द हो गये हैं? मैं तो इस चीज़ का रोज अनुभव करता हूँ। अपवित्र से अपवित्र मन्दिरों में भी पवित्र-हृदय से जानेवाले भावुकों को ईश्वर के दर्शन जरूर होते हैं। यही उसकी अजीब कुदरत है, या यों कहिए कि यही उसकी माया है। ...
— १५।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २०७,-२०८]

- **अपवित्र से अपवित्र मन्दिरों में भी पवित्र हृदय से जानेवाले भावुकों को ईश्वर के दर्शन ज़रूर होते हैं।**

१२६. धर्म-परिवर्तन

[श्री थार्नबर्ग नामक अमरीकी के माध्यम से अमरीका के नाम दिये गये सन्देश से।—सम्पा०]

अमरीका के धर्म-परायण व्यक्तियों को अगर यह समझाया जाय कि हिन्दू-धर्म, इस्लाम और दुनिया के दूसरे बड़े धर्म भी ईसाई-धर्म के समान ही सच्चे हैं, इसलिए उन धर्मों का नाश करने की नहीं, बल्कि जहां ज़रूरत हो वहां सुधार करने की आवश्यकता है, तो धर्म-परिवर्तन हेतु रखे बिना वे यह मदद दे सकते हैं।...
— २०।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २१७]

१२७. दैवी उपचार

[एक अमरीकी स्त्री को लिखे पत्र से]

ईश्वर के अस्तित्व या प्रार्थना के प्रभाव को सिद्ध करने के लिए दैवी उपचार का प्रयोग करने का विचार मुझे पसन्द नहीं है। आज अगर ईसा मसीह पृथिवी पर लौट आयें, तो जिस रोगमुक्त करने की शक्ति और दूसरे चमत्कारों का उनके सम्बन्ध में आरोपण किया जाता है, उनका आज जो उपयोग हो रहा है उसे देखकर वे क्या सोचेंगे, यह कहना मुश्किल है।

—२४।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २३०]

१२८. ईश्वर : परीक्षक

जो ईश्वर को अधिक चाहता है, उसकी वह ज्यादा-से-ज्यादा कसौटी करता है।

—यरवदा मन्दिर, २५।११।१९३२। बापू के पत्र : मणि बहिन पटेल के नाम, पृ० ९५, न० जी० प्र० मं०]

१२९. मन्दिर

[एक पत्रांश]

कोई संस्था ऐसी नहीं जिसमें कोई-न-कोई बुराई न घुसी हुई हो। परन्तु मेरी राय यह है कि मन्दिरों में इन्कार न की जा सकने लायक कितनी ही बुराइयों के होने पर भी वहां जो करोड़ों मनुष्य जाते हैं, उन पर इन बुराइयों का कोई असर नहीं होता और उन्हें इन मन्दिरों से आवश्यक आश्वासन मिल जाता है।

—२९।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २४२]

१३०. ईश्वरप्रेरित उपवास

उपवास यदि ईश्वर-प्रेरित होगा, तो वह लाखों आदमियों के हृदय हिला देगा। ऐसा नहीं होगा तो वह बेकार जायगा।

—३०।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २४६]

१३१. उपवास : ईश्वरीय प्रेरणा

उपवास मैं नहीं करता। वे भगवान की प्रेरणा से होते हैं, इसलिए वही करता है, यह कह सकते हैं। उसका शोक न करना चाहिए, परन्तु कुछ हो जाय तो हर्ष होना चाहिए कि मैं इतना धर्म पालन करता हूँ। इसी के साथ यह भी याद रखना चाहिए कि मेरी होड़ में कोई उपवास न करे।

— ६।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २५८]

१३२. मेरा धर्म

...एक आदमी मुझसे कहता है कि आप शंकराचार्य की तरह दिग्विजय क्यों नहीं करते? मैं उससे कहता हूँ कि यह मेरी शक्ति नहीं। मेरी शक्ति दूसरी तरह की है। उसका उपयोग मैं कर रहा हूं। मैं अपना धर्म दूसरों के मतों के अनुसार कैसे वदल सकता हूँ?

— ११।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २६९]

१३३. श्रद्धा का अभाव

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

हृदय वुद्धि का अनुसरण नहीं कर सकता या वुद्धि के साथ सहयोग नहीं कर सकता, इसका क्या कारण? श्रद्धा का अभाव हो सकता है? यद्यपि मैं किसी आखिरी निर्णय पर नहीं पहुँचा हूँ, मगर मेरी राय उसी दिशा में वनती जा रही है। अगर मुझमें प्रेम भरा है, तो मेरी वुद्धि कहती है कि मुझे साँप से भागना नहीं चाहिए। फिर भी मुझमें इतनी श्रद्धा नहीं होगी, इसीलिए मैं साँप को अपने पास नहीं आने देता। ऐसे उदाहरण वहुत दिये जा सकते हैं। मैं चाहता हूँ कि तू इस दिशा में खोज कर और हृदय और वुद्धि के वीच विरोव के वारे में जितनी मिसालें याद आयें उनकी खोज करने की कोशिश कर। ऐसा करने से तेरे लिए वुद्धि और हृदय का मेल वैठना सम्भव होगा। मैं जो उपवास करता हूँ वह मेरे लिए और दूसरे सवके लिए अच्छा हो, तो फिर उससे दिल को खुश होने से क्यों इन्कार करना चाहिए? मैं तन्दुरुस्त होता हूँ तो हृदय को आनन्द होता है, मगर किसी खास मामले में मेरे तन्दुरुस्त रहने के वजाय मेरा उपवास करना ज्यादा अच्छा हो सकता है। वुद्धि यही कहती है, फिर भी वुद्धि की स्पष्ट गवाही से हृदय इन्कार

करता है। क्या हृदय के अभाव में ऐसा करता है? या इसमें आत्मवंचना होती है? वस्तुतः क्या बुद्धि ने शरीर की रक्षा करने लायक उपवास की आवश्यकता स्वीकार की ही नहीं है? मैंने यह प्रश्न कोई निर्णय करने का प्रयत्न किये विना तेरे सामने रखा है। मैं चाहूं, तो भी निर्णय करने लायक सामग्री मेरे पास नहीं हो सकती।...

— १५।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २ पृ० २८८]

१३४. बौद्ध-धर्म और हिन्दू-धर्म

मैं यह नहीं मानता कि बौद्ध धर्म हिन्दू-धर्म पर आक्रमणकारी के रूप में आया। मैं तो मानता हूं कि बौद्ध धर्म न आया होता, तो हिन्दू धर्म बहुत पहिले नष्ट हो गया होता। आज हिन्दू-धर्म मृतप्राय है। वह हमारे जीवन को स्पर्श नहीं करता। ईश्वर, आत्मा और पुनर्जन्म, इन तीनों पर श्रद्धा होना हिन्दू-धर्म का मुख्य लक्ष्य है।

— १९।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ३०४

१३५. आत्मज्ञान

...आत्मज्ञान का सत्य कोई हिन्दू-धर्म का ही ठेका नहीं हो सकता। हमारे पास जो ग्रन्थ है वही वेद है, यह अर्थ नहीं। किन्तु वेद का अर्थ है अशरीरी वाणी यानी पवित्र मनुष्यों का अनुभव ज्ञान। इसीलिए महाभारत में कहा है कि शास्त्र पवित्र मनुष्यों के जीवन में मूर्तिमन्त होते हैं। ...

— १९।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ३०६]

१३६. आध्यात्मिक उपवास

[सुश्री खुरशेद को लिखे पत्र से]

तुम यह क्यों मानती हो कि मेरा उपवास निराशा के कारण है? उलटे यह तो अमर आशा से उत्पन्न हुआ है। जीने के लिए खाना जितना ज़रूरी है, उतना ही उपवास भी ज़रूरी है। प्रार्थना का यह एक आवश्यक अंग है। हम जी-कर जितनी सेवा करते हैं, उतनी ही मरकर भी कर सकते हैं। मगर उपवास करने का अधिकार बहुत थोड़ों को होता है। यहां मैं आध्यात्मिक उपवास की ही बात

कर रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि मनुष्य निराशा से भी उपवास करने का विचार करता है। यह तो साफ आत्मघात कहा जायगा। मुझ पर कोई ऐसा आक्षेप करे तो मैं उसकी सफ़ाई दे सकता हूँ। मेरे लिए तो उपवास सदा ही तपस्या और आत्म-शुद्धि है। १९२१ का उपवास निराशा के कारण नहीं हुआ था। तपस्या के रूप से होने वाले उपवास का आधार हमेशा मानव-जाति के ऊपर, ईश्वर के ऊपर और अपने आपके ऊपर श्रद्धा होती है। इससे आन्तरिक आनन्द मिलता है और उसी से आदमी टिक सकता है। इसलिए मैं तुम्हें इस आनन्द में शरीक होने को कहता हूँ। मुझे आशा है, कि मेरी दलील तुम समझ गई होगी। . . .

—२२।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २१३]

१३७. आध्यात्मिक उपवास

आध्यात्मिक असर तो लोग जितना समझते हैं उससे कहीं अधिक होता है। उपवास बहुत अदृश्य रूप में काम करता है। लोगों में वह खलबली मचा देता और अक्सर लोगों में उसके कारण भारी जागरण आ जाता है। ऐसा होने का कारण उसके पीछे निहित तपस्या होती है।

—२८।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ३२५]

१३८. मैं राजनीतिक नहीं, धार्मिक मनुष्य हूँ।

[यरवदा जेल से प्रकाशित गांधी जी के सोलहवें वक्तव्य का अंश।]

मैं आपके सामने कुछ तथ्य रखूँगा[1]। जिस व्याख्या को लोग समझ सकें उसके अनुसार सनातन धर्म ऐसा सदाचार है, जिसका लोग पालन कर सकें। इसमें दुराचार और बुरी आदतों का निषेध है, फिर भले वे कितनी ही प्रचलित हों। धर्म वह है, जो धारण करता है। दुराचार और बुरी आदतें धारण नहीं कर सकतीं इसलिए वे दोनों कभी धर्म नहीं हो सकतीं। सारे मुद्दे तटस्थ भाव से लोगों के सामने रख दिये जायँ। उसके बाद वे ऐसा मार्ग पसन्द करें, जो तत्वतः अनिष्ट न हो, तो क्या यह सनातन धर्म नहीं? जो सिद्धान्त और सदाचार के नियम सनातन धर्म के नाम से पहिचाने जाते हैं, क्या उनकी इसी तरह वृद्धि नहीं होती

---

१. गांधी जी ने यहां अस्पृश्यता-समर्थक पण्डितों एवं जनसमुदाय को सम्बोधित किया है।—सम्पा०

रही है? सनातन धर्म का सदा विकास होते रहने के लिए क्या यह क्रम अनिवार्य नहीं?

यहां तक मैं अपनी बात आपको समझा सका होऊं, तो आप इतना जान लीजिए कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, उसमें जो मार्ग मुझे अच्छा लगता है उस मार्ग पर लोग मेरे साथ कहां तक आ सकेंगे, इसे खोज निकालने से ज्यादा यह और कुछ नहीं है। इसमें कुछ पण्डित भी, जिन्होंने शास्त्रों के मूल ग्रन्थों का अध्ययन किया है, मेरे साथ हैं। वे कहते हैं कि उनके अर्थ के अनुसार मेरे मार्ग के लिए शास्त्रों का आधार है। किन्तु आप यह आपत्ति करते हैं कि वे शास्त्रों का गलत अर्थ करते हैं। ठीक, तो फिर ये दो अलग-अलग अर्थ हम लोगों के सामने रखें और उनसे पूछें कि उन्हें कौन सा अर्थ मंजूर है। यदि वे मेरा अर्थ स्वीकार करें, तो वह सनातन धर्म कहलायेगा या नहीं? मैं तो कहता हूँ कि आप इसके बाद भी मेरा अर्थ स्वीकार न कीजिए। आप अपने अर्थ पर कायम रहिए। पर ऐसा करेंगे तो आप उसे सनातन धर्म नहीं कह सकेंगे। आप तो कहते हैं कि आप जो अर्थ करते हैं वही सनातन धर्म है, क्योंकि आप यह मानकर चलते हैं कि देहातियों का बड़ा बहुमत आपका अर्थ स्वीकार करेगा। आप मेरा सनातनी होने का दावा नहीं मानते, क्योंकि आप मानते हैं कि लोगों के सामने उसे रखा जाय, तो लोग उसे मंजूर नहीं करेंगे। लेकिन सनातनी होने का दावा मैं कोई अनुभूति-हीन स्थिति में नहीं करता। मैं करोड़ों लोगों के बीच वर्षों से भटकता रहा हूँ। उनके सामने राजनीतिक मनुष्य के रूप में नहीं, बल्कि एक धर्म-परायण पुरुष के रूप में गया हूँ, और उन्होंने भी मुझे धर्म-परायण पुरुष के रूप में ही स्वीकार किया है। आज आप इतने आवेश के साथ जो मेरा इन्कार कर रहे हैं, यह बात ही साबित करती है कि आपने स्वयं मुझे अबतक राजनीतिक मनुष्य नहीं, बल्कि धार्मिक मनुष्य माना था। आप लोग इतना भी नहीं देख सके कि राजनीतिक मनुष्य तो मुझे कुछ समझते ही नहीं। वे तो मुझे अपने काम में दखल देनेवाला और अव्यावहारिक सपने देखनेवाला मानते हैं। हां, धार्मिक सभाओं में मेरा दिल से ही स्वागत किया गया है। १९१५ में जब मुझे लगभग अनजान रहने का सौभाग्य प्राप्त था, तब भी यही होता था।

—४।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग २ (परिशिष्ट-१)। पृ० ३७४-३७५]

- सनातनधर्म ऐसा सदाचार है, जिसका लोग पालन कर सकें।
- धर्म वह है जो धारण करता है।
- दुराचार और बुरी आदतें धारण नहीं कर सकतीं, इसलिए वे दोनों कभी धर्म नहीं हो सकतीं।

१३९. भिक्षुक वृत्ति

...परमेश्वर के सामने तो भिखारी के रूप में ही जाना है, पर मनुष्य के सामने नहीं।

—५।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १५]

१४०. धर्म-त्याग

अपना धर्म कोई आदमी छोड़ नहीं सकता।

—६।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १९]

१४१. रजस्वला धर्म

[श्री रणछोड़दास पटवारी से वार्ता के मध्य व्यक्त विचार]

श्री पटवारी—आप रजस्वला-धर्म को मानते हैं या नहीं?

गांधीजी—मानता हूँ। परन्तु इसका स्पष्टीकरण कर दूं। कोई ब्रह्मचारिणी स्त्री हो और वह रजस्वला होती हो, तो भी उसे अस्पृश्या मानकर उसके रजस्वलापन की याद दिलाना मैं ठीक नहीं समझता। और मैं रजस्वलाधर्म न पालनेवाली को पतित नहीं मानता। मान लीजिए कोई वेश्या रजस्वला-धर्म पालती हो और कोई गृहस्थ धर्म पालनेवाली पवित्र स्त्री रजस्वला-धर्म न पालती हो, तो क्या वह वेश्या उससे बढ़कर है?

—७।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० २५-२६]

१४२. अवतार नहीं हूँ

[दो सिन्धी भाइयों से बातचीत के दौरान व्यक्त विचार]

मैं पैगम्बर नहीं हूँ या हिन्दू-धर्म में जो अवतार माने जाते हैं वैसा अवतार भी नहीं हूं। या आप जितने अवतार हैं, उससे ज्यादा अवतार मैं नहीं हूँ।

—९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ३०]

१४३. धर्म

जो रोटी दिला दे वही धर्म है, दूसरा कोई धर्म नहीं है, यह कहने के बजाय यह कहें कि रोटी भी सत्य-अहिंसा और धर्म से मिलती होगी तो खायेंगे, नहीं तो भूखों मर जायंगे किन्तु सत्य, अहिंसा या धर्म का त्याग नहीं करेंगे। मैं तो कहता हूं जो धर्म सत्य और अहिंसा का विरोधी है वह धर्म ही नहीं। सत्य और अहिंसा को ही मैंने अपना धर्म बनाया है और शास्त्र मात्र की परीक्षा मैं इसी से करता हूं। इस प्रकार मेरा अपना शास्त्र सादा और आसान हो गया है। मुझे किसी झगड़े में नहीं पड़ना पड़ता।

—२०।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ७१-७२]

● जो धर्म सत्य और अहिंसा का विरोधी है वह धर्म ही नहीं।

१४४. क्या मन्दिर आवश्यक है?

[एक अमरीकी ने गांधी जी को लम्बा पत्र भेजा, जिसमें उन्होंने उपासना-गृहों, पुजारियों और धर्माध्यक्षों को धर्म के लिए घातक बताया। उनके शब्दों में "मन्दिरों, मस्जिदों और गिर्जाघरों को मैं धर्म का दुरुपयोग समझता हूं... मन्दिरों में सत्य और सदाचार की दुर्दशा हुई है।....जब धर्म को पुजारी जाति अपना इजारा बना लेती है और मन्दिरों पर किसी का स्वत्वाधिकार हो जाता है, तब बड़ा मानव समुदाय सत्य से बिल्कुल अलग हो जाता है।"

और इस विचार-सरणि के अनुसार अमरीकी भाई ने हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश को व्यर्थ सिद्ध किया था। उनके पत्र का उत्तर देते हुए गांधी जी ने जो विचारोत्तेजक लेख लिखा, वह यहां दिया जा रहा है।—सम्पा०]

...कुछ पुजारी खराब हैं। मन्दिरों, मस्जिदों और गिर्जाघरों में बहुधा खराबी देखी जाती है; दुर्दशा और ज्यादा है। इसके बावजूद यह सिद्ध करना असम्भव होगा कि सभी मन्दिर, मस्जिद, और गिरजे खराबियों और अन्धविश्वासों के लिए उपजाऊ भूमि हैं। इस बहस में इस मूल बात पर ध्यान नहीं दिया गया है कि आज तक किसी धर्म का काम आवास-बिना नहीं चला है। मैं तो इससे आगे बढ़कर कहूंगा मनुष्य स्वभाव जैसा बना है, वैसा ही बना रहा तो आवास के बिना चल ही नहीं सकता। मनुष्य का शरीर ही, औचित्यपूर्वक, परमात्मा का मन्दिर कहा गया है, यद्यपि असंख्य मन्दिर इस बात को झुठलाते हैं और वे भ्रष्टाचार की उर्वर भूमि हैं, व्यभिचार के लिए प्रयुक्त होते हैं। मैं समझता हूं कि इस जल्दबाजी

में किये गये इशारे का, कि बहुत से शरीरों के व्यभिचार के लिए सभी शरीरों को नष्ट कर दिया जाय, यह सिद्ध करना निर्णायक उत्तर होगा और यह सिद्ध किया जा सकता है कि कुछ शरीर ऐसे हैं जो परमात्मा के मन्दिर हैं। बहुत-से शरीरों के भ्रष्टाचार का कारण अन्यत्र खोजना होगा। चूने और पत्थर के मन्दिर इन्हीं शरीर-मन्दिरों के स्वाभाविक विस्तार के सिवा और कुछ नहीं हैं। यद्यपि इनकी कल्पना भी निश्चय ही शरीर-मन्दिरों की तरह ईश्वर के आवास के लिए हुई थी, तथापि ये भी उन्हीं की तरह जरामरण के नियम के अधीन रहे हैं।

मैं किसी ऐसे धर्म या सम्प्रदाय को नहीं जानता जिसका काम विना अपने ईश्वरावास के चलता आया हो या चल रहा हो, फिर वह किसी मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, हैकल या अगियारी किसी नाम-भेद से क्यों न प्रसिद्ध हो। इसका भी निश्चय नहीं कि ईसा-सहित बड़े-बड़े सुधारकों में से किसी ने मन्दिरों को एकदम नष्ट या निषिद्ध कर दिया हो। उनमें से प्रत्येक का उद्देश्य यही था कि मन्दिर और समाज दोनों से खराबियां दूर हो जायं। सब नहीं तो उनमें से कुछ ने अवश्य मन्दिरों से ही उपदेश किया है। अनेक वर्ष हुए मैंने मन्दिरों में जाना छोड़ दिया है। परन्तु इस कारण मैं ऐसा नहीं समझता कि मैं स्वयं पहिले की अपेक्षा अच्छा हो गया हूँ। मेरी माता जबतक मन्दिर में जाने योग्य थीं, तबतक उन्होंने मन्दिर जाने में एक भी अनुपस्थिति नहीं की। शायद उनकी श्रद्धा मेरी (श्रद्धा) से कहीं अधिक अच्छी थी। यद्यपि मैं मन्दिरों में नहीं जाता पर लाखों व्यक्ति ऐसे हैं, जिनकी श्रद्धा इन्हीं मन्दिरों, मस्जिदों और गिरजों के कारण दृढ़ बनी रहती है। वे सब के सब किसी मूढ़ विश्वास के अन्ध अनुयायी नहीं हैं, न धर्म के पीछे पागल हैं। उन्होंने धर्मान्धता और मूढ़ विश्वास का ठीका नहीं ले रखा है। इन बुराइयों की जड़ तो हमारे दिलों और दिमागों में है।

. . .यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि मन्दिरों और मन्दिर-द्वारा उपासना की विधियों में आमूल सुधार की आवश्यकता है। परन्तु मन्दिर-प्रवेश का प्रश्न छोड़ दें तो सभी तरह के सुधार पर जोर देना रोग के साथ व्यर्थ का हस्तक्षेप होगा। मुझे मालूम है कि अमरीकी मित्र की आपत्ति इस बात पर नहीं है कि मन्दिरों में अपवित्रता है या खराबियां हैं। उनकी आपत्ति तो इससे कहीं अधिक गहरे जाती है। उन्हें मन्दिरों में तनिक भी विश्वास नहीं है। मैंने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि दिनानुदिन के अनुभव से जो बातें जाँची जा सकती हैं उन पर विचार करें तो उनकी धारणा टिकने योग्य नहीं रह जाती। मन्दिरों की आवश्यकता से इन्कार

करना व्यक्त धर्म मानने और संसार में रहने की आवश्यकता से इन्कार करना है।
—ह० से०, १७।३।१९३३]

- मनुष्य का शरीर...औचित्यपूर्वक परमात्मा का मन्दिर कहा गया है।
- कुछ शरीर ऐसे हैं जो परमात्मा के मन्दिर हैं।
- मन्दिरों और मन्दिर-द्वारा उपासना की विधियों में आमूल सुधार की आवश्यकता है।
- मन्दिरों की आवश्यकता से इन्कार करना व्यक्त धर्म मानने और संसार में रहने की आवश्यकता से इन्कार करना है।

१४५. अन्तर्नाद

जहां तक मैं जानता हूं किसी ने किसी पर प्रकट होने वाले अन्तर्नाद की संभावना पर आपत्ति नहीं की है। यदि एक व्यक्ति का भी यह दावा सचमुच सिद्ध हो सके कि वह अन्तर्नाद सुनकर उसके अनुरूप आचरण करता है तो संसार का इससे लाभ ही है। बहुत-से लोग इसका दावा कर सकते हैं। परन्तु वे सब अपने दावे को सिद्ध नहीं कर सकेंगे। लेकिन इस प्रकार झूठा दावा करनेवालों की रोक के लिए भी इस अन्तर्नाद को न दबाया जा सकता है न दबाना चाहिए। यदि बहु-संख्यक लोग सत्यतापूर्वक अन्तर्नाद व्यक्त कर सकें तो इसमें कोई भय नहीं। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि पाखण्ड का कोई इलाज नहीं। इस विचार से कि बहुतेरे लोग उसकी नकल करेंगे, सत्यता को दबाया न जाना चाहिए। अन्तर्नाद को सुन-कर आचरण करने का दावा करनेवाले लोग समस्त संसार में रहे हैं। लेकिन उनके अल्पजीवी कार्यकलापों से अब तक संसार की कोई हानि नहीं हुई है। इस नाद को सुन सकने के पहिले व्यक्ति को दीर्घ और कठोर तपस्या से गुजरना पड़ता है और जब यह अन्तर्नाद सुनाई पड़ने लगता है, वह अचूक होता है।
—ह० ज०। ह० से०, २४।३।१९३३]

१४६. ईश्वरेच्छा

मनुष्य कुछ और सोचता है, ईश्वर कुछ और करता है। कहना ही पड़ता है, ईश्वरेच्छा बलीयसी। ...ईश्वर सब कुछ करता हुआ भी कर्त्ता का दायित्व अपने सिर नहीं लेता।...
—ह० ज०। ह० से०, २८।४।१९३३]

१४७. कठोर स्वामी का दास हूँ

मैं इस अत्यन्त कठोर स्वामी (ईश्वर) का आधी शताब्दी से अधिक स्वेच्छा-प्रेरित दास रहा हूँ। जैसे-जैसे समय बीतता गया है वैसे-वैसे उसकी आवाज़ मुझे अधिकाधिक स्पष्ट सुनाई पड़ती गई है। मेरी अत्यन्त अन्धकारपूर्ण घड़ियों में भी उसने कभी मेरा साथ नहीं छोड़ा। उसने अक्सर स्वयं मुझसे मेरी रक्षा की है और मेरे पास जरा भी स्वाधीनता नहीं रहने दी। मैंने उसके प्रति जितना अधिक समर्पण किया उतना ही अधिक आनन्द मुझे प्राप्त हुआ है।
—ह० ज०, ६।५।१९३३]

१४८. शरीर रखने से धर्म-रक्षा नहीं

धर्म का आचरण कोई आसान चीज़ नहीं है। शरीर को रखने से धर्म की रक्षा नहीं होती, पर शरीर को छोड़ने से ही धर्म की रक्षा होती है। यह शरीर कहां चिरस्थायी है ?
— १९।८।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ३६२]

१४९. गुण की उपेक्षा

धर्म में गुण की उपेक्षा करने से विनाश तक की सम्भावना हो सकती है।
—ह० ज०। ह० से०, २५।८।१९३३]

१५०. धार्मिक आन्दोलन

धार्मिक आन्दोलन में श्रद्धा का स्थान बड़े महत्व का होता है। अतः कई बातें अज्ञात ही रहती हैं और उनका प्रभाव प्रायः नहीं जाना जा सकता। धार्मिक आन्दोलन की समय-समय पर माप नहीं की जा सकती, जिस प्रकार साधारण व्यवहार के आन्दोलनों की माप की जा सकती है, कारण कि इनके तत्व अधिकांशतः अपने जाने हुए और नियन्त्रण में होते हैं।
—ह० ज०। ह० से०, २५।८।१९३३]

१५१. धर्म की रक्षा

इस युग में धर्म के लिए तलवार की लड़ाई नहीं होती; धर्म की जागृति, धर्म की रक्षा तलवार के बल पर नहीं की जाती, न की जानी चाहिए। किन्तु आज बुद्धि से और हृदय से धर्म की तुलना हो रही है।

—ह० ब०, ह० से०, २०।१०।१९३३]

१५२. स्त्री-द्वारा धर्म-रक्षा

यदि इस बुद्धि-प्रधान युग में स्त्री धर्म की रक्षा करना चाहती है तो उसे दरिद्र-नारायण की सेवा करनी होगी, शिक्षण लेना होगा।

—वर्धा, २५।१०।१९३३। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृ० १०२]

१५३. मेरे धर्म की शिक्षा

मेरे धर्म ने यह नहीं सिखाया कि मैं किसी को अपना शत्रु समझूं।

—नागपुर ८।११।१९३३। ह० से०, २४।११।१९३३]

१५४. धार्मिक प्रवृत्ति का प्रभाव

ऐसी एक भी धार्मिक प्रवृत्ति कभी देखने में नहीं आई जिसका असर सामाजिक जीवन के अनेक पहलुओं पर न पड़ा हो, और शायद इसी कसौटी से हम महान धर्म-प्रवृत्ति की धार्मिकता को पहिचानते हैं।

—नागपुर ८।११।१९३३। ह० से०, २४।११।१९३३]

१५५. मेरा प्रेरणा-स्रोत

मेरा जीवन धर्म के सहारे चल रहा है। मैं कह चुका हूं कि मेरी राजनीति का उद्गम-स्थल भी धर्म ही है। मेरी राजनीति और धर्मनीति में कोई अन्तर नहीं। जहां मुझे राजनीति में माथापच्ची करनी पड़ी, वहां भी मैंने अपने जीवनाधार धर्म-तत्त्व की कभी उपेक्षा नहीं की।

—नागपुर ९।११।१९३३। ह० से०, २४।११।१९३३]

१५६. धर्म और राजनीति

संसार में ऐसी एक भी धार्मिक प्रवृत्ति नहीं आई, जिसका राजनीतिक परिणाम न हुआ हो। धर्म की यह विशेषता है कि उससे अन्य परिणाम निकलते ही हैं।
— अमरावती, १६।११।१९३३। ह० से०, १।१२।१९३३]

१५७. धर्म और कानून

मैं धर्म में कानूनी हस्तक्षेप नहीं चाहता।
— ह० से०, ८।१२।१९३३]

१५८. धर्म-पालन

सभी लोग मेरा त्याग कर दें, फिर भी मुझे धर्म का पालन अवश्य करना है। शास्त्र कहता है कि धर्म-पालन के लिए अन्य किसी के संग-साथ की ज़रूरत नहीं, केवल ईश्वर के साथ की ज़रूरत है।...धर्म रूपी रत्न का करोड़ों आदमी उपयोग कर सकते हैं। जितना ही अधिक उसका उपयोग किया जायगा, उतना ही उसका जौहर चमकेगा।
— रायपुर। ह० से०, २२।१२।१९३३]

१५९. ईश्वर

हम सब एक ही परमपिता की सन्तान हैं। हम अलग-अलग नाम से उसका भजन करते हैं। ईश्वर तो एक ही है, भेद केवल इतना है कि हम उसे अनेक नामों से पहिचानते हैं।
— दिल्ली (महिला सभा के भाषण से)। ह० से० २९।१२।१९३३]

१६०. अन्तर्नाद

मैंने आत्मशुद्धि करने के लिए अथक प्रयत्न किया है, इसलिए मुझमें अन्तर्नाद को सही और स्पष्ट रूप में सुनने की थोड़ी सी शक्ति आ गई है।
— 'दि एपिक फास्ट' १९३३, पृ० ३४]

१६१. सभी धर्म समान हैं

मैं संसार के सभी बड़े धर्म—मजहबों को सत्य मानता हूं। मेरा विश्वास है कि वे सब ईश्वर की देन हैं। मेरा यह भी विश्वास है कि जिन कौमों में वे प्रकट हुए हैं, उनके लिए वे जरूरी थे। मैं मानता हूँ कि अगर हम विभिन्न धर्मों के महान ग्रन्थों को उसी दृष्टि से पढ़ें, जिस दृष्टि से उन्हें उन धर्मों के अनुयायी पढ़ते हैं, तो हमें मालूम होगा कि सब का मूल एक ही है और वे तमाम धर्म-मजहब एक दूसरे के पूरक हैं।

—त्रिचनापल्ली, १०।२।१९३४। ह० से०, २।३।१९३४]

१६२. हमारी हर एक प्रवृत्ति का आधार

धार्मिक मनुष्य के प्रत्येक कर्म का स्रोत उसका धर्म होता है, क्योंकि धर्म का अर्थ है ईश्वर के साथ बन्धन। कहने का मतलब यह है कि हमारी हर एक सांस का नियन्त्रण ईश्वर करता है।

— ह० ज०, २।३।१९३४]

१६३. धर्मों का उद्देश्य

सब धर्म—मजहब एक ही सृजनकर्त्ता को पहिचानने के लिए इस दुनिया में आये हैं।

— ह० से०, ९।३।१९३४]

१६४. सर्वधर्म-समन्वयी प्रार्थना

. . .मेरे लिए संसार के समस्त मुख्य धर्म समान हैं, क्योंकि वे सभी सच्चे हैं। मानव जाति की आध्यात्मिक उन्नति में जो कमी अनुभव की जाती है, उसे ये सारे धर्म—मजहब पूरी करते हैं। इसलिए मुझे सौंपे हुए मुसलमान, पारसी और ईसाई बालकों का उन्हीं के धर्मानुसार पालन करने में मुझे कभी कोई कठिनाई नहीं हुई। उनके विशिष्ट धर्मशास्त्रों के अनुसार उन्हें विशेष पूजा-पद्धति सिखलाने को उनके मां-बाप ने कहा, इसलिए मुझे उनके धर्म का कुछ साहित्य भी देखना पड़ा। किसी मनुष्य का अभिप्राय जानना हो तो सम्भवतः सरलतम मार्ग यह है

कि उसकी प्रार्थना का पता लगाया जाय। नीचे मैं प्रार्थना के दो प्रकार देता हूँ।

१. हे प्रभो, तू अपने सिरजे हुए सब लोगों को सद्बुद्धि प्रदान कर, जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपने प्रकाश के अनुसार तेरी उपासना करे और अपने धर्म में रहकर विकास को प्राप्त हो।

२. हे प्रभो, तू अपने सिरजे हुए सब लोगों को सद्बुद्धि दे, जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य उसी के अनुसार तुझे पूजे और तेरा अनुसरण करे, जिसके अनुसार पूजने और अनुसरण करने का मैं प्रयत्न करता हूँ।

स्पष्ट है कि पहिली प्रार्थना ऐसी है, जिसे सभी कर सकते हैं। वह सर्वग्राही है। इसलिए इस प्रकार की प्रार्थना, जो व्यक्ति या संस्था स्वीकार करेगी, वह हिन्दू बालक का हिन्दू-रूप में, मुसलमान बालक का मुसलमान रूप में, ईसाई बालक का ईसाई-रूप में अन्तःकरणपूर्वक पालन-पोषण कर सकेगी। किन्तु प्रार्थना के दूसरे पन्थ पर चलनेवाला व्यक्ति अन्तःकरणपूर्वक तो अपने सम्प्रदाय वालों को ही ले सकता है। वह दूसरे सम्प्रदाय वालों को अपनी स्पष्ट इच्छा प्रकट करके, अपने धर्म में धर्मान्तरित किये बिना, नहीं ले सकता।...

—ह० ज० । ह० से०, १३।४।१९३४]

● संसार के सभी मुख्य धर्म समान हैं, क्योंकि सभी सच्चे हैं।

१६५. सर्वधर्म-समादर

...ईश्वर ने विभिन्न धर्मों की सृष्टि की है और उसके भक्त भी भिन्न-भिन्न धर्मों में हुए हैं। मैं इस विचार को अपने हृदय में छिपाकर भी कैसे स्थान दे सकता हूँ कि मेरे पड़ोसी का धर्म मेरे धर्म से घटिया है, इसलिए वह अपना धर्म छोड़कर मेरा धर्म स्वीकार कर ले। एक सच्चे और विश्वसनीय मित्र की हैसियत से मैं केवल यह इच्छा कर सकता, यही प्रार्थना कर सकता हूँ कि मेरा पड़ोसी अपना ही धर्म पालन करते हुए पूर्णता प्राप्त करे। उस साईं के अनेक घर हैं और वे सब एक समान पवित्र हैं। संसार के सभी बड़े-बड़े धर्म-मजहब मानव जाति की समता, बन्धुता और पारस्परिक सहिष्णुता की शिक्षा देते हैं।...

—सीतामढ़ी। ह० ज० २०।४।१९३४, ह० से०, ४।५।१९३४]

१६६. धर्म-सेवक

...जो धर्म की सेवा करना चाहते हैं, उन्हें मानापमान की...छोटी बातों पर ध्यान नहीं देना चाहिए।

—ह० से० ४।५।१९३४]

१६७. धर्म-परिवर्तन

[एक ईसाई मिशनरी से बातचीत के मध्य व्यक्त किये गये विचार]

...मैं मनुष्य द्वारा किये गये धर्म-परिवर्तन में विश्वास नहीं करता। हमारे यहां एक दृष्टान्त प्रचलित है। कुछ अन्धे आदमी हाथी देखने चले। किसी ने (उसकी) सूंड़ टटोली और किसी ने पूंछ, किसी ने पैरों को पकड़ा और किसी ने कानों को टटोला। प्रत्येक ने अपने भिन्न-भिन्न स्पर्श-ज्ञान से अपने मन में हाथी के रूप की कल्पना कर ली। सत्य के विषय में भी यही बात है। सत्यशोधक अपने परिमित ज्ञान से उसकी थाह लेना चाहते हैं। जिसे उसका जितना ज्ञान होता है, उतने को ही वह पूर्ण समझ बैठता है। सभी अपनी परिमित दृष्टि से सत्य के दर्शन का प्रयत्न करते हैं। इसलिए यह तो स्पष्ट ही अभिमान है कि दूसरों को अपने धर्म में मिलाने का प्रयत्न किया जाय। प्रभु के पास जाने के उतने ही मार्ग हैं, जितने इस पृथिवी पर मानव प्राणी हैं।

—ह० से० ४।५।१९३४]

१६८. अवतार बनाम इतिहास-पुरुष

...इतिहास का ईसा वही नहीं है, जिसे ईसाई मानते-पूजते हैं। ईसाइयों की दृष्टि में वह साक्षात् ईश्वर है। इसी प्रकार मैं अपने स्वकल्पित कृष्ण को मानता हूँ। मैं अपने कृष्ण को ईश्वरवत् मानता हूँ। मुझे ऐतिहासिक कृष्ण से कुछ लेना-देना नहीं है। ऐतिहासिक पुरुष कभी के चल बसे, पर रहस्यपूर्ण अवतार, जीवित आदर्श तो अमर हैं। वे पार्थिव अस्तित्व से भी अधिक यथार्थ हैं। धर्म इतिहास पर कदापि निर्भर नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो धर्म कभी का नष्ट हो गया होता। सन्त तुलसीदास ने ठीक ही कहा है कि राम का नाम राम से भी बड़ा है।

कहउं नाम बड राम तें निज विचार अनुसार।

—ह० से० ,४।५।१९३४]

● धर्म इतिहास पर कदापि निर्भर नहीं हो सकता।

१६९. आदर्श मन्दिर

जिस समाज के लिए मन्दिर बनवाये जाते हैं वे उस समाज के प्रतिबिम्ब-रूप होते हैं। मन्दिरों के आसपास का वातावरण ऐसा होना चाहिए, जिससे कुछ समय

के लिए तो उनमें पूजा करनेवाले अपनी कुत्सित भावनाओं से ऊपर उठकर स्वयं को थोड़ा ऊंचा उठता अनुभव करें। मन्दिर की भूमि पर बालक-बालिकाओं के लिए प्रारम्भिक पाठशाला होती थी। मन्दिर के साथ ऐसे विद्वान् पण्डितों का सम्बन्ध होता था जो जिज्ञासुओं को संस्कृत साहित्य पढ़ाते थे। मन्दिर ग़रीबों के आश्रय-स्थान हैं, इसलिए उन्हें रात-विरात वहां शरण मिलती थी। वहां सत्संग के लिए बहुत बड़े कमरे या खुली जगह होती थी। हमारे प्राचीन मन्दिरों का यह आदर्श था। मैंने अपनी भ्रमण-यात्राओं में ऐसे अनेक मन्दिर देखे हैं।...अगर मन्दिरों के ट्रस्टी इस सरल आदर्श को कार्यरूप में परिणत करने का यथासाध्य प्रयत्न करें, तो जैसा मैंने ऊपर कहा है, उसकी पूर्ति होने में कठिनाई नहीं आयेगी।

— बालियांता (उडीसा) । ह० से०, १।६।१९३४]

● मन्दिर....समाज के प्रतिबिम्ब होते हैं ।

१७०. धर्म में काट-छाँट अवाञ्छनीय है

धर्म का अंग-भंग करके क्या हम उसे चला सकते हैं? धर्म का प्रत्येक अंग उसका अविभाज्य अंग होता है। डाट में से एक ईंट निकाल ली जाय, तो वह ढह जाती है। इसी प्रकार धर्म के एक अंग का उच्छेद हो गया, एक ईंट निकाल ली गई, तो धर्म की सारी इमारत को गिरी समझिए।

— भावनगर, १।७।१९३४ । ह० से०, २०।७।१९३४]

१७१. अध्यात्म-बल

याद रखिए कि हमारे सब अस्त्र-शस्त्र आध्यात्मिक हैं। हममें एक बार आध्यात्मिक शक्ति आई कि फिर कोई उसे रोक नहीं सकता। मैं यह बात अनेक वर्षों के अनुभव-सिद्ध विश्वास के आधार पर कह रहा हूँ। यह आध्यात्मिक शक्ति चर्म-चक्षु से प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली कोई साकार वस्तु नहीं है, फिर भी मैं कहता हूँ कि मुझे तो वह प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाली-जैसी ही चीज़ लगती है।

— ह० से०, ७।९।१९३४]

१७२. धर्म-परिवर्तन सौदा नहीं

...धर्म सौदे की चीज़ नहीं। कौन किस धर्म में रहे, यह निश्चय करना प्रत्येक व्यक्ति का अपना काम है।

धर्म से किसी भी रूप में कोई सौदा नहीं किया जा सकता। और आध्यात्मिक बातों के लिए अगर इस तरह की कोई बात कही जा सकती हो, तो हम यही कह सकते हैं कि धर्म का सौदा अपने रक्त से ही किया जा सकता है।
—ह० ज०। ह० से०, २१।३।१९३६]

१७३. धर्म-परिवर्तन

धर्म-परिवर्तन, निश्चय ही मनुष्य और उसके सृजनकर्त्ता के बीच का मामला है। केवल सृजनकर्त्ता ही अपने सिरजे हुए (व्यक्ति) के हृदय को जानता है। अगर हृदय शुद्ध नहीं है तो धर्म-परिवर्तन का अर्थ मेरी राय में ईश्वर और धर्म से इन्कार करना है। हृदय-शुद्धि बिना धर्म-परिवर्तन से ईश्वर-भीरु मनुष्य को दुःख ही होता है, आनन्द नहीं।
—ह० ज०। ह० से०, ६।६।१९३६]

१७४. श्रद्धा का अर्थ धर्म-परिवर्तन नहीं

अगर कोई बाइबिल पर श्रद्धा रखना चाहता है तो भले ही रखे। पर उसे अपना धर्म क्यों छोड़ना चाहिए? क्या इस धर्म-परिवर्तन से संसार को शान्ति प्राप्त होगी? धर्म तो व्यक्तिगत वस्तु है। सच्चा धर्म यह है कि हमें जितना प्रकाश मिला है, उसी के अनुसार अपने जीवन को उच्चतम बनायें, अपने पास जो अच्छी से अच्छी चीज़ हो उसे दूसरों को दें और इस तरह मानव जाति—जो ईश्वर के पास पहुँचने की कोशिश कर रही है—उसके सम्मिलित प्रयत्न में हम भी हाथ बटायें।
—ह० ज०। ह० से०, २८।११।१९३६]

१७५. मेरी आस्था

मुझे गीता पर जितनी आस्था है, उतनी ही बाइबिल पर है। मैं मानता हूँ कि दुनिया के सारे महान धर्म उतने ही सच्चे हैं, जितना कि मेरा अपना धर्म है। पर इन धर्मों के अनुयायी जब आज खुद अपने ही हाथों अपने धर्म को उपहासास्पद बनाते हैं . . .तब मेरे दल को चोट पहुँचती है।
—ह० ज०। ह० से०, २।१।१९३७]

१७६. प्रभु के कार्य

...परमात्मा दयालु है। उसके हर काम में अनन्त बुद्धि ने द्रव्य भरा है। वह ऐसी कोई चीज़ नहीं बनाता, जिसका कोई प्रयोजन न हो। हमें अपने अज्ञान को दूर करके बुद्धि से काम लेना चाहिए और इस श्रद्धा से सोचना चाहिए कि प्रत्येक प्राणी की सृष्टि किसी विशेष प्रयोजन से हुई है। हमें धैर्य के साथ उस प्रयोजन को ढूंढ़ निकालना चाहिए।

—ह० ज०। ह० से०, ९।१।१९३७]

१७७. मन्दिर हों तो ऐसे

[त्रावणकोर-यात्रा के दौरान पन्दलाई गाँव में दिये गये भाषण का अंश।]

...मन्दिरों में नवीन आध्यात्मिक प्राणों का संचार होना चाहिए। और एक समय उनमें जो शक्ति और पवित्रता थी वह फिर आ जानी चाहिए। मैं मानता हूँ कि यह तभी हो सकता है जब कि ये मन्दिर ऐसे पुजारियों के हाथ में हों, जो अपने कर्त्तव्य को पहिचानते हों, जिन्हें मन्दिरों की पवित्रता कैसे सुरक्षित रह सकती है, इस बात का ज्ञान हो; जिन्हें यह बुद्धि हो कि उन्हें खुद अपने कर्त्तव्य का पालन करना है। दूसरे शब्दों में कहूँ तो ये लोग केवल आजीविका के लिए पूजा-अर्चा का व्यवसाय करनेवाले अज्ञानी मनुष्य न हों। उन्हें मन्दिर में जानेवालों को ईश्वर का सन्देश पहुँचाने के लाभ में स्वगौरव माननेवाला होना चाहिए। वे अपने आचरण से यह बता दें कि ये मन्दिर के धाम हैं।

इन मन्दिरों में शुद्ध धर्मज्ञान देने का प्रबन्ध होना चाहिए।...मन्दिर सोने या चाँदी की मूर्तियों के वासस्थान ही नहीं, बल्कि जीवन्त ईश्वर के धाम बनने चाहिए। इसके बाद मैं यह चाहता हूँ कि मन्दिरों का इतिहास ऐसी भाषा में लिखा हुआ हो, जिसे सामान्य लोग समझ सकें। वे इन मन्दिरों के सम्बन्ध में जो जानकारी प्राप्त करना चाहें उन्हें वह मुफ्त में या सस्ती कीमत में मिलनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि योग्य धर्म-शिक्षकों की शिक्षा के लिए एक विद्यालय होना चाहिए और उन धर्म-शिक्षकों के हाथ लोगों को धर्मशिक्षण देने का काम सौंपना चाहिए।

—ह० ज०। ह० से०, २०।२।१९३७]

१७८. दूसरे क्या कहते हैं?

एक लम्बा पत्र मेरी फाइल में कुछ अर्से से पड़ा हुआ था। उसका भाव यह है—

"धर्मान्तर के विषय में आपका रुख़ प्रसिद्ध है। दलित जातियों के लिए आपको हिन्दू-धर्म से जो आशा है वह भी हम जानते हैं। पर उससे पता चलता है कि प्रचलित हिन्दू-धर्म की अनेक रूढ़ियों का आपको ख़याल नहीं है। स्वामी विवेकानन्द और सर एस० राधाकृष्णन ने जिस तरह इसका वर्णन किया है उसे देखते हुए हिन्दू-धर्म की विशेषताओं और दिव्यता को कौन स्वीकार नहीं करेगा? पर क्या सर्व-साधारण हिन्दुओं को यह धर्म इस तरह समझाया जाता है? अथवा धर्मधिकारियों द्वारा उस पर इस प्रकार अमल भी होता है? वे लाखों-करोड़ों लोग क्या चाहते हैं? आज तो उन्हें पेट भर रोटी, रहने को मकान और शरीर पर कपड़ों की जरूरत है। मन्दिर-प्रवेश तो बहुत आगे की बात है।

"प्रत्येक धर्म उसके फल से पहिचाना जाता है। ईसाई-धर्म और हिन्दू-धर्म की तुलना कीजिए। ईसाई लोग जो दान पाते हैं उसका ठीक-ठीक हिसाब रखते हैं, और सेवा के रूप में उसका बदला देते हैं। पूजाधिकार सबको एक-सा है। वे कितनी लोकसेवक संस्थाएं चलाते हैं। उनकी श्रद्धा का यही सबसे बड़ा प्रमाण है। अब आपके मन्दिरों और मठों को देखिए। उनको दिये गये दान और सम्पत्ति का वहां किस प्रकार उपयोग होता है? प्राय: एक ओर तो धार्मिक अन्धविश्वासों को बढ़ाने और दूसरी ओर इन मठाधीशों के वैभव-विलास में ही वह बरबाद होता है। अपने शिष्यों और जनता पर इनके कुछ विशेष अधिकार होते हैं, जिनसे बलात् भी धन वसूल किया जाता है। क्या यह अत्याचार नहीं है? और फिर इस तरह एकत्र किये गये धन का कभी हिसाब नहीं रखा जाता। आज तो हिन्दू-धर्म का व्यावहारिक रूप यही रह गया है। तब दलित जातियां क्यों उसके खिलाफ़ बग़ावत का झण्डा खड़ा न करें? एक तरफ़ तो जमीन का लगान बढ़ाकर राज्य उनसे अपनी उपज का बड़ा हिस्सा ले लेता है और दूसरी तरफ़ ये धर्माधिकारी उन्हें लूटते रहते हैं। तब क्यों न जनता दाने-दाने के लिए मुहताज हो? आज उन्हें अधिक काम और इन अनेक गृह-उद्योगों की जरूरत नहीं है। उन्हें तो औद्योगिक शिक्षा, औषधालय, अच्छे-अच्छे मातृ-मन्दिर और अच्छे खाने की जरूरत है। इसके लिए कीमत भी उन्होंने राज्यकर और विविध दानों के रूप में दे दी है, पर उन्हें धोखा दिया जा रहा है। उसका उन्हें बदला नहीं मिल रहा है। राज्य से तो फिर भी कुछ मिलता है, पर धर्म से कुछ भी नहीं मिलता।

"यहां हिन्दुस्तान में और अन्य देशों में भी लोग ईसाई धर्म-प्रचारकों की चाहे जितनी कड़ी आलोचनाएं करें, पर मैं तो कहूंगा कि इसके बावजूद उनसे जितनी सेवाएं हो रही हैं उनके मुकाबिले में कोई खड़ा नहीं रह सकता। आज तो उन्हें पहिले जैसे दान भी नहीं मिल रहे हैं। दाता लोग कहने लगे हैं कि

हिन्दू-धर्म महान है, वह खुद ही अपने समाज की सेवा क्यों न कर लें। पर अगर आप यह मानते हैं कि ईसाइयों-द्वारा कुछ अच्छी सेवा हो रही है, तो क्या यह अच्छा न होगा कि इन मन्दिरों और मठों के अपार धन-संग्रह में से कुछ हिस्सा इन ईसाइयों को दे दिया जाय, जिससे उसका सदुपयोग तो हो? उनके पास सुन्दर संगठन है और ईमानदार काम करनेवाले हैं। हिन्दू-धर्म गरीब देहातियों के लिए क्या कर रहा है? कुछ भी नहीं। सरकार अपने ढंग से कुछ करती है, पर उसके नौकरों को भी यहां भत्ता चाहिए। आप ईसाइयों की सेवा की तो कद्र करते हैं, पर इस तरफ़ ध्यान ही नहीं देते कि इन मन्दिरों और मठों में पड़े हुए धन का कैसे लोक-हित के लिए उपयोग किया जाय? जब इन धार्मिक संस्थाओं का सेवा के लिए उपयोग होगा तभी हिन्दूधर्म का भला होगा।"

दूसरों की आँखों से अपने को देखना अच्छा ही है। हम चाहे जितनी कोशिश करें, हम अपने आपको और खासतौर पर अपनी खामियों को पूरी और अच्छी तरह कभी नहीं देख सकते। यह तो हम अपने आलोचकों की आँखों से ही देख सकते हैं, बशर्ते कि उनकी टीका से हम नाराज़ न हों, बल्कि उसे अच्छे भाव में ग्रहण करें। जो हो, मैं इस टीका पर जितना भी समतापूर्वक हो सकेगा विचार करना चाहता हूँ। हिन्दूधर्म के आज के व्यावहारिक रूप में जो गम्भीर त्रुटियां हैं उन्हें हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा। बहुत-से मठ तथा उनकी व्यवस्था हिन्दू-धर्म के लिए कलंक की बात है। दान के रूप में वहां जो धन दिया जाता है उसका बदला दाताओं को सेवा के रूप में नहीं मिलता। यह स्थिति तो ऐसी है जिसका या तो सुधार होना चाहिए या समूल नाश कर देना चाहिए।

हम यह भी स्वीकार करते हैं कि ईसाई मिशनों के द्वारा दया-धर्म का थोड़ा-बहुत काम होता है।

पर मेरी इन स्वीकृतियों का अर्थ यह न समझ लिया जाय कि उपर्युक्त पत्र के लेखक ने जो परिणाम निकाले हैं, उनसे मैं सहमत हूँ। हरिजनों के साथ-साथ आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी सहायता की जरूरत तो अधिकांश अन्य हिन्दुओं को भी है। पर हरिजनों के मार्ग में कुछ विशेष रुकावटें हैं। सवाल यह नहीं है कि किन रुकावटों पर उन्हें रोष है। उच्च कहलाने वाले हिन्दुओं का यह धर्म है कि वे हरिजनों के पैरों में पड़ी हुई उन तमाम बेड़ियों को तोड़ दें, चाहे हरिजनों को वे (बेड़ियां) प्रिय भी क्यों न हों। लेखक यह तो स्वीकार करता है कि विवेकानन्द और राधाकृष्णन-द्वारा प्रतिपादित हिन्दू-धर्म दिव्य है। तब उसे यह भी पता चल जाना चाहिए था कि वही तो छनछन कर हिन्दू जनता में फैला हुआ है। मैं तो यह भी कहने का साहस करता हूँ कि एक वर्ग की हैसियत से साधारणतया

हिन्दुस्तान की देहाती जनता भले ही असंस्कृत नजर आवे, मगर मनुष्य-स्वभाव की स्वाभाविक गुण-सम्पत्ति में वह किसी भी देश की ग्रामीण जनता की तुलना में कम नहीं उतरेगी। इसकी साक्षी तो वे अधिकांश विदेशी यात्री दे सकते हैं जो ह्वेनत्सांग के समय से आज तक यहां आये हैं और जिन्होंने अपने प्रवासों के वर्णन लिख रखे हैं। हिन्दुस्तान के देहातियों की स्वाभाविक संस्कृति, उनके मकानों में दिखाई देनेवाली कला, उनके आचार-व्यवहार और संयम, ये सब उस धर्म की देन हैं जो अनादि काल से उन्हें एक सूत्र में बांधे हुए हैं।

हिन्दू-धर्म को तुच्छ दिखाने के अपने उत्साह में लेखक केवल इस बात को भूल रहा है कि हिन्दू-धर्म ने सुधारकों की एक फौज-की-फौज पैदा की है, जिन्होंने अन्ध-विश्वास, पूर्वग्रह और अन्य बुराइयों के खिलाफ सफलतापूर्वक युद्ध किया है। हिन्दू-धर्म ने ग़रीबों की सहायता करने की ऐसी पद्धति को ढूंढ़ निकाला है, जो अनेक विदेशी प्रशंसकों के लिए एक ईर्ष्या की वस्तु बन गई है। और फिर भी उसने अपना ढोल नहीं पीटा है। मैं स्वयं अनुभव करता हूं कि अब भी बहुत कुछ करने के लिए बाकी है। उसका कृष्ण-पक्ष भी है ही। परन्तु परोपकार की दृष्टि से उसने अपनी उपयोगिता सिद्ध करके दिखा ही दी है। हिन्दुस्तानी लोगों को रिपोर्ट वगैरह छापकर अपने दानों का ढिंढोरा पीटने की आदत नहीं है। पर जिसके आंखें हैं, वह देश में फैले हुए असंख्य अन्नसत्रों, लंगरों और धर्मार्थ औषधालयों को, जो हिन्दुस्तानी ढंग से चल रहे हैं, देख सकता है।...

—ह० ज०। ह० से०, ६।३।१९३७।]

१७९. अन्य धर्मों के प्रति मेरी दृष्टि

दूसरों के धर्मग्रन्थों की आलोचना करना या उनके दोष बताना मेरा काम नहीं है, परन्तु उनमें जो सत्य है उसे घोषित और कार्यान्वित करना मेरा सौभाग्य है और होना चाहिए। इसलिए कुरान या पैगम्बर के जीवन की जिन बातों को मैं समझ नहीं सकता, उनकी मैं आलोचना या निन्दा नहीं कर सकता परन्तु उनके जीवन के जिन पहलुओं को मैं जान और समझ सका हूं, उनके लिए अपनी प्रशंसा व्यक्त करने के हर मौके का मैं स्वागत करता हूं। जिन बातों को समझने में कठि-नाइयां सामने आती हैं उन्हें मैं भक्त मुसलमानों की दृष्टि से देखकर सन्तोष कर लेता हूं और इस्लाम के प्रमुख मुसलमान व्याख्याकारों की रचनाओं की सहायता से उन्हें समझने की कोशिश करता हूं। अपने धर्म से भिन्न धर्मों के प्रति ऐसी आदर की दृष्टि रखकर ही मैं सब धर्मों की समानता का नियम सिद्ध कर सकता हूं।

परन्तु हिन्दू-धर्म को शुद्ध करने और शुद्ध रखने के लिए उसके दोष बताना मेरा अधिकार भी है और कर्त्तव्य भी। परन्तु जब अहिन्दू आलोचक हिन्दू धर्म की टीका-टिप्पणी करते और उसके दोषों की सूची बनाने लगते हैं, तब वे हिन्दू-धर्म के विषय में अपना ही अज्ञान और उसे हिन्दू-दृष्टिकोण से देखने की अपनी असमर्थता ही घोषित करते हैं। इससे उनकी दृष्टि दूषित और निर्णय-शक्ति विकृत हो जाती है। इस प्रकार हिन्दू-धर्म के गैर-हिन्दू आलोचकों का मुझे स्वयं जो अनुभव है, वह मुझे मेरी मर्यादाओं का भान कराता है और यह सिखलाता है कि इस्लाम या ईसाई धर्म और उसके प्रवर्त्तकों की आलोचना करने में मुझे सावधान रहना चाहिए।

—ह० ज०, १३।३।१९३७]

१८०. धर्म की सहायता

[मि० कीयन नामक एक भाई गांधी जी से मिलने आये थे। उनकी समझ में गांधी जी के इस कथन का आशय ठीक से नहीं आ रहा था कि न केवल सब धर्म सच्चे हैं, बल्कि समान भी हैं; उन्हें लगा कि वैज्ञानिक दृष्टि से यह कथन सत्य नहीं हो सकता कि सब धर्म समान हैं। लोग प्रकृति-पूजकों और ईश्वर-वादियों के बीच तुलना करने लगेंगे। इसलिए मि० कीयन ने कहा, धर्मों की तुलना करने से कोई लाभ नहीं। ये तो जुदा-जुदा रास्ते हैं। आपका क्या ख्याल है? क्या हम दूसरे शब्दों से इस बात को समझ सकते हैं? उपर्युक्त प्रश्न का गांधी जी ने जो उत्तर दिया और इस प्रसंग पर आगे जो वार्ता चली वह यहां दी जा रही है।—सम्पा०]

गांधी जी—आपका यह कथन ठीक है कि धर्मों की तुलना नहीं हो सकती। पर इसका यह अर्थ निकलता है कि वे समान हैं। उदाहरण लीजिए। जन्मतः सभी लोग स्वतन्त्र और समान होते हैं। पर हम देखते हैं कि शरीर और मन से भी कई दूसरों की अपेक्षा खूब बलवान या बहुत कमजोर होते हैं इसलिए ऊपर से देखने में दोनों के बीच् कोई समानता नहीं होती। फिर भी मूलतः दोनों में समानता अवश्य है। इन कलेवरों को छोड़ दें तो ईश्वर कहीं आपको कीयन और मुझ गांधी के रूप में थोड़े ही देख रहा है। और इस अनन्त विश्व में हमारे अस्तित्व की क्या गणना है? हम अणु-रेणुओं से भी नगण्य हैं। उन अणु-रेणुओं के बीच जिस प्रकार कोई छोटा या बड़ा नहीं कहा जा सकता, उसी तरह हमारा भी हाल है। असल में, हम सब एक ही हैं। जाति, वर्ण (रंग) शिक्षा, शरीर, आबोहवा और

राष्ट्रीयता के भेद तो क्षणिक हैं। इसी प्रकार सब धर्म भी मूलतः समान हैं। अगर आप कुरान पढ़ें तो आपको उसे मुसलमानों के दृष्टिकोण से पढ़ना चाहिए। अगर बाइबिल पढ़ना चाहें तो ईसाइयों के दृष्टिकोण से पढ़ें और गीता पढ़ने की इच्छा हो तो उसका ठीक तरीका हिन्दू-दृष्टिकोण से पढ़ना है। एक धर्म के कुछ ब्यौरों को लेकर उनकी नुक्ताचीनी करके खिल्ली उड़ाने से क्या लाभ हो सकता है? मैथ्यू या जैनेसिस के पहले अध्याय को लीजिए। हम एक लम्बी वंशावली पढ़ते हैं और उसके अन्त में ईसा का एक कुमारी से जन्म होने का हाल पढ़ते हैं। लीजिए, सामने एक दीवार खड़ी कर दी गई। पर मुझे यह सब एक ईसाई की दृष्टि से पढ़ना चाहिए।

मि० कीरन—बाइबिल में हम मूसा और ईसा का क़िस्सा पढ़ते हैं। क्या हमें उन्हें समान ही समझना चाहिए?

गांधी जी—हां, जरूर। इसीलिए तो कहता हूँ कि सब पैगम्बर समान हैं। यह तो एक समस्तल है।

आइनस्टीन[1] की रिलेटिविटी[2] की परिभाषा में हम सोचने लगें तो हमें सब समान दिखाई देंगे। पर मैं इस समानता का ठीक तरह से वर्णन नहीं कर सकता।

इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि वे सब सामान्यतः बराबर और अपूर्ण भी हैं। यूक्लिड[3] की बताई सरल रेखा एक आदर्श वस्तु है। आप जितनी बड़ी रेखा खींचेंगे वह इस परिभाषा के उतनी ही निकट होगी। पर वह सच्ची सरल रेखा कभी नहीं कही जायगी। धर्मवृक्ष तो एक ही है, पर उसकी शाखाओं में वह स्थूल या जड़ समानता आपको नहीं दिखाई देगी। वे सब बढ़ रही हैं। पर बढ़ती हुई शाखा पर बैठनेवाला यह न कहे कि मेरी शाखा बड़ी और श्रेष्ठ है। कोई किसी से बढ़कर और घटिया नहीं है।

—ह० से० १३।३।१९३७]

● धर्म-वृक्ष तो एक ही है।

---

१. बीसवीं सदी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक स्व० अल्बर्ट आइनस्टीन। वे यहूदी थे और जर्मन में रहते थे। हिटलर की यहूदी-उत्पीड़न नीति से त्रस्त होकर वे संयुक्त राज्य अमेरिका चले आये और यहीं उनकी मृत्यु हुई।

२. सापेक्ष्यवाद, भौतिक शास्त्र का युगान्तरकारी सिद्धान्त।

३. प्रसिद्ध ग्रीक भूमिति-शास्त्री।

१८१. धर्म-हेतु त्याग

धर्म के लिए लोगों ने अनेक संकट सहे हैं और मृत्यु का भी आलिंगन किया है।
—ह० से० २०।३।१९३७]

१८२. अनुचित धर्म-परिवर्तन

जब किसी को धर्म-परिवर्तन के उद्देश्य से उसके धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्म का महत्व समझाया जाय, तो ऐसा उसकी बुद्धि या पेट अथवा दोनों को अपील करके ही किया जा सकता है।
—ह० ज०। ह० से० १२।६।१९३७]

१८३. ब्रह्मचर्य

[श्री बलवन्त सिंह को लिखे पत्र से]

ब्रह्मचर्य में एक वस्तु यह है कि वीर्य निष्फल न होना चाहिए। जब उसकी ऊर्ध्व गति होती है तब माना जाता है कि वह निष्फल नहीं जाता। बात सही नहीं है। जो मनुष्य क्रोध करता है, वह वीर्य का दुर्व्यय करता है, अथवा नाश करता है, इसलिए वह निष्फल हुआ। उसी कारण ब्रह्मचर्य का इतने अंश में नाश हुआ। इसी कारण जो मनुष्य भोग-वृत्ति से स्त्री-प्रसंग करता है उसके वीर्य का नाश होता है, क्योंकि वह निष्फल जाता है। जब मनुष्य को किसी प्रकार की विषय-वासना नहीं है, स्त्री-पुरुष दोनों सन्तान चाहते हैं और इसी कारण मिलन होता है, तब वीर्य सम्पूर्णतया सफल होता है। इसलिए ऐसे दम्पति सम्पूर्णतया ब्रह्मचारी हैं। ऐसे दम्पति शायद करोड़ों में मिलें।...
—सेगांव, ८।७।१९३८। 'बापू की छाया में': बलवन्त सिंह, संस्करण, १९५७, न० जी० प्र० मं०]

१८४. ईश्वर-निर्भरता

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

मेरी कोई चिन्ता न करो। जबतक ईश्वर को मेरी जरूरत है वह मुझे पृथिवी पर रखेगा। मैं यहाँ होऊं या और कहीं, दोनों ठीक हैं। हमारी नहीं, उसकी इच्छा पूरी हो।
—सेगांव, वर्धा, ३।२।१९३९। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० २६८ न० जी० प्र० मं०]

१८५. आत्मघात का अधिकार

[युरोपीय बौद्ध डा० फाब्री से प्रश्नोत्तर]

डा० फाब्री—बुद्ध ने आत्महत्या करने वाले भिक्षुओं को माफ़ किया है। अपना जीवन खत्म कर देने के मनुष्य के अधिकार के बारे में आप क्या कहेंगे? मैं तो जीवन को जीवन की दृष्टि से बहुत कम महत्व देता हूं।

गांधी जी—कुछ परिस्थितियों में अपना जीवन खतम कर देने का मनुष्य को पूरा अधिकार है। मेरे एक साथी को कोढ़ की बीमारी है। यह जानकर कि यह रोग असाध्य है और उनका जीवन जितना उनके लिए उतना ही उनकी सेवा-सुश्रूषा करनेवालों के लिए भी एक झंझट है, हाल में उन्होंने भूखे-प्यासे रहकर प्राण त्याग देने का निश्चय किया। मैंने उनके इस विचार की सराहना की। उनसे मैंने कहा—अगर सचमुच आप ऐसा समझते हैं कि आप इस कष्ट को सहन कर लेंगे, तो आप ऐसा कर सकते हैं। मैंने यह इसलिए कहा, क्योंकि डूबकर या जहर खाकर एकाएक मर जाने से इस तरह धीरे-धीरे घुल-घुलकर मरना कितना भिन्न है। और मेरी यह चेतावनी पूरी तरह ठीक निकली, क्योंकि किसी ने उन्हें यह आशा दिलाई की एक आदमी कोढ़ का इलाज कर सकता है, और अब मैं सुनता हूं कि उन्होंने फिर खाना-पीना और उस आदमी का इलाज शुरू कर दिया है।

डा० फाब्री—मुझे लगता है कि कसौटी यह होनी चाहिए कि आदमी तकलीफ़ की बिलकुल परवा न करे, और सबसे अच्छा यह है कि निर्वाण का प्रयत्न करे। इसके लिए यह भी जरूरी नहीं कि वह बीमार ही हो; वह जीवन के संघर्ष से थक कर भी ऐसा कर सकता है।

गांधी जी—नहीं, नहीं, मेरा मन आत्महत्या की बात स्वीकार नहीं करता। कसौटी यह नहीं है कि आदमी जीवन के संघर्ष से थक गया हो, बल्कि उसे ऐसा लगना चाहिए कि वह दूसरों पर भार-रूप है और इसलिए संसार का त्याग करना चाहता है; किसी तकलीफ़ से नहीं, बल्कि दूसरों पर अवलम्बित हो जाने के कारण भागना चाहता है। नहीं तो अपनी वेदना का उग्ररूप में अन्त करने के लिए वह उससे भी ज्यादा तकलीफ़ बर्दाश्त करता है। लेकिन मान लीजिए कि मुझे नासूर हो गया है, और मेरी मृत्यु निकट है, तो मैं अपने डाक्टर से ऐसी कोई दवा देने के लिए भी कहूंगा जिससे मैं हमेशा के लिए सो जाऊं।...

—ह० ज०। ह० से० २६।८।१९३९]

१८६. तत्त्व और आचार

एक मित्र ने यह पत्र भेजा है—

"३० सितम्बर के 'हरिजन' में 'क्या हिन्दुस्तान फ़ौजी मुल्क है?' शीर्षक लेख के अन्त में आपने लिखा है—गति जीवन का अन्तिम ध्येय नहीं। मनुष्य तो अपने कर्तव्य से पैदल चलते हुए ही अधिक-से-अधिक दूर देखता और अधिक सच्चा जीवन व्यतीत करता है। और इसके नीचे आपने लिखा है: 'शिमला जाते हुए गाड़ी में'। मुझे आश्चर्य होता है कि आप में इतनी अधिक विनोदवृत्ति होते हुए भी आप यह क्यों नहीं देख सके कि 'शिमला जाते हुए गाड़ी में' यह वाक्य मनुष्य तो अपने कर्तव्य से पैदल चलते हुए अधिकाधिक देखता और अधिक सच्चा जीवन व्यतीत करता है, को उपहासास्पद बना देता है।"

एक ज़माना था, जब इन मित्र को मेरी कार्यपद्धति पर आस्था थी, और इनका बहुमूल्य सहारा मुझे मिलता था। पर न जाने कैसे मैं अब उनकी कृपादृष्टि से वंचित हो गया हूँ। उन्होंने मेरे जिस लेख का मजाक उड़ाया है उसके पीछे जो सुन्दर विनोद था उसे समझने में उन्हें कठिनाई नहीं होनी चाहिए थी, पर मुझे उनके मज़ाक का डंक निकाल कर फेंक देना चाहिए। और इसलिए मैं अपने मित्र को यह बतला दूँ कि मैंने जब यह लेख लिखा तब मेरा दिमाग ठिकाने था। जिस जगह यह लिखा गया था उस जगह को आसानी से बचाया जा सकता था। पर मुझे अपने उक्त वचन में ज्यादा असर डालना था, और मेरे तथा मेरे आदर्श के बीच जो विशाल समुद्र पड़ा हुआ है, पाठकों को उसका दर्शन कराना था। जिनके पैर डगमगाते हों, वे इस तथ्य को हृदय में अंकित कर लें कि यद्यपि मेरे आदर्श का स्पष्ट विरोध प्रदर्शित करनेवाले मेरी टिप्पणी ने इन मित्र को एक विनोद का कारण दिया है, तो भी मैंने ऐसी साख हासिल कर ली है कि जिन आदर्शों का मैं दावा करता हूँ, उन्हें आचार में उतारने का जहाँ तक शक्य है, पूरा प्रयत्न करता हूँ। मुझे यदि अपने आदर्श के समीप पहुँचने का दिन-दूना, रात-चौगुना प्रयत्न करना है, तो मुझे चाहिए कि संसार को अपनी निर्बलताएँ और निष्फलताएँ भी देखने दूँ, ताकि मैं दंभ से बच जाऊँ और शरम के मारे भी इस आदर्श को प्राप्त करने की यथाशक्ति साधना करूँ। इन मित्र ने जो विरोध बताया है उससे यह भी ज़ाहिर होता है कि आदर्श और आचार के बीच ऐसा कुछ अन्तर हमेशा ही रहता है, जो मिलाया नहीं जा सकता। आदर्श को प्राप्त करना यदि शक्य हो जाय, तो वह आदर्श नहीं रहेगा। स्वाद तो साधना में है, सिद्धि में नहीं। क्योंकि ज्यों-ज्यों हम अपने ध्येय की यात्रा में आगे बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों अधिकाधिक मनोरम दृश्य दृष्टिगोचर होते जाते हैं।

पर अब अपने-पत्र-लेखक मित्र की तानाज़नी को लेता हूँ। उनसे तथा अपने पाठकों से मैं यह कहना चाहता हूँ कि मैं जो उन पंक्तियों को लिख सका उसका कारण यह है कि मुझे मोटर, या रेल अथवा बैलगाड़ी में भी बैठकर मुसाफिरी करने में कोई आनन्द नहीं आता। आनन्द तो हमेशा पैदल चलने में ही आता है। रेल की एक-एक पटरी उखाड़ ली जाय, और मरीजों और अपंगों के सिवा सबको अपने-अपने काम पर पैदल जाना पड़े, तो मुझे इसका ज़रा भी दुःख न हो। मैं ऐसी सभ्यता की कल्पना कर सकता हूँ, जिसमें मोटर का मालिक होना कोई सद्‌गुण नहीं गिना जायगा, और जिसमें रेल के लिए कोई स्थान नहीं होगा। इतना ही नहीं, बल्कि उसकी स्थापना के लिए मैं प्रयत्न कर रहा हूँ। संसार एक समय जितना विशाल था, उतना विशाल वह यदि फिर से बन जाय, तो मेरे लिए यह कोई दुःखद घटना नहीं होगी। 'हिन्द-स्वराज्य' १९०८ में लिखा गया था। उसके बाद उनके बहुत-से संस्करण हुए हैं और संसार की अनेक भाषाओं में उसके अनुवाद भी हुए हैं। गत वर्ष श्रीमती सोफ़िया वाडिया ने 'आर्यन पाथ' मासिक पत्रिका का हिन्द-स्वराज्य अंक प्रकाशित किया था, और उसके लिए मुझसे सन्देश मांगा था। मैंने उसे फिर से दिलचस्पी और ध्यान के साथ पढ़ा। पाठकों को मालूम होना चाहिए कि मैं उसके एक भी विचार में परिवर्तन नहीं कर सका। उसकी भाषा में हेर-फेर करने की मेरी इच्छा नहीं हुई। इतनी सादी (कि शायद मूर्खतापूर्ण समझी जा सकती है) छोटी सी पुस्तक के रहस्य की कुंजी प्राप्त करने के लिए इतना समझना आवश्यक है कि यह अज्ञान से पूर्ण और तिमिराच्छन्न कहे जानेवाले युग में पीछे लौटाने का प्रयत्न नहीं है, बल्कि यह ऐच्छिक सादगी, ग़रीबी और धीमी प्रगति में सौन्दर्य देखने का प्रयत्न है। मैंने इसे अपना आदर्श चित्रित किया है। मैं खुद इस आदर्श तक कभी पहुँचने का नहीं, और इसलिए देश इस तक पहुँचे, यह अपेक्षा मैं नहीं रख सकता। पर नित-नई विविधता, आकाशी उड़ान, और आवश्यकताओं की वृद्धि के लिए आधुनिक युग के पागलपन का मुझे कोई मोह नहीं। यह सब हमारी अन्तरात्मा का हनन करना है। मनुष्य की चतुराई, जो इतना ऊँचे उड़ने का प्रयत्न करती है जहाँ चक्कर आना है, हमें हमारे सृजनकर्त्ता से दूर खींच ले जाती है। नाखून उँगली के जितने समीप है हमारा सृजनकर्त्ता उसकी अपेक्षा हमारे उससे भी अधिक निकट है।

इसलिए, जब मैं घण्टे में चालीस मील की रफ्तार से सफ़र करता हूँ, तब भी मेरे मन में यह भान होता है कि यह एक ऐसी बुराई है, जो आवश्यक हो गई है, और मेरा सर्वोत्तम काम तो ३०० आदमियों की बस्तीवाले छोटे-से गाँव में, और ऐसे पास-पड़ोस के देहात में है, जहाँ मैं वहाँ से पैदल चलकर जा सकूँ। पर मैं

बहुत व्यावहारिक रहा हूँ, इसलिए केवल यह बताने की ज़िद पकड़कर कि मेरा आचार एकरस है, मैंने रेल या मोटर पर यात्रा करना नहीं छोड़ा। पाठकों को मालूम होना चाहिए कि १९३३-३४ में ठक्कर बापा-द्वारा आयोजित पवन-वेग से की हुई हरिजन-यात्रा के समय मैंने उनसे कहा था कि मैं तो यह सारी यात्रा पैदल ही करना चाहूँगा, पर उन्होंने मेरी बात सुनी नहीं। और उस यात्रा में कई जगह हमारे विरोध में हिंसात्मक प्रदर्शन हुए। दो या तीन बार गम्भीर वारों से हम बाल-बाल बचे, और शायद मृत्यु भी हो जाती। हम लोग पुरी पहुँचे, तो वहाँ हमने खून-खच्चर होने का भय देखा। इसलिए मैंने निश्चय कर लिया और शेष यात्रा पैदल ही करने का आग्रह रखा। ठक्कर बापा ने तुरन्त ही सम्मति दे दी। विरोध-प्रदर्शक, जो रेल और मोटर की मुसाफिरी करके प्रदर्शन करने के लिए तैयार थे, पैदल चलनेवाले यात्रियों का पीछा न कर सके, क्योंकि ये पैदल यात्री रोज़-सुबह शाम दो मंज़िल तय करके सिर्फ आठ-दस मील का रास्ता काटते थे। हमारी यात्रा का यह सबसे अधिक प्रभावकारी भाग था। इसके परिणामस्वरूप जो जागरण हुआ वह ठोस था। हमें सुन्दर और विविध अनुभव प्राप्त हुए। और विरोध-प्रदर्शकों के लिए उत्तेजना का कोई साधन नहीं रहा। उनकी इच्छा मुझे बिना वजह मार डालने की नहीं थी। उन्हें तो हो-हल्ला और सनसनी-भर चाहिए थी। जो अहिंसक स्त्री-पुरुष, मनुष्य का कोई भय रखे बिना, ईश्वर को अपना निश्चित मार्गदर्शक और रक्षक मानकर अपना काम करते हुए जा रहे हों, उनका विरोध करनेवालों को हो-हल्ला मचाने का अवसर कहाँ मिलेगा ?

—ह० ज०। ह० से० २१।१०।१९३९]

● **स्वाद तो साधना में है, सिद्धि में नहीं।**

१८७. ईश्वरेच्छा

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—साधारण मनुष्य अपनी इच्छा और ईश्वर की इच्छा का भेद किस तरह पहिचाने ?

उत्तर—ईश्वर की इच्छा पहिचानना बहुत कठिन बात है। इसके लिए उचित शिक्षा की आवश्यकता है। इसलिए सिवा इसके कि पक्का सबूत हो, जो इच्छा पैदा होती है, उसे मनुष्य अपनी ही समझे, ईश्वर की नहीं।

—ह० से०। २७।४।१९४०]

१८८. नास्तिकता दूर कैसे हो?

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—नास्तिक का ईश्वर और धर्म के प्रति कैसे विश्वास बंधाया जाय?

प्रश्न—इसका एक ही उपाय है। ईश्वर-भक्त अपनी पवित्रता और अपने कर्मों के प्रभाव से नास्तिक भाई-बहिनों को आस्तिक बना सकता है। यह काम बहस से नहीं हो सकता। अगर ऐसा हो सकता तो जगत् में एक भी नास्तिक न रहता; क्योंकि ईश्वर के अस्तित्व पर एक नहीं, अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं, इसलिए आज एक भी नास्तिक नहीं होना चाहिए। लेकिन हम इसका उल्टा देखते हैं। पुस्तकें भी बढ़ रही हैं और नास्तिकों की संख्या भी बढ़ती जाती है। वास्तव में जो नास्तिक माने जाते हैं या अपने को मनवाते हैं वे नास्तिक नहीं हैं। और जो आस्तिक माने जाते हैं वे आस्तिक नहीं है। नास्तिक कहते हैं, अगर तुम आस्तिक हो तो हम नास्तिक हैं। ऐसा कहना ठीक भी है क्योंकि अपने को आस्तिक माननेवाले सब सचमुच आस्तिक नहीं होते। वे ईश्वर का नाम या तो रूढ़िवश होकर या जगत् को धोखा देने के लिए लेते हैं। ऐसे लोगों का प्रभाव नास्तिकों पर कैसे पड़ सकता है? इसलिए आस्तिक विश्वास रखें कि यदि वे सच्चे हैं तो उनके निकट नास्तिक नहीं होंगे। वे सारे संसार की चिन्ता न करें। यदि संसार में कोई नास्तिक है, तो भी ईश्वर की दया से ही है। ईश्वर चाहता तो जगत् में कोई नास्तिक न होता। कहा गया है कि ईश्वर का नाम लेनेवाले नहीं, उसका काम करनेवाले आस्तिक हैं।
—सेवाग्राम, २६।८।१९४०। ह० से० ३१।८।१९४०]

● ईश्वर का नाम लेने वाले नहीं, उसका काम करनेवाले आस्तिक हैं।

१८९. आश्रम की प्रार्थना

आश्रम की प्रार्थना का काफ़ी प्रचार हुआ है; उसका विकास अपने-आप होता रहा है। आश्रम-भजनावली के अनेक संस्करण निकल चुके हैं। उसकी मांग बढ़ रही है। प्रार्थना की उत्पत्ति कृत्रिम रूप से नहीं हुई। उसमें जिन श्लोकों और भजनों को स्थान प्राप्त हुआ है, उन सबका अपना एक इतिहास है।

भजनों में सभी धर्मों को अनायास ही स्थान मिला है। उनमें मुस्लिम सूफियों और फ़कीरों के भजन हैं, गुरु नानक और ईसाइयों के भजन भी हैं।

आश्रम में चीनवाले रह चुके हैं; ब्रह्मदेश के साधु और लंका के गृहस्थ भी रह चुके हैं; मुसलमान, पारसी, यहूदी, अंग्रेज आदि भी रहे हैं। इसी तरह सन् १९३५ में कुछ जपानी साधु मेरे पास मगनवाड़ी (वर्धा) में आकर रहने लगे थे।

उनमें से एक अभी कुछ दिन पहिले तक मेरे पास ही थे। जपान के साथ लड़ाई की घोषणा होने पर वे गिरफ्तार कर लिये गये। वे रोज़ सुबह-शाम अपनी प्रार्थना, ढोल की आवाज़ के साथ चलते-फिरते किया करते थे। सेवाग्राम के वे एक आदर्श व्यक्ति थे; आश्रम के दैनिक कार्यों में उत्साहपूर्वक हाथ बंटाते थे। मुझे याद नहीं पड़ता कि कभी किसी के साथ उनका झगड़ा हुआ हो। मैंने उन्हें बेमतलब किसी से बातें करते नहीं देखा; उन्होंने यथाशक्ति हिन्दी का अभ्यास किया। व्रत-पालन में वे सदा जाग्रत रहे। आश्रम की शाम की प्रार्थना उनके नित्य जप के मन्त्र से शुरू हुआ करती थी। मन्त्र यह था—

'नम्यो हो रेंगे क्यों'

अर्थात्, 'सद्धर्म के प्रवर्तक भगवान बुद्ध को नमस्कार हो।'

जब पुलिस उन्हें गिरफ़्तार करने आई, तो वे जिस व्यवस्था, शीघ्रता और तटस्थता से तैयारी करके मुझसे मिलने आये, उसे मैं भूल नहीं सकता। विदाई के समय अपने ढोल के साथ वे मेरे सामने आ खड़े हुए; अपने प्रिय मन्त्र का उच्चारण किया और विदा चाही। मैंने सहज भाव से उनसे कह दिया, आप जा रहे हैं, किन्तु आपका मन्त्र आश्रम की प्रार्थना का एक अविभाज्य अंग रहेगा। तब से उनकी गैरहाज़िरी में आश्रम की प्रार्थना इसी मन्त्र से शुरू होती है। मेरे लिए यह मन्त्र साधु केशो की पवित्रता और एकनिष्ठा का स्मारक है। अतः इसमें विशेष शक्ति है।

जिन दिनों साधु केशो यहाँ थे, बीबी रेहाना तैयब जी कुछ दिनों के लिए रहने आईं। वह चुस्त मुसलमान हैं। मुझे पता न था कि वह कुरान-शरीफ़ की अच्छी जानकार हैं। जिस वक्त गुजरातरत्न अब्बास तैयब जी साहब का इन्तक़ाल हुआ, उनके कमरे से रोने की आवाज़ न उठी, बल्कि बीबी रेहाना के कुरान-शरीफ़ के पाठ की गूंज से कमरा भर गया। तैयब जी साहब मरे ही कब थे? वे तो अपने कामों के रूप में हमेशा ही ज़िन्दा हैं।

अब रेहाना बहिन आ गई, तो मैंने मज़ाक में कहा, तुम आश्रमवालों को मुस्लिम बनाओ, मैं तुम्हें हिन्दू बनाऊंगा। संगीत तो उनका उत्कृष्ट है ही, उनके पास सब प्रकार के भजनों का भण्डार भी है; वे हमें नित नये भजन सुनाती थीं। कुरान की मीठी-मीठी, ऊंचे अर्थोंवाली आयतें भी सुनाया करती थीं। मैंने कहा, यहाँ जो सीखना चाहें, उन्हें कुछ आयतें सिखाती जाओ। उन्होंने सिखाना शुरू कर दिया। फिर क्या पूछना था? वे सबके साथ समरस हो गईं। भक्तों ने जो आयतें सीखीं, उनमें सबसे मशहूर 'फातेहा' है। इस प्रकार यह आयत भी प्रार्थना में दाखिल हुई। रेहाना अपने काम पर चली गई, मगर अपनी याद छोड़ गई। इस आयत का मतलब है—

"मैं पापात्मा शैतान से बचने के लिए परमात्मा की शरण में जाता हूँ।

"ईश्वर एक है; वह सनातन है; निरालम्ब है; अज है; अद्वितीय है; वह सबको पैदा करता है; उसे कोई पैदा नहीं करता।

"प्रभो, मैं तेरे ही नाम से सब शुरू करता हूँ। तू दया का सागर है; तू मेहरबान है; तू सारे विश्व का सिरजनहार है; मालिक है। हम तेरी ही आराधना करते हैं; तेरी ही मदद माँगते हैं; तू ही अन्त में न्याय करेगा। तू हमें सीधा रास्ता दिखा--लोगों का रास्ता, जो तेरी कृपादृष्टि के पात्र बने हैं; उनका नहीं, जो तेरी अप्रसन्नता के पात्र बने हैं और मार्ग भूले हैं।"

एक मित्र, जो खुद चुस्त हिन्दू हैं, और मेरे हिन्दू होने के दावे से इन्कार भी नहीं करते, मीठा उलाहना देते हुए कहते हैं, अब तो आपने आश्रम में कलमा भी शुरू करा दिया। अब बाक़ी क्या रहा? यह लेख उन्हीं की इस शंका के उत्तर में लिखा गया है। साधु के जपानी मंत्र और कुरान की आयत से मेरा और आश्रम के हिन्दुओं का हिन्दुत्व ऊपर उठा है। आश्रम के हिन्दुत्व में सब धर्मों के प्रति समानता का भाव रहा है। जब खानसाहब मेरे पास आते हैं, तो रोज प्रार्थना में भावपूर्वक शरीक होते हैं। रामायण (पाठ) का सुस्वर उन्हें मीठा लगता है। गीता का अर्थ वे ध्यान से सुनते हैं। उनकी इस्लामियत इससे कम नहीं हुई। क्या मैं कुरान को उतनी ही इज्जत से न पढ़ूँ, न सुनूँ? विनोबा और प्यारेलाल ने जेल में स्वयं बड़ी मेहनत और मुहब्बत के साथ कुरान सीखी; अरबी का अध्ययन किया। उन्होंने कुछ गँवाया नहीं, काफी कमाया है। हिन्दू-मुस्लिम एकता ऐसी ही कोशिशों से होगी। और किसी तरह कभी नहीं। राम के नाम हजारों नहीं, अरबों हैं, अगणित हैं। अल्लाह कहो, खुदा कहो, रहीम कहो, रहमान कहो, रज्ज़ाक कहो, रोटी देनेवाला कहो; ये सब उसी के नाम हैं।

—सेवाग्राम २।२।१९४२। ह० से० ८।२।१९४२]

१९०. श्रद्धारहित धर्म-परिवर्तन

प्रश्न—आप श्रद्धारहित धर्म-परिवर्तन का विरोध करते हैं, साथ ही सब धर्मों के प्रति समभाव का दावा भी करते हैं। तो फिर किसी भी तरह के धर्म-परिवर्तन में हानि ही क्या है? क्या आपकी दोनों बातें परस्पर-विरोधी नहीं?

उत्तर—आपके लम्बे देखने में जोरदार दलीलोंवाले और चतुराई से लिखे गये पत्र से मैंने यह सवाल निकाला है। श्रद्धारहित धर्म-परिवर्तन निरा वेश-परिवर्तन है। जिस धर्म-परिवर्तन से मनुष्य का नमूना जीवन ही बदल जाता है, वह यह चीज नहीं। सर्व-धर्म-समभाव का मतलब है, जितना आदर आपको या

पड़ोसी के धर्म के प्रति है, उतना ही अपने धर्म के प्रति भी है। आप इसे भूल जाते हैं। अपने धर्म के लिए मेरे दिल में जो आदर है, उसके कारण मैं अपने बालकों के श्रद्धारहित धर्म-परिवर्तन के सम्बन्ध में निरपेक्ष नहीं रह सकता, यानी, अगर वे बिना प्रतीति के ही अपने माता-पिता के धर्म का त्याग करते हैं, तो मैं इस सम्बन्ध में लापरवाही नहीं दिखा सकता, और अगर आप जिन दुनियावी लालचों का आध्यात्मिक उन्नति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, उनसे फँसाकर मेरे बालकों को गुमराह करना चाहते हैं, तो मेरे दिल में आपके लिए कोई इज्जत नहीं रह सकती।

—सेवाग्राम, २३।३।१९४२। ह० ज०। ह० से० २९।३।१९४२]

● श्रद्धा-रहित धर्म-परिवर्तन निरा वेश-परिवर्तन है।

१९१. धर्म : कुछ समाधान

मैंने कभी स्वयं को धर्मगुरु नहीं माना, न कभी अहिंसा को या अपने उपदेश को स्वीकार करने के लिए किसी से स्वधर्म त्यागने को कहा है। मैं ऐसे किसी धर्म को नहीं जानता, जिसमें हिंसा को धर्म माना गया हो। बहुत-से धर्मों ने जहाँ अहिंसा को अशक्य पाया है, वहाँ हिंसा के लिए छूट दे दी है। लेकिन मुझे दूसरे धर्मों का न्याय करने का कोई अधिकार नहीं। मेरे मन में सब धर्मों के लिए समान आदर है। अगर मैं यह आशा रखता हूँ कि दूसरे लोग मेरे धर्म का आदर करें, तो मुझे भी उनके धर्म का आदर करना चहिए।

—सेवाग्राम, २७।६।१९४२। ह० ज०। ह० से०, ५।७।१९४२]

१९२. ईश्वर ही ज्ञाता है

ईश्वर के सिवा किसे मालूम कि कब क्या हो जाय ?

—बम्बई, ७।४।१९४५। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० ३००, न० जी० प्र० मं०]

१९३. धर्म एवं रोग

अगर धार्मिक माना जानेवाला मनुष्य रोग से दुःखी हो, तो समझना चाहिए कि उसमें किसी-न-किसी चीज की कमी है।

—सेवाग्राम २२।४।१९४५। 'रामनाम' संकलन; पृ० ६७; न० जी० प्र० मं०]

१९४. मूर्ति

जनता यह न समझे कि मैं पत्थर या सोने-चाँदी की मूर्ति में किसी प्रकार का

विश्वास रखता हूँ। मूर्ति को भक्त जैसी बनाता है वह वैसी ही बन जाती है।
—पलनी से मद्रास जाते हुए गाड़ी में। ४।२।१९४६। ह० ज०। ह० से० १०।२।१९४६]

१९५. समूह-प्रार्थना और राम-धुन

सामूहिक प्रार्थना में रामधुन गाया जाना प्रार्थना का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। लाखों-करोड़ों के लिए गीता के श्लोकों, कुरान की आयतों और जेन्दअवेस्ता के मन्त्रों को समझना और उनका सही-सही पाठ करना कठिन हो सकता है, लेकिन राम-नाम या भगवान का नाम गाने में हर एक शामिल हो सकता है। राम-नाम जितना उपयोगी है उतना ही सादा भी। शर्त यह है कि उसे दिल से निकलना चाहिए। इस सादगी में ही उसकी महानता और विश्वव्यापकता का रहस्य समाया हुआ है। जिस काम को करोड़ों लोग एक साथ कर सकते हैं, उसमें एक बेजोड़ ताक़त पैदा हो जाती है।

.....मैं आपसे कहूँगा कि जब रामधुन स्वर और ताल के साथ गाई जाती है, तो स्वर, ताल और विचार तीनों का मेल, मिठास और शक्ति का ऐसा अमिट वातावरण पैदा करता है, जिसका वर्णन शब्दों-द्वारा नहीं किया जा सकता।
—उरुली, २४।३।१९४६। ह० ज०। ह० से० ७।४।१९४६]

१९६. राम-नाम

रामनाम उन्हीं की मदद करता है, जो उसे जपने की शर्तें पूरी करते हैं।
—नई दिल्ली, ८।४।१९४६। 'रामनाम' संकलन; पृष्ठ ६८; न० जी० प्र० मं०]

१९७. उपवास-धर्म त्याज्य है

हँसी आने योग्य उपवास होते रहें, महामारी की तरह उपवास का रोग फैल जाय, तो भी जहाँ वह धर्म है वहाँ उसका त्याग नहीं किया जा सकता।
—नई दिल्ली, १३।४।१९४६। ह० ब०। ह० से०, २१।४।१९४६]

१९८. नाम-जप और सेवा

रामनाम-जप के साथ-साथ राम के योग्य सेवा न की जाय, तो वह व्यर्थ जाता है।
—नई दिल्ली, २२।४।१९४६, 'रामनाम' संकलन; पृष्ठ ६८; न० जी० प्र० मं०]

१९९. ईश्वर पर आस्था

आपको ईश्वर पर भरोसा रखना चाहिए। वही आपकी रक्षा करेगा। जो आदमी डर कर अपने पास शस्त्र रखता है वह ईश्वर का अस्तित्व नहीं मानता और शस्त्रों को ही अपना ईश्वर मान लेता है।

—नई दिल्ली, १।५।१९४६। ह० ज०। ह० से०, ५।५।१९४६]

२००. राम और प्रार्थना

.....प्रार्थना केवल आध्यात्मिक मुक्ति पाने का साधन नहीं है, बल्कि इन सांसारिक बन्धनों से छूटने का भी जरिया है। बड़े में छोटे का समावेश हो जाता है।

.....स्थितप्रज्ञ की विशेषताएँ क्या हैं? स्थितप्रज्ञ वह है जो अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियार्थों से हटा कर उन्हें आत्मा की ढाल के नीचे छुपा लेता है, जिस तरह कछुआ अपने अंगों को अपनी ढ़ाल (कड़े आवरण) के नीचे छिपाता है।

जिस आदमी की बुद्धि स्थिर नहीं होती, उसके लिए यह डर रहता है कि वह क्रोध का, विकारों और बुरे विचारों का या गाली-गलौज का शिकार बन जायगा। इसके विपरीत जिस आदमी की बुद्धि स्थिर होती है, वह स्तुति और निन्दा दोनों को समान भाव से सह लेगा। वह समझ जायगा कि गाली से गाली देनेवाले की ही जबान गन्दी होती है; जिसको गाली दी जाती है, उसका कुछ नहीं बिगड़ता। इसलिए स्थिर बुद्धिवाला आदमी कभी किसी का बुरा नहीं चाहेगा, बल्कि आखिरी दम तक अपने शत्रु के कल्याण के लिए भगवान से प्रार्थना करता रहेगा। क्या इस आदर्श का पालन करना बहुत कठिन है? नहीं, इसके विरुद्ध इसमें जो नियम बताये गये हैं, वे ही मनुष्य की सच्ची प्रतिष्ठा के अनुरूप हैं।

.....जब कोई यह आपत्ति उठाता है कि राम-नाम लेना या राम-धुन गाना तो सिर्फ हिन्दुओं के लिए है, तब मुझे मन ही मन हँसी आती है। हाँ, ऐसी हालत में मुसलमान उसमें किस तरह सम्मिलित हो सकते हैं? क्या मुसलमानों का भगवान हिन्दुओं, पारसियों या ईसाइयों के भगवान से अलग है? नहीं, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी ईश्वर तो एक ही है। उसके कई नाम हैं और उसका जो नाम हमें सबसे अधिक प्रिय होता है, उस नाम से हम उसको याद करते हैं।

.. मेरा राम, हमारी प्रार्थना के समय का राम, वह ऐतिहासिक राम नहीं है, जो दशरथ का पुत्र और अयोध्या का राजा था। वह तो सनातन, अजन्मा और अद्वितीय राम है। मैं उसी की पूजा करता हूँ; उसी की सहायता चाहता हूँ। आपको भी यही करना चाहिए। वह (राम) सबका है। इसलिए मेरी समझ में नहीं आता

कि किसी मुसलमान को या अन्य किसी को उनका नाम लेने में आपत्ति क्यों होनी चाहिए। लेकिन यह कुछ जरूरी नहीं कि वह राम-नाम के रूप में ही भगवान को पहिचाने; उसका नाम ले। वह मन ही मन अल्लाह या खुदा का नाम भी इस तरह जप सकता है जिससे उसमें बेसुरापन न आये।

.....प्रार्थना के प्रारम्भ में प्रति दिन ईशोपनिषद् का जो पहिला श्लोक पढ़ा जाता है, उसमें हमसे यही कहा गया है कि हम अपना सब कुछ भगवान को समर्पित कर दें और फिर अपनी आवश्यकता के अनुसार उसका उपयोग करें। इसमें खास शर्त यह है कि हमें दूसरों की चीज को लालच की निगाह से नहीं देखना चाहिए। इन दो आदेशों में हिन्दू-धर्म का सारा निचोड़ आ गया है।

सुबह की प्रार्थना में पढ़े जानेवाले एक अन्य श्लोक में कहा गया है, मैं राज्य नहीं चाहता, स्वर्ग भी नहीं चहता, न मैं मोक्ष या निर्वाण चाहता हूँ। मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि जो दुःख-ताप से तपे हुए हैं, उनका दुःख दूर कर सकूँ। यह दुःख शरीर का भी हो सकता है और हृदय या आत्मा का भी। अपने विचारों की दासता के कारण होनेवाला आत्मा का दुःख कभी-कभी शारीरिक दुःख से भी अधिक होता है।

लेकिन भगवान स्वयं दुःख मिटाने के लिए नहीं आता। वह किसी व्यक्ति को अपना निमित्त बनाता है। इसलिए भगवान से दूसरों के दुःखों को दूर करने की शक्ति मांगने का अर्थ यह होना चाहिए कि हम स्वयं उसके लिए परिश्रम करने को हर प्रकार से प्रस्तुत रहें।

आप देखेंगे कि यह प्रार्थना सबके लिए है। यह किसी जाति या फिर्के तक सीमित नहीं। इसमें सब कोई सम्मिलित हो सकते हैं। यह सारी मनुष्य-जाति के लिए है। इसलिए जिस दिन यह पूरी होगी, उस दिन संसार में स्वर्ग का राज्य स्थापित हो जायगा।

.....सच्ची संस्कृति का यह तकाजा है कि प्रार्थना के समय प्रार्थना-स्थल पर पूरी शान्ति रहनी चाहिए। वहां का वातावरण मन्दिर, मस्जिद या गिरजे की तरह शान्त, गम्भीर होना चाहिए।.....

.....हम मन्दिरों में धातु या पत्थर की मूर्ति को नहीं, बल्कि उसमें रहनेवाले भगवान को पूजने जाते हैं। मूर्ति तो आदमी जैसी बनाता है, वैसी बन जाती है। मूर्ति में पुजारी जिस पवित्रता की प्रतिष्ठा करता है, उसके सिवा उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। इसलिए प्रार्थना के समय बच्चों-समेत सभी को पूरी शान्ति रखनी चाहिए।

—नई दिल्ली, २२।४।१९४६। ह० ज०। ह० से०, ५।५।१९४६]

२०१ प्रार्थना में शान्त रहें

लोग प्रार्थना में शान्ति पाने के विचार से और भगवान का नाम सुनने-रटने की इच्छा से जाते हैं। इसलिए प्रार्थना में सम्मिलित होने वालों को घर से चलते समय ही अपने मन की लय प्रार्थना की लय में मिला देनी चाहिए। वे चुपचाप आयें और चलते समय भी अपना मन प्रार्थना के ही विचारों में लगाये रहें। अगर यह सब नहीं होता तो प्रार्थना में आना व्यर्थ है।

—शिमला के प्रार्थना-प्रवचनों पर लिखे गये विवरण से। दिल्ली, १५।५।-१९४६। ह० ज०। ह० से०, १९।५।१९४६]

२०२. प्रार्थना का प्रयोजन

प्रार्थना का आशय ईश्वर को प्रसन्न करना नहीं है क्योंकि उसे हमारी प्रार्थना या प्रशंसा की कोई ज़रूरत नहीं। प्रार्थना तो हम स्वयं को पवित्र बनाने के लिए करते हैं। ईश्वर सर्वत्र है। वह विश्व के कण-कण में मौजूद है। आत्मशुद्धि का अपने अन्दर गहराई से अनुभव करें। इस तरह हमें जो शक्ति मिलती है, उससे बढ़कर अन्य कोई शक्ति नहीं है।

—प्रार्थना-सभा १९।५।१९४६। नई दिल्ली, २१।५।१९४६। ह० ज०। ह० से०, २६।५।१९४६]

२०३. अनेकता में एकता

अपने धर्म को बड़ा और दूसरों के धर्म को छोटा मानना सच्चे धर्म को ग़लत रूप में पेश करना है, उसका मजाक उड़ाना है। सभी धर्मों में सर्वव्यापक एक ही ईश्वर की पूजा करने की बात कही गई है। ईश्वर तो पानी की एक बूंद में या धूल के एक कण में भी मौजूद है। जो लोग मूर्ति-पूजा करते हैं, वे मूर्त्ति के पत्थर की पूजा नहीं करते, बल्कि वे उसमें रहनेवाले ईश्वर को देखने की कोशिश करते हैं। इसी प्रकार पारसियों को आग की या सूर्य की पूजा करनेवाला कहना उनको बद-नाम करना है।.....विभिन्न धर्म एक ही पेड़ के अलग-अलग पत्तों की तरह हैं। कोई दो पत्ते एक से नहीं होते, फिर भी उनमें या जिन डालों में वे लगते हैं उनके बीच कोई शत्रुता नहीं होती। इसी प्रकार हमें ईश्वर की सृष्टि में जो अनेकता दीख पड़ती है उसके अन्दर एकता निहित है।

—रिंग रोड, प्रार्थना-सभा। नई दिल्ली, २१।५।१९४६। ह० ज०। ह० से० २६।५।१९४६]

२०४. ईश्वर-श्रद्धा

हमें ईश्वर में श्रद्धा रखनी चाहिए और निश्चिन्त हो जाना चाहिए।
—नई दिल्ली, २१।५।१९४६। ह० ज०। ह० से०, २६।५।१९४६]

२०५. रामनाम में जागृति आवश्यक है

राम-नाम-जैसी राम-बाण औषधि लेने में सतत जागृति न हो, तो राम-नाम व्यर्थ जाय और अनेक भ्रमों में एक भ्रम और बढ़ा दे।
—नई दिल्ली, २५।५।१९४६। ह० से०, २।६।१९४६]

२०६. राम कौन है?

जिस राम-नाम को मैं सब बीमारियों की रामबाण दवा कहता हूँ, वह राम न तो ऐतिहासिक राम है और न उन लोगों का राम है, जो उसका इस्तेमाल जादू-टोने के लिए करते हैं। सब रोगों की रामबाण दवा के रूप में मैं जिस राम का नाम सुझाता हूँ, वह तो खुद ईश्वर ही है, जिसके नाम का जप करके भक्तों ने शुद्धि और शान्ति पाई है। और मेरा यह दावा है कि राम-नाम सभी बीमारियों की, फिर वे तन की हों, मन की या आत्मिक हों, एक ही अचूक दवा है। इसमें शक नहीं कि डाक्टरों या वैद्यों से शरीर की बीमारियों का इलाज कराया जा सकता है। लेकिन राम-नाम तो आदमी को खुद ही अपना वैद्य या डाक्टर बना देता है, और उसे अपने को अन्दर से नीरोग बनाने की संजीवनी प्राप्त करा देता है। जब कोई बीमारी इस हद तक पहुँच जाती है कि उसे मिटाना संभव नहीं रहता, उस वक्त भी राम-नाम व्यक्ति को उसे शान्त और स्वस्थ भाव से सह लेने की शक्ति देता है। जिस आदमी को राम-नाम में श्रद्धा है, वह जैसे-तैसे अपनी जिन्दगी के दिन बढ़ाने के लिए नामी-गरामी डक्टरों और वैद्यों के दर की खाक नहीं छानेगा और यहाँ-से-वहाँ मारा-मारा नहीं फिरेगा। राम-नाम डाक्टरों और वैद्यों के हाथ टेक देने के बाद लेने की चीज भी नहीं। वह तो आदमी को डाक्टरों और वैद्यों के बिना भी अपना काम चला सकनेवाला बनाने की चीज है। राम-नाम में श्रद्धा रखनेवाले के लिए यही उसकी पहिली और आखिरी दवा है।

राम-नाम कैसे लें ?

[दूसरे दिन के अपने भाषण में इसी चीज़ को समझाते हुए गांधी जी ने बताया कि किस तरह इंसान को सतानेवाली तीनों तरह की बीमारियों के लिए अकेले राम-नाम को ही रामबाण इलाज बनाया जा सकता है।]

इसकी पहिली शर्त तो यह है कि राम-नाम दिल के अन्दर से निकलना चाहिए। लेकिन इसका मतलब क्या ? लोग अपनी शारीरिक व्याधियों का इलाज खोजने के लिए दुनिया के आखिरी छोर तक जाने से भी नहीं थकते, जब कि मन और आत्मा की बीमारियों की तुलना में ये शारीरिक व्याधियाँ बहुत कम महत्व रखती हैं। मनुष्य का भौतिक शरीर तो आखिर एक दिन मिटने ही वाला है। उसका स्वभाव ही ऐसा है कि वह हमेशा के लिए नहीं रह सकता। और तिस पर भी लोग अपने अन्दर रहनेवाली अमर आत्मा को भुलाकर उसी का ज़्यादा प्यार-दुलार करते हैं। राम-नाम में श्रद्धा रखनेवाला आदमी अपने शरीर के ऐसे झूठे लाड़ नहीं करायेगा, बल्कि उसे ईश्वर की सेवा करने का एक साधन मात्र समझेगा। उसको इस तरह का उपयुक्त साधन बनाने के लिए राम-नाम से बढ़कर दूसरी कोई चीज़ नहीं। राम-नाम को हृदय में अंकित करने के लिए अनन्त धैर्य की, असीम सन्तोष की ज़रूरत है। इसमें युगों लग सकते हैं, लेकिन यह प्रयत्न करने योग्य है। इसमें सफलता भी भगवान् की कृपा से ही मिल सकती है।

जबतक आदमी अपने अन्दर और बाहर सचाई, ईमानदारी और पवित्रता आदि गुणों को नहीं बढ़ाता, उसके हृदय से राम-नाम नहीं उच्चरित हो सकता। हम लोग रोज़ शाम की प्रार्थना में स्थितप्रज्ञ का वर्णन करनेवाले श्लोक पढ़ते हैं। हममें से हर व्यक्ति स्थितप्रज्ञ बन सकता है, बशर्ते कि वह अपनी इन्द्रियों को अपने काबू में रखे और जीवन को सेवामय बनाने के लिए ही खाये, पीये और मौज-शौक या हँसी-विनोद करे। उदाहरण के लिए अगर अपने विचारों पर आपका कोई क़ाबू नहीं है और अगर आप एक तंग-अंधेरी कोठरी में उसकी तमाम खिड़कियाँ और दरवाज़े बन्द करके सोने में किसी हानि का अनुभव नहीं करते और गन्दी हवा लेते हैं या गन्दा पानी पीते हैं, तो मैं कहूँगा कि आपका राम-नाम लेना बेकार है।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि चूँकि आप जितना चाहिए उतने पवित्र नहीं है, इसलिए आपको राम-नाम छोड़ देना चाहिए। क्योंकि पवित्रता प्राप्त करने के लिए भी राम-नाम लेना लाभदायक है। जो आदमी हृदय से राम-नाम लेता है, वह आसानी से स्वयं पर नियन्त्रण रख सकता है और अनुशासन में रह सकता है। उसके लिए स्वास्थ्य और स्वच्छता के नियमों का पालन करना

सरल हो जायगा। उसका जीवन सहज भाव से बीत सकेगा, उसमें कोई विषमता न होगी। वह किसी को सताना या दुःख पहुँचाना पसन्द नहीं करेगा। दूसरों के दुःखों को मिटाने के लिए उन्हें सुख पहुँचाने के लिए, स्वयं कष्ट उठा लेना उसका स्वभाव हो जायगा और उसको हमेशा के लिए एक अमिट सुख का लाभ मिलेगा; उसका मन एक शाश्वत और अमर सुख से भर जायगा। इसलिए मैं कहता हूँ कि आप लगे रहिए और जबतक काम करते हैं, तबतक सारा समय मन-ही-मन राम-नाम लेते रहिए। इस तरह करने से एक दिन ऐसा भी आयेगा जब राम-नाम आपका सोते-जागते का साथी बन जायगा और उस दशा में आप ईश्वर की कृपा से तन, मन और आत्मा से पूरे-पूरे स्वस्थ बन जायंगे।

आप सब मेरे साथ राम-नाम लेने या राम-नाम लेना सीखने के लिए प्रति दिन इन प्रार्थना-सभाओं में आते रहे हैं। किन्तु राम-नाम केवल जबान से नहीं सिखाया जा सकता। मुंह से निकली वाणी की अपेक्षा हृदय का मौन-विचार कहीं अधिक शक्ति रखता है। एक सच्चा विचार सारी दुनिया पर छा सकता है—उसे प्रभावित कर सकता है। वह कभी बेकार नहीं जाता। विचार को वाणी या कार्य का रूप देने का प्रयत्न ही उसकी शक्ति को सीमित कर देता है। ऐसा कौन है जो अपने विचार को शब्द या कार्य में पूरी तरह प्रकट करने में सफल हुआ हो?

आप यह पूछ सकते हैं कि अगर ऐसा है, तो फिर आदमी हमेशा के लिए मौन ही क्यों न ले ले? यह सिद्धान्ततः तो सम्भव है, लेकिन जिन शर्तों के अनुसार मौन-विचार पूरी तरह क्रिया की जगह ले सकते हैं, उन शर्तों को पूरा करना बहुत कठिन है। मैं स्वयं अपने विचारों पर इस तरह का पूरा-पूरा नियन्त्रण पा लेने का कोई दावा अपने लिए नहीं कर सकता। मैं अपने मन से व्यर्थ के विचारों को पूरी-पूरी तरह दूर नहीं रख सकता। इस स्थिति को पाने या इस तक पहुँचने के लिए तो अनन्त धैर्य, जागृति और तपश्चर्या की जरूरत है।

कल जब मैंने आपसे यह कहा था कि राम-नाम की शक्ति का कोई पार नहीं है, तब मैं किसी अलंकारिक भाषा में नहीं बोल रहा था, बल्कि मैं सचमुच यही कहना भी चाहता था। मगर इस चीज को महसूस करने के लिए बिलकुल शुद्ध और पवित्र हृदय से राम-नाम का निकलना जरूरी है। मैं स्वयं इस स्थिति को पाने की कोशिश में लगा हुआ हूँ। मेरे हृदय में इसका एक चित्र खिंच गया है, लेकिन मैं इसे पूरी तरह अमल में ला नहीं सका हूँ। जब वह स्थिति पैदा हो जायगी, तब राम-नाम रटना भी जरूरी न रह जायगा।

सबके साथ मिलकर सामूहिक रूप में, प्रार्थना करने का रहस्य यह है कि उसका एक-दूसरे पर जो शान्त प्रभाव पड़ता है, वह आध्यात्मिक उन्नति की राह में सहायक हो सकता है।

—नई दिल्ली, २७।५।१९४६। ह० ज०। ह० से० २।६।१९४६]

२०७. रामनाम का मज़ाक

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—बनारस का रामनाम बैंक, और रामनाम छपा कपड़ा पहिनना, या शरीर पर रामनाम लिखकर घूमना रामनाम का मजाक और हमारा पतन नहीं तो क्या है? ऐसी हालत में सारे रोगों के रामबाण इलाज के रूप में रामनाम का प्रचार करके क्या आप इन ढोंगियों के हाथ में पत्थर नहीं दे रहे हैं? अन्तः-प्रेरणा से निकला हुआ रामनाम ही रामबाण हो सकता है। और मैं मानता हूँ कि ऐसी अन्तःप्रेरणा सच्ची धार्मिक शिक्षा से ही मिलेगी।

उत्तर—आपने ठीक कहा है। आजकल हमारे अन्दर इतना वहम फैला हुआ है और इतना दंभ चलता है कि सही चीज करने में भी डरना पड़ता है। लेकिन इस तरह डरते रहने से तो सत्य को भी छिपाना पड़ सकता है। इसलिए सुनहला कानून तो यही है जिसे हम सही समझें, उसे निडर होकर करें। दंभ और झूठ जगत् में चलता ही रहेगा। हमारे सही चीज करने से वह कुछ कम ही होगा, बढ़ कभी नहीं सकता। यह ध्यान रहे कि जब चारों ओर झूठ चलता हो, तब हम भी उसी में फँसकर अपने को धोखा न दें। अपनी शिथिलता और अज्ञान के कारण हम अनजाने भी ऐसी गलती न करें। हर हालत में सावधान रहना तो हमारा कर्तव्य है ही। सत्य का पुजारी दूसरा कुछ कर ही नहीं सकता। रामनाम-जैसी रामबाण औषध लेने में सतत जागृति न हो, तो रामनाम व्यर्थ जाय और हम बहुत से वहमों में एक और वहम बढ़ा दें।

—ह० से० २।६।१९४६]

२०८. फिर राम-नाम

कुछ दिन हुए, एक मित्र का एक पत्र मिला। उन्होंने उसे मेरे पास भेजा है और जवाब माँगा है। पत्र लम्बा है, इसीलिए सिर्फ मतलब की बातें यहाँ देता हूँ।

"वह (गांधी जी) हिन्दुस्तान-प्रेमी हैं। पर यह बात समझ में नहीं आती कि हररोज खुले में प्रार्थना करके और राम-नाम (राम से मतलब हिन्दू देवता) की धुन लगा कर अपने मुल्क के दूसरे मजहबवालों का दिल वे क्यों दुखाते हैं ? उन्हें यह समझना चाहिए कि हिन्दुस्तान में बहुत से मजहब हैं और, अगर वह जनता (अवाम) में हिन्दू देवताओं का हवाला देकर बोलेंगे, तो पुराने खयाल के लोगों को ग़लतफ़हमी होगी। मुस्लिम लीग की यह भी शिकायत है—राम-राज (राम का राज्य) क़ायम करना उनका एक प्रिय जुमला है। एक सच्चे मुसलमान को यह कैसा लगेगा ?"

हजारवीं बार दुहराना पड़ता है कि राम-नाम परमात्मा के कई नामों में से एक है। उसी प्रार्थना में कुरानशरीफ़ की आयतें और ज़ेन्दअवेस्ता के श्लोक भी गाये जाते हैं। सच्चे मुसलमानों ने तो चूंकि वे सच्चे हैं, राम-नाम लेने को कभी बुरा नहीं माना। राम-नाम कोई व्यर्थ की रट नहीं है। मेरे और लाखों हिन्दुओं के नजदीक तो वह सर्वव्यापी परमात्मा को पुकारने का एक ढंग बनाया गया है। राम के पीछे जो नाम है, वह सबसे ज्यादा महत्व का हिस्सा है। उसका मतलब है, ऐतिहासिक राम के बिना नाम। कुछ भी हो, मेरे इस खुल्लमखुल्ला कहने से कि मैं इस धर्म का हूँ, किसी को दुःख क्यों हो ? खासकर मुस्लिम लीग को ? इन सभाओं में आने के लिए किसी को मजबूर नहीं किया जाता और, अगर कोई आ भी गया तो अनिवार्य नहीं कि वह रामधुन में शामिल हो। आनेवालों से तो सिर्फ यही आशा की जाती है कि वे प्रार्थना की शान्ति भंग न करें और अगर उसके किसी हिस्से को वे नहीं मानते, तो भी उसे बरदाश्त करें।

रामराज शब्द के बारे में। मैं इसका मतलब कई दफ़ा बता चुका हूँ। उसके बाद किसी को इसके इस्तेमाल से दुःख नहीं होना चाहिए। यह एक सरल और अर्थपूर्ण वाक्य है और इसका मतलब दूसरा कोई भी वाक्य करोड़ों को नहीं समझा सकता। जब मैं सीमाप्रान्त में जाता हूँ और मेरे सुननेवाले ज्यादा मुसलमान होते हैं, तो मैं इसे 'खुदाई राज' कहता हूँ। ईसाई सुननेवाले हों तो मैं उसे दुनिया में 'गाड' की हुकूमत कहूँगा। अगर मैं कोई दूसरा तरीक़ा अपनाऊँ तो वह अपने-आपको दबाना होगा और धोकेबाजी होगी।

—सेवाग्राम, ८।८।१९४६। ह० ज०। ह० से०। १८।८।१९४६]

२०९. सम्मिलित प्रार्थना

प्रश्न—क्या आप सम्मिलित प्रार्थना में विश्वास रखते हैं ? आजकल जैसी सम्मिलित प्रार्थना की जाती है, क्या यह सच्ची प्रार्थना है ? मैं समझता हूँ कि

वह नीचे गिरानेवाली चीज़ है, और इसलिए खतरनाक है। हज़रत ईसा ने कहा है—जब तुम प्रार्थना करो, तो पाखण्डियों की तरह न करो, बल्कि अपने कमरे में किवाड़ बन्द करके और छिपकर अपने पिता के आगे प्रार्थना करो। भीड़ में लोग अधिकतर बेध्यान रहते हैं और मन को स्थिर नहीं कर पाते। उस हालत में प्रार्थना पाखण्ड बन जाती है। योगी इसे खूब जानता है। तो क्या जनता को अन्तर्मुखी होने यानी अपने अन्दर नज़र डालने की शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए? सच्ची प्रार्थना तो वही है।

उत्तर—मेरा मत है कि मैं जो सामूहिक प्रार्थना कराता हूँ, वह जन-समूह के लिए सच्ची प्रार्थना है। उसका संचालक आस्तिक है, पाखण्डी नहीं। अगर वह पाखण्डी होता, तो प्रार्थना शुरू से ही अपवित्र हो जाती। जो स्त्री-पुरुष उसमें शामिल होते हैं, वे किसी पुरानी रीति के प्रार्थना-मन्दिर में नहीं जाते, जहाँ उन्हें कोई सांसारिक लाभ हो। उनमें ज्यादातर ऐसे होते हैं, जिनका प्रार्थना के संचालक के साथ कोई निजी सम्बन्ध नहीं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वे दिखावे के लिए नहीं आते। चूँकि वे मानते हैं कि सामूहिक प्रार्थना से उन्हें किसी-न-किसी तरह का पुण्य मिलता है, इसीलिए वे उसमें आते हैं। यह बिल्कुल सच है कि कुछ लोग, शायद, ज्यादातर लोग प्रार्थना में ध्यान नहीं देते, या मन को स्थिर नहीं कर पाते। इसका मतलब यही है कि वे अनाड़ी हैं। मन को स्थिर या एकाग्र न कर सकना, या ध्यान न लगा सकना, असत्य या पाखण्ड नहीं। अगर वे ध्यान न करते हुए भी यह दिखाने की कोशिश करें कि वे ध्यान कर रहे हैं, तो उन पर पाखण्ड का इल्जाम लग सकता है। लेकिन इसके खिलाफ़ बहुतों ने मुझसे पूछा है कि जब वे अपना चित्त स्थिर न कर सकें, तो क्या करें ?

ऊपर के सवाल में हज़रत ईसा का जो उद्धरण दिया गया है, वह यहाँ लागू नहीं होता। हज़रत ईसा उन लोगों का जिक्र कर रहे थे, जो दिखावे के लिए प्रार्थना करने का ढोंग रचते थे। उनके उस वचन में सामूहिक प्रार्थना के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा गया है। मैं कई दफ़ा कह चुका हूँ कि निजी प्रार्थना के बिना आम प्रार्थना का लाभ नाम के लिए ही होता है। मेरा विश्वास है कि व्यक्तिगत प्रार्थना सामूहिक प्रार्थना की तैयारी है। इसलिए सामूहिक प्रार्थना तभी सफल मानी जानी चाहिए, जब वह हरएक को अपनी तौर पर प्रार्थना करना सिखाये। दूसरे शब्दों में, जब इंसान दिल से प्रार्थना करना सीख जाता है, तो फिर वह अकेले में प्रार्थना करे या दूसरों के साथ मिलकर करे, हमेशा सच्चे दिल से प्रार्थना करता है।

मैं नहीं जानता कि इन भाई ने जिस योगी का जिक्र किया है, वह क्या करता है, और क्या नहीं करता। लेकिन इतना मैं जानता हूँ कि जब जनता परमात्मा के साथ

एकतार हो जाती है, तो वह खुद-ब-खुद अपने भीतर नजर डालने लगती है। यही सब प्रार्थनाओं का परिणाम होना चाहिए।

—नई दिल्ली, १४।९।१९४६। ह० ज०। ह० से०, २२।९।१९४६]

● व्यक्तिगत प्रार्थना सामूहिक प्रार्थना की तैयारी है।

२१०. धर्म और राज्य

यदि मैं तानाशाह होऊँ तो धर्म और राज्य, दोनों को, एक दूसरे से अलग रखूं। मुझे अपने धर्म पर पूरी श्रद्धा है। मैं उसके लिए अपनी जान दे देने में आगा-पीछा नहीं सोचूंगा। लेकिन मेरा धर्म मेरी निजी चीज़ है। राज्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। राज्य आपके अमन-चैन, स्वास्थ्य, यातायात-साधन और वैदेशिक सम्बन्धों और सिक्कों के चलन आदि की देख-भाल करेगा, आपके या मेरे धर्म की नहीं। यह तो प्रत्येक (व्यक्ति) का निजी मामला है।...आप मेरे सारे जीवन को गौर से देखिए—मैं कैसे रहता हूँ, खाता हूँ, बैठता हूँ, बातचीत करता हूं और आम तौर पर मेरा व्यवहार कैसा रहता है, यह सब पूरी तरह से देखिए। इन सब को मिला कर आपके ऊपर जो छाप पड़े, वही मेरा धर्म है। ...

...भावी युग पर सबसे अधिक धर्म का प्रभाव पड़ेगा। आज भी उसका ऐसा ही प्रभाव पड़ सकता है और पड़ना चाहिए लेकिन पड़ता नहीं, क्योंकि वह शनिवार और रविवार की छुट्टी के दिनों में फुरसत से याद करने की चीज़ बन गया है। सच पूछा जाय तो धर्म जीवन की प्रत्येक साँस के साथ आचरण करने की चीज़ है। जब ऐसा धर्म प्रकट होगा तो सारी दुनिया में उसका बोलबाला हो जायगा।

—नई दिल्ली, १६।९।१९४६। ह० से० ६।१०।१९४६]

● मुझे अपने धर्म पर पूरी श्रद्धा है।
● मेरा धर्म मेरी निजी चीज़ है।
● भावी युग पर सबसे अधिक धर्म का प्रभाव पड़ेगा।
● धर्म जीवन की प्रत्येक साँस के साथ आचरण करने की चीज़ है।

२११. कर्म पूजा नहीं?

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—मनुष्य ईश्वर-भजन में जितना समय लगाता है, अगर अपना उतना ही समय वह किसी ग़रीब की सेवा में लगाये, तो क्या यह भजन से अच्छा न होगा?

जो मनुष्य ऐसा करता है, क्या उसके लिए ईश्वर-भक्ति जरूरी है?

उत्तर—ऐसे सवाल में मुझे आलस्य की बू आती है। नास्तिकता की भी। बड़े कर्मयोगी कभी भजन या भक्ति नहीं छोड़ते। हाँ, सिद्धान्त रूप से यह कहा जा सकता है कि पारमार्थिक कर्म ही भक्ति है, और ऐसे लोगों को भजन की जरूरत नहीं। मगर वास्तव में भजन आदि ऐसे कर्म के सहायक बनते हैं, और ईश्वर की याद ताज़ा रखते हैं।

—नई दिल्ली, ५।१०।१९४६। ह० से० १३।१०।१९४६]

२१२. हमारी सभ्यता की माँग

हमारी सभ्यता और कुल-शील का तक़ाज़ा है कि दूसरों की प्रार्थना के समय हम शान्त रहें। हमें एक-दूसरे के धर्म का आदर करना चाहिए। सभी धर्मवाले एक ही भगवान की पूजा करते हैं।...

—काज़ीरखिल, २४।११।१९४६ ह० ज०। ह० से०, ८।१२।१९४६]

२१३. प्रार्थना का विकास

[श्रीरामपुर (पूर्वी बंगाल) की दो प्रार्थना-सभाओं में गांधी जी ने आश्रम की प्रार्थना में सम्मिलित किये गये विभिन्न धर्मग्रन्थों के अंशों की कहानी बताई। सुविधा के लिए हम दोनों प्रवचनों को यहां एक साथ दे रहे हैं।—सम्पा०]

जब मैं सन् १९१४ में हिन्दुस्तान आया था, उस समय स्व० गुरुदेव ने स्व० दीनबन्धु एण्ड्रयूज के ज़रिये, मुझे अपने फीनिक्स आश्रम के साथियों सहित शान्ति-निकेतन में रहने के लिए बुलाया था। काकासाहब कालेलकर और हरिहर शर्मा पहिले से वहां थे। स्व० दीनबन्धु एण्ड्रयूज़ और पियर्सन भी वहीं रहते थे। इन दोस्तों ने शान्तिनिकेतन में दक्षिणी अफ्रीका के लोगों का एक दल-सा बना लिया था। यह छोटा-सा दल वहां रोज जो प्रार्थना करता था, जहां तक प्रार्थना के संस्कृत श्लोकोंवाले हिस्से का ताल्लुक है, वह प्रार्थना आज भी प्रायः उसी तरह की जाती है।

जब मैं त्रावणकोर में हरिजनों के लिए दौरा कर रहा था, तब इस प्रार्थना में

ईशोपनिषद् का पहिला श्लोक जोड़ा गया था। मेरी राय में यह श्लोक हिन्दूधर्म के आध्यात्मिक विचारों का निचोड़ है। बाद में स्वर्गीय अब्बास तैयबजी की लड़की रेहाना तैयबजी ने, जो अपनी संगीतकला के लिए मशहूर हैं, सुझाया कि प्रार्थना में कुरानशरीफ़ की एक आयत जोड़ दी जाय, और वह जोड़ी गई। आखिर में, आगाखाँ के महल में कस्तूरबा के गुज़र जानेपर डा० गिल्डर ने पारसियों के धर्मग्रन्थ जेन्दा अवेस्ता का एक मन्त्र पढ़ा था। तब से वह भी आश्रम की प्रार्थना का एक हिस्सा बन गया है। इनके अलावा प्रार्थना में हिन्दुस्तान की किसी भाषा का या अंग्रेज़ी का कोई एक भजन और रामधुन भी गाई जाती है।

जो प्रार्थना इस तरह तैयार हुई है, वह किसी एक जाति या धर्म की प्रार्थना किसी तरह नहीं मानी जा सकती। वह दुनिया के हर आदमी को अपील करनेवाली है, और किसी भी जाति या मजहब वाले को उसमें शामिल होने में हिचकिचाना न चाहिए।

एक जपानी बौद्धभिक्षु सेवाग्राम में दो या तीन साल तक रहे थे। उन्हीं की वजह से आश्रम की प्रार्थना में यह बौद्ध[1]-मन्त्र शामिल किया गया था। वे हिन्दुस्तान में पैदा हुए बौद्ध धर्म की गुप्त बातों को अच्छी तरह समझने के विचार से यहां आये थे। उनका स्वभाव मीठा था, और अपनी मिलनसारी, ख़ामोशी और दिखावे से दूर रहने के अपने गुण की वजह से वे सेवाग्राम आश्रम में सबके प्रिय बन गये थे। रोज़ सुबह वे पूरे एक घण्टे तक आश्रम के मैदानों पर ढोल बजाते और गहरी, सुरील आवाज़ में यह बौद्ध मन्त्र गाते हुए घूमा करते थे। जो कोई भी उनकी इस आवाज़ को सुनता था, वह पुलकित हुए बिना न रहता था। वे प्रार्थना सभा में भी इस मन्त्र को गाया करते थे। जपान से, लड़ाई छिड़ जाने के बाद जब सरकार ने उन्हें गिरफ़्तार कर लिया, तब भी आश्रम की प्रार्थना में यह मन्त्र पढ़ा जाता रहा।

—श्रीरामपुर, २८।११।१९४६। ३०।११।१९४६। ह० से० १२।१।१९४७]

२१४. प्रार्थना अव्यर्थ है

सच्ची प्रार्थना कभी ख़ाली नहीं जाती। इसका अर्थ यह नहीं कि हम जो भी छोटी-मोटी चीजें भगवान से माँगते हैं, वे सब हमें फौरन मिल जाती हैं। जब हम सच्चे हृदय से स्वार्थ को भुला देते हैं और पूरी नम्रता के साथ भगवान की शरण जाते हैं, तभी हमारी प्रार्थना सुनी जाती है।

---

१. नम्यो हो रें गे क्यों—इस मन्त्र का अर्थ है सभी बुद्धों को नमस्कार।—सम्पा०

आश्रम की प्रार्थना में भगवान से कुछ नहीं माँगा जाता। उसमें भगवान से यही प्रार्थना की जाती है कि वह हमें अच्छा पुरुष और अच्छी स्त्री बनाये। जब यहप्रार्थना सच्चे हृदय से की जाती है तब भगवान हम पर अवश्य ही कृपा करते हैं। भगवान की इच्छा के बिना एक तिनका भी नहीं हिलता। कोई श्रेष्ठ विचार ऐसा नहीं जो हमारी चाल-चलन पर अपनी छाप न छोड़ जाता हो। इसलिए प्रतिदिन प्रार्थना करने की आदत डालना अच्छा है।

—श्रीरामपुर, ६।१२।१९४६। ह० ज० ह० से०, १२।१।१९४७]

२१५. धर्म : प्रश्नोत्तर

[प्रार्थना-सभा में किये गये प्रश्न और उनके उत्तर]

प्रश्न—आपने कहा है कि जात-पाँत टूट जानी चाहिए। ऐसा होने पर क्या हिन्दुत्व क़ायम रहेगा। आप हिन्दुत्व को ईसाई या इस्लाम-जैसे आगे बढ़नेवाले धर्मों के साथ क्यों मिलाते हैं?

उत्तर—अगर हिन्दुत्व को जीना है तो जात-पाँत, वह जिस रूप में समझी जाती है, जानी ही चाहिए। मेरा यह विश्वास नहीं है कि ईसाई-धर्म या इस्लाम आगे बढ़नेवाले हैं और हिन्दू-धर्म स्थिर या पीछे जानेवाला है। वस्तुतः मुझे किसी धर्म में कोई निश्चित उन्नति दिखाई नहीं पड़ती। यदि संसार के धर्म प्रगतिशील होते तो वह आज जो कसाईखाना बन गया है, वह न बनता। वर्ण के बंटवारे में चार बड़ी जातियों के लिए कर्त्तव्य-निर्वाह को स्थान था। यह बात सब धर्मों में सच थी, नाम भले ही वर्ण के अतिरिक्त कुछ दूसरा रहा हो। अगर मुस्लिम मौलवी और ईसाई पादरी रुपये के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि उसमें समझाने की देन है, अपने लोगों को उनका सच्चा कर्त्तव्य सिखाता हो, तो वह ब्राह्मण के सिवा और क्या है? यही बात दूसरे हिस्सों या वर्णों के बारे में भी थी।

प्रश्न—अगर ईश्वर या खुदा एक ही है तो क्या धर्म या मजहब भी एक ही नहीं होना चाहिए?

उत्तर—यह एक अजीब सवाल है। जिस तरह पेड़ में लाखों पत्तियां होती हैं, उसी तरह ईश्वर या खुदा के एक होने पर भी दुनिया में उतने ही धर्म हैं, जितने कि पुरुष और स्त्रियां, यद्यपि इन सबका सहारा वही एक ईश्वर है। वे यह सीधी-सादी बात पहिचान नहीं सकते क्योंकि वे भिन्न-भिन्न पैगम्बरों को माननेवाले हैं और उतने ही धर्मों का दावा करते हैं, जितने कि पैगम्बर हैं। मैं खुद अपने को हिन्दू मानता हूँ, मगर जानता हूँ कि वास्तव में मैं ठीक उसी तरह पूजा नहीं करता, जिस तरह दूसरे करते हैं।

प्रश्न—क्या धार्मिक शिक्षा सरकार-द्वारा स्वीकृत पाठ्यक्रम का हिस्सा होनी चाहिए? क्या आप मज़हवी शिक्षा की सुविधा के विचार से भिन्न-भिन्न धर्म के विद्यार्थियों के लिए अलग-अलग स्कूलों के पक्षपाती हैं, या मजहवी शिक्षा वैयक्तिक संस्थाओं के हाथ में छोड़ दी जानी चाहिए? अगर हां, तो क्या सरकार को ऐसी वैयक्तिक संस्थाओं की सहायता करनी चाहिए?

उत्तर—अगर सारी क़ौम का एक ही धर्म हो तो भी मैं राजकीय धर्म पर विश्वास नहीं करता। शायद सरकारी हस्तक्षेप सदा ही अनुचित होगा। धर्म शुद्ध रूप से व्यक्तिगत विषय है। वस्तुतः जितने मन हैं, उतने ही धर्म है। परमात्मा की कल्पना प्रत्येक मन में एक दूसरे से भिन्न होती है।

मैं धार्मिक संस्थाओं को आंशिक या पूरी सरकारी सहायता मिलने के भी विरुद्ध हूँ। यह इसलिए कि जो संस्था अपनी मजहवी शिक्षा के व्यय का प्रवन्ध नहीं कर सकती, वह सच्चे मज़हव को नहीं जानती। इसका यह अर्थ नहीं कि सरकारी स्कूलों में चारित्रिक शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए। आचरण के सिद्धान्त सव धर्मों में एक-से हैं।

—२२।२।१९४७। ह० ज०। ह० से०, १६।३।१९४७]

२१६. धर्म, नीति और धार्मिक शिक्षा

[श्री इ० डब्ल्यू० आर्यनायकम को लिखे गये पत्र से]

मैं नहीं मानता कि सरकार धार्मिक शिक्षा से सम्वन्ध रख सकती है या उसे निभा सकती है। मेरा विश्वास है कि मज़हवी शिक्षा पूरी तरह से सिर्फ मज़हवी संस्थाओं का ही विषय होना चाहिए।

धर्म और नीति को मिलाना नहीं चाहिए। मेरे विश्वास के अनुसार सव धर्मों में मौलिक नीति एक ही है। मौलिक नीति की शिक्षा देना निस्सन्देह सरकार का काम है। धर्म या मज़हव से मेरा मतलव वुनियादी नीति नहीं, वल्कि जिसकी छाप से भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वनाये जाते हैं।

हमने सरकारी सहायताप्राप्त धर्म और राजकीय धर्म के वहुत-से परिणाम सहे हैं। जो समाज अपने धर्म की रक्षा हेतु आंशिक या पूर्णरूप से सरकारी सहायता पर निर्भर रहता है, वह उसके योग्य नहीं होता और इससे भी वढ़कर वात यह कि उसका धर्म वास्तव में धर्म कहे जाने-योग्य नहीं होता। मेरे सामने यह सचाई विल्कुल स्पष्ट है और इसके समर्थन में उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं।

—काज़िरखिल, २१।२।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २३।३।१९४७]

२१७. मेरा विश्वास

मेरा अपने धर्म पर जीवन्त विश्वास है। मैं हिन्दू होकर भी एक अच्छा मुसलमान, ईसाई, पारसी या यहूदी हूँ : इसलिए मेरा दावा है कि मैं अधिक अच्छा हिन्दू हूँ।

—८।३।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ३०।३।१९४७]

२१८. मेरा धर्म

चूंकि मैं सनातनी हिन्दू हूँ, इसलिए मेरा दावा है कि मैं ईसाई, बौद्ध और मुस्लिम भी हूँ। कुछ मुसलमान मित्र भी यह मानते हैं कि मुझे कुरान की आयतें पढ़ने का कोई हक़ नहीं है। लेकिन ऐसे लोग यह नहीं जानते कि सच्चा धर्म भाषा और धर्मग्रन्थों की सीमा से बाहर की चीज़ है। मुझे इसका कोई कारण नहीं दीखता कि मैं कलमा क्यों न पढ़ूं, अल्लाह की स्तुति क्यों न करूं और मुहम्मद साहब को अपना पैगम्बर मानकर उनका आदर क्यों न करूं? हर धर्म के महान पैगम्बरों और साधु-सन्तों में मेरा विश्वास है।. . .मेरा दावा है कि हिन्दू-धर्म में सब धर्म समाये हुए हैं। मुझे विश्वास है कि अगर मैं अपने पक्के विश्वासों के अनुसार जीवन बिता सकूं, तो मैं हिन्दू-धर्म की ही नहीं, इस्लाम की भी सेवा करूंगा।

—दिल्ली, प्रार्थना-सभा, ७।४।१९४७। ह० से० २७।४।१९४७]

२१९. धर्मों का उपहास उचित नहीं

हमें किसी के धर्म की हँसी न उड़ानी चाहिए, नहीं तो लोग हमारे धर्म की भी हँसी उड़ायेंगे और इससे झगड़ा पैदा होगा।

—प्रार्थना-सभा १७।४।१९४७। बिहार समाचार से। ह० से० ४।५।१९४७]

२२०. धर्म-ग्रन्थ : एक दृष्टि

यह तर्क गलत है कि चूंकि कुछ धर्मान्धता के शिकार मुसलमानों ने बंगाल और पंजाब में हिन्दुओं पर अत्याचार किये हैं इसलिए कुरान शरीफ़ बुरा है बिहार में हिन्दू पागल बन गये थे, लेकिन इससे गीता की महिमा नहीं घटी।. . . चूंकि आपके दिल में इस्लाम के अनुयायियों के प्रति घृणा भरी है इसलिए उनके

किसी धर्म-ग्रन्थ से कोई आयत पढ़ने की इच्छा न रखना सच्चे धर्म के खिलाफ़ है। आपका यह तरीका हिन्दू-धर्म को बचाने के बदले उसे मिटा देगा।
—दिल्ली, प्रार्थना-सभा, ७।५।१९४७। ह० ज०। ह० से०, १८।५।१९४७]

२२१. धर्म-ग्रन्थों का पठन

प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपने धर्म-ग्रन्थों के अतिरिक्त दूसरों के धर्म-ग्रन्थों को भी पढ़े। इससे वह अपने धर्म को पाक-साफ रख सकेगा और अपने दोष दूर कर सकेगा। इसके सिवा ईसाई, मुसलमान, पारसी और दूसरे मज़हबों के मानने वाले हमारे बीच हैं। यदि हिन्दू इन सबको अपना भाई समझते हैं, तो उन्हें चाहिए कि वे उनके धर्म-ग्रन्थों को भी पढ़ें।
—प्रार्थना-सभा, १३।५।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २५।५।१९४७]

२२२. धर्म और राष्ट्रीयता

धर्म से किसी की राष्ट्रीयता नहीं परखी जाती। वह तो इंसान और उसके भगवान के बीच की व्यक्तिगत बात है। राष्ट्रीयता के नाते यूनियन[1] के लोग हिन्दुस्तानी के सिवा और कुछ नहीं हैं—भले ही वे किसी धर्म के अनुयायी हों।
—नई दिल्ली, २२।६।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २९।६।१९४७]

२२३. भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन

[प्रार्थना-सभा में किसी भाई ने गांधी जी के पास एक काग़ज़ लिख कर पहुँचाया। इसमें लेखक ने प्रश्न किया था, क्या आपने भगवान को अपनी आँखों देखा है? इसके उत्तर में व्यक्त गांधी जी के उद्गार यहाँ दिये जा रहे हैं।—सम्पा०]

मैंने भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया है। अगर मैंने उसे देखा होता तो मुझे आपके सामने बोलने की जरूरत न रह जाती। मेरे विचारों में ही इतनी शक्ति होती कि मुझे बोलने और काम करने की ज़रूरत न पड़ती किन्तु भगवान के अस्तित्व में मेरी अटल श्रद्धा है। बड़े-से-बड़े विद्वान् भी करोड़ों अनपढ़ लोगों

---

१. भारतीय संघ।

की इस श्रद्धा को नहीं डिगा सकते। आज की प्रार्थना में गाया गया भजन भगवान के दर्शन का मार्ग बताता है। कवि भगवान के दर्शन के इच्छुक से कहता है कि तुम क्रोध और वासना छोड़ दो। अगर तुम परमानन्द को पाना चाहते हो तो स्तुति और निन्दा की परवाह मत करो।...

—नई दिल्ली, प्रार्थना-सभा, २३।७।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ३।८।१९४७]

२२४. कुछ आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर

प्रश्न—आपके सुझाव के अनुसार रामनाम का—सच्चिदानन्द के नाम का—मेरा जप चालू है। और उससे मेरी क्षय की बीमारी में सुधार भी होने लगा है। यह सही है कि साथ में डाक्टरी इलाज भी चल रहा है। लेकिन आप कहते हैं कि युक्ताहार और मिताहार से इंसान बीमारियों से दूर रहकर अपनी उम्र बढ़ा सकता है। मैं तो पिछले २५ वर्ष से मिताहारी रहता आया हूँ, फिर भी आज ऐसी बीमारी का भोग बना हुआ हूँ। इसे क्या पूर्वजन्म का या इस जन्म का दुर्भाग्य कहा जाय? आप यह भी कहते हैं कि मनुष्य १२५वर्ष जी सकता है। स्वर्गीय महादेव भाई की आपको बड़ी जरूरत थी, यह जानते हुए भी भगवान ने उन्हें उठा लिया। युक्ताहारी और मिताहारी महादेव भाई आपको ईश्वर-स्वरूप मानकर जीते थे, फिर भी वे खून के दबाव की बीमारी (ब्लड प्रेशर) के शिकार बनकर सदा के लिए चल बसे। भगवान का अवतार माने जाने वाले रामकृष्ण परमहंस क्षय-जैसी कैंसर की खतरनाक बीमारी के शिकार होकर कैसे मर गये? वे भी कैंसर का सामना क्यों न कर सके?

उत्तर—मैं तो स्वास्थ्य की रक्षा के जो नियम स्वयं जानता हूँ, वही बताता हूँ। लेकिन मिताहार या युक्ताहार किसे माना जाय, यह हर आदमी को जानना चाहिए। इस बारे में जिसने बहुत-सा साहित्य पढ़ा हो और बहुत विचार किया हो वह खुद भी इसे जान सकता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसा ज्ञान शुद्ध और पूर्ण है। इसलिए कुछ लोग जीवन को प्रयोगशाला कहते हैं। कई लोगों के अनुभवों को एकत्र करना चाहिए और उनमें से जानने योग्य बात को लेकर आगे बढ़ना चाहिए। लेकिन ऐसा करते हुए अगर सफलता न मिले, तो भी किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। स्वयं को भी दोषी नहीं कहा जा सकता। नियम ग़लत है, यह कहने की भी एकदम हिम्मत न करनी चाहिए। लेकिन अगर हमारी बुद्धि को कोई नियम ग़लत मालूम हो, तो सही नियम कौन-सा है, यह बताने की

शक्ति अपने में पैदा करके उसका प्रचार करना चाहिए। आपकी क्षय की बीमारी के कई कारण हो सकते हैं। यह भी कौन कह सकता है कि पंचमहाभूतों का आपने ज़रूरत के अनुसार उपयोग किया या नहीं? इसलिए जहां तक मैं प्रकृति के नियमों को जानता हूँ और उन्हें सही मानता हूँ, वहां तक मैं तो आपसे यही कहूंगा कि कहीं-न-कहीं पंचमहाभूतों का उपयोग करने में आपने भूल की है। महादेव और रामकृष्ण परमहंस के बारे में आपने जो शंका उठाई, उसका जवाब भी मेरी ऊपर की बात में आ जाता है। प्रकृति के नियम को ग़लत कहने के बजाय यह कहना ज्यादा युक्ति-संगत मालूम होता है कि इन्होंने भी कहीं-न-कहीं भूल की होगी। नियम कोई मेरा बनाया हुआ नहीं है; वह तो प्रकृति का नियम है,; कई अनुभवी लोगों ने इसे कहा है। और, इसी बात को मानकर मैं चलने की कोशिश करता हूँ। वास्तव में बात यही है और कोई, अपूर्ण मनुष्य इसे कसे जान सकता है? डाक्टर इसे नहीं मानते। मानते भी हैं, तो उसका दूसरा अर्थ करते हैं, इसका मुझपर कोई असर नहीं होता। नियम का समर्थन करने पर भी मेरे कहने का यह मतलब नहीं होता, न निकाला जाना चाहिए, कि इससे ऊपर के किसी व्यक्ति का महत्व कम होता है।

प्रश्न—१४।४।१९४६। के ह० व० में आपने लिखा है: 'ईश्वर खुद नीति और नीतिकार है।' यह ठीक-ठीक समझ में नहीं आता। नीति तो मनुष्य की बनाई हुई है। अपूर्ण मनुष्य की नीति में समय-समय पर फेर-बदल होते रहते हैं। एक उदाहरण यहां देता हूं। द्रौपदी ने पाँच पति पसन्द किये, फिर भी वह अपने समय में सती मानी गई। आज कोई औरत ऐसा करे, तो हम उसे व्यभि-चारिणी कहेंगे।

उत्तर—नीति का मतलब यहां नियम किया जाना चाहिए। यह नियम मनुष्य का बनाया हुआ नहीं। उसने तो ईश्वर के नियम के बारे में सिर्फ कल्पना की है। जैसे-जैसे मनुष्य की जानकारी बढ़ती गई, उसका पिछला अनुमान ग़लत साबित हुआ। पृथिवी घूमती है, यह प्रकृति का नियम है, उसकी नीति है, ऐसा हम अब छाती ठोंक कर कहते हैं। लेकिन गैलीलियो[1] के पहिले जो खगोलवेत्ता हो चुके थे, उन्होंने इससे भिन्न कल्पना की थी। द्रौपदी का जो उदाहरण आपने दिया है, वैसी मैं न दूंगा। महाभारत को मैं एक बड़ा रूपक मानता हूँ। द्रौपदी यानी आत्मा और पाँच इन्द्रियां उसके पाँच पति।

प्रश्न—ईश्वर का अस्तित्व बुद्धि से परे है। श्रद्धा से ही वह समझा जा सकता है। लेकिन क्या पुनर्जन्म की घटना सत्य है? पाप और पुण्य का अन्तर

---

१. इतालवी वैज्ञानिक और खगोलवेत्ता।

समझ कर मनुष्य अपना काम करते हुए सान्त्वना पाता रहे, इसके लिए अकेले हिन्दू धर्म ने ही तो यह खोज नहीं की है न?

उत्तर—ईश्वर का अस्तित्व बुद्धि से नहीं समझा जा सकता, इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्धि अमुक सीमा तक ही समझ सकती है, उससे आगे नहीं। यह श्रद्धा की और उससे पैदा होनेवाले अनुभव की ही बात है। या तो आप पुराने लोगों का अनुभव मानिए या फिर स्वयं अनुभव करके सन्तोष कीजिए। लेकिन जो श्रद्धा अनुभव की भी अपेक्षा नहीं रखती, वही सच्ची श्रद्धा है। पाप और पुण्य का अन्तर मनुष्य की सन्तुष्टि के लिए नहीं है, ऐसा मैं नहीं कहता। मगर सच्चा परितोष तो ईश्वर पर श्रद्धा रखने से ही मिलता है। यह है, पुनर्जन्म भी है, ऐसा बहुत से ज्ञानियों ने कहा है। और मैं मानता हूँ कि ये सारी बातें अमुक सीमा तक बुद्धि से समझ में आ सकती हैं।

—पंचगनी, २५।७।१९४७। ह० ब०। ह० से० ४।८।१९४७]

- जो श्रद्धा अनुभव की भी अपेक्षा नहीं रखती, वही सच्ची श्रद्धा है।
- सच्चा परितोष तो ईश्वर पर सच्ची श्रद्धा रखने से ही मिलता है।

२२५. रामधुन की शक्ति

मैं बिना किसी हिचकचाहट यह कह सकता हूँ कि लाखों आदमियों-द्वारा सच्चे हृदय और एक ताल एकलय से गाई जानेवाली रामधुन की शक्ति सैनिक शक्ति के दिखावे से बिल्कुल अलग और कई गुना श्रेष्ठ होती है।

—देशबन्धु पार्क, कलकत्ता, २२।८।१९४७। ह० ज०। ह० से० ३१।८।-१९४७]

२२६. धर्म

धर्म हर एक की व्यक्तिगत वस्तु है और अगर हम उसे वैयक्तिक वस्तु बनाये रखने में सफल हुए, तो हमारे राजनीतिक जीवन में किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं पैदा होगी।...सरकारी अधिकारी और जनता धर्म-निरपेक्ष राज्य स्थापित करने का दायित्व लें और उसके लिए पूरी लगन से काम करें, तभी हम नये हिन्दुस्तान को जन्म दे सकेंगे, जो संसार का गौरव होगा।

—देशबन्धु पार्क, कलकत्ता, २२।८।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ३१।८।-१९४७]

२२७. अल्लाहो-अकबर

मेरी राय में दुनिया ने शायद इस (अल्लाहो अकबर) से बड़े नारे को कभी जन्म नहीं दिया। यह आत्मा को ऊँचा उठाने वाला धार्मिक नारा है, जिसका अर्थ है—केवल भगवान ही बड़ा है। यह अर्थ अत्यन्त ऊँची भावना वाला है।... भगवान कई नामों और कई गुणों से पहिचाना जाता है। राम, रहीम, कृष्ण, करीम सब एक ही भगवान के नाम हैं। सिखों का सत् श्री अकाल भी उतना ही शक्तिशाली नारा है। क्या किसी भी हिन्दू या मुसलमान को उसे पुकारने में हिचकिचाना चाहिए ? उसका अर्थ है भगवान है, अन्य कुछ नहीं है। रामधुन की भी यही विशेषता है।

—वुडलैण्डर्स, अलीपुर, २३।८।१९४७। ह० ज०। ह० से० ३१।८।१९४७]

२२८. प्रार्थना की शर्त

मैंने कभी किसी पर कोई चीज जबरन नहीं लादी। फिर प्रार्थना-जैसी ऊंची आध्यात्मिक वस्तु मैं कैसे लाद सकता हूं ? प्रार्थना करने, न करने का उत्तर हृदय के अन्दर से मिलना चाहिए। इसमें मुझे खुश करने का कोई सवाल नहीं उठ सकता। मेरी प्रार्थना-सभाएं सचमुच जनप्रिय बन गई हैं। मालूम होता है कि उनसे लाखों मनुष्यों को लाभ हुआ है।...मेरी प्रार्थना करने की शर्त यही है कि उसका जो भाग किसी को आपत्तिजनक मालूम हो, उसे छोड़ने की मुझसे आशा न रखी जाय। या तो प्रार्थना जैसी है वैसी ही हृदय से स्वीकार की जाय या उसे अस्वीकार कर दिया जाय। मेरे लिए कुरान की आयत पढ़ना प्रार्थना का ऐसा अंश है, जिसे छोड़ा नहीं जा सकता।

—गणेश लाइंस, दिल्ली, १७।९।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २८।९।१९४७]

२२९. प्रार्थना अखण्ड है

प्रार्थना का उद्देश्य किसी कीं भावनाओं को चोट पहुँचाना नहीं है। साथ ही मैं प्रार्थनाओं का कोई अंश छोड़ भी नहीं सकता, जिन्हें मैंने बड़ी सावधानी और सोच-विचार के बाद चुना है।

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, १८।९।१९४७। ह० ज०। ह० से० २८।९।१९४७]

२३०. ज्ञान के रत्न

गीता, कुरान, बाइबिल, गुरुग्रन्थ साहब और जेन्द-अवेस्ता में ज्ञान के रत्न भरे पड़े हैं, यद्यपि उनके अनुयायी इनके उपदेशों को झूठ सिद्ध कर देते हैं।
—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, २२।९।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ५।१०। १९४७]

२३१. धर्म की विजय

लंका की लड़ाई दो बराबर दलों के बीच की लड़ाई नहीं थी। उसमें एक ओर प्रबल राजा रावण था और दूसरी ओर देश-निकाला पाये हुए राम थे। लेकिन राम की जीत इसलिए हुई कि वे अपने धर्म का कड़ाई से पालन कर रहे थे। अगर दोनों ही दल अधर्म करने लगते तो कौन किसकी तरफ उंगली उठा सकता था?
—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, २५।९।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ५।१०-१९४७]

२३२. धर्म-परिवर्तन

जो लोग खुद सोच-समझ कर अपना धर्म बदलते हैं, उनकी मुझे चिन्ता नहीं है। लेकिन जो अछूत या शूद्र मुसलमान बने हैं, वे इस प्रकार सोच-विचार कर नहीं बने हैं।
—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, ३०।९।१९४७। ह० ज०। ह० से०, १२।१०-१९४७]

२३३. हिन्दू काफ़िर हैं?

बम्बई के एक दोस्त ने, जिनके बहुत से मुस्लिम दोस्त हैं, एक पहेली मेरे सामने रखी है—काफ़िरों के बारे में पैगम्बर साहब की क्या सीख है? क्या कुरान के अनुसार हिन्दू काफ़िर नहीं हैं? मैं तो बहुत पहिले से इस नतीजे पर पहुँच चुका हूँ कि कुरान के अनुसार हिन्दू काफ़िर नहीं है। इस बारे में मैंने अपने मुसलमान मित्रों से बात की है। उन्होंने अपने ज्ञान के आधार पर मुझे विश्वास

दिलाया कि कुरान में काफ़िर का अर्थ ईश्वर में विश्वास न रखनेवाला है। उन्होंने मुझसे कहा कि हिन्दू काफ़िर नहीं हैं क्योंकि वे एक ईश्वर में विश्वास करते हैं।

अगर आपने विरोधी टीकाकारों की बात मानी तो आप कुरान और पैगम्बर साहब की उसी तरह निन्दा करेंगे, जिस तरह भगवान कृष्ण की करेंगे, जिन्हें कुछ लोगों ने सोलह हज़ार गोपियां रखनेवाला, लम्पट और विलासी पुरुष बताया है। मैं अपने टीकाकारों को यह कह कर चुप कर दूंगा कि मेरा कृष्ण पवित्र और बेदाग है। मैं लम्पट और दुराचारी के सामने अपना सिर नहीं झुका सकता।

आप प्रतिदिन मेरे साथ जिस भगवान की आराधना और प्रार्थना करते हैं वह सब में मौजूद और सर्वशक्तिमान है। इसलिए आप न तो किसी से शत्रुता रख सकते हैं, न किसी से डर सकते हैं। क्योंकि भगवान हर समय आपके अन्दर और आपके साथ मौजूद हैं। सबके साथ मिलकर की जाने वाली प्रार्थना ऐसी ही होती है। इसलिए अगर आप सम्पूर्ण हृदय से और बिना किसी शर्त्त के प्रार्थना में सम्मिलित नहीं हो सकते तो मैं भगवान की ऐसी उपासना न करना ही ज्यादा पसन्द करूंगा। अगर आप सम्पूर्ण हृदय से इसमें शामिल हो सकें, तो आपको मालूम होगा कि आपके अन्दर अपने आस-पास घिरे अन्धकार को दूर करने की शक्ति दिनानुदिन बढ़ती जा रही है।...

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, १।११।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ९।११-१९४७]

२३४. बहुनामधारी ईश्वर

भगवान को कई नामों से पहिचाना जाता है। गहरी छानबीन की जाय तो अन्त में ज्ञात होगा कि संसार में जितने आदमी हैं उतने ही भगवान के नाम हैं। यह ठीक कहा गया है कि पशु, पक्षी और पत्थर भी भगवान की पूजा करते हैं। प्रार्थना के किसी अंश का इसलिए विरोध करना कि वह कुरान या अन्य धर्म-ग्रन्थ से चुना गया है, नादानी है।

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, २।११।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ९।११।-१९४७]

२३५. देश और धर्म

एक मन्त्री ने कुछ दिनों पहिले मुझसे पूछा था, मैंने कई बार सुना है कि धर्म, स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान की तुलना करें तो स्वदेशाभिमान ऊँचा ठहरता है। क्या इसे आप मानते हैं?

मैंने जवाव दिया, मैं नहीं मानता। एक ही जाति की चीजों के वीच तुलना की जा सकती है। अलग-अलग जाति की चीजों की तुलना करना असम्भव है। हर चीज़ अपनी जगह पर रहते हुए दूसरी चीज़ों के वरावर ही मूल्य रखती है। मनुष्य को अपना धर्म और अपना देश, दोनों ही, प्रिय हैं। वह एक को देकर दूसरा नहीं लेगा। उसे दोनों समान रूप से प्रिय हैं। वह रावण की चीज़ रावण को देगा और राम की राम को। अगर रावण अपनी मर्यादा तोड़ दे तो राम का भक्त दूसरा रावण ढूंढ़ने नहीं जायगा। लेकिन वह मर्यादा तोड़नेवाले रावण से ही निवट लेगा।...

—नई दिल्ली, २९।११।१९४७। ह० व०। ह० से०। ७।१२।१९४७]

२३६. शुद्ध उपवास

शुद्ध उपवास भी शुद्ध धर्मपालन की तरह है।

—विड़ला भवन, नई दिल्ली, १२।१।१९४८। ह० से०, १८।१।१९४८]

२३७. सभी धर्म एक हैं

सारे धर्म मूल में एक ही हैं, यद्यपि वे पेड़ के पत्तों की तरह विस्तार और वाह्य रूप में एक दूसरे से अलग हैं। हर पत्ते का अपना अलग अस्तित्व है, लेकिन वे सव एक ही तने से फूटते हैं और उसी से उनका सम्वन्ध होता है। इसके अलावा कोई भी दो पत्ते एक-से नहीं होते। फिर भी वे आपस में कभी नहीं लड़ते। इसके वजाय वे उसी हवा में खुशी से नाचते हैं और एक साथ मीठा स्वर निकालते हैं।

—महरौली दरगाह (दिल्ली) २४।१।१९४८। ह० से०, २२।२।१९४८]

२३८. विविध धर्म : एक लक्ष्य

विविध धर्म एक ही जगह पहुँचानेवाले अलग-अलग रास्ते हैं। एक ही जगह पहुँचने के लिए हम अलग-अलग रास्ते अपनायें तो इसमें दुःख का कोई कारण नहीं है। सच पूछो तो जितने मनुष्य हैं, उतने ही धर्म भी हैं।

—हिन्द स्वराज्य, संस्करण १९५९]

२३९. आध्यात्मिक राष्ट्र बनने की शर्त

हमारा राष्ट्र वास्तव में आध्यात्मिक राष्ट्र तभी बनेगा जब हम स्वर्ण से सत्य का, सत्ता और धन के दिखावे से निर्भयता का, और स्वार्थ से उदारता का अधिक परिचय देंगे। यदि हम केवल अपने महलों और मन्दिरों से धन का वैभव प्रकट करने वाले चिह्न साफ कर दें और उनमें सदाचार की महिमा बतानेवाले गुणों को प्रकट करें तो हम भारी सैनिक खर्च का भार वहन किये बिना ही विरोधी शक्तियों के किसी भी गुट से लोहा ले सकते हैं। पहिले हमें ईश्वरीय राज्य और उसकी पवित्रता की खोज करनी चाहिए फिर तो उसका अटल वचन है कि और सब चीजें हमें मिल जायंगी। यह सच्चा अर्थशास्त्र है। भगवान करे कि आप और मैं उसकी कद्र करें और उसे अपने दैनिक जीवन में चरितार्थ करें।

—स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ़ महात्मा गांधी। नवजीवन प्रकाशन मन्दिर-द्वारा प्रकाशित 'विद्यार्थियों से' संकलन का अंश।]

२४०. ईश्वर : एक कठोर परीक्षक

संसार में मैंने ईश्वर को सबसे अधिक कठोर मालिक पाया है और वह आपकी कड़ी परीक्षा लेता रहता है। और जब आप यह पाते हैं कि आपकी श्रद्धा आपका साथ छोड़ रही है या आपका शरीर आपका साथ नहीं दे रहा है और आप गिर रहे हैं, तब वह किसी-न-किसी तरह आपकी मदद को पहुँच जाता है और यह साबित कर देता है कि आपको अपनी श्रद्धा नहीं छोड़नी चाहिए। वह सदा आपकी पुकार पर आने को तैयार है, परन्तु अपनी शर्तों पर, न कि आपकी शर्तों पर।

—स्पीचेज ऐण्ड राइटिंग्स आफ़ महात्मा गांधी, चौथा संस्करण]

२४१. ईश्वरेच्छा ही प्रधान है

जबतक ईश्वर मुझे उस शरीर में रखना चाहता है, तबतक वह मेरी रक्षा करता है। जिस क्षण उसकी ज़रूरत पूरी हो जायगी, उस क्षण मेरी कोई सावधानी मुझे बचा नहीं सकेगी।

—बापू के पत्र : मीरा के नाम, संस्करण १९५१]

२४२. निर्विकार की पुत्र-कामना : भोग और वासना

[श्री बलवन्त सिंह से हुए प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—आप कहते हैं कि सन्तान के लिए स्त्रीसंग धर्म है, बाकी व्यभिचार है, और निर्विकार मनुष्य भी सन्तान पैदा कर सकता है। वह ब्रह्मचारी ही है। लेकिन जिसने विकार के ऊपर काबू पाया है वह क्या सन्तान की इच्छा करेगा?

उत्तर—हां, यह अलग सवाल है। लेकिन ऐसे भी लोग हो सकते हैं जो निर्विकार होने पर भी पुत्र की इच्छा रखते हैं।

प्रश्न—अधिकतर तो सन्तान की आड़ में काम की ही तृप्ति करते हैं।

उत्तर—हां, यह तो ठीक है। आजकल धर्मज सन्तान कहां है? मनु की भाषा में एक ही सन्तान धर्मज है, बाकी सब पापज हैं।

प्रश्न—कुछ लोग वासना का क्षय करने के लिए विवाह की आवश्यकता मानते हैं। क्या भोग से वासना का क्षय हो सकता है?

उत्तर—हर्गिज नहीं।

—बापू की छाया में : बलवन्त सिंह, संस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

२४३. जड़ भरत बन जाओ

[श्री बलवन्त सिंह को दी गई सलाह]

तुम मेरे पास मौन धारण करके रहो। जड़ भरत जैसे बन जाओ। जगत में अपने आपको सबसे बुरा समझो। मेरा मार्ग जंगल में भाग जाने का नहीं है। ...आज सच्चे संन्यासी तो गृहस्थों की तरह घरों में रहते हैं और सबकी सेवा करते हैं।

—बापू की छाया में : बलवन्त सिंह, संस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

२४४. आध्यात्मिक उन्नति : व्यक्तिगत और सार्वजनिक

मेरा यह विश्वास ही नहीं है कि जब उसके पड़ोसी दुःख में डूबे हुए हैं किसी एक व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। मनुष्य मात्र की—अतएव प्राणिमात्र की—मूलभूत एकता में मेरा विश्वास है। इसलिए मैं तो यह मानता हूं कि अगर एक मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति होती है तो उसके साथ सारी दुनिया की उन्नति होती है और एक व्यक्ति का पतन होता है तो उस अंश में संसार का भी पतन

होता है। सारी मनुष्य जाति एक है। ईश्वर की दृष्टि में सभी मनुष्य समान हैं।
—सर्वोदय, वर्ष १, अंक १]

२४५. मेरा धार्मिक अनुशीलन

...मैं तो यात्रा करने, काठियावाड़ के षड्यन्त्रों से बचने और रोजी कमाने के लिए दक्षिण अफ्रीका गया था, पर पड़ गया ईश्वर की खोज में—आत्मदर्शन के प्रयत्न में। ईसाई भाइयों ने मेरी जिज्ञासा को बहुत उभार दिया। वह किसी भी तरह शान्त होनेवाली न थी। मैं शान्त होना चाहता तो भी ईसाई भाई-बहिन मुझे शान्त न होने देते।...

मेरा पत्र-व्यवहार जारी था। रायचन्द भाई मुझे रास्ता दिखा रहे थे। किसी मित्र ने मुझे नर्मदाशंकर की धर्म-विचार पुस्तक भेजी। उसकी प्रस्तावना मेरे लिए सहायक सिद्ध हुई। नर्मदाशंकर के विलासमय जीवन की बात मैंने सुनी थी। प्रस्तावना में उनके जीवन में हुए परिवर्तनों का वर्णन किया गया था। उसने मेरे मन को अपनी ओर खींचा और इससे उस पुस्तक के लिए मेरे मन में आदर उत्पन्न हुआ। मैंने उसे ध्यान देकर पढ़ा। मैक्समूलर (भारत क्या सिखाता[1] है?) की पुस्तक मैंने बड़ी दिलचस्पी से पढ़ी। थियासोफ़िकल सोसायटी-द्वारा प्रकाशित उपनिषदों का भावान्तर मैंने पढ़ा। इससे हिन्दू-धर्म के प्रति मेरा आदर बढ़ा। मैं उसकी खूबियां समझने लगा। पर दूसरे धर्म के प्रति मेरे मन में अनादर उत्पन्न नहीं हुआ। वाशिंगटन इरविंग-कृत मुहम्मद का चरित्र[2] और कार्लाइल की मुहम्मद स्तुति पढ़ी। पैग़म्बर के प्रति मेरा सम्मान बढ़ा। जरथुस्त्र[3] के वचन नामक पुस्तक भी पढ़ी।

इस प्रकार मैंने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त किया। मेरा आत्म-निरीक्षण बढ़ा। जो पढ़ा और रुचा उस पर अमल करने की आदत पक्की हुई। अतएव हिन्दू-धर्म में बताई गई प्राणायाम-सम्बन्धी कुछ क्रियाएं, पुस्तक के सहारे, जितनी समझ सका, उतनी मैंने शुरू कीं? पर वे मुझसे सधी नहीं। इस साधना में मैं आगे न बढ़ सका। सोचा था कि हिन्दुस्तान वापस आने पर उनका अभ्यास किसी शिक्षक की देखरेख में करूंगा। पर यह विचार कभी पूरा नहीं हो सका।

---

१. इण्डिया : ह्वाट कैन इट टीच अस?
२. लाइफ़ आफ़ मुहम्मद ऐण्ड हिज़ सक्सेसर्स।
३. सेइंग्स आफ़ जरथुस्त्र।

मैंने तालसताय की पुस्तकों का अध्ययन बढ़ा दिया। उनका गास्पेल इन ब्रीफ़ (नवविधान का सार), व्हाट् टु डू ? (क्या करें) आदि पुस्तकों ने मेरे हृदय पर गहरा असर डाला। विश्व-प्रेम मनुष्य को कहां तक ले जा सकता है, इसे मैं अधिकाधिक समझने लगा।...

—आत्मकथा, भाग २ अध्याय २२]

२४६. सर्वोदय नीति का अन्तर्मन्थन

...मैं नेटाल के लिए रवाना हुआ। पोलक तो मेरी सब बातें जान ही गये थे। वे मुझे छोड़ने स्टेशन तक आये और यह कहकर कि यह किताब पढ़ने योग्य है, इसे पढ़ जाइए, आपको पसन्द आयेगी। उन्होंने रस्किन की 'अंटु दिस लास्ट' पुस्तक मेरे हाथ में रख दी।

इस पुस्तक को हाथ में लेकर मैं छोड़ न सका। उसने मुझे पकड़ लिया। जोहानिसबर्ग से नेटाल चौबीस घण्टे का रास्ता था। ट्रेन शाम को डरबन पहुंचती थी। पहुंचने के बाद सारी रात नींद न आई। पुस्तक में प्रकट किये हुए विचारों को अमल में लाने का इरादा किया।...

मेरा यह विश्वास है कि जो चीज़ मेरे अन्दर गहराई से भरी हुई थी रस्किन के ग्रन्थरत्न में मैंने उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब देखा। और इस कारण उसने मुझपर अपना साम्राज्य जमा लिया और मुझसे उसमें दिये गये विचारों पर अमल करवाया। जो मनुष्य हममें सोई हुई उत्तम भावनाओं को जाग्रत करने की शक्ति रखता है वह कवि है। सब कवियों का सब लोगों पर समान प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि सबके अन्दर सारी सद्भावनाएं समान मात्रा में नहीं होतीं।

मैं सर्वोदय के सिद्धान्त को इस प्रकार समझ पाया हूं।

१. सबके भले में अपना भला समाया हुआ है।

२. वकील और नाई दोनों के काम की क़ीमत एक-सी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का अधिकार सबको बराबर है।

३. सादा, मेहनत-मजदूरी का, किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहिली चीज मैं जानता था। दूसरी की मैं झलक पा रहा था। तीसरी को मैंने सोचा ही नहीं था। पहिली में बाद की दो बातें समाई हुई हैं। यह मुझे सर्वोदय ने दीपक की भांति स्पष्ट कर दिया। सवेरा हुआ और मैं उस पर अमल करने के प्रयत्न में लग गया।

—आत्मकथा, भाग ४, अध्याय १८]

२४७. दक्षिण अफ्रीका में धार्मिक सत्संग

मेरे भविष्य के बारे में मि० बेकर[1] की चिन्ता बढ़ती जा रही थी। वे मुझे वेलिंग्टन कन्वेंशन में ले गये। प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयों में कुछ वर्षों के अन्तर से धर्म-जागृति अर्थात् आत्म-शुद्धि के लिए विशेष प्रयत्न किये जाते हैं। इसे धर्म की पुन: प्रतिष्ठा अथवा धर्म का पुनरुद्धार कह सकते हैं। ऐसा एक सम्मेलन वेलिंग्टन में था। मि० बेकर को यह आशा थी कि इस सम्मेलन में होनेवाली जागृति, यहां आनेवाले लोगों के धार्मिक उत्साह और उनकी शुद्धता की मेरे हृदय पर ऐसी गहरी छाप पड़ेगी कि मैं ईसाई हुए बिना न रह सकूंगा।...

सम्मेलन में श्रद्धालु ईसाइयों का मिलन हुआ। उनकी श्रद्धा देखकर मुझे खुशी हुई। मैंने देखा कि कई लोग मेरे लिए प्रार्थना कर रहे हैं। उनके अनेक भजन मुझे मधुर लगे।

सम्मेलन तीन दिन चला। मैं सम्मेलन में आनेवालों की धार्मिकता को समझ सका, उसकी सराहना कर सका। पर मुझे अपने विश्वास में, अपने धर्म में परिवर्तन करने का कारण न मिला। मुझे यह प्रतीति न हुई कि ईसाई बनकर ही मैं स्वर्ग जा सकता हूँ अथवा मोक्ष पा सकता हूँ। जब मैंने यह बात अपने भले ईसाई मित्रों को बताई तो उनके दिल को चोट लगी। पर मैं लाचार था।

मेरी कठिनाइयाँ गम्भीर थीं। एक ईसामसीह ही ईश्वर के पुत्र हैं। उन्हें जो मानता वह तर जाता है, यह बात मेरे गले न उतरती थी। यदि ईश्वर के पुत्र हो सकते हैं, तो हम सब उसके पुत्र हैं। यदि ईसा ईश्वर-तुल्य हैं, ईश्वर ही हैं— तो मनुष्य मात्र ईश्वर के समान है; ईश्वर बन सकता है। ईसा की मृत्यु से और उनके रक्त से संसार के पाप धुलते हैं, इसे अक्षरश: सच मानने के लिए बुद्धि तैयार नहीं होती थी। रूपक के नाते भले ही उसमें कुछ सत्य हो। इसके सिवा ईसाइयों का यह विश्वास है कि मनुष्य के ही आत्मा है, दूसरे जीवों के नहीं और देह-नाश के साथ उसका सम्पूर्ण नाश हो जाता है, जब कि मेरा विश्वास इसके विरुद्ध था। मैं ईसा को एक त्यागी महात्मा, दैवी शिक्षक के रूप में स्वीकार कर सकता था,

---

१. दक्षिण अफ्रीका के एक वकील। गांधी जी जिस मुकदमें में पैरवी करने दक्षिण अफ्रीका गये थे उसमें उनके मुवक्किल श्री अब्दुल्ला सेठ के प्रमुख वकील। यह एक आस्थावान ईसाई थे और धर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। यह साउथ अफ्रीका जनरल मिशन के एक डाइरेक्टर थे। गांधी जी की धर्म-जिज्ञासा से प्रभावित हो वह उन्हें ईसाई बना लेने का प्रयत्न करते रहे।

पर उन्हें अद्वितीय पुरुष के रूप में स्वीकार करना मेरे लिए सम्भव न था। ईसा की मृत्यु से संसार को एक महान उदाहरण प्राप्त हुआ। पर उनकी मृत्यु में कोई गूढ़ चमत्कार-पूर्ण प्रभाव था, इसे मेरा हृदय स्वीकार नहीं कर सकता था। ईसाइयों के पवित्र जीवन में मुझे ऐसी कोई चीज़ नहीं मिली जो दूसरे धर्मानुयायियों के के जीवन में न मिली हो। उनमें होनेवाले परिवर्तनों के समान ही परिवर्तन मैंने दूसरों के जीवन में भी होते देखे थे। सिद्धान्त की दृष्टि से ईसाई-सिद्धान्तों में मुझे कोई अलौकिकता नहीं दिखाई पड़ी। त्याग की दृष्टि से हिन्दू धर्म माननेवालों का त्याग मुझे अधिक ऊंचा मालूम हुआ। मैं ईसाई धर्म को सम्पूर्ण अथवा सर्वोपरि धर्म के रूप में स्वीकार न कर सका।

अपना यह हृदय-मन्थन मैंने अवसर आने पर ईसाई मित्रों के सामने रखा। वे मुझे इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सके।

पर जिस तरह मैं ईसाई धर्म को स्वीकार न कर सका, उसी तरह हिन्दू धर्म की सम्पूर्णता के विषय में अथवा उसकी सर्वोपरिता के विषय में भी मैं उस समय निश्चय न कर सका। हिन्दू-धर्म की त्रुटियां मेरी आँखों के सामने फिरा करती थीं। यदि अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म का अंग है, तो वह सड़ा हुआ और बाद में जुड़ा हुआ अंग जान पड़ा। अनेक सम्प्रदायों, अनेक जात-पाँतों की हस्ती को मैं न समझ सका। केवल वेदों के ईश्वर-प्रणीत होने का अर्थ क्या है ? यदि वेद ईश्वर-प्रणीत हैं, तो बाइबिल और कुरान क्यों नहीं ?

जिस तरह ईसाई मित्र मुझे प्रभावित करने के लिए प्रयत्नशील थे, उसी तरह मुसलमान मित्र भी प्रयत्न करते रहते थे। अब्दुल्ला सेठ मुझे इस्लाम का अध्ययन करने के लिए ललचा रहे थे। उसकी खूबियों की चर्चा तो वे करते ही रहते थे।

मैंने अपनी कठिनाइयां रायचन्द भाई के सामने रखीं। हिन्दुस्तान के दूसरे धर्मशास्त्रियों के साथ भी पत्र-व्यवहार शुरू किया। उनकी ओर से उत्तर भी मिले। रायचन्द भाई के पत्र से मुझे बड़ी शान्ति मिली। उन्होंने मुझे धीरज रखने और हिन्दू-धर्म का गहरा अध्ययन करने की सलाह दी। उनके एक वाक्य का भावार्थ था—"निष्पक्ष भाव से विचार करते हुए मुझे यह प्रतीति हुई है कि हिन्दू-धर्म में जो सूक्ष्म और गूढ़ विचार हैं, आत्मा का निरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्मों में नहीं है।. . .'

इस प्रकार यद्यपि मैंने ईसाई मित्रों की धारणा से भिन्न मार्ग, पकड़ लिया था, फिर भी उनके समागम ने मुझमें जो धर्म-जिज्ञासा जागरित की, उसके लिए तो मैं उनका सदा के लिए ऋणी बन गया। अपना यह सम्बन्ध मुझे हमेशा याद रहेगा।

—आत्मकथा, भाग २, अध्याय १५]

२४८. मेरे परिवार में धार्मिक वातावरण

मेरे पिता कुटुम्व-प्रेमी, सत्यप्रिय, शूर, उदार, किन्तु क्रोधी थे। उनकी धार्मिक शिक्षा नहीं के वरावर थी, पर मन्दिरों में जाने और कथा आदि सुनने से हिन्दुओं को जो धर्मज्ञान सहज भाव से मिलता रहता है, वह उनमें था। उन्होंने अन्तिम साल परिवार के एक मित्र की सलाह से गीता-पाठ शुरू किया था और वे रोज पूजा के समय थोड़े-वहुत श्लोक ऊंचे स्वर से पाठ किया करते थे।

मेरे मन पर यह छाप रही है कि मेरी माता साध्वी स्त्री थीं। वे वहुत श्रद्धालु थीं; विना पूजा-पाठ के कभी भोजन न करती थीं, हमेशा हवेली[1] जाती थीं। मैंने जव से होश सम्हाला तव से मुझे याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी चातुर्मास का व्रत छोड़ा हो। वे कठिन-से-कठिन व्रत शुरू करतीं और उन्हें निर्विघ्न पूरा करतीं; लिये हुए व्रतों को वीमार होने पर भी कभी न छोड़तीं। मुझे ऐसा एक समय याद है जव उन्होंने चान्द्रायण का व्रत लिया था। व्रत के दिनों में वे वीमार पड़ीं, पर उन्होंने व्रत नहीं छोड़ा। चातुर्मास में एक वार खाना तो उनकी सामान्य वात थी। उतने से सन्तोष न करके उन्होंने एक चौमासे में तीसरे दिन भोजन करने का व्रत लिया था। उनके लिए लगातार दो-तीन उपवास तो मामूली वात थी। एक चातुर्मास में उन्होंने यह व्रत लिया था कि सूर्य नारायण के दर्शन करके ही भोजन करेंगी। उस चौमासे में हम वच्चे वादलों के सामने देखा करते कि कव सूर्य के दर्शन हों और कव मां भोजन करें। यह तो सव जानते हैं कि चौमासे में अक्सर सूर्य के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। मुझे ऐसे दिन याद हैं, जव हम सूर्य को देखते और कहते, मां-मां सूरज दीखा, और मां उतावली होकर आतीं। इतने में सूर्य छिप जाता और मां यह कहती हुई लौट जातीं, कोई वात नहीं, आज भाग्य में भोजन नहीं है, और अपने काम में डूव जातीं।

—आत्मकथा, संस्करण १९५७]

२४९. मेरा शिक्षाकाल और धार्मिक परिवेश

मैंने छः या सात साल से लेकर सोलह साल की उम्र तक पढ़ाई की, पर स्कूल में मुझे कहीं भी धर्म की शिक्षा नहीं मिली। ऐसा कह सकते हैं कि शिक्षकों से जो आसानी से मिलना चाहिए था वह नहीं मिला। फिर भी वातावरण से कुछ-

---

१. वैष्णव मन्दिर।

न-कुछ तो मिलता ही रहा। यहां धर्म का उदार अर्थ करना चाहिए। धर्म का अर्थ है आत्मबोध, आत्मज्ञान।

मैं वैष्णव सम्प्रदाय में जन्मा था, इसलिए हवेली में जाने के प्रसंग बार-बार आते थे। पर उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई। हवेली का वैभव मुझे अच्छा नहीं लगा। हवेली में होनेवाली अनीति की बातें सुनकर मन उसके प्रति उदासीन बन गया। वहां से मुझे कुछ भी न मिला।

पर जो हवेली से न मिला, वह मुझे अपनी धाय रम्भा से मिला। रम्भा हमारे परिवार की पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद है। मैं...कह चुका हूँ कि मुझे भूत-प्रेत आदि का डर लगता था। रम्भा ने मुझे समझाया कि इसकी दवा रामनाम है। मुझे रामनाम से भी अधिक श्रद्धा रम्भा पर थी, इसलिए बचपन में भूतप्रेतादि के भय से बचने के लिए मैंने रामनाम जपना शुरू किया। यह जप बहुत समय तक नहीं चला। पर बचपन में जो बीज बोया गया वह नष्ट नहीं हुआ। आज रामनाम मेरे लिए अमोघ शक्ति है। मैं मानता हूं कि उसके मूल में रम्भाबाई का बोया हुआ बीज है।

...पर जिस चीज़ का मेरे मन पर गहरा असर पड़ा, वह था रामायण का पारायण। पिताजी की बीमारी का थोड़ा समय पोरबन्दर में बीता था। वहां वे रामजी के मन्दिर में रोज रात के समय रामायण सुनते थे। सुनानेवाले थे रायचन्द जी के एक परम भक्त, बीलेश्वर के लाधा महाराज। उनके विषय में कहा जाता था कि उन्हें कोढ़ हो गया था। उसकी दवा करने के बजाय उन्होंने बीलेश्वर के बिल्वपत्र जो महादेव जी पर से उतरते थे, कोढ़वाले अंग पर बाँधे और केवल राम-नाम का जप चलाया। इससे उनका कोढ़ जड़ से जाता रहा। यह बात सच हो या न हो, हम सुननेवालों ने उसे सच माना...लाधा महाराज का कण्ठ मधुर था। वे दोहा-चौपाई गाते थे और अर्थ समझाते थे। वे स्वयं उसके रस में लीन हो जाते थे और श्रोताओं को भी लीन कर देते थे। उस समय मेरी उम्र तेरह साल की रही होगी, पर याद पड़ता है कि उनके पाठ में मुझे खूब रस मिलता था। वह रामायण-श्रवण रामायण के प्रति मेरे अत्यधिक प्रेम की बुनियाद है। आज मैं तुलसीदास की रामायण को भक्तिमार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ।

कुछ महीनों के बाद हम राजकोट आये। वहां रामायण का पाठ नहीं होता था। एकादशी के दिन भागवत ज़रूर पढ़ी जाती थी। मैं कभी-कभी उसे सुनने बैठता था। पर भट्टी जी रस उत्पन्न नहीं कर सके। आज मैं देख सकता हूँ कि भागवत एक ऐसा ग्रन्थ है, जिस के पाठ से धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है... राजकोट में मुझे अनायास सब सम्प्रदायों के प्रति समान भाव रखने की शिक्षा

मिली। हिन्दू-धर्म के हर एक सम्प्रदाय के प्रति आदर-भाव रखना सीखा, क्योंकि माता-पिता हवेली जाते, शिवालय जाते और राममन्दिर भी जाते। साथ हम भाइयों को भी ले जाते या भेजा करते थे।

इसके अलावा पिताजी के पास जैन धर्माचार्यों में से कोई-न-कोई हमेशा आते रहते। पिता जी उन्हें भिक्षा देकर सत्कार करते थे। वे पिताजी से धर्म-सम्बन्धी तथा व्यावहारिक चर्चा किया करते थे। इसके सिवा पिताजी के मुसलमान और पारसी मित्र भी थे जो अपने-अपने धर्म के विषय में चर्चा किया करते थे। पिताजी उनकी बातें आदर से और अक्सर रुचिपूर्वक सुनते थे। इन चर्चाओं के समय 'नर्स' होने के कारण मैं अक्सर मौजूद रहता था। इस सारे वातावरण का असर मेरे ऊपर यह हुआ कि सब धर्मों के प्रति मेरे मन में समभाव उत्पन्न हो गया।

एक ईसाई-धर्म अपवाद था। उसके प्रति कुछ अरुचि पैदा हुई। उन दिनों कुछ ईसाई हाईस्कूल के कोने पर खड़े होकर व्याख्यान दिया करते थे। वे हिन्दू देवताओं की और हिन्दू-धर्म माननेवालों की बुराई किया करते थे। मुझे यह असह्य लगा। मैं एकाध बार ही व्याख्यान सुनने के लिए वहां खड़ा हुआ होऊंगा, दुबारा वहां खड़े होने की इच्छा ही न हुई। इन्हीं दिनों एक प्रसिद्ध हिन्दू के ईसाई होने की बात सुनी। गांव में यह चर्चा थी कि उसे ईसाई धर्म में प्रवेश कराते समय गोमांस खिलाया गया और शराब पिलाई गई। उसकी पोशाक भी बदलवा दी गई और वह भाई क्रिस्तान होने के बाद, कोट, पतलून और टोप पहिनने लगा। ये बातें मुझे चुभीं। मन ने कहा कि जिस धर्म के लिए गोमांस खाना पड़े, शराब पीनी पड़े और अपना पहिनावा बदलना पड़े, वह धर्म कैसे माना जा सकता है? इसके अलावा यह भी सुना कि जो भाई ईसाई हो गये हैं, वे अपने पूर्वजों के धर्म, रीति-रिवाज और देश की निन्दा करने लगे हैं। इन बातों से मेरे मन में ईसाई-धर्म के प्रति अरुचि पैदा हो गई।

इस तरह यद्यपि दूसरे धर्मों के प्रति मन में समभाव जागा, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मुझमें ईश्वर के प्रति कुछ आस्था थी। इसी समय पिताजी की पुस्तकों में मुझे मनुस्मृति का अनुवाद मिल गया। इसमें जगत् की उत्पत्ति आदि की बातें पढ़ीं। उन पर श्रद्धा नहीं जमीं, उल्टे कुछ नास्तिकता आई।...

पर एक बात ने मन में जड़ जमा ली—यह संसार नीति पर टिका हुआ है। नीतिमात्र का समावेश सत्य में होता है। सत्य को खोजना ही होगा।...

नीति-विषयक एक छप्पय भी दिल में बस गया। अपकार का बदला अपकार नहीं, बल्कि उपकार ही हो सकता है, यह बात जीवन-सूत्र बन गई। उसने मन पर राज्य करना शुरू कर दिया। अपकारी का भला चाहना और करना, इसका मैं

अनुरागी बन गया। मैंने इसके अनगिनत प्रयोग किये। वह चमत्कारी छप्पय यह है—

पाणी आपने पाय, भलुं भोजन तो दीजे,
आवी नमावे शीश, दण्डवत कोडे कीजे।
आपण घासे दाम, काम महोरो नुं करीए,
आप उगारे प्राण, ते तणा दुःखमां मरीए।
गुण केड़े तो गुण दश गणो, मन, वाचा, कर्मेकरी,
अवगुण केडे जे गुण करे, ते जगमां जीत्यो सही[1]।

—आत्मकथा, भाग १, अध्याय १०।]

- धर्म का अर्थ है आत्मबोध, आत्मज्ञान।
- रामनाम मेरे लिए अमोघ शक्ति है।
- मैं तुलसीदास की रामायण को भक्तिमार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूं।
- भागवत...पाठ से धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है।
- यह संसार नीति पर टिका हुआ है।
- नीतिमात्र का समावेश सत्य में होता है।
- अपकार का बदला अपकार नहीं, बल्कि उपकार ही हो सकता है।

२५०. मेरे धर्मदीप : रायचन्द[2] भाई

रायचन्द भाई हजारों का व्यापार करते, हीरे-मोती की परख करते, व्यापार की समस्याएँ सुलझाते, पर यह सब उनका विषय नहीं था। उनका विषय, उनका पुरुषार्थ तो था आत्म-परिचय—हरि-दर्शन। उनकी गद्दी पर और कोई चीज़

---

१. जो पानी पिलाये, उसे भोजन दीजिए; जो सिर नवाये उसे दण्डवत् कीजिए। जो पाई उपकार करे उसके लिए मोहर का उपहार दीजिए; जो आपका प्राण उबारे उसके दुःख हर लीजिए। गुण के बदले मन, वचन और कर्म से दस गुना गुण कीजिए। जो अवगुण के बदले भी गुण करता है, वही संसार को धर्म से जीतता है।

२. गांधी जी के मित्र डाक्टर मेहता के बड़े भाई के दामाद। ये रत्नों का व्यवसाय करते थे। साथ ही एक कवि, शतावधानी और धर्मचिन्तक सन्त के रूप में प्रसिद्ध थे। ये जैन धर्म के अनुयायी थे और श्रीमद्राजचन्द्र के नाम से भी जाने जाते थे।

हो या न हो, पर कोई-न-कोई पुस्तक और डायरी तो अवश्य रहती थी। व्यापार की वात खत्म होते ही धर्म-पुस्तक खुलती अथवा उनकी डायरी खुलती थी। उनके लेखों का जो संग्रह प्रकाशित हुआ है, उसका अधिकांश इस डायरी से लिया गया है। जो मनुष्य लाखों के लेन-देन की वात करके तुरन्त ही आत्मज्ञान की गूढ़ वातें लिखने वैठ जाय, उसकी जाति व्यापारी की नहीं, वल्कि शुद्ध ज्ञानी की है। उनका ऐसा अनुभव मुझे एक वार नहीं, कई वार हुआ था। मैंने उन्हें मूर्च्छा की स्थिति में कभी नहीं पाया। मेरे साथ उनका कोई स्वार्थ नहीं था। मैं उनके वहुत निकट सम्पर्क में रहा हूँ। उस समय मैं एक भिखारी वैरिस्टर था। पर जव भी मैं उनकी दूकान पर पहुँचता, वे मेरे साथ धर्म-चर्चा के सिवा दूसरी कोई वात ही न करते थे। यद्यपि मैं उस समय अपनी दिशा स्पष्ट नहीं कर पाया था; यह भी नहीं कह सकता कि साधारणतः मुझे धर्म-चर्चा में रुचि थी, फिर भी रायचन्द भाई की धर्म-चर्चा मैं रुचिपूर्वक सुनता था। उसके वाद मैं, अनेक धर्माचार्यों के सम्पर्क में आया हूँ। मैंने हर एक धर्म के आचार्यों से मिलने का प्रयत्न किया है। लेकिन मुझ पर जो छाप रायचन्द भाई ने डाली, वैसी दूसरा कोई न डाल सका। उनके अनेक वचन मेरे हृदय में सीधे उतर जाते थे। मैं उनकी वुद्धि का सम्मान करता था। उनकी प्रामाणिकता के लिए भी मेरे मन में उतना ही आदर था। इसलिए मैं जानता था कि वे मुझे जान-वूझकर ग़लत रास्ते नहीं ले जायंगे और जो उनके मन में होगा वही कहेंगे। इस कारण अपने आध्यात्मिक संकट के समय मैं उनका आश्रय लिया करता था।

रायचन्द भाई के लिए इतना आदर रखते हुए भी उन्हें मैं अपने धर्म-गुरु के रूप में हृदय में स्थान न दे सका। मेरी वह खोज तो आज भी चल रही है।

हिन्दू-धर्म में गुरु को जो महत्व दिया गया है, उसे मैं मानता हूँ। 'गुरु विन होय न ज्ञान'—यह वचन वहुत अंशों में सही है। अक्षर-ज्ञान देनेवाले अधकचरे शिक्षक से काम चलाया जा सकता है, पर आत्मदर्शन करानेवाले अपूर्ण शिक्षक से काम नहीं चलाया जा सकता। गुरुपद तो सम्पूर्ण ज्ञानी को ही दिया जा सकता है। गुरु की खोज में ही सफलता समाई हुई है, क्योंकि शिष्य की योग्यता के अनुसार ही गुरु मिलता है। इसका अर्थ यह है कि योग्यता के लिए पूर्ण प्रयत्न का प्रत्येक साधक को अधिकार है। इस प्रयत्न का फल ईश्वर के अधीन है।

.....मेरे जीवन पर गहरी छाप डालनेवाले आधुनिक मनुष्य तीन हैं—रायचन्द भाई ने अपने सजीव सम्पर्क से, ताल्सताय ने अपनी 'वैकुण्ठ तेरे हृदय में है' नामक पुस्तक से और रस्किन ने 'अनटु दिस लास्ट' (सर्वोदय) नामक पुस्तक से मुझे मोह लिया।

—आत्मकथा, भाग २, अध्याय १]

धर्म परिशिष्ट

१. गो-रक्षा

मैं स्वयं गाय की पूजा करता हूँ, अर्थात् उसे सम्मान देता हूँ। गाय भारत की रक्षक है, क्योंकि उसकी सन्तान पर भारत का, जो एक कृषि-प्रधान देश है, आधार है। गाय सैकड़ों दृष्टियों से उपयोगी प्राणी है। यह तो मुसलमान भाई भी स्वीकार करेंगे कि वह उपयोगी प्राणी है।

किन्तु मैं जिस प्रकार गाय को पूजता हूँ, उसी प्रकार मनुष्य को भी पूजता हूँ। जैसे गाय उपयोगी है, उसी प्रकार मनुष्य भी उपयोगी है—चाहे वह मुसलमान हो, चाहे हिन्दू। तब क्या मैं गाय को बचाने के लिए मुसलमान से लड़ूं ? मैं उसे मारूँ ? यदि ऐसा करूँ तो मैं मुसलमान और गाय का दुश्मन बन जाऊंगा। इसलिए अपने विचार के अनुसार तो मैं कहता हूँ कि गाय की रक्षा का उपाय एक ही है कि मैं अपने मुसलमान भाइयों से प्रार्थना करूँ और देश के लिए उसे गाय की रक्षा करने की बात समझाऊं। यदि वह न समझे तो मुझे गाय को जाने देना चाहिए। क्योंकि (तब) वह मेरे वश की बात नहीं है। यदि मुझे गाय पर अत्यन्त दया आती हो, तो मैं उसके लिए अपने प्राण दे दूँ, किन्तु किसी मुसलमान का प्राण न लूँ। मैं तो मानता हूँ कि यह धार्मिक नियम है।

'हाँ' में और 'नहीं' में हमेशा का वैर है। यदि मैं बहस करूँ, तो मुसलमान भी बहस करेगा। अगर मैं टेढ़ा बनूँ, तो वह भी टेढ़ा बनेगा। यद मैं बित्ता भर झुकूँ तो वह हाथ भर झुकेगा। और यदि वह न झुके तो भी मेरा झुकना गलत नहीं कहलायगा। जब हम लोगों ने हुज्जत की तब गो-वध बढ़ा। मेरा कहना है कि गोरक्षा-प्रचारिणी सभा को गोवध-प्रचारिणी सभा समझना चाहिए। ऐसी सभा का होना हमारे लिए लज्जा की बात है। जब हम गाय की रक्षा करना भूल गये, तभी हमें ऐसी सभा की ज़रूरत पड़ी होगी।

यदि मेरा भाई गाय को मारने के लिए दौड़े तो मैं उसके साथ क्या बर्ताव करूँ। उसे मारूँ या उसके पाँव पड़ूं ? यदि आप कहें कि पाँव पड़ना चाहिए, तो फिर मुसलमान भाई के भी पाँव ही पड़ना चाहिए।

हिन्दू गाय को दुःख देकर उसका नाश करते हैं, तब उसे कौन छुड़ाता है ? गाय की सन्तान बैल को हिन्दू आरे से छेदता है। कौन हिन्दू उसे

समझाने जाता है ? इसके कारण हमारे एक राष्ट्र होने में कोई अड़चन नहीं आई।

अन्त में, यदि यह वात सही हो कि हिन्दू अहिंसक और मुसलमान हिंसक है, तो अहिंसक का कर्त्तव्य क्या है ? ऐसा कहीं नहीं लिखा कि अहिंसक किसी मनुष्य की हत्या करे। अहिंसक का रास्ता तो सीधा है। एक को वचाने के लिए उसे दूसरे की हिंसा तो कदापि नहीं करनी है। उसके पास तो एक ही उपाय है— पाँव में झुकना। उसी में उसका पुरुषार्थ है।

क्या हिन्दू-मात्र अहिंसक हैं ? गहरा विचार करें तो अहिंसक कोई भी नहीं है क्योंकि हम जीवहानि तो करते ही हैं। किन्तु हम उससे ऊपर उठना चाहते हैं, इसलिए अहिंसक (कहे जाते) हैं। साधारण विचार करें, तो देखते हैं कि वहुत-से हिन्दू मांसाहारी हैं, इसलिए वे अहिंसक नहीं कहे जा सकते। खींच-तान कर कोई अलग अर्थ करना हो तो मुझे कुछ नहीं कहना है। जव परिस्थिति ऐसी है, तो एक हिंसक है और दूसरा अहिंसक है, इसलिए उनमें वन नहीं सकती, ऐसा कहना एकदम ग़लत है।

यह विचार स्वार्थी धर्मोपदेशक पण्डितों और मुल्लाओं ने फैलाया है। और जो कुछ वच गया था, उसे अंग्रेजों ने पूरा कर दिया। उन्हें इतिहास लिखने की आदत रही है। वे हर एक जाति के रीति-रिवाज जानने का दिखावा करते हैं। ईश्वर ने मन तो छोटा दिया है, किन्तु वे वड़े-वड़े ईश्वरीय दावे करते हैं और तरह-तरह के प्रयोग करते हैं। वे स्वयं अपना ढोल वजाते हैं और हमारे मन में अपने वड़प्पन का विश्वास जगाते रहते हैं। हम भोलेपन में उस सव पर भरोसा कर लेते हैं।

जो उल्टा नहीं देखना चाहते, वे देख सकते हैं कि कुरानशरीफ़ में ऐसे सैकड़ों वचन हैं जो हिन्दुओं को मान्य होंगे, (इसी तरह) भागवद्गीता में (वहुत कुछ) ऐसा लिखा हुआ है, जिसके विरोध में मुसलमानों को कहने के लिए कुछ नहीं रहता। कुरानशरीफ़ की कुछ वातें मेरी समझ में न आयें अथवा मुझे पसन्द न हों तो क्या इसलिए मैं उसके मानने वालों का तिरस्कार करूँ ? झगड़ा तो दो के वीच ही हो सकता है। यदि मुझे न झगड़ना हो, तो मुसलमान क्या कर सकता है ? और यदि मुसलमान को न झगड़ना हो तो मैं क्या कर सकता हूँ ? हवा में घूँसा मारने वाले का हाथ झटका खा जाता है। यदि सव अपने-अपने धर्म का स्वरूप समझें और उसका पालन करें तथा पण्डितों और मुल्लाओं को वीच में न आने दें, तो झगड़े का मुंह काला हो जायगा।

—हिन्द स्वराज्य, अध्याय १०, भारत की दशा : हिन्दू-मुसलमान। इं० ओ०, ११।१२।१९०९। सं० गां० वां०, खण्ड १०, पृ० २८, २९, ३०]

२. कुरान शरीफ और उसकी आलोचना

मुझे भी कुरान और इस्लाम के इतिहास का इतना ज्ञान अवश्य है जिसके द्वारा मैं जानता हूँ कि कुरान के ऐसे कितने ही भाष्यकार हैं, जिन्होंने अपने पूर्व-कल्पित विचारों के अनुकूल उसका अर्थ घटाया है।

...मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि स्वयं कुरान की शिक्षाएं आलोचना से वरी नहीं रह सकतीं। आलोचना से तो प्रत्येक सच्चे धर्मग्रन्थ को लाभ ही होता है। अपने तर्क के वल के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई पथ-प्रदर्शक नहीं है, जो हमें वताये कि कौन वस्तु अपौरुषेय है और कौन नहीं ? शुरू में जिन मुसलमानों ने इस्लाम को स्वीकार किया, वह इसलिए नहीं कि वे इसे अपौरुषेय समझते थे, वल्कि इसलिए कि यह उनकी ताज़ी वुद्धि को जँच गया।

—यं० इं०। हि० न० जी०, ५।३।१९२५]

३. गुरु गोविन्दसिंह और सिख-धर्म

सिख गुरुओं के सम्वन्ध में मेरा विश्वास है कि वे गहरे धार्मिक नेता और सुवारक थे। वे सव हिन्दू थे और गुरु गोविन्दसिंह हिन्दू-वर्म के प्रवल रक्षकों में एक थे। मेरा यह भी विश्वास है कि उन्होंने हिन्दू-वर्म की रक्षा के लिए ही तलवार उठाई।...

मैं सिख-वर्म को हिन्दू-वर्म से भिन्न नहीं मानता। मैं उसे हिन्दू-वर्म का अंग तथा वैष्णव-वर्म की तरह एक सुवारक पन्थ समझता हूँ। सिखों से सम्वन्व रखने वाले जितने ग्रन्थ मेरे हाथ आ पाये, मैंने यरवदा जेल में पढ़े थे। ग्रन्थ साहव के भी कुछ अंश मैंने पढ़े हैं। मुझे उसका आध्यात्मिक तथा नैतिक स्वरूप ऊंचा उठाने-वाला मालूम हुआ। आश्रम भजनावलि में हमने गुरु नानक के भी कुछ भजन रखे हैं। फिर भी यदि सिख लोग सिख पन्थ को हिन्दू धर्म से विल्कुल भिन्न समझें तो इसमें भी मेरा कोई झगड़ा नहीं है। जव मैं पहिले-पहल पंजाव गया तो मेरे कुछ सिख मित्रों को मेरा सिख पन्थ को हिन्दू-वर्म मानना वुरा मालूम हुआ। यह देख कर मैंने ऐसा कहना वन्द कर दिया। किन्तु पूछे जाने पर अपना विश्वास प्रकट करने के लिए सिख भाई मुझे क्षमा करें।....मैंने सिख गुरुओं को ऐतिहासिक व्यक्ति माना है, क्योंकि इसके लिए हमारे पास ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं।...

—यं० इं०। हि० न० जी०, ८।१०।१९२५]

४. ईसाई मिशनरी

[अमरीका में अध्ययन करने वाले एक विद्यार्थी का प्रश्न और उसका उत्तर।]

प्रश्न—मैं हिन्दुस्तान में ईसाई मिशनरियों के कार्य के मूल्य के सम्बन्ध में आपकी स्पष्ट राय जानना चाहता हूँ। क्या अपने देशवासियों का जीवन बनाने में ईसाई धर्म ने कुछ हिस्सा लिया है? क्या हम ईसाई धर्म के बिना (काम) चला सकते हैं?

उत्तर—मेरी राय में ईसाई मिशनरियों ने हमें प्रकारान्तर से लाभ पहुँचाया है। सीधी तौर पर तो उनसे लाभ के बजाय हानि ही हुई है। मैं धर्मान्तर करने के वर्तमान तरीके के खिलाफ़ हूँ। दक्षिण अफ्रीका और हिन्दुस्तान के धर्मान्तर करने वाले मनुष्यों का अनुभव पाने के बाद मुझे विश्वास हो गया है कि उससे नये ईसाइयों की, जिन्होंने यूरोपीय सभ्यता का बाह्य रूप ही समझा है और जो ईसामसीह के उपदेश का तत्व नहीं समझते हैं, कोई नैतिक उन्नति नहीं होती। मेरे इस कथन का सम्बन्ध सामान्य लोगों की मनोवृत्ति से ही है; उत्तम अपवादों से नहीं। लेकिन प्रकारान्तर से तो ईसाई मिशनरियों के प्रयत्न से हिन्दुस्तान को बहुत-कुछ लाभ हुआ है। उसने हिन्दू और मुसलमानों को अपने-अपने धर्म की शोध करने के लिए प्रोत्साहित किया है। मैं मिशनरियों के शिक्षामन्दिर और अस्पताल इत्यादि को भी ऐसे ही लाभों में गिनता हूँ क्योंकि वे शिक्षा देने या अस्पताल बनाने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि धर्मान्तर करने के उद्देश्य से ही स्थापित किये जाते हैं।

संसार जिस प्रकार मुहम्मद या उपनिषद् के उपदेश बिना काम नहीं चला सकता उसी प्रकार ईसामसीह के उपदेश बिना भी नहीं चला सकता। इसलिए हम भी उसके बिना नहीं चला सकते। मैं तो उन सबको एक दूसरे का पूरक ही मानता हूँ और वे किसी प्रकार भी एक दूसरे से अलग नहीं हैं। उसका सच्चा अर्थ परस्पर अन्तरसम्बन्ध और परस्परावलम्बन है, लेकिन अभी-अभी हमें यह समझना बाकी है। हम लोग अपने धर्म के केवल उदासीन प्रतिनिधि हैं और अक्सर हम उसका उपहास ही कराते हैं।

—यं० इं०। हि० न० जी०, १७।१२।१९२५]

५. स्त्रियों का धर्म

[सन् १९२६ में गांधी जी क्षेत्र-संन्यास लेकर एक वर्ष साबरमती आश्रम में ही रहे थे। उस वक्त उन्होंने आश्रम की बहिनों को संगठित करके किसी-न-

किसी सार्वजनिक कार्य में लगा देने की कोशिश की थी। इसके लिए उन्होंने आश्रम की वहिनों की एक अलग प्रार्थना सवेरे सात वजे शुरू की थी, क्योंकि सुवह चार वजे की प्रार्थना में सब वहिनें आ नहीं सकती थीं। और शाम की प्रार्थना लगभग सार्वजनिक स्वरूप की थी। आश्रमवासियों के लिए खास तौर पर कुछ कहना होता, तो बापू सवेरे चार वजे की प्रार्थना में कहते। उसका लाभ वहुत-सी वहिनों को नहीं मिलता था। इसलिए वहिनों से कहने का काम उन्होंने उनकी इस सात वजे की प्रार्थना में रखा था। वाद में जब-जब वे वाहर जाते, तब अपने मौनवार को आश्रम की वहिनों को विशेष पत्र लिखकर उनसे सम्बन्ध बनाये रखते। सन् १९२६ के मध्य मणिवहन (पटेल) भी ज्यादातर आश्रम में ही रहती थीं। उन्होंने वहिनों के सामने दिये गये वापू के प्रवचनों के नोट ले रखे थे। यद्यपि वे बहुत छुटपुट और संक्षिप्त हैं, फिर भी जितने हैं उतने अत्यन्त बोधप्रद हैं। उनके आवश्यक अंश यहां संकलित किये जा रहे हैं।—सम्पा०]

द्रौपदी की रक्षा

[वहिनों की प्रार्थना के पहिले तीन श्लोक द्रौपदी के चीर-हरण के समय उसने श्रीकृष्ण की जो प्रार्थना की थी उसके हैं। वे इस प्रकार हैं:—

गोविन्द, द्वारिकावासिन्, कृष्ण, गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥
हे नाथ, हे रमानाथ, व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मां उद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण, कृष्ण, महायोगिन्, विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द, कुरुमध्ये वसीदतीम्॥

इन पर विवेचन करते हुए गांधीजी ने निम्नलिखित विचार प्रकट किये।]

मेरा आदर्श यह है कि पुरुष पुरुष रहते हुए स्त्री बने और स्त्री स्त्री रहते हुए पुरुष बने। पुरुष के स्त्री बनने का अर्थ यह है कि वह स्त्री की नम्रता और विवेक सीखे और स्त्री के पुरुष बनने का मतलब यह है कि वह अपनी भीरुता छोड़कर हिम्मतवाली और वहादुर बन जाय।

यह कहा जाता है कि स्त्रियों में ईर्ष्या-द्वेष बहुत होता है। परन्तु पुरुषों में ईर्ष्या नहीं होती, सो वात नहीं। इसी तरह तमाम स्त्रियां ईर्ष्यालु होती ही हैं सो वात भी नहीं। वात इतनी ही है कि स्त्री को घर में ही चौबीसों घण्टे रहना पड़ता है, इसलिए उसकी ईर्ष्या अधिक जाहिर होती है।

पुरुष और स्त्री दोनों निर्भय हो सकते हैं। पुरुष यह मानता है कि वह निर्भय रह सकता है, मगर यह हमेशा सच नहीं होता। इसी तरह स्त्रियां अपने को निर्बल मानकर जो अबला कहलाती हैं वह भी ठीक नहीं। उन्हें भयभीत रहने की जरा भी ज़रूरत नहीं। मीरांबाई की एक बात मैंने परसों सुनी सो कहता हूँ। मीराबाई वृन्दावन गईं और एक साधु का दरवाजा खटखटाया। साधु ने कहा कि मैं किसी भी स्त्री का मुंह नहीं देखता। इस पर मीराबाई ने उत्तर दिया कि आप कौन हैं? मैं तो एक ही पुरुष को जानती हूँ, और वह ईश्वर (कृष्ण) है। यह सुनकर उस साधु ने दरवाजा खोल दिया और मीराबाई को साष्टांग नमस्कार करके कहा कि आज मेरी आंखें खुली हैं। मैं अन्धकूप से बाहर निकला हूँ।

द्रौपदी की कथा : एक रूपक

स्त्री और पुरुष दोनों जबतक विकारवश हैं, तबतक दोनों को भय है।

द्रौपदी ने उतना ही भय दिखाया, जितना युधिष्ठिर ने दिखाया।

द्रौपदी ने पांच पतियों से शादी की, तो भी वह सती कहलाती है। उसे सती कहने का कारण यह है कि उस जमाने में पुरुष जैसे कई स्त्रियों से विवाह कर सकते थे, वैसे ही (अमुक प्रदेश में) स्त्रियां एक से अधिक पुरुषों से विवाह कर सकती थीं। विवाह-सम्बन्धी नीति युग-युग और देश-देश में बदलती रहती है।

(दूसरी तरह से देखें तो) द्रौपदी बुद्धि का रूपक है, और पांचों पाण्डव वश में आई हुई पांचों इन्द्रियां हैं। इन्द्रियां वश में आ जायं यह तो अच्छा ही है। पांचों इन्द्रियां वश में आ गईं और संस्कृत हो गईं, यानी बुद्धि ने इन्द्रियों से शादी कर ली।

द्रौपदी ने जो शक्ति दिखाई है वह अगाध शक्ति है। भीम भी द्रौपदी से डरता था। युधिष्ठिर-जैसे धर्मराज भी उससे डरते थे।

इस वक्त द्रौपदी ने जो प्रार्थना की थी, वह जब मैंने जेल में महाभारत में पढ़ी तो मैं खूब रोया था।

मेरी दृष्टि से द्रौपदी की इस प्रार्थना की शक्ति अपूर्व है। उत्तर हिन्दुस्तान में असंख्य पुरुष यह प्रार्थना गाते हैं।

शब्दशक्ति और ॐकार

शब्दों की शक्ति भी उनके पीछे निहित तपश्चर्या के हिसाब से घटती-बढ़ती है। ॐ शब्द क्या है? केवल अ, उ और म तीन अक्षर इकट्ठे करके एक शब्द पैदा किया, मगर उसकी कीमत तो उसके पीछे की जानेवाली तपश्चर्या में समाई

हुई है। ज्यों-ज्यों तपश्चर्या बढ़ती है, त्यों-त्यों उसकी कीमत बढ़ती है। इसी तरह यह द्रौपदी है। यह भी व्यास जी का एक कल्पित पात्र माना जा सकता है। ऐसी स्त्री हुई हो या न भी हुई हो। एक तो व्यास जी की तपश्चर्या, और उन्होंने द्रौपदी से जो प्रार्थना कराई है वह बाद में करोड़ों मनुष्यों ने की, इसलिए भी इस प्रार्थना की कीमत बढ़ गई।

गोविन्द

गो-विन्द का अर्थ है इन्द्रियों का स्वामी। गोपी का अर्थ है हजारों इन्द्रियां। गोपी-जन-प्रिय अर्थात् बड़े समुदाय को प्रिय, या यों कहिए कि निर्बलमात्र को प्रिय। द्रौपदी कौरवों से घिरी हुई थी। कौरव यानी हमारी तमाम दुष्ट वासनाएं। वह कहती है—केशव, तू मुझे कैसे नहीं जानता? यह आर्त्तनाद है। दुखियों की आवाज है। हम सब में दुष्ट वासनाएं कहां नहीं होतीं? किस समय विकार नहीं होता? द्रौपदी कहती है कि कौरवों ने मेरे चारों ओर घेरा डाल रखा है। यहां कौरवों का अर्थ दुष्ट पुरुष भी हो सकता है। परन्तु दुष्ट पुरुषों की अपेक्षा हम दुष्ट वासनाओं से अधिक घिरे हुए हैं। इसलिए कौरवों का अर्थ दुष्ट वासना ही करना अच्छा है।

द्रौपदी

द्रौपदी ईश्वर की दासी है। और दासी को ईश्वर के साथ भी लड़ने का हक है। इसलिए वह कहती है: हे नाथ, हे प्रभु, हे रमानाथ, यानी हे लक्ष्मीपति अर्थात् सारे जगत के पति, मोक्ष देनेवाले, आत्मदर्शन करानेवाले, मैं कौरवरूपी समुद्र में डूब गई हूँ, यानी अनेक विकारों में डूब गई हूँ, दुष्ट वासनाओं से भरी हूँ, मेरा उद्धार कर।

कृष्ण, कृष्ण इस प्रकार दो बार द्रौपदी ने कहा। मनुष्य को खूब खुशी हो तब, या बहुत दुःख हो तब, वह दो बार बोलता है। मैं तेरी शरण आई हूँ, मेरी रक्षा कर, दुष्ट वासनाओं से घिरकर मैं शिथिल हो गई हूँ। मेरे गात्र ढीले पड़ गये हैं। मेरा उद्धार कर।

सतीत्वरक्षा-धर्म

बम्बई में एक जानकी बाई नाम की महिला है। सन् १९१५ में जब मैं रेवाशंकर भाई के यहां था, उस वक्त वह मुझसे मिलने के लिए वहां आई और कहने लगी: मैं यह करती हूँ, वह करती हूँ। मुझे उस समय उस पर विश्वास नहीं हुआ।

वाद में जव मैं द्वारका गया, तव वह भी वहाँ पहुँची। इसलिए मैंने उसके वारे में ज्यादा जाँच की तो मालूम हुआ कि वह दुष्ट-से-दुष्ट मनुष्यों के वीच भी निर्भय होकर घूमती रहती है। वस उसे यह ख्याल हो गया है कि मैं दुष्ट-से-दुष्ट मनुष्यों के वीच रहकर भी अपना सतीत्व कायम रखूंगी। और होता भी यही है कि कोई गुस्से में भी उसे तू नहीं कहता। वह दुष्ट मनुष्यों के वीच में सिंहिनी की तरह घूमती है।

हम द्रौपदी की तरह गरीव हैं, क्योंकि हममें अनेक प्रकार की वासनाएं, अनेक तरह की गन्दगियां भरी हैं। हमारे गरीव होने का सवूत यह है कि हम सव साँप वगैरा से डरते हैं। आश्रम में मैं सवसे वड़ा माना जाता हूँ, मतलव यह कि मैं भी द्रौपदी से गरीव हूँ।

द्वारका का अर्थ है सारा जगत् या हम खुद—काठियावाड़ में पोरवन्दर के पास का छोटा गन्दा गांव नहीं।...

आत्मा का उद्धार

आत्मा का उद्धार आत्मा ही कर सकती है। आत्मा का वन्धु आत्मा ही है। स्त्रियों का उद्धार स्त्रियां ही कर सकती हैं। इसके लिए तपस्या की ज़रूरत है। यह वात सच है कि पुरुषों से स्त्रियों में ज्यादा तपस्या है, मगर तपस्या ज्ञानपूर्वक होनी चाहिए। अभी तो वे मजदूरों की तरह लाचारी से काम करती हैं।...

स्त्रियों की प्रार्थना

संसार में प्रार्थना एक ही हो सकती है। अगर हम वह प्रार्थना रोज करेंगे और उसे समझकर करेंगे, तो वह मन के भीतर रम ही जायगी। केशव तो हमारे पास ही है। वह कोई द्वारका में नहीं रहता। यह तो कवि की भाषा है। द्रौपदी भूल गई कि केशव उसके पास है। मगर कृष्ण ने तो वहां वैठे-वैठे उसका चीर वढ़ाया था। हमारे मन में भी वुरी वासनाएँ उठती हों, दुष्ट विचार आयें, तो हमें ऐसा लगना चाहिए कि अरे, ऐसे विचार क्यों आते हैं? उस समय हम इस श्लोक को याद करें।...

चरित्र-रक्षण

हमें मां-वाप के चरित्र की जो विरासत मिले, वही सच्ची विरासत है। वह आध्यात्मिक विरासत कहलाती है। उसमें वृद्धि करना हमारा धर्म है। वाप एक लाख रुपये छोड़ गया हो और लड़का उसके दस लाख कर ले, तो क्या वह यह

कहेगा कि कैसा बाप था जो एक लाख ही जमा किया, जब कि मैं कैसा होशयार हूँ कि दस लाख इकट्ठा कर लिये? ऐसा कहनेवाला कपूत कहलाता है। इसमें अभिमान है। हमें तो मां-बाप के धन की विरासत में नहीं, बल्कि चरित्र की विरासत में—आध्यात्मिक विरासत में वृद्धि करनी है। फिर भी हमें अभिमान नहीं करना चाहिए। नम्रता के बिना आध्यात्मिक विरासत मिलती ही नहीं।

जो चीज हम जन्म से ही न करते हों, जैसे कि हम लोग मांस नहीं खाते, उसमें हमारा त्याग नहीं कहा जा सकता। यह तो हमारे लिए स्वाभाविक ही था। इसमें हमने पुरुषार्थ नहीं किया।...

अर्चना

मैं मिट्टी का पुतला बनाकर जरूर पूजा करूं, अगर उससे मेरा मन हलका होता हो। मेरा जीवन सार्थक होता हो तभी बालकृष्ण की मूर्ति की हुई पूजा काम की है। पत्थर देवता नहीं है, मगर पत्थर में देवता का निवास है। मैं अगर मूर्ति को चन्दन चढ़ाकर, चावल चढ़ाकर उससे कहूं कि आज इतनों के सिर उतार लेने की शक्ति मुझे दे, तो तुम में से जो लड़की काबिल होगी वह तो उस मूर्ति को उठाकर कुएं में डाल देगी या तोड़कर चूर-चूर कर डालेगी।

समदर्शिता

अगर हम समदर्शी बनना चाहते हों, तो हमें ऐसा हिसाब बैठाना चाहिए कि जो सारी दुनिया को मिले सो मुझे मिले। अगर तमाम जगत् को दूध मिले, तो हमें भी दूध मिले। ईश्वर से हम कह दें कि अगर मुझे दूध पिलाना हो तो सारे संसार को दूध पिला। मगर ऐसा कौन कह सकता है? जिसमें इतनी करुणा हो, जो दूसरों के लिए मेहनत-मजदूरी करता हो। हम इस कानून को नहीं निभा सकते, परन्तु उसे समझ तो जरूर सकते हैं। हम अभी तो ईश्वर से इतना ही मांगें कि हम इतने ज्यादा गिरे हुए हैं कि जो कुछ हम करें उसे वह निभा ले। हम आगे न बढ़ें, परन्तु हमारे पास जो परिग्रह है उसे घटाने की शक्ति दे। अगर हम अपने पापों का प्रायश्चित्त करें, तो उनका आगे विस्तार न हो। एक भी चीज अपनी समझकर न रखनी चाहिए। और यथाशक्ति परिग्रह छोड़ने की कोशिश करनी चाहिए।...

उन्नति का आधार

जिसके मन में कभी कोई सवाल नहीं उठता, वह कैसे ऊंचा उठ सकता है?

आत्महत्या

. . . वहिन ने आत्महत्या की, इससे यह सवक लेना है कि इंसान को अपने मन के भीतर ही भीतर दुःख या चिन्ता को घोटते नहीं रहना चाहिए, मन ही मन जलते नहीं रहना चाहिए। जिसकी तरफ से दुःख हुआ हो, उससे तुरन्त कह देना चाहिए। तभी वह दुःख हमारे मन में नहीं रहेगा। मन के अन्दर ही अन्दर मसोसते रहना भी एक प्रकार की आत्महत्या है।

आत्मनिन्दा कहां तक ठीक है? अपने वारे में अपने मन में असन्तोष का रहना एक तरह से अच्छा है। मगर वह असन्तोष हद से ज्यादा न होना चाहिए। एक हद तक असन्तोष रहे, तो मनुष्य ऊपर उठता है। मगर यदि वह व्यर्थ ही अपने आप में हमेशा दोष निकालता रहे कि मुझे यह नहीं आता, वह नहीं आता, तो सचमुच ही वह उसे आयेगा भी नहीं और वह मूर्ख वन जायगा। हमें मन के अन्दर प्रसन्नता रखनी चाहिए और उसके साथ-साथ एक तरह का असन्तोष भी रखना चाहिए। तभी हमारी उन्नति होगी।

ज्ञान

जिस ज्ञान में नम्रता नहीं, कोमलता नहीं, उस ज्ञान को क्या करें? कौशिक मुनि ने अपने ऊपर पक्षी की वीट पड़ गई तो क्रोध किया। उससे पक्षी जलकर भस्म हो गया। अपने तप की यह शक्ति देखकर मुनि के मन में जरा अभिमान हो आया। वाद में वे एक आदमी के यहां अतिथि वनकर जाते हैं। घर की मालकिन अपने पति की सेवा में लगी होती है, इसलिए अतिथि को खड़ा रखती है। पति की सेवा पूरी होने के वाद मुनि के पास भोजन लेकर जाती है और देर होने का कारण वताकर मुनि से माफी माँगती है। इस पर मुनि को गुस्सा आ गया। उस स्त्री ने कहा, मैं कोई वह चिड़िया नहीं हूँ जो आपके क्रोध से जल जाऊंगी, और आपका इस तरह क्रोध करना ज्ञान नहीं कहला सकता। इस पर कौशिक मुनि को ज्ञान हुआ और उन्होंने उस स्त्री से कहा, तूने तो मुझे दो प्रकार का भोजन दे दिया : एक भोजनान्न और दूसरा ज्ञानान्न। . . .

हमारा मन्दिर

हम सवका मन्दिर आश्रम में है। आश्रम में भी नहीं, वह तो हमारे हृदय में है। दो-चार पत्थर जमा करके वनाया हुआ मन्दिर किसी काम का नहीं। हम अपने हृदय में मन्दिर वना सकें तो वह काम का है।

आश्रम अगर इसी तरह बराबर चलता रहे और उसमें दुष्ट मनुष्य पैदा न हों, तो वह तीर्थक्षेत्र बन जाय।

नर्मदा के जितने कंकर हैं, उतने सब शंकर कहलाते हैं। नर्मदा का अर्थ वही नदी नहीं है, जो भड़ौच के पास है, बल्कि सभी नदियां हैं। नदी के कंकर को धोकर जहां बिल्वपत्र चढ़ाया कि वह शंकर हो गया। इससे आगे बढ़कर यदि साफ मिट्टी लेकर उसका शिवलिंग-जैसा आकार बनायें और उस पर बिल्वपत्र चढ़ायें, तो वह भी शंकर बन जायगा। इससे भी आगे बढ़कर विचार करें, तो हमारे हृदय में ही शंकर विराजमान हैं।

हम तो मूर्तिपूजक भी हैं और मूर्तिभंजक भी। मूर्ति के भीतर समाई हुई पाषाणता के हम भंजक हैं, परन्तु उसके अन्दर समाई हुई ईश्वर की भावना के पूजक हैं।...

धर्म-विरोधी कानून

जिन-जिन कानूनों से धर्म का लोप होता हो, उन कानूनों को हमें जरूर मिटाना चाहिए। ऐसे कानूनों को न मानें इतना ही नहीं, बल्कि उसका सक्रिय विरोध करें। विरोध करने के दो मार्ग हैं:मार-काट करने का और सत्याग्रह का। हमें तो सत्याग्रह का मार्ग ही लेना चाहिए। हमें धर्म के नाम पर डाका नहीं डालना है। हम तो धर्म के नाम पर फाँसी पर चढ़ जायं, मर मिटें, मगर दूसरों को न मारें।...

—— १९२६। बापू के पत्र: आश्रम की बहिनों को, न० जी० प्र० मं०]

६. शुद्धि और तबलीग

मैं नहीं मानता कि आज के जैसी तबलीग, शुद्धि या धर्म-परिवर्तन करने की आज्ञा इस्लाम, हिन्दू धर्म या ईसाई धर्म में है। तब मैं शुद्धि में किस प्रकार हाथ बँटा सकता हूँ? तुलसीदास और गीता मुझे सिखलाते हैं कि जब तुम्हारे ऊपर या तुम्हारे धर्म पर आक्रमण हो तो तुम आत्मशुद्धि कर लेना। जो पिण्ड में है, वह ब्रह्माण्ड में है। आत्मशुद्धि—तपश्चर्या करने का मेरा प्रयत्न चौबीसों घण्टे चल रहा है। पार्वती के भाग्य में अशुभ लक्षणोंवाले पति थे। ऐसे लक्षण होने पर भी शुभंकर तो शिव जी ही थे। पार्वती ने उन्हें तपोबल से पाया। संकट के समय ऐसा ही तप हिन्दू धर्म सिखलाता है। इस धर्म-ज्ञान का साक्षी हिमालय है-—वही हिमालय, जिस पर हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए लाखों ऋषि-मुनियों ने अपने शरीर गला डाले हैं। वेद कागज पर लिखे अक्षर नहीं हैं। वेद तो अन्तर्यामी हैं। अन्तर्यामी ने मुझे बतलाया

है कि यम-नियमादि का पालन कर और कृष्ण का नाम ले। मैं विनय के साथ किन्तु सत्यतापूर्वक कहता हूँ कि हिन्दू धर्म की सेवा, हिन्दू धर्म की रक्षा के सिवा मेरी दूसरी प्रवृत्ति नहीं है। हां, उसे करने की मेरी रीति अवश्य ही निराली है।
—न० जी०। हि० न० जी०, ३।३।१९२७]

- जो पिण्ड में है, वह ब्रह्माण्ड में है।
- वेद कागज पर लिखे अक्षर नहीं हैं।
- वेद. . .अन्तर्यामी है।
- हिन्दू धर्म की सेवा, हिन्दू धर्म की रक्षा के सिवा मेरी दूसरी प्रवृत्ति नहीं है।

७. पश्चिम और पूर्व में दृष्टि-भेद

बुद्ध भगवान ने कहा है कि यह जीवन एक छाया भर है, तुरत ही मिट जानेवाली वस्तु है। अगर आप दृश्य जगत् की शून्यता को समझ जायं, अगर आपके दिल में यह पैठ जाय कि हमारी देह का कोई मूल्य नहीं है तो फिर आप के लिए ऊपर अक्षय भाण्डार रखा है और नीचे वह शान्ति और सुख जिसका आज हम स्वप्न भी नहीं देख पाते। मगर इसके लिए अत्यन्त श्रद्धा चाहिए; अपने सर्वस्व का त्याग करना होगा। बुद्ध ने क्या किया था? ईसा और मुहम्मद ने भी क्या किया था? उनके जीवन आत्मत्याग और स्वार्थत्याग के जीवन थे। बुद्ध ने अपने सांसारिक वैभव-विलास इसलिए छोड़ दिये जिससे सत्य की शोध में त्याग करने और कष्ट सहनेवालों का परम सुख सारे संसार को सुलभ हो। अगर गौरीशंकर की चोटी पर चढ़कर थोड़े-से सामान्य ज्ञान के लिए कई जानें दी जा सकती हैं; अगर दोनों ध्रुवों में जाकर एक झण्डा गाड़ देने के लिए कई आदमियों का प्राणोत्सर्ग करना समुचित है तो फिर अमर, अविनश्वर, शाश्वत सत्य की खोज में एक नहीं, दो नहीं, लाखों नहीं बल्कि करोड़ों, अरबों जीवनों का उत्सर्ग क्या महान् कार्य नहीं है? इसलिए आप निराधार मत हो जाइए, अपने पूर्वजों की सादगी को छोड़कर मत भागिए। वह समय आनेवाला है जब वे पीछे लौट कर कहेंगे कि आह, हमने यह क्या किया, जो आज अपनी आवश्य-कताएं बढ़ाने में ही अपने को धन्य मानते हैं। सभ्यताएं आईं और गईं। हमारी उन्नति से क्या होना है? डारविन के समसामयिक प्रसिद्ध वैज्ञानिक वालेस ने भी यही बात कही थी। उसने कहा था कि ५० वर्षों के महान आविष्कारों से मनुष्यों के सदाचार में जौ-बराबर भी उन्नति नहीं हुई है। उस स्वप्नद्रष्टा और भविष्यद्रष्टा ताल्सताय ने भी यही कहा था। यही राग ईसा, मुहम्मद और बुद्ध ने भी अलापा

था—और आज उन्हीं के धर्मों का नाम ले लेकर, उनसे उलटा आचरण हमारे ही देश में हो रहा है।

—हि० न० जी०, १५।१२।१९२७]

८. मृत्यु : संस्मरण और दर्शन

आश्रम में अब तक नीचे लिखी मौतें होने की बात मुझे याद है:

फकीरी, ब्रजलाल, मगनलाल, गीता, मेघजी, वसन्त, इमाम साहब, गंगादेवी (इन सबकी तारीखें लिख रखना अच्छा होगा)।

फकीरी की मौत तो ऐसी हुई जो आश्रम को शोभा देनेवाली नहीं कही जा सकती। आश्रम अभी नया था। फकीरी पर आश्रम के संस्कार न पड़े थे। फिर भी फकीरी बहादुर लड़का था। मेरी टीका है कि वह अपने खाऊपन की बलि हो गया। उसकी मृत्यु मेरी परीक्षा थी। मुझे ऐसा याद है कि आखिरी दिन उसकी बगल में सारी रात मैं बैठा रहा। सवेरे मुझे गुरुकुल जाने के लिए ट्रेन पकड़नी थी। उसे अरथी पर सुलाकर, पत्थर का कलेजा करके मैंने स्टेशन का रास्ता लिया। फकीरी के बाप ने फकीरी और उसके तीन भाइयों को यह समझकर मुझे सौंपा था कि मैं फकीरी और दूसरों के बीच भेद न करूंगा। फकीरी गया तो उसके तीन भाइयों को भी मैं खो बैठा।

ब्रजलाल बड़ी उम्र में शुद्ध सेवाभाव से आश्रम में आये थे और सेवा करते हुए ही मृत्यु का आलिंगन करके अमर हो गये और आश्रम के लिए शोभारूप हुए। एक लड़के का घड़ा कुएं से निकालते हुए डोर में फँसकर फिसल गये और उन्होंने प्राण तजे।

गीता गीता का पाठ शान्ति से सुनती हुई चली गई। मेघजी नटखट लड़का माना जाता था, पर बीमारी में उसने अद्भुत शान्ति रखी। बच्चे अक्सर बीमारी में बहुत हैरान होते हैं और पास रहनेवालों को हैरान करते हैं। मेघ जी को लगभग आदर्श रोगी कह सकते हैं। वसन्त ने बिल्कुल सेवा ली ही नहीं। प्राणघातक चेचक ने एक या दो दिन में ही जान ले ली। वसन्त की मृत्यु पण्डित जी और लक्ष्मीबहिन की कठिन परीक्षा थी; उसमें वे पास हुए।

मगनलाल के विषय में क्या कहूं? सच पूछिए तो यह गिनती आश्रम में हुई मौतों की है, इसलिए मगनलाल का नाम यहां न होना चाहिए। पर यह नाम कैसे छोड़ा जा सकता है? उन्होंने आश्रम के लिए जन्म लिया था। सोना जैसे अग्नि में तपता है वैसे मगनलाल सेवाग्नि में तपे और कसौटी पर सौ फीसदी खरे उतर

कर दुनिया से कूच कर गये। आश्रम में जो कोई भी है वह मगनलाल की सेवा की गवाही देता है।

इमामसाहब का अकेला ही मुसलमान-कुटुम्ब अनन्य भक्ति से आश्रम में बसा। उन्होंने मृत्यु से हमारे और मुसलमानों के बीच न टूटनेवाली गाँठ बाँध दी है। इमाम साहब अपने आपको इस्लाम का प्रतिनिधि मानते थे और इसी रूप में आश्रम में आये। (यहां अमीना के दो बच्चे याद आते हैं। वे बहुत छोटे थे, इसलिए उनके बारे में कोई कहने लायक बात नहीं। उनकी मृत्यु हमें संयम की आवश्यकता का पाठ अवश्य पढ़ाती है)।

गंगादेवी का चेहरा अब भी मेरी आँखों के सामने फिरा करता है; उनकी बोली की भनक मेरे कानों में पड़ती है। उनके स्मरणों को याद करते अब भी मैं थका नहीं। उनके जीवन से हम सबको और बहिनों को खास तौर से बहुत सबक सीखने हैं। यह लगभग निरक्षर होने पर भी ज्ञानी थीं। हवा, पानी बदलने के लिए जाने लायक होने पर भी स्वेच्छा से जाने से अन्त तक इन्कार करती रहनेवाली वह अकेली ही थीं। जो बच्चे उन्हें मिले, उनकी सम्हाल उन्होंने अपने बच्चे मान कर की। उन्होंने किसी दिन किसी के साथ तकरार की हो या किसी पर खफा हुई हों, इसकी जानकारी मुझे नहीं है। उनको जीने का उल्लास न था, मरने का भय न था। उन्होंने हँसते हुए मृत्यु को गले लगाया। उन्होंने मरने की कला हस्तगत कर ली थी। जैसे जीने की कला है, वैसे ही मरने की भी कला है।

इन सभी मृत्युओं का स्मरण अपनी जागृति के लिए कर गया हूँ। पृथिवी इस विशाल-मण्डल में कण-समान है। उस कण के ऊपर हम देहरूप में तुच्छ कण हैं। हम एक बिल में रहनेवाली चींटियों को गिनने में असमर्थ हैं। चींटी से छोटे जन्तुओं को तो हम देख भी नहीं सकते। विराट पुरुष के सामने तो हम अदृश्य जन्तु से भी अधिक छोटे हैं। इससे इस देह को जो क्षणभंगुर कहा है वह अक्षरशः सत्य है। उसका मोह क्या? उसके लिए एक भी प्राणी को हम क्यों दुःख दें? काँच से भी कमजोर, जरा-सी चोट से टूट जानेवाली देह को बनाये रखने के लिए इतना उपद्रव क्यों मनायें? मौत का अर्थ है इस देह से जीव का उड़ जाना। इस मौत का डर किसलिए? उसका क्षण दूर रखने के लिए यह महा प्रपंच क्यों? इन बातों पर फिर-फिर विचार कर छोटे-बड़े दिल से मौत का डर निकाल दें। और देह में रह कर, जबतक वह रहे तबतक, सेवा के कार्य में उसे घिस डालें। ऐसी तैयारी करने की शक्ति हममें आये, इस के लिए नित्य गीता के दूसरे अध्याय के अन्तिम उन्नीस श्लोक हमें रटने चाहिए। उनकी रटन दिल से हो तो जो चाहिए वह उसमें मौजूद है।

पुनश्च—यह लेख लिखा जा चुकने के बाद महादेव ने फातिमा काकी और बालजी की माता जी के संस्मरण दिये हैं, पर मुझे जो सार खींचना था उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता, इसलिए यह लेख जैसा है वैसा ही रहने देता हूँ। बाकी की तीनों मौतों के बारे में जो कुछ मैंने सुना है वह सब पुण्यस्मरण ही है।

—यरवदा मन्दिर, ३०।५।१९३२]

- जैसे जीने की कला है, वैसे ही मरने की भी कला है।
- मौत का अर्थ है इस देह से जीव का उड़ जाना।

९. जीवमात्र की समानता और अहिंसा-धर्म

गत मास मैं सात आठ दिन के लिए बोरसद गया था। वहां मैंने अपने कई भाषणों में कहा था कि यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि प्लेग के कीटाणुवाले चूहे और पिस्सू भी मेरे लिए सहोदर के समान हैं और जीने का जितना अधिकार मुझे है उतना ही उन्हें भी है, फिर भी डा० पटेल के चूहे और पिस्सू मारने के प्रयत्न का मैं बिना संकोच समर्थन करता हूं।

एक पत्र-रिपोर्टर ने, जिसे मेरी यह चूहों और पिस्सुओं के सहोदरत्व की बात सुनकर आश्चर्य हुआ किन्तु जिसने यह चिन्ता नहीं की, कि मैंने किस प्रसंग पर यह कहा था, फौरन मेरी वह बात तार-द्वारा अखबार को भेज दी। सरदार पटेल की तीक्ष्ण दृष्टि उस पैराग्राफ पर जा पड़ी और उससे जो हानि होने की सम्भावना थी उसे सुधारने के लिए उन्होंने मुझसे कहा। मगर उन्होंने जो काम मुझे सौंप रखा था, उससे मुझे अवकाश नहीं था, इसलिए मैंने यह कहकर लिखने की बात टाल दी कि जिन लोगों का इस बात से सम्बन्ध है, वे कभी मेरे कहने का गलत अर्थ नहीं लगायेंगे।

लेकिन सरदार का कहना ठीक निकला। वह अर्धसत्य वाली खबर तार से लन्दन भेज दी गई। वहां जो लोग युरोप में मेरी ख्याति बढ़ाने के विषय में चिन्तित रहते हैं, उन्हें यह पैरा पढ़ कर क्षोभ हुआ, यद्यपि इतना तो वे समझते थे कि इस सहोदरत्व के दावे में, मैंने बहुत-सी मर्यादाएं तो रखी ही होंगी। उन्होंने मेरे पास उस पैरे की कटिंग लेकर भेज दी। अब उन मित्रों के लिए भी मैं बाध्य हूं कि अपनी स्थिति को साफ कर दूं। यद्यपि जो अर्द्धसत्य एक बार चल निकला, वह कैसे रोका जा सकता है?

मैं जिन लोगों के समक्ष वहां भाषण दे रहा था, वे उन जंगली जानवरों को भी नहीं मारते, जो नित्य ही उनकी खेती का नाश करते रहते हैं। सरदार ने जब

अपने प्रचण्ड प्रभाव का पूरा उपयोग किया, तब कहीं चूहों का संहार वहां हो सका। इसके पहिले वोरसद तालुका में कभी भी एक चूहा या पिस्सू नहीं मारा गया था। लेकिन सरदार का उन लोगों पर बहुत बड़ा उपकार था, इसलिए उनकी बात का विरोध वे नहीं कर सकते थे और उन्होंने डा० भास्कर पटेल को चूहों और पिस्सुओं का संहार निर्बाध रीति से करने दिया। वोरसद में जो काम हो रहा था उसका समाचार मुझे दिन-प्रतिदिन मिलता रहता था।

जो काम वहां हुआ था, उस पर मेरी स्वीकृति लेने के लिए ही सरदार ने मुझे बुलाया था। कारण कि, यह काम अब भी जारी रहना था, हालांकि लोगों को अब खुद अपने स्वतन्त्र प्रयत्न से यह काम करना था, इसलिए अपनी सम्मति पर जोर देने के लिए मैंने अहिंसा अर्थात् जीवमात्र की अवध्यता तथा एकता-विषयक अपनी अटल श्रद्धा अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में सुना दी।

किन्तु श्रद्धा और क्रिया के बीच यह विरोध किसलिए? विरोध तो अवश्य है ही। जीवन एक अभिलाषा है। उसका ध्येय पूर्णता अर्थात् आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करना है। अपनी निर्बलताओं या अपूर्णताओं के कारण हमें आदर्श नीचा नहीं करना चाहिए। मुझ में निर्बलता और अपूर्णता दोनों ही है। यह नहीं कि मुझे उनका दुःखद भान न हो। अपनी उन निर्बलताओं और अपूर्णताओं को दूर करने में सहायता देने के लिए सत्य के समक्ष मेरे हृदय से मूक पुकार प्रतिक्षण उठती रहती है। मैं यह मानता हूँ कि सांप, बिच्छू, बाघ और प्लेग के चूहों तथा पिस्सुओं से मुझे डर लगता है। मुझे यह भी स्वीकार करना चाहिए कि खतरनाक दिखाई देने वाले डाकुओं और हत्यारों से भी मुझे डर लगता है। मैं यह जानता हूँ कि मुझे इनमें से किसी से भी नहीं डरना चाहिए। पर यह कोई बुद्धि की बहादुरी का काम नहीं है। यह तो हृदय का व्यापार है। ईश्वर के अतिरिक्त और सबका भय त्याग देने के लिए वज्र-सा कठोर हृदय चाहिए। अपनी निर्बलताओं के कारण वोरसद के लोगों को मैं यह सलाह तो नहीं दे सकता था कि आप लोग हत्यारे चूहों और पिस्सुओं को न मारें। पर मैं यह जानता था कि यह छूट मानवी निर्बलता का ही परिणाम है।

तो भी अहिंसा और हिंसा-सम्बन्धी विश्वासों में उतना ही अन्तर है, जितना कि उत्तर दिशा में और दक्षिण दिशा में है। अथवा जितना अन्तर जीवन और मृत्यु के बीच में है। मनुष्य जब अहिंसा अर्थात् प्रेमधर्म के समुद्र में अपने भाग्य की नौका छोड़ देता है तो उतने अंश में जीवन और प्रेम का क्षेत्र बढ़ाता जाता है; जो मनुष्य हिंसा अर्थत् द्वेष का आलिंगन करता है, वह क्षण-क्षण अपने विनाश का क्षेत्र विस्तृत करता जाता है और उतने अंश में मृत्यु तथा घृणा को बढ़ाता है।

यद्यपि बोरसद-वासियों के समक्ष मैंने अपने सहोदरवत् चूहों और पिस्सुओं के विनाश का समर्थन किया तो भी मैंने उन्हें जीवमात्र के प्रति अमर प्रेम का महान् सिद्धान्त शुद्ध रूप में बतलाया। यद्यपि इस जन्म में उस सिद्धान्त का पालन मैं पूर्णतया नहीं कर सकता, तो भी उस पर मेरी अटल श्रद्धा तो रहेगी ही। मेरी प्रत्येक असफलता मुझे उसके साक्षात्कार के अधिक से अधिक समीप ले जाती है। —ह० ज०। ह० से० २८।५।१९३५]

१०. गांधी-मन्दिर

एक भाई ने मुझे अखबार की एक कतरन भेजी है। उसमें खबर है कि मेरे नाम का एक मन्दिर बनवाया गया है। और उसमें मेरी मूर्ति की पूजा की जाती है। इसे मैं मूर्तिपूजा का बेढंगा रूप मानता हूँ। जिसने यह मन्दिर बनवाया, उसने अपने पैसे बरबाद किये, गांव के भोले लोगों को गलत रास्ता दिखाया और मेरे जीवन का गलत खाका खींचकर मेरा अपमान किया। इससे पूजा का अर्थ सिद्ध नहीं होता, उलटे अनर्थ होता है।...तोते की तरह गीता का पारायण करने के बदले उसके उपदेश के अनुसार आचरण करना सच्ची गीता-पूजा है। गीतापाठ भी उसी सीमा तक उचित माना जायगा, जिस सीमा तक वह गीता के उपदेश के अनुसार आचरण करने में सहायक हो। मनुष्य की कमजोरी का नहीं बल्कि उसके गुणों का अनुकरण ही उसकी सच्ची पूजा है। जीवित व्यक्ति की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करने से हम हिन्दू-धर्म को पतन की आखिरी पीढ़ी पर पहुँचा देते हैं। मौत से पहिले किसी आदमी को पूरी तरह अच्छा नहीं कहा जा सकता, और मौत के बाद भी जिसे उस आदमी में आरोपित गुणों में विश्वास होगा, वही उसे अच्छा कहेगा। सच तो यह है कि केवल एक ईश्वर ही मनुष्य के हृदय को जानता है। इसलिए किसी जीवित या मृत व्यक्ति को पूजने के बदले, जो पूर्ण है और सत्य-स्वरूप है, उस ईश्वर को पूजने और उसी का भजन करने में सुरक्षा है। यहां यह सवाल जरूर उठ सकता है कि फोटो रखना भी पूजा का ही एक प्रकार है या नहीं? इसके बारे में मैं पहिले लिख चुका हूँ। फोटो रखने का रिवाज भी खर्चीला तो है, मगर उसे निर्दोष समझ कर मैं अब तक उसको बर्दाश्त करता आया हूँ। अगर उसकी वजह से मैं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से मूर्तिपूजा को तनिक भी बढ़ावा देता होऊं, तो उसे भी हास्यास्पद और हानिकारक समझकर छोड़ दूंगा। मन्दिर के मालिक मूर्ति को हटाकर उस मकान में खादी का केन्द्र खोलें, तो वह सब तरह इष्ट होगा और फिलहाल जो पाप वह कर रहे हैं उससे

वच जायेंगे। उस मकान में ग़रीब लोग मजदूरी के लिए धुनें और कातें। दूसरे यज्ञ के लिये धुनें और कातें। सब खादी पहनने लगें। यही गीता का कर्मयोग है। जीवन में इसका आचरण करने से गीता की और मेरी सच्ची पूजा की जा सकेगी। दूसरी पूजा हानिकारक है इसलिए छोड़ने योग्य है।
—बम्बई, १५।३।१९४६। ह० व०। ह० से० २४।३।१९४६]

११. ईश्वर व्यक्ति है या शक्ति ?

एक दोस्त बड़ौदा से अंग्रेजी में लिखते हैं :—

"आप हमें भगवान से यह प्रार्थना करने के लिए कहते हैं कि वह दक्षिण अफ्रीका के गोरों को सद्‌बुद्धि दे और वहां के हिन्दुस्तानियों को अपने लक्ष्य पर डटे रहने का साहस और शक्ति दे। इस तरह की प्रार्थना तो किसी व्यक्ति से ही की जा सकती है। अगर भगवान् सर्वव्यापी और सबसे बड़ी शक्ति है, तो उससे प्रार्थना करने से क्या लाभ? वह तो अपना काम करता ही रहता है।"

इस विषय पर मैं पहिले लिख चुका हूं। लेकिन किसी-न-किसी भाषा में यह सवाल वार-वार दुहराया जाता है। इसलिए इसको और अधिक समझाने से, सम्भव है किसी को सहायता मिले। मेरे विचार से राम, रहमान, अहुरमज्द, ईश्वर या कृष्ण ये सब मनुष्य के रखे हुए उसी एक शक्ति के नाम हैं, जो सबसे बड़ी है। अधूरा होते हुए भी आदमी पूर्णता के लिए लगातार कोशिश करे, यह उसके लिए सहज वात है। इस कोशिश में वह खयाली-पुलाव भी पकाने लगता है। और, जिस तरह एक वच्चा उठने की कोशिश करता है, वार-वार गिरता है और आखिरकार चलना सीख जाता है, उसी तरह आदमी, अपनी सारी बुद्धि के वावजूद, अनादि और अनन्त ईश्वर की तुलना में एक वच्चा ही है। ऊपर से यह वात वेसिर-पैर की लगे, लेकिन वस्तुतः वह बिल्कुल सच है। आदमी अपनी टूटी-फूटी भाषा में ही ईश्वर का वखान कर सकता है। सच पूछा जाय तो उस शक्ति का, जिसे हम ईश्वर कहते हैं, वखान नहीं किया जा सकता, न उस शक्ति को आदमी से अपना वखान कराने की कोई ज़रूरत है। आदमी को कोई ऐसा साधन चाहिए, जिससे वह समुद्र से भी बड़ी उस शक्ति का वखान कर सके। अगर यह तर्क ठीक है, तो यह पूछना ज़रूरी नहीं कि हम उसकी प्रार्थना क्यों करें? आदमी अपनी वुद्धि के दायरे में ही ईश्वर की कल्पना कर सकता है। अगर ईश्वर समुद्र के समान बड़ा और निस्सीम है, तो आदमी-जैसी एक छोटी-सी बूंद उसकी कल्पना कैसे कर सकती है? समुद्र में डूबकर ही आदमी उसकी जान-

कारी पा सकता है। लेकिन यह अनुभव वर्णन के वाहर की वात है। मैडम ब्लावाट्स्की की भाषा में प्रार्थना में मनुष्य अपनी महान् शक्ति की ही पूजा करता है। सच्ची प्रार्थना वही कर सकता है, जिसे यह विश्वास हो कि ईश्वर उसके अन्दर मौजूद है। जिसे यह विश्वास नहीं, उसे प्रार्थना करने की ज़रूरत नहीं। भगवान उससे नाराज़ न होगा। लेकिन मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव से यह कह सकता हूँ कि जो प्रार्थना नहीं करता, वह घाटे में रहता है। ऐसी स्थिति में यह सवाल तो उठता ही नहीं कि एक आदमी ईश्वर को व्यक्ति मानकर उसकी पूजा करता है और दूसरा उसे शक्ति मानकर पूजता है। दोनों अपनी-अपनी दृष्टि से ठीक ही करते हैं। यह कोई नहीं जानता, शायद कभी जान भी न सके, कि प्रार्थना करने का सबसे अच्छा तरीक़ा क्या है? आदर्श हमेशा आदर्श ही वना रहेगा। हमें सिर्फ यही याद रखना चाहिए कि ईश्वर सारी शक्तियों की एक शक्ति है। दूसरी सब शक्तियां जड़ हैं। लेकिन ईश्वर एक जीती-जागती शक्ति या स्पिरिट है जो सब जगह मौजूद है, सबको अपने में समाहित किये हुए है और, इसलिए आदमी की समझ से परे है।

—सेवाग्राम, ९।८।१९४६। ह० व०। ह० से० २५।८।१९४६]

● प्रार्थना में मनुष्य अपनी महान् शक्ति की ही पूजा करता है।

१२. सच्चा डाक्टर राम ही है

नोआखाली में आमकी नाम का एक गांव है। वहां वापू जी के लिए वकरी का दूध कहीं न मिल सका। सव तरफ तलाश करते-करते जव मैं थक गई, तव आखिर मैंने वापू को यह वात वताई। वापू जी कहने लगे : तो इससे क्या हुआ? नारियल का दूध वकरी के दूध की जगह अच्छी तरह काम दे सकता है। और वकरी के घी के वजाय हम नारियल का ताजा तेल निकालकर खायेंगे।

इसके वाद नारियल का दूध और तेल निकालने का तरीका वापू ने मुझे वताया। मैंने निकालकर उन्हें दिया। वापू जी वकरी का दूध हमेशा आठ औंस लेते थे, उसी तरह नारियल का दूध भी आठ औंस लिया। लेकिन हजम करने में वहुत भारी पड़ा और उससे उन्हें दस्त होने लगे। इससे शाम तक वापू को इतनी कमज़ोरी आ गई कि वाहर से झोपड़ी में आते-आते उन्हें चक्कर आ गये।

जव-जव वापू को चक्कर आने वाले होते, तव-तव उनके चिह्न पहिले ही दिखाई देने लगते थे। उन्हें वहुत ज्यादा जंभाइयां आतीं, पसीना आता, और कभी-कभी वे आंखें भी फेर लेते थे। इस तरह उनके जंभाइयां लेने से चक्कर आने

की सूचना तो मुझे पहिले ही मिल चुकी थी। मगर मैं सोच रही थी कि अब विछौना चार ही फुट तो रहा, वहां तक तो वापू जी पहुँच ही जायेंगे। लेकिन मेरा अन्दाज गलत निकला। और मेरे सहारे चलते-चलते ही वापू जी लड़खड़ाने लगे। मैंने सावधानी से उनका सिर सम्हाल रखा और निर्मल[1] वावू को जोर से पुकारा। वह आये और हम दोनों ने मिलकर उन्हें विछौने पर सुला दिया। फिर मैंने सोचा—कहीं वापू ज्यादा वीमार हो गये, तो लोग मुझे मूर्ख कहेंगे। पास के देहात में ही सुशीला वहिन हैं। उन्हें न वुलवा लूं। मैंने चिट्ठी लिखी और भिजवाने के लिए निर्मलवावू के हाथ में दी ही थी कि इतने में वापू को होश आया और उन्होंने मुझे पुकारा, मनुड़ी। (वापू जी जव लाड़ से वुलाते थे, तो मुझे मनुड़ी कहते थे) मैं पास गई तो कहने लगे—तुमने निर्मल वावू को आवाज लगाकर वुलाया, यह मुझे विलकुल नहीं रुचा। तुम अभी वच्ची हो, इसलिए मैं तुम्हें माफ तो कर सकता हूँ। परन्तु तुमसे मेरी उम्मीद तो यही है कि तुम और कुछ न करके सिर्फ सच्चे दिल से रामनाम लेती रहो। मैं अपने मन में तो रामनाम ले ही रहा था। पर तुम भी निर्मलवावू को वुलाने के वजाय रामनाम शुरू कर देतीं, तो मुझे वहुत अच्छा लगता। अव देखो यह वात सुशीला से न कहना, और न उसे चिट्ठी लिखकर वुलाना। क्योंकि मेरा सच्चा डाक्टर तो राम ही है। जहां तक उसे मुझसे काम लेना होगा, वहां तक मुझे जिलायेगा और नहीं तो उठा लेगा।

'सुशीला को न वुलाना' यह सुनते ही मैं कांप उठी और मैंने तुरन्त निर्मल-वावू के हाथ से चिट्ठी छीन ली। चिट्ठी फट गई। वापू ने पूछा—"क्यों, तुमने चिट्ठी लिख भी डाली थी न?" मैंने लाचारी से मंजूर किया। तव कहने लगे—"आज तुम्हें और मुझे ईश्वर ने वचा लिया। यह चिट्ठी पढ़कर सुशीला अपना काम छोड़कर मेरे पास दौड़ी आती, वह मुझे विल्कुल पसन्द न आता। मुझे तुमसे और अपने आप से चिढ़ होती। आज मेरी कसौटी हुई। अगर राम-नाम का मन्त्र मेरे दिल में पूरा-पूरा रम जायगा, तो मैं कभी वीमार होकर नहीं मरूंगा। यह नियम सिर्फ मेरे लिए ही नहीं, सवके लिए है। हरएक आदमी को अपनी भूल का नतीजा भोगना ही पड़ता है। मुझे जो दुःख भोगना पड़ा, वह मेरी भूल का ही परिणाम होगा। फिर भी आखिरी दम तक राम-नाम का ही

---

१. नोआखाली-यात्रा के दौरान गांधी जी के सहायक श्री निर्मलकुमार वसु। इन्होंने गांधी जी की ऐतिहासिक यात्रा पर संस्मरण-कृति 'माई डेज विद गांधी' लिखी है।

स्मरण होना चाहिए। वह भी तोते की तरह नहीं, बल्कि सच्चे दिल से लिया जाना चाहिए। रामायण में एक कथा है कि हनुमान जी को जब सीता जी ने मोती की माला दी, तो उन्होंने उसे तोड़ डाला, क्योंकि उन्हें देखना था कि उसमें राम का नाम है या नहीं। यह बात सच है या नहीं, उसकी फिक्र हम क्यों करें? हमें तो इतना ही सीखना है कि हनुमान जी-जैसा पहाड़ी शरीर हम अपना न भी बना सकें, फिर भी उनके जैसी आत्मा तो जरूर बना सकते हैं। इस उदाहरण को यदि आदमी चाहे तो सिद्ध कर सकता है। हो सकता है कि वह न भी सिद्ध कर पाये। लेकिन यदि सिद्ध करने की कोशिश ही करे, तो भी काफी है। गीता माता ने कहा ही है कि मनुष्य को कोशिश करनी चाहिए और फल ईश्वर के हाथ में छोड़ देना चाहिए। इसलिए तुम्हें, मुझे और सबको कोशिश तो करनी ही चाहिए। अब तुम समझी न कि मेरी, तुम्हारी या किसी की बीमारी के विषय में मेरी क्या धारणा है?"

उसी दिन एक बीमार बहिन को पत्र लिखते हुए भी बापू ने यही बात लिखी—संसार में अगर कोई अचूक दवाई हो तो वह रामनाम है। इस नाम के रटनेवालों को इसका अधिकार प्राप्त करने के लिए जिन-जिन नियमों का पालन करना चाहिए, उन सबका वे पालन करें। मगर यह रामबाण इलाज करने की हम सब में योग्यता कहां है?

(मेरी रोज की नोआखाली की डायरी से)

ऊपर की घटना ३० जनवरी, १९४७ के दिन घटी थी। बापू की मृत्यु से ठीक एक साल पहिले।

रामनाम पर उनकी यह श्रद्धा आखिरी क्षण तब अचल रही। १९४७ की ३०वीं जनवरी को यह मधुर घटना घटी, और १९४८ की ३०वीं जनवरी को बापू ने मुझसे कहा कि आखिरी दम तक हमें रामनाम रटते रहना चाहिए। इस तरह आखिर वक्त भी दो बार बापू के मुंह से रा...म। रा...म। सुनना मेरे ही भाग्य में बदा होगा, इसकी मुझे क्या कल्पना थी? ईश्वर की गति कैसी गहन है।

—३०।१।१९४७ 'बापू मेरी मां' से लेखिका—श्रीमनु बहिन]

१३. राम! राम!

[गोस्वामी तुलसीदास की उक्ति है, 'जनम जनम मुनि जतन कराहीं, अन्त राम कहि आवत नाहीं।' मृत्यु के समय एकनिष्ठ, दृढ़ भाव से नामोच्चारण

व्यक्ति के जीवन में तपस्या और उसके मरणोपरान्त मुक्ति का परिचायक है। ३० जनवरी १९४८ की संध्या को गांधी जी के बलिदान का यह मर्मस्पर्शी विवरण, उनकी धर्म-श्रद्धा की साक्षी है।—सम्पा०]

जब गांधी जी प्रार्थना-सभा के बीच से रस्सियों से घिरे रास्ते में चलने लगे तो उन्होंने प्रार्थना में शामिल होने वाले लोगों के नमस्कारों का जवाब देने के लिए लड़कियों के कन्धों से अपने हाथ उठा लिये। एकाएक भीड़ में से कोई दाहिनी ओर से भीड़ को चीरता हुआ उस रास्ते पर आया। छोटी मनु ने यह सोचा कि वह आदमी बापू के पांव छूने को आगे बढ़ रहा है। इसलिए उसने उसे ऐसा करने के लिए झिड़का, क्योंकि प्रार्थना के लिए पहिले ही देर हो चुकी थी। उसने रास्ते में आनेवाले आदमी का हाथ पकड़ कर उसे रोकने की कोशिश की। लेकिन उसने जोर से मनु को धक्का दिया, जिससे उसके हाथ की आश्रम-भजनावली, माला और बापू का पीकदान नीचे गिर गये। ज्योंही वह बिखरी हुई चीज़ों को उठाने के लिए झुकी, वह आदमी बापू के सामने खड़ा हो गया—इतना नजदीक खड़ा था कि पिस्तौल से निकली हुई गोली का खोल बाद में बापू के कपड़ों की पर्त में उलझा हुआ मिला। सात कारतूसों वाली आटोमेटिक पिस्तौल से जल्दी-जल्दी तीन गोलियां छूटीं। पहिली गोली नाभि से ढाई इंच ऊपर और मध्य रेखा से साढ़े तीन इंच दाहिनी तरफ पेट की दाहनी बाजू में लगी। दूसरी गोली मध्यरेखा से एक इंच की दूरी पर दाहिनी तरफ घुसी और तीसरी गोली छाती की दाहिनी तरफ लगी। पहिली और दूसरी गोली शरीर को पार करके पीठ पर बाहर निकल आई। तीसरी गोली उनके फेफड़े में ही रुकी रही। पहिले वार में उनका पांव, जो गोली लगने के वक्त आगे बढ़ रहा था, नीचे आ गया। दूसरी गोली छोड़ी गई, तब तक वे अपने पांवों पर ही खड़े थे। और उसके बाद वे गिर गये। उनके मुंह से आखिरी शब्द 'राम! राम!' निकले।

—ह० से० १५।२।१९४८]

१४. बापू का जीवन-सार

[श्री बलवन्त सिंह गांधी जी के निकटस्थ अनुयायी और आश्रमवासी रहे हैं। उन्होंने अपनी संस्मरण-कृति 'बापू की छाया में' लिखी है, जिसके उपसंहार में उन्होंने गांधी जी को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके जीवन-दर्शन की व्याख्या की है। यह महत्वपूर्ण अंश प्रस्तुत किया जा रहा है।—सम्पा०]

मैं काफी लिख गया तो भी मेरा हृदय बापू जी के सत्संग के और अपने २५ वर्ष के आश्रम-जीवन के संस्मरणों से अभी और छलाछल भरा हुआ है, जिन्हें लेखनी-बद्ध करना कठिन है। इस संस्मरणों के जरिये बापू जी के पावन चरित्र का महज एक छोटा सा अंग ही स्पर्श हुआ है। उनका चरित्र इतना महान और इतना विशाल था कि मेरा यह प्रयास कुछ-कुछ उस हाथी जैसी बात सिद्ध होगा, जिसे अनेक अन्धों ने स्पर्श-द्वारा पहिचान कर अनेक भिन्न-भिन्न आकृतियों का बताया था। अपने-अपने कथन में सब सच्चे थे, लेकिन पूर्ण सत्य से सब कितने दूर थे।

मैं नहीं जानता मेरा यह अल्प-सा प्रयास पाठकों के लिए कितना उपयोगी सिद्ध होगा। परन्तु स्वयं अपने लिए कहूं तो इन पंक्तियों को लिखते हुए मुझे भगवत् नामस्मरण के पावन प्रभाव का सच्चा महत्व समझ में आया है। कहा जा सकता है कि इस प्रयास में मानसिक जप और ध्यान की महिमा की झाँकी भी मुझे हुई है। व्यास भगवान को श्रीमद्भागवत लिखकर जैसी शान्ति का अनुभव हुआ था, वैसी ही शान्ति का अनुभव मुझे बापू जी के इन पवित्र और मधुर संस्मरणों को लिखकर हुआ है। इस प्रयत्न में अपने आध्यात्मिक पिता बापू जी के बहुत बड़े ऋण से यत्किंचित् उऋण होने का सन्तोष भी मेरी आत्मा को हुआ है, जिनका हृदय राम के निवास के योग्य था, जो राममय थे। यह वस्तु उनके जीवन और मृत्यु से सिद्ध हो चुकी है। बापू जी के जीवन का सार हमें इन पंक्तियों में मिलता है।

> काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
> जिनके कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया॥
> सबके प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रशंसा गारी॥
> कहहिं सत्य प्रिय वचन विचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥
> तुम्हहि छोड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन के मन माहीं॥
> जननी सम जानहिं परनारी। धनु पराव विष तें विष भारी॥
> जे हरषहिं पर सम्पति देखी। दुखित होहिं पर विपति विसेखी॥
> जिनहि राम तुम प्रानपिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे॥

इन संस्मरणों को लिखते समय जहां आध्यात्मिक आनन्द और आध्यात्मिक खुराक मिली है, वहां मैं बापू जी के प्यार और ममता का स्मरण करके रोया भी खूब हूँ। मुझे तो ऐसा ही प्रतीत होता है :

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहार शय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥

ये सब अपराध मैंने बापू जी के साथ के अपने व्यवहार में अज्ञानवश किये थे जिसके लिए मेरा हृदय निरन्तर बापू से क्षमा-याचना करता ही रहता है।

अधिक क्या कहूं? जड़ चेतन गुणदोष मय, विश्व कीन्ह करतार। संत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥ इस नियम के अनुसार मेरे आत्मवत् पाठक वृन्द मेरे दोषों की तरफ ध्यान न देकर इसमें से बापू जी के गुणरूपी दूध को ग्रहण करके सन्तोष मानेंगे। और मेरी त्रुटियों के लिए मुझे उदारतापूर्वक क्षमा करेंगे।

जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥

१५. गांधी जी के समय आश्रम-प्रार्थना

नं म्यो हो रें गे क्यों।
नं म्यो हो रें गे क्यों।
नं म्यो हो रें गे क्यों।
नं म्यों हो रें गे क्यों।

नित्यपाठ

हरि: ॐ।

ईशावास्यं इदम् सर्वम् यत् किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा: मा गृध: कस्यस्विद् धनम्॥

प्रात:स्मरणम्

प्रात: स्मरामि हृदि संस्फुरद् आत्मतत्वम्।
सत् - चित्-सुखं परमहंस-गतिं तुरीयम्।
यत् स्वप्न-जागर-सुषुप्तम् अवैति नित्यम्
तद् ब्रह्म निष्कलम् अहं न च भूत-संघ:॥१॥
प्रातर् भजामि मनसो वचसाम् अगम्यम्
वाचो विभान्ति निखिला यद् अनुग्रहेण।
यन् नेति नेति वचनैर् निगमा अवोचुस्
तं देव-देवम् अजम् अच्युतम् आहुर् अग्र्यम्॥२॥

प्रातर् नमामि तमसः परम् अर्कवर्णम्
पूर्णं सनातन-पदं पुरुषोत्तमाख्यम्।
यस्मिन् इदम् जगद् अशेषम् अशेषमूर्त्तौ
रज्ज्वां भुजंगम इव प्रतिभासितं वै ॥३॥

समुद्रवसने ! देवि ! पर्वत - स्तन- मण्डले।
विष्णु-पत्नि ! नमस् तुभ्यम् पादस्पर्श क्षमस्व मे ॥४॥

या कुन्देन्दु-तुषार-हार-धवला या शुभ्र-वस्त्रावृता
या वीणा-वरदण्ड-मण्डित-करा या श्वेतपद्मासना।
या ब्रह्माच्युत-शंकर-प्रभतिभिर् देवैः सदा वंदिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥५॥

वक्रतुण्ड ! महाकाय ! सूर्य-कोटि-सम-प्रभ।
निर्विघ्नं कुरु मे देव ! शुभ-कार्येषु सर्वदा ॥६॥

गुरुर् ब्रह्मा, गुरुर् विष्णुर्, गुरुर् देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥८॥

शान्ताकारं भुजग-शयनं पद्मनाभं सुरेशम्।
विश्वाधारं गगन-सदृशं मेघवर्णं शुभांगम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर् ध्यान-गम्यम्।
वन्दे विष्णुं भव-भय हरं सर्वलोकैकनाथम् ॥८॥

करचरणकृतं वाक्कायजं कर्मजं वा
श्रवणनयनजं वा मानसं वापराधम्।
विहितम् अविहितं वा सर्वम् एतत् क्षमस्व
जय जय करुणाब्धे ! श्री महादेव ! शम्भो ! ॥९॥

नत्वहं कामये राज्यम् न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःख-तप्तानाम् प्राणिनाम् आर्तिनाशनम् ॥१०॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्ताम्
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः।
गो-ब्राह्मणेभ्यः शुभम् अस्तु नित्यम्।
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥११॥

नमस् ते सते ते जगत्कारणाय
नमस् ते चिते सर्वलोकाश्रयाय ॥
नमो द्वैत-तत्वाय मुक्तिप्रदाय
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ॥१२॥

त्वम् एकं शरण्यं त्वम् एकं वरेण्यम्
त्वम् एकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम्।
त्वम् एकं जगत् कर्तृ-पातृ-प्रहर्तृ
त्वम् एकं परं निश्चलं निर्विकल्पम्॥१३॥
भयानां भयं भीषणं भीषणानाम्
गतिः प्राणिनां, पावनं पावनानाम्।
महोच्चैः पदानां नियंतृ त्वम् एकम्
परेषां परं, रक्षणं रक्षणानाम्॥१४॥
वयं त्वां स्मरामो, वयं त्वां भजामो
वयं त्वां जगत्-साक्षि-रूपं नमामः।
सद् एकं निधानं निरालम्वम् ईशम्
भवाम्भोधि-पोतं शरण्यं व्रजामः॥१५॥

एकादश व्रत

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह।
शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन॥
सर्वधर्मी समानत्व, स्वदेशी, स्पर्शभावना।
हीं एकादश सेवावीं नम्रत्वे व्रतनिश्चये॥

कुरान से प्रार्थना

अऊजु विल्लाहि मिनश् शैत्वानिर् रजीम्
विस्मिल्लाहिर् रहमानिर् रहीम।
अल् हम्दु लिल्लाहि रव्वुल् आलमीन।
अर् रहमानिर् रहीम, मालिके यौमिद् दीन।
ईयाक न अवुदु व ईयाक नस्तईन।
इहिदिनसु सिरातल् मुस्तक़ीम।
सिरातल् लज़ीन् अन् अम्त अलैहिम,
गैरिल् मग ज़ूवे अलैहिम वल्लज्जु आललीन॥
विस्मिल्लाहिर् रहमानिर् रहीम। आमीन
क़ुल हुवल्लाहु अहद्। अल्लाहुस्समद्।

लम् यलिद्, वलम्, यूलद्,
वलम् यकुल्लुहू कुफ़वन् अहद ॥

जरथोस्त्री गाथा

(पारसी प्रार्थना)

मज़दा अत मोइ वहिश्ता
स्रवा ओस्वा श्योथनाचाव ओचा।
ता-तू वहू मनंघहा
अशाचा इषुदेव स्तुतो
क्षमा का श्रश्रा अहूरा फेरषेम
वस्ना श्येम् दाओ अहूम् ॥

(नोट : इसके बाद भजन, धुन और साप्ताहिक गीता-पारायण होता था)

सायंकाल की प्रार्थना

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदैर् गयन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥

स्थितप्रज्ञ-लक्षणानि

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किम् आसीत व्रजेत किम् ॥१॥

श्री भगवान् उवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ ! मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञम् तदोच्यते ॥२॥
दुःखेष्वनुद्विग्न-मनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीत-राग-भय-क्रोधः स्थितधीर् मुनिर् उच्यते ॥३॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस् तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥४॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस् तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥६॥
यततो ह्यपि कौन्तेय! पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥७॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥८॥
ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस् तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥९॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृति-विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥१०॥
राग-द्वेष-वियुक्तैस् तु विषयान् इन्द्रियैश् चरन्।
आत्मवश्यैर् विधेयात्मा प्रसादम् अधिगच्छति ॥११॥
प्रसादे सर्वदुःखानाम् हानिर् अस्योपजायते।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥१२॥
नास्ति बुद्धिर् अयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिर् अशान्तस्य कुतः सुखम् ॥१३॥
इन्द्रियाणां हि चरताम् यन् मनो नुविधीयते।
तद् अस्य हरति प्रज्ञाम् वायुर् नावम् इवाम्भसि ॥१४॥
तस्माद् यस्य महाबाहो! निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस् तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥१५॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥१६॥
आपूर्यमाणम् अचल- प्रतिष्ठं
समुद्रम् आपः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिम् आप्नोति न कामकामी ॥१७॥
विहाय कामन् यः सर्वान् पुमांश् चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिम् अधिगच्छति ॥१८॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वा स्याम् अन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥१९॥

(भगवद्गीता, २:५४-७२)

(नोट: प्रार्थना के अन्त में भजन, धुन और रामायण का पाठ होता था।)

१६. स्त्रियों की प्रार्थना

गोविन्द, द्वारिकावासिन्, कृष्ण, गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥

हे केशव, हे द्वारिकावासी गोविन्द, हे गोपियों के प्रिय कृष्ण, कौरवों से—दुष्ट वासनाओं से—घिरी हुई मुझे तू कैसे नहीं जानता।

हे नाथ! हे रमानाथ! व्रजनाथार्तिनाशन्।
कौरवार्णवमग्नां माम् उद्धरस्व जनार्दन॥

हे नाथ, हे रमा के नाथ, व्रजनाथ, दुःखों का नाश करनेवाले जनार्दन! मेरा, कौरवरूपी समुद्र में डूबी हुई का, तू उद्धार कर।

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्ये वसीदतीम्॥

हे विश्वात्मा! विश्व के उत्पन्न करनेवाले महायोगी कृष्ण! कौरवों के बीच हताश बनी और तेरी शरण आई हुई मुझे बचा।

धर्मं चरत मा धर्मं; सत्यं वदत नानृतम्।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं, परं पश्यत् मा परम्।

अधर्म का नहीं, धर्म का आचरण करो; असत्य नहीं सत्य बोलो; छोटी नहीं, लम्बी दृष्टि रखो; नीची नहीं, ऊंची दृष्टि रखो।

अहिंसा सत्यम् अस्तेयम् शौचम् इन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मम् चातुर्वर्ण्ये ऽब्रवीन् मनुः॥

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्रता का पालन करना, इन्द्रियों को वश में रखना, मनु ने संक्षेप में चारों वर्णों का यह धर्म बताया है।

अहिंसा सत्यम् अस्तेयम् अकाम-क्रोध-लोभता।
भूत-प्रिय-हितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, विषयेच्छा न करना, क्रोध न करना, लोभ न करना, परन्तु संसार में प्राणियों का प्रिय और हित करना, यह सभी वर्णों का धर्म है।

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर् नित्यम् अद्वेष-रागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥

विद्वानों ने जिसका सेवन किया हो, सन्तों ने जिसका सेवन किया हो, राग-द्वेष से नित्य मुक्त वीतरागी पुरुषों ने जिसका सेवन किया हो और जिसको अपने हृदय ने स्वीकार किया हो, ऐसे धर्म को तू जान।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वम्, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

धर्म का रहस्य सुनो और सुनकर हृदय में उतारो। वह यह कि जो अपने लिए प्रतिकूल हो वह दूसरों के प्रति न करो।

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यद् उक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्॥

जो करोड़ों श्लोकों में कहा गया है वह मैं आधे श्लोक में कहूँगा। वह यह कि दूसरे पर उपकार करना पुण्य है और दूसरे को पीड़ा पहुँचाना ही पाप है।

आदित्य-चन्द्रौ अनिलोऽनलश्च
द्यौर् भूमिर् आपो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये
धर्मोपि जानाति नरस्य वृत्तम्॥

सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, पृथिवी, जल, हृदय, यम, दिन और रात, शाम और सुबह, और धर्म खुद मनुष्य का आचरण जानता है, इसलिए मनुष्य अपनी कोई चीज छिपा नहीं सकता।

१७. प्रेम-पन्थ

[कुमारी प्रेमा बहिन कंटक का नाम गांधी जी के अनुयायियों की अग्र पंक्ति में आता है। वे एक विदुषी महिला हैं, जिनका समस्त जीवन चिन्तन और उदात्त प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत है।

'प्रेम-पन्थ' शीर्षक महत्वपूर्ण लेख में कुमारी प्रेमा बहिन ने अनेक ऐसे संस्मरणों, प्रसंगों की झांकी प्रस्तुत की है, जो गांधी जी के आध्यात्मिक प्रभाव का आकलन करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यहां हम इस महत्वपूर्ण लेख के कुछ अंश प्रस्तुत कर रहे हैं।—सम्पा०]

प्रेमपन्थ पावकनी ज्वाला, भाली पाछा भागे जोने,
मांही पड्या ते महासुख माणे, देखनारा दाझे जोने।
हरिनो मारग छे शूरानो[1]॥

मेरे जीवन में प्रार्थना ने बहुत बड़ा अभिनय किया है। मैं बिल्कुल बच्ची थी तब मुझे किसी ने व्यक्तिगत या सार्वजनिक प्रार्थना के बारे कुछ कहा हो या संस्कार दिये हों, ऐसा मुझे याद नहीं है। लेकिन ननसाल में मैं रहती थी तब मेरे नाना कभी-कभी पोथी पढ़कर सुनाते थे। उनकी कथाएँ मैं सुनती थी। छोटी या बड़ी सभी आयु के भक्तों को भगवान संकट से बचाते हैं, ऐसे किस्से अनेक बार सुनने से मेरे मन में श्रद्धा जागी और यह विश्वास पैदा हुआ कि उन भक्तों की तरह मैं भी भगवान से प्रार्थना करूं तो वह मेरी भी सहायता करेगा। बाद में मैंने इसका अनुभव किया। बचपन में संकट भला कितने बड़े हो सकते हैं। फिर भी समय-समय पर उन दिनों की मेरी भावना के अनुसार मुझे जब परिस्थिति संकट-भरी लगती तब मैं चुपचाप मन में भगवान की करुणा के लिए याचना करती; पोथी में से सुने हुए भक्तों के करुण वचनों का उपयोग करती। संकट के प्रसंग ऐसे होते थे : बीमारी, परीक्षा, अंधेरे में जाने के प्रसंग, अच्छा न लगनेवाला काम, अनिच्छा से करने के प्रसंग, स्कूल जाते समय चिलबिले आदमियों-द्वारा सताये जाने के प्रसंग। लेकिन अनुभव ऐसा हुआ कि प्रार्थना से या तो संकट दूर हो जाते हैं, या मदद अथवा बल मिलता है। इसलिए मेरी श्रद्धा बढ़ती ही गई।

पूज्य महात्मा जी के आश्रम में जाकर साधना करने की मेरी इच्छा सब तरह से अनुकूलता प्राप्त करके आखिर में सफल हुई। यह भी प्रार्थना का ही फल है, ऐसी मेरी श्रद्धा है। वहां चारेक वर्ष बिताने के बाद और जेल में ग्यारह महीने रहने के बाद फिर निर्णय की मुसीबत आकर खड़ी हुई तब भी प्रार्थना काम आई। जेल से छूटने के पहिले भविष्य के मार्गदर्शन के लिए भगवान से प्रार्थना की, तब उसकी कृपा से वह काम सरल हो गया।

---

१. अर्थ : प्रेम का मार्ग आग की ज्वाला के समान है। लोग उसे देख कर वापस भाग जाते हैं। जो उसके भीतर प्रवेश करते हैं, वे महासुख भोगते हैं। और बाहर से देखनेवाले जल जाते हैं। हरि का मार्ग शूरों का है।

प्रार्थना के साथ मेरे जीवन से जुड़ी हुई एक गूढ़ घटना सूचक स्वप्नों की है। बुद्धिनिष्ठ विद्वान् इसे हँसकर टाल देंगे। लेकिन मैं तो अपने अनुभव के आधार पर कहती हूँ। जब-जब मेरे जीवन में कोई खास परिवर्तन होने का समय आया है; अथवा मार्गदर्शन की अपेक्षा होती है; अथवा अपेक्षा न होने पर भी मेरे हाथ से कोई काम होने की अपेक्षा नियति रखती है, तब-तब मुझे सूचक स्वप्न आये हैं। सत्याग्रह आश्रम में आने के बाद मुझे एक ऐसा स्वप्न आया था, जिसका स्पष्टीकरण पूज्य महात्मा जी ने अपने ढंग से किया था। सासवड़[1] आने के बाद फिर से (वह) स्वप्न आया।

सासवड़ आने के बाद मेरे मन में दो विचार-प्रवाह बहने लगे। एक मन में ऐसी चिन्ता बनी रहती थी कि जिस क्षेत्र में अभी तक कोई कार्य नहीं हुआ है उसमें नया प्रयोग करते समय ज्ञान और अनुभव न होने से कार्य-शक्ति में उतनी कमी रहेगी। साथी नये, क्षेत्र नया, अपनी बुद्धि तथा शक्ति के माप का कोई अन्दाज नहीं। इसके सिवा यहां का वातावरण भी सत्याग्रह-आश्रम के वातावरण से मिलता नहीं था। महाराष्ट्र में रचनात्मक कार्यकर्त्ता भी राजनीति में पूरा रस लेते हैं। विद्वत्ता को प्रथम आदर मिलता है और चर्चा तथा वाद-विवाद पूरे जोश से चलते हैं। दो महाराष्ट्री मिले कि वाद-विवाद आरम्भ हुआ ही समझिए। ये सब बातें मेरे स्वभाव के विरुद्ध थीं। इस वातावरण में अपने ढंग का सेवा-कार्य कैसे होगा इसकी चिन्ता मन में बनी रहती थी।

दूसरा विचार पूज्य महात्मा जी के बारे में था। सत्याग्रह-आश्रम में थी, तब वे भले ही दूर रहें तो भी पास ही लगते थे। पत्रव्यवहार-द्वारा उनके साथ सान्निध्य कायम रहता था। बीच-बीच में मिलना भी हो जाता था; उनके साथ रहने का अवसर भी मिलता था। अब मैं दूर आ पड़ी थी। वह भी बहुत दूर थे। पत्र-व्यवहार नियमित चलेगा या नहीं, उनके मन में मेरा स्थान रहेगा या नहीं, ऐसी-ऐसी चिन्ताएं मन में हुआ करती थीं। सूर्यमाला में अपने कक्ष में घूमने वाले ग्रह जिस प्रकार सूर्य से प्रकाश और शक्ति प्राप्त करते हैं, वैसे ही दूर रहते हुए भी पूज्य महात्माजी से स्नेह, सहानुभूति तथा बल प्राप्त करने की आशा मैं रखती थी। इस प्रकार दो तरह की चिन्ताओं में मन व्यग्र हो गया था। और भविष्य अन्धकारमय लगता था।

ऐसी स्थिति में रात को यह स्वप्न आया:—

मैंने देखा कि एक विशाल मैदान में मैं बैठी हूँ। मैदान इतना विस्तीर्ण था कि दूर गोल घूमता हुआ आकाश क्षितिज के पास उससे मिलता हुआ दिखाई

---

१. सासवड़ महाराष्ट्र में एक स्थान है जहां आश्रम है।

देता था। पेड़, मकान, रास्ता कुछ भी नहीं दीखता था। मनुष्य भी नहीं थे। सर्वत्र हरी घास उगी हुई थी और मैदान में मध्यविन्दु के रूप में एक कुर्सी पर मैं वैठी हुई थी। थी तो अकेली ही, लेकिन ऐसी प्रतीति होती थी कि मेरे पीछे ही एक व्यक्ति खड़ा है। मुझे वह व्यक्ति दिखाई नहीं पड़ता था, दृष्टि से ओझल था, लेकिन वह पुरुष था, मेरा रक्षक कहो या तारनहार कहो, लेकिन वह साथ देनेवाला था, इस वारे में मुझे शंका नहीं थी। इस स्थिति में मैं वैठी थी तभी अचानक सामने से चार-पाँच सुन्दर वालक, सुन्दर पोशाक पहने हुए, हाथ में फूलों के गुच्छे लिए दौड़ते आये और पास आकर उन्होंने वे गुच्छे मुझे दे दिये। मैं उनके साथ वातें करने लगी, इतने में वैसे ही दूसरे वच्चे दौड़ते हुए आये और उन्होंने भी मुझे गुच्छे दिये। इसी तरह वालकों के झुण्ड वहां आते गये और सभी मुझे गुच्छे देने लगे। आखिर में वालक ठहर गये और चारों दिशाओं से और ऊपर आसमान से पुष्पगुच्छोंकी वृष्टि मेरे ऊपरहोने लगी,इससे मैंडरक गईऔरचौंककर नींदसेजागगई।

जागने के वाद स्वप्न का विचार आया। मैंने जाना कि स्वप्न में जो पुरुष मेरे पीछे अदृश्य रूप में खड़ा था वे पूज्य महात्मा जी ही थे। उनके आशीर्वाद मेरे साथ हमेशा से हैं, इसलिए उनका असर मेरे सेवाकार्य में दृश्य फल दिये विना नहीं रहेगा, --ऐसा विश्वास मन में दृढ़ हो गया।

यह स्वप्न मैंने पू० महात्मा जी को नहीं वताया, क्योंकि एक पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था कि सपनों को महत्व नहीं देना चाहिए। यहां मुझे एक सुख-संवाद याद आता है।

दाँडीकूच से पहिले पू० महात्मा जी का निवास सत्याग्रह-आश्रम में था, तव की यह घटना है। शायद लाहौर कांग्रेस से पहिले की हो। शाम की प्रार्थना के वाद पूज्य महात्मा जी हृदय-कुंज के आँगन में अपनी खाट पर वैठे थे। सामने वेंच पर दो अमेरिकन मित्र वैठे थे। उनमें से एक अमेरिका के लेखक श्री शेरवुड एड्डी थे, ऐसा स्मरण है। मैं पास खड़ी ध्यानपूर्वक उनकी वातें सुन रही थी। ऐसी मुलाकातों से मुझे वहुत सीखने को मिलता था।

वे लेखक पू० महात्मा जी से पूछ रहे थे, जव आपके सामने कोई कठिन समस्या खड़ी होती है, तव आप उसे किस तरह हल करते हैं? अर्थात् जव आपको मार्ग स्पष्ट नहीं दीखता तव आप क्या करते हैं?

पू० महात्मा जी वोले--"मैं घंटों तक उस पर विचार और मनन करता हूँ, और जव मुझे प्रकाश नहीं दीखता तव मैं कहता हूं कि, अभी इस वात को छोड़ो। और एक रात नींद निकाल लेता हूं। लेकिन सुवह मैं उठता हूं तो अचानक हल सामने आकर उपस्थित हो जाता है!"

लेखक ने पूछा:—"आपके कहने का क्या यह अर्थ है कि चमत्कार की तरह स्वप्न में आपको हल मिल जाता है?"

पूज्य महात्मा जी बोले:—"नहीं, चमत्कार नहीं। यह तो गणितज्ञ के जैसी बात है। वह घण्टों तक अपनी समस्या पर विचार करता रहता है। और खूब एकाग्रता और प्रयत्न के बाद एकाएक उसे उसका हल मिल जाता है और वह बोल उठता है: अहा, हल मिल गया। मेरे बारे में ठीक ऐसा ही है।"

श्री विनोबा जी से मैंने एक बार स्वप्नों के बारे में पूछा था। मेरी स्मरण-शक्ति ठीक काम करती हो तो मुझे स्वप्न आते ही नहीं, ऐसा उत्तर उन्होंने दिया था। अत: उनके लिए स्वप्न की बात विचार करने योग्य थी ही नहीं।

इस तरह इस युग के दो महान आध्यात्मिक शक्ति वाले पुरुषों के मत मैंने जान लिये। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभव से ही चलता है। मुझे स्वप्नों के सूचक और सच होने की प्रतीति कई बार हुई है। मेरे पिता जी कारबार में अचानक नींद में गुजर गये। उसी रात को लगभग उसी समय मुझे भयसूचक स्वप्न आया था। तब मैं सफर में थी। दो दिन बाद पूना पहुँची और तार मिला। और मुझे राजा दशरथ की मृत्यु के बारे में भरत को आये रामायण के स्वप्न का वर्णन याद आ गया।

दिसम्बर पूरा हुआ। जनवरी का महीना आया। चौदहवीं तारीख की संक्रांति थी। हमेशा की तरह मैंने पूज्य महात्मा जी को पत्र के साथ तिल-गुड़ भेजा। उसके बाद अखबारों में पढ़ा कि उन्होंने उपवास शुरू किया है। हृदय को एक आघात लगा। मन में डर पैदा हुआ कि इस संकट के समय में अहिंसा-मूर्ति की आहुति तो नहीं पड़ेगी। लेकिन मैंने देखा कि भारत का हृदय अविचल है, बलवान है। ऊपर दिखाई देने वाली हिंसा के पर्दे के नीचे पूज्य महात्मा जी के प्रति प्रेम और निष्ठा की तहें हैं। उनकी टेक को पूरा करके जनता ने आत्मा के प्रति द्रोह करने से इन्कार कर दिया है।

वातावरण कुछ पलटता-सा लगा। उपवास में अपमृत्यु टल गई। फिर बम-संकट से भी पूज्य महात्मा जी बच गये। मुझे लगा कि भगवान भक्तों के रक्षक हैं। हम व्यर्थ ही डरते थे। जितना महान पुरुष उतनी ही महान उसकी कसौटी। उसके लिए संकट भी महान ही आयंगे। महान संकटों में से पार हुए बिना महापुरुष की महानता भी कैसे सिद्ध हो सकती है? भगवान अपनी लीला दिखाते हैं। महात्मा जी की महानता तो शिखर पर पहुँच गई है, ऐसा कुछ मन को लगा और हृदय अत्यन्त प्रसन्न हो गया।

उस समय श्री शंकरराव जी कांग्रेस के महामंत्री थे। वे कांग्रेस संस्था में आई हुई शिथिलता को दूर करके उसको मजबूत बनाने का प्रयास कर रहे थे। वे सर्वोदय की बुनियाद पर देश में आर्थिक नियोजन का विचार रखते थे। इसलिए रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं का एक संघ संगठित करने की आवश्यकता उन्हें महसूस होती थी। पूज्य महात्मा जी ने गांधी-सेवा-संघ को पुनरुज्जीवित करना अस्वीकार कर दिया था, फिर भी रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं को मार्गदर्शन देने की तैयारी बताई थी। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद उद्यम और पुरुषार्थ करने का समय आ गया था। देश से दारिद्रय के रोग की जड़ काटने के लिए रचनात्मक शक्ति की बुनियाद पर भगीरथ प्रयास करने की जरूरत थी। इसलिए शंकररावजी के प्रयत्न से ८, ९ और १० फरवरी को सेवाग्राम में रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं का सम्मेलन करने का निश्चय हुआ था। पूज्य महात्मा जी फरवरी के शुरू में नई दिल्ली से सेवाग्राम जानेवाले थे।

उस सम्मेलन में शरीक होने की मेरी भी इच्छा थी। इसलिए २६ जनवरी को मैंने सासवड़ छोड़ा। दूसरे दिन कुलाबा जिले के पेण गांव में महाराष्ट्र कांग्रेस स्त्री-संगठन समिति की कार्यसमिति की बैठक थी। वह दो दिन में पूरी हुई। फिर तीसरे दिन दूर के एक गांव में कस्तूरबा ट्रस्ट के ग्रामसेवा केन्द्र को देखने गई। और ३० जनवरी को दोपहर १२ बजे मैं बम्बई पहुँची। अपनी मौसी के यहां ठहरी थी।

शाम तक सारे काम पूरे करके मैं साढ़े पांच बजे फलाहार करने बैठी थी। बम्बई से वर्धा जाना चाहती थी। इसी के विचार मन में घुल रहे थे। एकाएक किसी ने बाहर का दरवाजा धड़ाम से खोला। मौसी देखने गई तो उनका छोटा लड़का रेडियो सुनकर हाँफता हुआ दौड़कर आया और चीख उठा—"मां, गांधी जी गये. . ।"

मेरी छाती में दो बार दर्द उठा। मुझे ठीक याद नहीं कि मैं कब उठी और मुंह धोकर बाहर आरामकुर्सी पर बैठ गई। दिमाग बिल्कुल जड़ हो गया था। मैं जीवित हूँ या मृत, इसकी भी कल्पना नहीं थी।

मौसी पास आकर सिर पर हाथ रखकर मुझे समझाने लगीं, "शान्त रह बेटी, वह कमबख्त ग़लत खबर लाया होगा। मैं मालूम करती हूँ।" मालूम करने के बाद तो तीन गोली लगने के ही समाचार मिले।

आँख से आंसू भी नहीं बह रहे थे; मैं स्थिर बैठी थी। बहुत देर बाद भान हुआ। किसन आकर मुझसे लिपट कर रोने लगी। उसके बाद मुझे भी रोना आया, ऐसा याद है। सारी रात वह मेरे पास ही सोई। सुबह जल्दी उठकर

मैंने सिर धोकर स्नान किया और चौपाटी पर सार्वजनिक प्रार्थना के लिए जाने की तैयारी की। इतने में फोन आया। सुशीला सुवह सफर करके वम्वई पहुँची थी। एक स्नेही के मार्फत उसने मुझे हवाई जहाज द्वारा दिल्ली चलने का सन्देश दिया था। वह स्वयं हवाई मार्ग से रवाना हुई, फिर किसन और मैं दोनों विमान से दिल्ली पहुँची। उस सारे समय की मनःस्थिति का वर्णन करना कठिन है। तव तक अखवार हाथ में आया और सारे समाचार विस्तार से जानने को मिले। एक तो उस भीषण मृत्यु का आघात। हमारा और देश का जीवन अव शून्य हो गया, ऐसी भावना से पैदा हुई घोर निराशा। और फिर हत्यारा महाराष्ट्री कुलांगार निकला। (उसका नाम भी उस समय तक मैंने नहीं सुना था, यद्यपि वह पूना का रहनेवाला था और कांग्रेस-विरोधी के रूप में प्रख्यात था।) महाराष्ट्र में वुद्धिमान, नेता कहे जानेवाले वर्ग में से कुछ व्यक्तियों ने वर्षों तक पूज्य महात्मा जी के विरुद्ध जो व्यक्तिगत जहरीला प्रचार किया था उसी का यह पका फल था। उस समय हवाई जहाज में हमारे साथ श्री खेरसाहव, उनकी पत्नी और लीलावती वहिन आसर थीं। लीलावती वहिन क्रोधावेश में वोलीं—'मुझे लगा कि हत्यारा कोई निर्वासित (शरणार्थी) होगा। लेकिन वाद में मालूम हुआ कि वह तो मुआ घाटिया था' इन शब्दों ने मुझे सावधान कर दिया। ईसा की मृत्यु को लेकर यहूदियों ईसाइयों के वीच सदियों तक वैर वना रहा था। अव ऐसी ही वात क्या भारत में भी होगी? गुजराती-महाराष्ट्रियों के वीच क्या स्थायी अहि-नकुल का वैर पैदा होगा? ऐसे दुःसह विचार मन में आने लगे। मन जड़ और वधिर हो गया।

जुलूस में शामिल होकर मैं अश्रुमोचन करती हुई सुशीला के साथ चलने लगी। वह खूव शान्त थी और मुझसे विवेक की वातें करने लगी। राजघाट पर श्रीदेह लाई गई तव श्री मणिवहन पटेल की मदद से मैं उस जर्जर किन्तु पावन देह को देख सकी। मैंने मस्तक पर हाथ रखा। वरफ जैसा ठंडा लगा। मेरे शरीर में कँपकँपी छूटी। जव चिता प्रकट हुई और शरीर भस्म होने लगा उस समय के आक्रन्द का वर्णन कैसे करूं? जो शरीर हम सवको प्रियदर्शी और प्रिय लगता था; जिसकी सेवा को हम सव साक्षात् भगवान की ही सेवा मानते थे, वह शरीर आखिर भस्मान्तम् हुआ। । कैसी विचित्र लीला है!

जिसको तूने जग में जिलाया वो ही तुझे जलाये।

किसन और मैं श्री मावलंकर जी के यहां गई। शंकररावजी को मालूम हुआ तो वे आकर हमें अपने घर ले गये। उस दिन तो किसी को खाना-पीना सूझा ही नहीं। दूसरे दिन अखवार में खवर आई। महाराष्ट्र में, खास तौर पर पूना-

कोल्हापुर-सतारा में कांग्रेस-विरोधी तथा गांधी-विरोधी लोगों पर बहुसंख्यक समाज टूट पड़ा है। उनके मकान जलाये जा रहे हैं। अत्याचार हो रहे हैं। आदि आदि।

हृदय में क्रोध और संताप भरा था, आवेश में मैं बोल उठी—"मुझे उन लोगों पर जरा भी दया नहीं आती।"

शंकररावजी शान्ति से मुझे समझाने लगे—"हमें उदार होना चाहिए; प्रेमाबाई, इस तरह नहीं बोलना चाहिए।"

तीन दिन बाद किसन के साथ मैं दिल्ली से रवाना हुई। अन्त में वैराग्य की आग जलने लगी। मैंने अपने बाहरी वेश में परिवर्तन कर डाला। देखने-वालों को आघात लगा। लेकिन मुझसे कुछ कहने की किसी की हिम्मत नहीं हुई। एक दो बहिनों ने सहज प्रयत्न किया, लेकिन मैंने उन्हें रोक दिया। पूना से आचार्य भागवत मेरे साथ हुए। सासवड़ पहुँचने के बाद मेरी वेदना और क्लेश बढ़ गये और अब परमात्मा के साथ झगड़ा शुरू हुआ।

मैं भगवान से कहने लगी—"तू दयामय नहीं है। कोई क्रूर राक्षस-जैसा है। अपने भक्तों की भी तू रक्षा नहीं करता। तू वचन का झूठा है। 'न मे भक्तः प्रणश्यति'—इस आश्वासन को तू ने झूठा सिद्ध किया है। सुकरात, ईसा और महात्मा जी, तेरे इन भक्तों को अपना बलिदान देना पड़ा। अहिंसा का पूर्ण पालन करनेवाले व्रतियों को भी तू भीषण मृत्यु देता है। दुनिया में भले का नतीजा भला, बुरे का बुरा—यह नीति अब तेरे पास नहीं रही। इसलिए पूज्य महात्मा जी का ऐसा भयानक अन्त देखकर लोगों की श्रद्धा टूट गई और कानून को हाथ में लेकर वे तोड़फोड़ और मारकाट करने लगे, इसमें आश्चर्य क्या! अन्तिम उप-वास के दिनों में पूज्य महात्मा जी का असाधारण धर्मतेज प्रकट हुआ, तब मुझे श्रद्धा हुई थी कि इस पुण्यभूमि में सन्त की हत्या नहीं होगी। लेकिन तूने तो मेरी आँखें खोलने में जरा भी देर नहीं लगाई।" इस तरह जैसे-जैसे झगड़ा चलता गया वैसे-वैसे मन में निराशा फैलती गई। आन्तरिक श्रद्धा का सारा बल तो भगवान में था। उसके ऊपर रही श्रद्धा टूट जाय, तब तो जीवन का दिवाला ही निकलेगा न।

फिर भी प्रार्थना और सन्तवाणी का परिशीलन मैंने नहीं छोड़ा। मन तो रातदिन संतप्त रहता था। अन्तर में कहीं बड़ी रिक्तता आ गई थी।

१२ फरवरी को राष्ट्रीय पैमाने पर अशौच की निवृत्ति हुई। उस दिन मैंने पूरा उपवास किया था। तेरहवीं को शुक्रवार था। उस दिन एक बार खाया और हर सप्ताह ऐसा करने का संकल्प किया।

शुक्रवार को कुछ मानसिक ग्लानि वढ़ गई थी। इस दुनिया में अव अपना कोई नहीं है; भगवान भी नहीं हैं; ऐसी कुछ विचित्र शून्यावस्था चित्त में पैदा हो गई थी। पूज्य महात्मा जी के अवसान से पहिले मर जाने की इच्छा पूरी नहीं हुई। मैं जीवित हूँ। निराश और निरुत्साहित हूँ। अव जीवन कैसे विताऊं? सेवाकार्य में मेरा पथदर्शक कौन होगा? हृदय का दुःख और भूलों का भार किसके सामने हलका करूंगी? ऐसे विचारों से मन उद्विग्न हो गया था।

हमारे मकान की दूसरी मंजिल पर एक छत थी। वरसात नहीं होती तव आठ महीने से ज्यादा समय में वहीं सोती थी। मुझे कमरे में सोना कभी अच्छा नहीं लगता था; खुले में सोना ही अच्छा लगता था। आज भी यही स्थिति है।

तेरहवीं फरवरी को माघ शुक्ल तृतीया थी। रात को साढ़े ग्यारह वजे मैं छत पर गई। आचार्य भागवत को क्षय का संसर्ग हो गया था, इसलिए वे पहिली मंजिल पर कमरे में ही सोते थे। आश्रम-माता वृद्ध माई और एक छात्रा दोनों नीचे के एक कमरे में सोती थीं। मकान गांव के एक किनारे होने से चारों ओर एकान्त था। फिर आधी रात हो चली थी। चारों ओर शान्ति विराज रही थी। मैं थकी हुई थी। क्योंकि मन में वेदना होने के वावजूद काम तो वरावर चलता ही था। मन को खाली रखने से उद्वेग वढ़ जाता था, इसलिए काम में लगे रहना ही लाभप्रद मालूम होता था।

छत पर विस्तर विछाकर मैं लेटी। चारों तरफ अन्धकार था। आकाश में नक्षत्र चमक रहे थे। यामिनी निःशब्द थी। पूज्य महात्मा जी का चिन्तन करती हुई मैं पड़ी थी। फिर सो गई। नींद में कभी स्वप्न आया, उससे जाग उठी। उसके वाद कुछ देर तक नींद नहीं आई। फिर पावन स्मरण, फिर अश्रुमोचन, इस तरह चलता रहा। अचानक जोर से हवा चलने लगी। मुझे ठंड-सी मालूम हुई। ओढ़ने का खेस ओढ़कर मैं पड़ी रही। इतने में मेरे सिर पर अंगुलियों का स्पर्श हुआ। धीरे-धीले वालों में अंगुलियां घूमने लगीं। मेरे तकिये के पास कोई वैठा है, ऐसा मुझे लगा। और मन में डर पैदा हुआ। मैंने आँखें मींच लीं। कुछ सेकण्ड वीते होंगे। स्पर्श लुप्त हो गया। तो भी मैं वैसे ही पड़ी रही। एकाध मिनट वाद हिम्मत करके मैंने सिर ऊंचा करके देखा। कोई नहीं था। सर्वत्र शान्ति थी और आकाश के तारे पृथिवी पर प्रकाश-किरणें फेंक रहे थे।

मेरे तकिये के पास घड़ी थी। देखा पौने तीन वजे थे।

वाद में तो मैं फिर सो गई। सुवह आचार्य भागवत से मिली तव रात का अनुभव मैंने कह सुनाया। वह कहने लगे—"आपने, स्पर्श हुआ तभी तुरन्त सिर ऊंचा करके देखा क्यों नहीं? डर क्यों लगा? डर नहीं लगना चाहिए था।"

मैंने कहा—"लेकिन पता नहीं क्यों देखने की इच्छा होते हुए भी मेरी हिम्मत नहीं हुई।"

हृदय की शान्ति भंग हुई। लेकिन श्रद्धा भंग हो जाती तो जीवन में रहा मांगल्य भी चला जाता। फिर भी लगभग एक वर्ष तक भगवान के साथ मेरा झगड़ा चलता ही रहा। पूज्य महात्मा जी की मृत्यु का गूढ़ रहस्य मैं समझ नहीं पाती थी। अनेक लोगों ने अनेक प्रकार से मीमांसा की। मार्च में सेवाग्राम में गांधी-अनुयायियों की एक बड़ी परिषद् हुई। वहां लम्बा-चौड़ा वार्तालाप हुआ। उसमें से सर्वोदय समाज का जन्म हुआ। उन दिनों में मैं श्री विनोबा जी के काफी सम्पर्क में आई। मेरी सान्त्वना के लिए उन्होंने खास समय दिया। उनके साथ रहने में अच्छा तो लगता था, लेकिन अन्तिम समाधान तो अन्तर में से प्राप्त करना चाहिए, ऐसा लगा।

यह समाधान या शान्ति प्राप्त करने का मार्ग तो सूझता नहीं था। पूज्य महात्मा जी गये, लेकिन उनका मुझे सौंपा हुआ काम (कस्तूरबा ट्रस्ट का) तो मेरे पास ही था। उसमें तथा दूसरे कामों में मन लगाने का मैंने बहुत प्रयत्न किया। गांधी-स्मारक-निधि की स्थापना होते ही महाराष्ट्र में एक कामचलाऊ शाखा-समिति स्थापित हुई। उसके चार मन्त्री नियुक्त हुए। उनमें से एक मैं भी थी। कोष इकट्ठा करने के लिए तीनों मन्त्रियों ने अपने-अपने जिले चुन लिये। तीनों द्वारा त्यक्त दो जिले मेरे हिस्से में आये। वे थे रत्नागिरी और कुलाबा। कंगाली और यात्रा के साधनों की असुविधा के लिए ये दोनों जिले महाराष्ट्र में प्रसिद्ध हैं। लेकिन मुझे यह बात अच्छी लगी। क्योंकि दोनों में, विशेषतः रत्नागिरि में, उच्चकोटि का सृष्टि-सौन्दर्य है। इसलिए यह जिला मुझे बहुत पसन्द है। फिर तपस्वी श्री अप्पासाहब पटवर्धन इस जिले के प्राण कहे जा सकते हैं। बरसात के मौसम में मैं रत्नागिरि जिले में घूमी। छोटे-बड़े वृक्षों से ढके हुए सह्याद्रि के पहाड़, उनमें से कल-कल-नाद करते हुए नीचे उतरते हुए झरने, दूर अनन्त तक जाते मालूम होने वाले लालमिट्टी से रंजित रास्ते, सहस्रधाराओं में बरसती वर्षा, चारों ओर विराजती शान्ति और आसपास की सुन्दर प्रकृति के साथ एकरूप होने से प्राप्त होनेवाला अद्वैतानन्द। यह रत्नागिरि की ही विशेषता है।

पूज्य महात्मा जी के स्मारक के लिए मैं कोष इकट्ठा करने गयी थी। उनका पावन स्मरण पग-पग पर होता था। चौमासे में सृष्टि भले ही रमणीय लगती हो, लेकिन ऐसा प्रतीत हुआ कि एकान्त वनश्री और मेघ-गर्जना मन के वियोग-दुःख को भी तीव्रतर बना देती हैं। पूज्य महात्मा जी को मीराबाई के दो भजन बहुत प्रिय थे। एक 'म्हांने चाकर राखोजी' और दूसरा 'तोहरे कारन सब सुख छोड़िया'

जब मैं उनके पास थोड़े समय रहने जाती, तब वे हमेशा मुझे प्रार्थना में ये गीत गाने को कहते थे। रत्नागिरि के प्रवास में मुझे दूसरा भजन बराबर याद आता था—

तोहरे कारन सब सुख छोड़िया अब क्यों तरसाओ? प्रभु जी॥
अब छोड़िया नहिं बने प्रभुजी, तव चरण के पास बुलाओ॥१॥
विरहव्यथा लागी उर अन्दर, सो तुम आय बुझाओ॥२॥
मीरा दासी जनम-जनम की, तव चित्तसु चित्त लगाओ॥३॥

रत्नागिरि के बाद कुलाबा की बारी आई। तब दीवाली का त्यौहार पास आ गया था। पूज्य महात्मा जी के अवसान के बाद राष्ट्र में शोक व्याप्त हो गया था, इसलिए उत्सव मामूली-सा मनाया गया था। फिर भी बच्चों के और ग्रामीणों के रसिक मन को दुःख भी क्षणजीवी ही लगता है। अच्छा हुआ कि यात्रा के मेरे अधिकांश दिन मुसलमानों की बस्तीवाले प्रदेश में बीते। भाईदूज के दिन काम नहीं था। यात्रा करके मैं ठहरने के लिए हाड नाम के गांव में पहुँची। रात के १० बजे थे। छत पर सोने गई। प्रार्थना और नाम-जप करके लेटी, लेकिन पड़ोस में रेडियो और उत्सव की धूमधाम चालू थी; इसलिए थकी होने पर भी जल्दी नींद नहीं आई। नींद कब आई, यह पता नहीं चला।

नींद में स्वप्न आया। विह्वल होकर मैं बैठी थी और पूज्य महात्मा जी का स्मरण कर रही थी। तभी अन्तर्नाद होते सुना:—'मैं यहीं हूँ, पास ही हूँ।' चौंक कर मैं देखने लगी तो पूज्य महात्मा जी सामने हँसते हुए खड़े थे और मुझे आश्वासन दे रहे थे। खुशी में मैं लोगों को आवाज देकर बुलाने लगी—'आओ यहां, दौड़कर आओ। ये रहे महात्मा जी।' लोग दौड़ते आये, लेकिन पूछने लगे, —"कहां हैं? कहां हैं?" मैं बताने लगी, लेकिन लोगों को वह दिखाई नहीं देते थे। केवल मैं ही उन्हें देख सकती थी। फिर तो मैं जोर से रोने लगी और महात्मा जी से कहने लगी—"आप मुझे छोड़ कर चले गये। ऐसा क्यों किया? अब मैं कैसे जीऊंगी? मुझे तो सब ओर शून्य ही शून्य लगता है।" वह कहने लगे—"पगली, रोती क्यों है? शोक मत कर? मैं तो तेरे पास ही हूँ। कहीं नहीं गया। आँख खोलकर देख।" और भी कुछ कहा, लेकिन रुदन में मैंने सुना नहीं। रुदन की तीव्रता इतनी बढ़ गई कि धक्का लगने से मैं जाग पड़ी। देखा तो चारों ओर अंधेरा और शान्ति।

पूज्य महात्मा जी, अवसान के बाद पहिली बार ही मुझे स्वप्न में दिखाई दिये थे। जीवित थे तब अनेक बार स्वप्न में आते थे। लेकिन अवसान के बाद नौ महीनों तक उनका दर्शन नहीं हुआ। इस स्वप्न में आश्वासन मिला, जिससे हृदय को कुछ शान्ति हुई। मन में विचार आया कि मृत्यु को मित्र मानने की सीख वे हमें अनेक बार देते थे। राम का दर्शन न हो तो भी उसका काम करते रहना

चाहिए; उसी में राम का ध्यान और दर्शन आ जाता है, ऐसा उनका मानना था। हमें भी इसी पाठ का अनुसरण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

बाद में तो मैं काम में डूब गई। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद करने के लिए अनेक काम पड़े थे। अपनी शक्ति के अनुसार मैं भी करने लगी। नवम्बर के आखिरी सप्ताह में मैं वर्धा गई थी। वहां श्री रेहाना बहन तैयब जी मिलीं। उन श्रद्धालु बहिन का मानस भक्त का है। अपने स्वप्न की बात मैंने उनसे कही। वे खुश होकर कहने लगीं कि यह एक सूचक स्वप्न है। बापू ने आपको सन्देश दिया है। उनका काम करके काम में ही उन्हें देखने का प्रयत्न करिये। उसी में आपको शान्ति मिलेगी। फिर उन्होंने अपने एक स्वप्न का वर्णन किया, जिसमें उन्हें भी पूज्य कस्तूरबा के साथ पूज्य महात्मा जी के दर्शन हुए थे और उनका सन्देश मिला था।

महाराष्ट्र में कस्तूरबा ट्रस्ट का काम बढ़ता गया। शिविर चले और बाद में ग्रामसेविका विद्यालय की स्थापना हुई। १९४९ के जून में सासवड़ का आश्रम गाँव के मकान से हटकर गाँव से बाहर एक रमणीय स्थान पर चला गया। पर्वत, नदी, मन्दिर, झरने और प्रकृति-सौन्दर्य के लिए यह स्थान प्रसिद्ध था। इसके सिवा वह सिद्धस्थान माना जाता था। वहां आश्रम के पक्के मकान बने। बाग-बगीचे लगे। आश्रम वहाँ गया इसलिए कस्तूरबा ट्रस्ट का प्रान्तीय कार्यालय भी वहां गया। अतः आश्रम के पास ही ग्रामसेविका-विद्यालय के लिए मकान बने। खेती-बाड़ी शुरू हुई, गोशाला खुली, बैलगाड़ी आई, कर्घा आया; अनेक प्रवृत्तियां चलने लगीं। ट्रस्ट के अध्यक्ष स्व० श्री दादासाहब मावलंकर हरसाल आकर आश्रम में एक-दो दिन रह जाते थे। आश्रम में एक हिरनी भी पाली गई थी। ग्रामसेवा केन्द्र बढ़ गये। स्त्री-संगठन-समिति का काम व्यापक होने लगा। कांग्रेस का काम, फिर भूदान-यज्ञ-सम्बन्धी प्रवृत्तियां, साहित्य-सेवा और दूसरी अनेक प्रवृत्तियां—इन सब में मैं डूब गई। पढ़ने या चिन्तन करने की फुरसत ही नहीं मिलती थी। श्री शंकरराव जी वहां बार-बार आते थे; इसलिए कार्यकर्त्ताओं की भीड़ लगी रहती और तरह-तरह की चर्चाएं भी होतीं। बाद में नेता, मन्त्री और सरकारी अधिकारी सभी आने लगे। मेरी यात्रा और भ्रमण भी चलता था। श्री मुरार जी देसाई हर साल एक बार आकर आश्रम में रह जाते थे। मेरे सेवा-कार्य में उन्होंने अपनी मर्यादा में रहकर बहुत मदद की। मुझे बिना खर्च किये लोकसभा में भेजने के लिए वह तैयार हो गये थे, लेकिन मैंने मना कर दिया। फिर उनके आग्रह से मैंने दो-तीन सरकारी कमेटियों में काम किया। ऐसे काम मेरी प्रवृत्ति के अनुकूल न होने के कारण आगे ऐसा न करने की मैंने उनसे प्रार्थना की और वे मान गये। विदेश जाने के मौके भी मैंने टाल दिये। संस्था अन्न-वस्त्र

के वारे में स्वावलम्वी होनी चाहिए; यह आदर्श पूज्य महात्मा जी ने हमारे सामने रखा था। उस आदर्श तक पहुँचने का मैं महाप्रयत्न करती रही।

इस प्रकार महात्मा जी के अवसान के वाद सात वर्ष वीते। १८ नवम्वर, १९५४ को राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसाद आश्रम में पधारे। तव राज्य के वड़े-वड़े शासक, वहिनें, सेवकगण और आमलोग हाजिर थे। राष्ट्रपति ने सव जगह घूमकर सन्तोष व्यक्त किया और कहा—"सचमुच यह जंगल में मंगल हो गया है। यहां फिर से आने की मेरी इच्छा है।"

किसी भी सेवक या सेविका के लिए उसकी सेवा कृतार्थ हुई, ऐसा अनुभव करने का यह धन्य क्षण था। लेकिन ऐहिक वैभव से मेरा मन अपने को कृतार्थ मान ले ऐसी मेरी मनःस्थिति या मनोरचना नहीं है।

मैं समाज के प्रति कृतज्ञ थी, क्योंकि हजारों हाथों से वह मुझे सहायता देता था। सामाजिक सेवा-कार्य में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। लेकिन मेरे कार्य में कभी भी वड़ी कठिनाइयां खड़ी हुई हों, ऐसा मुझे याद नहीं है; हमेशा अनुकूलता ही मिली है। सहयोग और स्नेह का अभाव भी मैंने कभी अनुभव नहीं किया। जो काम हाथ में लिया उसमें लोगों की सहायता और पूज्य महात्मा जी के आशीर्वाद दोनों के फलस्वरूप मुझे सफलता ही मिली है।

लेकिन इतना वरदान मिलता गया, इस कारण उत्तरदायित्व का भार मन पर वढ़ता गया। समाज के अनन्त हाथ हैं, जव कि मेरे दो ही हाथ हैं, इसका मुझे सतत् स्मरण रहा है। दिया, उससे अधिक लिया—यह वस्तुस्थिति मुझे नम्रता का पाठ सिखाती आई है। इसके सिवा, सेवा को मैंने कभी भी अपनी भौतिक उन्नति का साधन नहीं माना, मैं उसे चित्तशुद्धि का साधन मानती आई हूँ। सेवा से अन्तःकरण का मैल धुलना चाहिए, योग सधना चाहिए, परमात्म-दर्शन का मार्ग सुलभ होना चाहिए, ऐसी मेरी मान्यता थी। लेकिन मैंने देखा कि मेरी यह इच्छा सफल नहीं हुई। काम का क्षेत्र जैसे-जैसे वढ़ता गया, वैसे-वैसे सन्ताप भी वढ़ता गया। अपने काम से मुझे ही असन्तोष होने लगा। ऊपर से वैभव दिखाई देता था, लेकिन दीपक से दीपक प्रकट होता है उसी तरह सेवा के द्वारा सेवाभावी चरित्रवान सेविकाओं का संघ तैयार करने की मेरी अभिलाषा सफल नहीं हुई। वाहरी शिक्षा और चरित्र के संस्कार ये दो चीजें भिन्न हैं। संस्कार की दृष्टि से शिक्षा देने का काम सरल नहीं है, ऐसा अनुभव मुझे हुआ। अलवत्ता, इसमें मुझे अपनी ही कमी नजर आई। और अपने प्रति मेरा असन्तोष वढ़ने लगा।

मैं आत्म-निरीक्षण करने लगी। मेरी कितनी प्रगति हुई है? अपने क्रोध को मैं जीत सकी हूँ या नहीं? मानव के मन में षड् विकार तो रहते ही हैं। लेकिन

मुझे क्रोध के विकार को जीतने के लिए सतत प्रयत्न करना पड़ा है। दूसरे विकार साधारणतः सुप्त अवस्था में ही रहते हैं। कभी एकाध विकार जाग्रत हो जायं, तो सामान्य विवेक की वाणी ही उन्हें शान्त करने के लिए काफी होती है। लेकिन क्रोध को जीतना मुझे कठिन लगा है। वर्षों के प्रयत्न से मैंने निग्रह-शक्ति थोड़ी मात्रा में प्राप्त की है। लेकिन सेवाकार्य में क्रोध-विकार ने बार-बार मुझे खूब सताया है।

मैंने देखा कि आज के यंत्रयुग का असर सेवा पर भी पड़ा है। आजकल सेवा किसी संस्था या संगठन के मार्फत ही होती है और सेवा को यंत्र की गति मिल गई है। परिणामस्वरूप सेवा करनेवाला व्यक्ति जड़यन्त्र जैसा बन जाता है। आत्मा के विकास के लिए उसमें अवकाश नहीं रहता। सेवाकार्य में आवेश के आने से शक्ति नहीं आती। तलवार को तपाने से उसकी धार भोथरी हो जाती है।

इसके सिवा, मन को सबसे खराब लगनेवाला काम है सेवा के विवरण तैयार करके छपाना। सेवा का हिसाब करने बैठें तो उसकी कीमत पैसों में आँकनी पड़ती है। लोगों से पैसे लेते हैं इसलिए पैसों का हिसाब तो देना ही पड़ता है। लेकिन सेवा का भी हिसाब देना पड़े, यह बात मुझे पसन्द नहीं थी। मुझे लगता कि इससे सेवा की पवित्रता भ्रष्ट होती है। ऐसी कार्य-पद्धति से मन में अहंकार बढ़ता जाय, तो इसमें आश्चर्य क्या ?

मुझे मानसिक शान्ति भी नहीं थी। हृदय में गहरा घाव हो चुका था। उसे व्यापक सेवाकार्य की पट्टी बाँधकर मैंने ढँक दिया था। जीवन में या सेवाकार्य में होनेवाली भूलें, आचार-दोष, विचार-दोष, दुःख—सभी पाप जिसमें अर्पण करने से मन को मुक्ति और शान्ति मिलती थी, वह महातीर्थ तो दृष्टि से ओझल हो गया था। अब मन को पावन करनेवाली और शान्ति देनेवाली कोई महाशक्ति मौजूद नहीं थी। इससे मेरी अकुलाहट बढ़ने लगी। सात वर्ष में जो संचय हुआ था, उसका भार मुझसे सहन नहीं हुआ। मुक्ति की अभिलाषा रहने लगी। समाज से दूर कहीं एकान्त में भाग जाने की व्याकुलता मन में बढ़ने लगी।

मैंने यह भी अनुभव किया कि सामाजिक या व्यक्तिगत स्नेह की मर्यादा होती है। दो या अनेक व्यक्ति मिलकर एक सामान्य ध्येय या आदर्श के लिए सह-प्रयत्न करते हैं और व्यक्तिगत जीवन में अनेक अपेक्षाएँ भी रखते हैं। इसलिए सेवाक्षेत्र में भी हिसाबी व्यवहार हो जाता है। बहुत बार यह अपेक्षा अहंकार की पोषक होती है। इसलिए वह पूरी न हो तो क्लेश पैदा होता है। जगत् की इस मर्यादा को समझकर ही साधु-सन्तों ने लिखा होगा:—

"जगत में कोई नहीं अपना। मेरा श्रीराम प्यारा है॥

निरपेक्ष प्रेम करनेवाला या तो भगवान है या सद्गुरु। जगत् का प्रेम व्यावहारिक ही रहता है। यह कहकर मैं जगत् की निन्दा नहीं करती, वल्कि उसकी मर्यादा वताती हूँ। क्योंकि हम भी जगत् के ही अंश हैं, इसलिए उसकी मर्यादा से परे नहीं हैं।

इस तरह इस जंजाल में से छूटने के लिए मन तड़प रहा था, तभी हमेशा की तरह दृष्टि से अगोचर रहनेवाले परन्तु अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड तक वस्तुमात्र का कल्याण करनेवाले, मेरे सर्जनहार और तारनहार भगवान ने फिर मेरी मदद की। एक-एक चिन्ता दूर होने लगी। सन् १९५२ में स्त्री-संगठन-समिति का विसर्जन हुआ। लगभग उसी समय मैंने कांग्रेस की सदस्यता छोड़ दी। अलग-अलग कमेटियों से मुक्त हुई। रहा कस्तूरवा ट्रस्ट का काम। उसके लिए भी योग्य व्यक्ति मिल जाने से सन् १९५४ के आखिर में उसकी सारी जिम्मेदारी भी मैंने सौंप दी और सचमुच मैं मुक्त हो गई।

इन सात वर्षों में मुझे भारी श्रम करना पड़ा था। नींद कम मिलती थी; वाचन-चिन्तन के लिए पूरा समय नहीं मिलता था। सफर के समय गाड़ी में हिलती-डुलती कुछ पढ़ती थी। मन में हमेशा कामनाएँ और मनोरथ उत्पद्यन्ते विलीयन्ते किया करते थे, इसलिए गम्भीर चिन्तन तो होता ही कैसे? मेरी अवस्था शरावी-जैसी हो गई थी। इसे कर्मयोग कैसे कहा जाय? कर्मयोग हो, भक्तियोग हो अथवा ज्ञानयोग हो—चाहे जो योग हो, परन्तु योग का अर्थ है जोड़ना। हमारा मन ईश्वर के साथ सतत जुड़ा हुआ रहना चाहिए, वड़े से वड़े काम में भी यह अवस्था कायम रहनी चाहिए। तभी योग सघा, ऐसा कहा जा सकता है। नहीं तो वह कर्म-जंजाल हो जाता है। जैसे वुनियादी शिक्षा में शिक्षा का प्रत्येक प्रकार जीवन के साथ जुड़ा हुआ होना ही चाहिए, तभी उसे जीवन-शिक्षण कहा जा सकता है, वैसे ही योग में चित्त का सम्वन्व भगवान के साथ जुड़ा रहना चाहिए, तभी कर्म में अनासक्ति आती है और मन को शान्ति मिलती है।

भविष्य का कोई खास विचार इस समय मन में पैदा नहीं हुआ था। ऐसा निश्चय किया था कि एक वर्ष तक आश्रम में शान्ति से वैठकर वाचन, चिन्तन लेखन और थोड़ा भूदान-यज्ञ का काम करूंगी। एक वर्ष वाद आगे का विचार, होगा। लेकिन मैंने देखा कि मेरा जीवन मेरे हाथ में था ही नहीं। वर्षों पहिले मैंने यह जीवन पूज्य महात्मा जी को अर्पण किया था। वे देहवारी थे। तव मेरा मार्ग-दर्शन करते थे। उनके अवसान के वाद उनके साथ मेरा जीवन भगवान के हाथ में गया। अव भगवान मार्गदर्शन करने लगे। उनकी इच्छा थी उतना सार्वजनिक सेवाकार्य उन्होंने मेरे हाथ से करा लिया। अव उन्होंने मेरे लिए कुछ और ही योजना

वनाई थी। वह भी उनकी इच्छा के अनुसार हुआ। एक ऐसी विलक्षण घटना घटी कि मेरा जीवन बिल्कुल दूसरी ही दिशा में मुड़ गया।

पूना में एक तत्वज्ञानी और विद्वान् भक्त रहते हैं, जिनका नाम महाराष्ट्र में प्रख्यात है : प्रो० शंकर वामन उर्फ सोनोपंत दांडेकर। कुछ वर्ष तक वे पूना के सर परशुराम भाई कॉलेज के प्रिंसिपल थे। ब्रह्मचारी हैं। महाराष्ट्र के संत-शिरोमणि श्री ज्ञानदेव महाराज और श्री तुकाराम महाराज के परमभक्त हैं। पंढरी के वारकरी (महाराष्ट्र के एक भक्ति-संप्रदाय के अनुयायी) हैं। सुन्दर प्रवचन करते हैं। मैं कस्तूरबा ट्रस्ट का काम करती थी, तब दो बार उन्हें विद्यालय में आमन्त्रित करके छात्राओं के सामने उनके अनेक प्रवचन कराये थे। पहली वार वह आये तब मैंने उनसे पूछा था—"ज्ञानेश्वरी के छठे अध्याय में ध्यानयोग का जो अनुपम वर्णन है, वह वास्तविक है या काव्य है?" वह बोले—"वह सत्य है।" मैंने कहा—"आज योगशास्त्र को जाननेवाला कोई अधिकारी व्यक्ति है क्या? मुझे उस शास्त्र में रस है। कोई अधिकारी व्यक्ति मिले तो उसे सीख लेने की मेरी इच्छा है।" उन्होंने कहा—"हां, ऐसे अधिकारी पुरुष को मैं जानता हूँ। उनका नाम श्री गुलवणी है।" फिर मैंने कहा—"मुझे उनका पता दीजिए। मैं उनसे मिलूंगी।" उन्होंने कहा—"वह यात्रा में रहते हैं। पूना आयेंगे तब आपको लिखकर बताऊंगा।"

उसके बाद लगभग दो वर्ष बीत गये। मैं पूछती तब—श्री गुलवणी यात्रा में हैं, यही उत्तर मिलता। सन् १९५४ के दिसम्बर में मैंने प्रो० दांडेकर को विद्यालय में दूसरी बार बुलाया तब उनसे मिलना हुआ। मैंने श्री गुलवणी के बारे में पूछा तो वे कहने लगे—"आप सच्चे दिल से पूछती थीं क्या? आपको सचमुच ही श्री गुलवणी से मिलना है? मुझे लगा कि आप शिष्टाचार के लिए ही पूछती होंगी, इसलिए मैंने आपकी बात पर कोई खास ध्यान नहीं दिया।" तब मैंने उनसे कहा—"मैं सच्चे दिल से ही पूछती थी। मुझे योग के बारे में जिज्ञासा है और अब मैं काम से मुक्त हो जानेवाली हूँ।" तब उन्होंने उत्तर दिया—"मुझे विश्वास हो गया। अब मैं पूना जाऊँगा तब मालूम करके आपको लिखूंगा।"

जनवरी में प्रो० दांडेकर का कार्ड मिला कि "श्री गुलवणी पूना में हैं। मैंने आपके बारे में उनसे कह रखा है। उनके साथ पत्र-व्यवहार करके आप उनसे मिल लीजिए।"

मुझे आनन्द हुआ। १४ जनवरी को संक्रान्ति थी। उस मुहूर्त पर मैंने कस्तूरबा ट्रस्ट की जिम्मेदारी नये प्रतिनिधि को सौंप दी और हर्षयुक्त अन्तःकरण से श्री गुलवणी को लिखकर पूछा—"१८ तारीख को आपसे मिलने आऊं?" उनका उत्तर आया—"आ जाइए।"

मैं पूना गई। मेरे साथ मेरे एक वृद्ध स्नेही श्री हरिभाई मोहनी थे। श्री हरिभाई नागपुर के बहुत पुराने कांग्रेसी कार्यकर्त्ता और पूज्य महात्मा जी के पुजारी हैं। वर्षों से मुझे जानते और मुझपर स्नेह रखते थे। मेरे भावी जीवन के बारे में उन्हें चिन्ता थी। इसलिए वह मेरे साथ गये।

श्री गुलवणी से मुलाकात हुई तब उनकी आयु ७३ वर्ष की होगी। कद के छोटे लेकिन प्रसन्न-गम्भीर दिखते थे। उन्हें देखकर मुझे सन्तोष हुआ। हम पास बैठे और हमारे बीच बातचीत शुरू हुई। वे योग के अभ्यासी और अनुभवी थे इसलिए बातों में रस आया। योग के बारे में जिज्ञासा बताते हुए मैंने अपनी जीवन-कथा संक्षेप में उन्हें सुनाई। बातों ही बातों में अपने जीवन के चार आश्चर्य-जनक अनुभव मैंने उनसे कह सुनाये।

पहिला अनुभव : मैं बहुत छोटी थी। पांचवां वर्ष पूरा होने के बाद स्कूल जाने लगी उससे पहिले का यह अनुभव है। स्कूल जाने से पहिले ही मैंने अक्षरों की पहिचान कर ली थी और रोज सुबह स्नान से पहिले एक जगह बैठकर पट्टी पर सारी बारह-खड़ी और पहाड़े लिखकर पूरे करने की मेरी आदत थी। इसी के अनुसार मैं लिखने बैठी थी। लिखते-लिखते मुझे एक विचित्र अनुभव हुआ। लिखना बन्द करके मैं विचार करने लगी—मुझे ज्ञान हुआ ऐसा भी कहा जा सकता है—कि, मैं एक जीवित मनुष्य हूँ, । मेरे शरीर है। हाथ-पैर है। मैं लिखती हूँ। विचार करती हूँ। मेरा अस्तित्व है। छोटे मस्तिष्क में इससे अधिक स्फुरित नहीं हुआ। लेकिन मैं सिर ऊंचा करके इधर-उधर देखने लगी। वे मनुष्य घूमते हैं। मेरी तरह वे भी जीवित हैं। मनुष्य हैं। बोलते हैं। मैं भी बड़ी होऊँगी। लेकिन मैं हूँ, मैं हूँ, मैं भी कोई हूँ। उसी समय मुझे अपने अस्तित्व की प्रथम बार प्रतीति हुई और उसके बाद यह अनुभव सतत याद रहा।

मैं बड़ी होती गई वैसे-वैसे मुझे लगता गया कि और लोगों को भी मेरी तरह जीवन में कभी-न-कभी अपने अस्तित्व की स्वतन्त्रता की प्रतीति जरूर हुई होगी। लेकिन मैंने बहुतों से पूछा (काफी बड़ी उमर में) तब प्रत्येक ने कहा—ऐसा अनुभव तो मुझे कभी नहीं हुआ। इससे मुझे आश्चर्य हुआ।

दूसरा अनुभव : मैं कालेज में पढ़ती थी तब का यह अनुभव है। गरमी की छुट्टियों में मैं कभी-कभी अपने पूर्वजों के गाँव कारवार जाती थी। समुद्री मार्ग से कम समय लगता है। लेकिन १५ मई के बाद जहाज चलने बन्द हो जाते हैं, इसलिए रेलमार्ग से जाना पड़ता है। कारवार से बस में हुबली जाना होता था और वहां से रेलगाड़ी में बैठकर बम्बई आना होता था। उस समय हुबली में एक प्रसिद्ध सिद्ध योगी का निवास था। लोग उन्हें श्री सिद्धारूढ़ स्वामी के रूप में पहिचानते

थे। हमारे सम्बन्धियों में बहुत से उनके पुजारी थे। पिताजी के साथ मैं भी दो बार उनके दर्शन करने गई थी। लेकिन उनकी कन्नड़ भाषा मुझे नहीं आती थी, इसलिए मैं कुछ बातचीत नहीं कर सकी।

एक बार बम्बई में पिता जी के यहां थी तब रात को एक अद्भुत स्वप्न देखा। एक सिद्ध पुरुष मेरे सामने खड़े थे। वे वही सिद्धारूढ़ स्वामी थे या और कोई, यह याद नहीं है। लेकिन उन्होंने मुझसे पूछा —"बेटी, तेरी क्या कामना है?" स्वप्न में भी मुझे कैसे प्रेरणा हुई यह भगवान ही जाने। मैंने कहा—"स्वामिन्, मुझे समाधि का अनुभव लेना है।" इस पर कुछ हँसकर वे सिद्धपुरुष बोले—"इसमें कितनी देर है?" और उन्होंने अपना हाथ मेरे मस्तक पर रखा। हाथ रखते ही मुझे बिजली के जैसा धक्का लगा और ऐसा मालूम हुआ मानो एकदम मेरा शरीर नीचे गिर गया हो। जो सच्ची मैं थी (अर्थात् मेरी जीवात्मा) वह उस शरीर से बाहर आकर दौड़ने लगी। चारों ओर सारा विश्व लुप्त हो गया और जहां देखती वहां प्रकाश ही प्रकाश दिखाई देता। वह भी सूर्य के प्रकाश-जैसा नहीं, कुछ अनोखा, अद्भुत। प्रकाश के ढेर बादलों-जैसे या लहरों-जैसे दिखाई देते थे और मैं हलकी होकर बड़ी तेजी से दौड़ती थी। मेरे भारी शरीर के गिर जाने का मुझे भान आया और मैं चिल्लाने लगी,—"मेरा शरीर! अरे, मेरा शरीर कहां गया?" लेकिन ये शब्द मुंह से निकले तब तक तो मैं सैकड़ों योजन आगे बढ़ गई थी। ऐसी अजस्र गति से (पवन वेग से कहीं अधिक गति से) मैं दौड़ रही थी। सामने दूर क्षितिज के पास प्रकाश का केन्द्र दिखाई देता था, जिसमें से विश्व में फैला हुआ वह प्रकाश निकल रहा था। उस केन्द्र की ओर मैं दौड़ रही थी। वह केन्द्र पास आने लगा था, लेकिन मेरी वासना मेरे शरीर से जुड़ी होने के कारण उस शरीर का स्मरण मुझे आगे नहीं जाने देता था। फिर एकाएक मैं चौंक उठी—'मेरा शरीर कहां खो गया।' और उसी डर के कारण मैं जाग पड़ी। तब अपने बिस्तर पर ही शरीर में आबद्ध मैंने अपने को देखा।

तीसरा अनुभव: मैं सत्याग्रह-आश्रम में थी तब दांडी-कूच से पहिले चौमासे में एक रात को यह अनुभव आया। हृदय-कुंज के आँगन में पूज्य महात्मा जी और मैं खाटें डालकर सो रहे थे। हमारे बीच ६-७ फुट का अन्तर होगा। बरसात नहीं हो रही थी, इसलिए बाहर खुले में सोये थे। कुछ बहिनें बरामदे में सोई थीं। आधी रात को मैं गहरी नींद में थी। स्वप्न था ही नहीं। एकाएक किसी ने मुझे तमाचा लगाकर ऊंची आवाज से कहा—"उठ उठ, बरसात होने लगी है। महात्मा जी भी भीग जायेंगे।" हड़बड़ाकर मैं जागी, उठकर बैठी और देखने लगी। कोई दिखाई नहीं दिया। मुझे तमाचा किसने मारा? कौन बोला? सब कोई

सोये हुए थे। पास या दूर कोई नहीं था। सिर्फ भरभर भरभर पानी बरसने लगा था और पूज्य महात्मा जी पर पानी की बूंदें गिरने लगीं थीं। मैंने तुरन्त बरामदे में सोई हुई कुसुम बहन देसाई को जगाया और हम दोनों ने महात्मा जी की खाट अन्दर कर दी। फिर मैंने अपनी खाट भी अन्दर की। फिर भी मुझे आश्चर्य होता रहा कि यह चेतावनी मुझे किसने दी होगी? स्वप्न तो था ही नहीं। मुझे तमाचा लगा था और शब्द भी मैंने साफ़ सुने थे।

चौथा अनुभव : आश्रम में आने के बाद पूज्य महात्मा जी ने मुझे ग्यारह व्रतों की दीक्षा दी। उसमें ब्रह्मचर्य का सहायक अस्वाद-व्रत भी लेने के लिए उन्होंने कहा। शुरू में मैं सिर्फ आश्रम में ही इस व्रत का पालन करती थी, बाहर नहीं। लेकिन १९३३ में आश्रम का विसर्जन करके पूज्य महात्मा जी ने हम आश्रमवासियों से कहा, अब से तुम लोग अपने-अपने साथ जंगम आश्रम लेकर ही घूमना और आश्रम-व्रतों को कभी न छोड़ना। तब मैंने देश के आजाद होने तक सारे व्रत पालने की प्रतिज्ञा की, और आजादी के बाद वे व्रत मेरा स्वभाव बन गये इसलिए आगे चलाये। अनुभव के आधार पर मुझे कहना है कि किसी भी व्रत की अपेक्षा अस्वाद-व्रत मुझे अधिक सरल लगा। पीढ़ियों से चला आया अपना आहार छोड़कर अस्वाद व्रत का आहार स्वीकार करने में मुझे जरा भी कठिनाई मालूम नहीं हुई। शरीर, वाणी और मन से मुझे जरा भी क्लेश नहीं हुआ और न कोई विशेष प्रयत्न करने की जरूरत मालूम हुई। पूज्य महात्मा जी को भी यह देखकर अचरज होता था और उन्होंने अनेक बार मेरे सामने और दूसरे आश्रमवासियों के सामने उसे व्यक्त किया था। शुरू में कभी-कभी स्वप्न में मैं मिठाई वगैरा खाती थी। लेकिन ऐसा एक-दो बार होने के बाद स्वप्न में भी मुझे इसका भान रहने लगा कि क्या चीज खानी चाहिए और क्या नहीं खानी चाहिए। मुझे स्वयं भी आश्चर्य-सा लगा करता था कि यह व्रत मेरे लिए इतना सहज कैसे बन गया।

इस तरह अपने ये चार अनुभव मैंने श्री गुलवणी को कह सुनाये।

श्री गुलवणी बोले—"आपको समाधि का जो स्वप्न आया वह स्वप्न नहीं, सच्चा अनुभव है। समाधि ऐसी ही होती है। उस अनुभव को और आपके दूसरे अनुभवों को देखते हुए यह स्पष्ट दिखाई देता है कि अपने पूर्वजन्म में आपने योगाभ्यास किया होगा। वह अधूरा रहा, इसलिए इस जन्म में आपको उसे पूरा करना होगा। आप प्रवृत्ति-मार्ग में इतनी फँस गई हैं कि आपमें रजोगुण की बहुत वृद्धि हो गई है। इसलिए आपका अब प्रवृत्ति-मार्ग से निवृत्त होना आवश्यक है। अब एकान्त स्थल पर जाइए और दो-तीन घंटे तक पलथी मारकर स्थिर बैठना सीख लीजिए। यही आपका पहिला पाठ है। उस समय कुछ भी नहीं करना चाहिए।

केवल शान्त और स्थिर बैठी रहें। इस तरह दो-तीन घण्टे तक बैठ सकेंगी तो आपका आसन स्थिर हो जायगा। मन को स्थिर करने के लिए प्राणायाम कीजिए। लेकिन अभी लम्बे समय तक नहीं। आरम्भ में थोड़े मिनट तक करें और फिर धीरे-धीरे समय बढ़ायें।" ऐसा कहकर उन्होंने मुझे प्राणायाम करने का तरीका बताया।

श्री गुलवणी-द्वारा किया हुआ अपने अनुभवों का स्पष्टीकरण मुझे जँचा। अस्वाद-व्रत के बारे में मुझे भी कभी-कभी लगता था कि, बहुत सम्भव है कि अपने पिछले जन्म में मैंने उसका अभ्यास किया होगा, जो इस जन्म में सफल हुआ दिखता है। मेरे दूसरे अनुभवों के बारे में तो उनका बताया हुआ कारण ही सन्तोष देने जैसा था।

मुझे एकान्त स्थान पर जाकर योग-साधना करने के लिए श्री गुलवणी ने कहा। परन्तु ऐसा स्थान कहां मिले? सासवड़ के आश्रम में एकान्त असम्भव ही था। पास ही विद्यालय था और उससे सम्बन्धित प्रवृत्तियां थीं, जिसके साथ मेरा ९ वर्ष का निकट सम्बन्ध था। इसके सिवा, आश्रम में शंकरराव जी आते तब वह भी अपने साथ बहुत-सी प्रवृत्तियां ले आते थे। मेरा आज तक का जीवन सार्वजनिक था और आसपास के सब लोग उसके आदी हो गये थे। इसलिए वहां शान्ति और एकान्त मिल नहीं सकता था। तब ऐसा स्थान कहां खोजूं?

और, वर्षों से अन्तर में रही एक उत्कट इच्छा ऊपर आई; उसने उत्तर दिया—हिमालय की गोद में।

उस पवित्र स्मरण से मन में उल्लास पैदा हुआ और मैंने श्री गुलवणी से पूछा—"मैं हिमालय में जाकर रहूँ और अभ्यास करूं तो?"

"तब तो अत्यन्त सुन्दर। योगाभ्यास के लिए हिमालय से अधिक अनुकूल जगह और कहीं है ही नहीं। फिर, आप अपने कार्यक्षेत्र से जितनी दूर चली जायं उतना ही आपको लाभ होगा।

व्याधाहातोनि सुटला। विहंगम जैसा॥

"व्याध के हाथ से छूटा हुआ पक्षी जैसे पूरा जोर लगाकर दौड़ता है, उड़ जाता है, वैसे ही हमें भी करना चाहिए।"

फिर हिमालय की सुविधाओं के बारे में तथा अन्य इधर-उधर की बातें हुईं और मैं उनसे विदा लेकर वापस सासवड़ आई।

श्री हरिभाऊ को यह बात अच्छी नहीं लगी। प्रौढ़ उम्र में मेरे जीवन में ऐसा मोड़ आये यह उन्हें कुछ भयावह लगा। वे मुझे समझाने लगे, लेकिन मेरा तो निश्चय ही हो गया था। इसलिए मैं उनकी दलीलें सुनने को तैयार नहीं हुई।

मैं सासवड़ वापस आई तब कस्तूरबा ट्रस्ट से जुड़ा हुआ एक काम बाकी था। विद्यालय की एक छात्रा ने गम्भीर भूलें की थीं। सच बता देगी तो अपराध माफ कर दिये जायेंगे, नहीं तो मुझे प्रायश्चित्त करना पड़ेगा—ऐसा मैंने उससे कहा था, फिर भी वह तीन बार झूठ बोली। इसलिए मुझे त्यागपत्र देने से पहिले प्रायश्चित्त करना था। लेकिन प्रतिनिधियों का वार्षिक सम्मेलन पास आ गया था, इसलिए उस मौके पर उपवास स्थगित कर दिया था। अब पूना से आने के बाद प्रायश्चित्त के लिए मैंने चार दिन का उपवास किया। इस बीच मैंने हिमालय जाने के बारे में चिन्तन भी खूब किया।

मुझे लगा कि मेरा किया हुआ निश्चय पूज्य महात्मा जी के उपदेश से अलग जाता है। उन्हें हिमालय जाकर तपस्या करने की कल्पना पसन्द नहीं थी। वे जनसेवा पर ही जोर देते थे। उनका उपदेश अमल में लाने में मैंने कभी आलस्य नहीं किया था। अपनी सारी शक्ति लगाकर जनसेवा करने का प्रयत्न किया था। लेकिन मैं असफल रही, उसका क्या हो? सत्याग्रह आश्रम में जो हुआ वही सासवड़ में हुआ। संस्था के संचालन के लिए मैं अयोग्य हूँ। फिर बूते से बाहर काम क्यों करना चाहिए? अथवा मेरी कार्यपद्धति में दोष होगा। प्रत्येक काम निर्दोष हो, ऐसा आग्रह मैं रखती हूँ। उससे भी काम में दोष पैदा होता होगा। चाहे जो हो, लेकिन यदि ऐसे ही चलाती जाऊं तो मेरा कचूमर निकले बिना न रहेगा।

पूज्य महात्मा जी के पास मैं पहिली बार आई थी, तब मन में निश्चय किया था कि देश की आजादी के लिए यही सेवा की पद्धति उचित है। वह तो अपना कार्य करके गये। अब देश के विकास का काम शुरू हुआ है। इस काम का कभी अन्त ही नहीं आने वाला है। तब मैं कब तक इस काम का एक अंग बन कर रहूं? फिर, आज जिस दिशा में चक्र घूम रहे हैं, वह पूज्य महात्मा जी की बताई हुई दिशा तो नहीं है। उल्टे अधिकतर बातों में उनके दिये हुए मार्गदर्शन से उलटी दिशा में ही सरकार और उसकी प्रेरणा से लोग चलते हैं। मैं तो तुच्छ मानव ठहरी। इस धाँधली में मुझे नहीं पड़ना है। अब मार्गदर्शन के लिए पूज्य महात्मा जी नहीं हैं। मैंने अपना जीवन उन्हें अर्पण किया था और उन्होंने अन्त तक वह ऐसा ही रहे, यह आशीर्वाद दिया था। अब मार्गदर्शन करने की जिम्मेदारी उनकी है। मैं तो अब भगवान की शरण में ही जाऊँगी, जिनके पास वह पहुँचे हैं। भगवान की इच्छा होगी, वैसा होगा।

इस तरह चिन्तन करते हुए चार दिन बीते। २३ को मेरा उपवास छूटा। रात को स्वप्न आया।

पूज्य महात्मा जी का दर्शन हुआ। वह एक कमरे में बैठे थे। लोगों का आना-जाना चालू था। वह अब जीवित नहीं हैं, ऐसा भान मुझे स्वप्न में नहीं था। पहिले की तरह वह इस दुनिया में ही हैं, ऐसी मन की भावना थी।

उनके साथ बातचीत करने का मौका मिला तो मैंने पूछा—"महात्मा जी पहिले के और आज के भारत में आपको क्या फर्क दिखाई देता है?"

उन्होंने पूछा—"पहिले के भारत से तुम्हारा क्या मतलब है?"

मैंने कहा—"पहिले का यानी सन् १९३० में आप दाँडी-कूच पर गये थे उस समय के इस देश के लोगों में और आज के लोगों में आपको क्या फर्क दिखाई देता है?"

मुझे स्वप्न में भी लग रहा था कि अन्तर-राष्ट्रीय शान्ति के लिए भारत-द्वारा किये गये सफल प्रयत्न का और पंचवर्षीय योजना जैसे सिद्ध किये हुए रचनात्मक कार्यक्रम का विचार करके पूज्य महात्मा जी गौरव-पूर्ण शब्द कहेंगे।

लेकिन वे स्मित हास्य करते हुए बोले—"आज के लोगों में दंभ बढ़ गया है।"

मुझे लगा कि मैंने ठीक से सुना नहीं होगा। इसलिए दुबारा मैंने वही प्रश्न पूछा। उन्होंने फिर वही उत्तर दिया। तीसरी बार वही प्रश्न मैंने किया और तीसरी बार भी वही उत्तर मिला।

मैं जागी तब मुझे विस्मय हुआ। संयोगवश उसी दिन मुझे किसी कारणवश श्री मुरारजी भाई को पत्र लिखना था। उसमें मैंने अपने स्वप्न की बात लिखी।

उत्तर में उन्होंने लिखा—"स्वप्न की बात पर कितना जोर दें, यह कहना मुश्किल है। मनुष्य के अन्तर्मन में अनेक प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं। उनका प्रतिबिम्ब स्वप्न में पड़ना सम्भव है। लेकिन यह प्रतिबिम्ब मनुष्य के सच्चे मन को व्यक्त नहीं कर सकता।...गांधी जी के प्रति आपकी भक्ति के कारण वह आपके स्वप्न में आये। क्या ऐसा हम नहीं कह सकते कि आपके प्रश्न का उन्होंने जो उत्तर दिया, वह आपके मन के भीतर की ही बात व्यक्त करता है? देश में और दुनिया में होने वाले परिवर्तन अनेक कारणों से होते हैं। जगत् विकास करता है या उसकी अधोगति होती है, यह कहना भी कठिन है। हम शुभदर्शी रहकर समाज के हित के लिए मेहनत करने में विश्वास करते हैं, इसलिए हमारे लोग ज्यादा हिपोक्रेट हो गये हैं, ऐसा हम कैसे कह सकते हैं?...अलबत्ता, इस प्रश्न पर पत्र-द्वारा चर्चा करना कठिन है।" आदि।

श्री मुरारजी भाई वस्तुनिष्ठ राजनीतिक पुरुष ठहरे, इसलिए उनकी दृष्टि में स्वप्न की ज्यादा कीमत नहीं हो सकती। लेकिन मुझे तो स्वप्न में संकेत मिला ही करता था। अगर समाज में दंभ बढ़ा हो तो भी मैं उसी समाज का अंग हूँ,

इसलिए मेरे भीतर भी दंभ वढ़ा ही होगा, इसमें मुझे शंका करने का कारण नहीं था। इसलिए शुद्धि के लिए तपश्चर्या ही एकमात्र उपाय था और वह उपाय पहिले की तरह सार्वजनिक सेवाकार्यों की जिम्मेदारी सिर पर लेकर नहीं, लेकिन सर्वथा मुक्त रहकर नतमस्तक होकर, ईश्वर की शरण में जाकर, ही करने की जरूरत थी। विकास के शिखर पर चढ़ना हो तो सिर पर वोझ रखकर कैसे चढ़ा जा सकता है? समाज रूपी शिव की सेवा करने के लिए पहिले हमें शिव वनना चाहिए। 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्।' अयोग्य सेवक या सेविका से समाज का भला नहीं होता, नुकसान होता है। सेविका का भी उससे अधःपतन होता है।

ऐसे विचार मन में आये और एकान्त में जाकर तपस्या करने का मेरा निश्चय अधिक दृढ़ हुआ।

जनवरी के अन्तिम सप्ताह में श्री शंकरराव जी की षष्ठिपूर्ति का समारोह था। आश्रम में ही होने वाला था। वह पूरा हुआ; उसके वाद मैंने अपना भविष्य का कार्यक्रम उन्हें और दूसरे स्नेहियों को वताया, यद्यपि लोगों ने अलग-अलग राय जाहिर की। थोड़े लोगों को ही मेरी यह वात पसन्द आई; ज्यादातर को नहीं आई। शंकरराव जी को दुःख हुआ: अपनी कर्म-प्रवण वृत्ति को छोड़कर मैं संन्यास लूं, यह कल्पना ही उन्हें असह्य लगी। फिर महाराष्ट्र से दूर, विल्कुल देश की सरहद पर जाकर मैं गुफा में वैठी रहूँ, यह चीज भी उन्हें अच्छी नहीं लगी। लेकिन मुझे तो इस कर्म-प्रवण जीवन के प्रति प्रवल वैराग्य उत्पन्न हो गया था। वे समझाने लगे—"सासवड़ के आश्रम में रहने की इच्छा न हो तो महाराष्ट्र में ही कोई एकान्त स्थल मैं ढूंढ़ दूंगा, लेकिन आप इतनी दूर मत जाइए। हिमालय जाने की वात करना जितना सरल है उतना वहां वसना सरल नहीं है।" मेरी उम्र उस समय ४९ वर्ष की थी। ऐसी उम्र में एकाएक नया ही प्रयोग जीवन में करने का निश्चय खतरनाक है, हिमालय में सव कुछ अज्ञात है, वगैरा दलीलें वे देने लगे। लेकिन मैंने उनकी एक भी वात नहीं मानी। स्वामी रामदास के शब्दों में कहें तो 'देह पड़े कां देव जोड़े।' (या तो देह नष्ट होगी, या भगवान मिलेगा।) ऐसी टेक पर मन टिका था।

निराश होकर शंकरराव जी मुझे स्वामी आनन्द,[1] श्रीनाथ जी और श्री कृष्ण-

---

१. स्वामी आनन्द मूल वम्वई के निवासी हैं। वचपन में उनकी प्राथमिक शिक्षा मराठी स्कूल में शुरू हुई। ईश्वर की खोज में छोटी आयु में घर छोड़कर वह भागे और अनेक वावा-वैरागियों के सहवास में ठेठ हिमालय तक पहुंचे। वहुत घूमे, लेकिन ईश्वर-दर्शन की इच्छा पूरी नहीं हुई। फिर सौभाग्य से राम-

मूर्ति[1] से मिलाने ले गये। उन्हें आशा थी कि ये सज्जन मुझे समझायेंगे। श्री कृष्ण-मूर्ति तो त्याग और वैराग्य के विरुद्ध ही हैं। लेकिन स्वामी आनन्द ने कहा—"इन्हें तीव्र उत्कंठा हुई है तो इन्हें जाने दीजिए। मैं मानता हूँ कि छः महीने हिमालय में रहकर इन्हें शान्ति मिलेगी और ये वापस लौट आयेंगी। न आयें और वहीं शान्ति मिले तो भले वहीं रहें। लेकिन जहां तक मैं सोचता हूँ कुछ महीने बाद इन्हें वहां रहने की जरूरत नहीं होगी।" वहां की जानकारी देते हुए स्वामी ने मुझसे कहा-"मैं हिमालय के पेट में कौसानी में रहता हूँ। छः महीने बाद आप मुझसे मिलने आइए। बाद में हम आगे का कार्यक्रम बनायेंगे।" फिर हम नाथ जी से मिलने गये। उन्होंने भी स्वामी आनन्द की सलाह का समर्थन किया। इस तरह मेरा निश्चय हो गया।

शंकरराव जी के आग्रह से १८ मार्च, १९५५ तक मैं आश्रम में रही। उस दिन सबसे विदा लेकर मैंने आश्रम छोड़ा। शंकरराव जी के साथ मैं पुरी गई। वहां सर्वोदय सम्मेलन में भाग लिया। फिर नई दिल्ली जाकर पहली अप्रैल को वहां से हरद्वार गई। शंकरराव जी साथ ही थे। मेरे मन में जरा भी शंका नहीं थी कि यह सब भगवान का वरदान है। वहां भी मुझे किसी तरह की कठिनाई नहीं हुई। सब कुछ इस तरह होता गया जैसे भगवान ने पहिले से योजना बना रखी हो। पुरी में श्री सुरेन्द्र जी मिले थे। उन्होंने कहा कि ऋषिकेश में पशुलोक के संचालक हमारे पारनेरकर जी हैं। उनसे आप मिलिए। वहां कुछ मदद मिलेगी।

कृष्ण मिशन के साथ उनका सम्बन्ध हुआ और कलकत्ता के बेलूर मठ में रहकर उन्होंने बंगला और अंग्रेजी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया; शिक्षा पूरी की और संन्यास की दीक्षा ली तब उन्हें स्वामी आनन्द की उपाधि मिली। युवावस्था में वह पूज्य महात्मा जी के पास पहुंचे और उनके मार्गदर्शन में सेवाकार्य किया। पिछले कुछ वर्षों से वे वर्ष में आठ महीने हिमालय के कौसानी गांव में बिताते हैं।

१. स्व० श्री एनी बेसेण्ट के मानस-पुत्र। वे जगद्गुरू होंगे, ऐसी भविष्य-वाणी श्रीमती बेसेण्ट ने की थी, इसलिए कृष्णमूर्ति को बचपन में विलायत भेजकर ऊंची से ऊंची शिक्षा देने की व्यवस्था की गई थी। आगे जाकर थियासाफिकल सोसायटी के छः लाख सदस्यों ने उन्हें अपने सद्गुरु के रूप में स्वीकार किया। लेकिन कृष्णमूर्ति ने स्वयं उस पन्थ को तोड़ डाला और स्वेच्छा से अज्ञात-वास पसन्द किया। आज दुनिया के विरले आध्यात्मिक शिक्षकों में उनकी गिनती होती है।

वैसा ही हुआ। शंकरराव जी के साथ मैं पारनेरकर जी से मिलने गई। मेरा मानस देखकर वे कहने लगे,—"मुझे लगता है, आप यहां पशुलोक में ही रहिए। मैं आपको पूरी मदद दूंगा। यहां से आप हिमालय की यात्रा भी कर सकती हैं।" पशुलोक ऋषिकेश से तीन मील दूर है। हिमालय की तलहटी में है। गंगा जी के किनारे वसा हुआ है। एकान्त, शान्ति और अरण्य—इतनी अनुकूलता, उस पर पारनेरकर जी जैसे सत्याग्रह-आश्रम के मेरे पुराने साथी। इससे ज्यादा और क्या चाहिए?

शंकरराव जी को भी यह वात पसन्द आई। परिचितों में रहने का मौका मिला, इससे वह चिन्तामुक्त हो गये। हम दोनों उत्तरकाशी गये और चार दिन वहां रहकर वापस पशुलोक आये। वहां चार दिन रहकर शंकरराव जी १४ अप्रैल की रात को दिल्ली के लिए रवाना हुए। पारनेरकरजी ने मुझे एक सुन्दर झोपड़ी रहने को दी। उनकी अपनी झोपड़ी पास ही थी। सुन्दर वगीचे के वीच थोड़े-थोड़े अन्तर पर दो-चार झोपड़ियां बनाई गई थीं, जिससे पड़ोस और एकान्त दोनों का लाभ मिलता था। वहां रहनेवाले कार्यकर्त्ता सारे दिन काम में व्यस्त रहते थे; सफर में न हों तव दूर दफ्तर में काम करने जाते थे। रात को खाने और सोने के लिए झोपड़ी में आते थे। मुझे पूर्ण एकान्त मिलता था। रहने के लिए आवश्यक चीजें मिल गई थीं। पारनेरकर जी ने मेरी वहुत मदद की। सरकारी काम के लिए वे गंगोत्री गये, तव मैं भी उनके साथ गई। इसके वाद केदारनाथ, तुंगनाथ और वदरीनारायण की यात्रा मैंने स्वतन्त्र रूप से दो परिचित भाइयों के साथ की।

तप्त और उदास मन को प्रसन्न और शान्त करने के लिए हिमालय जैसा कोई स्थान नहीं है। उसके भव्य और दिव्य दर्शन से मनुष्य का मानस परिवर्तित हुए विना रहता ही नहीं। हिमालय की गोद में घूमते समय ऐसा अनुभव हुए विना नहीं रहता कि हम एक नई ही दुनिया में हैं। पुरानी दुनिया पीछे रह जाती है। मुझे तो वह याद भी नहीं आती थी। हिमालय की दुनिया ही सत्य लगती थी। वहां मैं अपना सारा दुःख भूल गई।

गंगोत्री का प्रदेश वहुत ही रमणीय और पवित्र है। वहां तपस्या करनेवाले साधक और सिद्ध रहते हैं, ऐसा मैंने पहिले से सुन रखा था। वहां एक सिद्धयोगी के और तीन चार साधकों के दर्शन हुए। उस सिद्ध योगी की आयु ९० वर्ष की होगी, ऐसा लोग कहते थे। लेकिन आश्चर्य की वात यह थी कि १०,००० फुट की ऊँचाई वाले गंगोत्री प्रदेश में वह योगी नग्नावस्था में रहते थे। कपड़े ओढ़कर उनसे मिलने गये हुए हम लोग सर्दी से काँपते थे, लेकिन उन नग्न योगी के शरीर के रोयें भी खड़े नहीं होते थे। वह सीधे तनकर वैठे थे और उनके चेहरे का गाम्भीर्य सहज लगता

था। उनका नाम कृष्णाश्रम था। पास ही एक शिष्या थी। वह तीस वर्ष से उनकी सेवा करती थी। पहाड़ी होने पर भी संस्कारवान मालूम हुई। स्वामी जी मौन-व्रती हैं, बोलते नहीं; लेकिन अगर उत्तर देने का उनका मन हो तो इशारे से या उंगली से लिखकर प्रश्नों के उत्तर देते हैं। पारनेरकर जी और दूसरे मित्रों के साथ मैं गई तब वहां इतनी शान्ति थी कि हम भी एकदम शान्त हो गये। कोई बोले नहीं। उस शिष्या ने ही हमें बिठाया और फिर वही मध्यस्थ बनकर स्वामी के इशारों का अर्थ हमें समझाने लगी।

स्वामी कृष्णाश्रम योग की अन्तिम भूमिका तक पहुँचे हैं, ऐसी जानकारी वहां के दूसरे साधकों ने हमें दी थी। इसलिए उनसे मार्गदर्शन लेने को मैं उत्कंठित थी। लेकिन वह बोलते नहीं थे। शिष्या की सम्मति लेकर मैंने ही आरम्भ किया। अपनी भूमिका उन्हें बताकर मार्गदर्शन माँगा।

स्वामी ने कहा—"प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों अलग-अलग मार्ग हैं। प्रवृत्ति-मार्ग से ईश्वर-प्राप्ति हो सकती है, लेकिन क्रमशः होगी, जब कि निवृत्तिमार्ग से मनुष्य सीधे ईश्वर तक पहुँचता है। तुम्हारा पिण्ड कर्म-प्रवण है। इसलिए तुम कुछ समय निवृत्ति में बिताना। साधना करना। भगवान की कृपा प्राप्त करना। फिर अपने क्षेत्र में प्रवेश करना।"

मैंने और भी कई प्रश्न पूछे, जिनका उन्होंने उत्तर दिया। उनका अविकार तो दिखाई देता ही था। गंगोत्री में रहते हुए मैं उनसे दो बार मिली। मुझे खूब आनन्द हुआ। जाते समय उनके चरण-स्पर्श करके मैंने आशीर्वाद की याचना की। उन्होंने सिर हिलाया और मैं वापस आई। शिष्या से खबर मिली कि स्व० पण्डित मदनमोहन मालवीय जी स्वामी जी को बहुत मानते थे और उनके आग्रह के वश होकर स्वामी जी एक बार हिन्दू यूनिवर्सिटी में जाकर तीन दिन रहे थे। इसके बाद वह फिर हिमालय के नीचे नहीं उतरे और बारहों महीने गंगोत्री में ही रहते हैं।

मेरी साधना के लिए यह शुभ शकुन हुआ, ऐसा मैंने माना।

पशुलोक में १६ अप्रैल, १९५५ को मेरी साधना शुरू हुई, जो २५ जनवरी, १९५६ तक चली। इस बीच मैं तीन बार यात्रा कर आई, १. गंगोत्री, २. केदार-बदरी और ३. कौसानी। साधना में मार्गदर्शन करनेवाला भगवान ही था। मैंने अष्टांग योग और भक्तियोग का परिशीलन और अभ्यास किया। मैंने देखा कि वाचन, चिन्तन और अभ्यास करते-करते आगे का रास्ता अपने-आप मालूम हो जाता है। इसके सिवा, हमारी कल्पना भी न हो, ऐसी रीति से और ऐसे अवसर पर अतर्क्य रूप में सहायता और मार्गदर्शन भी मिल जाता है। मुझे

वहां साधना में किसी तरह की मुसीबत नहीं आई। दयाघन भगवान ने कई दिव्य अनुभव भी कराये, जिससे मेरी श्रद्धा बढ़ गई।

प्रतीति मिलने से विश्वास हुआ कि योगमार्ग या भक्तिमार्ग में मिलनेवाले जिन अनुभवों के वर्णन साधकों ने लिख रखे हैं, वे सब बिल्कुल सच्चे हैं। दोनों मार्ग सच्चे हैं। केवल बुद्धि पर आधारित तर्क करने से कुछ भी हाथ नहीं आता। उस-उस मार्ग का शास्त्रोक्त अभ्यास करने से उसके सत्य की प्रतीति होती है। इसलिए इन प्राचीन मार्गों के बारे में अब कोई कितना ही विरोधी तर्क करे और बुद्धि युक्ति के नाच करके दिखाये, तो भी मेरे मन पर उसका कोई असर होने वाला नहीं है। क्योंकि अब प्रतीति के बाद का ज्ञान मुझे हुआ है। पहिले तो केवल श्रद्धा ही थी।

सितम्बर में मैं कौसानी गई। पूज्य महात्मा जी ने वर्षों पहिले वहीं रहकर अनासक्ति-योग लिखा था। कौसानी में लक्ष्मी-आश्रम नाम की पहाड़ी कन्याओं की एक संस्था है। वहां मैं तीन हफ्ते तक रही। स्वामी आनन्द से मिली। मेरी साधना का वर्णन सुन लेने के बाद उन्होंने कहा—"मुझे लगता है कि आप योग्य मार्ग पर चल रही हैं; आपकी प्रगति होती दिखाई देती है।" बाद में शंकरराव जी भी ५-६ दिन वहां आकर रह गये। इसके बाद मैं पशुलोक आई। साधना चालू ही रही। अनुभव होते गये। दिसम्बर में शंकरराव जी कुछ मित्रों के साथ वहां आये। मेरा काम ठीक चल रहा था। अब वापस सासवड़ जाकर रहूँ और वहां एकान्त की अनुकूलता मिले, तो साधना आगे चलाने में कठिनाई नहीं होगी, ऐसा विश्वास मन में पैदा हुआ और ईश्वर की इच्छानुसार ३० जनवरी, १९५६ को मैं वापस सासवड़ आश्रम में आ पहुँची।

हिमालय जाते समय मन में किये हुए अधिकतर संकल्प पूरे हो गये थे। एक ही बाकी था। वह सासवड़ आश्रम में पूरा हो, तबतक एकान्त-सेवन और साधना करने का मैंने निर्णय किया था और शंकरराव जी तथा दूसरे स्नेहीजनों से कह रखा था। साधना शुरू हुए अब लगभग साढ़े चार वर्ष हो चुके थे। यहां भी भगवान की कृपा से कुछ प्रसाद मिल गया, फिर भी संकल्प पूरा नहीं हुआ, इसलिए साधना चालू रहेगी।

हिमालय में क्या और यहां क्या, निरपवाद एकान्त तो मिलता ही नहीं। लोगों के साथ थोड़ा बहुत सम्बन्ध तो रहा ही है। सहज सेवा जितनी हो जाय उतनी करती हूँ। लेकिन किसी तरह की जिम्मेदारी नहीं लेती। मन मुक्त रहना चाहिए। तभी वह एकाग्रता साधता है। मन को ठिकाने लाना हो तो उसे क्षोभ हो ऐसी परिस्थिति पैदा न होने देने के लिए जागरित रहना पड़ता है। इसलिए

स्वाभाविक रूप में ही जन-सम्बन्ध पर अंकुश रखना पड़ता है। दूसरे, मैंने यह भी देखा कि साधक के लिए मौन लाभदायी सिद्ध होता है। बकवक करने से या अधिक समय तक बोलने से चित्त चंचल होता है।

व्यर्थ बलगना बहु न करावी। साधक जीवें॥
जरि म्हणशिल योगी व्हावें॥

साधक मनुष्य को व्यर्थ बकवक नहीं करनी चाहिए, यदि वह योगी होना चाहता हो।

ध्यानयोग, कर्मयोग या भक्तियोग, सभी तरह के योगों में यह नियम अनिवार्य है।

पशुलोक में मैं थी तब श्री गुलवणी के साथ मेरा पत्र-व्यवहार चलता ही था। यहाँ आने के बाद कभी-कभी उनसे मिल भी लेती हूँ, यद्यपि अब लगभग ढाई वर्ष हुए, मैं क्षेत्र-संन्यास लेकर यहीं बैठी हूं। दूर सफर में जाती ही नहीं, पूना भी कभी-कभी ही जाती हूं।

सन् १९५७ में श्री गुलवणी ७५ वर्ष के हुए तब पूना में उनका अमृत-महोत्सव ७ दिन तक चला था। तब मुझे मालूम हुआ कि वह महाराष्ट्र में प्रसिद्ध हैं और उनका शिष्य-परिवार भी बड़ा है।

इस साधनामय जीवन से मुझे बहुत शान्ति मिली है, फिर भी अमुक वस्तु मिली है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। छोटे बालक से धीरे-धीरे बड़ा पुरुष होता है, अंकुर में से वृक्ष बनता है, उसी तरह आध्यात्मिक प्रगति वृद्धि पाती है। वह सहज होनी चाहिए। उसका माप, हिसाब या विवरण नहीं दिया जा सकता। लेकिन अभ्यास और चिन्तन के बाद मैंने यह देख लिया है कि आध्यात्मिक या दिव्य अनुभव प्राप्त करना एक वस्तु है और अपने स्वभाव-दोष सुधारना दूसरी वस्तु है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेः ज्ञानवानपि।

ज्ञानी मनुष्य भी प्रकृतिवश होता है। योगी अथवा भक्त एक से स्वभाव के नहीं होते। सब अपनी-अपनी प्रकृति का अनुसरण करते हैं। तपश्चर्या का बहुत बड़ा सामर्थ्य रखनेवाले ऋषि-मुनि क्रोध, ईर्ष्या आदि विकारों से मुक्त नहीं थे, ऐसा हम पढ़ते हैं। इसलिए अपने स्वभाव-दोष बदलने के लिए विशेष तपस्या की ही जरूरत होती है। रावण किसी भी समय भगवान शंकर के दर्शन कर सकता था और तपस्या से उसने तीनों लोकों का राज्य प्राप्त किया था। फिर भी उसने पर-स्त्री का हरण किया ही; अपने विकारों को वह वश में नहीं रख सका। एक और भी कारण है। आत्म-साक्षात्कार इन सब प्रकार की साधनाओं की अन्तिम

परिणति, अन्तिम फल है। उसके विना अस्मिता—देहभावना नहीं मिटती। और जवतक देहभावना है तव तक भेद अर्थात् रागद्वेप रहता ही है। अभेद अर्थात् 'वासुदेवः सर्वमिति' भावना अन्तर में दृढ़ होनी चाहिए। तभी मनुष्य परा शान्ति प्राप्त करता है।

इस अवस्था का जीवन में क्या उपयोग है? कोई व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार या जीवन्मुक्ति प्राप्त करे इससे समाज को क्या लाभ? समाज को मुक्ति न मिले, उसका उद्धार न हो, तव तक व्यक्ति का स्वार्थ साधने में क्या लाभ? उसकी कीमत भी क्या हो सकती है? इस तरह के अनेक प्रश्न उठेंगे। आजकल समाज के लिए व्यक्ति की पुकार चारों ओर मची हुई है और समाजवादी राज्य स्थापित करने के स्वप्न दुनिया के सभी राज्य देख रहे हैं। उद्धार का अर्थ लोग अलग-अलग तरह से करते होंगे। आध्यात्मिक दृष्टि से जगत् का उद्धार तो परमेश्वर ही कर सकता है, मनुष्य नहीं कर सकते। साधक अथवा सेवक नम्र होकर व्यक्तिमात्र में तो क्या, भूतमात्र में रहनेवाले ईश्वर को देखकर उसकी पूजा और सेवा ही करता है और उसके द्वारा अपनी चित्तशुद्धि कर लेता है। समाज का उद्धार करनेवाले अवतारी पुरुषों को भगवान भेजता है। यह काम हमारा नहीं है। हमें तो भगवान की सेवा ही करनी चाहिए। जिस रूप में भगवान सामने आता है उसी रूप में उसे पहिचानकर शक्तिभर उसकी सेवा करनी चाहिए। जव हम अपना ही उद्धार नहीं कर सकते, तव समाज का उद्धार कैसे कर सकेंगे?

आश्रम के वगीचे में हरी चंपा का एक पेड़ है। वहुत वार उसमें फूल खिलते हैं। उनकी सुगन्ध से हवा महकती रहती है, लेकिन फूल ढूंढ़ने जाऊँ तो वहुत प्रयत्न करने पर भी वे नहीं मिलते। मुझे लगता है कि सच्चे सेवक का यही आदर्श है। कोने में रहकर सुगन्ध फैलने देना चाहिए। किसी की जानकारी में नहीं आना चाहिए। भगवान की भक्ति करना चाहिए। ऐसी सेवा करते हुए ईश्वर को उसके हाथ से ज्यादा सेवा लेनी होगी तो वह लेगा, लेकिन वह सहज रूप से विकास पायेगी। कली में से फूल कैसे खिला, इसकी किसी को जानकारी नहीं होती, सेवक को तो कभी भी नहीं होती। माँ के पेट से वालक पैदा होता है तभी से माता उसकी सेवा करती है, वह सेवा वालक वढ़कर वड़ा पुरुष होता है तव तक चलती है। वह सेवा सहज होती है। उसकी जानकारी किसी को नहीं होती—न देनेवाले को होती है, न लेनेवाले को होती है और न आस-पास के लोक-समाज को होती है। समाज-सेवा भी इसी तरीके से होनी चाहिए। मनुष्य स्वाभाविक रूप में ही समाज में रहना पसन्द करता है। एकाकी रहना उसके लिए लगभग असम्भव वात होती है। समाज की सुव्यवस्था का लाभ वह उठाता है, इसलिए उस व्यवस्था में शान्ति

बनी रहे, कलह अथवा हीन संस्कृति उत्पन्न न हो, इसके लिए यत्नशील रहना उसका स्वधर्म बन जाता है। सेवा स्वधर्म से अलग नहीं होती।

लेकिन स्वधर्म क्या है? समाज की आज की संकर-अवस्था में स्वधर्म या धर्म का ज्ञान प्राप्त करना कठिन हो गया है।

भगवान मनु ने कहा है:—

> विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर् नित्यम् अद्वेषरागिभिः।
> हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस् तं निबोधत॥१॥

विद्वान्, सन्त और रागद्वेष से मुक्त वीतराग सज्जनों ने जिसका सेवन किया है और जिसे हृदय मान लेता है वही धर्म है। उसे जान लो।

यह परिभाषा जिनको पूरी तरह लागू हो सके ऐसे धर्माचार्य आज कहां हैं? आज समाज को धर्म नहीं सिखाया जाता, कानून दिये जाते हैं। सेवा-धर्म की दीक्षा नहीं दी जाती, सेवा के लिए तरह-तरह के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक संगठन निर्माण करके उनके द्वारा संयोजक, व्यवस्थापक, योजक और नेतागण लोगों की शक्ति खर्च कर डालते हैं। राज्यकर्ता लोग (सरकार) भी इसी कोटि के माने जायेंगे। प्राचीन काल में समाज को कानून नहीं परन्तु धर्म दिया जाता था। भगवान व्यास ने पुकार-पुकार कर कहा है कि मानवों के दो पुरुषार्थ—अर्थ और काम—धर्म के आधार पर ही प्राप्त करने चाहिए। धर्म के बिना दोनों भयावह हैं।

उस सार्वभौम धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए महर्षिगण भगवान मनु के पास गये और उन्होंने भगवान मनु से धर्म की व्याख्या करने की प्रार्थना की।

> मनुम् एकाग्रम् आसीनम् अभिगम्य महर्षयः।
> प्रतिपूज्य यथान्यायम् इदं वचनम् अब्रुवन्॥१॥
> भगवन्! सर्ववर्णानां यथावद् अनुपूर्वशः।
> अन्तरप्रभवाणां च धर्मान् नो वक्तुमर्हसि॥२॥
> त्वम् एको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवम्।
> अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्वार्थवित् प्रभो॥३॥

एक बार महर्षि लोग एकाग्रचित्त होकर भगवान मनु के पास गये और विधि के अनुसार परस्पर शिष्टाचार होने के बाद कहने लगे, भगवन्, सब वर्णों का धर्म यथाक्रम और सम्पूर्ण रूप में हमें बताने के लिए आप ही एकमात्र योग्य हैं। कारण, आप स्वयंभू हैं, और अचिन्त्य और अप्रमेय निखिल वेदों का कार्य और उनका प्रतिपाद्य विषय इन दोनों का अर्थ-ज्ञान आपको ही है।

समाज के लिए धर्म-प्रतिपालन करनेवाले का यह अधिकार था। आज अलग-अलग मतदान-विभागों में बहुमत प्राप्त करके लोकसभा अथवा विधानसभा में चुनकर जानेवाले सैकड़ों सदस्यों की धर्म-प्रतिपादन या कानून-प्रतिपादन-सम्बन्धी योग्यता का समर्थन कौन कर सकेगा ?

कानून धर्म नहीं है। कानून में अधर्म प्रवेश कर सकता है। लेकिन मान लीजिए कि प्रजा के कल्याण के लिए ही सारे कानून बनाये जाते हैं। लेकिन जहां रागद्वेष के लिए अनुकूल क्षेत्र हैं (दलीय राजनीति के सम्बन्ध में), जहां सत्ता ही सर्वोपरि लक्ष्य है, वहां कानून बनानेवाले खुद ही आपस में झगड़ा-फसाद करते हैं, गाली-गलौज करते हैं, चप्पलों का उपयोग करते हैं, मारपीट करते हैं, वहां ऐसे लोग प्रजा के लिए अनुशासन किस तरह बना सकते हैं ? अगर काजी स्वयं ही अपराध करने लगे तो वह दूसरों का न्याय कैसे करेगा ? कानून की प्रतिष्ठा की रक्षा उसे पुस्तकों में लिखने से नहीं होती। पूज्य महात्मा जी की एक बार कही हुई बात सोलह आने सच्ची है—"धर्म के बिना राजनीति भयानक है।"

काम और अर्थ इन दो पुरुषार्थों में काम की अपेक्षा अर्थ अधिक भयावह लगता है। क्योंकि आज की दुनिया में अर्थ का मूल्य सर्वोपरि माना जाता है। युद्ध भी अर्थ के लिए ही होते हैं। काम का अधिक मूल्य होता तो सीता-हरण के कारण हुए राम-रावण युद्ध की पुनरावृत्ति आज भी कई बार हो जाती। पुराने जमाने में भी ऐसे युद्ध कभी-कभी ही हुए हैं। इसीलिए महाभारत में कहा गया है:अर्थस्य पुरुषो दासः।

इस विवेचन का अर्थ इतना ही सिद्ध करना है कि संगठित संस्था, जिसमें स्थूल अनुशासन को स्थान है, धर्म अथवा सेवा के लिए सच्ची पथप्रदर्शक नहीं हो सकती। उपसंहार में भगवान मनु कहते हैं—

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्वं न विद्यते॥

ब्रह्मचर्यादि व्रत न पालनेवाले, वेदाध्ययनशून्य, केवल जाति पर निर्वाह करने वाले (हम ब्राह्मण हैं यह कहकर) हजारों मनुष्य इकट्ठे हों, तो भी उनकी परिषद् नहीं कहलायेगी।

य वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्मम् अतद्विदः।
तत् पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄन् अनुगच्छति॥

तमोगुण से व्याप्त, धर्म को न जाननेवाले मूर्ख लोग यदि धर्म का निर्णय करने लगेंगे, तो पाप करनेवाले का पाप सौगुना बढ़कर गलत निर्णय देने वालों के सिर पर आ पड़ेगा।

मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि आज के जमाने में राजनीति या दूसरे क्षेत्रों में सज्जन, धर्मनिष्ठ मनुष्य नहीं हैं। लेकिन पद्धति में और दृष्टि में दोष है, यह प्रमाण-ग्रन्थ के वचन उद्धृत करके मैंने बताया है।

अध्यात्म की दृष्टि व्यवहार की दृष्टि से अलग होती है। जीवन में देह को अग्र स्थान दिया जाय या आत्मा को—यह प्रश्न है। व्यवहार में देह को अग्रस्थान दिया जाता है। आत्मा की उपेक्षा न हो तो भी उसे गौण स्थान तो मिलता ही है। परिणामस्वरूप सभी प्रयत्न देह का सुख बढ़ाने के लिए होते हैं। इसका फल है असुख और असन्तोष। अगर आत्मा को अग्रस्थान मिले तो देह की उपेक्षा हो, परन्तु आत्मा की प्राप्ति के लिए देह साधन बन जायगी, और उसकी मर्यादा में उसे स्थान मिलेगा। इसलिए सारे व्यवहार, योजना, ध्येय धर्म के स्थान पर खड़े होंगे। अर्थात् मानव-जाति का कल्याण करने की दृष्टि से होंगे। जीवन में संयम, अहिंसा, सत्य, श्रम, दानशीलता, निर्भयता आदि दैवी सम्पत्ति का विकास देखने में आयगा।

सार्वजनिक सेवाकार्य के बारे में भी यही नियम लागू होता है। जिस संस्था के मार्गदर्शक धर्मबल और तपोबल रखनेवाले दीर्घदर्शी सत्पुरुष होते हैं, उनके द्वारा काम करनेवाले सेवकों की नैतिक उन्नति और चरित्रवृद्धि हुए बिना नहीं रहेगी। इसके विपरीत, जहां विषमता की भावना, सत्ता का अभिमान और रुपये का महत्व होता है, वहां सेवा भौतिक लाभ का साधन बन जाती है। उससे चित्तशुद्धि नहीं होती; समाज में मांगल्य उत्पन्न नहीं होता।

सेवा के द्वारा अपना स्वार्थ या ऐहिक लाभ प्राप्त करने का लोभ महापातक माना जाना चाहिए। अपने लाभ के लिए सेवा करनेवाले का जीवन-विकास नहीं होता। चित्तशुद्धि का अर्थ यह है कि उससे मनुष्य का मन विशाल होता जाता है। मानव-जाति में उसे भगवान का साक्षात्कार होता है। उसके भीतर भक्ति की उमंग उठती है। समय बीतने पर सेवा उसका सहज स्वभाव हो जाता है। चित्त में क्लेश का मैल कभी भी पैदा नहीं होता। उस व्यक्ति के सहवास में आनेवाले सब लोग प्रसन्न-चित्त हो जाते हैं। उसकी छूत लगने से वे भी भक्ति-परायण और श्रद्धालु बन जाते हैं।

तुज संगे कोई वैष्णव थाए, तो तुं वैष्णव साचो,
तारा संगनो रंग न लागे, ताहां लगी तुं काचो॥[1]

---

१. तेरे संग में कोई वैष्णव बन जाय तो तू सच्चा वैष्णव है। तेरे संग का किसी को रंग न लगे वहां तक तू कच्चा ही है।

ऐसे विचार मन में आया करते हैं। नवधा भक्ति में अन्तिम भक्ति आत्मनिवेदन है। समर्थ रामदास स्वामी लिखते हैं:—

मी भक्त ऐसे म्हणावें। आणि विभक्तपणेचि भजावें॥

मैं भक्त हूं यह कहना चाहिए और विभक्त होकर ही भगवान को भजना चाहिए। यह आश्चर्यजनक लगता है, लेकिन अनुभव से समझ में आता है।

ऐसी उच्च अवस्था तक पहुँचने के बाद सेवा कोई अलग वस्तु नहीं रहती। लेकिन हमारे जैसे सामान्य मनुष्यों के लिए भूतमात्र में भगवान को देखकर भक्तिपूर्वक उनकी सेवा करने का आदर्श ही योग्य है। शुभ संकल्पों का दाता भगवान होता ही है। शान्ति का शाश्वत और एकमात्र स्थान भी वही है। पूज्य महात्मा जी ने एक बार मुझसे कहा था, हमें सेवा की योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। भगवान मौका देगा ही। उनके इस कथन का पालन मैंने आज तक यथाशक्ति किया है और इसकी सत्यता अनुभव से जान ली है।

आज गांधी-जयन्ती का पुण्य अवसर है। मन उनके अवतार-कार्य का चिन्तन करता है।

महाराष्ट्र में चार सौ वर्ष पहिले श्री एकनाथ महाराज नामके महात्मा हुए हैं। श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध पर उन्होंने महान टीकाग्रन्थ लिखा है। उसे एकनाथी भागवत कहते हैं। महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वरी के बाद इस ग्रन्थ का महत्व माना जाता है। इस ग्रन्थ में ३१ अध्याय हैं। अन्तिम अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण के निर्वाण का वर्णन है। उसे पढ़ते समय भक्त-हृदय अश्रुमोचन किये बिना रह ही नहीं सकता, ऐसा हृदयंगम वर्णन वह है। साधना-काल में इस ग्रन्थ का मैंने तीन बार वाचन और चिन्तन किया और हर बार मुझे उसमें नवीनता ही मालूम हुई है। ग्रन्थ के तीसवें अध्याय के उपसंहार में श्री एकनाथ महाराज भगवान श्रीकृष्ण के अवतार कार्य का सार कहते हैं—

अजन्मा तो जन्म मिरवी। विदेहाअंगी देहपदवी।
स्वयें अक्षयी तो मरण दावी। अति लाघवी श्रीकृष्ण॥

जो अजन्मा है वह जन्म दिखाता है; जो विदेह है वह देह की उपाधि लगा लेता है; जो स्वयं अक्षय है वह मरण दिखाता है। भगवान श्रीकृष्ण बड़े नटवर हैं।

एकादशाचा कलस जाण। श्रीकृष्णाचें निजनिर्वाण।
जेथ नाहीं देहाभिमान। तें ब्रह्म पूर्ण परिपक्व॥

भगवान श्रीकृष्ण के निज निर्वाण को ग्यारहवें स्कन्ध का कलश मानना चाहिए। जिसमें देहाभिमान नहीं है वह पूर्ण परिपक्व ब्रह्म है।

भय नाहीं जन्म धरितां। भय नाहीं देहीं वर्ततां।
भय नाहीं देह त्यागितां। हे ब्रह्मपरिपूर्णता हरि दावी॥

जन्म लेने में भय नहीं है। देह में रहने में भय नहीं है। देह का त्याग करने में भय नहीं है। ऐसी ब्रह्मपरिपूर्णता भगवान श्रीकृष्ण बताते हैं।

मुझे लगता है कि यह अन्तिम ओवी पूज्य महात्मा जी के अवतार-कार्य का भी दिग्दर्शन करती है।

भय नाहीं जन्म धरितां। भय नाहीं देहीं वर्ततां।
भय नाहीं देह त्यागितां। हे ब्रह्मपरिपूर्णता हरि दावी॥

इकतीसवें अध्याय में भगवान का स्वेच्छा से किया हुआ निर्वाण वर्णित है। मूल संस्कृत श्लोक यह है—

लोकाभिरामां स्वतनूं धारणाध्यानमंगलाम्।
योगधारणयाग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत्स्वकम्॥

इस श्लोक पर सन्त एकनाथ महाराज की टीका इस प्रकार है—

घृत थिजलें विघुरलें। तैसें सगुण निर्गुणत्वा आलें।
या नांव योगाग्निधारण बोले। कृष्णें देह दाहिलें हें कदा न घडे॥

जैसे जमा हुआ घी पिघलता है वैसे ही सगुण ब्रह्म ने निर्गुणत्व को प्राप्त किया, इसी को योगाग्नि धारण कहा जाता है। कृष्ण ने अपनी देह जला डाली, यह कभी हो ही नहीं सकता।

कृष्णें देहो नेला ना त्यागिला। तो लीलाविग्रहें संचला।
भक्तध्यानीं प्रतिष्ठिला। स्वयें गेला निजधामा॥

कृष्ण ने देह न तो धारण की, न उसका त्याग किया। वह लीला-देह सब जगह ओतप्रोत हो गई। भक्तों के ध्यान में उसकी प्रतिष्ठापना करके भगवान स्वयं निजधाम को पधारे।

मेरा मन कहता है—३१ जनवरी, १९४८ की शाम को मैं नई दिल्ली में राजघाट पर थी। पूज्य महात्मा जी के पार्थिव शरीर को वहां चन्दन-काष्ठ की चिता पर जलकर भस्म होते मैंने अपनी आँखों से देखा। उस पवित्र चिताभस्म का थोड़ा-सा अंश इस आश्रम में एक डिब्बी में सुरक्षित रख छोड़ा है। अब पूज्य महात्मा जी विश्वरूप हो गये हैं।

वहां हृदय के एक छोटे से कोने में मृदु निनाद गुंजन करता है,—'नहीं, नहीं, पूज्य महात्मा जी की सगुण विभूति भी अक्षय है; अमर है।'

लेखन में खण्ड हुआ। परन्तु जीवन-प्रवाह अखण्ड है।

मेरे इस साधना-काल में वाहर की सारी प्रवृत्तियां मैंने छोड़ दी हैं। लेखन-प्रवृत्ति भी वन्द ही थी। एकाग्रता में विक्षेप डालनेवाला कोई भी काम करने की मेरी इच्छा नहीं होती थी। लेकिन इस लेखन का निमित्त मेरा हाथ हुआ है, फिर भी प्रेरणा उसकी है। उसकी इच्छानुसार सव हो गया है। एकाग्रता भी वही है; विक्षेप भी वही है। उसे ढककर रखनेवाली उसी की शक्ति माया है। वह प्रकट होती है, तव वही शक्ति उसकी लीला वन जाती है।

संत श्री तुकाराम महाराज ने पवि त्र वचन से इसकी समाप्ति करती हूँ—

आपुलिया वले नाहीं मी वोलत।
सखां भगवंत वाचा त्याची॥१॥
सालुंकी मंजूल वोलत से वाणी।
शिकविता धणी वेगळाची॥२॥
काय म्यां पामरें वोलावीं उत्तरें।
परि त्या विश्वंभरें वोलविलें॥३॥
तुका म्हणे त्याची कोण जाणे कला।
चालवी पांगला पायांविण॥४॥
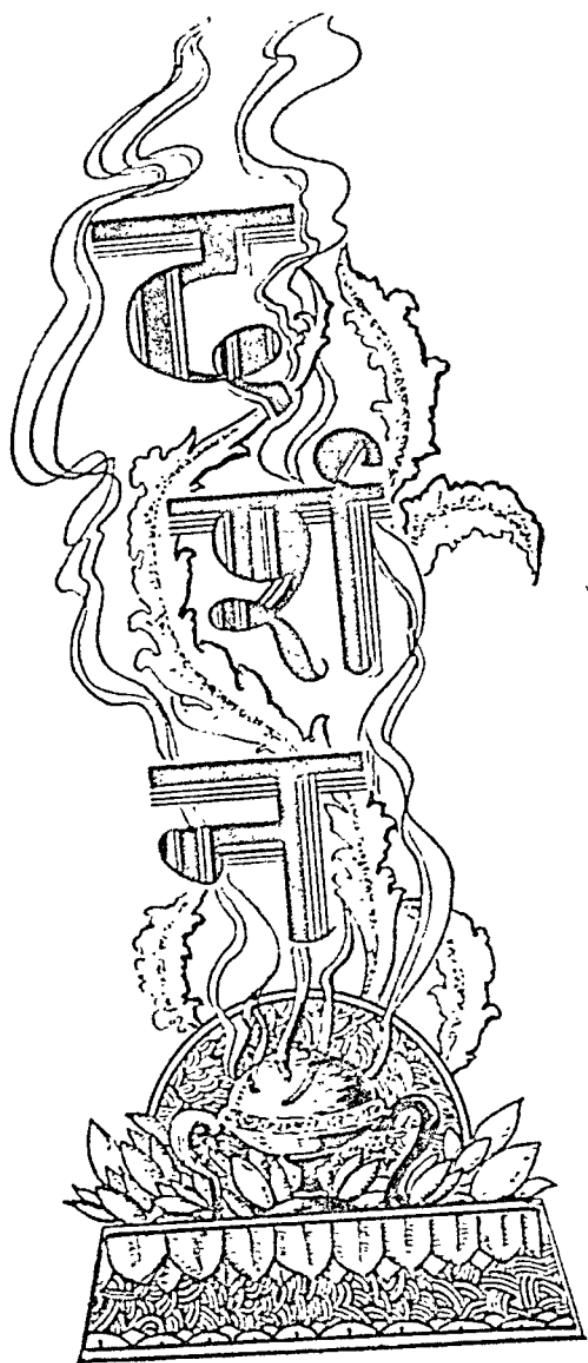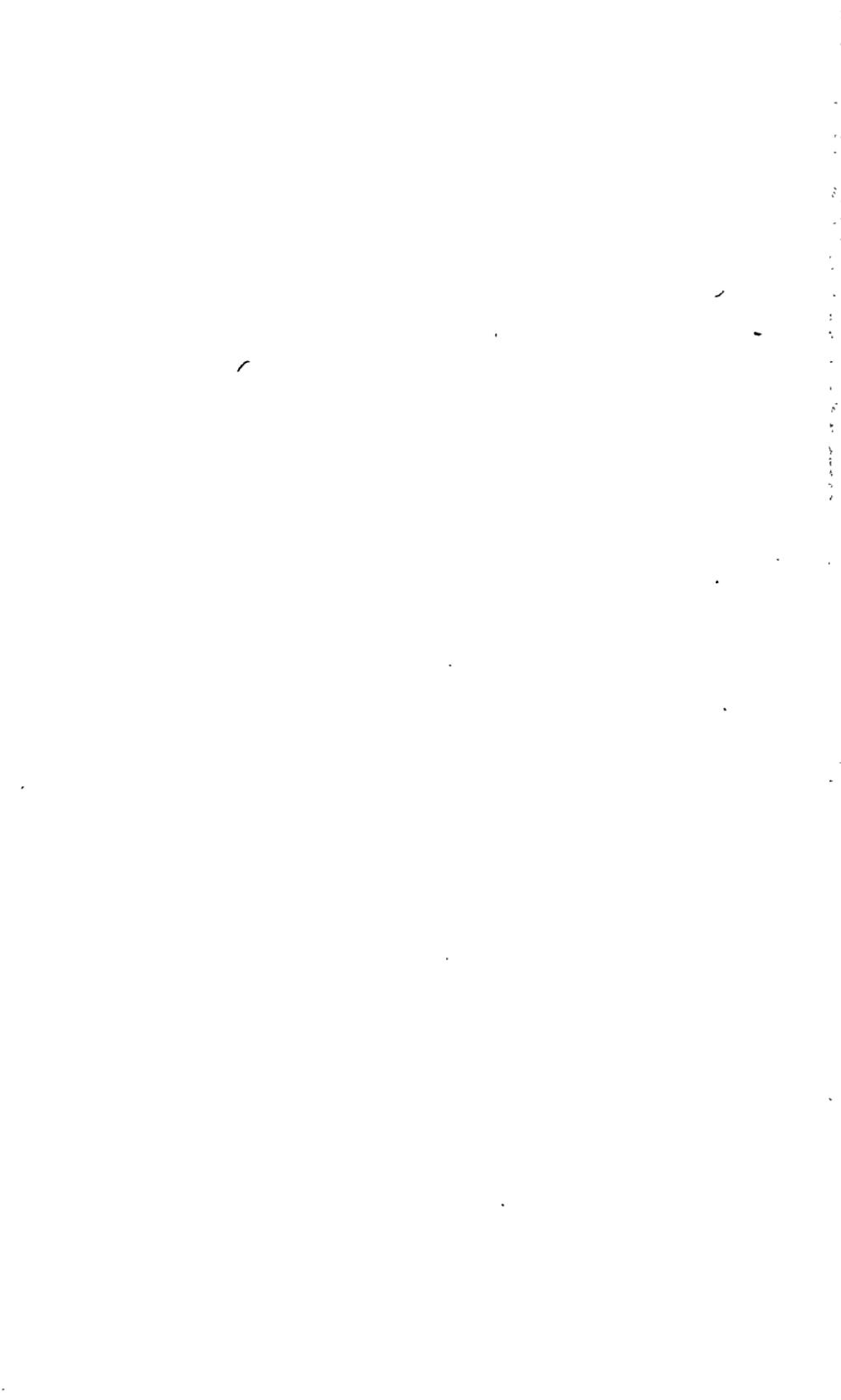
"मैं अपनी शक्ति के वल पर नहीं वोलता। भगवान मेरा सखा है, उसकी यह वाचा है। मैना मंजुल वाणी वोलती है, उसे सिखानेवाला स्वामी कोई और ही है। मैं पामर क्या वचन वोलूं? लेकिन उस विश्वंभर भगवान ने मुझे वोलने को प्रेरित किया। तुकाराम कहता है, उसकी कला को कौन जान सकता है? वह लंगड़ों को विना पैरों से चलाता है।"

ॐ तत्सत व्रह्मार्पणमस्तु।

१. ईश्वर का अस्तित्व

वर्तमान से परे जीवन और ईश्वर की सत्ता है। केवल वही वस्तु पाने और विकसित करने योग्य है जिससे हम अपने सृजनकर्ता को पहिचान सकें और अनुभव करें कि हम पृथिवी पर थोड़े समय रहने के लिए ही आये हैं।

—इं० ओ०, २०।८।१९०३। 'दुर्घटना' शीर्षक लेख से]

२. दुःखानुभूति

दुःख केवल तभी तक होता है जबतक शरीर के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। जीव जब शरीर के साथ पूरा सम्बन्ध अनुभव करने लगा तभी मुझको दुःख का भान हुआ।

—गुजराती से। इं० ओ०, २२।२।१९०८]

३. आत्मा

आत्मा मरती नहीं। मारती नहीं और न किसी को मरवाती है।—मैं तो आत्मा का ही खयाल रखूंगा अर्थात् आत्म-बोध प्राप्त करने की भरसक कोशिश करूंगा। ऐसा करने में शरीर का त्याग कर सकने की शक्ति तो हममें आनी ही चाहिए।

—श्री खुशालचन्द गांधी को लिखे पत्र से। जोहानिसवर्ग २६।७।१९०८]

४. साधना-धर्म

जिसने आत्मा को पूरी तरह पहिचाना है, उसका अनुभव किया है उसके सिर पर छप्पर केवल आकाश का है; वह जंगल में रहता हुआ सांप और बिच्छू को भी मित्र के समान समझता है। हम जो इस स्थिति तक नहीं पहुँचते हैं, सर्दी-गर्मी आदि से डर कर घरों में रहते हैं और इसलिए वहां भय उत्पन्न हो जाने

पर उन्हें भी छोड़ देते हैं। फिर भी मन में ऐसी आशा बनाये रखनी चाहिए कि हमें जल्दी-से-जल्दी आत्मा के दर्शन हों। कम-से-कम मैं तो इसी तरह सोचता हूँ।

—श्री नारायणदास गांधी को लिखे पत्र से। ताल्सताय फार्म, माघ सुदी १०। ८।२।१९११। सं० गां० वां०, खण्ड १०, पृष्ठ ४३६]

५. आत्मा का अस्तित्व और मोक्ष

ईश्वर परम-आत्मा हैं। आत्मा का भी अस्तित्व है और उसका मोक्ष भी सम्भव है। पाप और पुण्य होते हैं। मोक्ष इहलोक में भी सम्भव है। इस सबकी प्रतीति हो जाने पर हमें खोज करते ही जाना चाहिए। यह मानने का रंचमात्र भी कारण नहीं है कि जो कुछ चला जाता है वह परम्परागत होने से ठीक है या कोई काम मात्र इसलिए उचित है कि हमारे पूर्वज उसे करते रहे हैं। यह दृष्टि-कोण आत्मा की स्वतन्त्रता की कल्पना के विरुद्ध है।

—एक पत्रांश। ताल्सताय फार्म, लाली स्टेशन, ट्रांसवाल। २७।११।१९११ के बाद। सं० गां० वां०, खण्ड ११, पृष्ठ १८५]

६. आत्मा के गुण

[श्री मणिलाल गांधी को लिखे पत्र से]

आत्मा के गुण (सर्वत्र) एक से हैं। जिन आवरणों ने आत्मा को ढक रखा है, उनको हटाने पर तुम अपनी शक्ति स्वयं ही देख सकोगे। उसकी कुंजी यम-नियम है।

—१८।१।१९१३ से पहिले। सं० गां० वां०, खण्ड ११, पृष्ठ ४३३]

७. त्रिगुणात्मिका सृष्टि

[श्री मणिलाल गांधी को लिखे गये पत्र से]

तमोगुण के सिवा रजोगुण और सतोगुण हैं। तमोगुण की प्रधानता होने से मनुष्य अन्धा, अज्ञानी और आलसी बना रहता है। रजोगुण उसे अविचारी, साहसी और सांसारिक बातों में उत्साहपूर्ण बनाता है। युरोप के लोगों में रजो-गुण की प्रधानता है। हमारी भी अधिकांश प्रवृत्तियां रजोगुण-प्रधान हैं। सत्व

गुणवाला व्यक्ति शान्त, स्थिरबुद्धि और विचारवान होता है। वह सांसारिक प्रपंच में नहीं पड़ता और अपना मन हमेशा ईश्वर की ओर उन्मुख रखता है। उस सात्त्विक वृत्ति को (अंग्रेजी में) 'सूद फास्टनेस' कहा गया है सो ठीक है। 'सूद-फास्ट' यानी शान्त, नेस प्रत्यय जोड़ने से इस शब्द की संज्ञा बन गई और अर्थ हो गया शान्ति। वृत्तियां शान्त होने पर ही आत्मदर्शन सम्भव होता है। जिस वृत्ति से आत्म-दर्शन सम्भव होता है, वह है सात्विकी वृत्ति। परमात्मा अपने त्रिगुणातीत रूप में तो भली या बुरी कोई प्रवृत्ति नहीं करता। किन्तु माया चैतन्य रूप में है। परमात्मा तो तीनों गुणों से अतीत है। किन्तु वह अर्जुन को ज्ञान देने की प्रवृत्ति का आचरण करता है। उस समय उसकी इस प्रवृत्ति के मूल में सात्विक वृत्ति होती है। और चूंकि प्रवृत्ति मात्र उपाधि है इसलिए उसके इस रूप को सत्वगुण की उपाधि वाला रूप कहा गया है।

—डर्बन, बुधवार, १७।९।१९१३। गुजराती। जीवननुं परोढ़। सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृष्ठ १८२]

- हमारी अधिकांश प्रवृत्तियां रजोगुण-प्रधान हैं।
- वृत्तियां शान्त होने पर ही आत्मदर्शन सम्भव होता है।

८. मृत्यु-भय

[श्री रावजी भाई पटेल को लिखे पत्र से]

आत्मतत्व की पहिचानने वाले लोग मौत से नहीं घबराते।

—केप टाउन, फाल्गुन सुदी ४, संवत् १९७०। १।३।१९१४। गुजराती] 'जीवननु परोढ़'। सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृष्ठ ३६०]

९. मोक्ष

संक्षेप में कहें तो मोक्ष ही साध्य है।

—चैत सुदी १२, २८।३।१९१५। सं० गां० वां०, खण्ड १३, पृष्ठ ४६]

१०. आत्मा का रसायन

मेरा सिद्धान्त है कि शरीर का जितना ही दमन किया जाता है, आत्मा का बल उतना ही बढ़ता है।

—चरखा द्वादशी, अनशन अष्टमी। न० जी०। हि० न० जी०, २८।९। १९२४]

११. भ्रमात्मक वस्तुएँ

शरीर यदि मोक्ष में वाधक हो तो वह भ्रमात्मक है। इसी प्रकार आत्मा की गति को जितनी चीज़ें रोकती हैं, वे भ्रमात्मक हैं।
——न० जी०। हि० न० जी०, २।११।१९२४।]

१२. ईश्वर का स्वरूप

मेरी दृष्टि में ईश्वर सत्य और प्रेम है; ईश्वर नीति और सदाचार है; ईश्वर अभय है। ईश्वर प्रकाश और जीवन का स्रोत है, फिर भी वह इन सवसे ऊपर और परे है। ईश्वर विवेक-शक्ति है। वह नास्तिक की नास्तिकता भी है, क्योंकि अपने निःसीम प्रेम के कारण वह नास्तिक को भी जीने देता है। वह हमारे हृदयों को खोजने और टटोलने वाला है। वह वाणी है और वुद्धि से परे है। वह हमें और हमारे हृदयों को खुद हमसे भी अधिक जानता है। वह जो-कुछ हम कहते हैं उसी को नहीं मान लेता, क्योंकि उसे मालूम है कि हममें से कुछ जान-वूझ कर और दूसरे अनजाने अकसर जो कहते हैं वही हमारा आशय नहीं होता। जिन्हें ईश्वर के साकार रूप की जरूरत है, उनके लिए वह साकाररूप है। जिन्हें उसके स्पर्श की आवश्यकता है, उनके लिए वह साकार है। वह शुद्धतम सारतत्त्व है। जिनमें श्रद्धा है उनके लिए ही वह सत्-स्वरूप है। वह सव मनुष्यों के लिए प्रत्येक की भावना के अनुसार सव-कुछ है। वह हमारे भीतर है और फिर भी हमसे ऊपर और परे है। स्वयं ईश्वर को निकाल देने की शक्ति किसी में नहीं है। ईश्वर के नाम पर कहना और शपथपूर्वक कहना, इन दोनों में क्या अन्तर है? और जिसे सदसद्विवेक की सहज शक्ति कहा जाता है, वह सरल तीन अक्षरों के समूह ईश्वर शब्द का ही खींच-तानकर किया गया अपूर्ण अर्थ है। अगर उसके नाम पर वीभत्स दुराचार या अमानुषिक अत्याचार किये जाते हैं, तो इससे ईश्वर का अस्तित्व मिट नहीं सकता। वह वड़ा सहनशील है। वह धैर्यवान है। परन्तु भयंकर भी है। वह इहलोक में और परलोक में सवसे कठोर शक्ति है। वह हमारे साथ वैसा ही वरताव करता है, जैसा हम अपने पड़ोसियों के साथ—मनुष्य और पशुओं के साथ करते हैं। उसके सामने अज्ञान का वहाना नहीं चल सकता। पर साथ ही वह क्षमाशील भी है, क्योंकि वह हमें पश्चात्ताप का हमेशा अवसर देता है। वह संसार का सवसे वड़ा लोकतंत्रवादी है, क्योंकि उसने हमें वुराई और अच्छाई के वीच अपना चुनाव खुद कर लेने की पूरी छूट दे रखी है। वह दुनिया का क्रूर-से-क्रूर

स्वामी है, क्योंकि वह कई बार हमारे मुंह तक आये हुए कौर को छीन लेता है, और इच्छा-स्वातन्त्र्य की आड़ में हमें इतनी अपर्याप्त छूट देता है कि हमसे कुछ करते-धरते नहीं बनता, और हमारी इस परेशानी से वह अपने लिए केवल विनोद की सामग्री ही जुटाता है। इसलिए हिन्दू-धर्म इसे उसकी लीला या माया कहता है; हम मिथ्या हैं, एक वही सत्य है और अगर हम चाहते हैं कि हमारा अस्तित्व रहे तो हमें सदा उसके गुणगान करने होंगे और उसकी इच्छा पर चलना होगा। हम उसकी वंशी की तान पर नाचते रहें तो हमारा कल्याण ही कल्याण है।
—यं० इं०, ५।३।१९२५]

- ईश्वर सत्य और प्रेम है, ईश्वर नीति और सदाचार है। ईश्वर अभय है।
- ईश्वर प्रकाश और जीवन का स्रोत है।
- ईश्वर विवेक-शक्ति है।
- वह (ईश्वर) धैर्यवान है, परन्तु भयंकर भी है।
- वह (ईश्वर) इहलोक में और परलोक में भी सबसे कठोर शक्ति है।
- वह (ईश्वर) सबसे बड़ा लोकतन्त्रवादी है।

१३. अपरिवर्तित नियम

ईश्वर ने अपने नियमों में संशोधन करने का स्वयं अपने हाथ में भी कोई अधिकार नहीं रखा है और न उसे ऐसा कोई संशोधन करने की जरूरत है। वह सर्वशक्तिमान है और सर्वज्ञ है। वह एक ही समय में और बिना किसी प्रयास के भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों को जानता है। इसलिए किसी भी विषय में पुनर्विचार, संशोधन, परिवर्तन या सुधार करने का उसके लिए प्रश्न ही नहीं उठता।
—यं० इं०, २५।११।१९२६]

१४. जन्म-मरण

हम तो रोज पढ़ते हैं कि जन्म-मरण दोनों एक ही चीज के दो पहलू हैं। जो जन्म लेता है वह मरता है, जो मरता वह जन्म लेता है। इस कोल्हू में से कोई-कोई निकल जरूर जाते हैं। मगर जो निकलते हैं और जो नहीं निकलते, उन दोनों के जन्म-मरण से हर्ष-शोक होने का कारण बिल्कुल नहीं है।
—कराची, ४।२।१९२९। 'बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को', पृष्ठ ७०, न० जी० प्र० मं०]

१५. सच्चा हिमालय

सच्चा हिमालय हमारे हृदय में है। इस हृदयरूपी गुफा में छिपकर उसमें शिवदर्शन करना ही सच्ची यात्रा है; यही सच्चा पुरुषार्थ है।
—न० जी०। हि० न० जी०, १८।७।१९२९]

१६. आत्मा

देह मरती है, आत्मा नहीं मरती। देह तो जन्म से ही नाशवान है; देह में जसे जवानी और वुढ़ापा आता है वैसे ही उसका नाश भी होता है। देह का नाश होने पर भी देही का नाश कभी नहीं होता। देह का जन्म है; आत्मा का जन्म नहीं है। वह तो अजन्मा है। उसे (उसमें) घट-वढ़ नहीं है। वह तो सदैव था, आज है और आगे भी रहने वाला है।
—सोमप्रभात, १७।११।१९३०। 'गीता-वोध', पृष्ठ ९-१०, स० सा० मं०, दसवां संस्करण १९५४]

१७. स्थितप्रज्ञ

जिस मनुष्य ने अपनी कामना-मात्र का त्याग किया है और जो अपने अन्तर में से ही सन्तोष प्राप्त करता है, वह स्थिरचित्त, स्थितप्रज्ञ, स्थिर-वुद्धि या समाधिस्थ कहलाता है। ऐसा मनुष्य न दुःख से दुःखी होता है, न सुख से फूल उठता है।...
—सोम प्रभात, १७।११।१९३०। 'गीता-वोध', पृष्ठ, १२। स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

१८. प्रिय जनों पर आसक्ति

[सुश्री मीरावहिन को लिखे पत्र से]

अपने प्रियजनों को अधिक-से-अधिक समय तक भौतिक शरीर में देखने की इच्छा स्वार्थपूर्ण इच्छा है और वह कमजोरी से या शरीर के नष्ट हो जाने के वाद आत्मा के अस्तित्व पर श्रद्धा न होने से पैदा होती है। रूप सदा वदलता रहता है, सदा नष्ट होता रहता है; उसके अन्दर रहने वाली आत्मा न कभी वदलती है, न नष्ट होती है। सच्चा प्रेम वह है जो शरीर के वजाय उसके अन्दर

रहनेवाली आत्मा के प्रति रखा जाय और जो यह जरूरी तौर पर अनुभव करे कि असंख्य शरीरों में रहनेवाली जीवात्माएं एक ही हैं।
—वीरसद, ६।७।१९३१। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृष्ठ १२८, न० जी० प्र० मं०]

१९. कालरूप ईश्वर

सर्वार्पण विना और सर्वव्यापक प्रेम के विना भक्ति नहीं है। ईश्वर के कालरूप का मनन करने से और उसके मुख में सृष्टि मात्र को समा जाना है—प्रतिक्षण काल का यह काम चलता ही रहता है—इसका भान हो जाने से सर्वार्पण और जीव मात्र के साथ ऐक्य अनायास हो जाता है। चाहे-अनचाहे इस मुख में हम अकल्पित क्षण पड़ने वाले हैं। वहां छोटे-बड़े का, नीच-ऊंच का, स्त्री-पुरुष का, मनुष्य-मनुष्येतर का भेद नहीं रहता। कालेश्वर के एक कौर हैं—यह जान करहम क्यों दीन शून्यवत् न बनें, क्यों सबके साथ मैत्री न करें ? ऐसा करने वाले को यह काल-स्वरूप भयंकर नहीं, बल्कि शान्तिस्थल लगेगा।
—सोमप्रभात, १२।१।१९३१। 'गीता-बोध', पृष्ठ ६२, स० सा० मं०, दसवां संस्करण १९५४]

२०. ब्रह्म

जब कुछ नहीं था तब भी वह परब्रह्म तो था। वह सत् नहीं है और असत् भी नहीं है। उससे भी परे है। अन्य सृष्टि मे उसे सत् कह सकते हैं, क्योंकि वह नित्य है। तथापि उसकी नित्यता को भी मनुष्य नहीं पहिचान सकता, इसलिए उसे सत् से भी परे कहा, उससे कुछ भी सूना नहीं है। उसे हजारों हाथ-पांवों वाला कह सकते हैं और इस प्रकार उसके हाथ-पैर आदि हैं—यह जान पड़ते हुए भी वह इन्द्रिय-रहित है; उसे इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है; उनसे वह अलिप्त है। इन्द्रियां तो आज हैं और कल नहीं हैं। पर ब्रह्म तो नित्य है ही। और यद्यपि वह सबमें व्याप्त है और सबको धारण किये हुए है, इसलिए गुणों का भोक्ता कहा जा सकता है, तथापि जो उसे नहीं पहिचानते, उनके हिसाब से तो वह बाहर ही है। प्राणियों के अन्दर तो वह है ही क्योंकि सर्वव्यापक है। वैसे ही वह गति करता है और स्थिर भी है। सूक्ष्म है, इसलिए वह ऐसा भी है कि न जान पड़े। दूर भी है और नजदीक भी है। नाम-रूप का नाश है तथापि वह तो है ही। इस

प्रकार अविभक्त है, पर असंख्य प्राणियों में है यह भी कहते हैं, इसलिए वह विभक्त रूप से भासित होता है। वह उत्पन्न करता है, पालता है और वही मारता है; तेजों का तेज है; अन्धकार से परे है; ज्ञान का किनारा उसमें आ गया है। इन सब में मौजूद परब्रह्म ही जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय है। ज्ञान मात्र की प्राप्ति उसकी प्राप्ति के लिए ही है।

—सोमप्रभात, २६।१।१९३२। 'गीता-बोध', पृष्ठ ६९, दसवां संस्करण १९५४]

२१. आत्मा

जो आत्मा के गुण जानता है, वह तो उसे अक्षरशः मान सकता है। अगर आत्मा मरती नहीं, तो फिर उसके घर या कपड़े भले ही फटा करें, सड़ा करें, जला करें, उससे क्या बिगड़ता है ? फिर, आत्मा तो सदा ही पूर्ण है, इसलिए उसे नये घर-बार की कमी नहीं है। समझें तो उसे इनकी जरूरत ही नहीं है। लेकिन यह सब अपने लिए है—आत्मा के लिए अपना क्या और पराया क्या ?

— ३०।१।१९३२। 'बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम,' पृष्ठ ६३, न० जी० प्र० मं०]

२२. जगत् : एक ऊर्ध्वमूल वृक्ष

इस संसार को दो तरह से देखा जा सकता है—एक इस तरह जिसकी जड़ ऊपर है, जिसकी शाखा नीचे है और जिसके वेद-रूपी पत्ते हैं। ऐसे पीपल के रूप में जो संसार को देखता है वह वेद जानने वाला ज्ञानी है। दूसरी रीति यह है—संसार रूपी वृक्ष की शाखाएं ऊपर-नीचे फैली हुई हैं। उसके तीन गुणों से बढ़े हुए विषय-रूपी अंकुर हैं और वे विषय जीव को मनुष्य लोक में कर्म के बन्धन में डालते हैं। इस वृक्ष का स्वरूप नहीं जाना जा सकता; उसका आरम्भ नहीं है, न अन्त है, न कोई ठिकाना।

वह दूसरे प्रकार का संसार-वृक्ष है। उसने यद्यपि जड़ गहरी पकड़ी है, तथापि उसे असहकाररूपी शस्त्र से काटना चाहिए कि जिससे आत्मा को वह लोक प्राप्त हो सके, जहां से उसे वापस चक्कर न करना पड़े। ऐसा करने के लिए वह निरन्तर आदि पुरुष को भजे जिसकी माया से यह पुरानी प्रवृत्ति पसरी हुई है। जिन्होंने मान-मोह को छोड़ दिया है, जिन्होंने संग-दोष को जीत लिया है;

जो आत्मा में लीन हैं; जो विषयों से अलग हो गये हैं; जिन्हें सुख-दुःख समान है, वे ज्ञानी उस अव्यय पद को पाते हैं।

—रात को, ३१।१।१९३२। 'गीता-बोध', पृष्ठ ७३, स० सा० मं०, दसवां संस्करण १९५४]

२३. ईश्वर का अस्तित्व

[श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार की शंकाओं के उत्तर में लिखे गये पत्र से]

१.२. ईश्वर को मानना चाहिए, क्योंकि हम अपने को मानते हैं। जीव की हस्ती है तो जीवमात्र का समुदाय ईश्वर है, यही मेरी दृष्टि में प्रबल प्रमाण है।

३. ईश्वर को नहीं मानने से सबसे बड़ी हानि वही है, जो हानि अपने को नहीं मानने से हो सकती है। अर्थात् ईश्वर को न मानना आत्महत्या-जैसा है। बात यह है कि ईश्वर को मानना एक वस्तु है और ईश्वर को हृदयगत करना और उसके अनुकूल आचार रखना दूसरी वस्तु है। सचमुच इस जगत् में कोई नास्तिक नहीं है। नास्तिकता आडम्बर मात्र है।

४. ईश्वर का साक्षात्कार रागद्वेषादि से सर्वथा मुक्त होने पर ही हो सकता है, अन्यथा कभी नहीं। जो मनुष्य ऐसा कहता है कि मुझे साक्षात्कार हुआ है, उसे साक्षात्कार नहीं हुआ, ऐसा मेरा मत है। यह वस्तु अनुभवगम्य है, परन्तु अनिर्वचनीय है, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है।

५. ईश्वर में विश्वास रखने से ही मैं जिन्दा रह सकता हूँ। ईश्वर की मेरी व्याख्या याद रखनी चाहिए। मेरे समक्ष सत्य से भिन्न ऐसा कोई ईश्वर नहीं है। सत्य ही ईश्वर है।

—८।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ८१]

- जीवमात्र का समुदाय ईश्वर है।
- ईश्वर को न मानना आत्महत्या-जैसा है।
- नास्तिकता आडम्बर-मात्र है।
- यह वस्तु (ईश्वर-साक्षात्कार) अनुभवगम्य है, परन्तु अनिर्वचनीय है।
- सत्य ही ईश्वर है।

२४. ईश्वर-दर्शन

[सुश्री ताराबाई वाजपेयी को लिखे गये पत्र से]

ईश्वर के दर्शन आंख से नहीं होते। ईश्वर का शरीर नहीं है, इसलिए उसके दर्शन श्रद्धा से ही होते हैं। हमारे दिल में जब किसी भी तरह के विकारी विचार

नहीं हों, किसी भी प्रकार का भय न रहे, और नित्य प्रसन्नता रहे, तब यह जाहिर होता है कि हृदय में भगवान निवास करते हैं। वे तो सदा वहां हैं ही, मगर हम उन्हें नहीं देखते क्योंकि हममें श्रद्धा नहीं है। और इसलिए कई तरह के संकट उठाते हैं। सच्ची श्रद्धा हो जाने पर बाहर से लगनेवाले संकट भी ऐसी श्रद्धावाले को संकट नहीं लगते।

— १७।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ १५५]

- ईश्वर के दर्शन आँख से नहीं होते,—उसके दर्शन श्रद्धा से ही होते हैं।

२५. आत्मार्पण का आदर्श

[श्री दत्तात्रेय वासुदेव परचुरे को लिखे गये पत्र से]

जिसको असाध्य रोग है, जो दूसरों की सेवा लेकर ही जीता है और जो कुछ भी सेवा नहीं करता उसे प्राण-त्याग का अधिकार है। डूब कर मरने से पूर्ण अनशन करके प्राणत्याग करना बहुत ज्यादा अच्छा प्रतीत होता है। अनशन में मनुष्य की दृढ़ता की परीक्षा होती है और अपना विचार बदलने को भी स्थान रहता है; रखना उचित और आवश्यक लगता है। परन्तु जहां तक मनुष्य कुछ भी सेवा कर सकता है, वहां तक उसे प्राणत्याग करना अनुचित है। यद्यपि यज्ञ में शारीरिक क्रिया एक बड़ा और आवश्यक अंग है, तथापि अशक्ति के कारण शरीर से कुछ भी न बन पड़े तो मानसिक यज्ञ सर्वथा निरर्थक नहीं है। मनुष्य अपने शुद्ध विचार से भी सेवा कर सकता है; सलाह इत्यादि से भी कर सकता है। विशुद्ध चित्त के विचार ही कार्य हैं और महत् परिणाम पैदा करते हैं।

— ३।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ १९४-१९५]

- जो कुछ भी सेवा नहीं करता उसे प्राण-त्याग का अधिकार है।
- अनशन से मनुष्य की दृढ़ता की परीक्षा होती है।
- मानसिक यज्ञ सर्वथा निरर्थक नहीं है।
- मनुष्य अपने शुद्ध विचार से भी सेवा कर सकता है।
- विशुद्ध चित्त के विचार ही कार्य हैं और महत् परिणाम पैदा करते हैं।

२६. जीवन : मृत्यु की तैयारी

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

सर जेम्स जींस् की पुस्तक में एक भव्य वाक्य है—"जीवन मौत की तरफ प्रगति है।" दूसरा पाठ यह हो सकता है कि जीवन मृत्यु की तैयारी है। मगर कौन

जाने क्यों हम इस अनिवार्य और भव्य अवसर का विचार करते समय कांप उठते हैं। हमारे पिछले जीवन से ज्यादा अच्छे जीवन की तैयारी के रूप में भी यह अवसर शानदार है। और जो ईश्वर का डर रख कर चलने की कोशिश करता है, उसके लिए तो वह सदा अच्छे जीवन की तैयारी ही होती है।

—१६।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २१९]

● जीवन मृत्यु की तैयारी है।

२७. आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर

[पत्र-द्वारा पूछे गये प्रश्नों का लिखित उत्तर]

प्रश्नः—बंधा हुआ कौन?

उत्तर—जो 'मैं' को मानता है।

प्रश्नः—मुक्ति का क्या अर्थ है?

उत्तर—राग-द्वेष वगैरह से छूटना।

प्रश्नः—नरक क्या है?

उत्तर—असत्य।

प्रश्नः—मुक्त दशा कौन-सी है?

उत्तर—राग-द्वेष वगैरह का सदा अभाव।

प्रश्नः—नरक का मुख्य द्वार?

उत्तर—असत्य आचरण।

— ३।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २६६-२६७]

२८. विश्वरूप-दर्शन

[श्री वेदमूर्ति सातवलेकर को लिखे पत्र से]

सारे जगत् को जो मनुष्य वासुदेव-स्वरूप मानेगा, वह विश्वरूप का दर्शन अवश्य करेगा। परन्तु रूप अपनी कल्पना की ही मूर्ति होगा। ईसाई जगत् को ईश्वर-रूप मानता हुआ अपनी कल्पना के अनुकूल मूर्ति देखेगा। जो जैसे भजता है वैसे ईश्वर को देखता है। हिन्दू सभ्यता में जो पैदा हुआ है और उसी की शिक्षा जिसने पाई है, वह ग्यारहवां अध्याय[1] पढ़ते हुए थकेगा नहीं, और उसमें

---

1. गीता का ग्यारहवां—विश्वरूप-दर्शन अध्याय।

अगर भक्ति की मात्रा होगी तो उस अध्याय में जैसा वर्णन है वैसा ही विराट रूप-दर्शन करेगा। परन्तु ऐसी कोई मूर्ति जगत् में उसकी कल्पना के बाहर नहीं है। ब्रह्म, आत्मा, वासुदेव—जो कुछ भी विशेषण हम उस शक्ति के लिए इस्तेमाल करें, निराकार ही है। भक्त के लिए वह आकाररूप बनती है। यह उस शक्ति की माया है; यही काव्य है। डाकू में भी हमको वासुदेव का रूप देखना होगा। और हमारे अन्दर वह शक्ति आजायगी तो डाकू डाकूपन छोड़ देगा। और जबतक हमारे अन्दर यह शक्ति नहीं आती, तबतक हमारा सब अभ्यास और सब ज्ञान निरर्थक ही है।

—१९।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३११-३१२]

- जो जैसा भजता है वैसे ईश्वर को देखता है।
- डाकू में भी हमको वासुदेव का रूप देखना होगा।

२९. आत्मा का ज्ञान

[एक पत्रांश]

आत्मा को जानने का अर्थ है शरीर को भूल जाना यानी शून्य बन जाना। जो शून्य बन गया है, उसने आत्मा को पहिचान लिया है।

—७।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३४६]

३०. ब्रह्म एवं जगत्

[बालकृष्ण को लिखे पत्र से]

माया को शंकराचार्य किस रूप में मानते थे, यह मैं निश्चयपूर्वक नहीं जानता। मैं यह मानता हूँ कि जिस रूप में हम जगत् को मानते हैं और देखते हैं, वह आभास है; हमारी कल्पना है। मगर जगत् अपने रूप में तो है ही। वह कैसा है, यह हम नहीं जानते। ब्रह्म है, यह कहने के साथ ही उसका नेतिरूप में वर्णन करते हैं। जगत् भी ब्रह्म है। वह ब्रह्म से अलग नहीं है। हम जो जुदापन देखते हैं, वह आभास मात्र है।

—२०।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३६६]

- जगत् भी ब्रह्म है। वह ब्रह्म से अलग नहीं है।

३१. मायावाद

[सुश्री प्रेमा को लिखे पत्र से]

मायावाद को मैं अपने ढंग से मानता हूँ। काल-चक्र में यह जगत् माया है। लेकिन जिस क्षण तक उसकी हस्ती है, उस क्षण तक तो यह है ही। मैं अनेकान्त-वाद को मानता हूँ। अगर कोई भी वस्तु मनुष्य के लिए प्रत्यक्ष है, तो वह मृत्यु ही है। इतना होने पर भी इस अनिवार्य प्रत्यक्ष वस्तु का बड़ा डर लगता है। यही आश्चर्य है; यही ममता है; यही नास्तिकता है। उससे पार उतरने का धर्म केवल मनुष्य को ही लभ्य है।

—११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १८]

- काल-चक्र में यह जगत् माया है।
- अगर कोई वस्तु मनुष्य के लिए प्रत्यक्ष है, तो वह मृत्यु ही है।

३२. मृत्यु के बाद भोग

[सुश्री प्रेमा को लिखे पत्र से]

पाप-पुण्य मृत्यु के बाद भी जीव के साथ ही जाते हैं। जीव जीवरूप में उन्हें भोगता है। फिर वह दूसरे दृश्य शरीर में हो या सूक्ष्म शरीर में, इसमें हर्ज नहीं।

—११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १८]

३३. पुनर्जन्म

[श्री मोहनलाल भट्ट को लिखे पत्र से]

पुनर्जन्म का अर्थ है शरीर का रूपान्तर, आत्मा का, शरीर का नहीं। इसलिए वैज्ञानिक मान्यता से पुनर्जन्म अलग चीज़ है। आत्मा का रूपान्तर नहीं, बल्कि स्थानान्तर होता है।

—१२।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ २२]

३४. सुख-दुःख और मृत्यु-भय

[श्री बद्रीदत्त पाण्डे को लिखे पत्र से]

सुख और दुःख दोनों ईश्वरदत्त हैं। इसलिए दोनों को हम शान्तिपूर्वक और एक ही भाव से स्वीकार करें। और मौत का डर क्यों? वह तो सबके लिए

है। जो गये वे गये नहीं हैं; जो रहे वे रहे नहीं हैं। दोनों हैं ही। सिर्फ स्थान-भेद है।

—५।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ ९३]

३५. प्रार्थना, शरीर और आत्मा

[श्री शंकरराव घाटगे को लिखे पत्र से]

इस शरीर के नाश के साथ आत्मा का नाश नहीं है, ऐसी प्रतीति सबको है। ऐसे ही इस शरीर के पहिले भी आत्मा का अस्तित्व था। यदि यह सच है तो आत्मा को दुबारा देह धारण करना नहीं होगा, या इस देह के पहिले देह धारण नहीं किया था, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। परन्तु आज आत्मा देहधारी है इसलिए भविष्य में भी देहधारी होगा, ऐसा मानना प्रवाह-पतित है।

—२७।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १५२]

३६. आत्मतत्व और भूततत्व

[सनफ़ील्ड स्कूल के व्यवस्थापक को लिखे पत्र से]

आत्मतत्व के विना भूततत्व मृत है और भूततत्व के विना आत्मतत्व हिल नहीं सकता। जब तक हम 'इसका' नहीं 'इनका' विचार करते हैं, तबतक एक को दूसरे की जरूरत पड़ती है।

—२।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १६४]

३७. जन्म-मृत्यु

[श्री जमनालाल बजाज ने गांधी जी को लम्बा पत्र लिख कर उनसे उत्तर लिखने को कहा था, जो श्री बजाज के जन्म-दिवस पर उन्हें मिल जाय। इस अनुरोध के उत्तर में लिखे गये पत्र में व्यक्त गांधी जी के उद्गार—सम्पा०]

जन्म से मृत्यु ज्यादा उत्सव का प्रसंग है। जन्म से पहिले नौ महीने यातनाएं भोगनी पड़ती हैं और जन्म के बाद भी अनेक दुःख हैं, जब कि कुछ को मृत्यु के अवसर पर ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। इस प्रकार की मृत्यु प्राप्त करने के लिए जीवन

अनासक्ति-युक्त कामों में बीतना चाहिए। हम तीनों[1] की यह प्रार्थना है कि तुम्हें ऐसी ही मृत्यु मिले।

—८।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १८३-१८४]

● जन्म से मृत्यु ज्यादा उत्सव का प्रसंग है।

३८. माया

प्रभु और उसकी माया दोनों अनादि से चलते आये हैं। माया में विकार पैदा होते हैं। माया के कारण जीव सुख-दुःख, पाप-पुण्य का भोगनेवाला बनता है।

—सोम प्रभात, २६।११।१९३२। 'गीता-बोध', पृष्ठ ६९, दसवां संस्करण १९५४]

३९. ईश्वर है

[श्री गोपीकृष्ण को लिखे पत्र से]

यदि हम हैं तो ईश्वर है क्योंकि जीवमात्र का समूह ईश्वर है, जैसे किरणों का समूह सूर्य है। इस ईश्वर पर श्रद्धा होने के लिए आत्मश्रद्धा होनी चाहिए और वह श्रद्धा अनासक्तिपूर्वक सेवा करने से आती है। श्रद्धा रखने का दूसरा तरीका यह है कि सारा जगत् श्रद्धा रखता है तो हम भी रखें।

—१९।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ ३०२]

४०. ईश्वर का भान और ब्राह्मी स्थिति

[श्री बालकृष्ण को लिखे पत्र से]

ईश्वर का भान कब हुआ, यह मैं नहीं कह सकता।

ब्राह्मी स्थिति में किसी के दुःख में दुखी होने की बात ही नहीं होती, क्योंकि किसी के सुख में सुखी होने की बात भी नहीं होती। जैसे बढ़ई टूटी हुई नाव की

---

१. गांधी जी, सरदार पटेल और श्री महादेव देसाई।

मरम्मत करते समय सुख-दुःख का अनुभव नहीं करता, वही बात ब्राह्मण की है। ब्राह्मी स्थिति वाला ही ब्राह्मण कहला सकता है।
—१६।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृष्ठ ५७]

- ब्राह्मी स्थितिवाला ही ब्राह्मण कहला सकता है।

४१. गीता का अनुयायी

गीताधर्म का अनुयायी प्रसन्नतापूर्वक बिना चीजों के काम चलाना सीखता है। गीता की भाषा में इसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं, कारण कि गीता में वर्णित सुख और दुःख समान है। स्थितप्रज्ञ की अवस्था सुख-दुःख से ऊँची है। गीता का भक्त न सुखी होता है, न दुखी। और जब ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है तब पीड़ा, आनन्द, विजय, पराजय, च्युति, प्राप्ति किसी की भी अनुभूति नहीं होती।
—४।३।१९३३। 'बापूज़ लेटर्स टू मीरा']

- स्थितप्रज्ञ की अवस्था सुख-दुःख से ऊंची है।

४२. ईश्वर

ईश्वर तो उसी के यहां रहता है, जिसे संसार त्याग देता है। जब दुनिया भाग जाती है, तभी ईश्वर आता है।
—ह० से०, २४।११।१९३३]

४३. मन्दिर और मूर्ति

मन्दिर की मूर्ति ईश्वर नहीं है। ईश्वर प्रत्येक अणु-परमाणु में रहता है अतः मूर्ति में भी बसता है।
—ह० से०, २४।११।१९३३]

४४. वेदों का सन्देश

मेरे विचार से वेदों का सारा सन्देश एकेश्वरवाद तथा सर्वात्म्यैक्य में ही आ जाता है।
—अन्नमलाई विश्वविद्यालय (मद्रास) १७।२।१९३४। ह० से०, ३०।३। १९३४]

४५. ईश्वर

ईश्वर तो कल्पनातीत है। इसलिए हम जिसका भजन करते हैं वह हमारी कल्पना का ईश्वर है। सच्चे ईश्वर को किसी ने देखा नहीं। जिन्होंने देखा है वे भी उसका वर्णन नहीं कर सके हैं। मुझे कौन-सा स्वरूप विशेष प्रिय है, यह कहना कठिन है। परन्तु जिस स्वरूप को मैं पूजता हूँ उसका नाम सत्य है। वह मूर्त-अमूर्त है। अनेक प्रकार से प्रकट होता है। पूर्ण स्वरूप अपूर्ण मानव को भला कैसे दिखाई दे?

—बोरसद, २८।५।१९३५। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृष्ठ २४६–२४७]

४६. परमेश्वर का स्वरूप

परमेश्वर पूर्ण और सर्वशक्तिमान है, फिर भी वह लोकतन्त्र का कितना बड़ा हिमायती है। वह हमारा कितना छल-कपट और कितना अन्याय सहता है। हमारे अन्दर और बाहर प्रत्येक अणु में वह व्याप्त है। फिर भी उसके ही रचे हुए हम तुच्छ प्राणी उसके अस्तित्व में शंका उठाते हैं और वह हमें ऐसा करने देता है, —ऐसी उसकी सहनशक्ति है। लेकिन उसने जिसे वह चाहे अपना दर्शन देने का अधिकार अपने पास सुरक्षित रखा है। उसके हाथ, पांव या कोई अन्य इन्द्रियां नहीं हैं, किन्तु जिसे वह अपना दर्शन देना चाहे वह मनुष्य उसे देख सकता है।

—ह० ज०, १४।११।१९३६]

४७. जन्म-मृत्यु और ईश्वरेच्छा

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

जन्म और मृत्यु दोनों ही महान रहस्य हैं। यदि मृत्यु दूसरे जीवन की पूर्व-स्थिति नहीं है, तो बीच का समय एक निर्दय उपहास है। हमें यह कला सीखनी चाहिए कि मृत्यु किसी की और कभी भी हो, उस पर हम हर्गिज रंज न करें। मेरे ख्याल में ऐसा तभी होगा, जब हम सचमुच ही अपनी मृत्यु के प्रति उदासीन होना सीखेंगे। और यह उदासीनता तब आयेगी, जब हमें हर क्षण यह भान होगा कि हमें जो काम सौंपा गया है उसे हम कर रहे हैं। लेकिन यह कार्य हमें कैसे मालूम होगा? वह ईश्वर की इच्छा को जानने से मालूम होगा। ईश्वर की इच्छा का

पता कैसे चलेगा? वह प्रार्थना और सदाचरण से चलेगा। असल में प्रार्थना का अर्थ ही सदाचरण होना चाहिए। हम रामायण से पहिले हर रोज प्रार्थना में एक गुजराती भजन गाते हैं, जिसकी टेक यह है—"हरिने भजता हजी कोईनी लाज जती नथी जाणी रे।" प्रार्थना का अर्थ ईश्वर के साथ एक हो जाना है।

—नन्दी पहाड़ी, १८।५।१९३६। बापू के पत्र: मीरा के नाम, पृ० २४५–२४६, न० जी० प्र० मं०]

४८. ईश्वर की पहिचान

मैं और किसी ईश्वर को नहीं, केवल उस ईश्वर को मानता हूँ, जिसका निवास करोड़ों मूकों के हृदय-धाम में है। वे लोग ईश्वर की उपस्थिति नहीं पहिचानते; मैं पहिचानता हूँ। मैं उसी ईश्वर की पूजा करता हूँ जो सत्य है या उस सत्य की जो इन करोड़ों की सेवा-द्वारा ईश्वर है।

—ह० से०, ११।३।१९३९]

४९. ईश्वर के प्रति श्रद्धा

यदि तुम यह कह सकते हो कि तुममें जीवन्त ईश्वर-श्रद्धा है, तो यह काफी है—फिर ईश्वर की व्याख्या तुम चाहे जिस तरह करो। तुम कहते हो कि तुम किसी एक तत्व को मानते हो, उसे चैतन्य-रूप समझते हो और वह तुम्हारा ईश्वर है, तो मैं इतना काफी समझता हूँ।

—ह० ज०। ह० से०, २४।६।१९३९]

५०. ईश्वर की कृति

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—ईश्वर आदमी के खयाल का पुतला ही है। ईश्वर ने ही आदमी को नहीं बनाया, आदमी ने ईश्वर को बनाया है। क्या यह ठीक नहीं?

उत्तर—एक लम्बे खत का यह निचोड़ है। इसमें सचाई का सिर्फ आभास ही है। बनाना और ईश्वर, इन दो शब्दों के खेल से यह गुमान पैदा किया गया है।

ईश्वर स्वयं नियम है और नियम बनानेवाला भी। इसलिए उसको बनाने का सवाल, और वह भी क्षुद्र मनुष्य के हाथों, उठता ही नहीं। आदमी बाँध बना सकता

है, लेकिन नदी नहीं पैदा कर सकता; कुर्सी बना सकता है, मगर लकड़ी नहीं। वह ईश्वर की अनेक कल्पनाएं कर सकता है। लेकिन जो लकड़ी, नदी वगैरह नहीं बना सकता, वह ईश्वर को कैसे बनायेगा इसलिए शुद्ध सत्य तो यह है कि ईश्वर ने आदमी को बनाया है। आदमी ने ईश्वर को पैदा किया है, यह तो सचाई का आभास ही है।

यों तो, जो कहना चाहे, वह कह सकता है कि ईश्वर न तो कुछ करता और न कुछ कराता है। दोनों बातें ईश्वर पर लागू होती हैं।

—नई दिल्ली ४।४।१९४६। ह० व०। ह० से० १४।४।१९४६]

५१. ईश्वर और सृष्टि-नियम

यह भी कहा जा सकता है कि जिस नियम के अनुसार सृष्टि चलती है और टिकी हुई है, उसे नियम बनानेवाले से अलग नहीं किया जा सकता। मानवीय भाषा में तो यहां तक कहा जा सकता है कि ईश्वर स्वयं उस नियम-चक्र के अधीन है। हम लोगों को यह कहावत बताई जाती थी कि "राजा कोई गलती नहीं कर सकता।" लेकिन ईश्वर की सृष्टि में इस प्रकार का अन्तर भी सम्भव नहीं है। केवल इतना कहा जा सकता है कि नियम में कोई गलती नहीं हो सकती क्योंकि नियम और नियम-निर्माता एक ही है। घास के छोटे-से-छोटे तिनके के भी ईश्वरीय-नियम-चक्र से मुक्त रह जाने की सम्भावना नहीं है।

—१०।३।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ३०।३।१९४७]

५२. आत्मानुकूल देवता

मनुष्य जैसा स्वयं होता है, वैसा ही अपना देवता बना लेता है। ईश्वर तो मनुष्य को बनाता ही है, मनुष्य भी ईश्वर को बनाता है। खूनी आदमी के देवता खून करते हैं।

—बांकीपुर मैदान (बिहार) १९।४।१९४७। बिहार समाचार से। ह० से०, ४।५।१९४७]

५३. परमेश्वर और जीव

परमेश्वर चेतनामय शक्ति है। जीव इसी शक्ति से बना है। यह (जीव) शरीर में रहता है, लेकिन वह स्वयं शरीर नहीं है। इस महान शक्ति के अस्तित्व

से इन्कार करनेवाला व्यक्ति स्वयं में रहनेवाली इस अटूट शक्ति से वंचित रहकर अपंग बनता है। वह बिना पतवार के नाव की तरह इधर-उधर टकराता है और अन्त में कहीं भी पहुँचे बिना नष्ट हो जाता है। हममें से बहुतों की यह दशा होती है।

ईश्वर-तत्व क्या है, उसमें कितनी शक्ति छुपी हुई है—यह हमेशा खोज का विषय रहा है।

—नई दिल्ली, १३।७।१९४७। ह० ब०। ह० से०, २०।७।१९४७]

५४. भगवान भला ही भला है

भगवान उसी अर्थ में भला नहीं है, जिसमें इंसान भला है। इंसान तुलना में भला है। वह बुरे की अपेक्षा भला अधिक है। लेकिन भगवान तो भला ही भला है। उसमें बुराई का नाम भी नहीं है। भगवान ने इंसान को अपनी ही तरह बनाया। लेकिन हमारे दुर्भाग्य से इंसान ने भगवान को अपने जैसा बना डाला है। इस घमण्ड से मनुष्यजाति दुःखों और कठिनाइयों के समुद्र में जा पड़ी है। भगवान सबसे बड़ा रसायनशास्त्री है। वह जहां मौजूद रहता है, वहां लोहा और कचरा भी खरा सोना बन जाता है। उसी तरह सारी बुराई भलाई में बदल जाती है।

फिर भगवान है, लेकिन हमारी तरह नहीं। उसके प्राणी मरने के लिए ही जीते हैं। लेकिन भगवान स्वयं जीवन है। इसलिए भलाई अपने अर्थ में, भगवान का गुण नहीं है। भलाई भगवान ही है। भगवान से अलग जिस भलाई की कल्पना की जाती है, वह निर्जीव चीज है। और, वह तभी तक टिकती है जबतक उससे हमें फायदा पहुँचता है। यही बात सारे सदाचारों के बारे में भी सच है। अगर उन्हें हमारे जीवन में जिन्दा रहना है, तो हमें यह सोचकर अपने में उन्हें बढ़ाना होगा कि भगवान से उनका सम्बन्ध है, वे भगवान के दिये हुए हैं। हम भले बनना चाहते हैं, क्योंकि हम भगवान को पाना और उसमें मिल जाना चाहते हैं।

संसार के सारे शुष्क नैतिक सिद्धान्त बेकार हैं, क्योंकि भगवान से अलग उनका कोई अस्तित्व नहीं है—वे निर्जीव हैं। भगवान के प्रसाद के रूप में वे जीवन्त बनकर आते हैं। वे हमारे जीवन के अंग बन जाते हैं और हमें ऊंचा उठाते हैं। इसके विरुद्ध, भलाई के बिना भगवान भी निर्जीव है। हम अपनी झूठी कल्पनाओं में ही उसे जीवित बनाते हैं—उसमें प्राण फूंकने की कोशिश करते है।

—कलकत्ता, १७।८।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २४।८।१९४७]

- भगवान सबसे बड़ा रसायनशास्त्री है, वह जहां मौजूद रहता है वह लोहा और कचरा भी खरा सोना बन जाता है।
- भगवान स्वयं जीवन है।
- संसार के सारे शुष्क नैतिक सिद्धान्त बेकार हैं क्योंकि भगवान से अलग उनका कोई अस्तित्व नहीं है—वे निर्जीव हैं।

५५. प्रार्थना जीवनदायी है

जैसे रोटी शरीर का भोजन है, वैसे ही प्रार्थना आत्मा का भोजन है।

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, १८।९।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २८।९। १९४७]

५६. अकर्म में कर्म

एक भाई लिखते हैं:—

"आपने 'मेरा धर्म' लेख में लिखा है, मैं 'अकर्म में कर्म' देखने की स्थिति में नहीं पहुँचा हूं। इस वचन का अर्थ कुछ विस्तार से बतायेंगे तो अच्छा होगा।"

एक स्थिति ऐसी होती है, जब व्यक्ति को विचार प्रकट करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसके विचार ही कर्म बन जाते हैं। वह संकल्प से कर्म कर लेता है। जब ऐसी स्थिति आती है, तब व्यक्ति अकर्म में कर्म देखता है यानी अकर्म से कर्म होता है, ऐसा कहा जा सकता है। मेरे कहने का यही अर्थ था। मैं ऐसी स्थिति से दूर हूँ। उस तक पहुँचना चाहता हूँ। मेरा प्रयत्न उसी ओर रहता है।

—नई दिल्ली, १६।१०।१९४७। ह० से०, २६।१०।१९४७]

५७. आत्मा का निवास

आत्मा उस शरीर में रहती है जो गीता की भाषा में सच्चे धर्म का घर है, न कि थोड़ी देर टिकनेवाले काम, क्रोध आदि भावों का। लेकिन इस प्रयास में तभी सफलता मिल सकती है, जब घर का स्वामी काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि छः प्रसिद्ध शत्रुओं से मुक्त हो।

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, १।११।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ९।११। १९४७]

५८. ज्योतिदाता ईश्वर

भगवान ही हमारी आत्मा को प्रकाश दे सकता है। यही प्रकाश सच्चा प्रकाश है।—राम और रावण भलाई और बुराई की शक्तियों के बीच हमेशा चलनेवाली लड़ाई के प्रतीक हैं। सच्चा प्रकाश अन्दर से पैदा होता है।

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, ११।११।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २३। ११।१९४७]

५९. ईश-प्राप्ति का साधन

ईश्वर केवल प्रेम के द्वारा मिल सकता है। वह प्रेम लौकिक नहीं, अलौकिक होना चाहिए। मीराबाई जो हर वस्तु में भगवान देखती थीं, ऐसे प्रेम का जीवन बिताती थीं। उनके लिए भगवान ही सब कुछ था।

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, १५।११।१९४७। ह० ज०। ह० से०। २३। ११।१९४७]

६०. मेरा लक्ष्य : आत्मदर्शन

मुझे जो करना है, तीस वर्षों से मैं जिसकी आतुरभाव से रट लगाये हुए हूँ, वह तो आत्मदर्शन है, ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरे सारे काम इसी दृष्टि से होते हैं। मेरा सब लेखन भी इसी दृष्टि से होता है, और राजनीति के क्षेत्र में मेरा पड़ना भी इसी वस्तु के अधीन होता है।

—आत्मकथा की प्रस्तावना, पृष्ठ ६]

६१. भक्ति

भक्ति का तात्पर्य है ईश्वर में आसक्ति। अनासक्ति के अभ्यास का भी यह सरल से सरल उपाय है।—भक्ति राजयोग है और सरल मार्ग है। जो हृदय में बैठ जाय वह सरल है, जो न बैठे वह कठिन है। इसीलिए उसे "सिर का सौदा" भी माना गया है। पर यह ऐसा है कि देखने वाले जलते हैं। कवि लिखता है कि उबलते तेल की कड़ाही में सुधन्वा हँसता था और बाहर खड़े हुए (लोग) काँपते थे। कथा है कि नन्द अन्त्यज की जब अग्निपरीक्षा हुई तब वह अग्नि में नाचता

था। इन सब की सचाई की ऐतिहासिकता खोजने की जरूरत नहीं है। जो किसी भी चीज में लीन होता है, उसकी ऐसी ही स्थिति होती है। वह अपने को भूल जाता है, पर प्रभु को छोड़कर दूसरे में लीन कौन होगा ?
—मंगलप्रभात, गीता-बोध, पृष्ठ ५६, स० सा० म०, दसवां संस्करण १९५४]
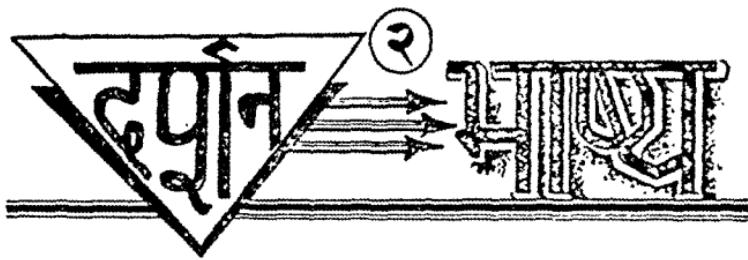
६२. ईश्वर के अस्तित्व की अनुभूति

मैं धुंधले तौर पर जरूर यह अनुभव करता हूं कि जब मेरे चारों ओर सब कुछ बदल रहा है, मर रहा है तब भी इन सब परिवर्तनों के नीचे एक जीवित शक्ति है जो कभी नहीं बदलती, जो सबको एक में ग्रथित करके रखती है, जो नई सृष्टि करती है, उसका संहार करती है और फिर नये सिरे से पैदा करती है। यही शक्ति ईश्वर है, परमात्मा है। मैं इन्द्रियों से जिनका अनुभव करता हूं उनमें से और कोई वस्तु टिकी नहीं रह सकती, नहीं रहेगी इसलिए "तत्सत्"—एक वही है। और यह शक्ति शिव है या अशिव ? मैं तो इसे शुद्ध शिव रूप में देखता हूं क्योंकि मैं देखता हूं कि मृत्यु के मध्य में जीवन कायम रहता है, असत्य के मध्य सत्य पनपता है, अन्धकार के बीच प्रकाश कायम रहता है। इसलिए मैं मानता हूं कि ईश्वर जीवन है, सत्य है, प्रकाश है। वह प्रेम है, वह परम मंगल है।
—कोलम्बिया ग्रामोफोन कम्पनी के एक रेकर्ड से। गांधी वाणी, सम्पा०—
श्री रामनाथ सुमन, पृष्ठ ६७]

दर्पन
२

१. कैवल्य

ईसाई पादरियों ने उतावलेपन में कैवल्य में हिन्दुओं के महान विश्वास का अर्थ शून्य में विश्वास किया है। वे कहते हैं कि 'हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार शून्य में विलीन हो जाना—अस्तित्व खो देना—सवसे वड़ी चीज है।' इस भाष्य ने ईसाई और हिन्दू धर्मों के वीच एक गहरी खाई का निर्माण कर दिया है जिससे दोनों की हानि हुई है।

संस्कृत के जिस शब्द का अनुवाद शून्य किया गया है उसके अर्थ के सम्बन्ध में मतैक्य न होने के कारण यह सारी भ्रान्ति उत्पन्न हुई है। साधारण तौर पर वह जिस अर्थ की व्यंजना करता है वह इस मान्यता के कारण कि हम इस समय जो हैं वही सव कुछ हैं, और तव हिन्दू दार्शनिक कहता है, शून्य मेरे लेखे सव-कुछ है, क्योंकि तुम जिसे सव-कुछ कहते हो वह तो प्रत्यक्ष ही नश्वर है।

(क्या शरीर और इन्द्रियों का नाश नहीं होगा और इसी तरह दूसरी सव वस्तुओं का भी जिन्हें हम देखते या अनुभव करते हैं?) शून्य को इस तरह देखें तो उससे वही विचार व्यवत होता है जो अन्तिम मोक्ष से होता है—अर्थात् ईश्वर से एकरूप होना। यह ईश्वर स्पेन्सर का महान 'अज्ञेय' तत्व है, किन्तु वह सापेक्ष अज्ञेय है, अर्थात् वह स्पेन्सर-द्वारा वर्णित ज्ञान के साधारण साधनों से ज्ञेय नहीं है। इतने पर भी यदि आप निरी साधारण बुद्धि से परे किसी उच्चतर साधन की सत्ता स्वीकार करें, जिसे वास्तव में हिन्दू और ईसाई दोनों ही स्वीकार करते हैं तो 'स' तत्'—वह तत्व—'अज्ञेय' नहीं हो सकता।

हिन्दू कहते हैं: वह जाना जा सकता है। ईसाई भी ऐसा ही कहते हैं—'जिन्होंने मुझे जान लिया उन्होंने परमपिता को जान लिया।' किन्तु फिर इस उद्धरण का अर्थ क्या है? कदाचित् शब्दों को छोड़कर दोनों वातों में कोई अन्तर नहीं है। जव कुहरा हट जायेगा तव हम एक दूसरे को अधिक अच्छी तरह पहिचानेंगे। तवतक यदि हम मतभेद की वातों की अपेक्षा एकता की वातों को खोज निकालने की कोशिश करें तो क्या यह सम्भव नहीं है कि हमें कुछ पहिले उस स्थिति तक पहुँचने में सहायता मिले?

—अंग्रेजी से। १९०३-१९०४। सं० गां० वां०, खण्ड ४, पृष्ठ १०१-१०२]

२. राम और रावण

श्री रामचन्द्र अथवा अन्य महापुरुषों के उदाहरणों का अक्षरशः स्थूल अर्थ लेना वहुत उलझन में पड़ना है। रावण का दस शीश और वीस भुजावाले शरीर के रूप में होना मुझे सम्भव नहीं लगा, परन्तु उसे महाविषयी और जड़ मान कर रामचन्द्र जी रूपी चैतन्य ने उसका विनाश किया, यह वात समझ में आ सकती है। तुलसीदास जी ने रामचन्द्र जी को मद, मोह और महा-ममता रूपी रजनी के तमपुंज का नाश करने वाले भगवान भास्कर की सेना का रूप दिया है। जव हममें मद, ममता और मोह शेष नहीं रहेंगे, तव क्या तुम समझते हो कि हममें किसी के भी शरीर का नाश करने की कामना लेशमात्र भी रह सकती है? अगर तुम नहीं कहते हो तो रामचन्द्र जी ,जो अभिमान, ममता, मोह आदि से रहित और दया के निधान थे, रावण का वध किस प्रकार कर सकते थे? फिर भी, जव हम उस विभूति को प्राप्त कर लेंगे और लक्ष्मण की तरह चौदह वर्ष तक निद्रा का त्याग कर देंगे और व्रह्मचर्य का पालन करेंगे, तव समझ सकेंगे कि शरीर-वल का प्रयोग कहां किया जा सकता है।

—श्री मगनलाल गांधी को लिखे पत्र से: फाल्गुन वदी ७ संवत् १९६६। २।४।-१९१०। सं० गां० वां०, खण्ड १० पृष्ठ २२०]

३. मोक्ष और ईश्वर

[श्री जमनालाल गांधी को लिखे गये पत्र से]

हम मोक्ष का पूरा अर्थ नहीं समझ सकते। उसका तो अनुभव ही करना होगा। उसका वर्णन भी नहीं किया जा सकता। वर्णन करने के लिए हमारे पास उचित इन्द्रियाँ नहीं हैं। जितना अर्थ समझा जा सकता है, वह है अनेक प्रकार की देहों में जन्म और उससे उत्पन्न होने वाले क्लेशों से छुटकारा, फिर भी यह कहने की जरूरत नहीं है कि ईश्वर नहीं है। ईश्वर का अर्थ हम अपनी ज्ञान की सीमा के अनुसार करते हैं।

ईश्वर न तो फल देने वाला है और न वह कर्त्ता है। किन्तु यदि देहधारी आत्माओं के मुक्त होने के वाद किसी एक ही आत्मा की कल्पना की जा सकती हो तो वह ईश्वर है। और वह जड़ नहीं है, वल्कि शुद्ध चेतन है। अद्वैतवादियों की भी यही मान्यता है। राजा-जैसी, किसी सत्ताधारी ईश्वर की कल्पना किसी भी काल में और किसी भी स्थिति में आवश्यक नहीं मालूम होती। उसकी आवश्यकता मान कर हम आत्मा की अनन्त शक्ति की सीमा वाँधते हैं।

—वैशाख वदी १०, ३०।५।१९१३। सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृष्ठ ८९]

४. आध्यात्मिक चर्चा

[श्री रावजी भाई पटेल को लिखा गया पत्र]

आपके पत्र को मैंने वार-वार पढ़ा। शंकराचार्य का एक श्लोक है, जिसमें कहा गया है कि समुद्र के किनारे बैठकर कोई घास के तिनके से समुद्र का पानी उलीचना चाहे तो इसके लिए उसे कितना धैर्य और समय चाहिए, ठीक उतना ही समय और धैर्य मन को मारने में यानी मोक्ष की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। लगता है, आप उतावले हो चले हैं।

वैसे मृत्यु के भय से तो मैं भी मुक्त नहीं हो पाया हूं—यद्यपि मैंने इस सम्बन्ध में वहुत चिन्तन किया है। पर तो भी मैं अधीर नहीं हुआ हूं। मैं सतत प्रयत्न में हूं और अवश्य ही किसी दिन मुक्त हो जाऊंगा। आप प्रयत्न का एक भी सुअवसर हाथ से न जाने दें। हमारा यही कर्त्तव्य है। परिणाम की इच्छा या प्राप्ति तो प्रभु के अधिकार की वात है। और इसलिए यह वखेड़ा क्यों? वच्चे को दूध पिलाते समय माता उससे होने वाले परिणाम का विचार नहीं करती, पर तो भी उसका परिणाम तो होता ही है। मृत्यु के भय को दूर करने के लिए—मनोविकारों को नष्ट करने के लिए—प्रयत्न करना चाहिए और प्रसन्नचित्त रहना चाहिए। ऐसा करने से वे दूर हो जायंगे। नहीं तो वह वात चरितार्थ होगी कि वन्दर का स्मरण न करने के प्रयत्न में उसका ख्याल वना ही रहा।

हम लोग पाप-योनि से उत्पन्न हुए, और पाप-कर्मों के परिणामस्वरूप ही देहाधीन हुए हैं। आप यह सारा मल पल-भर में कैसे धो डालने की अपेक्षा करते हैं?

सुगम पड़े उस ढव से रहो।
जैसे-तैसे प्रभु को लहो॥

अखाभगत ने ऐसा उपदेश दिया है। तुलसीदास भी कहते हैं कि संकट हो या न हो पर राम-नाम का जप निरन्तर जारी रखो। ऐसा करने से ही हमारा स्वार्थ सिद्ध होगा। और हमें जो स्वार्थ सिद्ध करना है वह यही (ईश्वर की प्राप्ति) है। अतः जप निरन्तर चलता रहे। और राम कौन है, यह तो हमें स्वयं सोचकर निर्णय कर लेना है। राम तो निरंजन हैं, निराकार हैं। राक्षसी वृत्तियों का समूह रूपी जो रावण है, दैवी वृत्तियों के अनेक शस्त्रों द्वारा उसका संहार करने वाली शक्ति ही राम है। इस शक्ति की प्राप्ति के लिए स्वयं राम को भी १३ वर्ष की तपश्चर्या करनी पड़ी। अस्तु, आप मन और तन दोनों को एक क्षण के लिए भी निष्क्रिय न रहने दें। दोनों ही को उत्साहपूर्वक कार्य में लगाये रहें, इसी से सारे उपद्रव शान्त

हो जायंगे। वाकी प्रभु पर तो दृढ़ विश्वास वनाये ही रहना चाहिए। मुझपर भरोसा करने में तो कोई साहस नहीं है। यह तो तभी काम आ सकता है जव आप ऊपर जो-कुछ कहा गया है,उसे जीवन में उतारें।

हृदय पवित्र होना चाहिए। विकारेन्द्रियों को विकार से वचाने का उपाय यही है। पर हृदय है क्या चीज? इसे पवित्र कव माना जाय? हृदय स्वयं आत्मा है, या आत्मा का स्थान है। इसका पवित्र हो जाना ही आत्मज्ञान की प्राप्ति है। इसके पवित्र हो जाने पर इन्द्रियों के विकार आदि ठहर ही नहीं सकते। लेकिन साधारण रूप में हम ऐसा मानते हैं कि हृदय को पवित्र करने का प्रयत्न करना ही हृदय का पवित्र हो जाना है। मुझे आपसे स्नेह है, इसका मतलव इतना ही हो सकता है कि मैं इस स्नेह को वनाये रखने में प्रयत्नशील हूँ। यदि प्रेम की वृत्ति अखण्ड हो जाय तव तो मैं ज्ञानी ही हो गया। पर मैं ज्ञानी तो नहीं हो पाया हूं। जिस-किसी व्यक्ति के प्रति मेरा सच्चा प्रेम होगा वह मेरेकथन अथवा हेतु के अर्थ का अनर्थ कदापि नहीं करेगा। और वह मेरी उपेक्षा तो कर ही नहीं सकेगा। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि यदि कोई मनुष्य हमें अपना शत्रु मानता है तो इसमें सर्वप्रथम दोष तो हमारा ही है। यह वात गोरों के साथ हमारे जो सम्वन्ध हैं, उनपर भी लागू होती है। इसलिए पूर्णरूप से हृदय की पवित्रता तो अन्तिम स्थिति—चरम स्थिति है। इस वीच ज्यों-ज्यों हमारी अन्तर की पवित्रता में वृद्धि होगी, विकारों का शमन होता जायगा। इन्द्रियों में तो विकार है ही नहीं।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः।'

इन्द्रियाँ तो मनोविकार की अभिव्यक्ति के स्थान हैं, उन्हीं के जरिए हम मनोविकारों को पहिचान पाते हैं।

मतलव यह हुआ कि इन्द्रियों का नाश करने से मनोविकार नष्ट नहीं हो जाते। हिजड़ों को देखिए, उनमें मनोविकारों की कमी नहीं होती। जो जन्म से ही नपुंसक हैं, वे भी वासनाग्रस्त रहकर अनेक कुकर्म करते हुए देखे जाते हैं। मेरी घ्राणशक्ति मन्द है, परन्तु सुवास के लिए तो मन होता ही है। जव कोई गुलाव आदि किसी फूल की वात करता है तो गधे की तरह यह मन उसी ओर खिंच जाता है और तव वड़ी जोर-जवरदस्ती के वाद कावू में आ पाता है।

ऐसे मनुष्यों के उदाहरण सुनने में आये हैं जिनका अपने मन पर कावू नहीं—पर जिनकी विचारशक्ति वड़ी तीव्र थी। निदान उन्होंने इन्द्रियछेदन कर दिया। सम्भव है ऐसी परिस्थिति में वही करणीय हो। मेरा मन चंचल हो उठे और अपनी वहिन पर ही मैं कुदृष्टि डाल दूं किन्तु इतना कामदग्ध होकर भी एकदम विमूढ़ न हो गया होऊं, तो ऐसे प्रसंग में वचने का कोई दूसरा उपाय न होने पर मुझे लगता है, इन्द्रिय-

छेदन कर डालना ही सम्भवतः पवित्र कार्य हो। लेकिन धीरे-धीरे प्रगति करने वाले मनुष्य का यह हाल नहीं होता। यह तो उसी के लिए सम्भव है जिसके मन में एकाएक तीव्र वैराग्य पैदा हो उठा हो और जिसका पिछला जीवन अच्छा न रहा हो। विकार उत्पन्न ही न हो और न इन्द्रियां चंचल बनें, इसके लिए किसी तत्काल-परिणामी उपाय की खोज ऐसी ही है जैसे वन्ध्या के द्वारा पुत्र की चाह करना। यह कार्य तो बहुत समय तक धैर्यपूर्वक साधना करने से ही सध सकता है। तत्काल होनेवाली मनःशुद्धि तो वैसी ही है जैसे जादू का आम—जो केवल देखने के लिए होता है। हाँ, इतना अवश्य हो सकता है कि मन पवित्र बन जाने की स्थिति में हो और व्यक्ति सन्तसमागम-रूपी पारसमणि की तलाश में रहे तो उसका स्पर्श पाते ही उसे अपने पवित्र स्वरूप का दर्शन हो जाय और तब अपवित्रता बीते-स्वप्न की स्मृति-जैसी लगने लगे। पर इसे तत्काल या चटपट हो जाना नहीं कहा जा सकता। परन्तु जिसे साधारण उपाय कहा जाय और जो सहज यानी तात्कालिक भी माना जा सकता है, वह यह है :

एकान्त सेवन, सत्संग की खोज, सत्कीर्तन, सद्वाचन, शरीर को लगातार परिश्रम-रत रखना, अल्पाहार फलाहार, अल्पनिद्रा, और भोग-विलास का त्याग। जो व्यक्ति यह सब कर सकता है, उसे मनोराज्य हस्तामलकवत् सहज ही प्राप्त है। इतना करते रहना चाहिए और दूसरे उपायों की तलाश में रहना चाहिए। जब-जब मनोविकार सिर उठाये तब-तब उपवास आदि व्रतों का पालन करना चाहिए।

.....का काम तो रावण की प्रवृत्ति का-सा था। उसने तपश्चर्या करके राक्षसी-वृत्ति उपलब्ध की। रामचन्द्र ने तपश्चर्या करके दैवी-वृत्ति का सम्पादन किया। इस प्रकार क्रिया एक सी हो तो भी हेतु की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न फल प्राप्त होते हैं।.....

इसे नहीं भूलना चाहिए कि हमारी जैसी याचना होगी वैसे ही देव हमें प्राप्त होंगे। तुलसीदास ने राम की मांग की इसीलिए कृष्ण श्रीराम बने और लक्ष्मी जी सीता।

—केप टाउन, फाल्गुनी सुदी १०; ७।३।१९१४। गुजराती। महात्मा गांधीना पत्रो और जीवनना स्मरण। सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृष्ठ ३६८, ६९, ७०]

५. आध्यात्मिक समाधान

[श्री मणिलाल गांधी को लिखा गया पत्र]

.....श्री कैलेनबैक चाहे जब सोयें, परन्तु तुम्हें तो एक ही नियम रखना चाहिए। खाने के बारे में भी यही बात है। तुम जिन वाक्यों को न समझ सके उनका

अर्थ यह है 'जो कर्म सिर्फ नियम से (अक्षरार्थ करके) किये जाते हैं उनके लिए तो शाप है, फिर भी ऐसा लिखा हुआ है कि जो नियम में वताये हुए कर्म नहीं करते रहते वे सव शापित हैं।' भावार्थ यह है कि केवल पुस्तकीय ज्ञान पाने वाले लोग कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसा ही वचन गीता जी में है, उस पर विचार कर लेना "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"—यह वाक्य अर्जुन से श्रीकृष्ण ने कहा था। इसका यह अर्थ नहीं कि शास्त्रविहित कर्म न किये जायं। परन्तु उन्हें करना ही काफी नहीं है। अर्थ यह है कि उनका गूढ़ अर्थ समझकर, उनका हेतु समझ कर हम उससे आगे वढ़ें। जो आदमी विहित कर्म छोड़कर शुष्क ब्रह्मवादी वन जाता है, वह न तो इधर का रहता है, न उधर का। वह शास्त्र का सहारा खो बैठता है, और ज्ञान का आधार उसे मिलता नहीं, इसलिए वह गिरता ही है। इसीलिए गेलेशियनों को सन्त पाल ने कहा था: "तुम लोग शास्त्र के अनुसार कर्म तो करो ही, परन्तु ईसा पर श्रद्धा रखकर उनकी शिक्षा का अनुसरण नहीं करोगे तो शापित रहोगे।" यही भावार्थ 'वाण्ड मेड' और 'फ्री वुमैन' के सम्बन्ध में है। वाण्ड यानी वन्धन। शास्त्र को स्थूल माता की उपमा दी गई है और कहा गया है कि वह तो गुलामी के दर्जे की है, इसलिए उसकी सन्तान भी गुलाम ही होती है।

श्रद्धा अर्थात् भक्ति को दिव्य माता की उपमा दी गई है। और दिव्य माता की सन्तान देवरूप होती है। यह भावार्थ समझकर आगे-पीछे के वाक्यों पर विचार करना और लिखना कि अच्छी तरह समझ में आया या नहीं। पहले कारिन्थियन्स के १५ वें प्रकरण के ५६ वें श्लोक का अर्थ यह है कि 'पाप ही मौत का डंक है, यानी पापी मनुष्य के लिए ही मौत डंक के रूप में है।' और दूसरे वाक्य का अर्थ यह है कि पुण्यशील के लिए मृत्यु मोक्ष का साधन है, और शास्त्रों के शुष्क ज्ञान में शाप का वल होता है। यह हम पग-पग पर देखते हैं। शास्त्रों के नाम पर सैकड़ों पाप होते हैं। पांचवें रोमन्स के २० वें श्लोक का अर्थ आसान है। उसके सिवा, शास्त्र घुसा और अपराध वढ़े। लेकिन जव-जव पाप का पुंज वढ़ा, तव-तव ईश्वर की कृपा भी वढ़ी। यानी ऐसे कलिकाल के समय भी शुष्क ज्ञान के वन्धन से छूटने वाले आदमी मिल गये। उन्होंने भक्तिमार्ग वताकर शास्त्रों का गूढ़ार्थ सिखाया, यह ईश्वर की कृपा है। सेण्ट जान के १५ वें प्रकरण के तीसरे श्लोक का अर्थ यह है: 'जो वचन मैंने तुमसे कहे हैं उन वचनों के अनुसार चलने से तुम शुद्ध वनोगे। Arc को भविष्य का वाचक समझो और Through का अर्थ 'अनुसार चलने' से करो।

जीवन में सुधार-सम्वन्धी परिवर्तन करने से पहिले विचार करना। पर मैं चाहता हूं कि परिवर्तन करने के वाद उनसे जोंक की तरह चिपटे रहो। श्री कैलेनवैक

के गुणों पर मुग्ध रहो। उनकी कमजोरी दिखाई दे तो उसे समझ कर उससे दूर रहो। तुमने जो नया परिवर्तन किया है, वह विचारपूर्वक नहीं किया। जितने परिवर्तन श्री कैलेनवैक करें वे सब करने को तुम बंधे हुए नहीं हो। तुम्हें स्वतन्त्र विचार करना और उनपर दृढ़ रखना चाहिए। ऐसा करने में कभी भूल भी होगी; उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। ऐसा निर्मल चित्त से खूब विचार करने के बाद तुम्हें मेरे विचारों का विरोध करने का भी अधिकार है। और जहां ऐसा करने में नीति दिखाई दे वहां विरोध करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। तुम मोक्ष का तत्व समझो और मोक्षेच्छु बनो, यह मेरी तीव्र इच्छा है। और यह तब-तक कभी नहीं होगा जबतक तुममें स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति और दृढ़ता नहीं आयेगी। अभी तो तुम्हारी हालत किसी लता की जैसी है। लता जिस वृक्ष पर चढ़ती है, उसी का रूप ले लेती है। यह दशा आत्मा की नहीं है। आत्मा तो स्वतन्त्र है और मूल रूप में सर्व-शक्तिमान है।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥

जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण भगवान से पूछा कि मनुष्य इच्छा के विरुद्ध भी किसलिए पाप करता है, तो भगवान ने उसे उपर्युक्त उत्तर दिया। इसका अर्थ यह है कि पाप का कारण काम है, क्रोध है, वह रजोगुण से उत्पन्न होता है। वह बहुभक्षी है और बहुत पाप करनेवाला है। उसे जरूर अपना वैरी समझो। यह सिद्धान्त है। इसलिए जब भी कैलेनवैक को गुस्सा आया, तुम्हें शान्त रहना चाहिए था। अपने बड़े-बूढ़े क्रोध करें तब हम नम्र रहें, चुप रहें और जवाब देना पड़े तो कहें कि मैं अपनी भूल सुधारूंगा, अब मुझे माफ कीजिए। इसमें यह स्वीकार करने की बात नहीं है कि तुमने जान-बूझ कर अपराध किया है। फिर जब बड़े लोग शान्त हों तब शंका हो वहां विनयपूर्वक उनसे पूछा जाय। श्री कैलेनवैक शान्त हो जायं तब तुम उनसे पूछ सकते हो कि नेत्र सड़े जा रहे थे, अतः उनमें से कुछ देने में क्या दोष हुआ ?

डेविड की स्तुति समझने लायक है। उसमें उन्होंने दुष्टों का नाश करने की जो इच्छा बताई है उसका रहस्य यह है कि उनसे बुराई सहन नहीं हो सकती थी। यही विचार रामायण में है। राक्षसों का संहार देवताओं और मनुष्यों ने भी चाहा है। "जय राम रमा" की स्तुति की यही भावना है। उसका आध्यात्मिक अर्थ यह है कि डेविड (अर्जुन—दैवी सम्पत्ति) अपने शत्रु (दुर्योधन आदि—आसुरी सम्पत्ति) का नाश चाहता है। यह सात्विक वृत्ति है और भक्तिभाव में यह दशा रहती है।

जब ज्ञान-दशा उत्पन्न होती है तब दोनों प्रवृत्तियां दब जाती हैं और सिर्फ शुद्ध भाव—केवल ज्ञान रहता है। इस दशा का वर्णन बहुत करके बाइबिल में नहीं आता। डेविड दोषयुक्त होने पर भी भक्त थे। और उनकी स्तुति में उनके जो उद्गार हैं उनकी भाषा सरल है। वे महान् होने पर भी ईश्वर के सामने दीन बनकर रहते हैं और अपने को तिनके के बराबर समझते हैं।

—फीनिक्स, नेटाल। रविवार, चैत्र वदी, २, १२।४।१९१४। गुजराती से सं० गां० वां० खण्ड १३, पृष्ठ ३९६, ९७, ९८]

- केवल पुस्तकीय ज्ञान पाने वाले लोग कभी मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते।
- पाप ही मौत का डंक है।
- आत्मा स्वतन्त्र है और मूलरूप में सर्वशक्तिमान है।

६. वीतराग

[श्री राव जी भाई पटेल को लिखे पत्र से]

स्नेहियों के प्रति वीतराग स्थिति उत्पन्न हो जाय, तभी हृदय सचमुच दयावान बनता है और स्नेहियों की सेवा करता है। बा के प्रति मैं जिस हद तक वीतराग बना हूं उसी हद तक उसकी सेवा अधिक कर सका हूं। बुद्ध ने अपने माता-पिता को छोड़कर उनका भी उद्धार कर दिया। गोपीचन्द ने वैराग्य लेकर अपनी माता के प्रति अत्यन्त शुद्ध प्रेम सूचित किया।.....जब तुम्हारी आत्मा विशुद्ध होगी तब उसकी परछाई तुम्हारे सब स्नेहियों पर पड़े बिना नहीं रह सकती।

—केपटाउन, बुधवार, ज्येष्ठ वदी ३, १०।६।१९१४। गुजराती से। गांधीजीनी साधना। सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृष्ठ ४१३-१४]

७. तप का आदर्श

[श्री मगनलाल गांधी को लिखे पत्र का अंश]

रामचन्द्र जी चाहे जितने वीर क्यों न रहे हों, उन्होंने कैसा ही पराक्रम क्यों न दिखाया हो और लाखों राक्षसों का वध क्यों न किया हो किन्तु यदि उनके पीछे लक्ष्मण और भरत-जैसे भक्त भाई न होते तो आज राम को कोई जानता भी नहीं। सारांश यह है कि रामचन्द्र जी में केवल असाधारण क्षात्र-तेज ही होता तो उनकी प्रीति कालान्तर में समाप्त हो जाती। राक्षसों का संहार करने वाले उनके-जैसे अनेक वीर हो गये। उनमें से किसी की कीर्ति आज घर-घर में नहीं गाई जाती। रामचन्द्र में कुछ विशेष तेज था और वे उस तेज को लक्ष्मण और भरत में उतार

सके थे। इसलिए लक्ष्मण और भरत महान तपस्वी हुए। उनके इसी तप का माहात्म्य गाते हुए तुलसीदास ने कहा है कि महान मुनियों के लिए भी जो तपअगम है, ऐसा तप करने वाले भरत-जैसे तपस्वी न जन्मे होते तो मुझ-जैसे मूढ़ को राम का दर्शन कौन कराता। उसका अर्थ यह हुआ कि राम के यश अथवा उनकी शिक्षाओं के रक्षक लक्ष्मण और भरत जी हैं। फिर तप ही सब कुछ है। क्योंकि आहार और निद्रा का चौदह वर्ष तक त्याग जैसे लक्ष्मण ने किया था वैसे ही इन्द्रजित ने भी किया था किन्तु लक्ष्मण को रामचन्द्र जी से तप का जो मर्म प्राप्त हुआ था इन्द्रजित उससे वंचित था। इतना ही नहीं उसकी वृत्ति तप का दुरुपयोग करने की ओर थी। इसलिए उसे राक्षस कहा गया और वह भक्त तथा मुमुक्षु लक्ष्मण के हाथों पराजित हुआ।.....आदर्श को क्रियान्वित करने का मार्ग तप है।

—१४।३।१९१५ के बाद। गुजराती से। गांधीजीनी साधना। महात्मा गांधीजीना पत्रो। सं० गां० वां०, खण्ड १३, पृष्ठ ४१-४२]

० आदर्श को क्रियान्वित करने का मार्ग तप है।

८. सत्कार्य और हमारी अभिलाषा

[सुश्री एस्थर फैरिंग को लिखे पत्र से]

"इच्छा से मुक्ति" एक.....पारिभाषिक व्यंजना है और उसका मतलब है सर्वोत्तम से कुछ कम बनने या पाने की कामना करना। अतः ईश्वर से प्रेम करना कोई इच्छा नहीं है। यह तो स्वाभाविक कामना है। किन्तु मैं कुछ भलाई कर सकूं इसलिए विशाल धन की उपलब्धि एक इच्छा है और इसका दमन करना चाहिए। हमारे अच्छे कार्य उतने सहज होने चाहिए जितना सहज हमारे पलकों का उठना-गिरना है। हमारी इच्छा किये बिना ही वे स्वतः उठती-गिरती रहती हैं। अच्छे कार्य करना भी उतना ही सहज होना चाहिए।

—अहमदाबाद, ६।९।१९१७। अंग्रेजी से। माई डियर चाइल्ड। सं० गां० वां०, खण्ड १३, पृष्ठ ५३५]

९. कर्म-गति : ईश्वर

[श्री आनन्दशंकर ध्रुव को लिखे गये पत्र से]

श्री कृष्ण उद्धव से कहते हैं

"ऊधो कर्मन की गति न्यारी"

सच है कि हम तो यही गा सकते हैं, क्योंकि बहुत-सी बातों के बारे में हमारा अज्ञान असीम है। परन्तु वास्तव में कर्मों की गति न्यारी नहीं है। वह तो सर्व

सीधी और सरल है। हम जो बोते हैं, वैसा ही काटते हैं। जैसा करते हैं, वैसा भरते हैं।

प्रकृति ही ईश्वर है। ईश्वर ही प्रेम है और भूल के लिए प्रेमपूर्ण दण्ड दिये ही जाते हैं।

[नडियाद, १७।८।१९१८। गुजराती से। महादेवभाई नी डायरी, खण्ड ४। सं० गां० वां०, खण्ड १५, पृष्ठ २५]

१०. हमारी नीति

[श्री जमनालाल बजाज को लिखे पत्र से]

मेरी दृष्टि में 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस कथन का चमत्कार दिनोंदिन बढ़ता जाता है। इसलिए हमें हमेशा धीरज रखना चाहिए। धैर्य-पालन से हमारे अन्दर की कठोरता चली जायगी। कठोरता के न रहने पर हममें सहिष्णुता बढ़ेगी। अपने दोष हमें पहाड़–जैसे बड़े प्रतीत होंगे और संसार के राई-जैसे। शरीर की स्थिति अहंकार को लेकर है। शरीर का आत्यन्तिक नाश मोक्ष है। जिसके अहंकार का सर्वथा नाश हुआ है, वह मूर्तिमन्त सत्य बन जाता है। उसे ब्रह्म कहने में भी कोई बाधा नहीं हो सकती। इसीलिए परमेश्वर का प्यारा नाम तो दासानुदास है।

[१६।३।१९२२। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृष्ठ २७, अ० भा० स० से० सं०]

११. प्रार्थना, अन्तःकरण और आत्मा

मैं अपना कोई काम बिना प्रार्थना किये नहीं करता। मनुष्य स्खलनशील है। वह कभी निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। जिसे वह अपनी प्रार्थना का उत्तर समझता है, सम्भव है कि वह उसके अहंकार की प्रतिध्वनि हो। अचूक मार्ग दिखाने के लिए मनुष्य का अन्तःकरण पूर्ण निर्दोष और दुष्कर्म करने में असमर्थ होना चाहिए। मैं ऐसा दावा नहीं करता। मेरी आत्मा तो भूलती-भटकती, गिरती-पड़ती, उठती और प्रयत्न करती अपूर्ण आत्मा है।.....मैं ईश्वर के और इसलिए मनुष्य जाति के पूर्ण एकत्व को मानता हूँ। हमारे शरीर यदि भिन्न हैं, तो क्या हुआ? आत्मा तो हमारे अन्दर एक ही है। सूर्य की किरणें परावर्तन से अनेक दिखाई देती हैं। पर उनका आधार—उद्गम एक ही है। इसलिए मैं अपने को अत्यन्त दुष्टात्मा से

भी अलग नहीं मान सकता (और न सज्जनों के साथ मेरी तद्रूपता से ही इन्कार किया जा कता है)।

—यं० इं०। हि० न० जी०, २८।९।१९२४]

● मनुष्य स्खलनशील है। वह कभी निर्भ्रान्त नहीं हो सकता।

१२. ईश्वर पर श्रद्धा

[ज्ञान की शोध में रत एक पच्चीस वर्षीय, मातृ-पितृ-विहीन युवक ने गांधी जी को पत्र लिखा था, जिसके कुछ अंश यहां उसकी मनोदशा व्यक्त करने के लिए दिये जा रहे हैं—"समुद्र में बड़ी-बड़ी हिलोरें आती हैं, परन्तु आगे-पीछे छोटी-छोटी तरंगें रहती हैं। मेरी दो छोटी-छोटी तरंगें हैं—बड़ी तरंग है ईश्वर-सम्बन्धी समस्या! ...राम और रावण के दृष्टान्त से तनिक सन्तोष नहीं होता। राम भी गये, रावण भी चला गया। किसे पता, कहां गये और क्या हुआ? नीति से क्या और अनीति से क्या? दोनों का आचरण करने वाले के लिए मृत्यु निश्चित है। मृत्यु के बाद मोक्ष है, सद्गति है, इस बात पर श्रद्धा नहीं बैठती।...

"कर्म कर फल की आशा न रख"—इस आश्वासन से मेरा काम नहीं चलता। इसका अर्थ तो हुआ—मजदूरी, कर पैसा मिलने की आशा न रख।...मूर्ति को देखकर मेरा काम नहीं चलता। लोग लकड़ी की स्त्री और बालबच्चे बनाकर दुनिया नहीं चलाते। नामस्मरण में भी मुझे इतनी ही अश्रद्धा है।...राम नाम जपा करता तो मेरा पता न लगता। अजामिल नारायण नाम से पार हो गया, यह गप मालूम होती है।

जन्मतः ब्राह्मण इस युवक में शुद्ध तर्क-सम्मत किन्तु आस्था-रहित विचार-दर्शन का बाहुल्य प्रतीत होता था। मार्ग-दर्शन के लिए गांधी जी से प्रार्थना की गई थी। इस युवक को गांधी जी ने 'ज्ञान की शोध में' लेख लिख कर उत्तर दिया। यह लेख यहां दिया जा रहा है।—सम्पा०]

इस पत्र के लेखक निर्मल-हृदय हैं। वे ज्ञान की शोध में हैं। पर ज्यों-ज्यों वह ज्ञान को खोजते हैं, त्यों-त्यों वह उनसे दूर भागता दिखाई देता है। जो चीज बुद्धि के द्वारा नहीं प्राप्त हो सकती उसके लिए वे बुद्धि का प्रयोग करते हैं। जिस वस्तु के लिए वे बुद्धि खपा रहे हैं उसके फल-हेतु वे व्यर्थ ही प्रयत्न कर रहे हैं। कर्म के फल की आशा न रखने का अर्थ यह नहीं कि वह नहीं मिलेगा। आशा न रखने का अर्थ यही है कि कोई कर्म निष्फल नहीं जाता और संसार की विचित्र रचना में ऐसा गुम्फन है कि यही पहिचान में नहीं आता कि तना कौन सा है और शाखा कौन

सी है। तव जो अनेक मनुष्यों के अनेक कर्म-समुदाय का फल है, उसमें यह कौन जान सकता है कि एक व्यक्ति के कर्म का फल कौन-सा है ? यह जानने का हमें क्या अधिकार है ? एक राजा के सैनिक को भी अपने किये कर्म का फल जानने का अविकार नहीं होता, तव फिर हमें—जो इस संसार के सैनिक हैं, अपने कर्म का फल जान कर क्या करना है ? क्या इतना ही ज्ञान पर्याप्त नहीं है कि कर्म का फल अवश्य मिलता है ?

इन लेखक को न तो राम-नाम में श्रद्धा है, न ईश्वर में। मैं उनसे सिफारिश करता हूँ कि वे करोड़ों (व्यक्तियों) के अनुभव पर श्रद्धा रखें। संसार ईश्वर के अस्तित्व पर कायम है। राम-नाम ईश्वर का एक नाम है। राम-नाम से घृणा हो तो वे (उसे) शौक से ईश्वर के नाम से या अपने रचे किसी नाम से पूजें। अजामिल के उदाहरण को गप मानने का कोई कारण नहीं। प्रश्न यह नहीं कि अजामिल हुआ था या नहीं, किन्तु यह है कि वह ईश्वर का नाम लेते हुए तर गया या नहीं। पुराणकर्त्ताओं ने मनुष्यजाति के अनुभवों का वर्णन किया है। उनकी अवहेलना इतिहास की अवहेलना करना है। माया के साथ युद्ध तो चल ही रहा है। अजामिल-जैसों ने युद्ध करते हुए नारायण नाम का जप किया है। मीराबाई सोते-बैठते, खाते-पीते गिरिवर का नाम जपती थीं। यह नाम युद्ध का विकल्प नहीं, बल्कि युद्ध करते हुए यह नाम लेकर उसे पवित्र बनाने की विधि है। राम नाम, द्वादश मन्त्र जपने वाले माया के साथ युद्ध करते हुए नहीं थकते, बल्कि उसको थका देते हैं। इसलिए कवि ने गाया है :—

'माया सबको मोहित करती, हरिजन से वह हारी रे।"

राम-रावण का दृष्टान्त तो शाश्वत है। इससे सन्तोष न होने का अर्थ इतना ही है कि असन्तुष्ट होने वाले ने राम-रावण को ऐतिहासिक पात्र मान लिया है। ऐतिहासिक राम-रावण तो चले गये किन्तु मायावी रावण आज भी मौजूद हैं। और जिनके हृदय में राम का निवास है वे राम-भक्त आज भी रावण का संहार कर रहे हैं।

जो वात मृत्यु के वाद ही जानी जाती है उसको आज जान लेने का मोह रखना कितना प्रवल मोह है ? पाँच साल का वालक पचासों साल में क्या हो जायगा, यह जानने का मोह रखे तो क्या दशा होगी ? परन्तु जिस प्रकार ज्ञानी वालक दूसरों के अनुभव से अपने सम्बन्ध में कुछ अनुमान कर सकता है, उसी तरह हम भी दूसरों के अनुभव से मृत्यु के वाद की स्थिति का कुछ अनुमान करके सन्तुष्ट रह सकते हैं।

मृत्यु के बाद क्या होगा, यह जानने से क्या लाभ ? सुकृत का फल मीठा और दुष्कृत का कड़वा होता है, यही विश्वास क्या पर्याप्त नहीं है ? श्रेष्ठतम कृत्य का फल मोक्ष है। मोक्ष की यह व्याख्या मैं पूर्वोक्त लेखक को सूचित करता हूं।

लेखक मूर्ति का स्थूल अर्थ करके भ्रामक उपमा लेकर खुद ही भुलावे में पड़ गये हैं। मूर्ति परमेश्वर नहीं, बल्कि उसमें परमेश्वर का आरोप करके लोग तल्लीन होते हैं।

हम लकड़ी के मनुष्य बनाकर काठ के पुतलों से मनुष्य का काम नहीं ले सकते। परन्तु चित्र के द्वारा अपने मां-बाप की स्मृति ताजी करने के लिए, उसका प्रयोग करके लाखों सुपुत्र और सुपुत्रियां क्या बुरा करते हैं! परमेश्वर सर्व-व्यापक है। नर्मदा के एक पत्थर में भी उसका आरोप करके परमेश्वर की भक्ति की जा सकती है।

—न० जी०, हिं० न० जी०, १९।३।१९२५]

- संसार ईश्वर के अस्तित्व पर कायम है।
- राम-नाम ईश्वर का एक नाम है।
- पुराणकर्त्ताओं ने मनुष्य-जाति के अनुभवों का वर्णन किया है। उनकी अवहेलना इतिहास की अवहेलना करना है।
- सुकृत का फल मीठा और दुष्कृत का कड़वा होता है।
- मूर्ति परमेश्वर नहीं, बल्कि उसमें परमेश्वर का आरोप करके लोग तल्लीन होते हैं।
- परमेश्वर सर्व-व्यापक है।

१३. मूर्ति-पूजा

. . . मुझे . . . मूर्तिपूजक हिन्दू के अज्ञान पर दया नहीं आई, बल्कि मुझे उसके ज्ञान की विशेष प्रतीति हुई। उसने मूर्तिपूजा का मार्ग दिखाकर एक ईश्वर के अनेक ईश्वर नहीं बनाये हैं, वरन् उसने जगत् को यह वस्तु खोज कर दिखा दी है कि मनुष्य एक ईश्वर की पूजा उसके अनेकानेक रूपों-द्वारा कर सकते हैं और वे उसकी ऐसी ही पूजा किया करेंगे। ईसाई और मुसलमान अपने को मूर्ति-पूजक भले ही न मानें लेकिन अपनी कल्पना की पूजा करने वाले भी तो मूर्तिपूजक ही हैं। मस्जिद और गिरजाघर भी एक प्रकार की मूर्तिपूजा है। वहीं जाकर मैं अधिक पवित्र हो सकूंगा—इस कल्पना में भी मूर्ति-पूजा है और इसमें कोई दोष नहीं है। कुरान में या बाइबिल में ही ईश्वर का साक्षात्कार होता है, इस कल्पना

में भी मूर्ति-पूजा है और वह निर्दोप है। हिन्दू इससे भी आगे बढ़ कर कहते हैं कि जिसे जो रूप पसन्द आये उसी रूप से वह ईश्वर की पूजा करे। पत्थर या सोने-चांदी की मूर्ति में ईश्वर को मान कर, उसका घ्यान कर जो मनुष्य अपनी चित्त-शुद्धि करेगा, उसको भी मोक्ष प्राप्त करने का पूरा अधिकार होगा।

—न० जी०। हि० न० जी०, २।४।१९२५]

१४. ईश्वर-साक्षात्कार

...ईश्वर-साक्षात्कार क्या है? यह अनुभव करना कि उसका आसन हमारे हृदय में है। यह अनुभव हमें उसी तरह होना चाहिए जिस तरह बालक प्रत्यक्ष प्रमाण के बिना माता के वात्सल्य का अनुभव करता है। क्या बालक माता के प्रेम के अस्तित्व—(के सम्बन्ध) में युक्ति और प्रमाण खोजता है, तर्क-वितर्क करता है; क्या वह उसे दूसरे को सिद्ध करके बता सकता है? वह तो निःशंक होकर कहता है—वह (मातृ-स्नेह) अवश्य है। यही स्थिति ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में हो जानी चाहिए। ईश्वर तर्क से परे है, पर उसकी प्रतीति अवश्य होनी चाहिए। हमें चाहिए कि हम तुलसीदास, चैतन्य, रामदास तथा अन्य आध्यात्मिक पुरुषों के अनुभव को घता न बतायें, जिस तरह कि हम सांसारिक पुरुषों के अनुभव को नहीं बतलाते हैं।

—य० इं०। हि० न० जी०, ९।७।१९२५]

● ईश्वर तर्क से परे है।

१५. गीता के प्रकाश में मृत्यु-रहस्य

[देशबन्धु के श्राद्ध के अवसर पर किये गये प्रवचन से]

गीता मेरे लिए शाश्वत मार्ग-दर्शिका है। अपने प्रत्येक कार्य के लिए मैं गीता से आधार खोजता हूँ। और यदि (वह) नहीं मिलता तो उस कार्य को करते हुए रुक जाता हूँ या अनिश्चित रहता हूँ। इसलिए मैंने जब हिचकिचाहट के साथ कुछ कहना स्वीकार किया तब सोचा कि मृत्यु और जन्म के रहस्य पर कुछ कहूं। जब-जब मेरे कुटुम्बियों या स्नेहियों की मृत्यु का अवसर आया है, मैंने गीता को ही स्मरण किया है। और यह बात गीता में ही मिलती है कि मृत्यु के लिए शोक नहीं करना चाहिए। मेरी आँखों से यदि किसी समय आँसू निकले हैं, तो वे अनिच्छा से, और उसका कारण मेरी निर्बलता है। आज हम गीता जी से कुछ आश्वासन प्राप्त करें।

मैंने अनेक बार कहा है कि गीता एक महारूपक है। मैं नहीं समझता कि इसमें दो पक्षों के युद्ध का वर्णन है और मैंने जब जेल में महाभारत पढ़ी तब मेरी यह धारणा और सुदृढ़ हो गई। स्वयं महाभारत भी मुझे तो एक महाधर्मग्रन्थ मालूम होता है। उसमें ऐतिहासिक घटनाएं तो हैं, पर वह इतिहास नहीं है। सर्प-सत्र-जैसी कथा को पढ़कर यदि शब्दार्थ करने लगे, तो कैसे सन्तोष होगा ? तब तो भ्रम से हमारा दम घुटने लगेगा। कवि स्वयं ही ढिंढोरा पीट कर कहता है कि मैं इतिहासकार नहीं हूँ। गीता जी में हमारे हृदय के अन्दर चल रहे युद्ध का वर्णन है और उसका वर्णन करने के लिए लेखक अनेक स्थूल ऐतिहासिक घटनाओं का उपयोग करता है, पर उसका उद्देश्य है हमारे हृदय के अन्दर प्रकाश डाल कर हमारे द्वारा उसका संशोधन करवाना। जब आप दूसरे अध्याय के अन्त में पहुँचते हैं, तब ऐसी शंका तक रखना असम्भव हो जाता है कि ऐतिहासिक युद्ध चल रहा है।

लेकिन मेरा विषय मृत्यु का रहस्य है। यदि आप मुझसे यह बात मानने में सहमत हों कि गीता एक रूपक है, तो उसके अनुसार मृत्यु का रहस्य भी समझ सकेंगे।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः॥

इस श्लोक में सारा रहस्य भरा हुआ है। अनेक श्लोकों में बार-बार कहा गया है कि शरीर 'असत्' है। 'असत्' का अर्थ 'माया' नहीं, ऐसी वस्तु नहीं जो कभी किसी रूप में उत्पन्न न हुई हो, बल्कि उसका अर्थ है क्षणिक, नाशवान्, परिवर्तनशील। फिर भी हम अपने जीवन का सारा व्यवहार यह मानकर चलाते हैं मानों हमारा शरीर शाश्वत है। हम शरीर को पूजते हैं, शरीर के पीछे पड़े रहते हैं। यह सब हिन्दू-धर्म के विरुद्ध है। हिन्दू धर्म में यदि कोई बात चाँदनी की तरह स्पष्ट कही गई है, तो वह है शरीर और दृश्य पदार्थों की असत्ता। फिर भी हम जितना मृत्यु से डरते हैं, रोते-पीटते हैं, उतना शायद ही कोई करते हों।

महाभारत में तो यह कहा गया है कि रुदन से मृत आत्मा को सन्ताप होता है। और गीता इसीलिए लिखी गई है कि लोग मृत्यु को कोई भीषण वस्तु न मानें। मनुष्य का शरीर काम करते-करते थक जाता है। अनेक शरीर तो मृत्यु के द्वारा दुःख से मुक्त होते हैं। मैं ज्यों-ज्यों देशबन्धु के अहर्निश कर्म-मय जीवन पर अधिकाधिक विचार करता हूँ त्यों-त्यों मुझे प्रतीत होता है कि वे आज जीवित हैं। जब उनका शरीर था तब वे जीवित नहीं थे; आज पूरी तरह जीवित हैं। हमने तो स्वार्थ के कारण मान लिया कि उनका शरीर ही महत्व की वस्तु

थी। वह (गीता) हमें सिखाती है और मैं प्रतिदिन इस पाठ को समझता जा रहा हूं कि अशाश्वत वस्तु के लिए की गई सारी चिन्ता व्यर्थ है, व्यर्थ कालक्षेप है।

'असत् का भाव'—इसका अर्थ है अस्तित्व का न होना। और जो सत् है उसका नाश कभी नहीं हो सकता। शेक्सपियर ने जहां यह कहा है कि मनुष्य का किया शुभ कर्म उसके साथ मिट्टी में दब जाता है और अशुभ ही संसार में जीवित रहता है, वहां उसने भारी भूल की है। संसार भला कर जाने वाली आत्माओं का ही नित्य स्मरण करता है। दुनिया असत् और अशुभ को सरलता से भूल जाती है; शुभ का संग्रह करती है। रामचन्द्र जी को ही लीजिए। राम को मैं अवतार मानता हूं। पर मैं यह नहीं मानता कि जब उन्होंने शरीर धारण किया होगा, तब एक भी दोष न किया होगा। पर आज हम उन्हें "पूर्ण" मानते हैं। कृष्ण को भी पूर्णावतार जानते हैं। आज लाखों करोड़ों हिन्दुओं में एक भी ऐसा नहीं जो राम या कृष्ण के दोष निकालता हो। यह भी "नासतो विद्यते भावो" श्लोक का रहस्य प्रकट करता है—संसार ने उनके शाश्वत शरीर का संग्रह कर रखा, अशाश्वत-दोष इत्यादि की किसी को खबर नहीं।

अतएव गीता इस श्लोक में पुकार-पुकार कर कहती है कि हम अपने जीवन में सत्य को धारण करके जियें और माया, असत्य, पाखण्ड का त्याग करें। अनेक बार वाणी असत्य हो जाती है, पाखण्ड-रूप हो जाती है। क्रोध असत् है, काम, मोह, मद आदि असत् हैं। हमें इन तमाम सर्पों का सत्र करना है। स्थूल सर्प तो बेचारा केवल शरीर को कष्ट देता है, पर ये सर्प तो हमारी रग-रग में पहुंच जाते हैं और हमारी आत्मा को भी हानि पहुंचाने की धमकी देते हैं। परन्तु आत्मा को हानि नहीं पहुंच सकती। वह अविनाशी है। यदि हम इस बात को समझ लें कि सत् क्या है तो जन्म-मृत्यु का रहस्य भी समझ जायंगे।

जिस प्रकार रसायनशास्त्री कहते हैं कि जब मोमबत्ती जलती है तब उसकी किसी वस्तु का नाश नहीं होता, उसी प्रकार जब शरीर मरता है और जलता है तब कोई वस्तु नष्ट नहीं होती। जन्म और मृत्यु एक ही वस्तु की दो स्थितियां हैं। किसी स्वजन के मरण पर हम जो रोते-चीखते हैं उसका कारण है स्वार्थ।...

—हि० न० जी०, ३०।७।१९३५]

- गीता मेरे लिए शाश्वत मार्ग-दर्शिका है।
- गीता एक महारूपक है।
- गीता में हमारे हृदय के अन्दर चल रहे युद्ध का वर्णन है।
- शरीर असत् है...का अर्थ है क्षणिक, नाशवान, परिवर्तनशील।

- अशाश्वत वस्तु के लिए की गई सारी चिन्ता व्यर्थ है, व्यर्थ कालक्षेप है।
- जो सत् है उसका नाश कभी नहीं हो सकता।
- दुनिया असत् और अशुभ को सरलता से भूल जाती है, शुभ का संग्रह करती है।
- हम अपने जीवन में सत्य को धारण करके जियें और माया, असत्य, पाखण्ड का त्याग करें।
- अनेक बार वाणी असत्य हो जाती है, पाखण्ड-रूप हो जाती है।
- आत्मा को हानि नहीं पहुंच सकती। वह अविनाशी है।
- जन्म और मृत्यु एक ही वस्तु की दो स्थितियां हैं।

१६. कुछ दार्शनिक गुत्थियां

एक महाशय ने अत्यन्त विनम्र भाव से तीन प्रश्न पूछे हैं। उन्होंने प्रश्नों के साथ उनके उत्तर भी लिखे हैं लेकिन स्थानाभाव के कारण मैं उन्हें यहां दे नहीं रहा हूं। प्रश्न उन्हीं के शब्दों में दिये गये हैं। वे इस प्रकार हैं:—

"१. आप वर्ण-भेद जन्मजात मानते हैं। किन्तु आपकी यह भी मान्यता है कि किसी भी आदमी को कोई भी काम करने में हर्ज नहीं और किसी भी व्यक्ति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि द्विजों के गुण जा सकते हैं। ऐसी दशा में वर्ण या उपाधि की क्या जरूरत है? सिर्फ जन्म के नाम का आरोपण क्यों, जन्म को इतना महत्व क्यों?

"२. आप अद्वैतवाद मानते हैं और यह भी कहते हैं कि सृष्टि अनादि, अनन्त तथा असत्य है। अद्वैततत्व सृष्टि के अस्तित्व से इन्कार करता है। आप द्वैतवादी भी नहीं, क्योंकि आप जीवात्मा के स्वतन्त्र कर्त्तृत्व पर श्रद्धा रखते हैं। इसलिए आपको अनेकान्तवादी या स्याद्वादी कहना क्यों ठीक नहीं?

"३. आपने कई बार लिखा है कि ईश्वर का अर्थ देह-रहित, वीतरागी स्वतन्त्र और उपाधि-रहित शुद्धात्मा है। अर्थात् ईश्वर ने सृष्टि नहीं पैदा की और वह पाप पुण्य का निकाल (फल) भी नहीं देने बैठता। फिर भी आप बार-बार ईश्वरेच्छा की बात किया करते हैं। उपाधि-रहित ईश्वर को इच्छा कैसे हो सकती है? और आप उसकी इच्छा के अधीन कैसे हो सकते हैं? आपकी आत्मा जो कुछ करना चाहती है, कर सकती है। यदि एकदम न कर सकती हो तो उसी आत्मा का पूर्व-संचित कर्म ही उसका कारण है, ईश्वर नहीं। आप सत्याग्रही

होने के कारण केवल मूढ़ात्माओं को समझाने के लिए यह असत्य बात नहीं कहते होंगे। तो फिर ईश्वरेच्छा का यह दैववाद क्यों ?"

१. मैं वर्ण-भेद मानने में सृष्टि-नियमों का समर्थन करता हूं। हम लोग माता-पिता के कुछ गुण-दोषों को जन्म से ही प्राप्त करते हैं। मनुष्य योनि में मनुष्य ही पैदा होते हैं। और यही जन्मानुसार वर्णों का सूचक है। और जन्म से प्राप्त गुण-दोषों में हम लोग कुछ अंशों में परिवर्तन कर सकते हैं। इसलिए कर्म को भी स्थान है। पूर्व जन्म के फलों को एक ही जन्म में सर्वथा मिटा देना शक्य नहीं है। इस अनुभव की दृष्टि से जन्मना ब्राह्मण को ब्राह्मण मानने में ही सब तरह का लाभ है। यदि ब्राह्मण विपरीत कर्म करने से इसी जन्म में शूद्र बने, तो भी संसार उसे ब्राह्मण मानता रहे, इससे संसार की कोई हानि न होगी। यह सच है कि आज वर्ण-भेद का उल्टा अर्थ हो रहा है और इसलिए यह भी सच है कि वह छिन्न-भिन्न हो गया है। फिर भी मैं जिस नियम का पग-पग पर अनुभव करता हूं, उससे मैं कैसे इन्कार कर सकता हूँ। मैं यह समझता हूं कि यदि मैं उससे इन्कार करूं तो बहुत-सी मुश्किलों से बच जाऊंगा। लेकिन यह दुर्बुद्धि का मार्ग है। मैंने तो यह स्पष्ट पुकार कर कहा है कि वर्ण की स्वीकृति में मैं ऊंच-नीच के भेद को स्वीकार नहीं करता। जो सच्चा ब्राह्मण है वह तो सेवक का भी सेवक बन कर रहता है। ब्राह्मण में भी क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण होते हैं। उसमें केवल ब्राह्मण गुण दूसरे गुणों की अपेक्षा अधिक होना चाहिए। लेकिन आज तो वर्ण भी चाक पर चढ़ा हुआ है और उसमें से क्या निकलेगा, यह तो ईश्वर ही या ब्राह्मण जान सकते हैं।

२. यह सच है कि मैं अपने को अद्वैतवादी मानता हूं लेकिन द्वैतवाद का भी समर्थन कर सकता हूँ। सृष्टि में प्रति क्षण परिवर्तन होता है। इसीलिए सृष्टि असत्—अस्तित्व-रहित, कही जाती है। लेकिन परिवर्तन होने पर भी उसका एक रूप ऐसा है, जिसे स्वरूप कह सकते हैं। उस रूप से वह है। उसे भी हम लोग देख सकते हैं। इसलिए वह सत्य भी है। उसे सत्यासत्य कहें तो भी कुछ आपत्ति नहीं। इसलिए यदि मुझे अनेकान्तवादी या स्याद्वादी माना जाय तो इससे मेरी कोई हानि न होगी। मैं स्याद्वाद को जैसा मानता हूं वैसा ही उसे मानता हूँ—पण्डित लोग जैसा मानना चाहें, उस प्रकार मैं शायद नहीं मानता। वे मुझे वादविवाद के लिए बुलायें तो मैं हार जाऊंगा। मैंने अपने अनुभव से देखा है कि अपनी दृष्टि में मैं सदा ही सच्चा होता हूं और अपने प्रामाणिक टीकाकार की दृष्टि में बहुत-सी बातों में गल्ती पर होता हूं। मैं यह जानता हूं कि अपनी-अपनी दृष्टि में हम दोनों ही सच्चे हैं। इस ज्ञान के कारण मैं किसी को भी सहसा झूठा, कपटी

आदि नहीं मान सकता। सात अन्धों ने हाथी का सात प्रकार से वर्णन किया था और वे सब अपनी-अपनी दृष्टि में सच्चे थे, एक-दूसरे की दृष्टि में गलत थे और ज्ञानी की दृष्टि में सच्चे भी थे और गलत भी। मुझे यह अनेकान्तवाद बड़ा ही प्रिय है। उसके द्वारा ही मैंने मुसलमान की दृष्टि से मुसलमान की और ईसाई की दृष्टि से ईसाई की परीक्षा करना सीखा है। पहिले जब कोई मेरे विकारों को गलत समझता था तो मुझे उस पर बड़ा क्रोध आता था लेकिन अब मैं उसकी आँखों से उसका दृष्टिबिन्दु देख सकता हूँ इसलिए मैं उस पर भी प्रेम कर सकता हूँ। क्योंकि मैं संसार के प्रेम का भूखा हूँ। अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है।

३. मैं ईश्वर के जिस रूप को मानता हूँ उसी का वर्णन करता हूँ। लोगों को झूठा समझा कर मैं अपना अधःपात क्यों होने दूँ? मुझे उनसे कौन-सा इनाम लेना है? मैं तो ईश्वर को कर्ताअकर्ता मानता हूँ। इसका भी उद्भव मेरे स्याद्वाद से होता है। जैनों के स्थान पर बैठ कर (मैं) ईश्वर का अकर्तृत्व सिद्ध करता हूँ और रामानुज के स्थान पर बैठ कर उसका कर्तृत्व सिद्ध करता हूँ। हम सब अचिन्त्य का चिन्तन करते हैं, अवर्णनीय का वर्णन करते हैं और अज्ञेय को जानना चाहते हैं इसलिए हमारी भाषा तुतलाती है, अपूर्ण है और कभी-कभी तो वक्र होती है। इसी कारण तो ब्रह्म के लिए वेदों ने अलौकिक शब्दों की रचना की और उसका परिचय 'नेति' के विशेषण से दिया। यद्यपि वह "यह नहीं है"[1], फिर भी वह है। अस्ति सत्, सत्य ०,१,११...ऐसा कह सकते हैं। हम लोग हैं, हमें पैदा करने वाले माता-पिता हैं और उनके भी पैदा करने वाले हैं...इसलिए एक सबको पैदा करने वाला भी है, ऐसा मानने में कोई पाप नहीं वरन् पुण्य है। यह मानना धर्म है। यदि वह नहीं है तो हम भी नहीं हो सकते। इसलिए हम उसे एक स्वर से परमात्मा, ईश्वर, शिव, विष्णु, राम, अल्ला, खुदा, दादा होरमज, यहोवा, गाड इत्यादि अनेक और अनन्त नामों से पुकारते हैं। वह एक है; अनेक है; अणु से भी छोटा और हिमालय से भी बड़ा है; समुद्र के एक बिन्दु में भी समा सकता है और इतना भारी है कि सात समुद्र मिल कर भी उसे सहन नहीं कर सकते। उसे जानने के लिए बुद्धिवाद का क्या उपयोग हो सकता है? वह तो बुद्धि से अतीत है। ईश्वर को मानने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है। मेरी बुद्धि अनेक तर्क-वितर्क कर सकती है। अत्यन्त प्रबल नास्तिक के साथ वाद-विवाद करने में मैं पराजित हो सकता हूँ। फिर भी मेरी श्रद्धा, बुद्धि से भी

---

१. नेति का शब्दार्थ।

इतनी अधिक आगे दौड़ती है कि मैं समस्त संसार-द्वारा विरोध होने पर भी यही कहूंगा—'ईश्वर है, वह अवश्य है।'

लेकिन जिसे ईश्वर को अस्वीकार करना है उसे उसको अस्वीकार करने का भी अधिकार है, क्योंकि वह तो बड़ा दयालु है, रहीम है, रहमान है। वह मिट्टी का बना हुआ कोई राजा तो है नहीं जो उसे अपनी दुहाई स्वीकार कराने के लिए सिपाही रखने पड़ें। वह हमें स्वतन्त्रता देता है, फिर भी केवल अपनी दया के बल हम लोगों को नमन करने के लिए मजबूर करता है। लेकिन हम लोगों में से कोई यदि नमन न करे, तो भी वह कहता है—खुशी से न करो, मेरा सूर्य तो तुम्हारे लिए भी रोशनी देगा, मेरा मेघ तो तुम्हारे लिए भी पानी बरसायेगा, अपना अधिकार चलाने के लिए मुझे तुम्हारे ऊपर बल-प्रयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो नाराज़ हैं, वे भले ही उसे न मानें, लेकिन मैं करोड़ों बुद्धिमानों में एक हूं। इसलिए प्रणाम करने से कभी नहीं थकता।

—न० जी०। हिं० न० जी०, २१।१।१९२६।]

- मैं वर्ण-भेद मानने में सृष्टि-नियमों का समर्थन करता हूं।
- वर्ण की स्वीकृति में मैं उंच-नीच के भेद को स्वीकार नहीं करता।
- जो सच्चा ब्राह्मण है, वह तो सेवक का भी सेवक बन कर रहता है।
- मुझे...अनेकान्तवाद बड़ा ही प्रिय है।
- अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है।
- मैं....ईश्वर को कर्त्ता-अकर्त्ता मानता हूं।
- हम सब अचिन्त्य का चिन्तन करते हैं, अवर्णनीय का वर्णन करते हैं और अज्ञेय को जानना चाहते हैं।
- वह (ईश्वर) एक है, अनेक है; अणु से भी छोटा और हिमालय से भी बड़ा है।
- ईश्वर को मानने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है।
- मैं समस्त संसार-द्वारा विरोध होने पर भी कहूंगा—ईश्वर है, वह अवश्य है।
- वह (ईश्वर) बड़ा दयालु है, रहमान है।

१७. शरीर से मोह नहीं

[सुश्री मीराबहिन को लिखे पत्र से]

तुम्हें मेरे शरीर से मोह हर्गिज न होना चाहिए। शरीर-रहित आत्मा तो हमेशा तुम्हारे साथ ही है। और वह उस शरीर-बद्ध दुर्बल जीवात्मा से अधिक

है, जिसके साथ शरीर की सारी मर्यादाएँ लगी हुई हैं। शरीर-रहित आत्मा सम्पूर्ण है और उसी की हमें आवश्यकता है। यह हम तभी अनुभव कर सकते हैं, जब हमें अनासक्ति का अभ्यास हो।

—भरतपुर के बाद गाड़ी में, २२।३।१९२७। 'बापू के पत्र : मीरा के नाम', पृष्ठ २६, न० जी० प्र० मं०]

१८. ईश्वर का अस्तित्व

पत्र-लेखक गण यदा-कदा मुझे इन पृष्ठों में ईश्वर-सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर देने को कहा करते हैं। मुझे 'यंग इंडिया' में बार-बार ईश्वर का नाम लेने का यही दण्ड सहना पड़ता है। यद्यपि ऐसे सभी प्रश्नों पर विचार करना असम्भव है, किन्तु निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर देना अनिवार्य है—

"१२।५।२७ की 'यंग इंडिया' में आप लिखते हैं कि इस दुनिया में निश्चय की आशा रखना भूल है। यहां तो परमात्मा यानी सत्य के सिवा सभी कुछ अनिश्चित है।"

"फिर आप दूसरी जगह लिखते हैं—"परमात्मा अत्यन्त सहिष्णु और धर्मशील है। वह अत्याचारी को समय-समय पर गम्भीर चेतावनियां देता है, और उसको अपनी चिता अपने आप ही सजाने देता है।"

"मैं नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूं कि ईश्वर का अस्तित्व कुछ निश्चित बात नहीं है। उसका उद्देश्य होना चाहिए, सर्वत्र सत्य का विस्तार करना। तब वह दुनिया में तरह-तरह के बुरे आदमियों को क्यों रहने देता है? अपनी विचार-शून्यता को लेकर दुनिया में सर्वत्र बुरे आदमी फैले हुए हैं जो अपनी छूत फैलाते हैं और इस तरह बदनीयती, और बेईमानी की विरासत आगे आनेवाली पीढ़ियों को देते जाते हैं।

"ईश्वर तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिशाली कहा जाता है। तब वह अपनी सर्वज्ञता से पाप का पता लगा कर, अपनी सर्वशक्तिमत्ता से सभी शैतानी करने वालों को वहीं का वहीं क्यों नहीं नष्ट कर देता और बुरे आदमियों की उन्नति क्यों नहीं रोक देता?

"फिर ईश्वर इतना सहिष्णु क्यों है? वह इतना धैर्यशील क्यों है? अगर उसका यही स्वभाव है तो फिर उसका क्या प्रभाव रहेगा? दुनिया में तो, बदमाशी, बेईमानी और अत्याचार फैले ही हुए हैं।

"परमात्मा अगर किसी अत्याचारी को अपनी चिता आपही सजाने देता है तो फिर उसके अत्याचारों के नीचे गरीब लोगों के पिसने के पहिले ही उसे

क्यों नहीं मार डालता ? क्यों वह किसी अत्याचारी को भरपूर अत्याचार करने देता है और हजारों आदमियों के उसके अत्याचार के कारण सत्यानाश हो चुकने और उनका नीतिधर्म नष्ट हो चुकने के बाद उसे मरने देता है ?

"संसार में आज भी उतनी ही बुराइयाँ हैं, जितनी कभी थीं। उस ईश्वर में कोई क्यों विश्वास करे, जो दुनिया को बदलने के लिए, उसे भले और पुण्यात्मा आदमियों के रहने का स्थान बनाने के लिए अपनी शक्तियों का उपयोग नहीं करता ?

"मैं देखता हूँ कि दुश्चरित्र लोग बुराई करते हुए भी स्वस्थ और दीर्घायु होते हैं। दुश्चरित्रता की बदौलत वे अल्पायु होकर क्यों नहीं मर जाते ?

"मैं ईश्वर में विश्वास करना चाहता हूँ। किन्तु मेरे विश्वास का कोई आधार नहीं है। कृपया मुझे 'यंग इंडिया' के द्वारा सन्मार्ग दिखाइए और मेरे अविश्वास को विश्वास में परिवर्तित कीजिए।"

यह तर्क सनातन है। मेरे पास इसका कोई नया, मौलिक जवाब नहीं है। मगर फिर भी मैं बतलाऊँगा कि मैं ईश्वर में क्यों विश्वास करता हूँ। ऐसा कहने की प्रेरणा मुझे इसलिए होती है कि मुझे मालूम है कि ऐसे नौजवान हैं जो मेरे विचारों और कार्यों में दिलचस्पी रखते हैं। एक तरह की अकथनीय, अज्ञात शक्ति का अनुभव होता है, मगर तो भी इसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता क्योंकि जिन सब शक्तियों का ज्ञान मुझे इन्द्रियों से होता है यह उन सबसे परे हैं। यह इन्द्रियों के परे हैं।

मगर मर्यादित क्षेत्र में ईश्वर का अस्तित्व युक्तियों से भी प्रमाणित किया जा सकता है। साधारण विषयों में हम जानते हैं कि लोगों को यह पता नहीं होता कि कौन, क्यों और कैसे शासन करता है। फिर भी वे जानते हैं कि निश्चय ही ऐसी कोई शक्ति है जो शासन करती है। गत वर्ष अपनी मैसूर की यात्रा में मैं अनेक गरीब आदमियों से मिला था। पूछने पर मालूम हुआ कि वे यह नहीं जानते कि उनका राजा कौन है। उन्होंने सिर्फ यही कहा कि कोई देवता राज्य करता होगा। जब इन गरीब देहातियों का ज्ञान अपने शासक के विषय में इतना कम है तब मैं इस पर क्यों आश्चर्य करूँ कि मैं राजाओं के राजा परमात्मा के अस्तित्व को नहीं जानता जो महाराजा मैसूर अपनी प्रजा से जितने बड़े हैं उसकी अपेक्षा वह मुझसे अनन्त गुना अधिक बड़ा है। मगर फिर भी जिस तरह मैसूर के गरीब देहातियों को अनुभव होता था, मुझे भी ऐसा अवश्य लगता है कि विश्व में नियमितता है, व्यवस्था है, सभी प्राणियों, सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में जिनका इस संसार में अस्तित्व है, कोई अपरिवर्तनीय, अटल नियम लागू होता है। यह कोई अन्धा

निष्प्राण नियम नहीं है क्योंकि कोई निष्प्राण नियम सजीव प्राणियों पर शासन नहीं कर सकता। सर जगदीश चन्द्र वसु की खोजों की बदौलत अब सभी पदार्थों को सजीव कहा जा सकता है। इसलिए जो नियम सभी प्राणियों, सभी जीवों पर शासन करता है, वह परमात्मा है। नियम और नियमकर्त्ता दोनों ही एक हैं। मैं नियम या नियमकर्त्ता किसी के अस्तित्व से इन्कार नहीं कर सकता, क्योंकि इनके वारे में मैं वहुत कम जानता हूं। जैसे किसी सांसारिक शक्ति के अस्तित्व को न मानने से मेरा तनिक भी वचाव नहीं हो सकता, उसी तरह परमात्मा को और उसके नियम को अस्वीकृत करने से मैं उनके प्रभाव से वच नहीं सकता। इसके विपरीत नम्रतापूर्वक, शान्ति से दैव-वल स्वीकार कर लेने से जीवन-यात्रा सहज हो जाती है जैसे सांसारिक शासन को मान लेने से उसके नीचे जीवन सहज हो जाता है।

मैं धुंधले तौर पर यह अनुभव जरूर करता हूं कि जव मेरे चारों ओर सभी कुछ वदल रहा है, इन सव परिवर्तनों के नीचे एक जीवन्त शक्ति है जो कभी नहीं वदलती; जो सवको एक में वाँध कर रखती है; जो नई सृष्टि पैदा करती है। यही शक्ति ईश्वर है; परमात्मा है। मैं इन्द्रियों से जिनका अनुभव कर पाता हूँ, उनमें से और कोई वस्तु टिकी नहीं रह सकती; नहीं रहेगी इसलिए 'तत्सत्' वही है। और यह शक्ति शिव (कल्याणकारी) है या अशिव (अनिष्ट-चिन्तक) ? मैं तो इसे शुद्ध कल्याणकारी रूप में ही देखता हूं, क्योंकि मैं देखता हूं कि मृत्यु के मध्य में जीवन स्थित रहता है; असत्य के मध्य में सत्य का अस्तित्व वना रहता है, इसलिए मैं मानता हूं कि ईश्वर जीवन है; सत्य है, प्रकाश है। वह प्रेम है। वही परम मंगल है।

मगर जिससे केवल वुद्धि को सन्तोष मिले वह परमात्मा नहीं है। ईश्वर तो तभी ईश्वर कहा जा सकता है जव उसका साम्राज्य हृदय पर हो। उसके वन्दे के हर एक छोटे काम में भी उसकी झलक मिलनी चाहिए। यह तो तभी हो सकता है जव उसका सच्चा दर्शन मिले। वह दर्शन पांच इन्द्रियों के ज्ञान से अधिक सच्चा होना चाहिए। इन्द्रियों का ज्ञान हमें चाहे जितना सच्चा क्यों न मालूम हो, किन्तु वह गलत हो सकता है। अनेक वार इन्द्रियां हमें धोखा देती हैं। जो ज्ञान इन्द्रियों के परे होता है, उसमें भूल नहीं हो सकती। यह वाहरी प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता किन्तु परमात्मा का साक्षात्कार करने वाले के आचार-व्यवहार तथा चरित्र में परिवर्तन से सिद्ध होता है।

इस प्रकार की साक्षी सभी देशों तथा जातियों के नवियों और ऋषिमुनियों की अटूट पंक्ति के अनुभव में मिलती है। इस प्रमाण से इन्कार करना मानों अपने अस्तित्व को ही अस्वीकृत करना है।

इस तरह के साक्षात्कार के पहिले अचल विश्वास पैदा होता है। जो आदमी स्वयं ही ईश्वर की उपस्थिति की परीक्षा करना चाहे वह जीवन्त श्रद्धा से उसका अनुभव कर सकता है। और चूंकि श्रद्धा या विश्वास को बाहरी प्रमाणों से सिद्ध नहीं किया जा सकता, इसलिए सबसे सुरक्षित मार्ग है संसार के नैतिक शासन में विश्वास रखना, और इसलिए नैतिक नियम, सत्य और प्रेम के नियम की सर्वोपरिता में श्रद्धा रखना। जहां सत्य और प्रेम के विरुद्ध हर वस्तु का तुरन्त ही इन्कार कर देना हो, वहां श्रद्धा या विश्वास का सहारा ही सबसे अधिक सुरक्षित है।

मगर इन सब बातों से पत्र-लेखक की दलील का जवाब नहीं दिया जा सकता। मैं स्वीकार करता हूं कि उन्हें युक्तियों से विश्वास नहीं दिला सकता। श्रद्धा बुद्धि से परे है। मैं उन्हें इतनी ही सलाह दे सकता हूं कि आप असम्भव काम करने की कोशिश मत कीजिए, युक्तियों के द्वारा मैं संसार में बुराइयों के अस्तित्व का कारण नहीं समझा सकता। ऐसा करने की इच्छा करना तो स्वयं ईश्वर की बराबरी करना है। इसलिए मैं बुराई को बुराई ही मान लेने की नम्रता रखता हूं। और मैं ईश्वर को बहुत ही सहनशील और धर्मशील इसलिए कहता हूं कि वह संसार में बुराइयों को भी रहने देता है। मैं जानता हूं कि उसमें कुछ बुराई नहीं है। उसमें अगर बुराई हो तो वही उसका सृष्टा है, मगर फिर भी उससे अछूता रहता है।

मैं यह भी जानता हूँ कि अगर मैं ठेठ मौत तक का ख़तरा झेल कर भी बुराइयों के विरुद्ध युद्ध नहीं करूंगा तो मैं परमात्मा को कभी नहीं जान सकूंगा। मेरी श्रद्धा का कवच तो मेरा अपना ही मर्यादित और नम्र अनुभव है। मैं जितना ही शुद्ध, विकार-रहित बनने का प्रयत्न करता हूँ, मुझे परमात्मा उतना ही निकट जान पड़ता है। आज तो मेरी श्रद्धा केवल नाम की है। मगर जिस दिन वह हिमालय पहाड़ के समान अटल हो जायेगी, हिमालय की चोटियों पर जमी बर्फ के समान ही चमकीली और शुभ्र हो जायगी, उस दिन मुझमें और कितनी शक्ति होगी। तब तक मैं पत्र-लेखक को यही कहूंगा कि आप भी न्यूमैन[1] के समान परमात्मा का भजन कीजिए, जिसने अपने अनुभव से गाया था :—

> चारों ओर फैले हुए अन्धकार में, हे प्रेमल ज्योति! मुझे रास्ता बता, मुझे रास्ता बता।
> रात अँधेरी है और मैं घर में बहुत दूर पड़ा हुआ हूँ।
> तू मुझे रास्ता बता।

---

१. कार्डिनल न्यूमैन, अंग्रेजी के सन्त कवि

मेरे रास्ते का हिसाब तूही रखा कर, मैं दूर-दूर-
के दृश्य देखने का लोभ नहीं रखता, मेरे लिए एक
ही पग जाना काफी है।
तू मुझे रास्ता वता।'
—यं० इं०। हि० न० जी०। ११।१०।१९२८]

- मर्यादित क्षेत्र में ईश्वर का अस्तित्व युक्तियों से भी प्रमाणित किया जा सकता है।
- कोई निष्प्राण नियम सजीव प्राणियों पर शासन नहीं कर सकता।
- जो नियम सभी प्राणियों, सभी जीवों पर शासन करता है, वह परमात्मा है।
- परमात्मा...को अस्वीकृत करने से मैं उसके प्रभाव से वच नहीं सकता।
- ईश्वर जीवन है, सत्य है, प्रकाश है। वह प्रेम है। वही परम मंगल है।
- जिससे केवल वुद्धि को सन्तोष मिले वह परमात्मा नहीं है।
- श्रद्धा या विश्वास को वाहरी प्रमाणों से सिद्ध नहीं किया जा सकता।
- श्रद्धा वुद्धि से परे है।

१९. निराकार-साकार

निराकार निर्गुण है, अतः मनुष्य की कल्पना से परे है। अतः सव देहधारी जाने-अनजाने साकार के ही भक्त हैं।
—मंगल प्रभात, ४।११।१९३०। 'गीता-वोध, ६३।६४', सं० सा० मं०, दसवां संस्करण १९५४]

---

१. अंग्रेजी भजन का अंश यह है:—
लीड, काइंडली लाइट, एमिड दि इनसर्कलिंग ग्लूम लीड दाऊ मी आन।
दि नाइट इज डार्क ऐण्ड आई ऐम फार फ्राम माई होम, लीड दाऊ मी आन।
कीप दाऊ माई फीट, आई डू नाट आस्क टु सी,
दि डिसटेंट सीन, वन स्टेप इज एनफ़ फ़ार मी।
लीड दाऊ मी आन।

२०. यज्ञ में अक्षर ब्रह्म

कर्म को ब्रह्म ने पैदा किया। ब्रह्मा की उत्पत्ति अक्षर ब्रह्म से हुई, इसलिए यह समझना चाहिए कि यज्ञ मात्र में—सेवामात्र में—अक्षर ब्रह्म, परमेश्वर विराजमान है।

—सोमप्रभात, २४।११।१९३०। 'गीताबोध', पृष्ठ १७, स० सा० मं० संस्करण १९५४]

२१. पृथिवी को नमन

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

पृथिवी को नमस्कार[1] करके हम उसकी तरह ही नम्र बनना सीखते हैं या हमें सीखना चाहिए। जो प्राणी उसे रौंदते हैं, उनका भी यह पालन करती है। इसलिए वह विष्णु की पत्नी होने योग्य ही है। मेरी राय में यह कल्पना सत्य के विरुद्ध नहीं है। उलटे वह सुन्दर है और ईश्वर की सर्वव्यापकता के विचार से पूरी तरह संगत है। उसके लिए कोई वस्तु जड़ नहीं है। हम तो मिट्टी के ही बने हुए हैं। मिट्टी न हो तो हम भी न हों। मैं ईश्वर को पृथिवी के द्वारा अनुभव करके ईश्वर के साथ अधिक निकटता अनुभव करता हूं। पृथिवी को नमस्कार करने में मैं ईश्वर के प्रति अपना ऋण फौरन महसूस करता हूं। और अगर मैं उस माता का सपूत हूं, तो मैं तुरन्त अपने को मिट्टी बना दूंगा और न केवल छोटे-से-छोटे मानव-प्राणियों के साथ, बल्कि सृष्टि के निम्नतम जीवों के साथ भी आत्मीयता स्थापित करने में खुशी मानूंगा, क्योंकि मिट्टी में मिल जाने की जो उनकी गति है वही गति मेरी भी होगी। और अगर इस भौतिक शरीर के बिना केवल जीव का विचार किया जाय, तो मैं अपने को अविनाशी समझता हूं; सृष्टि का निम्नतम प्राणी ठीक उतना ही अविनाशी है, जितनी मेरी आत्मा है।

—७।१।१९३१। 'बापू के पत्र : मीरा के नाम,' पृ० १२०, न० जी० प्र० मं०]

---

१. पृथिवी की स्तुति इस प्रकार की गई है:—

समुद्रवसने देवि, पर्वतस्तन मण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्व मे॥

२२. त्रिगुणात्मिका सृष्टि

[गांधी जी द्वारा किये गये गीता के अठारहवें अध्याय के भाष्य से]

कितने ही कर्मों में कामना भरी होती है; अनेक प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य अनेक उद्यम रचता है कि यह काम्य कर्म है। अन्य आवश्यक और स्वाभाविक कर्म हैं,—जैसे सांस लेना, देह की रक्षा के लिए ही खाना, पीना, पहिनना-ओढ़ना, सोना इत्यादि। और तीसरा कर्म पारमार्थिक है। इनमें से काम्य कर्म का त्याग गीता का संन्यास है और कर्ममात्र के फल का त्याग गीता-मान्य त्याग है।

कह सकते हैं कि कर्ममात्र में कुछ दोप तो जरूर ही है, तथापि यज्ञार्थ अर्थात् परोपकार के लिए कर्म का त्याग विहित नहीं है। यज्ञ में दान और तप कार्य आ जाते हैं, पर परमार्थ में भी आसक्ति, मोह नहीं होना चाहिए, अन्यथा उसमें बुराई के घुस जाने की सम्भावना है।

मोहवश नियत कर्म का त्याग तामस त्याग है। देह के कष्ट के ख्याल से किया हुआ त्याग राजस है, पर सेवाकार्य करने की भावना से, बिना फल की इच्छा का त्याग सच्चा सात्विक त्याग है। अतः यहां कर्ममात्र का त्याग नहीं है, बल्कि कर्तव्य-कर्म के फल का त्याग है और दूसरे अर्थात् काम्य कर्म का त्याग तो है ही। ऐसे त्यागी को शंकाएं नहीं उठतीं। उसकी भावना शुद्ध होती हैं और वह सुविधा-असुविधा का विचार नहीं करता।

जो कर्म-फल का त्याग नहीं करते उन्हें तो अच्छे-बुरे फल भोगने ही पड़ते हैं। इससे वे बन्धन में पड़े रहते हैं। फलत्यागी बन्धन-मुक्त हो जाता है।

और कर्म के विषय में मोह क्या? अपने कर्तापन का अभिमान मिथ्या है। कर्ममात्र की सिद्धि में पांच कारण होते हैं—स्थान, कर्ता, साधन, क्रियाएं और यह सब होने पर भी अन्तिम दैव है।

यह समझकर मनुष्य को अभिमान का त्याग करना चाहिए। अहन्ता छोड़कर कुछ भी करने वाले के बारे में कहा जा सकता है कि यह करते हुए भी नहीं करता, क्योंकि उसे वह कर्म बन्धनकारी नहीं होता। ऐसे निरभिमान, शून्यवत् बने हुए मनुष्य के विषय में कह सकते हैं कि वह मरते हुए भी नहीं मरता। इसके मानी यह नहीं होता कि कोई मनुष्य शून्यवत् होते हुए भी हिंसा करता है और अलिप्त रहता है। निरभिमानी को हिंसा करने का प्रयोजन ही क्या है?

कर्म की प्रेरणा में तीन वस्तुएं होती हैं—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता। और उसे तीन अंग होते हैं—इन्द्रियां, क्रिया और कर्ता। जो करता है वह ज्ञेय है। जो

उसकी रीति है वह ज्ञान है और जानने वाला जो है वह परिज्ञाता है। इस प्रकार प्रेरणा होने के वाद कर्म होता है। इसमें इन्द्रियाँ कारण होती हैं। जो करने को है वह क्रिया और उसका करने वाला जो है वह कर्ता है। इस प्रकार विचार में से आचार होता है। जिसके द्वारा हम प्राणी मात्र में एक ही भाव देखें, अर्थात् सव कुछ भिन्न-भिन्न लगते हुए भी गहराई में उतरने पर एक ही भासित हो तो वह सात्त्विक ज्ञान है।

इससे उल्टा, जो भिन्न दिखाई देता है, वह भिन्न ही भासित हो तो वह राजस ज्ञान है।

और जहां कुछ पता ही नहीं लगता और सव विना कारण के गड़वड़ लगता है वह तामस ज्ञान है।

ज्ञान के विभाग की भांति कर्म के भी विभाग हैं। जहां फलेच्छा नहीं है, राग-द्वेष नहीं है, वह कर्म सात्विक है। जहां भोग की इच्छा है, जहां मैं करता हूं, यह अभिमान है और इससे जहां हो-हल्ला है वह राजस कर्म है। जहां परिणाम की, हानि की या हिंसा की, शक्ति की परवाह नहीं है और जो मोह के वश होकर होता है वह तामस कर्म है।

कर्म की भांति कर्ता भी तीन तरह के समझने चाहिए। सात्विक कर्त्ता वह है जिसे राग नहीं है, अहंकार नहीं है, तथापि जिसमें दृढ़ता है, साहस है, और जिसे अच्छे-वुरे फल से हर्ष-शोक नहीं है। राजस कर्ता में राग होता है, लोभ होता है, हिंसा होती है, हर्ष-शोक तो जरूर होता ही है, तो फिर कर्म-फल की इच्छा का तो कहना ही क्या? और तामस कर्ता अव्यवस्थित, दीर्घसूत्री, हठी, शठ, आलसी, संक्षेप में कहा जाय, तो संस्काररहित होता है।

वुद्धि, धृति और सुख के भी भिन्न-भिन्न प्रकार जानने योग्य हैं।

सात्विक वुद्धि प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और वन्ध-मोक्ष आदि का सही भेद करती और जानती है। राजसी वुद्धि यह भेद करने तो चलती है, पर गलत या विपरीत कर लेती है और तामसी वुद्धि तो धर्म को अधर्म मानती है। सव उलटा ही निहारती है।

धृति अर्थात् धारणा, कुछ भी ग्रहण करके उसमें लगे रहने की शक्ति। यह शक्ति अल्पाधिक प्रमाण में सवमें है। यदि यह न हो तो जगत् एक क्षण भी न टिक सके। अव जिसमें मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया की समता है, समानता है और एक निष्ठा है, वहां धृति सात्त्विक है और जिसके द्वारा मनुष्य धर्म, काम और अर्थ को आसक्तिपूर्वक धारण करता है वह धृति राजसी है। जो धृति मनुष्य को निन्दा, भय, शोक, निराशा, मद वगैरह नहीं छोड़ने देती, वह तामसी है।

सात्विक सुख वह है, जिसमें दुःख का अनुभव नहीं है; जिसमें आत्मा प्रसन्न रहती है; जो शुरू में जहर-सा लगने पर भी परिणाम में, अमृत के समान ही है। विषय-भोग, जो शुरू में मधुर लगता है, पर बाद को जहर के समान हो जाता है, वह राजस सुख है। और जिसमें केवल मूर्च्छा, आलस्य, निद्रा ही है वह तामस सुख है।

इस प्रकार सब वस्तुओं के तीन हिस्से किये जा सकते हैं। ब्राह्मणादि चार वर्ण भी इन तीन गुणों के अल्पाधिक्य के कारण हुए हैं। ब्राह्मण के कर्म में शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता होनी चाहिए। क्षत्रियों में शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में पीछे न हटना, दान, राज्य चलाने की शक्ति होनी चाहिए। खेती, गो-रक्षा और व्यापार वैश्य का कर्म है और शूद्र का सेवा। इसका यह मतलब नहीं कि एक के गुण दूसरे में नहीं होते अथवा इन गुणों को हासिल करने का उसे हक नहीं है, पर उपर्युक्त भांति के गुण या कर्म से उस-उस वर्ण की पहिचान हो सकती है। यदि हर-एक वर्ण के गुण-कर्म पहिचाने जायं तो परस्पर द्वेषभाव न हो, स्पर्धा न हो। ऊंच-नीच की भावना की यहां कोई गुंजाइश नहीं है, बल्कि सब अपने स्वभाव के अनुसार निष्काम भाव से अपने कर्म करते रहें तो उन कर्मों को करते हुए वे मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं। इसलिए कहा गया है कि परधर्म चाहे सरल लगता हो, स्वधर्म चाहे खोखला लगता हो तो भी स्वधर्म अच्छा है। स्वभावजन्य कर्म में पाप न होने की सम्भावना है, क्योंकि उसी में निष्कामता की पाबन्दी हो सकती है; दूसरा करने की इच्छा में ही कामना आ जाती है। बाकी तो जैसे अग्निमात्र में धुआं है वैसे कर्ममात्र में दोष तो अवश्य है, पर सहजप्राप्त कर्म फल की इच्छा के बिना होते हैं, इसलिए कर्म का दोष नहीं लगता।

जो इस प्रकार स्वधर्म का पालन करता हुआ शुद्ध हो गया है; जिसने पांच विषयों को छोड़ दिया है; जिसने राग-द्वेष को जीत लिया है; जो एकान्तसेवी अर्थात् अन्तर्ध्यानी रह सकता है; जो अल्पाहार करके मन, वचन, काया को अंकुश में रखता है; ईश्वर का ध्यान जिसे बराबर बना रहता है; जिसने अहंकार, काम क्रोध, परिग्रह इत्यादि तज दिये हैं, वह शान्त योगी ब्रह्मभाव को पाने योग्य है। ऐसा मनुष्य सबके प्रति समभाव रखता है और हर्ष-शोक नहीं करता; ऐसा भक्त ईश्वर-तत्व को यथार्थ जानता है और ईश्वर में लीन हो जाता है। इस प्रकार जो भगवान का आश्रय लेता है वह अमृतपद पाता है।

—यरवदा मन्दिर, २१।१।१९३२। 'गीता-बोध' से]

- काम्य कर्म का त्याग गीता का संन्यास है।
- कर्ममात्र के फल का त्याग गीता-मान्य त्याग है।

- फल-त्यागी वन्धन-मुक्त हो जाता है।
- परधर्म चाहे सरल लगता हो, स्वधर्म चाहे खोखला लगता हो तो भी स्वधर्म अच्छा है।
- जैसे अग्निमात्र में धुआं है, वैसे कर्म मात्र में दोष है।
- जो भगवान का आश्रय लेता है वह अमृतपद पाता है।

२३. ईश्वर और सत्य

सत्य का संकुचित नहीं, विशाल अर्थ यह है—सत्य यानी होना, जो वस्तु शाश्वत है वह। इस सत्ता के वल पर सव कुछ होता है, यही ईश्वर-श्रद्धा है। ईश्वर शव्द प्रचलित है। इसलिए हमने उसे स्वीकार कर लिया है। नहीं तो ईश्वर शव्द 'ईश' (यानी 'राज चलाना') धातु से वना है। इसलिए मेरी दृष्टि में तो यह सत्य से घटिया शव्द है। जो अचल सत्य है उसके वल पर जरूरी सारी प्रवृत्तियाँ चलती हैं और मनुष्यों को प्रेरणा मिलती है। मुंशी को भी शंका थी। उसने मुझसे पूछा था "ईश्वर-प्रणिवानात् वा' में ईश्वर का क्या अर्थ है? मैंने उसे लिखा—"ईश्वर यानी सत्य।" इस सूत्र पर टीका लिखने वालों में से कुछ ने कहा है कि ये शव्द सूत्र में निरर्थक हैं और पतंजलि ने सिर्फ प्रचलित विश्वास को आघात न पहुँचाने के लिए ही लिखे हैं। पर मैं हर्गिज ऐसा नहीं मानता। पतंजलि-जैसा समर्थ सूत्रकार एक भी शव्द व्यर्थ इस्तेमाल नहीं कर सकता। मैं नहीं कह सकता कि उसने ईश्वर का वही अर्थ किया है या नहीं, जो मैं करता हूं। मगर मैं जो अर्थ करता हूं वह लिया जाय, तो ये शव्द आवश्यक हैं।

—८।४।१९३२, म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ८२]

- जो अचल सत्य है उसके वल पर ...सारी प्रवृत्तियां चलती हैं।

२४. ईश्वर : जैन और वैदिक निरूपण

[श्री पुरुषोत्तम ने राजकोट से गांधी जी को पत्र लिखकर तीन प्रश्न पूछे थे:—

१. जैन-दर्शन के निरीश्वरवाद और गीता के ईश्वरवाद का भेद, २. ईश्वर में कर्त्तृत्व न हो तो कृपा करने वाला कौन है? भक्ति करने वाले के लिए ईश्वर-कृपा के विना श्रद्धा का आलम्वन और क्या है? मनुष्य की प्रार्थना मनुष्य की शुभेच्छा ही है या इससे अधिक और कुछ? ३. सत्य ही ईश्वर है—गांधी जी की इस व्याख्या का उत्तर।

प्रश्नकर्त्ता को गांधी जी ने विस्तार से जो उत्तर दिया वह संकलित किया जा रहा है।—सम्पा०]

१. जैन-निरूपण और साधारण वैदिक निरूपण के बीच मैंने विरोध नहीं पाया, मगर केवल दृष्टिकोण का ही अन्तर है। वेद का ईश्वर कर्ता-अकर्ता दोनों है। सारा जगत् ईश्वरमय है, इसलिए ईश्वर कर्ता है। मगर वह कर्ता नहीं है, क्योंकि वह अलिप्त है। उसे कर्म का फल भोगना नहीं पड़ता। और जिस अर्थ में हम कर्म शब्द का इस्तेमाल करते हैं उस अर्थ में जगत् ईश्वर का कर्म नहीं है। गीता के जो श्लोक तू ने उद्धृत किये हैं, उनका मेल इस तरह से सोचने पर बैठ जाता है। इतना याद रखना (कि) गीता एक काव्य है। ईश्वर न कुछ बोलता है, न करता है। ईश्वर ने अर्जुन से कुछ कहा हो, ऐसी बात नहीं है। ईश्वर और अर्जुन के बीच का संवाद काल्पनिक है। मैं तो ऐसा नहीं मानता कि ऐतिहासिक कृष्ण और ऐतिहासिक अर्जुन के बीच ऐसा संवाद हुआ था। गीता की शैली में कुछ भी असत्य है या अयुक्त है, सो भी नहीं। इस तरह से धर्मग्रन्थ लिखने का रिवाज था। आज भी कोई संस्कारी व्यक्ति लिखे, तो उसमें कोई दोष नहीं माना जा सकता। जैनों ने केवल न्याय की, काव्य-रहित यानी रूखी बात कह दी और बता दिया कि जगतकर्ता कोई ईश्वर नहीं है। ऐसा कहने में कोई दोष नहीं, मगर जन-समाज रूखे न्याय से नहीं चलता। उसे काव्य की जरूरत रहती ही है। इसलिए जैनों के बुद्धिवाद को भी मन्दिरों की, मूर्तियों की और ऐसे अनेक साधनों की जरूरत मालूम हुई है। वैसे केवल न्याय की दृष्टि से इनमें से किसी चीज की जरूरत नहीं।

२. असल में पहिले प्रश्न के उत्तर के गर्भ में तेरे दूसरे सवाल का जवाब आ जाता है, जैसे मैं यह मानता हूं कि तेरा दूसरा प्रश्न भी पहिले के गर्भ में ही है। "कृपा" शब्द काव्य की भाषा है। भक्ति ही काव्य है। मगर काव्य कोई अनुचित या घटिया चीज या अनावश्यक वस्तु हो सो बात नहीं है। यह निहायत जरूरी चीज है। पानी दो हिस्से हाइड्रोजन और एक हिस्सा आक्सीजन से बना है, यह न्याय की बात हुई। मगर पानी ईश्वर की देन है, यह कहना काव्य की बात हो गई। इस काव्य को समझना जीवन का आवश्यक अंग है। पानी का न्याय समझना आवश्यक अंग नहीं है। इस तरह यह कहना कि जो कुछ होता है, वह कर्म का फल है—अत्यन्त न्याययुक्त है: मगर कर्म की गति गहन है। हम देहधारी इतने अधिक पामर हैं कि मामूली-से-मामूली परिणाम के लिए भी जितने कर्म जिम्मेदार होते हैं उन सबका ज्ञान हमें नहीं हो सकता। इसलिए यह कहना कि ईश्वर की कृपा के बिना कुछ नहीं होता, ठीक

है और यही शुद्ध सत्य है। किसी देह में रहने वाली आत्मा एक घड़े में रहने वाली हवा की तरह कैदी है और उस घड़े की हवा जबतक अपने को अलग समझती है तबतक वह अपनी शक्ति का उपयोग नहीं कर सकती। इसी तरह शरीर में कैद आत्मा अगर यह माने कि वह खुद कुछ करती है, तो सर्व-शक्तिमान परमात्मा की शक्ति से वंचित रहती है। इसलिए भी यह कहना कि जो कुछ होता है, वह ईश्वर ही करता है, वास्तविक है और सत्याग्रही को शोभा देता है। सत्यनिष्ठ आत्मा की इच्छा पुण्य होती है इसलिए वह फलती ही है। इस विचार से जिस प्रार्थना के श्लोक तू ने उद्धृत किये हैं, वह प्रार्थना हमारी निष्ठा के हिसाब से सारी दुनिया के लिए भी जरूर फलेगी। जगत् हमसे भिन्न नहीं है न हम जगत् से भिन्न हैं। सब एक दूसरे में ओतप्रोत हैं और एक के काम का असर दूसरे पर हुआ करता है। यहां यह समझ लेना चाहिए कि विचार ही कार्य है। इसलिए एक भी विचार व्यर्थ नहीं जाता। इसलिए हमें हमेशा अच्छे विचार करने की आदत डालनी चाहिए।

३. ईश्वर निराकार है और सत्य भी निराकार है, इसलिए सत्य ईश्वर है, यह मैंने न तो देखा है, न घटाया है। मगर मैंने यह देखा कि ईश्वर का सम्पूर्ण विशेषण तो सत्य ही है, शेष सब अपूर्ण हैं। ईश्वर शब्द भी अनिर्वचनीय और महान तत्व को बताने वाला एक विशेषण है। मगर ईश्वर का धातु-अर्थ लें, तो ईश्वर शब्द फीका लगता है।

ईश्वर को राजा के रूप में देखने से बुद्धि तृप्त नहीं होती। उसे राजा के रूप में देखने से हमारे अन्दर एक प्रकार का भय भले ही पैदा हो जाय और इससे हम पाप करने से डरें और पुण्य करने का प्रोत्साहन मिले। मगर इस तरह भय-वश किया हुआ पुण्य भी लगभग पुण्य नहीं रहता। पुण्य करें तो, पुण्य के लिए ही करें, इनाम के लिए नहीं। ऐसे अनेक विचार करते-करते एक दिन ऐसा समझ में आयगा कि ईश्वर सत्य है—यह कहना भी अधूरा वाक्य है। सत्य ही ईश्वर है, यह जहां तक मनुष्य की वाचा पहुँच सकती है वहां तक का पूर्ण वाक्य है।

— १८।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ १०४-१०६]

- सारा जगत् ईश्वरमय है, इसलिए ईश्वर कर्त्ता है।
- जनसमाज रूखे न्याय से नहीं चलता।
- भक्ति ही काव्य है।
- काव्य को समझना जीवन का आवश्यक अंग है।
- कर्म की गति गहन है।
- सत्यनिष्ठ आत्मा की इच्छा पुण्य होती है।

- जगत् हमसे भिन्न नहीं है, न हम जगत् से भिन्न हैं।
- विचार भी कार्य है, इसलिए एक भी विचार व्यर्थ नहीं जाता।
- हमें हमेशा अच्छे विचार करने की आदत डालनी चाहिए।
- ईश्वर का सम्पूर्ण विशेषण तो सत्य ही है।
- भयवश किया हुआ पुण्य भी लगभग पुण्य नहीं रहता।

२५. पिण्ड और ब्रह्माण्ड

पिण्ड का मतलव यह देह है। और ब्रह्माण्ड का अर्थ है यह पृथिवी। अव जो कुछ हमारे शरीर में है, वह सव पृथिवी में है, और जो शरीर में नहीं वह पृथिवी में भी नहीं। शरीर मिट्टी का वना है, तो पृथिवी भी मिट्टी की वनी है। पृथिवी में पाँच तत्व हैं; शरीर में भी पाँच तत्व[1] मौजूद हैं। पृथिवी में तरह-तरह के जीव हैं, तो शरीर में भी हैं। शरीर नष्ट होता है और पैदा होता है, तो पृथिवी का भी इसी तरह रूपान्तर होता रहता है। इस तरह इस विचार का और भी विस्तार किया जा सकता है। मगर इतने के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि हमारे शरीर का हमें सच्चा ज्ञान हो जाय, तो पृथिवी का भी सच्चा ज्ञान हो जाय। इस दृष्टि से हमें ज्ञान प्राप्त करने के लिए वहुत-सी वेकार कोशिशें करने की जरूरत नहीं है। शरीर तो अपने पास है ही। उसका ज्ञान प्राप्त कर लें तो हमारा वेड़ा पार लग जाय। पृथिवी का ज्ञान प्राप्त करने का लोभ रखेंगे, तो वह हमेशा अधूरा ही रहेगा और इसलिए ज्ञानी हमें सिखा गये हैं कि जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। और अगर हम आत्मज्ञान कर लेते हैं, तो उसमें सारा ज्ञान आ जाता है। लेकिन यह आत्मज्ञान जुटाते-जुटाते हमें कितना ही वाहरी ज्ञान भी मिल जाता है। उसमें जो रस मिल सके उसे चखने का हमें अधिकार है। क्योंकि हमें वह रस भी आत्मज्ञान के निमित्त चखना है।

—२८।४।१९३२। म० भा० डा० भाग १, पृष्ठ १२५-१२६]

- जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है।

२६. ईश्वर का अस्तित्व

[श्री इब्राहीम जी राजकोटवाला ने गांधी जी को पत्र लिखा था कि ईश्वर वुद्धि से सिद्ध नहीं हो सकता। उन्हें गांधी जी ने निम्नलिखित उत्तर दिया। —सम्पा०]

---

१. क्षिति, जल, अग्नि, वायु और आकाश।

ईश्वर की हस्ती के लिए बुद्धि से प्रमाण मांगो, तो कहां से मिले? कारण, ईश्वर बुद्धि से परे है। अगर ऐसा कहें कि बुद्धि से आगे कुछ नहीं है, तो जरूर मुश्किल पैदा होती है। बुद्धि को ही सर्वोत्तम पद दे दें, तो हम बड़ी मुश्किल में पड़ जाते हैं। स्वयं हमारा जीव या आत्मा ही बुद्धि से परे है। उसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए बुद्धि के प्रयोग हुए हैं। यही बात ईश्वर के बारे में भी कही जा सकती है। मगर जिसने आत्मा और ईश्वर को बुद्धि से ही जाना है, उसने कुछ भी नहीं जाना। बुद्धि भले ही किसी समय ज्ञान प्राप्त करने में सहायक हुई हो, मगर जो आदमी वहीं अटक जाता है, वह आत्मज्ञान का लाभ तो बिल्कुल नहीं उठा सकता। जिस तरह कोई अनाज खाने के फायदे बुद्धि से जानता हो, तो वह अनाज खाने से होनेवाला फायदा नहीं उठा सकता। आत्मा या ईश्वर जानने की चीज नहीं है। वह खुद जाननेवाला है। और इसीलिए वह बुद्धि से परे है। ईश्वर को पहिचानने की दो मंजिलें हैं। पहिली मंजिल श्रद्धा और दूसरी तथा आखिरी मंजिल उससे होनेवाला अनुभव-ज्ञान। दुनिया के बड़े-से-बड़े शिक्षकों ने अपने अनुभवों की गवाही दी है। और जिन्हें दुनिया में मूर्ख समझ कर अलग निकाल देंगे, उन्होंने भी अपनी श्रद्धा का सबुत दिया है। इनकी श्रद्धा पर हम अपनी श्रद्धा-निर्माण करेंगे, तो किसी दिन अनुभव भी मिल जायगा। एक आदमी दूसरे को आंखों से देखे, मगर बहिरा होने के कारण उसकी कुछ भी नहीं सुने और फिर कहे कि मैंने उसे सुना नहीं, तो यह ठीक नहीं है। इसी तरह बुद्धि से ईश्वर को नहीं पहिचाना जा सकता। यह वाक्य अज्ञानसूचक है। जैसे सुनना आंख का विषय नहीं है, वैसे ही ईश्वर को पहिचानना इन्द्रियों या बुद्धि का विषय नहीं है। इसके लिए दूसरी ही शक्ति चाहिए और वह है अचल श्रद्धा। हमने देख लिया कि बुद्धि को क्षण-क्षण में भरमाया जा सकता है। लेकिन सच्ची श्रद्धा को भरमा सके—,ऐसा माई का लाल आज तक पृथिवी पर देखने में नहीं आया।

—५।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १ पृष्ठ १३५]

- जिसने आत्मा और ईश्वर को बुद्धि से ही जाना है, उसने कुछ भी नहीं जाना।
- आत्मा या ईश्वर जानने की चीज नहीं, वह खुद जाननेवाला है।
- बुद्धि से ईश्वर को नहीं पहिचाना जा सकता।

२७. जगत-कर्ता

[श्री भुस्कुटे ने गांधी जी से प्रश्न किया था—"आप सत्य को ईश्वर मानते हैं," जगत् का कोई कर्त्ता नहीं मानते। फिर भी बहुत बार जिस अन्तर्नाद को

सुन कर काम करते हैं, वह क्या है?" इस प्रश्न का उत्तर गांधी जी ने श्री छगन-लाल जोशी को लिखे पत्र में दिया। वह उत्तर संकलित है—सम्पा०]

जगत् का कोई कर्ता नहीं है, इसका क्या अर्थ हो सकता है? हम कैसे कह सकते हैं कि कोई कर्त्ता नहीं है। मेरे कथन का इसमें कुछ अनर्थ-सा प्रतीत होता है। मैंने कहा है कि सत्य ही ईश्वर है। इसलिए ऐसा मानो कि वही कर्त्ता है। परन्तु यहां कर्त्ता का जो अर्थ हम करते हैं—वैसा नहीं है। इसलिए सत्य कर्त्ता-अकर्त्ता दोनों है। परन्तु यह केवल बुद्धिवाद है। जैसा जिसके हृदय में लगे, वैसा मानने में इस बारे में कोई हानि नहीं है क्योंकि हर एक पुरुष ईश्वर के बारे में न पूरा जानता है, न जितना जानता है उतना बता सकता है। यह बात ठीक है कि किसी भी कार्य के निर्णय के लिए मैं अपनी बुद्धि पर विश्वास नहीं करता। जबतक हृदय से आवाज न निकले, वहां तक बुद्धि की बात को रोक लेता हूं। इसे कोई गूढ़ शक्ति कहे या क्या कहे, वह मैं नहीं जानता। इस बारे में मैंने कभी नहीं सोचा है। न उसका पृथक्करण किया; करने की आवश्यकता भी नहीं मालूम हुई। बुद्धि से परे ऐसी यह वस्तु है, इतना मुझमें विश्वास है, और ज्ञान भी है और मेरे लिए काफी है। इससे अधिक स्पष्टीकरण मुझसे हो ही नहीं सकता, क्योंकि इससे अधिक मैं नहीं जानता।

—२५।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ १७०-१७१]

● सत्य कर्ता-अकर्ता दोनों है।

२८. व्यक्त और अव्यक्त की उपासना

[गीता के सातवें अध्याय में "अव्यक्तं[1] व्यक्तिमापन्नं" और बारहवें अध्याय के व्यक्तोपासना पर जोर देने वाले श्लोक के विरोधाभास पर गांधी जी के विचार और उस पर श्री महादेव देसाई से प्रश्नोत्तर।—सम्पा०]

ऐसे विरोध तो गीता में बहुत जगह हैं। इसका समन्वय इस तरह समझकर करना है कि एक बार एक बात पर जोर दिया गया है और दूसरी बार दूसरी

---

१. अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥
—गीता अध्याय ७ श्लोक २४।

मेरे परम अविनाशी और अनुपम स्वरूप को न जानने वाले बुद्धि-हीन लोग इन्द्रियों से अतीत मुझको इन्द्रियगम्य मानते हैं।

बात पर। बारहवें अध्याय में अव्यक्त उपासना का निषेध तो है ही नहीं, सिर्फ उसकी कठिनता सुझाई है।

महादेव भाई—आपने भाऊ[1] को जो पत्र लिखा था, उसमें तो उससे कहा था कि तुझे व्यक्त की उपासना के बजाय अव्यक्त की उपासना करनी चाहिए।

गांधी जी—कारण, वह जीवितों का ध्यान धरता है यह ठीक नहीं है। कोई जीवित मनुष्य सम्पूर्ण नहीं होता। गीता में मूर्ति-पूजा का उल्लेख हो तो वह अवतारों की पूजा का है।

महादेव भाई—तो भी, अवतार आखिर कौन? सच्ची मूर्तियां हमारे पास हैं कहाँ?

गांधी जी—इसीलिए तो मैं कहता हूं कि हम अपनी कल्पना के अवतारों को पूज सकते हैं। मैं यह नहीं कहूंगा कि रविवर्मा के चित्रों का ध्यान धरने का भी निषेध है। भावना मुख्य चीज है।

—२।६।१९३२। म० भा० डा०। भाग १, पृष्ठ १९१-१९२]

- कोई जीवित मनुष्य सम्पूर्ण नहीं होता।
- हम अपनी कल्पना के अवतारों को पूज सकते हैं।
- भावना मुख्य चीज है।

२९. प्रार्थना में साकारोपासना

[सुश्री प्रेमाबहिन कंटक ने अपने पत्र में कटाक्ष करते हुए गांधी जी को लिखा था—"आप साकार मूर्ति का विरोध कैसे करते हैं? ईश्वर-सम्बन्धी भावना हमारी सामाजिक और राजनीतिक स्थिति के साथ-साथ बदलती रही है। शंकर[2] के जमाने में स्वराज था, इसलिए ईश्वर के साथ बराबरी की बात थी। रामानुज के समय में गुलामी थी, इसलिए मनुष्य ने दासानुदास होना चाहा।

---

१. आचार्य विनोबा भावे के भाई। इनके लिए भेजा गया पत्र अन्यत्र दिया गया है।

२. जगद्गुरु आद्यशंकराचार्य संवत् ८४५-८७७, जन्मस्थान कालडी, केरल। अद्वैत वेदान्त के पोषक, ब्रह्मसूत्र पर भाष्य-लेखक, प्रसिद्ध भारतीय धर्मवेत्ता, जिन्होंने बौद्धधर्म का खण्डन कर वैदिक धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा की।

आप साकार का निषेध करते हैं, फिर भी तुका[1] ने तो, 'सुन्दर तें ध्यान उभा विटे-वरी' में ही साक्षात्कार किया है।" इस विषय पर कुमारी प्रेमाबहिन को लिखे पत्र में गांधी जी ने निम्नलिखित विचार व्यक्त किये—सम्पा०]

प्रार्थना में मैंने साकार मूर्ति का निषेध नहीं किया; निराकार को उससे ऊंची जगह दी है। शायद इस तरह का भेद करना ठीक न हो। किसी को कुछ और किसी को कुछ माफ़िक आ सकता है। इसमें मुकाबले की गुंजाइश नहीं हो सकती। मेरे खयाल से निराकार ज्यादा अच्छा रहेगा। शंकर, रामानुज-सम्बन्धी पृथक्करण मुझे ठीक नहीं लगा। परिस्थिति से अनुभव का असर ज्यादा होता है। सत्य के पुजारी पर परिस्थिति का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। उसे परिस्थिति को चीर कर निकल जाना चाहिए। हम देखते हैं कि परिस्थिति की बुनियाद पर बनाई हुई राय अक्सर गलत निकलती है। मशहूर मिसाल आत्मा और शरीर की है। आत्मा का अभी शरीर के साथ निकट सम्बन्ध है, इसलिए शरीर से अलग आत्मा तुरन्त नहीं दिखाई देती। इस परिस्थिति को चीर कर जिसने पहला वचन कहा—"यह[2] नहीं," उसकी शक्ति को अभी तक कोई पहुँच ही नहीं पाया। ऐसे कई उदाहरण तुम्हें सहज ही मिल जायंगे। तुकाराम वगैरह सन्तों के वचनों का शब्दार्थ करना बिल्कुल ठीक नहीं है। उनका एक वचन अभी पढ़ने में आया है, वह तुम्हारे लिए उद्धृत करता हूँ : "केला मातीचा पशुपति"[3] वाला अभंग है।

---

१. सन्त तुकाराम १६०९-१६५०, महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध कवि जिनके अभंग बहुत प्रचलित हैं।

२. नेति, नेति।

३. केला माती चा पशुपति, परी माती सी काय म्हणती,
शिवपूजा शिवासि पावे, माती मातीमाजी समावे,
केला पाषाणा चा विष्णु, परि पाषाण नव्हे विष्णु,
विष्णु पूजा, विष्णुसि अर्पे, पाषाण राहे पाषाण रूपे,
केली काशाची जगदम्बा, परि कासे नव्हे अम्बा,
तैसे पूजिती आम्हा सन्त, पूजा घेतो भगवंत आम्ही किंकर।

मिट्टी का शंकर तो बना दिया, मगर इससे मिट्टी को क्या हुआ? शिव की पूजा शिव को मिलती है और मिट्टी बेचारी मिट्टी में मिल जाती है: पत्थर का विष्णु बनाया मगर पत्थर विष्णु नहीं है। विष्णु की पूजा विष्णु के अर्पण होती है और पत्थर बेचारा पत्थर ही रहता है; काँसे की जगदम्बा बनाई, मगर काँसा कोई माता नहीं है। माता की पूजा माता ले लेती है और काँसा काँसा ही

इससे मैं यह सार निकालता हूं कि ऐसे साधु-सन्तों की भाषा के पीछे जो कल्पना (निहित) रही है, वह हमें देखनी चाहिए। वे साकार भगवान का चित्र खींचते हों, तो भी निराकार को भजते होंगे। हम मामूली आदमी ऐसा नहीं कर सकते, इसलिए उनका भेद समझ कर न चलेंगे तो मर जायंगे।

—१७।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २२०-२२१]

- प्रार्थना में मैंने साकार मूर्ति का निषेध नहीं किया।
- सत्य के पुजारी पर परिस्थिति का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।
- सन्तों के वचनों का शब्दार्थ करना बिल्कुल ठीक नहीं है।
- सन्तों की भाषा के पीछे जो कल्पना रही है, वह हमें देखनी चाहिए।

३०. श्वेताश्वतर उपनिषद् : एक अनुचिन्तन

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

जिस उपनिषद् के समय यह श्लोक लिखा गया, उस समय की गहन बुद्धिमत्ता की पराकाष्ठा यह बतलाती है कि आत्मज्ञान के बिना दुःख का अन्त नहीं, यह बात तो है ही। मगर इस बात का असर अच्छी तरह तब पड़ता है जब आत्मज्ञान के बिना दुःख-नाश की आवश्यकता ऐसी ही किसी दूसरी आवश्यकता से बताई जाय। यह इस तरह कह कर बताई है कि जैसे हम चमड़ा शरीर पर पहिने हुए हैं वैसे ही आकाश को पहिन सकते हों या जैसे शरीर पर चमड़ा, हाड़, मांस वगैरह को ढके हुए हैं उसी तरह हम आकाश से ढंके जा सकते हों, तो आत्मज्ञान के बिना दुःख मिटाया जा सकता है। इस श्लोक के और भी बहुत से अर्थ निकल सकते हैं, मगर क्या यह शब्दार्थ भी अद्भुत नहीं है?

—१५।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २९१]

- आत्मज्ञान के बिना दुःख का अन्त नहीं।

३१. ईश्वर का कार्य

[श्री भगवान जी को लिखे पत्र से]

ईशोपनिषद् में एक मन्त्र है। उसका अर्थ यह भी होता है कि तू अपने सामने रखे हुए काम पर ध्यान दे। ऐसा करते-करते जरूर ईश्वर के दर्शन होंगे। ईश्वर

रहता है। इसी तरह हम सन्त की पूजा करते हैं, मगर यह पूजा भगवान को पहुंचती है और हम उसके सेवक ही रहते हैं।

तो सभी जगह है। "मेरे" काम में भी है। जिसे मैं अपना काम मानता हूं वह उसी का है। उसके काम का ध्यान करूं तो उसी को मानूंगा। जो मालिक का काम करता है, वह मालिक को पाता है।

—३१।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३३०]

- ईश्वर तो सभी जगह है।
- जो मालिक का काम करता है, वह मालिक को पाता है।

३२. मूर्तिपूजा : विश्लेषण

[मिस मेरी बार को लिखे पत्र से]

यह सच है कि आम तौर पर जो समझा जाता है, उस अर्थ में मैं मूर्तिपूजा को नहीं मानता। मगर यह भी नहीं कि दूसरे मूर्ति के द्वारा ईश्वर की पूजा करें उसे भी मैं नहीं मानता। एक अर्थ में तो हम सब मूर्तिपूजक हैं। हम अपनी मूर्ति के ईश्वर को पूजते हैं। यह मूर्ति स्थूल की ही होनी चाहिए, सो बात नहीं। ईश्वर के गुण और ईश्वर की कल्पना हर एक मनुष्य की अलग-अलग होती है। इतने पर भी वास्तव में ईश्वर निर्गुण है और कल्पनातीत है। इस प्रकार जब हम अपना ईश्वर-सम्बन्धी चित्र बनाते हैं, तब हम मूर्तिपूजक बन जाते हैं। इसलिए जो पत्थर या धातु की मूर्ति में ईश्वर का निवास मानते हैं, मेरा मन उनकी निन्दा नहीं करता। वे ग़लत नहीं हैं क्योंकि ईश्वर सब जगह और सब चीजों में है। किसी चीज को हम ईश्वर के रूप में पूजना चाहते हैं, तो उसमें ईश्वर का अधिष्ठान करते हैं। मगर जब मनुष्य सामुदायिक पूजा में भाग लेने से अपने साथियों को रोकता है, तब हमें यह कहने का हक है कि उस पूजा में से ईश्वर भाग जाता है। फिर जब पाश्चात्ताप किया जाता है और अपने साथियों पर से प्रतिबन्ध हटा लिया जाता है, तब वहां ईश्वर की प्रतिष्ठा होती है। आशा है यह स्पष्टीकरण समझ में आने-जैसा है।...

—२२।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १४०-१४१]

- एक अर्थ में तो हम सब मूर्तिपूजक हैं।
- ईश्वर के गुण और ईश्वर की कल्पना हरएक मनुष्य की अलग-अलग होती है।
- वास्तव में ईश्वर निर्गुण है और कल्पनातीत है।
- ईश्वर सब जगह और सब चीजों में है।

३३. ईशोपनिषद् का आशय

ईशोपनिषद् की विद्या अविद्या का अर्थ है अविद्या से मृत्यु को पार करना और विद्या से अमृत प्राप्त करना यानी हमेशा के लिए मोक्ष पाना।
— २।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १६५]

३४. योग

'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' का यह अर्थ नहीं कि चित्त निष्क्रिय हो जाय। चित्त व्यर्थ प्रवृत्ति करना बन्द कर दे, यही योग है। एक भी विचार ऐसा नहीं आना चाहिए, जिस पर आचरण न हो सके। यानी शुद्ध-से-शुद्ध मनुष्य तो अधिक-से-अधिक आचरण करनेवाला होगा। जैसे-जैसे मनुष्य ज्यादा पवित्र होगा, वैसे-वैसे वह अधिक प्रवृत्तिमय होगा। अधिक-से-अधिक कर्मशील मनुष्य ज्यादा-से-ज्यादा संयमी होता है। इसे तुम समाधि की हालत भी कह सकते हो। फिर भी जान-बूझकर समाधि प्राप्त करने की कोशिश नहीं हो सकती। समाधि तो अपने आप प्राप्त होती है। अर्थात् तुम इसका विचार न किया करो; वह अपने आप आयेगी। इसी तरह योग की शारीरिक क्रिया से शरीर की शुद्धि और शारीरिक ब्रह्मचर्य को भी मदद मिलती है, मगर प्रपत्ति प्राप्त नहीं होती। शारीरिक क्रियाओं से मूल वस्तु नहीं मिलती। मूल वस्तु तो पूरी तरह प्रपत्ति—अपने आपको शून्य बना देना है।
— ३०।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ २४६]

३५. आत्मा की निर्लेपता

[श्री कमलनयन बजाज ने पत्र द्वारा गांधी जी से प्रश्न किया था—"आत्मा निर्लेप है, अक्लेद्य है और अदाह्य है, तो फिर उसे अच्छे-बुरे कर्मों का लेप कैसे लगता है?" इस प्रश्न के उत्तर में गांधी जी द्वारा प्रेषित उत्तर—सम्पा०]

आत्मा के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह विशुद्ध आत्मा के बारे में है। जैसे कोई पानी के गुणों का वर्णन करे, तो विशुद्ध पानी का ही किया जाता है। मैले पानी का वर्णन एक-सा हो ही नहीं सकता। पानी को ज्ञान हो, तो पानी का हर गड्ढा तेरे-जैसा ही सवाल पूछे। उनमें से कोई शुद्ध पानी के गुण वर्णन करके अपने सब साथियों से शुद्ध बनने की विनती करे। ठीक यही काम शुद्धात्मा को

जानने वाले श्रीकृष्ण ने किया है। आत्मा के गुणों को जानकर उसके जैसा बनने की कोशिश करनी चाहिए। अगर तू यह पूछे कि आत्मा अशुद्ध कैसे हो जाती है, तो वह मैं नहीं जानता। उसे जानने की जरूरत भी नहीं। अशुद्धि है, शुद्धि के गुण कैसे हैं और अशुद्धि कैसे मिट सकती है, इतना हम जानते हैं। यह हमारे काम के लिए काफ़ी होना चाहिए।

—१२।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ २७२]

३६. अन्तर का स्वर

[एक सिन्धी सज्जन से हुई वार्ता के अंश]

मेरे अन्तर की आवाज ईश्वर की ही आवाज है, यह मैं सिद्ध नहीं कर सकता। यह तो एक आध्यात्मिक अनुभव है। हरएक मनुष्य के अन्दर से ईश्वर बोलता तो है ही, परन्तु हरएक मनुष्य उसे सुन नहीं सकता। अन्तर की आवाज दो तरह की होती है, ईश्वर की और शैतान की। किसकी है, इसका निर्णय तो परिणाम के आधार पर ही किया जा सकता है।

प्रश्न—किन्तु उस समय मनुष्य यह नहीं कह सकता कि निश्चित रूप में यह ईश्वर की ही आवाज है?

गांधी जी—मैं यह कहूं कि मैंने ईश्वर की आवाज सुनी है, किन्तु मेरी भूल हो सकती है। उसे पहिचानने का हमारे पास इसके सिवाय कोई साधन नहीं है कि शैतान की आवाज दोजख में ले जाती है, जब कि ईश्वर की आवाज हमारी उन्नति करती है।

प्रश्न—इस बारे में आपके दिल में कोई शंका है?

गांधी जी—नहीं। किन्तु इसका आधार भी इस बात पर रहता है कि मनुष्य ने कितना आत्मसमर्पण साधा है। ऐसे मनुष्य का हरएक शब्द और हरएक विचार ईश्वरप्रेरित होता है।

प्रश्न—तो द्वैत नहीं है?

उत्तर—है और नहीं भी है। इसका आधार भी इस बात पर है कि कितना आत्मसमर्पण साधा है। जब-जब मैंने कोई बड़ा कदम उठाया है, तब-तब पूरा विचार किये बिना तो उठाया ही नहीं। किन्तु इसकी एक कसौटी है। जब यह तुम्हारी अपनी बुद्धि का काम हो, तब तुम भविष्य के लिए प्रतिदिन का निश्चित कार्यक्रम दे सकते हो। परन्तु ईश्वरप्रेरित काम के बारे में तुम भविष्य के लिए कुछ नहीं कर सकते। गोलमेज परिषद में ईश्वर ही मेरे द्वारा बोल रहा था।

मैं वह वाक्य (पृथक निर्वाचिक-मण्डल का मैं प्राणों की बाजी लगाकर विरोध करूंगा) कुछ भी विचार किये बिना ही बोला था। मुझे पता नहीं था कि मैं क्या बोलनेवाला हूं। सहज ही ये वचन मेरे मुंह से निकल पड़े।

—१०।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ३७-३८]

● अन्तर की आवाज दो तरह की होती है, ईश्वर की और शैतान की।

३७. मूर्ति-पूजा

मूर्ति-पूजा न माननेवाले एक शिक्षक ने निम्नलिखित प्रश्न पूछे हैं:—

"१. जो मनुष्य रामचन्द्र जी के जीवन का अनुकरण करता है, क्या उसे राम-मन्दिर में जाने की आवश्यकता रहती है? क्या अनुकरण की अपेक्षा दर्शन अच्छा है?

२. यदि हम किसी व्यक्ति को नमस्कार करें, तो बदले में वह हमें नमस्कार करेगा। प्रतिमा तो हिलती तक नहीं। जो उत्तर देने में असमर्थ है, उसे पत्र लिखने से क्या लाभ?

३. जिसकी प्रतिमा की हम पूजा करते हैं, उसने, सम्भव है, कुछ बुराइयां भी अपने जीवन में की हों। क्या वह पुजारी उसकी प्रतिमा-पूजा से उसकी बुराइयों की नकल नहीं करेगा?"

ऐसे प्रश्न पहिले बहुत बार पूछे जा चुके हैं। मैं यथासम्भव उत्तर दूंगा, यद्यपि मुझे सन्देह है, कि प्रश्नकर्त्ता के समान सन्देह करनेवालों को इससे कहां तक सन्तोष होगा।

ऐसी तो कोई बात नहीं है कि किसी मन्दिर में दर्शनार्थ जाना हिन्दूमात्र का धर्म है। किन्तु जो राम मन्दिर में जाये बिना राम का ध्यान नहीं कर सकता, उसका वहां जाना धर्म है। भले ही कोई इसे बुरा कहे, किन्तु ऐसे लोगों का राम विशेषतया उस मन्दिर में ही रहता है। उस पूजा करने वाले को मन्दिर में जाने से ही शान्ति मिलेगी। मैं उसकी श्रद्धा में कभी विक्षेप नहीं डालूंगा।

पहिले प्रश्न के उपप्रश्न में दर्शन और अनुकरण का मुकाबिला किया गया है। यह ठीक नहीं। क्योंकि दर्शन का हेतु अनुकरण के हेतु से भिन्न है। दर्शन अनुकरण का सहायक है। राम की प्रतिमा का ध्यान करके मैं राम के समान बनना चाहता हूं, इसलिए दर्शन श्रेष्ठ है या अनुकरण, ऐसा प्रश्न नहीं किया जा सकता। लाखों के लिए अनुकरण-हेतु दर्शन आवश्यक है।

दूसरे प्रश्न में शिक्षक महोदय ने मन्दिर के रहस्य को नहीं पहिचाना है। जब हम किसी व्यक्ति को नमस्कार करते हैं तब वह पारस्परिक शिष्टाचार का लक्षण हो सकता है। उसमें और कोई विशेष गुण नहीं है। परन्तु लोग तो आत्म-शुद्धि और आत्मशान्ति के लिए मन्दिर में जाते हैं। मन्दिर में जाने से मनुष्य अपने आन्तरिक गुणों का विकास करता है, पापों को धोता है, हृदय का परिवर्तन करता है। सभी के लिए ऐसा ही होता है, यह कहने का यहां अभिप्राय नहीं। लेकिन मन्दिर जाने में यह सब रहस्य भरा है, और हजारों ने इसका अनुभव किया है। मन्दिर में हजारों भक्तों ने भगवान का दर्शन किया है, जैसे तुलसीदास ने और अन्धे भक्त सूरदास ने। एक मनुष्य को हम पत्र लिखते हैं। उसका भला-बुरा उत्तर मिलता भी है और नहीं भी मिलता। वह पत्र आखिर काग़ज़ का टुकड़ा ही है। ईश्वर को पत्र लिखने के लिए न काग़ज़ चाहिए, न कलम-दावात और न शब्द ही। ईश्वर को जो पत्र लिखा जाता है उसका उत्तर न मिले, यह सम्भव नहीं है। उस पत्र का नाम पत्र नहीं प्रार्थना है; पूजा है। मन्दिर में जाकर ऐसे पत्र करोड़ों लोग प्रतिदिन लिखते हैं और उन्हें श्रद्धा है, कि उनके पत्र का उत्तर भगवान् ने ही दिया है। यह निरपवाद सिद्धान्त है—भक्त भले ही उसका कोई बाह्य प्रमाण न दे सके। उसकी श्रद्धा ही उसका प्रमाण है। उत्तर प्रार्थना में ही सदा से रहा है, ऐसी भगवान की प्रतिज्ञा है। यहां मुझे यह भी कह देना चाहिए कि मैं मन्दिर , मस्जिद और गिरजे में कोई भेद नहीं मानता। भक्त की श्रद्धा जिधर ले जायगी, उधर ही वह अपने सिरजनहार का दर्शन करेगा। जिसकी जैसी श्रद्धा होगी, वैसा ही उसे फल मिलेगा। यही बात गीता ने, कुरान ने, बाइ-बिल ने भिन्न-भिन्न भाषा और भिन्न-भिन्न शब्दों में कही है। करोड़ों मनुष्य अव्यक्त का दर्शन करने की आशा में जाते हैं और नित्य कुछ-न-कुछ तृप्ति पाकर लौटते हैं।

तीसरा प्रश्न पूछकर प्रश्नकर्त्ता ने अवतार-विषयक रहस्य का अज्ञान प्रकट किया है। उन्हें यह जान लेना चाहिए कि श्रद्धालु भक्त की दृष्टि में अवतार-मात्र निर्दोष रहते हैं। आलोचक का कृष्ण भले ही व्यभिचारी हो, धूर्त हो, किन्तु भक्त के हृदय में तो कृष्ण पूर्णावतार ही हैं। लाखों भक्त कृष्ण-कीर्तन से, कृष्ण-दर्शन से, और कृष्ण-ध्यान से निष्पाप बने हैं और बन रहे हैं। सामान्य अनुभव में भी यही बात आती है। अपने वीरों को हम निर्दोष मानते हैं, भले ही उनके शत्रु उन्हें कैसा ही मानें। हां, यह हो सकता है और होता ही है, कि दोषों को हम गुणरूप मानते हैं। इसमें मन्दिर या मूर्ति का दोष नहीं बल्कि पुजारी का है। निराकार ईश्वर में भी हम गुणों का आरोप करते हैं, किन्तु अनुभव बताता है कि

कई गुण वस्तुतः दोष थे। आज भी निराकार ईश्वर को हिंसक मानकर हिंसा को धर्म माननेवाले लोग कहां नहीं पाये जाते? वात यह है, कि जैसे भगवान् वैसे ही भक्त होते हैं, और ठीक इसी तरह, जैसे भक्त वैसे ही भगवान वने रहते हैं। ऐसा क्यों होता है, यह मैं नहीं जानता। शायद ही कोई जानते हों, ऐसा सन्देह मुझे है। परन्तु ऐसा है, यह तो प्रत्यक्ष है। किन्तु यह विषय ही भिन्न है। मन्दिर और मूर्ति के साथ उसका कोई सम्वन्ध नहीं।

मेरी वुद्धि और हृदय ने वहुत पहिले यह अनुभव कर लिया था, कि भगवान का सर्वोत्तम नाम सत्य है। मैं राम-नाम से सत्य पहिचानता हूँ। अत्यन्त कठोर परीक्षा की घड़ियों में इस एक ही नाम ने मेरी रक्षा की है और अव भी कर रहा है। यह लिखते हुए मुझे अपनी वाल्यावस्था की एक वात याद आती है। हमारे घर के नजदीक रामजी का एक मन्दिर था। मैं वड़े भाव से नित्य वहां जाता था। मुझे विश्वास था, कि वहां जाकर मैं निष्पाप होता था और पाप से वचने की शक्ति का नित्य कुछ-न-कुछ संचय करता था। हो सकता है, कि मन्दिर का पुजारी वुरा रहा हो। पर उसका मुझे कोई ज्ञान न था, न आज भी है। मैं उसकी अथवा मन्दिर वालों में से किसी की वुराई से अपरिचित और अलिप्त था। मेरे लिए वह मन्दिर पवित्र स्थान था; राम से मिलने का धाम था।

—ह० से० ३१।१।१९३३]

- दर्शन अनुकरण का सहायक है।
- ईश्वर को पत्र लिखने के लिए न कागज चाहिए, न कलम-दावात और न शब्द।—उस पत्र का नाम पत्र नहीं प्रार्थना है; पूजा है।
- जैसे भगवान वैसे ही भक्त होते हैं, और ठीक इसी तरह जैसे भक्त वैसे भगवान वने रहते हैं।

३८. आध्यात्मिक शब्दों के नये आयाम

एक सज्जन लिखते हैं :

"आप सदैव शब्दों के नूतन प्रयोग किया करते हैं। इससे अनर्थ का भय है। आपने कहा है हम सब मूर्तिपूजक हैं, मन्दिर हिन्दू धर्म का आवश्यक अंग है।" इसमें आप मूर्तिपूजा और मन्दिर एक अर्थ में लेते हैं और जनता दूसरे अर्थ में। इसलिए आपको स्पष्टीकरण करना चाहिए। क्या आपने इन शब्दों का एक विस्तृत रूप में प्रयोग किया है।"

. . . लौकिक अर्थ पाषाण को परमेश्वर वना देता है। लेकिन सत्य यह है कि पाषाण स्वतः परमेश्वर नहीं, किन्तु पाषाण में परमेश्वर है। लोग कहेंगे कि

यदि पाषाण में परमेश्वर है तो पाषाण परमेश्वर क्यों नहीं ? शरीर आत्मा नहीं है, शरीर में आत्मा है। फिर भी करोड़ों लोग ऐसा कहते और मानते हैं कि शरीर ही आत्मा है। उनकी दृष्टि से वह भी सत्य है अथवा उनके कथन में भी सत्य का अंश है—अर्थात्—लौकिक अर्थ सर्वथा त्याज्य नहीं है ; विचार के विस्तार के साथ ही शब्दों के अर्थ का भी विस्तार होता जायगा। मैं जो कह रहा हूं, वह कोई नई बात नहीं है। मेरे विचार में ही कुछ नवीनता-सी दीख पड़ती है। यह अनिवार्य है क्योंकि यही मेरी साधना है। सत्य की खोज में विचार करना ही पड़ता है। संकुचित अर्थ से सन्तोष नहीं होता। विचार करने से उसी शब्द के उसी अर्थ में सन्तोष का बीज दीख पड़ता है।

कहा जाता है कि वेद केवल 'ॐ' का विस्तार है। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—"राम ही ॐ है, राम ही वेद है; सब कुछ उसी में है सब वही है; और कुछ नहीं है।" लेकिन लौकिक राम दशरथ-नन्दन हैं। तुलसीदास कहते हैं—"मेरा राम दशरथ-नन्दन है, लेकिन वह उससे भी बहुत अधिक है। वही सच्चिदानन्द पूर्ण परब्रह्म है।" इस कथन में कोई विरोध नहीं; विचार-विस्तार, अर्थ-विस्तार हैं। राम के परमभक्त तुलसीदास ने ध्यान किया और ध्यान-पथ से निरंजन, निराकार सर्वव्यापक राम को पाया। यहां कोई अनर्थ नहीं हुआ; अच्छा ही हुआ; परिणाम में हम अवतारवाद के रहस्य को और अधिक समझने लगे। इस प्रकार पाषाण-शिला से लेकर परमाणु तक चले आइए, तो मूर्ति ही नजर आती है और परमाणु में भी परमात्मा निहित मिलता है। इस दृष्टि से सारा जगत् प्रतिमा-पूजक है। जगन्नाथ नाम का मकान, जिसमें जगन्नाथ की मूर्ति प्रतिष्ठित है, वह भी मन्दिर है और जिस स्थान पर पांच आदमी बैठ कर प्रभु का नित्य नाम-स्मरण करते हैं, वह भी मन्दिर है। इसलिए मन्दिर हिन्दू धर्म का ही नहीं, बल्कि संसार के सभी धर्म-मतों का एक आवश्यक अंग है। फिर भले ही कोई गिरजा, मस्जिद, गुरुद्वारा, उपाश्रय इत्यादि नाम से पुकारे। जहां तक शरीर और आत्मा का सम्बन्ध रहेगा, वहां तक मन्दिर और भगवान का भी मेल बना रहेगा। शरीर नरक की खान है और ईश्वर का निवास-स्थान भी है। ठीक इसी तरह मन्दिर नरक की खान भी बन सकता है, भगवान का वास-स्थान तो है ही—

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी॥

—ह० से०, १४।४।१९३३]

- पाषाण स्वतः परमेश्वर नहीं किन्तु पाषाण में परमेश्वर है।
- शरीर आत्मा नहीं, शरीर में आत्मा है।
- लौकिक अर्थ सर्वथा त्याज्य नहीं है।
- विचार के विस्तार के साथ ही शब्दों के अर्थ का भी विस्तार होता जायगा।
- शिला से लेकर परमाणु तक—मूर्ति ही नजर आती है।
- परमाणु में भी परमात्मा निहित है।
- सारा जगत् प्रतिमा-पूजक है।
- शरीर नरक की खान है और ईश्वर का निवास-स्थान भी है।

३९. अजन्मा का जन्म कैसे?

मैंने जिनकी मन्दिर-सम्बन्धी कई उलझनों पर एक लेख लिखा था वही शिक्षक फिर लिखते हैं—

"जो अज है, अमर है, सृष्टिकर्ता है, उसका जन्म कैसा? हिन्दू धर्म के मूल ग्रन्थ चारों वेदों में तो अवतार शब्द तक नहीं आया है। अवतारवाद को स्पष्ट करनेवाला यदि कोई ग्रन्थ आपकी दृष्टि में हो तो मुझे लिखें। एक सत्य-शोधक की दृष्टि से अवतारवाद का अध्ययन कर लेने की मेरी अवश्य इच्छा है।"

हिन्दू धर्म में बहुत-से धार्मिक सिद्धान्त बुद्धि-ग्राह्य हैं और कई बुद्धि से अतीत हैं। अवतारवाद बुद्धि का विषय है और श्रद्धा का भी। चूंकि वह श्रद्धा का भी विषय है, इसलिए जिस प्रकार भौतिक विषयों को समझानेवाले ग्रन्थ मिलते हैं, उस प्रकार अवतारवाद पर कोई ग्रन्थ है, यह मैं नहीं जानता। इस विषय पर अंग्रेजी में कुछ ग्रन्थ अवश्य लिखे गये हैं। लेकिन वे भी बुद्धि को पूर्ण सन्तोष नहीं देते। सम्भव है, संस्कृत में इस विषय के कुछ ग्रन्थ हों, पर मुझे उनका पता नहीं। अवतार पर मेरी जो श्रद्धा जम गई उसका कारण भक्तवर तुलसीदास जी हैं, ऐसा मैं मानता हूँ। मैं प्रश्नकर्त्ता शिक्षक-जैसे सत्य-शोधकों को तुलसीदास जी के ग्रन्थों का अनुशीलन करने की सलाह दूंगा। कोई सज्जन इस विषय की कोई पुस्तक जानते हों, तो कृपा कर उसका नाम लिख भेजें, मैं उसकी सूचना उक्त शिक्षक को दे दूंगा। पर अवतार-जैसे विषय पर ग्रन्थ की आवश्यकता कम है, मनन की अधिक है।

अब थोड़ा बुद्धिवाद पर विचार कर लेना चाहिए। जो गुण परमात्मा के माने जाते हैं, वही आत्मा के भी माने जाते हैं। जिस प्रकार परमात्मा अज, अजर,

अमर है उसी तरह आत्मा भी है। आत्मा परमात्मा का सनातन अंश है, तभी तो उसमें परमात्मा के गुण हैं। आत्मा अज है, तो भी शरीर-रूप से जन्म लेती है। इस कारण उसे परमात्मा का अंशावतार मानना पड़ेगा। यदि हम ऐसा मानते हैं, तो जिसमें परमात्मा के बहुत-से गुणों का आविर्भाव देखने में आता है, उसे ईश्वरावतार मान लेने में कोई बाधा नहीं आ सकती। पूर्णावतार-जैसी कोई बात बुद्धि से सिद्ध नहीं हो सकती। यह विषय काल्पनिक है और श्रद्धा-मूलक भी। हिन्दू पूर्व जन्म और इस जन्म के संस्कारों के कारण राम, कृष्ण इत्यादि को ईश्वरावतार मानेंगे। जो विश्वमात्र को ईश्वर-रूप मानता है उसे ईश्वर का अवतार मानना पड़ेगा। जैसे, जल के समुदाय को हम समुद्र-रूप से देखते हैं, इसी तरह जीव-समुदाय-रूपी संसार को हम ईश्वरावतार-रूप क्यों न देखें? इसे अवतार का नाम दें अथवा न दें, यह दूसरी बात है। हमें किसी भी नाम से काम नहीं। यह जगत् ईश्वर से अभिव्याप्त है। जहां भी देखते हैं, वहां केवल वही है। जिसका नाम और रूप है वह ईश्वर का अवतार है, इतना हमारे श्रद्धा-चक्षु के सामने स्पष्ट होना चाहिए। यदि हमारे हृदय में इतनी श्रद्धा जम जाय, तो बहुत सम्भव है, कि हम पापों से सदा दूर रहें। हम ईश्वर को घट-घट का साक्षी जानते हुए असत्य पर कैसे चल सकते और कोई पाप कैसे कर सकते हैं?

—ह० से० २१।४।१९३३]

- **अवतारवाद बुद्धि का विषय है और श्रद्धा का भी।**
- **आत्मा परमात्मा का सनातन अंश है।**
- **यह जगत् ईश्वर से अभिव्याप्त है। जहां भी देखते हैं, वहां केवल वही है।**

४०. प्राकृतिक घटनाओं का आध्यात्मिक प्रभाव

...आज से नहीं मेरा यह सदा से विश्वास रहा है कि प्रकृति की किसी घटना के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही परिणाम निकलते हैं। ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक घटना का भी प्रभाव आत्मा और प्रकृति, दोनों, पर पड़ता है।—हमें ईश्वर के समस्त नियमों का ज्ञान नहीं है और न हमें उन नियमों की कियाओं का ही पता है। धुरन्धर वैज्ञानिक या पारंगत दार्शनिक का ज्ञान भी एक 'रेणु कण' के समान है। ईश्वर मेरे लिए मेरे लौकिक पिता की भांति कोई व्यक्ति नहीं है। पर वह उसकी अपेक्षा अनन्तगुना अधिक महान है। वह मेरे जीवन की छोटी-से-छोटी बात पर भी शासन करता है। इसमें मेरा अक्षरशः विश्वास है कि उसकी

मर्जी के विना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। मैं जो प्रत्येक श्वास लेता हूं, वह वह उसी स्वामी के अधीन है।

ईश्वर और उसका नियम एक है। नियम ही ईश्वर है। हमने भगवान के साथ जो विशेषण लगा रखे हैं वे मात्र विशेषण ही नहीं है। वे विशेषण स्वयं भगवान हैं। सत्य, प्रेम, नियम और वुद्धि से मनुष्य जिन लाखों वस्तुओं की कल्पना कर सकता है, वे सव ईश्वर ही हैं।. . .विश्व-नियति के अनुसार जो कार्य चल रहा है, उसमें ईश्वर स्वयं कोई दखल नहीं देता, क्योंकि ईश्वर ही तो विश्व-नियति है। लेकिन मेरा कहना है कि हम लोग इन नियमों को पूरी तरह नहीं जानते और जो हमें संकट प्रतीत होता है, वह केवल हमारे अज्ञान के कारण ही हमें संकट-रूप मालूम होता है।

यद्यपि दुर्भिक्ष, वाढ़, भूकम्प और ऐसे ही अन्य उत्पात केवल भौतिक कारणों से उत्पन्न जान पड़ते हैं, तो भी इनका मनुष्य के आचरण के साथ भी सम्वन्ध होता है—प्रकृति के नियमों का शासन किस प्रकार चल रहा है, इस विषय में मैं अपना पूर्ण अज्ञान स्वीकार करता हूं।—मेरा यह विश्वास नहीं है कि हमारे पाप चाहे कितने ही प्रचण्ड हों वे सृष्टि का विध्वंस नहीं कर सकते। मेरा विश्वास तो इसके विपरीत है। हमारे पापों में वह शक्ति है कि वे इस सृष्टि का उससे भी अधिक विध्वंस कर सकते हैं, जितना किसी प्राकृतिक कारण से हो सकता है। प्रकृति और पुरुष के वीच अविच्छिन्न सम्वन्ध है। हमें इस अभेद्य सम्वन्ध के परिणामों का ज्ञान नहीं है, इसीलिए वे हमें गूढ़ लगते हैं और भयभीत कर रहे हैं। पर इससे उस सम्वन्ध का विच्छेद नहीं हो सकता। जिन लोगों को प्रकृति के इस सम्वन्ध का साक्षात्कार हो गया है उन्होंने प्रत्येक भौतिक संकट का उपयोग अपनी नैतिक उन्नति के लिए किया है।

प्राकृतिक विधान और मनुष्य के आचरण में जो सम्वन्ध है—उसमें मेरी कुछ ऐसी प्रगाढ़ श्रद्धा है कि मैं उसके सहारे अपने प्रभु के अधिक समीप पहुँच सकता हूँ; नम्र वन सकता हूं और उसके दरवार में जाने के लिए अधिक अच्छी तैयारी कर सकता हूं। यदि मैं अपने अगाध अज्ञान के कारण इस विश्वास को अपने विरोधियों पर प्रहार करने की नीयत से काम में लाऊं तो मेरे लिए यह विश्वास एक नैतिक अन्ध-विश्वास या वहम समझा जायगा।

—ह० ज०। ह० से०, २३।२।१९३४]

- प्रकृति की किसी घटना के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही परिणाम निकलते हैं।
- आध्यात्मिक घटना का. .प्रभाव आत्मा और प्रकृति दोनों पर पड़ता है।

- हमें ईश्वर के समस्त नियम का ज्ञान नहीं है।
- उस (ईश्वर) की मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।
- ईश्वर और उसका नियम एक है। नियम ही ईश्वर है।
- ईश्वर ही...विश्व-नियति है।
- प्रकृति और पुरुष के बीच अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

४१. प्राकृतिक कोप दैवी चेतावनी

एक विद्यार्थी लिखता है:—

"भूकम्प के विषय का आपका लेख पढ़ा। मैं विज्ञान का विद्यार्थी हूं, इसलिए मैं यह नहीं मान सकता कि भूकम्प का अस्पृश्यता से कुछ सम्बन्ध है। आप भूकम्प को हमारे पाप का परिणाम मानते हैं। यह तो निरा वहम है। पर मान लीजिए कि ऐसा सम्बन्ध है, तो भूकम्प बिहार में ही क्यों आया? अस्पृश्यता के पाप में तो सारा ही हिन्दुस्तान सना हुआ है। कृपया इस शंका का निवारण कीजिए। आप पर मेरा पूरा विश्वास है। मगर आपकी यह बात तो किसी तरह गले के नीचे नहीं उतरती।"

विज्ञान के विद्यार्थी को जितना समझ में न आवे उतना न मानने का अधिकार नहीं। विज्ञान का विद्यार्थी नम्र होता है। जो बात वह सुने उसे झट से ठुकरा न दे, उस पर उसे विचार करना चाहिए। हम इस संसार में थोड़ी ही चीजों को समझ सकते हैं, अगणित वस्तुओं को नहीं समझ सकते। इसी से ज्ञानियों को ज्यों-ज्यों ज्ञान प्राप्त होता जाता है, त्यों-त्यों वे नम्र बनते जाते हैं, क्योंकि ज्ञानी का ज्ञान तो अपने अज्ञान का पहाड़ देखने में है। जितना ही गहरा वह उतरता है, उतना ही वह देखता है कि वह तो कुछ भी नहीं जानता। बल्कि जितना वह जानता है, वह सब उसका अनुमान ही है। ऐसा लिखकर मैं विज्ञान का खण्डन नहीं करना चाहता। अल्प ही क्यों न हो, ज्ञान का उपयोग तो है ही। किन्तु जितना जानने को है उसे देखते हुए हमारा उपलब्ध ज्ञान समुद्र के बिन्दु से भी न्यून है।

इस जगत् में जीवमात्र का मूल एक ही है, और इसी कारण मूलस्वरूप में सब एक ही हैं। इसमें वनस्पति से लेकर मानव प्राणी तक सभी का समावेश हो जाता है। जो यह समझता है, उसकी दृष्टि में एक जीव का दुःख उन सब जीवों का दुःख है; एक का सुख उन सबका सुख है। अतएव त्यागवृत्ति में सच्चा सुख माना गया है, और है भी। इसलिए यदि वह विद्यार्थी जीवमात्र का ऐक्य स्वीकार करता है, तो बिहार के दैवी दण्ड में सभी आ जाते हैं। जिन्हें भूकम्प का स्पर्श

मालूम नहीं हुआ, वे कुछ अछूते नहीं रहे। प्रत्यक्ष रीति से उन्हें अनुभव नहीं हुआ, तो यह उनका अज्ञान समझना चाहिए। विहार ही क्यों, दूसरा प्रान्त क्यों नहीं, यह वात ईश्वर से पूछने वाले हम कौन ? उसकी कला समझ में नहीं आती। उसकी तो अविगत गति है। इसीलिए जहां वुद्धि की गति नहीं, वहां श्रद्धा काम देती है।

हम यह अनेक उदाहरणों से सिद्ध कर सकते हैं कि भौतिक घटनाओं का अध्यात्म के साथ सम्वन्ध होता है। भौतिक वस्तु की उत्पत्ति भी एक ही शक्ति से होती है। अतः भौतिक तथा आध्यात्मिक के वीच में अनिवार्य भेद नहीं है। वर्षा होना एक भौतिक घटना है, पर उसका सम्वन्ध मनुष्य के सुख-दुःख के साथ तो है ही। तो फिर उसके पाप-पुण्य के साथ उसका सम्वन्ध क्यों नहीं ? संसार के इतिहास में हमें ऐसा समय याद नहीं पड़ता, जव असंख्य लोगों ने भूकम्प आदि घटनाओं को मनुष्य के पाप के साथ न जोड़ा हो। आज भी अनेक स्थानों में धार्मिक मनुष्य इस सम्वन्ध को मानते हैं।

हमारे किस पाप के कारण ऐसा संकट आता है, यह कोई समझ नहीं सकता। स्वर्ण-नियम तो यह है, कि इसे सव लोग अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक पाप का दण्ड मानें। तुम्हारे पाप की वदौलत यह संकट आया है, ऐसा कहने में अभिमान है। मेरे पाप से यह हुआ, ऐसा मानने में नम्रता है; ज्ञान है। जो लोग अस्पृश्यता को पाप नहीं मानते उन्हें मेरा यह मनवाने का प्रयत्न नहीं है कि भूकम्प अस्पृश्यता के पाप का फल है। वे तो खुशी से मानें कि वह मेरे पाप का परिणाम है। ऐसी घटनाओं में सत्य-असत्य का अन्तिम निर्णय अपूर्ण मनुष्य नहीं कर सकता। हमारे अपने पाप की वदौलत भूकम्प आया, यदि मैं अपने पाठकों को इतना विश्वास करा सकूं तो मैं समझूंगा कि मेरा काम पूरा हो गया। फिर तो अस्पृश्यता का महापाप मानने वाले भूकम्प के साथ उसका सम्वन्ध जोड़कर समय पर उस पाप का यथा-शक्ति प्रायश्चित्त अवश्य करेंगे।

—ह० व०। ह० से० २०।४।१९३४]

- ज्ञानियों का ज्ञान तो अपने अज्ञान का पहाड़ देखने में है।
- हमारा उपलव्ध ज्ञान समुद्र के विन्दु से भी न्यून है।
- जीवमात्र का मूल एक ही है, इसी कारण मूलस्वरूप में सव एक ही हैं।
- जहां वुद्धि की गति नहीं, वहां श्रद्धा काम देती है।
- भौतिक घटनाओं का अध्यात्म के साथ सम्वन्ध होता है।

४२. ईश से याचना और शून्यता

ईश्वर से याचना करने का अर्थ है तीव्र इच्छा करना। ईश्वर हमसे भिन्न भी है और अभिन्न भी है। भिन्न है क्योंकि वह सम्पूर्ण है; अभिन्न है क्योंकि हम उसके अंश हैं। समुद्र से अलग पड़ जानेवाली बूंद यदि समुद्र से विनती न करे तो किस से करे? परन्तु समुद्र के लिए कुछ करने या न करने की बात है क्या? प्रार्थना वियोगी का विलाप है, उसके बिना देहधारी जी ही नहीं सकता।

राष्ट्र की प्रगति की कुंजी हमारे हाथ में है भी। और नहीं भी है। यदि हम शून्यवत् हो जायं तो ही प्रगति होगी। शून्यवत् होना हमारे हाथ में है, परन्तु प्रगति हमारे हाथ में नहीं है। क्योंकि शून्य बने कि प्रगति एकमात्र परमात्मा के हाथ में रहती है।

'ऊधो करमन की गति न्यारी' यह शुद्ध सत्य है। कर्म का नियम है, इतना हम जान सकते हैं, परन्तु हम यह नहीं जानते कि वह नियम किस ढंग से काम करता है। इतनी प्रभु की कृपा है। सामान्य राजा के नियम भी जब हम नहीं जानते, तो फिर नियम की मूर्ति के समान परमात्मा के (सारे) नियमों को हम कैसे जान सकते हैं?

—वर्धा, ३।२।१९३५। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृ० २३५, न० जी० प्र० मं०]

● प्रार्थना वियोगी का विलाप है। उसके बिना देहधारी जी ही नहीं सकता।

४३. मन्दिर और मूर्ति

...मन्दिर उस अदृष्ट, अगोचर और अनिर्वचनीय ईश्वर तथा हम-जैसे अनन्त महासागर के अल्पातिअल्प बिन्दुओं के बीच सेतु-रूप है। हम सारे मनुष्य तत्वचिन्तक नहीं होते। हम तो मिट्टी के पुतले हैं, धरती पर बसने वाले मानव प्राणी हैं, इसीलिए हमारा मन धरती में ही रमता है। इसीलिए हमें अदृश्य ईश्वर का चिन्तन करके सन्तोष नहीं होता। हम कोई ऐसी वस्तु चाहते हैं जिसका स्पर्श कर सकें; जिसे देख सकें; जिसके आगे घुटने टेक सकें। भले ही वह वस्तु कोई ग्रन्थ हो, पत्थर का खाली मकान हो या अनेक मूर्तियों से भरा कोई मन्दिर हो। किसी को ग्रन्थ से शान्ति मिलेगी; किसी किसी को खाली मकान से तृप्ति होगी तो दूसरे बहुत-से लोगों को तबतक सन्तोष नहीं होगा, जबतक वे उन

खाली मकानों में कोई वस्तु स्थापित हुई नहीं देख लेंगे। मैं आपसे कहता हूँ कि आप यह भाव लेकर इन मन्दिरों में न जायं कि ये मन्दिर अन्धविश्वासों को आश्रय देने वाले घर हैं। अगर आप मन में श्रद्धा-भाव रखकर इन मन्दिरों में जायंगे, तो आप देखेंगे कि हर बार वहां जाकर आप शुद्ध बन रहे हैं। और (तब) जीवित-जाग्रत ईश्वर पर आपकी श्रद्धा बढ़ती ही जायगी।

—ह० से०, ३०।१।१९३७]

● **मन्दिर उस अदृश्य, अगोचर और अनिर्वचनीय ईश्वर तथा हम-जैसे अनन्त महासागर के अल्पातिअल्प बिन्दुओं के बीच सेतु-रूप है।**

४४. मूर्ति-पूजा

...मूर्ति को ही ईश्वर समझना बुरा है, मूर्ति-पूजा बुरी नहीं है। मूर्ति-पूजक मूर्ति को ईश्वर नहीं समझता, लेकिन पत्थर में भी ईश्वर को देखता है और इसलिए ईश्वर के साथ एकात्म-भाव-स्थापन के लिए वह मूर्ति की सहायता लेता है। हिन्दुओं के एक-एक बच्चे को मालूम है कि बनारस के प्रसिद्ध मन्दिर का पत्थर काशी-विश्वनाथ नहीं है, पर उसका विश्वास है कि उस पत्थर में विशेष रूप से भगवान विश्वनाथ विराजमान हैं।

इस तरह कल्पना के घोड़े दौड़ाने में कोई हानि नहीं, लाभ ही है। पुस्तकों की दूकान पर गीता की जितनी प्रतियाँ रखी रहती हैं, उनमें वह पवित्रता का भान नहीं रहता, जो मैं अपनी गीता की पुस्तक में समझता हूँ। । तर्क से तो यह मालूम होता है कि मेरी गीता में उतनी ही पवित्रता है, जितनी और किसी में। वास्तव में पवित्रता मेरी कल्पना की वस्तु है। लेकिन ऐसी कल्पना से विलक्षण ठोस परिणाम निकलते हैं। उससे मनुष्यों के जीवन बदल जाते हैं। मेरी राय में, हम मानें न मानें हम सब मूर्ति-पूजक हैं। पुस्तक, इमारत, चित्र और नक्शा—ये सब अवश्य ही मूर्तियाँ हैं, जिनमें ईश्वर का निवास है, मगर वे ईश्वर नहीं हैं। जो यह कहता कि वे ईश्वर हैं, वह भूल करता है।

—ह० ज०। ह० से०, ९।३।१९४०]

● **हम मानें न मानें, हम सब मूर्ति-पूजक हैं।**

४५. ईशोपनिषद की शिक्षा

दम्भी व्यक्ति भी मुँह से ईश्वर का नाम लेते हैं, लेकिन बगल में छुरी हो तो वह किस काम का? अगर हृदय से राम-नाम लिया जाय तो कभी थकान महसूस नहीं होगी।—

ईशोपनिषद् के पहिले मन्त्र में कहा गया है कि सारा जगत् ईश्वर से आच्छादित है। सब कुछ ईश्वर ही है। हमारा कुछ नहीं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह एक वार अपना सब कुछ ईश्वर को अर्पित कर दे और उसके बाद सेवा के लिए जितनी जरूरत हो केवल उतनी मात्रा में लेकर उसका उपयोग करे, उससे अधिक एक कण भी न ले। दूसरों के धन की इच्छा तक न करे; सेवा के लिए उसे जितना चाहिए उसको छोड़ कर बाकी सबको पराया धन समझे। मेरा ही उदाहरण लीजिए। मैं इस महल में पड़ा हूं। इसका मतलब यह नहीं कि चूंकि यह मुझे मिल गया है, मैं सारे का सारा अपने काम में ले आऊं।

ताल्सताय ने अपनी एक अमर कहानी में इस सवाल का जवाब दिया है कि आदमी को कितनी जमीन चाहिए। शैतान एक आदमी को फुसलाता है और वरदान देता है कि वह एक साँस में दौड़कर जितनी जमीन घेर ले, उतनी उसकी हो जायगी। लालच का मारा बेचारा आदमी आगे दौड़ता ही जाता है। अन्त में सूर्यास्त तक जहां से चला था वहां वापस पहुंचते ही उसका दम निकल जाता है और उसे दफ़नाने के लिए सिर्फ़ छः फ़ुट जमीन काम आती है।

इसी प्रकार अगर मैं स्वयं को धोखा देकर यह मानने लगूं कि मुझे सारे बंगले की जरूरत है, तो मेरे-जसा कोई मूर्ख नहीं। केवल उल्टी समझ का आदमी इस मन्त्र का यह अर्थ कर सकता है कि एक बार ईश्वर के सामने भोग लगाने के बाद जो चाहो, हड़प कर जाओ। यह तो मन्त्र के वास्तविक अर्थ की हँसी उड़ाना होगा। नये और चटकीले-भड़कीले कपड़े पहिनने के बदले अगर कोई फटे-पुराने किन्तु मरम्मत किये हुए कपड़े पहिने तो यह मुझे ज्यादा अच्छा लगेगा। फटे कपड़े पहिनना आलस्य की निशानी है इसलिए उसमें शर्म है। मगर टांके या पेवन्द लगे कपड़े पहिनना गरीबी या त्याग और परिश्रम की निशानी है। इसी तरह अगर कोई आदमी मुझे २५ हज़ार की रक़म दे देता है और मैं उसको अपने आनन्द-विलास में खर्च कर देता हूं, तो मेरी कीमत एक कौड़ी की हो जाती है। किन्तु सारी रकम हाथ में रखने पर भी मैं उसमें से अपनी ज़रूरत के लिए एक कौड़ी ही खर्च करूं तो इसमें मेरी कीमत है। तभी यह माना जायगा कि मैंने ईशोपनिषद् के मन्त्र का अर्थ समझ लिया है।

—प्रार्थना सभा, शिमला २।५।१९४६। शिमला, ३।५।१९४६। ह० से० १२।५।१९४६]

४६. मेरे राम

यह कहना नादानी है कि मैं राम—सिर्फ एक आदमी—को भगवान के साथ मिलाता हूं। मैंने कई बार स्पष्ट किया है कि मेरा राम स्वयं भगवान है।

वह पहिले था, आज भी मौजूद है और भविष्य में भी हमेशा रहेगा। वह न कभी पैदा हुआ, न किसी ने उसे वनाया। इसलिए आप भिन्न मजहबों को सहन करें और उनका आदर करें। मैं खुद मूर्तियों को नहीं मानता, मगर मैं मूर्ति-पूजकों का उतना ही आदर करता हूँ, जितना दूसरों का। जो लोग मूर्तियां पूजते हैं वे भी उसी एक भगवान को पूजते हैं, जो हर जगह है, जो उंगली से काटे गये नाखून में भी है। मेरे ऐसे मुसलमान दोस्त हैं, जिनके नाम रहीम, रहमान, करीम हैं। मैं उन्हें रहीम, करीम और रहमान कहकर पुकारता हूँ, तो क्या मैं उन्हें खुदा मान लेता हूँ ?

—साधुरखिल के प्रसिद्ध मुसलमान सलीमुल्ला साहव के वाड़े में हुई प्रार्थना सभा के प्रवचन से। ह० ज०। ह० से०, २३।२।१९४७]

● मेरा राम स्वयं भगवान है।

४७. मानव : महान शिल्पी का यन्त्र

घटनाएं जैसी होती हैं, उन पर वह (गीता का भक्त) ध्यान देता रहता है और स्वाभाविक प्रतिक्रिया करता है और अपने हिस्से को इस तरह अदा करता है, मानों वह उस महान शिल्पकार के हाथ में एक सावन हो, ठीक उसी तरह जैसे कोई अच्छी तरह काम करनेवाली मशीन कारीगर के इशारे से अपने-आप काम करती है। किसी चेतन वुद्धिमान प्राणी के लिए यन्त्र की तरह वन जाना सवसे कठिन होता है। फिर भी किसी को शून्य वनना हो, तो पूर्णता की इच्छा रखनेवाले को ठीक ऐसा ही वनना होगा। यन्त्र और मनुष्य में वड़ा भारी भेद यह है कि यन्त्र जड़ है और मनुष्य पूरी तरह चेतन है और उस महान शिल्पकार के हाथ में जानवूझ कर यन्त्र वनता है। श्रीकृष्ण तो साफ शब्दों में कहते हैं कि सव प्राणी यन्त्र के पुर्जों की तरह ईश्वर के चलाये चलते हैं।

—वापू के पत्र : मीरा के नाम, पृष्ठ २४७, संस्करण १९५९]

● सव प्राणी यन्त्र के पुर्जों की तरह ईश्वर के चलाये चलते हैं।

४८. ईश्वर : हमारा पिता
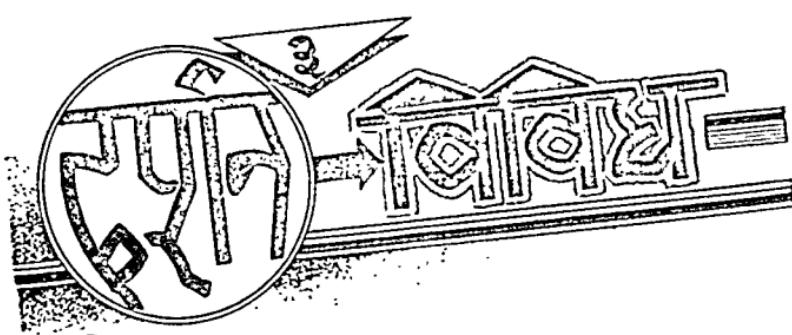
जव हम यह जानते हैं कि ईश्वर स्वयं ही रहस्यों का रहस्य है, तव उसके किसी भी कार्य से हमें व्याकुल क्यों होना चाहिए, यदि वह हमारी इच्छा के अनु-सार काम करता अथवा यदि वह ठीक हमारी तरह काम करता, तव तो न हम

उसके उत्पन्न किये हुए प्राणी होते और न वह हमारा स्रष्टा—पिता होता। हमारे आस-पास जो अभेद्य अन्धकार छाया रहता है, वह अभिशाप नहीं परन्तु वरदान है। ईश्वर ने हमें अपने सामने का एक कदम देखने की शक्ति प्रदान की है और यदि दिव्य प्रकाश उस कदम को हमारे सामने प्रकट कर देता है तो इतना बस होना चाहिए। तब हम न्यूमैन[1] के साथ गा सकते हैं, मेरे लिए एक कदम बस है। और अपने अतीत के अनुभव से हम इस बात का विश्वास रख सकते हैं कि अगला कदम सदा ही हमारी दृष्टि में होगा। दूसरे शब्दों में, अभेद्य अन्धकार इतना अभेद्य नहीं होता जितना होने की हम उसके बारे में कल्पना कर लेते हैं। परन्तु हमें वह अभेद्य उस समय दिखाई देता है जब हम अधीर बन कर उसे एक कदम से आगे देखना चाहते हैं। और ईश्वर कभी-कभी जो भौतिक आपत्तियाँ भेजता है, वे भी प्रच्छन्न रूप में वरदान ही होती हैं। वरदान वे केवल उन्हीं लोगों के लिए हो सकती हैं, जो उन्हें आत्म-निरीक्षण और आत्मशुद्धि के लिए मिली हुई चेतावनी समझते हैं।

—माई डीयर चाइल्ड, संस्करण १९५९, पृ० १०४-०५]

---

१. कार्डिनल न्यूमैन : प्रसिद्ध अंग्रेजी पादरी और कवि।

१. गीता का उपदेश

गीता कहती है कि मन[1] ही बन्धन तथा मोक्ष का कारण है। सुधन्वा खौलते तेल में डाल दिया गया था। जिस व्यक्ति ने उसे तेल में डलवाया था उसने सोचा था कि उसे इससे दुःख होगा, किन्तु सुधन्वा को उससे अपनी भक्ति की तीव्रता प्रदर्शित करने का सुअवसर मिल गया।

—श्री मगनलाल गांधी को लिखे पत्र से। फाल्गुण वदी ७ संवत १९६६। २।४।-१९१०। सं० गां० वां०, खण्ड १० पृ० २२१]

२. मानव का कर्तव्य

प्रत्येक मनुष्य को स्वयं अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ सुननी चाहिए, स्वयं अपना स्वामी होना चाहिए और स्वयं अपने अन्तर में ईश्वर का राज्य खोजना चाहिए।

—श्री डब्ल्यू० जे० वायवर्ग को लिखे पत्र से। १०।५।१९१०। अंग्रेजी। इं० ओ०, २१।५।१९१०। सं० गां० वां०, खण्ड १०, पृष्ठ २६६]

३. वैयक्तिक साधना

[श्री मगनलाल गांधी को लिखे पत्र से]

यदि तुम आत्मा को समर्थ मानते हो तो तुम्हारी आत्मा भी वैसी ही है। मेरी आत्मा और तुम्हारी आत्मा में कोई भेद नहीं है। तुम्हारे अन्दर अनात्मा का जो अंश है यानी भीरुता, संशय, अनिश्चय, इत्यादि उसे तुम दूर कर दो, तो हम दोनों समान ही हैं। अन्तर इतना ही है कि दीर्घ प्रयत्न के बाद मैंने अपना अधिकांश मल धो डाला है। यदि तुम दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करोगे, तो तुम भी उतना ही, बल्कि उससे अधिक धो सकोगे।

—सोमवार की रात, १७।७।१९११। सं० गां० वां०, खण्ड ११, पृष्ठ १२३]

---

१. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

४. मिथ्यावाद

सच्चा ज्ञान तो नरसिंह मेहता और सुदामा जी ने सिखाया है, यही बात मन में जमती है। इन्द्रियों के भोगों का उपभोग करके यह कहना कि मैं कुछ नहीं करता हूँ, इन्द्रियां ही अपना काम कर रही हैं, मैं तो द्रष्टा मात्र हूँ आदि उक्तियाँ तो बिल्कुल मिथ्यावाद-जैसी हैं। ऐसे वचन तो केवल वही कह सकता है, जिसने पूरी तरह इन्द्रिय-दमन कर लिया है और जिसकी इन्द्रियां केवल शरीर-यात्रा के निमित्त व्यापार करती हैं। इस हिसाब से हममें एक भी मनुष्य ऐसी बात कहने का अधिकारी नहीं है, और जबतक हमारे जीवन में खरी गरीबी नहीं आती तबतक हममें वह योग्यता भी नहीं आ सकती। राजा आदि अपने पुण्य के प्रताप से राजा बनते हैं, ऐसा मान लेना निराधार है। कहा यही जाना चाहिए कि कर्मों के बल पर ही राज्य-पद मिलता है। परन्तु वे कर्म पुण्य-कर्म ही होते हैं, आत्मा के स्वरूप का विचार करते हुए यह कहना भी एकदम असत्य लगता है।

—श्री छगनलाल और मगनलाल गांधी को लिखे पत्र से। श्रावण वदी १४। २३।८। १९११, रात्रि ग्यारह बजे। सं० गां० वां०, खण्ड ११, पृष्ठ १४५]

५. तपश्चर्या

[श्री राव जी भाई पटेल को लिखे पत्र से]

तपश्चर्या पर आचरण करने से कितना प्राप्त होगा, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इस बात को समझना उतना ही सरल है, जितना त्रैराशिक-नियमों को समझना।

—केप टाउन, रविवार, ५।२।१९१४ के बाद। सं० गां० वां०, खण्ड १२ पृष्ठ ३४६]

६. भावना ही प्रमुख है

रामचन्द्र जी की मूर्ति के दर्शन करने की इच्छा रखने वाले तुलसीदास जी को कृष्ण की मूर्ति राम के रूप में दिखाई दी। हमारे कितने ही विद्यार्थी, यदि विद्यालय का नियम हो तो उसके पालन हेतु, बाइबिल के वर्ग में जाते हैं। फिर भी बाइबिल-ज्ञान से अछूते रहते हैं। दोष निकालने की नीयत से गीता पढ़ने वाले को गीता में दोष मिल जायंगे। मोक्ष चाहने वाले को गीता मोक्ष का सबसे अच्छा

साधन बताती है। कुछ लोगों को कुरान शरीफ़ में सिर्फ दोष ही दोष दिखाई देते हैं, दूसरे उसे पढ़ कर और मनन करके संसार-सागर से पार होते हैं।...
—बिहार छात्र सम्मेलन में दिये गये भाषण से। भागलपुर, १५।१०।१९१७। गुजराती। 'महात्मा गांधी नी विचारसृष्टि।' सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृष्ठ ८]

७. ईश्वर की शोध

मेरा विश्वास है कि यदि हम मनुष्य से डरना छोड़ दें और केवल ईश्वर के सत्य की ही शोध करें, तो हम सब ईश्वर के दूत बन सकते हैं। मेरा अवश्य ही यह विश्वास है कि मैं केवल ईश्वर के सत्य की ही शोध में लगा हुआ हूं और मैंने मनुष्य का डर बिल्कुल छोड़ दिया है।
—यं० इं०, २५।५।१९२१]

८. मेरे राम

...राम तो मेरे हृदय में राज्य कर रहे हैं।...मेरे न मां हैं, न बाप और न भाई। मैं छत्रहीन हूं। राम ही मेरे सर्वस्व हैं। वही मां हैं, बाप हैं, भाई हैं, सर्वस्व हैं। मैं उसी का जिलाया जीता हूं। सारी स्त्री जाति में मुझे वही दिखाई देता है। इस कारण मैं समस्त स्त्रियों को मां या बहिन के समान मानता हूं। मैं सभी पुरुषों में उसी को देखता हूं। इसलिए सब को अवस्था के अनुसार बाप, भाई या पुत्र की तरह मानता हूं। मैं उसी राम को भंगी और ब्राह्मण में देखता हूं। इसलिए दोनों की वन्दना करता हूं।
—न० जी०। हि० न० जी० ८।६।१९२४]

९. सृजनकर्ता का यशोगान

जब मैं सूर्यास्त के रंगों का अनोखा वैभव या चन्द्रमा की शोभा निहारता हूं तब मेरी आत्मा सिरजनहार की पूजा में फूल उठती है। इन सारी रचनाओं में मैं उसके और उसकी दया के दर्शन करने का प्रयत्न करता हूं।
—यं० इं०, १३।११।१९२४]

१०. ईश्वर का स्वरूप

ईश्वरीय अनुग्रह और प्रकाश का ठीका किसी एक कौम या जाति को नहीं है। वे बिना भेदभाव उन सब बन्दों को प्राप्त होते हैं जो उसकी सेवा में उपस्थित रहते हैं। उस जाति और धर्म का नामोनिशान दुनिया के पर्दे से मिटे बिना नहीं रहेगा जो अपना दारोमदार अन्याय, असत्य और पशुबल पर रखता है। ईश्वर प्रकाश है, अन्धकार नहीं। वह प्रेम है, घृणा नहीं; सत्य है, असत्य नहीं। केवल ईश्वर ही महान है। हम सब उसके बन्दे हैं; उसकी चरण-रज हैं। आइए, हम सब मिलकर नम्र बनें और ईश्वर के छोटे-से-छोटे बन्दे के भी इस संसार में रहने के अधिकार को स्वीकार करें। श्रीकृष्ण ने फटे-पुराने चीथड़े पहने हुए सुदामा का वह स्वागत-सत्कार किया, जो किसी का नहीं किया। गोस्वामी तुलसीदास जी का कथन है, 'दया धर्म को मूल है देह मूल अभिमान।'

—उनतालीसवीं राष्ट्रीय महासभा-बेलगांव में दिये गये अध्यक्षीय भाषण से।

—हि० न० जी०, २६।१२।१९२४]

- **ईश्वर प्रकाश है, अन्धकार नहीं। वह प्रेम है, घृणा नहीं; सत्य है, असत्य नहीं।**

११. धर्मग्रन्थों का भाव ही ग्राह्य है

मैं अक्षरवादी नहीं हूँ। इसलिए मैं संसार के विभिन्न धर्मग्रन्थों का भाव समझने की कोशिश करता हूँ। अर्थ लगाने के लिए मैं—इन शास्त्रों ने सत्य और अहिंसा की जो कसौटी बताई है, उसी का उपयोग करता हूँ। उस कसौटी पर जो चीज खरी नहीं उतरती उसे मैं अस्वीकार कर देता हूँ और जो खरी उतरती है, उसकी कद्र करता हूँ।

ज्ञान पर किसी वर्ग या समुदाय का विशेषाधिकार नहीं हो सकता। लेकिन मैं यह मान सकता हूँ कि जबतक लोगों को प्रारम्भिक तालीम न मिल जाय तबतक वे ऊंचे या सूक्ष्म सत्यों का आकलन नहीं कर सकते। जैसे कि प्रारम्भिक तैयारी न करने वाले लोग बहुत ऊंचाई पर रहने वाले सूक्ष्म वायुमण्डल में साँस नहीं ले सकते या सामान्य गणित की प्रारम्भिक शिक्षा न पाने वाले उच्च भूमिति या बीजगणित को समझने या पचाने की शक्ति नहीं रखते।

—यं० इं०, २७।८।१९२५]

१२. आत्मा की गति

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—धार्मिक प्रश्नों के लेख में अपने लिखा है कि आत्मा एक ही हो तो उसका अनेक आत्मा के रूप में असंख्य योनियों में भ्रमण करना असम्भव नहीं गिना जाना चाहिए। तो क्या एक ही आत्मा मनुष्य की देह से निकल कर पशु-योनि अथवा वनस्पति में जन्म ले सकती है? . . .

उत्तर—मेरी यह मान्यता अवश्य है कि मनुष्य योनि में जन्म लेने के बाद पशु वनस्पति आदि योनियों में भी आत्मा का पतन हो सकता है।

—न० जी०। हि० न० जी०, ८।४।१९२६]

१३. आध्यात्मिक शंकाएं

[कुछ प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—परमेश्वर का ध्यान करना चाहिए या नहीं?

उत्तर—बेशक, परमेश्वर के रूप को बुद्धि-द्वारा जान कर हृदयंगम करने के लिए ध्यान करना जरूरी है।

प्रश्न—अगर ध्यान करना जरूरी है तो किस प्रकार?

उत्तर—परमेश्वर निरंजन, निराकार और ध्यान से भी परे है। अव्यक्त मार्ग देहधारियों के लिए दुःखमय है। इसलिए उन्हें सगुण व्यक्त रूप का ध्यान करना चाहिए। इस युग में और इस देश में तो वह दरिद्रनारायण के ही रूप में दिखाई देता है। इसलिए उसका ध्यान करने का मार्ग दरिद्रों की सेवा करना है। यह सेवा अनेक रीतियों से हो सकती है।

प्रश्न—ईश्वर का रूप कैसा है?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर ऊपर दिया जा चुका है, इसलिए अब देने की जरूरत नहीं रहती। किन्तु फिर भी कहता हूं कि वह अपना स्वरूप स्वयं ही जानता है या जो मनुष्य उसे जान सके हैं, वे समझा नहीं सकते। वह शब्दों से परे है। उसका परिचय देने योग्य भाषा अभी नहीं बनी। इसीलिए हमें जैसा अनुकूल पड़ता है उसे हम मत्स्य, वाराह, नृसिंह और मनुष्य के रूप में पूजते हैं। ऐसा करने में हम सभी खोटे और सच्चे हैं। अपनी-अपनी दृष्टि में सभी सच्चे, विरोधी की दृष्टि में झूठे और परमात्मा की दृष्टि में सच्चे भी और झूठे भी हैं।

—न० जी०। हि० न० जी०, २३।९।१९२६]

● परमेश्वर निरंजन, निराकार और ध्यान से भी परे है।
● वह (परमेश्वर) अपना स्वरूप स्वयं ही जानता है।

१४. अस्तित्व-विस्मृति

'मैं-पन' भूल जाओ। इतना कर लो तो कहीं भी जा सकती हो।

—बोलगढ़, १२।१२।१९२७। 'बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को' पृष्ठ ५९, न० जी० प्र० मं०]

१५. जन्म और मोक्ष

अगर मोक्ष के लिए सतत प्रयत्न न हो, तो जन्म तो अनिवार्य है ही। और जन्म हमें अच्छा लगता है, इसलिए किसी भी तरह दुःख का कारण नहीं। दुःख हमारी मूर्च्छा में है। यह समझ कर मैंने अपना एक भी काम क्षण भर के लिए भी नहीं रोका।

—११।२।१९२९। 'बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को' पृष्ठ ७२, न० जी० प्र० मं०]

१६. आत्मा का मिलन

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

आत्मा का आत्मा से मिलन होना अधिक अच्छा है। इस सुखद मिलन को कोई सत्ता रोक नहीं सकती।

—यरवदा मन्दिर, २०।७।१९३०। 'बापू के पत्र : मीरा के नाम', पृष्ठ ९२, न० जी० प्र० मं०]

१७. ॐकार की महत्ता

वेदों ने ब्रह्म का वर्णन ॐ तत्सत रूप से किया है, अतः श्रद्धालु को चाहिए कि यज्ञ, दान, तप आदि क्रिया इसका उच्चारण करके करे। ॐ—अर्थात् एकाक्षरी ब्रह्म। तत् अर्थात् वह। सत् अर्थात् सत्य, कल्याणरूप। अर्थ यह कि ईश्वर एक है, यही है, यही सत्य है, यही कल्याण करने वाला है।

—यरवदा मन्दिर, १४।२।१९३२। 'गीता-बोध', पृष्ठ ७९, स० सा० मं० दसवां संस्करण १९५४]

१८. सत्य-रूप ईश्वर

[आश्रम के बच्चों को लिखे पत्र से]

ईश्वर सत्य है यह कहने के बजाय मैं यह कहता हूँ कि सत्य ईश्वर है। मुझे हमेशा ऐसा नहीं सूझा था। सूझ तो चार-एक वर्ष पहिले ही पड़ी। मगर अनजान में ही मेरा बर्ताव इसी किस्म का रहा है। ईश्वर को मैंने सत्य के ही रूप में जाना है। एक समय ऐसा था, जब ईश्वर की हस्ती के विषय में शंका थी। मगर सत्य की हस्ती के बारे में कभी नहीं थी। यह सत्य केवल जड़ गुण नहीं बल्कि शुद्ध चैतन्यमय गुण है। वही राज्य करता है, इसलिए ईश्वर है। यह विचार दिल में पैठ गया हो, तो तुम्हारे दूसरे सवालों का जवाब इसी में आ जाता है।— मेरे लिए तो यह अनुभवगम्य-जैसा है। 'जैसा' इसलिए कहता हूँ कि मैंने सत्य-देव का साक्षात्कार नहीं किया है। सिर्फ झांकी हुई है। श्रद्धा अटल है।

—२१।३।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २७]

१९. मृत्यु

[श्री जुगतराम को लिखे पत्र से]

...मौत का अफसोस किसलिए? मरने लायक मृत्यु स्वागत-योग्य है। जो मरते हैं वे फिर जन्म लेने के लिए ही न? इसलिए खेद का कोई कारण नहीं है।

—२१।३।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २६-२७]

२०. प्रभु-साक्षात्कार

[सुश्री हेमप्रभा देवी द्वारा पत्र में पूछे गये प्रश्न का लिखित उत्तर]

प्रश्न—इस मानव-देह में प्रभु के दर्शन हो सकते हैं?

उत्तर—मनुष्य-देह में ईश्वर-दर्शन होगा या नहीं, यह प्रश्न गीता-भक्त के मन में पैदा ही नहीं होता, क्योंकि वह कर्म का अधिकारी है, फल का कभी नहीं। और जिस बात का अधिकार नहीं है, उसका विचार क्यों किया जाय? फिर भी मेरी राय है कि देह रहते पूर्ण साक्षात्कार असम्भव है। हम ठेठ उसके पास तक जरूर पहुँच सकते हैं, मगर शरीर का अस्तित्व होने से द्वार-प्रवेश असम्भव मालूम होता है : ईश्वर-विरह का दुःख तो हमें सदा ही रहना चाहिए। वह न रहेगा तो

प्रयत्न वन्द हो जायगा या शिथिल पड़ जायगा। विरह-दुःख का परिणाम निराशा नहीं, आशा होना चाहिए; मन्दता नहीं, अधिकाधिक उद्यम होना चाहिए। कोशिश थोड़ी भले ही हो, परन्तु वह बेकार नहीं जाती। यह भगवान की प्रतिज्ञा है। इसलिए हमारा विरह-दुःख भी आनन्ददायक हो जाना चाहिए। क्योंकि हमें विश्वास होना चाहिए कि किसी-न-किसी दिन साक्षात्कार हुए विना नहीं रहेगा।
— २२।३।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३१]

- वह (गीता-भक्त) कर्म का अधिकारी है, फल का कभी नहीं।
- देह रहते पूर्ण (ईश्वर का) साक्षात्कार असम्भव है।
- ईश्वर-विरह का दुःख तो हमें सदा ही रहना चाहिए।
- विरह-दुःख का परिणाम निराशा नहीं आशा होना चाहिए।

२१. ईश्वर और विज्ञान

[एक एम० ए०, बी० एस-सी० तक शिक्षा प्राप्त भाई ने गांधी जी को लिखा, 'वहुत विज्ञान पढ़ने के वाद ईश्वर पर श्रद्धा नहीं जमती। मगर ऐसा लगता है कि (श्रद्धा) होनी चाहिए। इसका क्या उपाय है?' गांधी जी ने इस शंकित मनः-स्थिति वाले भाई को निम्नलिखित उत्तर दिया—सम्पा०]

तुम्हारा करुण पत्र मिला। ईश्वर तो अन्तर में है। इसलिए भौतिक विज्ञान के कुछ भी शोधन किये जायं, तो भी उनसे ईश्वर पर जीवित श्रद्धा नहीं हो सकती। अलवत्ता, कुछ लोगों को भौतिक विज्ञान से जरूर मदद मिली है, मगर उनकी गिनती अंगुलियों पर की जा सकती है। तुम्हें मेरा सुझाव तो यह है कि ईश्वर के अस्तित्व के वारे में तर्क न करो—जैसे हम अपनी हस्ती के वारे में दलील नहीं करते। यूक्लिड के स्वयंसिद्ध सूत्र की तरह यह मान ही लो कि ईश्वर है, क्योंकि असंख्य धर्मात्मा ऐसा कह गये हैं और उनका जीवन इस वात का असन्दिग्ध प्रमाण है। तुम अपनी श्रद्धा के प्रमाण-स्वरूप रोज सुवह-शाम पन्द्रह-पन्द्रह मिनट राम-नाम जपो और रामायण के पाठ में रमे रहो।
—२५।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ११७]

- ईश्वर तो अन्तर में है।

२२. तर्क और भक्ति

[श्री पुरुषोत्तम के पत्र के उत्तर में लिखित पत्र से]

'जैन दर्शन में शुद्ध न्याय पर जोर है'—इस वाक्य के वारे में जरा गलत-फ़हमी हुई है। 'शुद्ध न्याय' का अर्थ शुद्ध नीति और शुद्ध निर्णय हो सकता है।

और आम तौर पर इस शब्द को हम इसी अर्थ में समझते हैं। मगर मैंने इस अर्थ में इस्तेमाल नहीं किया है। मेरा मतलब यह कहने का था कि जैन दर्शन में 'तर्क' पर ज्यादा जोर दिया जाता है। लेकिन 'तर्क' से कभी-कभी उल्टे निर्णय हो जाते हैं और भयंकर परिणाम निकल आते हैं। इसमें दोष तर्क का नहीं है। मगर शुद्ध निर्णय पर पहुँचने के लिए जो सामग्री होनी चाहिए वह हमेशा नहीं होती। फिर, यह भी नहीं होता कि लिखने या बोलने वाला खास शब्द खास अर्थ में इस्तेमाल करे, तो पढ़ने या सुननेवाला भी वही अर्थ समझे। इसलिए हृदय को यानी भक्ति, श्रद्धा और अनुभव-ज्ञान को आगे रखा गया है। तर्क केवल बुद्धि का विषय है। हृदय को जो चीज सिद्ध हो गई है, वहां तर्क यानी बुद्धि नहीं पहुँच सकती; उसकी बिल्कुल जरूरत नहीं है। लेकिन इसके विपरीत किसी बात को बुद्धि मान ले, मगर वह हृदय में न उतरे तो त्याज्य हो जाती है। मैंने यह जो कहा है उसे स्पष्ट करने के लिए तू अपने-आप अनेक उदाहरण गढ़ सकेगा। मैंने अभी जिस अर्थ में 'न्याय' शब्द इस्तेमाल किया है, उस अर्थ में यह कभी साध्य वस्तु नहीं हो सकती। न्याय और निष्काम कर्मयोग, दोनों, साधन हैं। न्याय बुद्धि का विषय है; निष्काम कर्मयोग हृदय का है। बुद्धि से हम निष्कामता तक नहीं पहुँच सकते।

—१२।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ १४८]

- शुद्ध न्याय का अर्थ शुद्ध नीति और शुद्ध निर्णय हो सकता है।
- तर्क से कभी-कभी उल्टे निर्णय हो जाते हैं और भयंकर परिणाम निकल आते हैं।
- हृदय को यानी भक्ति, श्रद्धा और अनुभव-ज्ञान को आगे रखा गया है।
- न्याय और निष्काम कर्मयोग, दोनों, साधन हैं।
- बुद्धि से हम निष्कामता तक नहीं पहुंच सकते।

२३. आयु-सीमा

पूर्णायु सौ वर्ष से भी ज्यादा हो सकती है। मगर कितने ही वर्ष हो तो भी कालचक्र अनन्त है और उसमें मनुष्य के एक आयुष्य की गिनती एक बिन्दु का करोड़वां भाग भी नहीं है। इसके लिए मोह क्या, या हिसाब क्या? और हम हिसाब लगायें भी तो वह किसी भी तरह निश्चयात्मक नहीं हो सकता। अनुमान से इतना कहा जा सकता है कि ज्यादा-से-ज्यादा उम्र कितनी हो। वैसे तो हम तन्दुरुस्त बच्चों को भी मरते देखते हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि विषयी

दीर्घायु नहीं हो सकता। अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि जिनका जीवन शुरू से ही सादा और विषय-रहित होगा वे ज्यादातर दीर्घजीवी होंगे। मगर जो आदमी सिर्फ दीर्घजीवी बनने के लिए विषयों पर काबू करता है, उसके लिए यही कहा जायगा कि उसने चूहे के लिए पहाड़ खोदने का काम किया। विषयों को हमें जीतना है आत्मा को पहिचानने के लिए। विषयों को जीतने की कोशिश में शरीर ज्यादा दिन रहने के बजाय थोड़े दिन रहे, तो वैसा होने देना चाहिए। शरीर का निरोगी या दीर्घायु होना विषयरहित होने का छोटे-से-छोटा परिणाम है।

—१९।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ १६०-१६१]

- **कालचक्र अनन्त है।**
- **शरीर का निरोगी या दीर्घायु होना विषयरहित होने का छोटे-से-छोटा परिणाम है।**

२४. किस प्रतीक की उपासना करें ?

[श्री प्रभुदास ने पत्र लिखकर गांधी जी से पूछा था कि गीता में 'मामेकं शरणं व्रज' आता है, 'मत्परः' आता है, इसमें 'मत्परः' का क्या अर्थ है? आप ईश्वर का अर्थ सत्य बताते हैं, तो मनुष्य सत्य का प्र ीक क्या बनाये? राम-नाम जपे पर राम कौन?" इस प्रश्नों का गांधी जी ने जो उत्तर दिया, वह संकलित किया जा रहा है।—सम्पा०]

मत्परः यानी सत्यपरायण। 'चरणपद्मे मम चित्त निष्पन्दित करो हे'— इसमें चरणपद्म का अर्थ है सत्यनारायण का चरणकमल। यह शब्द इस्तेमाल करके भक्त ने सत्य को मूर्तिमान बना दिया है। सत्य तो अमूर्त्त है। इसलिए सब लोग अपने को ठीक लगे, ऐसी सत्य की मूर्ति की कल्पना कर लें। यह समझ लेने के बाद असंख्य मनुष्य असंख्य मूर्तियों की कल्पना कर सकते हैं। जबतक ये सब कल्पनाएं ही रहेंगी, तबतक सच्ची ही हैं, क्योंकि इस मूर्ति से मनुष्य को अपने लिए जो-कुछ चाहिए सो मिल जाता है। असल में तो विष्णु, महेश्वर ब्रह्मा, भगवान, ईश्वर—ये सब नाम बिना अर्थ के या अधूरे अर्थ वाले हैं। सत्य ही पूरे अर्थवाला नाम है।

कोई यह कहे कि मैं भगवान के लिए मरूंगा, तो इसका अर्थ वह खुद नहीं समझा सकता और सुननेवाला भी शायद ही समझेगा। मैं सत्य के लिए मरूंगा, यह कहनेवाला खुद समझता है और बहुत-कुछ सुननेवाला भी समझ सकेगा।

तू पूछता है कि राम का अर्थ क्या ? इसका अर्थ मैं समझाऊं और तू उसका जप करे, तो यह लगभग निरर्थक है। मगर तू जिसे भजना चाहता है वह राम है, यह समझ कर राम-नाम जपेगा तभी वह तेरे लिए कामधेनु हो सकता है। तू ऐसे संकल्प के साथ जप फिर भले ही तोते की तरह रटता हो। तेरे जप के पीछे संकल्प है; तोते की रटन के पीछे संकल्प नहीं है। यह बड़ा फर्क है। यहां तक कि संकल्प के कारण तू तर जा सकता है। तोता संकल्परहित होने पर थक कर अपनी रटन छोड़ देगा, या मालिक के लिए करता होगा तो अपना रोज का खाना-पीना लेकर चुप हो जायगा। इस दृष्टि से तुझे किसी प्रतीक की जरूरत नहीं और इसीलिए तुलसीदास ने राम से राम के नाम की महिमा अधिक बतलाई है। यानी यह बताया कि राम का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। अर्थ तो भक्त अपनी भक्ति के अनुसार बाद में पैदा कर लेगा। यही तो इस तरह के जप की खूबी है, नहीं तो यह कहना साबित ही नहीं हो सकता कि जड़-से-जड़ मनुष्य में भी चेतनता आ सकती है। शर्त एक ही है कि नाम का जप किसी को दिखाने के लिए न हो, किसी को धोखा देने के लिए न हो। मैंने बताया उस ढंग से संकल्प और श्रद्धा के साथ जपना चाहिए। मुझे इसमें कोई शंका नहीं कि जो आदमी इस तरह जपते हुए नहीं थकता, उस आदमी के लिए वह कल्पतरु हो जाता है। जिन्हें धीरज होगा वे सब अपने लिए सिद्ध कर सकते हैं।

प्रथम तो किसी का दिनों और किसी का वर्षों तक इस जप के समय मन भटका करेगा, बेचैन रहेगा और नींद आयेगी और इससे भी ज्यादा दुःखद परिणाम आयेगा। फिर भी जो आदमी जपता ही रहेगा उसे यह तप जरूर फलेगा । यह निःसन्देह बात है।—श्रद्धा जम जाय तो चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-उठते यही रटन लगा और हारने का नाम न ले। भले ही सारा जन्म इसी में बीत जाय। यह करता रह और इस बारे में तनिक भी शंका न रख कि तुझे दिन-दिन अधिक शान्ति मिलेगी :

—२०।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ १६१-१६२]

- असल में तो विष्णु, महेश्वर, ब्रह्मा, भगवान, ईश्वर—ये सब नाम बिना अर्थ के या अधूरे अर्थवाले हैं। सत्य ही पूरे अर्थवाला नाम है।
- राम का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। अर्थ तो भक्त अपनी भक्ति के अनुसार बाद में पैदा कर लेगा।
- नाम का जप किसी को दिखाने के लिए न हो, किसी को धोखा देने के लिए न हो।

२५. जीवन का ध्येय

[एक स्त्री को उत्तर]

जीवन का ध्येय वेशक खुद अपने को—आत्मा को पहिचानना है। जबतक हम प्राणिमात्र के साथ एकता महसूस करना न सीख लें, तबतक आत्मा को पहिचान नहीं सकते। ऐसे जीवन का समग्र योग ही ईश्वर है। इसीलिए हम सब में रहने वाले ईश्वर को जानना जरूरी है। ऐसा ज्ञान आत्यन्तिक और निःस्वार्थ सेवा से ही मिल सकता है।

—२१।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २३८]

● जीवन का समग्र योग ही ईश्वर है।

२६. अनासक्ति

[एक पत्रांश]

अनासक्ति का अर्थ वेशक यह है कि अपने और अपनों के प्रति हम अनासक्त रहें। 'पर' के प्रति यानी सत्य के प्रति, ईश्वर के प्रति आसक्ति हो और वह यहां तक कि तन्मय हो जायं, तद्रूप हो जायं।

—२५।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २५०]

२७. ईश्वर एवं सत्य

[श्री मैथ्यू को लिखे पत्र से]

ईश्वर सत्य है, इसमें "है" का अर्थ "वरावर" है। मगर इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि ईश्वर सत्यमय है। सत्य ईश्वर का केवल एक गुण या एक विभूति नहीं है, वल्कि सत्य ही ईश्वर है। अगर वह सत्य नहीं है तो कुछ भी नहीं है।—

—९।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २७५]

२८. जन्म-मृत्यु

[श्री छगनलाल जोशी को लिखे पत्र से]

समझने वाले के लिए जन्म-मरण वरावर है। इसलिए राम जी को आगे रखा है।

—१०।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २८०]

२९. ईश्वर और उसका कानून

[सुश्री शीरीनबाई को लिखे पत्र से]

हम ईश्वर को उलाहना देते हैं। उसके दोष निकालते हैं और उसका अस्तित्व मानने से इन्कार करते हैं और वह हमें यह सब कुछ करने देता है। मगर ऐसा करना हमारा अज्ञान है। हम रोज सुबह प्रार्थना में एक सुन्दर संस्कृत श्लोक बोलते हैं :—

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद विस्मरणं विष्णोस्सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

और क्या उस अंग्रेज कवि ने भी नहीं कहा है कि 'चीजें जैसी दीखती हैं वैसी नहीं होतीं।' बात यह है कि ईश्वर के सारे कानून हम जानते हों, तभी हमें उन बातों का अर्थ मिल सकता है जो साधारण हालत में हमारी समझ में नहीं आतीं। हम इतना तो जानते ही हैं या हमें जानना चाहिए कि ईश्वर पूरी तरह भला और न्यायी है।...जीवन का अर्थ है यम-नियम। उसके लिए हमें कष्ट की आग में से गुजरना पड़ता है।...

—२५।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३२२]

० ईश्वर पूरी तरह भला और न्यायी है।
० जीवन का अर्थ है यम-नियम।

३०. ईश्वर

[एक पत्रांश]

...ईश्वर तो सभी के सिर पर है। यानी हम घोर अज्ञान के कारण अपने को अनाथ मानते हैं।...सच्चा कवच हमारी श्रद्धा है। मनुष्य-शरीर की हस्ती काँच के कंगन से भी बहुत कम है। काँच का कंगन यत्न के साथ रखने से सैकड़ों वर्ष तक चल सकता है। मनुष्य का शरीर कितना भी यत्न किया जाय, तो भी एक खास हद से आगे जा ही नहीं सकता, और उस मर्यादा के अन्दर भी चाहे जब नष्ट हो सकता है। ऐसी चीज पर भरोसा क्या किया जाय?

—७।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३४७]

० मनुष्य-शरीर की हस्ती काँच के कंगन से भी बहुत कम है।

३१. अन्तर का स्वर

[सुश्री प्रेमा बहिन कंटक को लिखे पत्र से]

अन्दर की आवाज़ ऐसी चीज़ है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। मगर कई बार हमें ऐसा खयाल होता है कि भीतर से अमुक प्रेरणा हुई है। मैंने जब उसे पहिचानना सीखा वह मेरा प्रार्थना-काल कहा जा सकता है—यानी १९०६ के आस-पास। तू पूछती है इसलिए याद करके यह लिख रहा हूँ। बाकी वैसे मुझे कुछ ऐसा भान हुआ हो कि 'अरे आज तो कोई नया अनुभव हुआ,' सो बात तो मेरे जीवन में नहीं है। जैसे हमारे बाल अनजाने बढ़ते हैं, वैसे ही मैं मानता हूँ कि मेरा आध्यात्मिक जीवन बढ़ा है।

—७।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३४५-३४६]

● **अन्दर की आवाज़ ऐसी चीज़ है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।**

३२. शरीर के प्रति दृष्टिकोण

[एक पत्रांश]

. . .की लाश देखने गई, यह अच्छा किया। इस हालत में हम सबको किसी दिन पहुँचना है। और यह इच्छा होनी चाहिए कि वहाँ पहुँचने का समय आये तो हम खुश होकर यह घर छोड़ें। जहाँ तक हो सके उसे (घर-रूपी शरीर को) साफ़, पवित्र और तन्दुरुस्त रखें। मगर जाय तब जाने दें। यह हमें बरतने के लिए मिला है। देने वाले को जब ले जाना हो तब खुशी से ले जाय। हमें उसका उपयोग भी सेवा के लिए ही करना है, अपने भोगों के लिए नहीं।

—७।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३४६]

३३. दुःखानुभूति

[श्री छगनलाल जोशी को लिखे पत्र से]

जो खुद होकर दुःख अपने सिर ले, उनके मन में भी दुःख की शिकायत नहीं होती। उल्टे वह दुःख सुख-जैसा लगना चाहिए। उबलते तेल के कड़ाह में सुधन्वा कैसे नहाये होंगे? प्रह्लाद ने जलते हुए लाल लोहे के खम्भे का आलिंगन कैसे किया होगा? इन्हें बनावटी किस्से न मानना, क्योंकि ऐसा आज भी हो

सकता है। रिडली, लेटिमर, मंसूर के उदाहरण तो ऐतिहासिक हैं। दूसरे तुम खुद याद कर सकते हो।

—१४।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३५५]

३४. काल-चक्र और हमारा अस्तित्व

[श्री बालकृष्ण को लिखे पत्र से]

मेरी राय यह है कि हमारी उम्र का पैमाना छोटा-बड़ा हो सकता है। असल में हर देह अपने सारे धर्मों के साथ उत्पन्न होती है। हम नहीं जानते वे क्या हैं? उन्हें जानने की जरूरत भी नहीं है।

काल के विभाग मनुष्य के किये हुए हैं और वे कालचक्र में रजकण से भी छोटे हैं। हमारी गिनती के करोड़ों हिमालय जमा करें, तो भी वे कालचक्र से छोटे हैं। इसलिए मनुष्य के हाथ में जो कुछ है, वह नहीं के बराबर है। भले ही वह उसी में मस्त रहे।

—२०।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३६६]

- देह अपने सारे धर्मों के साथ उत्पन्न होती है।
- काल के विभाग कालचक्र में रजकण से भी छोटे हैं।
- मनुष्य के हाथ में जो कुछ है वह नहीं के बराबर है।

३५. गीता का चमत्कारिक श्लोक

गीता जी के तीसरे अध्याय का पांचवा श्लोक[1] बहुत ही चमत्कारिक है। भौतिकशास्त्री बता चुके हैं कि इसमें वर्णित सिद्धान्त सर्वव्यापक हैं। इसका अर्थ यह है कि कोई भी आदमी एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कर्म का अर्थ है गति और यह नियम जड़-चेतन सबके लिए लागू है। मनुष्य इस नियम पर निष्काम भाव से चलता है तो यही उसका ज्ञान और यही उसकी विशेषता है। इसी की पूर्ति में ईशोपनिषद् के दो मन्त्र हैं। वे भी इतने ही चमत्कारी हैं।

—२३।८।१९३२। 'महादेव भाईनी डायरी', भाग १, पृष्ठ ३७४]

---

१. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

● कोई भी आदमी एक क्षण भी कर्म किये विना नहीं रह सकता।
● कर्म का अर्थ है गति और यह नियम जड़-चेतन सवके लिए लागू है।

३६. मन्दिर एवं मूर्तिपूजा : एक दृष्टिकोण

[एक पत्रांश]

मूर्तिपूजा और आश्रम में मन्दिर और मूर्ति-स्थापना के वारे में मेरे विचार वन चुके हैं। अपने वारे में मैंने कहा है कि मैं मूर्तिपूजक और मूर्तिभंजक दोनों हूँ। शरीरधारी की कल्पना का ईश्वर मूर्तिमान होगा ही। वह मूर्तिभाव से उसकी कल्पना में वसता भी जरूर है। इस प्रकार मैं मूर्तिपूजक हूँ। मगर एक भी रूप को—आकृति को—परमेश्वर के रूप में पूजने के लिए मेरे मन ने कभी 'हां' नहीं की। वहाँ मेरे मन में "नेति-नेति" होता है। इसलिए मैंने हमेशा अपने को मूर्तिभंजक माना है। इस तरह के विचार के वारे में मेरे मन में हमेशा यह रहा है कि हम आश्रम में मन्दिर न वनायें। इसीलिए प्रार्थना के लिए भी मकान नहीं वनाया गया। आकाश की छत और दिशाओं की दीवार वनाकर हम उसमें वैठ गये। अगर सव धर्मों के प्रति समभाव रखना हो, तो हमारी यही स्थिति होनी चाहिए। आजकल वेदादि में चंचुपात कर रहा हूँ। वहां भी यही देख रहा हूँ। कहीं भी मूर्तिपूजा के लिए स्थान नहीं देखता। फिर भी हिन्दू-धर्म में मूर्ति के लिए स्थान है, इसलिए हम उसका द्रोह न करें। उसकी पूजा आवश्यक नहीं, ऐच्छिक है। इसलिए मुझे लगता है कि हम समाज के रूप में मन्दिर से अलग रहें तो अच्छा है।...

—११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १६]

● मैं मूर्तिपूजक और मूर्तिभंजक दोनों हूँ।
● शरीरधारी की कल्पना का ईश्वर मूर्तिमान होगा ही।
● हिन्दू-धर्म में मूर्ति के लिए स्थान है—इसलिए हम उसका द्रोह न करें।
● उसकी (मूर्ति की) पूजा आवश्यक नहीं, ऐच्छिक है।
● हम समाज के रूप में मन्दिर से अलग रहें तो अच्छा है।

३७. ईश्वर-दर्शन

[सन्त मेहरवावा गांधी जी को यदि वे चालीस दिन का उपवास कर लें तो ईश्वर-दर्शन कराने का आश्वासन देते थे। सन्त के शिष्य श्री दादाचान जी को

पत्र लिखते हुए गांधी जी ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार व्यक्त किये—सम्पा०]

...यह मानने में मुझे बड़ा संकोच है कि कोई दूसरे को ईश्वर-दर्शन करा सकता है। हृदय इन्कार करता है। मगर जब बाबा ऐसा दावा करते हैं, तब मैं कहता हूँ;—"आप मुझे ईश्वर-दर्शन करा दें, तो बहुत अच्छा है।" जो कहता है कि मैंने ईश्वर-दर्शन किया है उसने किया ही है, यह मानना जरूरी नहीं है। ईश्वर-दर्शन किया है—ऐसा कहने वाले बहुत से तो भ्रम में पड़े हुए पाये गये हैं। बहुतों के लिए यह केवल अपने मन का प्रतिबिम्ब होता है। यह तो मैं मानता ही नहीं कि ईश्वर-दर्शन का अर्थ किसी बाहरी शक्ति का दर्शन है। क्योंकि मेरा यह खयाल है कि ईश्वर तो हम सब में बसता ही है, परन्तु उसे हृदय से कोई-कोई ही पहिचानते हैं। बुद्धि से पहिचानना काफ़ी नहीं है। मुझे ऐसा महसूस हुआ करता है कि यह दर्शन कोई किसी को नहीं करा सकता।

ईश्वर के दर्शन के लिए किसी के कराये उपवास नहीं हो सकते। मुझे अन्त-प्रेरणा हो, तभी हो सकते हैं। ऐसी प्रेरणा होने पर मैं किसी के रोके रुकनेवाला नहीं हूं। यह मान लेने का कोई कारण नहीं कि उपवास करने से ईश्वर-दर्शन हो जायगा। यह बात मेरे दिल में नहीं उतरती कि मेरे चालीस दिन के उपवास करने के बदले ये बाबा ईश्वर-दर्शन करा सकते हैं। यह बदला तो आसान है। ऐसा होता हो तो मेरी निगाह में ईश्वर-दर्शन की कोई कीमत नहीं।

मैं तो आज तक यह मानता आया हूँ कि बाबा जीवन के विभाग[1] नहीं करते। जिसका जीवन धर्म से रँगा हुआ है, उसके खयाल में राजनीति और अर्थशास्त्र सब धर्म के अंग हैं, और उनमें से एक को भी छोड़ नहीं सकता। मेरी मति के अनुसार जो धर्म को बहुत-सी प्रवृत्तियों में से एक प्रवृत्ति मानता है वह धर्म को जानता ही नहीं।...अपने धर्म के पालन के लिए ही मैं राजनीति और समाजसेवा इत्यादि में पड़ा हुआ हूं।

—१०।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १०५-१०६]

- ईश्वर-दर्शन किया है—ऐसा कहने वाले बहुत से तो भ्रम में पड़े पाये गये हैं।
- ईश्वर तो हम सब में बसता ही है, परन्तु उसे हृदय से कोई-कोई ही पहिचानते हैं।

---

१. सन्त मेहरबाबा ने गांधी जी को सलाह दी थी कि उन्हें राजनीति छोड़ कर सामाजिक कार्य करना चाहिए।

● यह (ईश्वर) दर्शन कोई किसी को नहीं करा सकता।
● जिसका जीवन धर्म से रंगा हुआ है, उसके ख्याल से राजनीति और अर्थशास्त्र सब धर्म के अंग हैं।
● जो धर्म को बहुत-सी प्रवृत्तियों में से एक प्रवृत्ति मानता है वह धर्म को जानता ही नहीं।

३८. आपका ईश्वर : मेरा ईश्वर

[पादरी हेंडरसन को लिखे पत्र से]

आप जब "मेरा ईश्वर" और "तुम्हारा ईश्वर" जैसी बात कहते हैं, तब आपके साथ चर्चा करना फ़िज़ूल है। मैं तो आज तक यही मानता हूँ कि बुद्धिमान और मूर्ख का, पापी का और सन्त का ईश्वर एक ही है। मेरा यह सुझाव है कि मेरे साथ बहस करने के बजाय आप मेरे लिए प्रार्थना कीजिए कि "आपका" ईश्वर मुझे बुद्धि दे और आपके ख़याल से मेरी जो भूल है उसे मैं समझ सकूं।
— १७।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १२२]

● बुद्धिमान का और मूर्ख का, पापी का और सन्त का ईश्वर एक ही है।

३९. विद्या और अविद्या

[श्री कुलकर्णी को लिखे पत्र से]

विद्या का अर्थ ज्ञान और अविद्या का अर्थ कर्म है। सम्भूति और असम्भूति का अर्थ इससे मिलता-जुलता ही है। इसलिए असम्भूति का अर्थ हुआ शरीर और सम्भूति का अर्थ हुआ आत्मा। यह सिर्फ मेरे सन्तोष के लिए है और इस प्रकार ईशोपनिषद् का अर्थ मुझे सरल और सन्तोषजनक प्रतीत हुआ है।
— ३०।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १५७ ।]

४०. गीता की आत्मा

गीता का मध्य बिन्दु क्या है, उसका निश्चय कर लेना। फिर प्रत्येक श्लोक का अर्थ, जो अपने जीवन में उपयोगी है, उसको आचार में रखना। यह सबसे बड़ी टीका है और यही गीता का सच्चा अभ्यास है। गीता का मध्य बिन्दु अनासक्ति ही है—इसमें थोड़ा भी शक नहीं होना चाहिए। दूसरे किसी कारण से

गीता नहीं लिखी गई, इसमें मुझे कुछ भी शंका नहीं है। और मैं तो यह अनुभव से जानता हूँ कि अनासक्ति विना मनुष्य न सत्य का पालन कर सकता है, न अहिंसा का। अनासक्त होना कठिन है, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन उसमें आश्चर्य क्या है? सत्य-नारायण का दर्शन करने में परिश्रम तो होना ही चाहिए और अनासक्ति के विना यह दर्शन अशक्य है।

—३१।१०।१९३२। महादेव भाईनी डायरी भाग २, पृष्ठ १९१]

- गीता का मध्यविन्दु अनासक्ति ही है।
- अनासक्ति विना मनुष्य न सत्य का पालन कर सकता है न अहिंसा का।

४१. श्रद्धा

[श्री मगनभाई के नाम लिखे पत्र से]

जैसे-जैसे ईश्वर पर आस्था वढ़ती जाती है, वैसे-वैसे कर्त्तव्य-कर्म में रस वढ़ता जाता है, जानकारी वढ़ती जाती है, सावधानी वढ़ती जाती है और उसी के साथ निश्चिन्तता और धीरज वढ़ता जाता है; यह मेरा अनुभव दृढ़ होता जाता है।

मेरी श्रद्धा अमर्यादित है, इसलिए मैं यह मानता हूं कि छोटा-वड़ा सव कुछ ईश्वर ही कराता है। वह यह किस तरह कराता होगा, यह मैं नहीं जानता। मगर जिसने तन, मन और धन यानी सर्वस्व उसे सौंप दिया है, वह यह मानता हो कि वह खुद कुछ कर रहा है, तो कहा जायगा कि वह चोर वन गया है। एक भी काम मैं करता हूं, ऐसा मूर्च्छा में मान कर मैं पाप नहीं कमाऊंगा। मूर्च्छा में भी मैं ऐसा मान लेता होऊं कि यह तो मैंने किया, या लौकिक भाषा में विनोद के लिए या घुन्ना न दीखने के खयाल से कहता होऊं, तो यह मूर्खता है। सच तो यह है कि दिन-दिन शून्यता वढ़ती जाती है, इसलिए जव यह गर्व मन में आ जाता है कि मैं कर रहा हूं, तव दुःख होता है।

—३।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १९८]

- मेरी श्रद्धा अमर्यादित है।
- छोटा, वड़ा सव कुछ ईश्वर ही कराता है।

४२. अनासक्ति की साधना

[श्री रामदास को लिखे पत्र से]

तूने पूछा है कि मैंने अनासक्ति कैसे साधी? मेरा काम सव स्वाभाविक होने से, यानी सत्य की साधना से स्फुरित होने के कारण, वहुत आसान हो गया

है। जगत् मात्र की सेवा करने की भावना पैदा होने के कारण अनासक्ति सहज ही आ जाती है। मैं अगर सिर्फ कुटुम्बियों की ही सेवा करने बैठ गया होता, तब तो उसमें सहज ही राग पैदा हो जाता; आसक्ति भी रहती; व्याधि, मृत्यु वगैरह के उद्वेग भी रहते, मगर जहां असंख्यों की सेवा अपना ली जाती है, वहां उद्वेग भाग ही जाता है। किस-किस की मृत्यु या व्याधि का उद्वेग किया जाय? वह लगभग असम्भव हो जाता है। मगर अनासक्ति का अर्थ जड़ता भी नहीं है; निर्दयता भी नहीं है; क्योंकि सेवा तो करनी ही होगी, इसलिए दया की भावना मन्द पड़ने के वजाय तीव्र होगी, कार्यदक्षता भी वढ़ेगी और एकाग्रता भी वढ़ेगी। और ये सव अनासक्ति के चिह्न हैं। फिर खूवी यह है कि ऐसा करने से कुटुम्व-सेवा मिट नहीं जाती, क्योंकि सवकी सेवा में यह सेवा भी आजाती है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि वाकी तुम भाइयों की या किसी भी कुटुम्वीजन की सेवा मेरे हाथों कम हुई हो, सो मैं नहीं मानता। उसमें से आसक्ति उठ गई और समभाव आ गया, जिससे वह शुद्ध हो गई। मेरा विश्वास है कि तुमने, किसी ने कुछ भी खोया नहीं और मैंने तो वहुत-कुछ पाया है। इस प्रकार मेरे लिए तो अनासक्ति सुलभ हो गई। अनासक्ति[1] नाम तो गीता का अनुवाद पूरा करके उसके लिए एक खास नाम काका[2] ने माँगा तव सहज ही याद आ गया। सवकी सेवा करनी हो तो वह अनासक्ति-पूर्वक ही हो सकती है। और यह वात तो थी ही नहीं कि मैंने यह ज्ञान पाने के वाद अनासक्ति को अपनाया। मुझे तो धीरे-धीरे मालूम हुआ, आसपास रहने वालों को मुझसे पहिले मालूम हुआ।

मैं जव हिन्दुस्तान आया तव मुझे साधारण लोग 'कर्मयोगी' के रूप में जानने लग गये थे। गीता का अध्ययन तो मैं दक्षिण अफ्रीका में भी करता था। मगर 'कर्मयोगी' क्या होता है, यह सव मैंने सोच नहीं रखा था। परन्तु दूसरों ने देखा कि मेरे जीवन में यह सब है और वाद में मुझे भी ऐसा लगने लगा कि उनकी वात सही है। ऐसा सुयोग सभी को नहीं मिल सकता। मुझे मिला, इसका कारण मैं यह मानता हूँ कि मैं जन्म से सत्य का पुजारी रहा हूँ। नवें अध्याय में भगवान का जो वचन है उसे रट लेना—वड़ा दुराचारी भी अनन्य भाव से उसकी भक्ति करे तो वह साधु है। पृथिवी रसातल में चली जाय, तो भी भगवान के वचन मिथ्या नहीं हो सकते।

—७।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १८१-१८२]

---

१. गांधी जी-कृत गीता-भाष्य का नाम 'अनासक्ति योग' है।

२. काकासाहव कालेलकर।

- जगत् मात्र की सेवा की भावना पैदा होने के कारण अनासक्ति सहज ही आ जाती है।
- जहां असंख्यों की सेवा अपना ली जाती है, वहां उद्वेग भाग जाता है।
- अनासक्ति का अर्थ जड़ता नहीं है, निर्दयता नहीं है।
- सबकी सेवा करनी हो तो वह अनासक्तिपूर्वक ही हो सकती है।

४३. जीवन-मृत्यु

[श्री जमनालाल बजाज को लिखे पत्र से]

जो मृत्यु चाहे जब छोटे-बड़े, गोरे-काले, मनुष्य-पशु या दूसरे सबके लिए आने ही वाली है,—उसका डर क्या? और उसका शोक भी क्या? मुझे तो बहुत बार ऐसा लगता है कि जन्म की अपेक्षा मृत्यु अधिक अच्छी चीज होनी चाहिए। जन्म से पहिले माता के गर्भ में जो यातना भोगनी पड़ती है, उसे तो मैं छोड़ देता हूं। परन्तु जनमते ही जो यातना शुरू होती है उसका तो हमें प्रत्यक्ष अनुभव है। उस वक्त की पराधीनता कैसी है? और वह तो सबके लिए एक-सी होती है। जबकि मृत्यु में, यदि जीवन स्वच्छ हो, तो पराधीनता-जैसी कुछ नहीं रहती। बालक में ज्ञान की इच्छा नहीं होती और न उसमें किसी तरह ज्ञान की सम्भावना ही होती है। मृत्यु के समय तो ब्राह्मी स्थिति की सम्भावना है। इतना ही नहीं बल्कि हम जानते हैं कि बहुत लोगों की मृत्यु ऐसी स्थिति में होती है। जन्म का अर्थ तो दुःख में प्रवेश है ही जबकि मृत्यु सम्पूर्ण दुःख से मुक्ति हो सकती है। इस प्रकार मृत्यु के सौन्दर्य के विषय में और उसके लाभ के विषय में हम बहुत कुछ विचार कर सकते हैं और इसे अपने जीवन में सम्भवनीय बना सकते हैं।

—यरवदा मन्दिर, ८।११।१९३२। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम पृष्ठ ८३, अ० भा० स० से० सं०]

४४. मूर्ति-पूजा का तत्व

अमुक चीज मुझे सहायक नहीं होती, इसलिए दूसरों के बारे में मैं लापरवाह रहूं और यह जानने का कष्ट न करूं कि वह उनके लिए सहायक होती है या नहीं, यह ठीक नहीं। मैं जानता हूं कि अमुक प्रकार की मूर्तिपूजा करोड़ों मनुष्यों को सहायक होती है। इसका कारण यह भी नहीं कि उनका विकास मुझसे कम हुआ

है, मगर उनका मानस मुझसे दूसरी तरह का बना हुआ है। मेरे बारे में भी इतनी बात न भूलनी चाहिए कि मैं मूर्तिपूजा को पाप नहीं मानता। इतना ही नहीं, मैं यह भी मानता हूँ कि किसी-न-किसी रूप में वह हम सबके लिए आवश्यक हो जाती है। अलग-अलग प्रकार की पूजाओं में फ़र्क़ परिमाण का ही होता है, तत्व का नहीं। मस्जिद में जाना और गिरजे में जाना भी एक तरह की मूर्तिपूजा है। बाइबिल, कुरान, गीता या ऐसे किसी और ग्रन्थ के प्रति पूज्यभाव रखना भी मूर्तिपूजा ही है। आप किसी ग्रन्थ या मकान का उपयोग न करें और अपनी कल्पना में ही परमेश्वर का कोई खास चित्र खींच लें और उसमें कुछ खास गुणों का आरोपण करें, तो यह भी मूर्तिपूजा हुई। जो पत्थर की मूर्ति की पूजा करते हैं, उनकी पूजा इन दूसरी पूजाओं से ज्यादा स्थूल है, यह भी मैं नहीं कहूंगा। बड़े विद्वान न्यायाधीश भी अपने घरों में मूर्तियाँ रखते पाये गये हैं। पंडित मालवीय[1] जी जैसे तत्वज्ञानी अपने गृहदेवता का पूजन किये बिना मुंह में अन्न नहीं डालते। ऐसी पूजा को वहम मानने में अज्ञान और अभिमान दोनों हैं। पूजा करनेवालों की कल्पना में तो ईश्वर का अधिष्ठान मन्त्रपूत पत्थर में है, आसपास पड़े हुए दूसरे पत्थरों में नहीं। मन्दिर में भी जहाँ मूर्ति रखी जाती है, वह स्थान मन्दिर के दूसरे स्थानों से ज्यादा पवित्र माना जाता है। इस प्रकार के उदाहरण आप कितने ही ढूंढ़ सकेंगी। मेरी दलील विचारों या पूजा में शिथिलता लाने के लिए नहीं है। किसी भी स्वरूप की सच्चे दिल से की गई पूजा, पूजा करनेवाले के लिए एकसी अच्छी और फलदायक है। यह ज़माना अब चला गया कि कोई व्यक्ति या समूह इस मामले में विशेष अधिकार भोगे। पूजा की खास विधि या शब्दों की तरफ़ ईश्वर नहीं देखता। वह तो हमारे कृत्यों और हमारी वाणी के आरपार देख सकता है। और हम खुद ही अपने जिन विचारों को नहीं समझ सकते उन्हें भी वह जानता और समझता है। उसके सामने तो हमारे विचार ही असली चीज़ है।

—मिस मेरी बार को लिखे पत्र से। २९।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ २४१-२४२]

- **मैं मूर्तिपूजा को पाप नहीं मानता।**
- **किसी-न-किसी रूप में वह (मूर्तिपूजा) हम सब के लिए आवश्यक हो जाती है।**
- **मस्जिद में जाना और गिरजे में जाना भी एक तरह की मूर्तिपूजा है।**
- **किसी ग्रन्थ के प्रति पूज्यभाव रखना भी मूर्तिपूजा ही है।**
- **पूजा की खास विधि या शब्दों की तरफ ईश्वर नहीं देखता।**

---

१. पंडित मदनमोहन मालवीय।

४५. मुमुक्षु-परम्परा का अन्तर्नाद

मुमुक्षु जीवों की परम्परा यह है कि जबतक अपना माना हुआ अधिक अनुभवी अपने पास हो, तबतक उससे पूछ कर नया क़दम उठाया जाय। अन्तर्नाद सभी को सुनाई नहीं देता। अन्तर्नाद का आभास मात्र हो सकता है। और सच पूछा जाय तो 'मैं' का ही नाद होता है। 'मैं' का अर्थ है शैतान, रावण और दैत्य। हमारे अन्दर राम बोल रहा है या रावण, इसका पता हमेशा नहीं लग सकता। रावण अक्सर साधु के वेष में ही आता है और उस समय राम-जैसा लगता है। इसलिए जो अधिक अनुभवी हो उससे पूछा जाय।

—६।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ २५९]

- अन्तर्नाद सभी को सुनाई नहीं देता।
- अन्तर्नाद का आभासमात्र हो सकता है।
- 'मैं' का अर्थ है शैतान, रावण और दैत्य।

४६. ईश्वर का अस्तित्व

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—ईश्वर है? और है तो कहां है?

उत्तर—हमारी हस्ती है क्या? हवा है, इसका पता कैसे चलता है? हवा को आँखों से देख सकते हैं? हाथ से पकड़ सकते हैं? फिर ईश्वर तो हवा से सूक्ष्म और हवा से हलका भी है।

प्रश्न—इतना समझ में आता है। परन्तु आप लिख दीजिए कि ईश्वर सर्वव्यापक है और मन्दिर में भी है। यह सबको बताऊंगा तो वे मान लेंगे।

उत्तर—ईश्वर को प्रमाणपत्र लिख दूं? सर्वव्यापक तो वह है ही। यदि मनुष्य देख सके तो वह सब जगह है। किन्तु कोई यह माने कि ईश्वर मन्दिर में ही है, तो वह ईश्वर के साथ का लाभ वहां ले। ईश्वर हवा की तरह सब जगह फैला हुआ है। पर हवा का भी बनाने वाला ईश्वर है।

—१०।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ४०-४१]

४७. कुछ आध्यात्मिक प्रसंग

[एक सिन्धी सज्जन से हुई वार्ता के अंश]

प्रश्न—टैगोर ही जब आपको महान बताते हैं, तो हम तो आपको जरूर महान मानेंगे।

गांधी जी—आप भले ही मानिए, पर मैं ऐसा नहीं मान सकता। इससे उल्टे मैं तो यह कहूँगा कि जो आदमी अपने को महान मानता है, वह महान नहीं हो सकता। पैगम्वर कहते हैं कि मेरे पास आओ। किन्तु ऐसा ईश्वर उनसे कहलाता है। वे नम्रतापूर्वक ऐसा कहते हैं। अपने को महान समझकर ऐसा नहीं कहते। अपने लिए 'मैं' जैसी कोई चीज उनमें होती ही नहीं। वे मानते हैं कि इस क्षण तो ईश्वर मुझमें वसा हुआ है। उनके वड़प्पन का सवाल ही नहीं। एक ईश्वर ही महान है। या वे इसलिए महान हैं कि ईश्वर उनके द्वारा वोलता है या उनके जरिये काम करता है। किन्तु वे यह नहीं कह सकते कि हम ईश्वर को अपने द्वारा काम करने देते हैं।

प्रश्न—किन्तु तत्वज्ञान की दृष्टि से तो मनुष्य कहता है कि मैं आत्मा हूँ या परमात्मा हूँ।

गांधी जी—हां, तात्विक दृष्टि से यह सही है। किन्तु जैसे 'यूक्लिड' की सीधी लकीर या 'यूक्लिड' का विन्दु आप खींच नहीं सकते, उसी तरह अद्वैत परम सत्य है और वह ईश्वर में ही वसता है। हमको द्वैत मालूम होता है, इसलिए कहीं-न-कहीं अद्वैत होना ही चाहिए। मनुष्य को ऐसा लगे कि मैं ईश्वर हूँ, तो वह 'मैं' तो मनुष्य ही है। मनुष्य के रूप में तो वह द्वैती ही है। किन्तु द्वैती के रूप में भी ईश्वर के साथ वह एक है।

प्रश्न—रामकृष्ण परमहंस को आपने 'मैन गाड' (मानवेश्वर) कहा है। रामकृष्ण क्या ईश्वर से अलग थे?

गांधी जी—उनके द्वारा ईश्वर काम कर रहा था। यही वात कृष्ण के लिए कही जा सकती है। मैं तो कृष्ण में या ईसा मसीह में ऐसे असाधारण या अलौकिक गुणों का, जो दूसरे मनुष्यों में हो ही नहीं सकते, आरोपण नहीं करता। यह दूसरी वात है कि साधारण लोगों से उनमें विशेष शक्ति थी।

मनुष्य के मर जाने के पहिले उसका मूल्य नहीं लगाना चाहिए। मैं दंभी या मूर्ख भी हो सकता हूँ। वदमाश आदमी दुनिया को लम्बे समय तक धोखा दे सकता है। दंभी मनुष्य तो इससे भी ज्यादा धोखा दे सकता है। किन्तु लोग मुझसे पूछें कि तव आप अविकारपूर्ण वाणी में हमारे साथ कैसे वातें करते हैं, तो मैं कहूँगा कि कोई-न-कोई मुझसे ऐसी वातें कराता है। जैसे जगत् पर ईश्वर का प्रभाव पड़ता है, वैसे ही जगत् पर मनुष्य का प्रभाव भी पड़ता है। ऐसे प्रभावशाली मनुष्य 'गुरु' कहलाते हैं। मैं ऐसे गुरु की तलाश में हूँ। मैं भी वहुत से आदमियों पर प्रभाव डालता हूं, इस अर्थ में कि मेरे शब्द को वे कानून मानते हैं। मैं अपनी इस वशीकरण शक्ति को काम करने से कैसे रोक सकता हूँ? यद्यपि मैं इसे

अपनी वशीकरण शक्ति कहता ही नहीं। यह शक्ति तो ईश्वर ने मुझे दे रखी है। साधारण मनुष्यों में भी ऐसी शक्ति होती है। किन्तु उन्हें इसका भान नहीं होता। ऐसा भान होना ही महत्व की बात है।

प्रश्न—मेरी बहिन इस मामले में आपकी बात सुनने से इन्कार करती है। और सब बातों में वह आपको अवतार मानती हैं। किन्तु इस मामले में नहीं मानतीं। क्या मैं लोगों से यह कह सकता हूं कि तुम शास्त्रों को भले ही न मानो, परन्तु गांधी जी को अवतार के रूप में मानो?

गांधी जी—आप ऐसा नहीं कह सकते। किन्तु यह विचार आपको इतना अधिक पकड़ ले कि आपसे कहे बिना रहा ही न जाय, तो दूसरी बात है। यह भ्रम हो सकता है, परन्तु आपके लिए वह सत्य वस्तु है। सामनेवाले मनुष्य के साथ बहस में आप यह कहेंगे कि मैं तुम्हें समझा तो नहीं सकता, किन्तु बात मेरी ही सच है। मैं इस आदमी की बात माने बिना रह ही नहीं सकता।

किन्तु आप ऐसा कहने या न कहने के बारे में मेरी सलाह लें, तो मैं कहूंगा कि न कहिए। ईश्वर मेरे द्वारा काम ले रहा होगा, तो करोड़ों लोग जैसा मैं कहूंगा वैसा करेंगे। किन्तु आप मुझसे पूछने आयें कि मैं क्या करूं, तो मैं नहीं कह सकता कि आप इसी तरह कीजिए।

मैं पैगम्बर होने का दावा नहीं करता। मुझे ऐसा लगे तो मैं कहने से हिचकिचानेवाला नहीं हूं। मुझे बहुत धुंधला-सा प्रकाश मिला है, और उससे मुझे आनन्द है। मेरे लिए तो यह प्रकाश काफी है। दूसरों को यह प्रकाश बहुत ज्यादा तेज भी लग सकता है।

—१०।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ३९-४०]

- **जो आदमी अपने को महान मानता है वह महान नहीं हो सकता।**
- **अद्वैत परम सत्य है और वह शरीर में ही बसता है।**
- **मनुष्य के मर जाने के पहिले उसका मूल्य नहीं लगाना चाहिए।**
- **मैं पैगम्बर नहीं हूं। मुझे बहुत धुंधला-सा प्रकाश मिला है और उससे मुझे आनन्द है।**

४८. प्रार्थना क्यों और कैसे?

[पर्णकुटी की कन्याशाला की एक बालिका और गांधी के बीच हुए प्रश्नोत्तर—सम्पा०]

बालिका—प्रार्थना कर्तव्य समझ कर करनी चाहिए या इच्छानुसार?

गांधीजी—भोजन कर्त्तव्य समझ कर किया जाता है या अपनी इच्छानुसार ?

बालिका—भोजन विना तो काम नहीं चलता।

गांधीजी—तो प्रार्थना के विना भी नहीं चलना चाहिए। जैसे भोजन विना शरीर विकसित नहीं होता, उसी प्रकार प्रार्थना विना आत्म-विकास नहीं होता। जैसे अन्न देह का आहार है, उसी प्रकार प्रार्थना आत्मा का आहार है। प्रार्थना-विना आत्मा निस्तेज हो जाती है। इसका कारण यह कि भगवद्गीता में आत्मा को अमर कहा है, पर वह अज्ञान-ग्रस्त हो जाती है। इस संसार में बहुत से लोग प्रार्थना नहीं करते; वे विमूढ़ के समान हैं। जिन्हें आत्मा का ज्ञान नहीं, वे अज्ञानी हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रार्थना कर्त्तव्यानुसार होनी चाहिए, यह तो इच्छानुसार होनी चाहिए। यदि कोई कर्त्तव्यानुरूप प्रार्थना कराने लगे तो वह पाखण्ड में परिणत हो जाती है, पर हमें स्वयं प्रार्थना इच्छानुसार करनी चाहिए। भोजन हमेशा धर्म नहीं होता। उसके विना कुछ दिन काम चल सकता है। अपच होने पर खाना नहीं खाया जाता। पर प्रार्थना का उपवास नहीं होता। हमें अपने लिए प्रार्थना इतनी अधिक कर्त्तव्यरूप बना लेनी चाहिए कि उसके विना एक दिन भी न चले। तुम लड़कियां अगर यह निश्चय कर लो कि राजपाट मिलने पर भी झूठ नहीं बोलोगी, तो यह बात कर्त्तव्यानुसार होगी या इच्छानुसार ? तुमने यदि प्रातःकाल चार बजे और सायंकाल साढ़े सात बजे प्रार्थना करने का निश्चय कर लिया हो या नियम बना लिया हो, तो तुम्हें इस बारे में अपने प्रति बल-प्रयोग करना ही होगा। इसी नियम के बाँध लेने से प्रार्थना सफल हो सकती है। संसार में विना नियम के कोई काम नहीं हो सकता।

—ह० से० २२।९।१९३३]

- **जैसे अन्न देह का आहार है उसी प्रकार प्रार्थना आत्मा का आहार है।**
- **भोजन हमेशा धर्म नहीं होता पर प्रार्थना का उपवास नहीं होता।**

४९. ईश्वर के कानून

हम न तो ईश्वर के सब कानूनों को जानते हैं और न हमें उनकी कार्य-पद्धति ही मालूम है। बड़े-से-बड़े वैज्ञानिक या अध्यात्मवादी का ज्ञान भी रजकण के समान है। यदि ईश्वर मेरे लिए अपने पार्थिव पिता की भांति कोई व्यक्ति नहीं है, तो इसका मतलब यह है कि वह उससे अनन्तगुना अधिक है। मेरे जीवन की छोटी-से-छोटी बात भी उसके शासन के अधीन है। मैं शब्दशः यह मानता हूँ

कि उसकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। हर साँस जो मैं लेता हूं उसकी कृपा पर निर्भर है।

—ह० ज० १६।२।१९३४]

५०. ईश्वरीय लीला

मेरा यह विश्वास दिनानुदिन दृढ़ होता जा रहा है कि भगवान की लीलाओं को मनुष्य की बुद्धि पूरी तरह समझ नहीं सकती। ईश्वर ने अपनी समझ से मानवी दृष्टि को सीमित कर रखा है—और यह ठीक ही किया है, नहीं तो मनुष्य के अहंकार की आज कोई सीमा नहीं रहती। लेकिन साथ ही, जबकि मैं यह विश्वास करता हूँ कि ईश्वर की लीलाओं को मनुष्य पूरी तरह समझ नहीं सकता, मेरा यह भी पक्का विश्वास है कि बिना उस सिरजनहार की मर्जी के एक पत्ती भी नहीं हिल सकती। सब कुछ उसकी आज्ञा के अनुसार ही होता है; सब उसी का हुक्म बजा लाते हैं।

—छपरा २७।३।१९३४। ह० से०, ६।४।१९३४]

५१. अनासक्ति

हमारी इन्द्रियां जो कुछ देखती हैं वह सत्य ही है, ऐसी बात नहीं। अक्सर तो वे असत्य ही देखती हैं। इसीलिए अनासक्ति का मार्ग ढूंढ़ा गया। अनासक्ति अर्थात् इन्द्रियों से परे जाना। यह तो उनमें रहने वाली आसक्ति को छोड़ने से ही हो सकता है। आँख का प्रमाण मानें तो पृथिवी समतल ही सिद्ध होगी न? सूरज सोने के थाली के सिवा क्या है? आँखें जो देखती हैं वही अगर प्रेमा हो तो मेरी मुसीबत हो जाय न? कानों से मेरे बारे में जो कुछ तू सुने वह सब सच मान बैठे तो?

—वर्धा, ४।१२।१९३४। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृष्ठ २३०, न० जी० प्र० म०]

५२. कर्म का नियम

कर्म का नियम समझना आसान है। जो कानून हम यन्त्रशास्त्र में सीखते हैं वही उसमें है। दृश्य शक्तियां एक साथ काम करती हैं; उनका एक ही दृश्य परिणाम हम देख सकते हैं। यही बात कर्मों के विषय में भी है।

—बिड़ला मिल्स, दिल्ली, ३१।१२।१९३४। बापू के पत्र : प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृष्ठ २३४, न० जी० प्र० म०]

५३. अनासक्त भाव

जैसा अपने वारे में वैसा ही दूसरे के वारे में। अपने वारे में अनासक्त रहने पर भी सर्दी-गर्मी का भान तो रहेगा ही। ठण्ड में गर्मी और गर्मी में ठण्ड तो हम ढूंढ़ेंगे ही, परन्तु खोज सफल न हो तो रोने नहीं वैठेंगे,—यही अनासक्ति है।

— विड़ला मिल्स, दिल्ली, ३१।१२।१९३४। वापू के पत्र : प्रेमा वहिन कंटक के नाम, पृष्ठ, २३३, न० जी० प्र० म०]

५४. ईशोपनिषद् का एक रत्न

[१७ जनवरी १९३७ को त्रावणकोर राज्य के अन्तर्गत हरिपाद नामक गांव में दिये गये भाषण का यह अंश है।—सम्पा०]

कल रात को क्विलन की सभा में मैंने हिन्दू-धर्म का सन्देश समझाया था। उसी के विषय में आप लोगों के समक्ष कुछ मिनट मैं वोलना चाहता हूं। उस सभा में मैंने कहा था कि समस्त हिन्दू धर्म का सार ईशोपनिषद् के पहिले श्लोक में आ जाता है। मैंने यह भी कहा था कि अन्य सब हिन्दू धर्म-ग्रन्थ जलकर भस्म हो जायं, और यह एक ही श्लोक हमारे पास वच रहे तो उन ग्रन्थों के नाश से हमारी कोई हानि नहीं होगी; तव भी हिन्दू धर्म हमारे पास रह ही जायगा। इस मन्त्र की मूल संस्कृत भाषा इतनी सरल है कि संस्कृत पढ़नेवाला छोटा-सा वालक भी उसे समझ सकता है। यह उपनिषद् वेद की मूल संहिता का एक भाग माना जाता है; ऐसी इसकी प्रतिष्ठा है। हम जिन उपनिषदों को जानते हैं उनमें यह छोटे-से-छोटा है। पर जैसा कि मैंने कहा है, इस उपनिषद् का यह पहिला मन्त्र ही नष्ट होने से वच जाय तो हमारी सारी ज्ञान-पिपासा शमन करने के लिए यह काफी है। इस मन्त्र को मैं अपने सदोष संस्कृत उच्चारण से वोलकर सुनाता हूं :—

ईशावास्यमिदं सर्व यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

जो तनिक भी संस्कृत जानता होगा वह देखेगा कि दूसरे वैदिक मन्त्रों की तरह इस मन्त्र में कोई गूढ़ या अटपटी वात नहीं है। इसका अर्थ इतना ही है—इस जगत् में छोटा या वड़ा जो कुछ है उसमें, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म परमाणु तक में, ईश्वर व्याप्त है। वह सिरजनहार है; राजा है; ईश अर्थात् राज्य करनेवाला है। जो स्रष्टा है वह अपनी सृष्टि-रचना के अधिकार से ही स्वभावतः राजा या शासक

भी बन जाता है। इस मन्त्र में मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने प्रभु के लिए सिवा एक 'ईश' के और कोई विशेषण नहीं लगाया, और उसके शासन में से कोई भी चीज बाकी नहीं रखी। वह कहता है कि हम जो कुछ भी देखते हैं वह ईश्वर से व्याप्त है। इसमें मन्त्र का दूसरा भाग स्वाभाविक रीति से फलित होता है। ऋषि कहता है, सब— इस विश्व में जो कुछ भी है उसका, अपनी पृथिवी के इस छोटे-से गोले का ही नहीं, बल्कि समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड का त्याग कर दो। इन सबका त्याग करने के लिए ऋषि हमसे इतना ही कहता है कि हम इतने अल्पातिअल्प, सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु हैं कि इस विश्व में कोई वस्तु हमारी है—ऐसे स्वामित्व की यदि हम कल्पना करें तो हम उपहासास्पद समझे जायंगे। इसके बाद ऋषि कहता है कि त्याग का बदला है 'भुंजीथाः'—अर्थात्, तुम्हें जो चाहिए वह सब भोगो। पर 'भोगो' इसके अन्दर एक अर्थ है—इसकी जगह आप चाहें तो, "काम में लाओ, खाओ", चाहे जिस शब्द का उपयोग कर सकते हैं। इसका यह अर्थ है कि आपके विकास के लिए जो जरूरी हो उससे अधिक आप नहीं ले सकते। इसलिए इस भोग या उपयोग में दो शर्तों की मर्यादा रखी है। एक तो यह कि हम त्यागवृत्ति रखें या फिर भागवतकार के कथनानुसार "कृष्णार्पणमस्तु सर्वम्" की भावना मन में रख कर भोगें। जो भागवत धर्म को मानता है उसको नित्य प्रातःकाल अपने विचार, अपनी वाणी और अपने धर्म श्रीकृष्ण को अर्पण करने पड़ते हैं। यह त्याग या समर्पण किये बिना उसे किसी को छूने या एक कटोरा पानी पीने का भी अधिकार नहीं। इस त्याग का, समर्पण का कर्म करने के पश्चात् मनुष्य को इस कर्म के द्वारा अपने नित्य के जीवन के लिए जितना अन्न-वस्त्र और आश्रय आवश्यक है उसे प्राप्त करने का अधिकार मिलता है। इसलिए आप जिस तरह चाहें उस तरह ले सकते हैं। चाहें तो यह मानें कि भोग या उपभोग त्याग का बदला है, या यह मानें कि त्याग भोग की एक अनिवार्य शर्त है; हमारे जीवन के लिए, आत्मा के लिए त्याग अत्यन्त आवश्यक है। और जैसे इस मन्त्र में दी हुई शर्त अधूरी हो, अतः वैदिक ऋषि तुरन्त ही उसे पूरा कर देने के लिए इतना और जोड़ देता है, "जो कुछ दूसरे के स्वामित्व का है उसका लोभ न करो।" अब मैं आपसे कहता हूं कि दुनिया के किसी भी भाग में प्राप्त होनेवाला तत्वज्ञान या धर्मतत्व इस मन्त्र में आ गया है और इससे जो भी विपरीत है उसको अस्वीकार कर दिया गया है। शास्त्रार्थ के जो नियम हैं उनके अनुसार जो वचन श्रुति का विरोधी हो—और यह, ईशोपनिषद् श्रुति है ही—उसे सर्वथा अस्वीकार कर देना चाहिए! ......मैंने उपनिषद् का जो मन्त्र बताया है, मैं चाहता हूं कि उसे सब स्त्री-पुरुष और बालक अपने हृदय में अच्छी तरह अंकित कर लें। और यदि मेरी मान्यता के अनुसार

इस मन्त्र में हिन्दू धर्म का सार आ जाता हो, तो यह मुद्रालेख प्रत्येक मन्दिर के द्वार पर खुदवा देना चाहिए।

—ह० ज०। ह० से० ६।२।१९३७।]

- हिन्दू धर्म का सार ईशोपनिषद् के पहिले श्लोक में आ जाता है।
- इस जगत् में छोटा या बड़ा जो कुछ है उसमें, सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु तक में, ईश्वर व्याप्त है।
- हम जो कुछ भी देखते हैं वह ईश्वर से व्याप्त है।
- जो भागवत धर्म मानता है उसको नित्य प्रातःकाल अपने विचार, अपनी वाणी और अपने धर्म श्रीकृष्ण को अर्पण करने पड़ते हैं।
- भोग या उपभोग त्याग का बदला है।

५५. व्यापक मन्त्र

[त्रावणकोर यात्रा के दौरान कोट्टयम गांव की सभा में दिये गये भाषण का अंश—सम्पा०]

मैंने बाइबिल का एक धर्मनिष्ठ ईसाई की दृष्टि से, और कुरान का एक धर्मनिष्ठ मुसलमान की दृष्टि से अध्ययन करने का प्रयत्न किया है, और इन दोनों ही धर्मग्रन्थों में मुझे जो अच्छे अंश जान पड़े उन्हें अपने जीवन में उतारते हुए मुझे कभी संकोच नहीं हुआ। मैंने दुनिया के दूसरे धर्मशास्त्रों को भी पढ़ा है, पर इन दो का नाम तो मैंने दृष्टान्त रूप में दिया है। किन्तु आप यह पूछ सकते हैं कि यदि मैं सर्व धर्मों को एक समान सच्चा और आदरणीय कहता हूँ, तो मैं हिन्दू बना हुआ हूँ इसका अर्थ क्या है? इसका कारण मैं आपको बताता हूँ। इधर मैंने हजारों स्त्री-पुरुषों की जिन सभाओं में भाषण दिये हैं उनमें मैंने, हिन्दूधर्म का जो अर्थ मैं समझता हूँ, उसे समझाने का प्रयत्न किया है। मैंने उन्हें ईशोपनिषद् के एक अत्यन्त सीधे-सादे मन्त्र को हिन्दूधर्म का साररूप बताया है। आप जानते हैं कि यह उन उपनिषदों में एक है जो कि वेद संहिता जितनी पवित्र मानी जाती हैं।

ईशोपनिषद् के पहिले ही श्लोक का अर्थ यह है—इस जगत् की सब वस्तुओं के अणु-अणु में ईश्वर व्याप रहा है। इस मन्त्र में ईश्वर को स्रष्टा, ईश, विश्व का अधिष्ठाता कहा है। इस मन्त्र के द्रष्टा ऋषि को यह कह कर सन्तोष नहीं हुआ कि सारा जगत् ईश्वर से व्याप्त है। अतः उसने आगे चल कर कहा—"ईश्वर सर्व-

व्यापी है, इसलिए यहां तुम्हारे स्वामित्व की कोई भी वस्तु नहीं; तुम्हारी देह भी तुम्हारी नहीं। तुम्हारे पास जो कुछ है उसका स्वामी तो ईश्वर है। उसके इस अधिकार से कोई इन्कार नहीं कर सकता। इस विषय में उसके साथ कोई कलह नहीं कर सकता। इसलिए जब अपने को हिन्दू कहनेवाला कोई भी मनुष्य द्विजत्व प्राप्त करता है, या जैसा कि ईसाई कहते हैं, जब वह नया अवतार लेता है, तब उसने जिस-जिस वस्तु को अज्ञान के कारण अपनी सम्पत्ति कहा था, उन सबको उसे ईश्वरार्पण कर देना पड़ता है। ईश्वरार्पण या त्याग करने के बाद उससे कहा जाता है कि, अन्न-वस्त्र-आश्रय आदि के सम्बन्ध में ईश्वर उसके योगक्षेम का वहन करेगा; उसे जिस वस्तु की आवश्यकता होगी, भगवान उसे वह देगा इसलिए जीवन की आवश्यक वस्तुओं को भोगने या उनका उपयोग करने के लिए शर्त यह है कि या तो वे ईश्वर को अर्पण कर दी जायँ, या उनका त्याग कर दिया जाय। और यह अर्पण या त्याग रोज़ होना चाहिए, नहीं तो शायद इस माया-मोह वाली दुनिया में हम जीवन की यह सबसे मुख्य बात भूल जायं। यह कह चुकने के बाद मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहता है, "किसी के धन का लोभ न करो।" मैं आपसे कहना चाहता हूं कि इस छोटे से मन्त्र में जो सत्य समाया हुआ है वह प्रत्येक मनुष्य की इहलोक की तथा परलोक की ऊँची-से-ऊँची सब आकांक्षाओं को तृप्त करता है। जगत् के धर्मग्रन्थों की शोध के दौरान मुझे ऐसी कोई बात नहीं मिली, जो इस मन्त्र में जोड़ी जा सके। धर्मग्रन्थों का जो अल्प वाचन मैंने किया है—मैं मानता हूं कि मेरा वाचन अति अल्प है—उसकी ओर दृष्टि डालने पर मुझे लगता है कि सर्व धर्मग्रन्थों में जो कुछ अच्छा हैं, उस सबका इस मन्त्र से ही उद्भव हुआ है। समस्त विश्व का बन्धुत्व—मनुष्यमात्र का ही नहीं, किन्तु जगत् के जीवमात्र का बन्धुत्व—देखना हो तो वह मुझे इस मन्त्र में मिल जाता है। सर्वेश्वर प्रभु-विषयक अविचल श्रद्धा चाहिए तो वह मुझे इस मन्त्र में मिलती है। सर्वभाव से ईश्वर की शरण में जाना हो, और यह आस्था रखनी हो कि ईश्वर मेरे योगक्षेम का वहन करेगा तो वह आस्था भी, मैं कहता हूं कि, मुझे इस मन्त्र में मिलती है। चूंकि ईश्वर हमारे और तुम्हारे सबके रोम-रोम में, प्रत्येक श्वासोच्छ्वास में व्याप्त है, अतः इससे मैं जगत् के सब जीवों की समानता का सिद्धान्त निकालता हूं, और इससे तमाम तात्त्विक साम्यवादियों की आकांक्षाओं की भी तृप्ति होनी चाहिए। यह मन्त्र मुझे बताता है कि जो चीज़ ईश्वर के स्वामित्व की है उसे मैं अपनी नहीं मान सकता। यदि मेरे जीवन को और इस मन्त्र पर आस्था रखनेवाले सब मनुष्यों के जीवन को पूर्णतः समर्पित करना हो तो इससे यह अर्थ निकलता है कि वह जीवन सेवामय होना चाहिए।

—कोट्टायम २०।१।१९३७। ह० से० ६।२।१९३७]

५६. ईश्वर का वास

शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो ईश्वर भलाई और बुराई दोनों के मूल में है। वह खूनी का खंजर और चीर-फाड़ करने वाले सर्जन का चाकू, दोनों का संचालन करता है। परन्तु इसके बावजूद, हमारे जीवन के हित की दृष्टि से, भलाई और बुराई एक दूसरे से सर्वथा भिन्न और असंगत हैं। हमारे लिए वे प्रकाश और अन्धकार की, ईश्वर और शैतान की प्रतीक हैं।

—ह० ज०, २०।२।१९३७]

५७. शरीर-सत्ता का ज्ञान

शरीर केवल ईश्वर के रहने या आत्मा को पहिचानने का घर है, यह जान लें तो सब कुछ अपने आप ठिकाने आ जाय। ऐसा हो जाय तो धर्म के नाम पर चल रहा ढोंग मिट जाय।

—महाबलेश्वर, ३।५।१९४५। 'बापू के पत्र : मणि बहिन पटेल के नाम' पृष्ठ १३७, न० जी० प्र० मं०]

५८. ईश्वर का अर्थ

"आजकल आपकी लिखी गीताबोध (पुस्तक) पढ़ रहा हूं और उसे समझने की कोशिश करता हूं। गीताबोध के दसवें अध्याय को पढ़ने के बाद जो सवाल मेरे मन में उठा है, उसी के सम्बन्ध में यह पत्र लिख रहा हूं। उसमें लिखा गया है कि श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं : 'और छल करनेवालों का द्यूत भी मुझी को समझ।' इस संसार में जो भी कुछ होता है, वह मेरी आज्ञा के बिना नहीं हो सकता। भला-बुरा भी तभी होता है, जब मैं होने देता हूं। तो क्या भगवान बुरा भी होने देता है? और जब यह चीज भगवान की आज्ञा से होती है, तो वह इसका बदला बुराई के रूप में कैसे दे सकता है? क्या परमात्मा से संसार की उत्पत्ति इसीलिए है? क्या संसार का समय शान्तिपूर्ण वातावरण में कभी बीत ही नहीं सकता?"

एक पत्र-लेखक ने यह सवाल पूछा है। यह कहना कि बुराई का मालिक भी ईश्वर है, कानों को कठोर लगता है। लेकिन अगर वह अच्छाई का मालिक है,तो बुराई का भी है ही। रावण ने अनन्त शक्ति दिखाई, वह भी तब जब ईश्वर ने उसे दिखाने दी। मेरे खयाल में इस सारी उलझन की जड़ ईश्वर-तत्व को न समझने में

है। ईश्वर कोई पुरुष नहीं, व्यक्ति नहीं। उसके लिए कोई विशेषण नहीं लगाया जा सकता। ईश्वर खुद ही नियम बनानेवाला और न्यायाधीश है। संसार में हमें यह चीज़ इतनी सुसंगत रीति से कहीं देखने को नहीं मिलती। लेकिन जब कोई आदमी ऐसा करता है, तो हम उसे शाहंशाह नीरो (शैतान) के रूप में देखते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दुस्तान का वाइसराय खुद नियम बनाने वाला, नियम और न्यायाधीश है। मनुष्य को यह स्थिति शोभा नहीं देती। लेकिन जिसे हम ईश्वर के रूप में पूजते हैं, उसके लिए तो यह न केवल शोभनीय है, बल्कि वास्तविक यथार्थ भी यही है। अगर हम इस चीज़ को समझ लें, तो इस पत्र में जो सवाल उठाया गया है, उसका जवाब मिल जाता है, या यों कहिए कि फिर वह सवाल उठ ही नहीं सकता।

दुनिया अपना समय शान्तिमय वातावरण में बिना ही नहीं सकती, यह सवाल भी खड़ा नहीं हो सकता। जब दुनिया चाहेगी तब वातावरण भी शान्तिमय हो जायगा। यह सवाल तो उठना ही न चाहिए कि दुनिया कभी ऐसा चाहेगी या नहीं, या चाहेगी तो कब। ऐसे सवाल उठाना मेरे ख़याल में निठल्लेपन की निशानी है। "आप भला, तो जग भला" के अनुसार सवाल पूछनेवाले खुद हर हालत में शान्ति रख सकें, तो उन्हें समझ लेना चाहिए कि जो काम वे खुद कर सकते हैं, वह सारी दुनिया कर सकेगी। ऐसा न मानने का मतलब होगा कि वे बड़े अभिमानी हैं।
—ह० ब०। ह० से० २४।२।१९४६]

● ईश्वर खुद ही नियम बनानेवाला और न्यायाधीश है।

५९. अनासक्ति-रसायन

...मेरा वर्तमान जीवन कितना ही अच्छा क्यों न हो, तो भी अपने पूर्व जीवन के कारण, सम्भव है, मैं पूरी उम्र तक जी न सकूं। फिर भी, मेरा विचार है कि अपने मन और शरीर के बीच सम्पूर्ण अनासक्ति सिद्ध करके मैं अपने पूर्व जीवन के प्रभाव को मिटा सकता हूं। अनासक्ति-द्वारा मनुष्य अपने विगत जीवन की बुरी आदतों के प्रभाव को मिटा सकता है और विरासत में मिली हुई त्रुटियां और आस-पास के दोषों का भी निवारण कर सकता है। सामान्य रूप से जब-जब अनजाने या जान-बूझ कर प्राकृतिक नियमों को तोड़ा जाता है तब-तब इंसान को उसकी कीमत चुकानी पड़ती है। लेकिन इसमें आशा की बात यह है कि अगर व्यक्ति पूरी तरह अनासक्त बन सके तो वह इन सब चीजों को मिटा सकता है। जबतक

व्यक्ति 'द्विज' नहीं वनता, यानी वह अपने जीवन का कायापलट नहीं कर डालता, तवतक उसे शाश्वत जीवन की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके विपरीत अगर आदमी अपने जीवन को वदल डाले तो वह शाश्वत जीवन प्राप्त कर सकता है। मृत्यु से पहिले दूसरी कोई वाधा नहीं होती। आदमी जहां चाहे और जव चाहे तव अपने जीवन में नये सिरे से हेरफेर कर सकता है। अगर वह अनासक्ति की कुल्हाड़ी से भूतकाल के वन्धनों और विरासतों को पूरी तरह काट चुका है, तो वीता हुआ समय उसके वर्तमान जीवन-प्रवाह में कोई रुकावट नहीं डाल सकता।
—पूना, २।३।१९४६। ह० ज०। ह० से०, ७।४।१९४६]

६०. मूर्ति और देवालय

व्यक्तिगत रूप से मैं स्वयं उतना वड़ा मूर्ति-भंजक हूँ, जितना कि मूर्ति-पूजक हूँ। आप सव लोग भी हिन्दू हों या मुसलमान, इसी प्रकार के हैं, चाहे इस वात को आप स्वीकार करें या न करें। मैं जानता हूं कि मनुष्य प्रतीक-प्रेमी है। क्या मस्जिद और गिरजे वस्तुतः वही चीज नहीं हैं, जो मन्दिर है? परमेश्वर सव जगह रहता है। वह मानव-शरीर के रोम-रोम में जिस तरह समाया हुआ है उसी तरह और उसी प्रमाण में वह समस्त निर्जीव वस्तुओं में भी वर्तमान है। लेकिन मनुष्य ने कुछ वस्तुओं और स्थानों में अन्य वस्तुओं और स्थानों से अधिक पवित्रता मान ली है।—अगर पूजा की स्वतन्त्रता पर रोक लगाई जाय तो मैं स्वयं मूर्ति को अपनी छाती से चिपकाकर उसकी रक्षा के लिए अपने प्राणों का वलिदान कर देना पसन्द करूंगा।
—१२।३।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ३०।३।१९४७]

६१. मेरी चिन्ता

जिसे मैं सम्पूर्ण विश्वास के साथ अपने श्वासोच्छ्वास का स्वामी समझता हूं; जिसे मैं अपना नमक देने वाला मानता हूँ, उससे मैं अभी तक दूर हूँ, यह चीज़ मुझे प्रति क्षण खटकती है। इसके कारण-रूप अपने विकारों को मैं देख सकता हूँ, पर उन्हें अभी तक निकाल नहीं पा रहा हूँ।
—आत्मकथा की प्रस्तावना, पृष्ठ ९, संस्करण १९५७]

६२. मेरी अधीरता

अपने सर्जनहार प्रभु की उपस्थिति अनुभव करने के लिए मैं अधीर हो गया हूँ। मेरे लिए वह सत्यरूप है। अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में मैंने यह जान लिया कि यदि मुझे सत्य का साक्षात्कार करना हो, तो प्राणों को खतरे में डाल कर भी मुझे प्रेम के नियम का पालन करना चाहिए।

—नेशंस वाइस, पृ० ३१९]

गांधी जी के प्रेरणा-स्रोत

[१]

व्यक्ति : प्राचीन

१. हरिश्चन्द्र

सूर्यवंश-रत्न अयोध्यापति हरिश्चन्द्र भगवान राम के पूर्वज थे। इनकी सत्यनिष्ठा की अमर गाथा आज भी भारतीय जनमानस पर दृढ़ता और स्पष्टता से अंकित है। गांधी जी ने वचपन में ही हरिश्चन्द्र नाटक देखा था। तभी से उनके मन में सत्याचरण के प्रति दृढ़ श्रद्धा उद्भूत हुई जो कालान्तर में अनुक्षण विकसित होती रही। गांधी जी ने हरिश्चन्द्र की यशगाथा से वहुत प्रेरणा प्राप्त की थी और सत्य के प्रति उनकी निष्ठा में इस प्रेरणा की वड़ी देन है।

२. राम

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम का चरित गांधी जी का आदर्श एवं आराध्य रहा है। गांधी जी रामायण को हिन्दू धर्म के श्रेष्ठतम ग्रन्थों में से एक मानते हैं, जो उनकी सनातन वैष्णव मान्यताओं के लिए उपयुक्त ही है। रामचरित के विभिन्न प्रसंगों (राम का राज्य-त्याग, विमाता कैकेयी एवं वनवास-दाता पिता के प्रति अकल्मष स्नेह, निर्दोष एकपत्नीव्रत, दृढ़ता, शूरता, प्रतिज्ञा-पालन, प्रजारंजन, भरत का वन्धु प्रेम, लक्ष्मण का ब्रह्मचर्य-पालन एवं सेवा-भाव, हनुमान की स्वामि-भक्ति आदि) से गांधी जी को अत्यधिक प्रेरणा मिली थी और वे समय-समय पर इनका उदाहरण देते थे।

ऊपर से देखने में दशरथ-नन्दन राम गांधी जी के आदर्श थे पर गांधी जी जिस राम की उपासना करते थे, जिसके नामोच्चारण के साथ उन्होंने शरीर-त्याग किया वह दशरथ-नन्दन के अतिरिक्त कुछ और भी था। वह देहधारी, मर्त्य, क्षत्रिय राजकुमार नहीं, अलख, अगोचर, निरंजन, निरंकार परब्रह्म था। वह घट-घटवासी दिव्य ज्योति सगुण के साथ ही निर्गुण भी थी।

राम की इस रूप में उपासना अनेक निर्गुण भक्त सन्त-कवियों, यथा कवीर, ने की है। वे कहते हैं—दशरथ सुत तिहुं लोक वखाना, राम नाम का मरम है आना।

गांधी जी कुछ इसी शैली में अपने राम की व्याख्या करते हैं—"मेरा राम, हमारी प्रार्थना का राम, ऐतिहासिक राम नहीं है, जो दशरथ का पुत्र और अयोध्या

का राजा था। वह नित्य अजन्मा और अद्वितीय परमेश्वर है। मैं उसी की पूजा करता हूँ। मैं उसी की सहायता चाहता हूँ और आपको भी ऐसा ही करना चाहिए। वह समान रूप से सबका है। इसलिए मुझे कोई कारण नहीं दीखता कि किसी मुसलमान को या और किसी को भी उसका नाम लेने में आपत्ति क्यों होनी चाहिए। परन्तु ईश्वर को राम के रूप में पहिचानने के लिए वह किसी प्रकार बँधा नहीं है।"

इस निरंजन परमेश्वर-रूप राम-नाम के अहर्निश उच्चारण का प्रयत्न और आग्रह गांधी जी को यावज्जीवन बना रहा। इस राम पर उनकी दृढ़ आस्था थी। उनकी दृष्टि में यही राम मनुष्य को संकट, भय और बाधाओं से मुक्त कर सकता है।

गांधी जी की धार्मिक विचारणा में राम-नाम को वही महत्व प्राप्त है, जो शरीर में प्राण को है।

३. कृष्ण

भगवान कृष्ण का कर्मयोग-सन्देश (गीता) विश्व के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में एक है। गांधी जी ने इस कृति से सर्वाधिक प्रेरणा प्राप्त की थी। उन्होंने कृष्ण के जीवन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर विस्तार से विचार किया। कृष्ण की ऐतिहासिकता, उनकी लीलाओं की रूपकमय व्याख्या और उनके देवत्व की यथार्थता के सम्बन्ध में गांधी जी ने विस्तार से लिखा है। उनके धार्मिक चिन्तन पर कृष्ण-चरित का उपयुक्त प्रभाव पड़ा है। परन्तु इस सम्बन्ध में भी राम की भांति उनके कृष्ण ऐतिहासिक कृष्ण नहीं हैं; जगदीश्वर के प्रतीक हैं। उनके लिए जो राम हैं, वही कृष्ण हैं।

४. प्रह्लाद

राक्षसराज हिरण्यकशिपु के पुत्र भक्त प्रह्लाद अपनी आस्था एवं विनय के लिए आदर्श रहे हैं। प्रह्लाद ने ईश्वर के अस्तित्व-विषयक अपने अत्याचारी पिता की धारणा का नम्रतापूर्वक विरोध किया। अभिमानी पिता ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार करते थे किन्तु प्रह्लाद को प्रभु पर अनन्त आस्था थी। बालक प्रह्लाद को इस आस्था के लिए समुद्र में डुबोया गया; आग में जलाया गया किन्तु उनका बाल भी बाँका नहीं हुआ। अन्त में भक्त की आस्था विजयिनी हुई।

गांधी जी प्रह्लाद को आदर्श सविनय अवज्ञाकारी मानते थे। वे भक्त बालक की नम्रता, विनय, धैर्य, कष्ट-सहिष्णुता एवं आस्था को प्रेरणा की वस्तु मानते और बताते थे।

५. श्रवणकुमार

मातृ-पितृ-भक्त बालक श्रवणकुमार की कथा हमारे पौराणिक साहित्य की प्रेरणाप्रद कथा-मालिका का सुमेरु है। गांधी जी ने बचपन में टीन के बक्सों में दिखाये जाने वाले बायस्कोप में बालक श्रवणकुमार का चित्र देखा था। माता-पिता की सेवा की प्रेरणा उन्हें इस चित्र से मिली थी। श्रवणकुमार के प्रशंसनीय और श्लाघ्य चरित्र की स्तुति गांधी जी ने अनेक स्थानों पर की है।

६. महावीर

जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर तथा उनके उपदेशों से गांधी जी ने अपने धर्म-चिन्तन में बड़ी प्रेरणा प्राप्त की थी। उनके त्याग, तितिक्षा, तप तथा जीवमात्र के प्रति करुणा, जिसने लाखों भारतीयों को आज भी अनुप्राणित कर रखा है, से अपने जीवनादर्शों का निर्माण करने में गांधी जी को बड़ी सहायता मिली थी।

७. बुद्ध

कपिलवस्तु में जन्मे शाक्यवंशीय राजकुमार सिद्धार्थ ने गौतम बुद्ध के नाम से विश्व को अहिंसा, जीव-दया, करुणा एवं संयम का उपदेश दिया। बुद्ध ने उस समय धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया था जब भारतभूमि यज्ञ-पशुओं के रक्त से स्नान कर रही थी; जब वेद और शास्त्र प्रचण्ड तर्कों एवं कर्मकाण्डवाद से 'धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां' की स्थिति को पहुँच गये थे। उनका उपदेश कुछ ही दिनों में भारत की सीमा लाँघकर लंका, बर्मा, हिन्देशिया, हिन्दचीन, मंगोलिया, मध्य एशिया एवं चीन तक पहुँच गया।

गांधी जी ने सर एडविन आर्नल्ड-कृत बुद्ध चरित (लाइट आफ़ एशिया) से भगवान बुद्ध के कृतित्व एवं व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त किया। उन्हें अहिंसा पर विचार करने में बुद्ध से सहायता मिली। बुद्ध की जीवदया, जो समस्त प्राणिजगत् तक जाती थी, गांधी जी की दृष्टि में ईसा की करुणा से भी श्रेष्ठ थी। बुद्ध के त्याग, करुणा और नीति से उन्होंने बहुत प्रेरणा ली थी।

८. सुकरात

ईसा से लगभग ४०० वर्ष पूर्व यूनान के एथेंस नगर में सुकरात (साक्रेटीज़) नामक चिन्तक, दार्शनिक महापुरुष हुए थे। उन्होंने सत्य और नीति-विषयक श्रेष्ठतम विचारों का उपदेश जनता को दिया। उनके विचार तत्कालीन राज्याधिकारियों को न रुचे और उन्होंने सुकरात पर मुकदमा चलाया। दार्शनिक

सुकरात ने निर्भीक भाव से अत्यन्त युक्तिपूर्वक अपने ऊपर लगाये गये आरोपों का खण्डन किया किन्तु द्वेषी न्यायपतियों ने उसे मृत्युदण्ड दिया। सुकरात ने न्याय करनेवालों के प्रति द्वेष या अमर्ष प्रदर्शित किये विना हँसकर विष का प्याला पिया और मृत्यु को गले लगाया।

गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका-प्रवास के दौरान सुकरात के जीवन-वृत्त और कृतित्व के सम्बन्ध में अध्ययन किया था। उन्हें यूनानी दार्शनिक की श्रद्धा, सत्य-निष्ठा, नीतिमत्ता, निर्भीकता, सरलता, त्याग एवं चिन्तन के प्रति सहज आकर्षण हो आया। उन्होंने सुकरात के सम्बन्ध में एक लेख-माला भी 'इण्डियनओपीनियन' में प्रकाशित कराई थी। उनके धर्म एवं नीति-सम्बन्धी विचारों की पृष्ठभूमि में इस यूनानी महापुरुष की प्रेरणा प्रभूत मात्रा में रही है।

९. ईसा

ईसाई धर्म अथवा ईसा मसीह के सम्बन्ध में गांधी जी अल्पावस्था में विशेष रूप से कुछ नहीं जानते थे। उनके मस्तिष्क में ईसाई-धर्म का गलत चित्र था। किन्तु इंग्लैण्ड जाकर गांधी जी ने ईसा मसीह और उनके धर्म के बारे में पढ़ा और उससे प्रभावित हुए। गिरि-प्रवचन और उनके दस आदेश ने गांधी जी को सर्वाधिक प्रभावित किया। गिरि-प्रवचन में उन्हें उच्चकोटि की उदारता, सहिष्णुता, क्षमा और करुणा के दर्शन हुए। ईसा को वह आदर्श सत्याग्रही मानते थे जिसने सत्य के लिए चरम वलिदान दिया।

ईसाई धर्म की सामूहिक प्रार्थना, ईसा का बलिदान आदि ऐसी प्रेरक वस्तुएं थीं जिनसे गांधी जी ने अपने धार्मिक आचरण के लिए प्रेरणा प्राप्त की थी। पर वे ईसा को ईसाइयों की तरह ईश्वर का एकमात्र पुत्र नहीं मान सके,—ऐसा एकमात्र पुत्र जिसकी शरण जाने से ही मनुष्य को मुक्ति मिल सकती है। गांधी जी इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहते हैं—

"ईसा ने ईश्वरीय भावना और इच्छा को जिस तरह प्रकट किया उस तरह और कोई नहीं कर सका। इसी अर्थ में मैं उन्हें ईश्वर-पुत्र के रूप में देखता और मानता हूं। और चूंकि ईसा के जीवन में यह महत्व और अलौकिकता है, इसलिए मेरा विश्वास है कि वे केवल ईसाई-जगत् के ही नहीं, परन्तु सारे संसार के हैं; सभी जातियों और लोगों के हैं—भले वे किसी भी झण्डे, नाम या सिद्धान्त के मातहत काम करें, किसी भी ऐसे धर्म को न मानें या ऐसे ईश्वर की पूजा करें जो उन्हें बापदादों से विरासत में मिला हो।" (—दि माडर्न रिव्यू, अक्तूबर १९४१, पृ० ४०६)

१०. मुहम्मद

इस्लाम के पैंगम्बर मुहम्मद साहब उच्चकोटि के तपस्वी, ज्ञानी, संत और साहसी योद्धा थे। इन्होंने उस समय जन्म लिया जब अरब जाति विभिन्न कबीलों में बँटी थी और कुरीतियों, अन्धविश्वासों और अज्ञानपूर्ण धर्म-निष्ठाओं से जकड़ी हुई थी। इस्लाम के पैगम्बर ने अपने चारों ओर फैले इस अज्ञान-तिमिर को दूर कर ज्ञान की ज्योति फैलाई। उन्होंने संसार को एकेश्वरवाद और ईश्वर की सर्वश्रेष्ठता का विश्वास दिलाया। उन्होंने जिस धर्म का उपदेश किया वह धार्मिक रूढ़ियों, अन्ध श्रद्धाओं से मुक्त एक सरल, सादा और सहज धर्म था। उसमें मूर्तिपूजा न थी; पेचीदी शास्त्र-क्रियाएं न थीं; तर्क से परे थोथी कल्पना न थी।

इस्लाम की सादगी ने अरबों को आकर्षित किया और वे सब इस श्रेष्ठ धर्म की ध्वजा-तले एकत्र हो गये। पैगम्बर मुहम्मद साहब का सन्देश तूफान की गति से एशिया, अफ्रीका और यूरोप तक फैल गया। भूमध्य सागर से प्रशान्त महासागर के बीच विस्तृत क्षेत्र में इस्लाम की विजय-पताका फहराने लगी।

गांधी जी ने पैगम्बर मुहम्मद साहब के व्यक्तित्व और कृतित्व का गम्भीर अध्ययन किया था। दक्षिण-अफ्रीका-निवास के दौरान उनका मुसलमानों से सम्पर्क बढ़ा और वे इस्लाम एवं उसके पैगम्बर के जीवन-वृत्त से अत्यन्त प्रभावित हुए। पैगम्बर की सादगी, सत्यनिष्ठा, एवं तपश्चर्या गांधी जी को अनुकरणीय लगी। इसीलिए उन्होंने अनेक स्थलों पर कहा है कि इस्लाम के प्रसार का कारण उसके सैनिकों की तलवार नहीं, उसके फकीरों का सादा-सरल जीवन है। पैगम्बर की ईश्वर के प्रति अडिग आस्था भी गांधी जी के लिए अनुकरणीय वस्तु थी, जिसके उद्धरण उन्होंने अनेक बार प्रस्तुत किये हैं।

गांधी जी जीवन भर हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक और इस्लाम के जिज्ञासु अध्येता बने रहे।

इसके अतिरिक्त गांधी जी ने कबीर, सूरदास, मीराबाई, तुलसीदास, नरसी मेहता, अखा भगत, तुकाराम, एकनाथ, श्यामल भट्ट इत्यादि अनेकानेक संतों एवं भक्तों की रचनाओं से प्रेरणा ग्रहण कर अपनी सत्यनिष्ठा एवं भक्ति-भावना को दृढ़ किया था। उनके जीवन में इन सब की प्रेरणाएं ओत-प्रोत हैं।

[२]

व्यक्ति : अर्वाचीन

१. मां पुतलीबाई

श्रीमती पुतली बाई महात्मा गांधी की माता थीं। वह धार्मिक विचारोंवाली एक साध्वी महिला थीं और पूजा-पाठ के बिना कभी भोजन नहीं करती थीं। प्रतिदिन वैष्णव-मन्दिर जातीं और प्रतिवर्ष चातुर्मास्य व्रत करती थीं। कठिन-से-कठिन व्रत लेकर उस पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ रहना और रुग्ण हो जाने पर भी उसे न छोड़ना पुतली बाई का स्वभाव था। एक बार चान्द्रायण व्रत करते समय वे अस्वस्थ हुई पर उन्होंने व्रत न छोड़ा। एक वर्ष उन्होंने चातुर्मास में एक दिन के अन्तर से भोजन करने का व्रत लिया और उसका निर्वाह किया। निरन्तर दो-तीन दिन का व्रत तो उन्हें बहुधा करना पड़ता था। एक चातुर्मास में उन्होंने सूर्य-नारायण के दर्शन के पश्चात् भोजन करने का व्रत लिया था। बालक गांधी परिवार के अन्य बच्चों के साथ बड़ी उत्सुकता से सूर्य-दर्शन की बाट जोहते। वर्षा-ऋतु में यों भी सूर्य के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। ऐसे भी दिन आते जब बालक गांधी सूर्य को देख कर मां को पुकार उठते—'मां-मां सूर्य निकला।' माता पुतली बाई तेज कदमों सूर्य के दर्शन-हेतु आतीं तबतक वह बादलों में छुप जाता। मां यह कहते हुए लौट जातीं कि कोई बात नहीं, आज खाना बदा नहीं है।

यदि इस कथन में अंशमात्र भी सत्य है कि धरित्री और जननी के संस्कार की छाया व्यक्ति पर सर्वप्रथम पड़ती है, तो हमें निःसंकोच भाव से यह मान लेना चाहिए कि गांधी जी की परवर्ती अटूट धार्मिक निष्ठा का बीज उनकी माता की अडिग धार्मिक आस्था में निहित था। हमारी संस्कृति ने देवताओं की कोटि में प्रथम स्थान पर मां को अभिषिक्त कर कहा है—'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव। इस वचन के अनुसार भी गांधी जी की धार्मिक प्रेरणा का पहिला श्रेय उनकी माता को मिलना चाहिए।

गांधी जी बैरिस्टरी के अध्ययन-हेतु इंग्लैण्ड जाने लगे तो उनकी मां ने उनसे दो प्रतिज्ञाएं करवाई थीं। प्रथम तो यह कि इंग्लैण्ड में गांधी जी मद्य-मांस का सेवन नहीं करेंगे और द्वितीय यह कि वह स्त्री-संसर्ग से बचे रहेंगे। महात्मा जी ने ये संकल्प धारण किये और किस प्रकार प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उनका निर्वाह किया, इसका प्रेरणाप्रद विवरण आत्मकथा में विस्तार से दिया गया है।

गांधी जी की धार्मिक प्रवृत्तियों का एक सशक्त संबल उनकी माता का आदर्श धार्मिक चरित्र था, इसमें सन्देह नहीं।

२. रंभा

यह गांधी-परिवार की सेविका थीं। इन्होंने बालक गांधी का पालन-पोषण किया था। यह एक धार्मिक वृत्ति वाली अपढ़ महिला थीं, जिन्हें समस्त वेद-वेदांग और शास्त्र तथा स्मृतियोंके महासागर के मन्थन-स्वरूप उद्भूत नवनीत राम-नाम पर आस्था थी। आज भी हिन्दू-समाज में जो लोग अति पठित नहीं हैं, सरल स्वभाव और आस्थाशील वृत्ति के हैं, वे वेद-वितण्डा के अस्ति-नास्ति को छोड़ कर शान्तिपूर्वक राम के चरण गह लेते हैं। रंभाबाई भी ऐसे ही व्यक्तियों में एक थीं।

गांधी जी बचपन में भीरु और भीत स्वभाव के बालक थे। उन्हें भूत और साँप आदि का डर लगा करता था। वे अपने भय को दूर भगाने वाली किसी संजीवनी की तलाश में थे। उन्होंने रंभाबाई से अपना भय कह सुनाया तो सीधी-सादी दासी ने उन्हें अपना राम-बाण उपाय सुझा दिया। उसने बालक गांधी से कहा कि भय के प्रसंगों पर वह राम-नाम ले लिया करें; इससे उनकी रक्षा होगी। गांधी जी ने दासी की सलाह पर राम-नाम लेना सीख लिया और यह शाश्वत-नाम आगे चल कर उनके जीवन का संबल बन गया। मृत्यु के समय गांधी जी की अन्तिम श्वास ने भी पूर्ण दृढ़ता से राम-नाम का उच्चारण किया।

गांधी जी ने रंभाबाई को राम-नाम के मन्त्रदाता रूप में कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया है।

३. लाधा महाराज

यह पोरबन्दर के एक परमभक्त रामायणी संत थे। इन्होंने गांधी जी के रुग्ण पिता को कुछ दिनों तक रामायण की कथा सुनाई थी। कहते हैं कि एक बार इन्हें कुष्ठ रोग हो गया। इन्होंने इसके लिए कोई औषधोपचार नहीं किया। यह राम-नाम का जप करते और बीलेश्वर महादेव के मन्दिर पर चढ़े हुए बिल्वपत्र लेकर उन्हें कुष्ठ-पीड़ित अंग पर बाँधते। कुछ ही दिनों में इस उपचार से लाधा महाराज रोग-मुक्त हो गये। जिन दिनों बालक गांधी ने उन्हें देखा था, वे पूर्णतया रोग-मुक्त थे। उनका कण्ठ मधुर था। वह दोहे-चौपाई गाकर उनका अर्थ समझाते थे। स्वयं राम-कथा-रस में लीन हो जाते और श्रोताओं को भी उसमें आकण्ठ निमग्न कर देते। बालक गांधी को इस कथा में बहुत रस मिलता था।

लाधा महाराज की प्रेरणा ने ही गांधी जी के अन्दर रामचरितमानस के प्रति अनुराग उत्पन्न कर दिया और आगे चल कर उन्होंने इसको भक्ति मार्ग के सर्वोत्तम ग्रन्थ की संज्ञा दी। लाधा महाराज की प्रेरणा का दूसरा प्रतिफल था गांधी जी के अन्दर ईश्वर की अनन्त चमत्कारपूर्ण शक्तियों में विश्वास उत्पन्न होना। जो प्रकृत और सहज रूप से सम्भव नहीं वह सब ईश-कृपा से हस्तामलकवत् साध्य है, इस धारणा के प्रमाणस्वरूप गांधी जी ने अनेक स्थलों पर लाधा महाराज की रोग-मुक्ति का प्रमाण प्रस्तुत किया है।

३. अज्ञात अंग्रेज-बन्धु

इंग्लैण्ड-निवास के दौरान गांधी जी का परिचय दो अंग्रेजों से हुआ जो सगे भाई थे। गांधी जी ने इनका नाम तो नहीं दिया है, किन्तु अपनी धार्मिक प्रेरणा के लिए इनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त की है। ये दोनों भाई उदार विचारोंवाले थियासफिस्ट थे। थियॉसफी अनेक धर्मों के उच्चादर्शों की चयनवृत्ति पर आधारित एक उदार सम्प्रदाय है जो रहस्यवाद और हिन्दू-धर्म पर मुख्य रूप से आधारित है।

दोनों भाई गीता पर अपार श्रद्धा रखते थे। उन्होंने अंग्रेज कवि एडविन अर्नल्ड-कृत गीता का अनुवाद पढ़ा था और वे इसे मूल संस्कृत में भी पढ़ना चाहते थे। उन्होंने गांधी जी को संस्कृत में गीता पढ़ने के लिए आमन्त्रित किया। गांधी जी इस बात के लिए लज्जित हुए कि उन्होंने संस्कृत या भाषा किसी रूप में गीता नहीं पढ़ी थी। फिर भी वे अपने यत्किंचित संस्कृत-ज्ञान से गीता-अध्ययन में जो भी सहयोग संभव था, देने के लिए राजी हुए। अंग्रेज बन्धुओं के साथ गीता का अध्ययन गांधी जी के धार्मिक चिन्तन का प्रकाश-स्तम्भ बन गया। उन्होंने इन्हीं भाइयों की प्रेरणा से लाइट आफ एशिया (बुद्ध-चरित) भी पढ़ा और इस प्रकार वे भगवान बुद्ध एवं बौद्ध धर्म से परिचित हुए। ये भाई गांधी जी को ब्लैवेट्स्की लाज में भी ले गये जहाँ गांधी जी का परिचय मैडम ब्लैवेट्स्की और श्रीमती एनीबेसेण्ट से कराया गया। इस प्रकार उन्हें थियासफी को निकट से देखने-समझने का मौक़ा मिला। उन्होंने इन भाइयों-द्वारा प्रदत्त 'की टु थियासफी' पुस्तक पढ़ी। इससे पहिली बार उनकी इस धारणा का पूर्णतया खण्डन हो गया कि हिन्दू-धर्म वहमों से भरा है।

ये दोनों भाई गांधी जी को गीता से परिचित कराने, बौद्ध धर्म एवं थियासफी से परिचित कराने एवं हिन्दू-धर्म के प्रति उनकी आस्था दृढ़ करने के श्रेय-भागी हैं।

४. श्री मद्राजचन्द्र (रायचन्द भाई)

यह महात्मा गांधी के धर्म-दीप थे। गांधी जी धार्मिक विषयों में इन्हें मार्ग-दर्शक और सलाहकार मानते थे। उनके मन में धर्म-सम्बन्धी जो भी जिज्ञासा अथवा शंका उठती थी उसका समाधान वह रायचन्द भाई के पास ढूंढ़ा करते थे।

श्रीमद्राजचन्द्र एक प्रसिद्ध जैन सन्त थे। इनका जन्म काठियावाड़ के अन्तर्गत मोरवी जिले के ववाणिया नामक एक छोटे से गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम रजवीभाई था। इनका जन्म कार्तिक सुदी १५ सम्वत् १९२४ को हुआ था। यह ओसवाल वैश्य जाति में जन्मे थे। बाल्यावस्था से ही अत्यन्त होनहार और विलक्षण स्वभाव के थे। इनमें अष्टाबधान करने की शक्ति किशोरावस्था में ही आ चुकी थी। श्रीमद्राजचन्द्र ने अपनी चिन्तन-धारा, काव्य शक्ति और अवधान-शक्ति में चमत्कारिक विकास किया और बम्बई आये। बम्बई से प्रकाशित अनेक प्रमुख पत्रों ने इस जैन सन्त की अलौकिक शक्ति की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। इनके बारे में २४ जनवरी सन् १८८७ के टाइम्स आफ़ इण्डिया में यह नोट प्रकाशित हुआ था :—

"राजचन्द्र जी भाई नामक एक १९ वर्ष के युवा हिन्दू की स्मरण-शक्ति तथा मानसिक शक्ति के प्रयोग देखने के लिए गत शनिवार के सन्ध्या समय फ्राम जी कावस जी इंस्टीट्यूट में देशी सज्जनों का एक भव्य सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलन के सभापति डाक्टर पीटर्सन नियुक्त हुए थे। भिन्न-भिन्न जातियों के दर्शकों में से दस सज्जनों की एक समिति संगठित की गई। इन सज्जनों ने दस भाषाओं के छः-छः शब्दों के दस वाक्य बना कर लिख दिये और वे बिना तरतीब श्रीमद्राजचन्द्र को सुना दिये गये। इसके थोड़े ही समय बाद इस हिन्दू युवा ने देखते-देखते अपनी स्मृति के बल पर उन सब वाक्यों को क्रमवार सुना दिया। हिन्दू युवक की इस विलक्षण शक्ति को देख उपस्थित मण्डली बहुत ही प्रसन्न हुई। इस युवा की स्पर्शेन्द्रिय और मन अलौकिक थे। इस बात की परीक्षा के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की लगभग बारह पुस्तकें उसे बताई गईं, और सब के नाम सुना दिये गये। इसके बाद उसकी आँखों पर पट्टी बाँध कर उसके हाथों पर जो-जो पुस्तकें रखी गईं उन्हें हाथों से टटोल कर उन सबके नाम इस युवक ने बता दिये। डाक्टर पीटर्सन ने इस युवक की आश्चर्यजनक स्मरणशक्ति और मानसिक शक्ति को देख कर इसे बहुत धन्यवाद दिया और जैनसमाज की ओर से इसे एक स्वर्ण-पदक प्रदान किया।"

बम्बई हाईकोर्ट के चीफ़ जस्टिस सर चार्ल्स सारजेण्ट तो श्रीमद् राजचन्द्र

की प्रतिभा से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें इंग्लैण्ड चलने के लिए कहने लगे। पर मुमुक्षु रायचन्द्र भाई ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

इक्कीस वर्ष की अवस्था में राजचन्द्र भाई ने व्यापारिक क्षेत्र में प्रवेश किया। वे रत्नों का व्यवसाय करते थे और उसमें अत्यन्त सफल रहे। इन्होंने विवाह भी किया पर गृहस्थाश्रम में इनकी स्थिति जल-कमलवत् थी।

श्रीमद् राजचन्द्र जन्म से ही वैराग्य-वृत्ति के थे। वह निरन्तर चिन्तन एवं ध्यान में लीन रहते। उन्होंने अनेक भारतीय दर्शनों एवं धर्मों का गहरा अध्ययन किया था और अच्छे अनुकरणीय विचारों को प्रत्येक धर्म-दर्शन से ग्रहण कर लेना उनकी सहज वृत्ति थी। धार्मिक सहिष्णुता उनमें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। वह स्वयं श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के अनुयायी थे पर अद्वैतवादी शंकराचार्य एवं भगवान कृष्ण की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने में उन्हें कोई हिचक न थी।

श्रीमद् राजचन्द्र ने थोड़ी ही अवस्था में इस संसार का त्याग किया पर वह जबतक जिये अपनी ज्ञान-ज्योति से देश को प्रकाशित करते रहे।

गांधी जी और रायचन्द भाई का सम्पर्क अत्यन्त घनिष्ठ था। गांधी जी ने स्वयं स्वीकार किया है, "मेरे जीवन पर मुख्य रूप से श्रीमद् राजचन्द्र की छाप पड़ी है। महात्मा तालसताय और रस्किन की अपेक्षा भी श्रीमद् राजचन्द्र ने मुझ पर गहरा असर डाला है। मैंने अनेक बार कहा और लिखा है कि मैंने अपने जीवन में बहुतों से बहुत कुछ ग्रहण किया है। पर यदि मैंने सबसे अधिक किसी के जीवन से ग्रहण किया हो तो वह कवि श्री (श्रीमद् राजचन्द्र) के जीवन से ग्रहण किया है। दयाधर्म तो मैंने उन्हीं के जीवन से सीखा है। बहुत से प्रसंगों में तो हमें जड़ होकर वैसी ही प्रवृत्ति करनी चाहिए। शुद्ध जड़ और चैतन्य में भेद नहीं के बराबर है। सारा जगत् जड़-रूप ही दीख पड़ता है। आत्मा तो क्वचित् ही प्रकाशित होती है। ऐसा व्यवहार अलौकिक पुरुषों का होता है और मैंने यह देखा है कि ऐसा व्यवहार श्रीमद् राजचन्द्र भाई का था।"

गांधी जी के समक्ष जब भी करणीय-अकरणीय, धर्माधर्म का संकट उत्पन्न हुआ उन्होंने रायचन्द भाई से सलाह ली। यद्यपि उन्होंने रायचन्द भाई को अपना गुरु नहीं बनाया और वह जन्म भर गुरु की खोज में रहे पर श्रीमद् राजचन्द्र को धर्म-निर्देशक मानते थे, इसमें सन्देह नहीं है।

५. तालसताय

रूस के अभिजात घराने में जन्मे इस दार्शनिक एवं चिन्तक के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से गांधी जी अत्यन्त प्रभावित थे। अन्यत्र हमने तालसताय की कुछ उन

कृतियों के बारे में लिखा है, जिन्हें गांधी जी ने पढ़ा और सराहा था। किन्तु इस रूसी महापुरुष का जीवन स्वयं में एक सराहनीय महाकाव्य है, जिसका अध्ययन गांधी जी ने बड़ी रुचि से किया था।

तालसताय ने धनी घर में जन्म लेकर भी साधारण श्रमिक और कृषक का जीवन बिताया। शस्त्रयुद्ध के वह घोर विरोधी थे। उनमें विश्व-मानवता के सौहार्द्र के प्रति बलवती आस्था थी। वह धर्म के उस अंश पर बल देते थे जो समग्र विश्व का मानव धर्म कहा जा सकता है। धर्म के नैतिक पक्ष के प्रति वे जागरूक थे। ईश्वर के अस्तित्व के प्रति उनकी दृढ़ निष्ठा थी और प्रभु को हृदय की गुहा में खोजने के समर्थक थे।

स्पष्ट है कि तालसताय की यह जीवन-दृष्टि गांधी जी को अपने चिन्तन के अति निकट प्रतीत हुई। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका-प्रवास के दौरान तालसताय से पत्र-व्यवहार किया। आगे चल कर उन्होंने अपनी धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक मान्यताओं में तालसताय की विचारणा का उद्धरण बड़ी श्रद्धा से अनेक स्थलों पर प्रस्तुत किया। उन्होंने प्रत्येक मनुष्य के लिए श्रम की अनिवार्यता का सिद्धान्त तालसताय से ही लिया था। दक्षिण अफ्रीका में तो तालसताय फार्म की स्थापना ही की थी। गांधी जी महापुरुषों की जिस त्रयी को अपना आदर्श मानते हैं तालसताय उनमें से एक हैं।

७. कोट्स

ये श्री बेकर के प्रार्थना-समाज के सदस्य एक क्वेकर ईसाई थे। ये निर्मल स्वभाव के धर्मनिष्ठ युवक थे। गांधी जी की श्री कोट्स से गहरी मैत्री हो गई। दोनों साथ घूमने जाते और धार्मिक सत्संग करते। श्री कोट्स ने गांधी जी को ईसाई-धर्म की अनेक पुस्तकें पढ़ने के लिए दीं। वह गांधी जी को ईसाई बनाने के लिए अथक प्रयत्न करते रहे और इसके लिए उन्होंने ईसाई-धर्म की सूक्ष्म से सूक्ष्म विशेषताओं का वर्णन किया। वह गांधी जी को अज्ञान-कूप में पड़ा मानते थे और सहानुभूतिपूर्वक उन्हें उसमें से निकाल कर सच्चे धर्म की राह लगाना चाहते थे। उन्होंने गांधी जी के गले में वैष्णवी कण्ठी पड़ी देखकर उसे उतार देने के लिए कहा, किन्तु गांधी जी ने केवल भावनावश उसे उतारने में असमर्थता व्यक्त की। गांधी जी श्री कोट्स की ईसाई-धर्मसम्बन्धी अनेक व्याख्याओं से सन्तुष्ट हुए परन्तु उनके प्रभाव में आकर वह अपना धर्म नहीं छोड़ सके।

ईसाई-धर्म की व्याख्या, ईसाई धर्म की पुस्तकों एवं धर्मनिष्ठ ईसाइयों के सम्पर्क के लिए गांधी जी को श्री कोट्स से बड़ी सहायता मिली।

८. स्पेंसर वाल्टन

ये दक्षिण अफ्रीका के मिशन के मुख्य थे। गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका-प्रवास के दौरान अपने अन्दर आत्मदर्शन एवं धर्मनिरीक्षण की जो लालसा जाग्रत की थी, उसके लिए मुख्यतः ईसाइयों से सत्संग किया था। श्री वाल्टन ऐसे ईसाइयों में एक प्रमुख विभूति थे। गांधी जी और श्री वाल्टन का सम्बन्ध कौटुम्बिक-सा हो गया। श्री वाल्टन का ढंग निराला था। उन्होंने कभी गांधी जी से ईसाई बनने को नहीं कहा, पर अपना जीवन उनके समक्ष रख दिया। श्री वाल्टन की धर्मपत्नी भी अत्यन्त तेजस्वी एवं विनीत स्वभाव की महिला थीं। इस परिवार का वातावरण एक धर्मपरायण व्यक्ति के परिवार का आदर्श था। इस दम्पति में उदारता, सहिष्णुता, सत्य, नम्रता, उद्योगशीलता और कर्त्तव्यपरायणता कूट-कूट कर भरी थी। वाल्टन दम्पति के साथ गांधी जी खुल कर धर्म-चर्चा कर सके। इनके प्रभाव से गांधी जी ईसाई तो नहीं बन सके, पर उन्हें एक आदर्श धार्मिक पुरुष की झांकी निश्चित रूप से मिल गई।

९. रामकृष्ण परमहंस

बंगाल के सुप्रसिद्ध अद्वैतवादी परमहंस रामकृष्ण अध्यात्म-जगत् की एक मान्य विभूति थे। शक्ति के परम आराधक इस संत की अनन्य भक्ति आधुनिक युग की एक पवित्र उपलब्धि कही जायगी।

गांधी जी रामकृष्ण के चरित से अत्यन्त प्रभावित थे। वह उनकी भक्ति के गहरे प्रशंसक थे। उनकी दृष्टि में शिष्य विवेकानन्द की अपेक्षा गुरु रामकृष्ण अधिक श्रेष्ठ सन्त थे, इसलिए नहीं कि गुरु शिष्य से बड़ा होता है बल्कि इसलिए कि विवेकानन्द एक प्रचारक के रूप में चाहे जितने महान रहे हों, तदाकार तद्रूप भक्ति में रामकृष्ण ही श्रेष्ठ ठहरते हैं।

रामकृष्ण के वचनों और उपदेशों को गांधी जी बड़ी तन्मयता से मनन करते थे। परमहंस का एक स्मरणीय वचनामृत राजकुमारी अफ्री एरिस्टार्शी ने गांधी जी को भेजा था जो निम्नलिखित है—

"जब तुम काम करते हो तो अपना एक हाथ इस्तेमाल करो और दूसरा भगवान के चरणों में रहने दो। जब काम बन्द रहे तब उनके चरण दोनों हाथों से पकड़ कर अपने हृदय पर रख लो।"

गांधी जी उक्त वचन पर मुग्ध हो गये थे और उन्हें यह अपने जीवन-सिद्धान्तों की प्रतिध्वनि प्रतीत हुई थी।

टिप्पणी

गांधी जी मधुमक्षिका-वृत्ति के महापुरुष थे; हर व्यक्ति, धर्म और स्थिति से अमृत ग्रहण कर लेते थे। उनके जीवन में कितने ही व्यक्तियों का योग है। अपने बहुत-से सहयोगियों एवं अनुयायियों से भी उन्होंने धर्म की, सत्य की बहुतेरी व्याख्याओं में सहायता ली। आचार्य विनोबा, आचार्य काका कालेलकर, स्व० किशोरीलाल भाई इत्यादि से भी विचार-विमर्श करते रहते थे। यहां जो चन्द नाम दिये गये हैं, वे अन्तिम नहीं हैं; केवल सूचक मात्र हैं।

[३]

कृतियाँ : प्राचीन

१. गीता

कर्मयोग का शाश्वत सन्देश गीता, महाभारत का एक अंश है। भारत के जनमानस में सदियों से इस कृति के प्रति शाश्वत समादर की भावना बद्धमूल होती रही है। यह साक्षात् परब्रह्म की वाणी मानी जाती है, अतएव इसकी शिक्षाओं को लोग ईश्वरीय अनुज्ञा मानकर स्वीकारते हैं।

गांधी जी ने सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में गीता से परिचय प्राप्त किया। कुछ ही दिनों में यह कृति उनकी प्रेरणाओं, मान्यताओं का केन्द्र-बिन्दु बन गई। गीता को वह माता और कामधेनु मानने लगे। उन्होंने गीता पर स्वयं ही टीका लिखी, जो प्रकाशित हो चुकी है। गीता के कर्मयोग को गांधी जी ने अपने जीवन में उतारा। उन्होंने कर्मयोग की विशद व्याख्या स्थल-स्थल पर की है और सम्पूर्ण मानवता को उस पर दृढ़तापूर्वक चलने का उपदेश किया है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि गीता में भगवान कृष्ण ने कर्त्तव्य की वेदी पर निर्मम होकर हिंसक युद्ध करने और दुष्ट अथवा अन्यायी को मारने की खुली छूट दी है। दूसरे शब्दों में गीता का मूल आदेश हिंसा है। किन्तु गांधी जी इसके विपरीत मानते हैं कि गीता का मूल स्वर अहिंसा है। करणीय कर्त्तव्य के समक्ष मोह में न पड़ना उचित है, कभी-कभी जीव-हरण भी दयावश अर्थात् अहिंसा मानी जा सकती है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि गीता युद्ध और हिंसा सिखाती है। यह तो इस ग्रन्थ-रत्न का जल्दी में लगाया हुआ भ्रामक अर्थ है। महाभारत के महासमर की समाप्ति पर केवल पाँच पाण्डव शेष रह जाते हैं; उनके विरोधी तो नष्ट हो ही जाते हैं, साथ ही उनके स्वजन एवं बन्धुजन भी मारे जाते हैं, जिनके योगक्षेम के लिए पाण्डवों ने राज्य हस्तगत करना चाहा था। और इसके साथ ही देश की सुजलां-सुफलां धरती और इसकी गोद में समृद्धि की वीणा बजाने वाले असंख्य पुरुष, उन पुरुषों-द्वारा यत्न से पोषित एक महान संस्कृति और उनका ज्ञान, विज्ञान, कला आदि सब एक महासमर की भेंट चढ़ जाते हैं। शेष रहता है एक अवसाद-पूर्ण निष्कम्भ जिसमें चिताओं की लपटें हैं, विधवाओं का विलाप है, विकलांगों की आहें हैं और है युद्धोत्तरकालीन मनहूसी, सन्नाटा, अनाचार,

अनैतिकता एवं वर्ण-संकर सन्तति। क्या इस विषादमय दृश्य को विजय कहा जा सकता है? इसका अर्थ तो यह हुआ कि शस्त्रयुद्ध में विजेता और विजित दोनों पराभूत और विफल-मनोरथ रहते हैं। इसलिए गीता का सन्देश शस्त्र-युद्ध एवं हिंसा की निरर्थकता सिद्ध करना है, उसका समर्थन करना नहीं।

गीता से अहिंसा की प्रेरणा प्राप्त करना गांधी जी के दार्शनिक मस्तिष्क की एक मौलिक कल्पना कही जायगी। उन्होंने यावज्जीवन इस ग्रन्थ पर श्रद्धा रखी और इससे प्रेरणा प्राप्त करते रहे।

२. रामचरित मानस

गांधी जी की दृष्टि में गोस्वामी तुलसीदास की अमर कृति 'रामचरितमानस' मानव जीवन के शाश्वत मूल्यों का महत्वपूर्ण विवेचन है। इस कृति से गांधी जी का परिचय बाल्यावस्था में ही हो गया और वह इसकी रसमय कथा के माध्यम से अनेक आदर्शों के अंकुर हृदय में प्रस्फुटित कर चुके थे। आगे चल कर उन्होंने इस कृति से अधिकाधिक प्रेरणा प्राप्त की। गांधी जी सगर्व कहा करते थे कि यदि हिन्दू-धर्म का सम्पूर्ण विशाल साहित्य-भाण्डार नष्ट हो जाय और मात्र गीता एवं रामायण शेष रहें तो भी इस धर्म का कुछ नहीं बिगड़ेगा। रामचरितमानस में प्रतिष्ठित मर्यादाओं के कठोर किन्तु स्पृहणीय, अनुकरणीय मानदण्ड को गांधी जी ने दृढ़ता से अपने जीवन में उतारा था। उनकी धार्मिक मान्यताओं की पृष्ठभूमि में रामचरित मानस की प्रेरणा सहज ही देखने को मिलती है।

३. योगदर्शन

षड्दर्शनों में से योग दर्शन महर्षि पतंजलि की कृति है। इसमें योगमार्ग की विशद व्याख्या की गई है। गांधी जी ने इस कृति को गम्भीरता से पढ़ा था। इसके अहिंसा-विषयक सूत्र 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' को उन्होंने अनेक स्थलों पर उद्धृत किया है।

४. ईशोपनिषद्

इस पुस्तक का पूरा नाम ईशावास्योपनिषद है। गांधी जी ने उपनिषदों के विशाल भण्डार का एक-एक ग्रन्थ-रत्न देखा-परखा था। पर वह सबसे अधिक प्रभावित ईशोपनिषद से हुए। इस ग्रन्थ का पहिला श्लोक गांधी जी के विचार से विश्व के एक श्रेष्ठतम सिद्धान्त की अवतारणता करता है। वह श्लोक यों है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचजगत्यां जगत्।
तेनत्यक्तेन भुंजीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम्॥

"इस संसार में जो कुछ है वह सब ईश्वर का है—यह मान कर ईश्वर-द्वारा उच्छिष्ट जो प्राप्त हो हम उसी का भोग करें और किसी के धन की लालसा न रखें।"

गांधी जी ने इस चमत्कारिक श्लोक से ट्रस्टीशिप (संरक्षकता) के जिस मौलिक सिद्धान्त का विकास किया वह समाज की आर्थिक समस्याओं के लिए एक सरल-सहज निदान प्रस्तुत करता है।

जगत् में सब कुछ ईश्वर का है तो व्यक्तिगत स्वामित्व की बात ही कहां रही? यदि हम इस आदर्श को मान लें तो आर्थिक क्षेत्र में होड़ाहोड़ी, अशान्ति और वंचना का जो दौर चल रहा है, जिसकी चरम परिणति पर महायुद्ध तक हो चुके हैं, वह समाप्त हो जायगा। तब हम उतनी ही सम्पत्ति का उपभोग करेंगे, जितने की हमें जरूरत है। शेष को हम ईश्वरीय आदेश मान कर समाज के दूसरे जरूरतमन्द भाइयों को दे देंगे।

संरक्षकता के सिद्धान्त को हम धार्मिक अर्थशास्त्र का सिद्धान्त कह सकते हैं। यह समाजवाद एवं साम्यवाद का आध्यात्मिक विकल्प है, जो पूर्वोक्त दोनों की त्रुटियों से पूर्णतया मुक्त है। संरक्षकता का सिद्धान्त गांधी जी की मौलिक देन है। गांधी जी ने इस सिद्धान्त की प्रेरणा ईशोपनिषद से ही प्राप्त की थी।

५. कुरान शरीफ़

इस्लाम धर्म के प्रतिनिधि धर्म-ग्रन्थ कुरान के प्रति गांधी जी की सम्यक् अनुरक्ति थी। उन्होंने अनेक टीकाओं एवं भाष्यों के माध्यम से इस ग्रन्थ का गम्भीर अध्ययन किया था। इस ग्रन्थ में वर्णित एकेश्वरवाद एवं धर्म के सरल, सहज तत्वों की बात उनके हृदय को छूती थी। किन्तु कुरान का उद्धरण देकर सामाजिक अथवा राजनीतिक क्षेत्र में जिन गलत कामों का औचित्य सिद्ध किया जा सकता था, गांधी जी उन सबका समर्थन नहीं कर सकते थे। उनके जीवन में अनेक अवसर ऐसे आये जब उन्हें कुरान का उद्धरण देनेवाले मुल्ला-मौलवियों की भूल सुधारने को बाध्य होना पड़ा। उदाहरण के लिए संगसारी अर्थात् पापी को पत्थर के मार-मार कर खत्म कर देने की सजा पर एक विवाद उठ खड़ा हुआ था। कुरान के पण्डितों का मत था कि यह सजा कुरान-विहित है किन्तु गांधी जी ने इसका स्पष्ट प्रतिवाद किया। इसी प्रकार कुरान में काफिर को मारना पुण्य-कार्य बताया गया है। गांधी जी ने इस मान्यता का भी खण्डन किया था।

किन्तु कुरान शरीफ़ के उत्तम उपदेशों का गांधी जी पर वांछित प्रभाव पड़ा था, इसमें सन्देह नहीं।

६. बाइबिल

ईसाई धर्म का प्रतिनिधि धर्म-ग्रन्थ बाइबिल विश्व की श्रेष्ठतम आध्यात्मिक कृतियों में समादृत है। गांधी जी का इस कृति से प्रथम परिचय इंग्लैण्ड में हुआ। उन्होंने बाइबिल को बड़ी रुचि से पढ़ा। इसके 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' (पुराने करार) प्रकरण से तो वे तनिक भी आकर्षित न हुए किन्तु 'न्यू टेस्टामेण्ट' (नये करार) ने उनकी आध्यात्मिक क्षुधा को शान्त किया। ईसा का गिरि-प्रवचन (सर्मन आन द माउण्ट) और उनके दस आदेश (कमाण्डमेण्ट्स) उन्हें अपनी भावना के अनुरूप लगे। इस अंश में वर्णित क्षमा, करुणा, दया और निष्ठापरक उपदेश गांधी जी के मन में रम गये।

आगे चलकर दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी ने बाइबिल और उसके भाष्यों का गम्भीर अध्ययन किया। वे ईसाई धर्म के ज्ञाताओं से समय-समय पर खुलकर बाइबिल के सम्बन्ध में विवेचना करते थे। पर उन्हें इस ग्रन्थ के उस वचन पर आस्था नहीं थी जिसमें कहा गया है कि ईसा एकमात्र ईश्वर का बेटा है और मुक्ति पाने के लिए मनुष्य को उसकी शरण जाना चाहिए अर्थात् ईसाई हो जाना चाहिए। गांधी जी मानते थे कि यदि ईसा ईश्वर के पुत्र हैं तो उस अर्थ में सम्पूर्ण मानवता ईश्वर की ही सन्तान है। और मुक्ति पाने के अनेक मार्ग हो सकते हैं, पर यह मार्ग एकमात्र नहीं है। दूसरे सभी प्रधान धर्म-मार्गों का भी गन्तव्य मुक्ति ही है। मुक्ति पाने के लिए बाइबिल का आदेश मान कर ईसाई-धर्म स्वीकार करना जरूरी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म का पालन करते हुए ही मुक्त हो सकता है क्योंकि 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'—अपने धर्म का पालन करते हुए मृत्यु भी श्रेयस्कर है, किन्तु पर-धर्म स्वीकार करना भय का कारण है।

७. जेन्दावेस्ता

पारसी धर्म का मूल ग्रन्थ जेन्द अवेस्ता भारतीय वेदों के अत्यन्त निकट है। इसकी रचना से ज्ञात होता है कि एक समय मध्य एशिया में भारतीय और ईरानी शाखा के आर्य एक साथ रहते थे और वह प्राकृतिक शक्तियों, विशेषकर अग्नि की उपासना का आदेश देता है। अग्नि शरीर का धारक तत्व, बलदायक तत्व है, इसलिए पारसी धर्मग्रन्थ ने उसकी महिमा का गुणगान किया है। अहुरमज्द और अहरिमान, क्रमशः दैवी और राक्षसी शक्तियों की व्याख्या भी इस ग्रन्थ में है।

[४]

कृतियां : अर्वाचीन

१. सर्वोदय (अन टु दिस लास्ट)

श्री रस्किन की यह कृति दक्षिण अफ्रीका में श्री पोलक ने गांधी जी को पढ़ने के लिए दी थी। इस पुस्तक का असर गांधी जी पर जादू-भरा हुआ। जैसा कि पुस्तक से शीर्षक से ज्ञात है, इसमें समाज के सभी व्यक्तियों का सभी क्षेत्रों में कल्याण हो, इस विषय की व्याख्या की गई है। गांधी जी ने पुस्तक पढ़ने के साथ ही अगली भोर से उसके अनुरूप अपना और साथियों का जीवन ढालना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने इसका अनुवाद भी किया, जो प्रकाशित हो चुका है।

सर्वोदय के सिद्धान्त का सारांश गांधी जी की राय में इस प्रकार है—

१. सबके भले में अपना भला समाया हुआ है।

२. वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एक-सी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का अधिकार सबको समान है।

३. सादा, श्रमपूर्ण, कृषक का जीवन ही सच्चा जीवन है।

गांधी जी ने धार्मिक ही नहीं सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी सर्वोदय के सिद्धान्तों का अनुसरण किया।

२. 'पिलग्रिम्स प्राग्रेस'

जान बनियन की यह प्रसिद्ध कृति विश्व-साहित्य में अपना स्थान रखती है। यह एक आस्थावान ईसाई-द्वारा किया गया बाइबिल के चुने हुए अंशों पर भाष्य है। यहां हम इस कृति और इसके कृतिकार के सम्बन्ध में गांधी जी के विचार उन्हीं के शब्दों में दे रहे हैं। ये विचार गांधी जी ने आश्रमवासी बालकों के समक्ष पिलग्रिम्स प्र.ग्रेस का पाठ आरम्भ करते हुए व्यक्त किये थे।

"देखो भाई, इसका लेखक कौन है? जान बनियन। तुम्हें मालूम है, वह कौन था? वह हमारे प्रह्लाद जी-जैसा सत्यव्रती था। जैसे प्रह्लाद जी ने सत्य की खातिर कष्ट सहे, वैसे ही वह भी सत्य के खातिर जेल में रहा था, और जैसे हमारे तिलक महाराज ने जेल में रह कर गीता-रहस्य लिखा था, वैसे ही उसने भी जेल में यह तीर्थयात्री की यात्रा लिखी थी। इसे यात्रा कहो, उत्थान कहो या प्रगति कहो।

"जैसे गीता पर भाष्य है वैसे पिलग्रिम्स प्राग्रेस बाइबिल का एक भाष्य है। इसे बाइबिल पर लिखा गया भाष्य भी नहीं कहा जा सकता, बल्कि कहना चाहिए कि यह बाइबिल के सबसे सुन्दर भाग का विवेचन है। अंग्रेजी में तो यह बहुत ही ऊंची चीज़ मानी जाती है; इसे लगभग बाइबिल के समान स्तर पर ही प्रतिष्ठित किया जाता है। बनियन ने बच्चों के लिए यह इतनी सरल और सुन्दर भाषा में लिखी है कि जहां-जहां अंग्रेजी भाषा बोली जाती है, वहां-वहां वह बच्चों के लिए अद्‌भुत पुस्तक मानी जाती है। इससे भी अधिक, पुस्तक के उपोद्‌घात में, जैसे तुलसीदास जी ने रामायण के बारे में कहा है, वैसे ही इस पुस्तक के बारे में भी कहा गया है कि इसे भविष्य में सब लोग पढ़ेंगे। और यह है भी रामायण–जैसी। जैसे तुलसीकृत रामायण में बच्चों को भी रस आता है और बहुत-से बड़े-बड़े लोग भी गोते खाते हैं, उसी तरह इस पुस्तक में भी बच्चों को बहुत रस आ सकता है। परन्तु अब तो हम यह पुस्तक पढ़ेंगे। देखो उसने यह कहा है—

"संसाररूपी वन में भटकते-भटकते.....हमारे यहां भी संसार को घोर वन बताया गया है। इसी तरह उसने भी संसार को वन कहा है। वह कहता है, मैं ऐसे संसाररूपी वन में थका-माँदा एक घोर गुफा में आ पड़ा। शरीर-श्रम से ही थका-माँदा नहीं था, बल्कि आत्मिक श्रम से भी श्रान्त था। अनेक विचार किये, अनेक स्थानों में अनेक बातें जानीं और सुनीं, परन्तु कोई तत्व की बात नहीं मिली।" बेचारे की आत्मा थककर चूर हो गई थी, इसलिए वह थकान से सो गया। सो गया और सपना देखा। सपने में उसने क्या देखा? किसे देखा रुखी,[1] मालूम है, फटे-पुराने कपड़े पहिने एक आदमी को। अच्छा बच्चो! भला बताओ तो जब सुदामा श्रीकृष्ण के यहां गया, तब वह कैसे कपड़े पहिने था? क्या वह रेशमी किनारी की धोती, जरी का कोट, खासी कीमती दक्षिणी पगड़ी और कसीदे-दार दुपट्टा था? नहीं वह फटे-पुराने कपड़े पहिने था। इसी तरह यह आदमी भी चिथड़े पहिने था। क्यों रुखी, मालूम है, सुदामा क्या पहिने था? तुझे तो मालूम नहीं होगा, लेकिन मुझे तो मालूम है। क्योंकि मैं तो सुदामा के गांव पोरबन्दर में पैदा हुआ हूं। खैर, सुदामा का मुँह किस तरफ था? क्या अपने घर की तरफ था? भाई, वह तो अपना घर छोड़ कर भगवान के घर जा रहा था। इसी तरह हमारा यात्री भी अपने घर की तरफ से मुंह मोड़ कर किसी दूसरी ही ओर पग बढ़ा रहा था। और फिर उसकी पीठ पर क्या लदा था? जैसी बोरी उसकी पीठ पर लदी थी वैसी ही, रुखी, जब हम कोचरब में थे, तब कभी मजदूर पांच

---

१. मगनलाल गांधी की पुत्री।

मन की बोरी लेकर आता था; वह पसीने से लथपथ होता था और इतना झुक जाता था कि मैं उसे कैसे कह सकता था कि तू सीधे खड़ा रह। इस आदमी के हाथ में एक पुस्तक थी। वह पुस्तक और कोई नहीं बाइबिल ही थी। उसे पढ़ कर उसकी आँखों से आँसू झर रहे थे। गोपीचन्द की याद है तुम्हें? जब वह नहाने बैठा था, तब उसकी माता उसे ऊपर से देख रही थी; उसकी आँखों से आंसू झर रहे थे और गोपीचन्द के ऊपर गिर रहे थे। बादल तो कोई थे नहीं, फिर भी वर्षा कहां से हो रही थी? गोपीचन्द ने देखा कि वर्षा तो उसकी माता की आँखों से हो रही है। लेकिन वह क्यों रो रही थी, यह तो फिर कभी समझाऊंगा। परन्तु इस यात्री की आँखों से भी आँसू झर रहे थे। वह भगवान के घर जाने के लिए निकला था। वह तो भक्त-प्रवर था इसलिए उसकी आँखों से आँसू झर रहे थे।"

३. बैकुण्ठ तुम्हारे हृदय में है

'दि किंगडम आफ़ गाड इज विदिन यू', काउण्ट लियो ताल्सताय की यह कृति विश्व-साहित्य में अपना स्थान रखती है। गांधी जी ने यह पुस्तक पढ़ी तो वे इसकी स्वतन्त्र विचारशैली, प्रौढ़नीति और सत्य के कायल हो गये। इस पुस्तक ने उनका मन मोह लिया और वे इससे अत्यधिक प्रभावित हुए।

४. गास्पेल्स इन ब्रीफ (नवविधान का सार)

५. ह् वाट टु डू? (क्या करें?)

ये दोनों कृतियाँ प्रसिद्ध रूसी विचारक एवं साहित्यकार लियो ताल्सताय की हैं। गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में दोनों कृतियों को पढ़ा था। ताल्सताय की विचार-धारा पर वे पूर्णतया मुग्ध हुए बिना न रह सके। इन कृतियों ने उन्हें यह विचार करने के लिए प्रेरणा दी कि विश्व-प्रेम मनुष्य को कहां तक ले जा सकता है।

६. जरथुस्त्र के वचन : सेइंग्स आफ़ जरथुस्त्र

यह पुस्तक पारसी धर्म के आदि प्रवर्तक जरथुस्त्र का संग्रह है। इसे गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में पढ़ा और इसके द्वारा उन्हें पारसी धर्म को समझने में सहायता मिली।

७. धर्म-विचार

श्री नर्मदाशंकर राय की यह पुस्तक किसी मित्र ने गांधी जी को दक्षिण अफ्रीका में भेजी थी। इस कृति की प्रस्तावना गांधी जी को अत्यन्त आकर्षक लगी।

श्री नर्मदाशंकर राय अपने विलासमय जीवन के लिए प्रसिद्ध थे। प्रस्तावना में उनके जीवन में हुए परिवर्तनों का वर्णन किया गया था। इसने गांधी जी के हृदय में पुस्तक के प्रति श्रद्धा बढ़ा दी।

८. इण्डिया : ह्वाट कैन इट टीच अस ?
(भारत क्या सिखाता है ?)

उपर्युक्त कृति संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान, वेद-भाष्यकार एवं प्राच्यविद्याविद् मैक्समूलर की है। मैक्समूलर को भारतीय संस्कृति के आदि स्रोत—वेदों से पहिली बार पाश्चात्य जगत् को परिचित कराने के लिए सदैव स्मरण किया जाता रहेगा। उपर्युक्त पुस्तक में उन्होंने भारत के सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक गौरव का मुक्तकण्ठ से यशोगान किया है। गांधी जी ने इस पुस्तक को अत्यन्त रुचि से पढ़ा और इसने हिन्दू-धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा को बढ़ाने में सहायता दी।

टिप्पणी

गांधी जी ने विविध स्रोतों, व्यक्तियों, कृतियों, भजनों से धर्म एवं नीति की प्रेरणाएं प्राप्त की थीं। इनमें वेद, उपनिषद्, (विशेषतः ईशोपनिषद) योगसूत्र, महाभारत, रामायण, धम्मपद, बाइबिल, कुरानशरीफ, संतों की वाणियां एवं पद मुख्य हैं। देश-विदेश की कितनी ही कृतियों से वह प्रभावित हुए। वह एक विकासमान पुरुष थे और हर जगह से सत्य एवं श्रेय ग्रहण कर लेते थे।

सांकेतिका

नीति

[ई]

[उ]

[ऋ]

[ए]

[ओ]

[क]

[फ]

[ब]

[भ]

[म]

[य]

[ह]

सांकेतिका

धर्म

[अ]

[आ]

[उ]

[ख]

[ज्ञ]

[ध]

[न]

[फ]

[य]

[ल]

[ष]

[स]

[ह]

सांकेतिका

दर्शन

[आ]

[इ]

[फ]

[व]

[भ]

[म]

[य]

[र]

[स]

[ह]

गांधी-साहित्य प्रकाशन

का

चतुर्थ चरण

●

शिक्षण एवं संस्कृति

- गांधी जी के तत्सम्बन्धी विचारों का विशाल संकलन।
- भारतीय जीवन में शिक्षण के आधार क्या होने चाहिए और उसे किस प्रकार जीवन के निकट लाया जा सकता है, इस पर प्रामाणिक विचार।
- संस्कृति एवं कला की सजीव सामग्री।

शीघ्र तैयार होगा

●

गांधी-साहित्य-प्रकाशन

इलाहाबाद

गांधी-साहित्य-प्रकाशन

का

पञ्चम चरण

•

सामाजिक समस्याएं

गांधीजी की तद्विषयक रचनाओं, भाषणों एवं सूत्रों का विशाल संग्रह

•
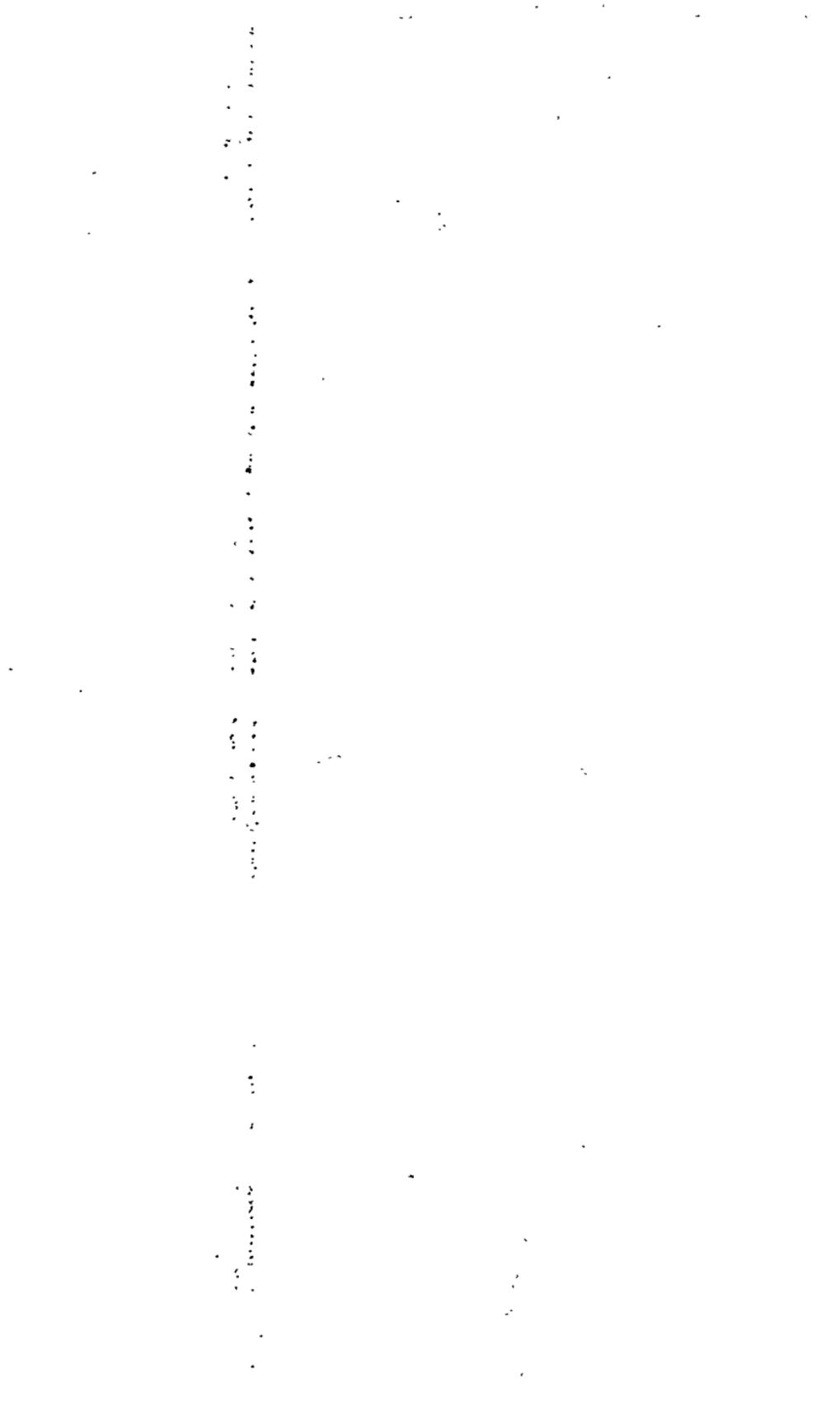
ग्रन्थ तैयार हो रहा है।

•

गांधी-साहित्य-प्रकाशन

इलाहाबाद

३०. सहिष्णुता : आलोचना की नीति

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

हमें उस वक्त कड़ी-से-कड़ी आलोचना करने का अधिकार मिल जाता है, जब हमारे पड़ोसियों को हमारे प्रेम का और हमारी ठीक रायों का विश्वास हो जाता है, और जब हमारे अन्दर यह यकीन हो जाता है कि हमारी राय न मानी गई या उस पर अमल नहीं किया गया तो हमें तनिक भी अशान्ति नहीं होगी। दूसरे शब्दों में आलोचना करने के अधिकार के लिए हममें स्पष्ट समझ और पूरी सहिष्णुता की प्रेम-शक्ति होनी चाहिए।

— कुमार पार्क, बंगलौर, १७।७।१९२७। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० ४८, न० जी० प्र० मं०]

३१. हमारा मार्ग

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

खतरे तो जिधर जायं उधर ही मौजूद हैं। मगर कुछ भी हो जाय, हमें तो अपने मूल स्वभाव पर ही चलना चाहिए।

— २८।७।१९२७। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० ४९, न० जी० प्र० मं०]

३२. धोखा नहीं दें

हमें अपने आपको, दूसरे को या जगत् को धोखा नहीं देना है। इसलिए जो कुछ मन में भरा हुआ हो उसे प्रकट करना चाहिए। एक बार मन में भरा हुआ मैल निकल जायगा, तो फिर नया भरने में देर लगेगी। लेकिन यदि जरा भी मैल रहा तो जैसे मैले बरतन में डाला हुआ साफ पानी भी मैला हो जाता है, वैसे ही मैले मन में अच्छे विचार मिल जायं तो वे भी मैले बन जाते हैं। जिसके बारे में हमें एक बार शक हो जाता है, उसकी तमाम बातों पर हमें शक रहने लगता है।

— १०।१०।१९२७। क्वार वदी १ सम्वत् १९८३। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, पृ० ५०, न० जी० प्र० मं०]

३३. मिथ्याचारी और शुभ प्रयत्नकारी

गीताजी में एक जगह कहा है कि जो ऊपर से संयम करके मन में विषयों का सेवन करता है, वह मूढ़ात्मा, मिथ्याचारी है; यह वाक्य पाखण्डी के लिए है। वही गीता जी सच्चा प्रयत्न करनेवाले के लिए कहती हैं कि प्रमाथी इन्द्रियों का बार-बार संयम करो।

—कटक, १९।१२।१९२७। मौनवार। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, पृ० ६०, न० जी० प्र० मं०]

३४. क्षमा का रहस्य

[खादी-सेवा-संघ के विद्यार्थियों को दिये गये उपदेश का अंश—सम्पा०]

क्षमा आखिर है क्या? क्या क्षमा केवल अक्रोध—क्रोधहीनता मात्र है? क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी चुप्पी साध लेना, मार खा लेना, मार खाकर भी कुछ न बोलना, इसी मान्यता ने हिन्दुस्तान की जड़ खोद फेंकी है। बुद्ध भगवान ने जब कहा था कि अक्रोधेन जिने क्रोधं—अर्थात् अक्रोध से क्रोध को जीतना चाहिए, तब क्या उनके मन में यही धारणा होगी कि अक्रोध का अर्थ है कुछ नहीं करना, हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहना? मुझे तो ऐसा नहीं लगता। कहा है—क्षमा वीरस्य भूषणम्। तब क्या यह क्षमा केवल निष्क्रिय क्षमा होगी? नहीं यह अक्रोध, यह क्षमा जब दया के रूप में बदलती है, प्रेम का रूप धारण करती है, तभी यह शुद्ध क्षमा होती है, वीर का भूषण बनती है। क्रोध के बदले क्रोध न करते हुए क्रोधी के सामने जाकर कहिए कि तुम्हें क्रोध दिलाने के लिए माफी मांगता हूं और फिर उसे नम्रता से समझाइए कि अगर दूसरा भाई कोई भूल भी करे तो क्रोध करना उचित नहीं है। यों, आत्मा की शक्ति का प्रयोग करने में क्षमा समाहित है।...क्षमा के बारे में यह ज्ञान होना चाहिए कि यों आत्मा की शक्ति प्रकट करके हम जगत् का कल्याण करेंगे। यह सच है कि यह क्षमा वे ही दिखला सकते हैं, जिनमें यह ज्ञान हो। मगर यह ऐसा गुण है जो पैदा भी किया जा सकता है।

—न० जी०। हि० न० जी० १९।१।१९२८]

- मार खा लेना और मार खाकर भी कुछ न बोलना, इसी मान्यता ने हिन्दुस्तान की जड़ खोद फेंकी है।
- आत्मा की शक्ति का प्रयोग करने में क्षमा समाहित है।

३५. शान्तिपूर्वक काम करने की आदत

स्थितप्रज्ञ के श्लोक गानेवाले को शान्तिपूर्वक काम करने की आदत डालनी ही चाहिए।

—वारडोली, ६।८।१९२८। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, पृ० ६१, न० जी० प्र० मं०]

३६. साधु का त्रास

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—क्या आप साधु के अत्याचार के विषय में जानते हैं? हैदराबाद में एक साधु ने जुल्म से पैसा लेने का प्रयत्न किया। गुजरात के गांवों में भी ऐसे साधु गांव-गांव जाकर बहुत कष्ट देते हैं; गरीब लोगों से जोर-जुल्म से सौ-पचास रुपये की रक़म अपने भोजन, मिष्ठान्न के लिए निकलवाते हैं। हैदराबाद में तो पुलिस थी। लेकिन गांव में कहां से पुलिस बुलाई जाय?

उत्तर—लोगों को इस प्रकार दण्ड देनेवाले साधु कहलाने योग्य नहीं हैं। भगवा वस्त्र पहननेवाले या सिर्फ लंगोटी से निर्वाह करनेवाले लोगों के भुलावे में पड़कर, वेश से भूलनेवाले इस देश के लोग उन्हें साधु के रूप में पूजते हैं। वेश मात्र से कोई साधु नहीं बन सकता। इस देश में साधु-वेश धारणकर हजारों असाधु घूमते हैं। साधु के रूप में दीखनेवाले या भलीभांति प्रकट करते हुए असाधुओं से गांव वालों के डर जाने का कोई कारण नहीं। गांववालों में साधु को पहचानने की शक्ति आनी चाहिए। उन्हें दुष्टों का डर छोड़ना चाहिए। उनका विरोध कर सकने की शक्ति पैदा करनी चाहिए।

—न० जी०। हि० न० जी०, ६।९।१९२८]

● वेश मात्र से कोई साधु नहीं बन सकता।

३७. गुण-चिन्तन

प्रत्येक गुण ढूंढ़कर उनका चिन्तन करना। दोष दिखे तब सोचना कि दोष-रहित संसार में एक भी चीज नहीं होती। 'जड़-चेतन गुण दोषमय' नामक दोहा गाना और उसका मनन करना।

—सक्खर, ९।२।१९२९। बापू के पत्र : कुसुम बहिन देसाई के नाम, पृ० १९, न० जी० प्र० मं०]

३८. दुःख-निवारण

दुःख का निवारण उसके सहन करने में ही है। फिर कोई क्या कहता है, क्या करता है, कैसे रहता है—इसका विचार भी क्यों करें? हमें जो करना हो वह हम शान्ति और आनन्द से करें।

—सक्खर, ९।२।१९२९। वापू के पत्र : कुसुम वहिन देसाई के नाम, पृ० १९, न० जी० प्र० मं०]

३९. सेवा का क्षेत्र एवं शक्ति अमर्यादित है

सेवा का क्षेत्र अमर्यादित है। सेवा की शक्ति भी अमर्यादित वनाई जा सकती है, क्योंकि आत्मा की शक्ति की कोई मर्यादा नहीं है। जिसके हृदय के कपाट खुल गये हैं, उसके हृदय में तो सव कुछ समा सकता है। ऐसे आदमी का तनिक-सा काम भी खिल उठता है। जिसके हृदय पर मुहर लगी हुई है, उसका ज्यादा काम भी नहीं के वरावर होगा। विदुर के शाक और दुर्योधन के मेवे में यही अर्थ छिपा हुआ है।

—गोरखपुर, ७।१०।१९२९। वापू के पत्र : आश्रम की वहिनों को, पृ० ८३-८४, न० जी० प्र० मं०]

० जिसके हृदय के कपाट खुल गये हैं उसके हृदय में सव कुछ समा सकता है।

४०. दृढ़ता

निश्चय करने की और उस पर डटे रहने की आदत डालने की वड़ी जरूरत है। कोई निश्चय करने के वाद यदि यह लगे कि उसमें पाप ही है, तो अलग सवाल है। पाप करने के निश्चय दुनिया में हो ही नहीं सकते।

—मेरठ, २८।१०।१९२९। वापू के पत्र: आश्रम की वहिनों को, पृ० ८६, न० जी० प्र० मं०]

४१. अवनति का उत्स

हम अपने में दोप न देखें और गुण ही देखा करें, तव हमारी अवनति का आरम्भ हुआ समझना चाहिए।

—शाहजहांपुर, ११।११।१९२९। वापू के पत्र : कुमारी प्रेमा वहिन कंटक के नाम, पृ० ६, न० जी० प्र० मं०]

४२. महाव्रतों का माहात्म्य

महाव्रतों का तीनों काल (भूत, वर्तमान, भविष्य) में पूरा-पूरा पालन करने में जो समर्थ है, उसे जगत् में कुछ भी करना वाकी नहीं रहता; वह भगवान है; मुक्त है। हम तो अल्पमुक्ति की इच्छा रखनेवाले (मुमुक्षु), जानने की इच्छा रखने वाले (जिज्ञासु), सत्य का आग्रह रखनेवाले और उसकी खोज करनेवाले जीव हैं। इसलिए गीता की भाषा में धीरे-धीरे लेकिन अतन्द्रिल रहकर कोशिश करते रहें। ऐसा करेंगे तो किसी दिन प्रभु की कृपा, उसके प्रसाद के लायक हो जायंगे और तव हमारे तमाम रस और भोग की लालसाएं जल जायंगी।

— मंगल प्रभात। १२।८।१९३०, पृ० २३, , न० जी० प्र० मं०, संस्करण १९५८]

४३. योगः कर्मसु कौशलम्

जो कर्त्तव्य-कर्म को समझता है और उस पर आचरण करता है, उसकी तृष्णा तो मिटती ही है। जिसकी तृष्णा नहीं मिटी उसे कर्त्तव्य-कर्म का भान ही नहीं है। तृष्णा का पर्वत तो इतना ऊंचा है कि उसे कोई पार कर ही नहीं सकता। उसे धराशायी किये विना अन्य कोई उपाय नहीं है। तृष्णा छोड़ना अर्थात् कर्त्तव्य का भान होना। मुझे मालूम हो कि मुझे काशी जाना है, वहां जाने का मार्ग भी मुझे मालूम हो, तो फिर मुझे कौन-सी तृष्णा उस मार्ग से —कर्त्तव्य से हटा सकती है? मेरी तृष्णा ही काशी के मार्ग पर जाने की हो और वह पूरी हो जाय, तो फिर वाकी क्या वचा? सहजप्राप्त सेवा तेरे पास है। उसे एकनिष्ठा से तू करती रहे, तो उसमें तुझे पूर्ण सन्तोष मिलना चाहिए। उसके सिलसिले में जो साथ मिले, जो पढ़ने को मिले वह ग्राह्य है; उसके सिवा दूसरी चीज का विचार भी नहीं होना चाहिए। यही मेरी दृष्टि में 'योगः कर्मसु कौशलम्' है। यही समत्व और समाधि है।

— यरवदा मन्दिर, २।१०।१९३०। वापू के पत्र : कुमारी प्रेमा वहिन कंटक के नाम, पृ० २५, न० जी० प्र० मं०]

४४. व्रत-पालन की नीति

...जीवन को गढ़ने के लिए व्रत कितने जरूरी हैं, इस पर यहां सोचना मुनासिव लगता है।...

एक सम्प्रदाय ऐसा है और वह बलवान भी है, जो कहता है, 'अमुक नियमों का पालन करना ठीक है, लेकिन उसके बारे में व्रत लेने की जरूरत नहीं है, इतना ही नहीं वह मन को कमजोर बनाता है और नुकसान करनेवाला भी हो सकता है। और व्रत लेने के बाद ऐसा नियम अड़चन-रूप लगे या पाप-रूप लगे, तो भी उसमें चिपके रहना पड़े यह तो सहन नहीं होता। वे कहते हैं, 'मिसाल के तौर पर शराब न पीना अच्छा है, इसलिए नहीं पीना चाहिए। लेकिन कभी पी ली गई तो क्या हुआ? दवा के तौर पर उसे पीना ही चाहिए। इसलिए उसे न पीने का व्रत लेना तो गले में फन्दा डालने के बराबर है। और जैसा शराब के बारे में है वैसा और चीजों के बारे में भी है। भले के लिए झूठ भी क्यों न बोलें?'

मुझे इन दलीलों में कोई सार मालूम नहीं होता। व्रत का अर्थ है अडिग निश्चय। अड़चनों को पार करने के लिए ही तो व्रतों की आवश्यकता है। अड़चन बर्दाश्त करते हुए जो टूटता नहीं, वही अडिग निश्चय माना जायगा। ऐसे निश्चय के बगैर इंसान लगातार ऊपर चढ़ ही नहीं सकता। सारी दुनिया का अनुभव ऐसी गवाही देता है। जो आचरण पापरूप हो उसके निश्चय को व्रत नहीं कहा जायगा। यह राक्षसी वृत्ति है। और जो निश्चय पहिले पुण्यरूप लगा हो और अन्त में पाप-रूप साबित हो, उसे छोड़ने का धर्म जरूरी हो जाता है। लेकिन ऐसी चीज के बारे में कोई व्रत नहीं लेता, न लेना चाहिए। सब धर्म जिसे मानते हैं, लेकिन जिसे आचरने की हमें आदत नहीं पड़ी है, उसके लिए व्रत लेना चाहिए। ऊपर की मिसाल में तो पाप का सिर्फ आभास हो सकता है। सच कहने से किसी को नुकसान पहुँचेगा तो उसका विचार सत्यवादी करने नहीं बैठेगा। सत्य से इस जगत् में किसी का नुक-सान नहीं होता, न होनेवाला है, ऐसा वह विश्वास रखे। उसी तरह शराब पीने के बारे में। या तो उस व्रत में दवा के तौर पर शराब लेने की छूट रहनी चाहिए, या छूट न रखी हो तो व्रत लेने के पीछे (बाद) शरीर का खतरा उठाने का निश्चय होना चाहिए। दवा के तौर पर भी शराब न पीने से देह छूट जाय तो भी क्या हुआ? शराब पीने से देह रहेगी ही, ऐसा पट्टा कौन लिखवा सकता है? और उस क्षण देह टिकी और दूसरे ही क्षण किसी और कारण से छूट गई, तो उसकी जिम्मेवारी किसके सिर होगी? इससे उल्टा, देह छूट जाय तो भी शराब न पीने की मिसाल का चमत्कारी असर शराब की लत में फँसे हुए लोगों पर होगा, यह दुनिया का कितना बड़ा फायदा है? देह छूटे या रहे, मुझे तो धर्म पालना ही है, ऐसा भव्य निश्चय करनेवाला ही ईश्वर की झाँकी किसी समय कर सकता है। व्रत लेना कम-जोरी की निशानी नहीं बल्कि बल की निशानी है। अमुक बात करनी ठीक है तो फिर उसे करनी ही है—इसका नाम है व्रत। उसमें ताकत है। फिर उसे व्रत न

कहकर किसी और नाम से पहिचाने तो उसमें हर्ज नहीं। लेकिन जहां तक हो सकेगा करूँगा, ऐसा कहनेवाला अपनी कमज़ोरी का या अभिमान का दर्शन कराता है, भले ही वह खुद उसे नम्रता कहे। उसमें नम्रता की बू भी नहीं है। 'जहां तक हो सकेगा', ऐसा वचन शुभ निश्चयों में जहर-जैसा है, यह मैंने तो अपने जीवन में और बहुतों के जीवन में देखा है। जहां तक हो सकेगा वहां तक करने के मानी (अर्थ) हैं पहिली ही अड़चन पर गिर जाना। 'जहां तक हो सकेगा वहां तक सच्चाई का पालन करूंगा,' इस वाक्य का कोई अर्थ ही नहीं है। व्यापार में हो सका तो फलां तारीख को फलां रकम चुकाने की किसी चिट्ठी का कहीं भी चेक या हुण्डी के रूप में स्वीकार नहीं होगा। उसी तरह जहां तक हो सके वहां तक सत्य का पालन करने वाले की हुण्डी ईश्वर की दूकान में नहीं भुनाई जा सकती।

ईश्वर खुद निश्चय की, व्रत की सम्पूर्ण मूर्ति है। उसके क़ायदे में एक जर्रा (कण) भी हटे तो वह ईश्वर न रह जाय। सूरज बड़ा व्रतधारी है। इसलिए जगत् का कालमान तैयार होता है और शुद्ध पंचांग (पत्रा या जन्त्री) बनाये जा सकते हैं। उसने ऐसी साख जमाई है कि वह हमेशा उगा है और हमेशा उगता रहेगा, और इसलिए हम अपने को सलामत (सुरक्षित) मानते हैं। तमाम व्यापार का आधार एक टेक पर रहा है। व्यापारी एक दूसरे से बँधे हुए न रहें तो व्यापार चले ही नहीं। यों, व्रत सर्वव्यापक, सब जगह फैली हुई चीज दिखाई देता है। तब फिर जहां अपना जीवन गढ़ने का सवाल उठता हो, ईश्वर के दर्शन करने का प्रश्न हो, वहां व्रत के बगैर कैसे चल सकता है? इसलिए व्रत की जरूरत के बारे में हमारे दिल में कभी सन्देह पैदा ही न होना चाहिए।

— १४।१०।१९३०। मंगल-प्रभात, ृ० ६०, ६१, ६२, ६३, न० जी० प्र० सं० संस्करण १९५८]

- व्रत का अर्थ है अडिग निश्चय।
- देह छूटे या रहे मुझे तो धर्म पालना ही है, ऐसा भव्य निश्चय करनेवाला ही ईश्वर की झांकी......कर सकता है।
- व्रत लेना कमजोरी की नहीं बल्कि बल की निशानी है।
- ईश्वर खुद निश्चय की, व्रत की सम्पूर्ण मूर्ति है।

४५. यज्ञ और उसका व्यापक अर्थ

इस लोक में या परलोक में कुछ भी बदला लिये या चाहे बिना परार्थ के लिए किये हुए किसी भी कर्म को यज्ञ कहेंगे। कर्म कायिक हो, मानसिक हो, अथवा

वाचिक, उसका विशाल-से-विशाल अर्थ लेना चाहिए। परार्थ के लिए का मतलब केवल मनुष्य वर्ग नहीं, बल्कि जीवनमात्र लेना चाहिए और अहिंसा की दृष्टि से भी, मनुष्य जाति की सेवा के लिए भी, दूसरे जीवों को होमना या उनका नाश करना यज्ञ की गिनती में नहीं आ सकता। वेदादि में अश्व, गाय इत्यादि को होमने की जो बात आती है उसे हमने गलत माना है। वहां पशु-हिंसा का अर्थ लें तो सत्य और अहिंसा की तराजू पर ऐसे होम नहीं चढ़ सकते; इतने से हमने सन्तोष मान लिया है। जो वचन धर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं उनका ऐतिहासिक अर्थ करने में हम नहीं फंसते और वैसे अर्थों के अन्वेषण की अपनी अयोग्यता हम स्वीकार करते हैं।...

उक्त व्याख्या के अनुसार विचारने पर हम देख सकते हैं कि जिस कर्म से अधिक-से-अधिक जीवों का, अधिक-से-अधिक क्षेत्र में कल्याण हो और जो कर्म अधिक-से-अधिक मनुष्य अधिकाधिक सरलता से कर सकें और जिसमें अधिकाधिक सेवा होती हो, वह महायज्ञ या अच्छा यज्ञ है। अतः किसी की भी सेवा के निमित्त अन्य किसी का अकल्याण चाहना या करना यज्ञ-कार्य नहीं है और यज्ञ के अलावा किया हुआ काय बन्धनरूप है।...

ऐसे यज्ञ के बिना यह संसार क्षण भर भी नहीं टिक सकता। इसलिए गीताकार ने ...साफ शब्दों में कहा है कि हम यज्ञ को जन्म से ही साथ लाये हैं। यहां तक कि हमें यह शरीर केवल परमार्थ के लिए मिला है और इसलिए जो यज्ञ किये बिना खाता है वह चोरी का खाता है।...जो शुद्ध जीवन बिताना चाहता है, उसके सब काम यज्ञ-रूप होते हैं। हमारे यज्ञ-सहित जन्म लेने का मतलब है कि हम हमेशा के ऋणी हैं। इसलिए हम संसार के सदा के गुलाम हैं। और जिस प्रकार स्वामी दास को सेवा के बदले में खाना-कपड़ा आदि देता है उसी प्रकार जगत् का स्वामी हमसे गुलामी लेने के लिए हमें जो अन्नवस्त्रादि देता है, उसे कृतज्ञतापूर्वक लेना चाहिए। यह न समझना चाहिए कि जो मिलता है उतने का भी हमें अधिकार है; न मिलने पर मालिक को दोष न दें। यह देह उसकी है, जिसे वह चाहे तो रखे या न रखे। यह स्थिति दुःखद नहीं है, न दयनीय है। यदि हम अपना स्थान समझ लें तो यह स्वाभाविक, इसलिए सुखद और चाहने योग्य, है। ऐसे परम सुख के अनुभव के लिए अचल श्रद्धा अवश्य (होनी) चाहिए। अपने लिए कोई चिन्ता न करना, सब परमेश्वर को सौंप देना, ऐसा आदेश मैंने तो सब धर्मों में पाया है।

—मंगल-प्रभात, २१।१०।१९३०। गीता-बोध, पृ० २६, २७, २८, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

- जीवों को होमना या नाश करना यज्ञ की गिनती में नहीं आ सकता।
- यज्ञ के अलावा किया हुआ कार्य बन्धन रूप है।

एक काम में स्वच्छता प्रकट करेगा। यह उसके लिए स्वाभाविक वस्तु हो जानी चाहिए।
—यरवदा मन्दिर, ९।५।१९३२। आश्रमवासियों से, पृ० ३३]

४९. रामायण की एक शिक्षा : विषमताओं का सहन

खलबली के बिना जीवन बहुत नीरस बन जायगा। इसलिए जीवन की विषमताएं सह लेने में ही समझदारी है। रामायण से हमें जो कीमती पाठ मिलता है, वह यही है।
—१७।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १५५]

○ जीवन की विषमताएं सह लेने में ही समझदारी है।

५०. दुर्वृत्तियों पर विजय : हमारा धर्म

[श्री दाऊभाई को लिखे पत्र से]

बुरे विचारों और वृत्तियों के खिलाफ शेर की तरह जूझना। जूझना हमारा धर्म है। जीत होना ईश्वर के हाथ है। हमारा सन्तोष जूझने में ही है। हमारा जूझना सच्चा ही होना चाहिए। सत्संग में रहना। इसके लिए सद्वाचन चाहिए।
—२९।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १८३]

○ बुरे विचारों और वृत्तियों के खिलाफ.....जूझना हमारा धर्म है।
○ जीत होना ईश्वर के हाथ है।

५१. जीवित व्यक्ति की मूर्ति का ध्यान

[श्री विनोबा भावे के भाई श्री भाऊ को लिखे पत्र से]

जीवित लोगों की मूर्ति का ध्यान अच्छी बात नहीं है। जिसका ध्यान करें उसमें पूर्णता का आरोपण होता है, होना चाहिए। जीवितों में किसी को पूर्ण न कहा जाय। रामायण आदि में जो चित्र आते हैं, वे अच्छे नहीं होते। किन्तु मूर्ति की आवश्यकता क्यों? ईश्वर निराकार, निर्गुण है। उसका ध्यान क्यों न करें? यदि यह अशक्य है, तो ओंकार का ध्यान किया जाय, अथवा अपनी कल्पना की मूर्ति का। गीता माता का ही ध्यान क्यों नहीं? उसे कामधेनु की उपमा दी है।

- जो यज्ञ किये विना खाता है चोरी का खाता है।
- जो शुद्ध जीवन विताना चाहता है, उसके सव काम यज्ञ-रूप होते हैं।

४६. योग

जो भी नतीजा हो, उसके विषय में निश्चिन्त रहकर तथा समता रखकर मनुष्य को अपने कर्त्तव्य में तन्मय रहना चाहिए। इसका नाम योग है और इसी में कर्म-कुशलता है।

—सोमप्रभात, १७।११।१९३०। गीतावोध, पृ० ११, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

४७. गोपनीयता : धर्माधर्म

[सुश्री मीरा वहिन को लिखे पत्र से]

गुप्तता के वारे में तुम्हारे प्रकट किये हुए विचारों में कुछ गड़वड़ मालूम होती है। अगर कोई कसाई मुझसे पूछे कि गाय किधर गई है, तो उसे वता देना हर्गिज धर्म नहीं है। मैं उसे गलत रास्ता भी न वताऊं और न यह वताऊं कि गाय कहां गई। इतना ही नहीं, मैं गाय को छिपा भी सकता हूं। ऐसा करना सचमुच मेरा धर्म होगा। इस दृष्टान्त से हम परिस्थिति के अनुसार अपना आचरण निश्चित कर सकते हैं।

—१२।१।१९३१। वापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० १२२, न० जी० प्र० मं०]

४८. अन्तर्बाह्य शुचिता

हमें आत्मा का वोध है, इसलिए हमारी सफाई भीतर-वाहर दोनों की होनी चाहिए। पर अन्दर की सफाई तो सचाई है। सफाई ही सवसे वड़ी पवित्रता, इसलिए स्वच्छता है। हम वाहर से साफ-सुथरे हों और अन्तर मैला हो तो या तो यह आडम्वर मात्र है, या दम्भ है; विषयभोग की निशानी है। इसलिए संयमी स्त्री-पुरुषों की स्वच्छता अन्तर की पवित्रता का लक्षणरूप ही हो तो काम की है।

हमारा शरीर हमारा महामन्दिर है। हम उसमें वाहर से कोई मैल न भरें। अन्दर मन को कुविचारों से मलिन न करें। इस शौच को साधनेवाला अपने हर